परब्रह्म पुरुषोत्तम

भगवान श्रीस्वामिनारायण के

वचनामृत

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयते ॥

परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीजीमहाराज
भगवान श्रीस्वामिनारायण के

वचनामृत

प्रकट ब्रह्मस्वरूप प्रमुखस्वामी महाराज की

आज्ञा से प्रकाशित

प्रकाशक

स्वामिनारायण अक्षरपीठ

शाहीबाग, अहमदाबाद - 380 004

VACHANAMRUT (Hindi Edition)
(Spiritual discourses of Bhagwan Swaminarayan)

Compiled by:
Muktanand Swami, Gopalanand Swami,
Nityanand Swami, Shukanand Swami

Inspirer: HDH Pramukh Swami Maharaj

Presented by:
B.A.P.S. SWAMINARAYAN SANSTHA
'Swaminarayan Akshardham', N.H. 24, Akshardham Setu,
Yamuna Kinara, New Delhi - 110 092. India.

Publishers:
SWAMINARAYAN AKSHARPITH
Shahibaug, Amdavad - 380 004. India.

8th Edition: June 2016

Copies: 3,000 (Total copies: 23,000)

ISBN : 978-81-7526-739-8

प्रस्तुतिः बी.ए.पी.एस. स्वामिनारायण संस्था
'स्वामिनारायण अक्षरधाम', नेशनल हाईवे 24, अक्षरधाम सेतु,
यमुना किनारा, नई दिल्ली - 110 092.

प्रेरणामूर्ति : प्रकट ब्रह्मस्वरूप प्रमुखस्वामी महाराज

आठवाँ संस्करण : जून 2016

प्रति : 3,000 (कुल प्रति : 23,000)

मूल्य : ₹ 150-00 (स्वामिनारायण अक्षरपीठ के आर्थिक अनुदान से
₹ 230-00 में से रियायती मूल्य)

मुद्रक और प्रकाशक :
स्वामिनारायण अक्षरपीठ
शाहीबाग, अहमदाबाद - 380 004

ब्रह्मस्वरूप योगीजी महाराज के शुभाशिष

॥ स्वामीश्रीजी सत्य हैं ॥

'वचनामृत' श्रीजीमहाराज की परम अमृतवाणी है। जो भी इसका पान करेगा, उसे श्रीजीमहाराज अपने समीप बैठाएँगे। इसके लिए महान सद्‌गुरु कहते थे कि जो भक्त 'वचनामृत' का 108 बार पाठ करेगा, उसे श्रीजीमहाराज साक्षात् दर्शन देंगे।

इस ग्रंथ में धर्म, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और महिमा सम्बंधी पाँच मुख्य सारभूत बातें कही गईं हैं तथा संत को 'मोक्ष का द्वार' कहा गया है। वही अनादि संत मूल अक्षरमूर्ति गुणातीतानंद स्वामी है, इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने उनकी पहचान करवाई थी। अतः जो भक्त वचनामृत का पाठ वर्ष में एकबार पूर्ण करेगा तो वह अमृत का पान करता है। मृत्यु के बाद लोग अमृतपान के लिए देवलोक जाया करते हैं परंतु वचनामृत इस धरा पर 'अमृतपान' के समान है। पहले तो (गुणातीतानंद) स्वामी सभी को वचनामृत की हस्तप्रति लिखवाकर देते थे, अब तो वचनामृत की प्रति छपने लगी है। अतः वचनामृत की प्रति, हर कोई घर-घर में रखें।

जय श्रीस्वामिनारायण,

साधु ज्ञानजीवनदास,

दि. 3-10-1969

मुंबई

प्रकट ब्रह्मस्वरूप प्रमुखस्वामी महाराज के प्रासादिक शब्दों में वचनामृत के सिद्धांतों का सारांश

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयते ॥

बोचासणवासी श्रीअक्षरपुरुषोत्तम स्वामिनारायण संस्था के तात्त्विक सिद्धांत– जीव, ईश्वर, माया, ब्रह्म तथा परब्रह्म – ये पांच तत्त्व नित्य हैं, सत्य हैं तथा परस्पर अपने स्वरूप में एक-दूसरे से सदैव भिन्न हैं।

परब्रह्म

अक्षराधिपति परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण नित्य, सर्वोपरि, सदैव दिव्य हैं, सदैव साकार हैं, निर्दोष हैं, माया से परे स्थित, एक एवं अद्वितीय चैतन्य तत्त्व हैं।

वे अपने दिव्य अक्षरधाम में सदैव दिव्य, द्विभुज आदि सर्वांग संपूर्ण पुरुष आकृति में, अति प्रकाशवान, किशोरमूर्ति के रूप में दिव्य सिंहासन में बिराजमान हैं। इसके साथ ही मूर्तिमान अक्षरब्रह्म तथा उस अक्षरब्रह्म का साधर्म्य प्राप्त ब्राह्मी शरीरयुक्त अनंतकोटि मुक्त दासभाव से उनका भजन करते हैं।

वे सदैव स्वाभाविक रूप से अनंत दिव्य कल्याणकारी गुणों से युक्त तथा मायिक गुणों से रहित हैं, निर्दोष हैं, सर्वदा सभी ऐश्वर्यों से संपन्न हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वकर्ता-हर्ता हैं।

वे समग्र सृष्टि के निमित्त तथा उपादान कारण हैं।

वे अपने दिव्य अक्षरधाम में व्यतिरेक स्वरूप में बिराजमान रहकर ही अन्वय रूप में अनंत कोटि ब्रह्मांडों में अंतर्यामी रूप से व्याप्त एवं उसके आधार हैं।

वे सदैव जीव, ईश्वर, माया, अक्षरमुक्त तथा अक्षरब्रह्म – इन सभी से

अनंतगुना समर्थ हैं एवं उन सभी के स्वतंत्र रूप से नियंता, प्रेरक तथा शरीरी हैं। वे अपनी इच्छा से सभी जीवों तथा ईश्वरों के कर्मफल-प्रदाता और उनकी इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति के प्रेरक हैं।

मायिक इन्द्रियों तथा अंत:करण से अगोचर ऐसे वे परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण स्वयं अपने दिव्य संकल्प से करुणा करके, अनंत जीवों तथा ईश्वरों के आत्यंतिक कल्याणार्थ अपने भक्तों के मनोरथ पूर्ण करने के लिए अक्षरधाम में रहते हुए अपने सर्व दिव्य गुणों, ऐश्वर्यों के सहित ब्रह्माण्डों में साक्षात् मनुष्य के रूप में प्रकट होकर सभी लोगों को दिखाई देते हैं।

वे प्रत्यक्ष परब्रह्म परमात्मा सहजानंद स्वामी महाराज, श्रीस्वामिनारायण भगवान हैं।

वे ही हम सभी के परम उपास्य हैं और सदैव के लिए प्रत्यक्ष रूप से अपनी उपासना कराने हेतु, स्वयं के अंतर्धान होने के बाद भी साक्षात् अक्षरब्रह्म स्वरूप गुरुहरि द्वारा सम्यग्, अन्वय स्वरूप में सदा प्रगट रहते हैं।

वे सर्व अवतारों के कारण हैं, अवतारी तथा अधिपति हैं। किसी विशेष कार्य के निमित्त वे जिस समय जीवों तथा ईश्वरों के चैतन्य में विशेष रूप से संकल्प करके अनुप्रवेश करते हैं, तभी अवतार सम्भव होता है। सभी अवतारों के चैतन्य, स्वरूप तथा स्वभाव से एक-दूसरे से भिन्न हैं। इन अवतारों की भाँति ही वासुदेव आदि चतुर्व्यूह तथा केशव आदि चौबीस मूर्तियां वग़ैरह चैतन्य होते हुए भी स्वरूप और स्वभाव से एक-दूसरे से अलग हैं।

अक्षरब्रह्म

अक्षरब्रह्म, परब्रह्म से भिन्न तथा परब्रह्म की भाँति नित्य, एक और त्रिगुणातीत चैतन्य तत्त्व है। वह सदा दिव्य है, अनंत कल्याणमयी गुणों से युक्त तथा मायिक गुणों से रहित सदा निर्दोष है। अक्षरब्रह्म का स्वरूप, गुण, ऐश्वर्य आदि एकमात्र परब्रह्म के ही अधीन है। परब्रह्म की नित्य इच्छा से वह जडचिदात्मक समग्र सृष्टि का कारण, आधार, व्यापक, नियामक तथा शरीरी है। अक्षरब्रह्म तत्त्वत: एक होते हुए भी चार रूपों में विभिन्न सेवाकार्य करता है।

अक्षरब्रह्म चिदाकाश रूप में अनंतकोटि ब्रह्मांडों के अंदर तथा बाहर व्याप्त होकर रहता है, और उसे सदैव धारण किये रहता है।

अक्षरब्रह्म, धाम के रूप में परब्रह्म तथा उनकी सेवा में विद्यमान,

मूर्तिमान अक्षरब्रह्म तथा अनंतकोटि अक्षरमुक्तों का दिव्य निवास स्थान है। अक्षरधाम एक है, नित्य और सदैव त्रिगुणातीत है। अक्षरब्रह्म का साधर्म्य प्राप्त करके मुक्त ही उसमें प्रवेश कर सकता है।

अक्षरब्रह्म सेवक रूप में इसी अक्षरधाम में परब्रह्म की भाँति दिव्य, द्विभुज आदि सर्वांग संपूर्ण पुरुष आकार में सदैव परब्रह्म की सेवा में अक्षरमुक्तों के आदर्श रूप में लीन रहता है।

इसके अलावा यही अक्षर संसार में बद्ध जीवों तथा ईश्वरों को अपने दिव्य प्रसंग से ब्रह्मरूप करके परब्रह्म का उत्तम निर्विकल्प निश्चय कराने के लिए, उसके आत्यंतिक कल्याण हेतु सदैव परमात्मा के प्रकटपन की अनुभूति कराने हेतु, परब्रह्म के सम्यग् तथा अखंड धारक गुरु के रूप में सभी ब्रह्मांडों में परमात्मा के साथ मनुष्य रूप धारण करके अवतरित होता है; संप्रदाय की परम्परा की रक्षा करता है और सभी को परमसुख का अनुभव कराता है। अक्षरब्रह्म-स्वरूप गुणातीत गुरुओं की इस परम्परा में गुणातीतानंद स्वामी, भगतजी महाराज, शास्त्रीजी महाराज तथा योगीजी महाराज प्रकट हो चुके हैं। यह परम्परा अखंड रूप से चालू रहती है। एक कालावधि में एक ही गुरु के द्वारा आत्यंतिक कल्याण का मार्ग सतत चालू रहता है।

माया

माया त्रिगुणात्मिका है, परिणामी है, नित्या है, जड़ा है, अनंतकोटि ब्रह्मांडरूप सृष्टि के लिए उपादान कारण है, तथा विभिन्न रूपों में विस्मयकारिणी परब्रह्म की शक्ति है। यही माया जीवों तथा ईश्वरों की अहं-ममता का हेतु होकर उनकी अनादि संसृति का कारण बनती है। अक्षरब्रह्म तथा परब्रह्म सदैव इस माया से अत्यंत निर्लेप हैं, परे हैं तथा उनके शरीरी हैं।

ईश्वर

ईश्वर परब्रह्म, अक्षरब्रह्म तथा जीवों से भिन्न एक नित्य चैतन्य तत्त्व हैं। ये ईश्वर अक्षरब्रह्म तथा परब्रह्म की अपेक्षा अत्यंत असमर्थ होते हुए भी जीवों की अपेक्षा अत्यधिक सामर्थ्य तथा ज्ञान रखते हैं। परमात्मा उन्हें अपनी इच्छा से सम्बंधित ब्रह्मांड की उत्पत्ति आदि कार्यों के लिए प्रेरित करते हैं। ये ईश्वर जीवों की भाँति असंख्य हैं, स्वरूपतः अणुवत् सूक्ष्म हैं, अछेद्य आदि लक्षणों

से युक्त, ज्ञानस्वरूप, ज्ञाता हैं, अनादिकाल से मायाबद्ध हैं, शुभ-अशुभ कर्म के कर्ता तथा उन कर्मों के फल का उपभोक्ता हैं। प्रधानपुरुष, विराट-पुरुष तथा इन्द्रियों-अंतःकरण के देवता, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि ईश्वर तत्त्व के चैतन्य हैं। और, वे चैतन्य, स्वरूप-स्वभाव से परस्पर भिन्न हैं।

जीव

जीव, परब्रह्म, अक्षरब्रह्म तथा ईश्वरों से भिन्न एक नित्य चैतन्य तत्त्व है। ये जीव असंख्य हैं, स्वरूपतः अणुवत् सूक्ष्म, अछेद्य आदि लक्षणों से युक्त हैं, ज्ञानस्वरूप, ज्ञाता हैं, अनादिकाल से मायाबद्ध हैं, शुभ-अशुभ कर्म का कर्ता हैं तथा उन कर्मों के फल के उपभोक्ता हैं।

साधना और फल

आत्यंतिक कल्याण के लिए मुमुक्षु को परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान स्वामिनारायण तथा उनके अखंड धारक प्रकट अक्षरब्रह्मस्वरूप गुरुहरि के प्रति निर्दोषबुद्धि रखनी चाहिए, परम दिव्यभाव रखना चाहिए तथा प्रत्यक्ष परब्रह्म के भावपूर्वक उनसे दृढ़ प्रेम करना चाहिए। मन, कर्म, वचन से उनकी दृढ़ संगत करके, उनकी अत्यंत ही प्रसन्नता प्राप्त करनी चाहिए।

इस प्रकार से साधना करनेवाले मुमुक्षु, जीव तथा ईश्वर परब्रह्म की कृपा से ऐकांतिक धर्म सिद्ध करके, ब्रह्मरूप हो अक्षरब्रह्म का साधर्म्य प्राप्त कर, परब्रह्म की पराभक्ति प्राप्त करते हैं। फलस्वरूप उनके समग्र दुःख तथा दोष सदा के लिए नष्ट हो जाते हैं और वे इसी शरीर के रहते ही परमात्मा के परम आनंद का अनुभव करते हैं। परमात्मा की इच्छा से ऐसा ब्रह्मरूप भक्त देह त्याग कर अर्चिमार्ग द्वारा परमात्मा के अक्षरधाम को प्राप्त करता है तथा ब्रह्मरूप शरीर से युक्त होकर सदैव अक्षरधाम के अधिपति परब्रह्म की, दासत्व के भाव से दर्शन और सेवा करते हुए दिव्य आनंद भोगता रहता है।

अक्षरपुरुषोत्तम उपासना का तात्पर्य

अक्षरपुरुषोत्तम उपासना अर्थात् अक्षर और पुरुषोत्तम, इन दो तत्वों की उपासना नहीं, बल्कि अक्षररूप होकर पुरुषोत्तम की उपासना करनी चाहिए अर्थात् ब्रह्मरूप होकर परब्रह्म की उपासना। इसीलिए मनुष्यरूप में विचरण कर

रहे परब्रह्म के स्वधामगमन के पश्चात् भी ब्रह्मस्वरूप गुरु के भाव को स्वयं में लीन करके, गुरु के रूप में परमात्मा का स्वयं विचरण करते रहने से प्रत्यक्ष गुरुहरि की संगत करनेवाले मुमुक्षु द्वारा की गई उपासना एकमात्र परमात्मा की ही होती है।

अक्षरपुरुषोत्तम की उपासना के इसी अर्थ में स्वामिनारायण महामंत्र के अर्थ का समावेश हो जाता है। जैसे स्वामीरूप अर्थात् अक्षररूप होकर नारायण अर्थात् परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण की दासत्व के भाव से भक्ति–उपसाना करना चाहिए।

समापन

इस प्रकार ये तात्त्विक सिद्धांत वैदिक हैं, सनातन हैं, श्रीजी प्रबोधित तथा गुणातीत गुरुपरंपरा द्वारा प्रवर्तित किए गये हैं। इसीलिए बोचासणवासी श्रीअक्षरपुरुषोत्तम स्वामिनारायण संस्था के सभी आश्रितों को इसी सिद्धांत के अनुसार अपनी समझ (ज्ञान) दृढ़ करके, अन्य मुमुक्षुओं को भी इसे दृढ़ कराना चाहिए।

– शास्त्री नारायणस्वरूपदास (प्रमुखस्वामी महाराज) के

जय स्वामिनारायण

गुरुपूर्णिमा, संवत् 2064, बोचासण.

(सन् 2008)

विषयानुसार वचनामृत की सूची

1. **जीव का स्वरूप**

   प्र.7, प्र.38, प्र.78, सा.5, का.1, का.4, का.12, लो.15, म.66, वर.6, अं.4, अं.10, अं.22, अं.39, जे.2

2. **ईश्वर का स्वरूप**

   प्र.7, प्र.12, सा.5, का.1, म.10, म.31, अम.2, अं.10.

3. **माया :**

   - **माया का स्वरूप :** प्र.1, प्र.7, प्र.12, प्र.34, सा.14, सा.17, का.12, लो.10, पं.3, म.36, म.45, म.65, अं.10, अं.39.
   - **माया से परे होने के उपाय :** प्र.37, प्र.63, का.8, का.12, लो.4, लो.10, पं.7, म.32, वर.5, जे.1.

4. **पूर्व संस्कार - पूर्वकर्म (शुभ-अशुभ) :**

   प्र.11, प्र.13, प्र.24, प्र.29, प्र.55, प्र.58, सा.9, लो.8, म.27, म.29, म.35, म.36, म.44, म.45, म.59, वर.6, अं.2, अं.13, अं.18, अं.20.

5. **देश-कालादिक आठ (शुभ-अशुभ) :**

   प्र.2, प्र.29, प्र.55, प्र.59, प्र.77, प्र.78, लो.6, लो.10, लो.12, लो.13, लो.17, म.9, म.21, म.27, म.32, म.39, म.44, म.45, म.51, म.56, वर.20, अं.11, अं.14, अं.20, अं.24, अं.37.

6. **इन्द्रियाँ एवं अंतःकरण :**

   - **उत्पत्ति एवं स्वरूप :** प्र.12, प्र.18, प्र.32, का.12, लो.15, पं.3, म.2, म.47, वर.5
   - **मन :** प्र.12, प्र.38, सा.1, लो.14, म.23, वर.1, अं.6.
   - **बुद्धि :** प्र.12, प्र.35, प्र.50, प्र.70, का.1, का.2, का.4, पं.1, पं.3, म.9, म.11, म.14, म.26, म.44, म.52, अम.3, अं.14, अं.34.
   - **चित्त :** प्र.12, प्र.25, म.6.
   - **इन्द्रियाँ एवं अंतःकरण जीतने के उपाय :** प्र.8, प्र.18, प्र.38, प्र.70, प्र.73, सा.1, सा.7, का.3, लो.5, लो.8, पं.3, म.2, म.8, म.16, म.33, अं.8, अं.11, अं.32.

7. **वासना-पंचविषय में आसक्ति :**

- **वासना की परिभाषा :** प्र.11, अं.18, अं.20
- **वासना मिटाने की आवश्यकता :** प्र.21, प्र.26, प्र.38, प्र.60, सा.4, सा.11, म.45, म.50, अम.3, अं.18, जे.3.
- **वासना मिटाने के उपाय :** प्र.21, प्र.24, प्र.38, प्र.58, प्र.60, प्र.73, सा.1, सा.5, लो.10, लो.16, लो.17, पं.1, म.1, म.2, म.13, म.22, म.25, म.33, म.47, अम.3, अं.14, अं.18, अं.20, अं.34, अं.39, जे.3.

8. **अंतःशत्रु :**

प्र.24, प्र.35, प्र.48, प्र.58, प्र.61, प्र.68, प्र.76, प्र.78, लो.14, म.13, म.40, अं.21, अं.27, अं.28.

- **मलिन स्वभाव-प्रकृति :** प्र.1, प्र.57, सा.18, लो.8, म.7, म.15, म.37, अं.20, अं.24, अं.27, अं.35.
- **काम :** प्र.73, प्र.76, का.3, लो.1, लो.6, लो.8, लो.10, म.33, म.38, म.39, म.47, अं.19, अं.38, जे.2.
- **क्रोध :** प्र.69, लो.1, लो.14, म.1, म.27, अं.1, अं.14, अं.34, अम.8.
- **लोभ :** प्र.27, प्र.36, लो.17, म.4, अं.28, अं.38.
- **मोह :** सा.14, पं.7, म.1, म.53, वर.20.
- **मद-मान-देहाभिमान-अहंकार :** प्र.6, प्र.35, प्र.44, प्र.56, प्र.62, प्र.72, सा.8, लो.6, लो.14, लो.16, लो.17, पं.3, पं.5, म.25, म.32, म.41, वर.11, अम.3, अं.12, अं.25, अं.26, अं.27, अं.28, अं.38, अम.7, जे.3.
- **मत्सर-ईर्ष्या-असूया :** प्र.4, प्र.71, प्र.72, सा.8, का.6, म.28, म.47, म.52, अं.1, अं.6.
- **कपट-दंभ :** प्र.76, का.3, लो.5, लो.16, म.39, वर.5, अं.24, अं.25, अं.26, अं.30.
- **जगत सम्बंधी स्नेहासक्ति :** प्र.21, प्र.26, प्र.34, प्र.37, प्र.44, सा.1, सा.15, पं.3, म.32, म.36, वर.19, अं.2, अं.3, अं.9, अं.12, अं.17, अं.19, अं.38.

9. **अवतार धारण करने का भगवान का प्रयोजन :**

का.5, म.19, म.46, अं.21, जे.5.

- **जीव के कल्याण के लिए मनुष्य के समान :** प्र.51, प्र.63, प्र.64, प्र.71, प्र.72, प्र.78, का.1, का.7, पं.4, पं.7, म.65, अं.37, अं.38.

10. **निश्चय-निष्ठा-आश्रय-उपासना :**

- **निश्चय आदि में महत्ता :** प्र.31, प्र.33, प्र.37, प्र.56, प्र.57, प्र.61, प्र.62, प्र.63, प्र.72, का.7, लो.6, लो.7, लो.10, लो.18, पं.7, म.9, म.10, म.13, म.14, म.16, म.17, म.35, म.61, म.66, वर.1, वर.10, वर.12, वर.14, अं.7, अं.13, अं.36, अश्लाली, जे.1.
- **निश्चय-अनिश्चय के लक्षण :** प्र.63, प्र.68, प्र.72, प्र.75, प्र.78, सा.13, का.1, लो.1, लो.3, लो.12, पं.4, म.59, म.66, वर.5, वर.12, अं.35.
- **निश्चय आदि दृढ़ करने के उपाय :** प्र.51, प्र.70, सा.13, का.12, लो.6, लो.12, पं.7, म.13, वर.10, अं.27, अं.28, अम.6, अम.7, अश्लाली.

11. माहात्म्यज्ञान :

- **माहात्म्य समझने की आवश्यकता :** प्र.1, प्र.24, प्र.25, प्र.57, प्र.60, प्र.73, सा.5, सा.15, सा.17, का.9, लो.1, लो.5, लो.8, लो.10, लो.16, लो.17, पं.1, म.4, म.12, म.16, वर.3, अम.3, अं.5, अं.11, अं.27, अं.28, अं.39.
- **महिमा का विचार :**
  - (अ) **असाधारण ऐश्वर्य-प्रताप :** प्र.56, प्र.29, प्र.62, प्र.64, प्र.78, सा.9, लो.13, पं.4, म.4, म.53, म.67, अं.32, अं.37, अं.39.
  - (ब) **भगवान का आनंद :** सा.1, लो.17, लो.18, पं.1, पं.3, म.1, म.10, म.57, वर.9, वर.16, अं.27, अं.28, अं.39.

12. उपासना :

- **सर्वकर्ता-हर्ता :**
  - (अ) **कर्ता-नियंता :** प्र.27, प्र.37, प्र.41, प्र.56, प्र.59, प्र.62, प्र.63, प्र.74, प्र.78, का.10, लो.1, लो.2, पं.1, पं.7, म.21, 31, वर.2, अं.13, अं.35, अं.38, अं.39, अम.7, जे.5.
  - (ब) **अंतर्यामी, सर्वज्ञ, कर्मफलप्रदाता :** प्र.13, प्र.45, प्र.62, प्र.65, प्र.78, म.21, म.27, म.62, वर.6, अं.37.
- **साकार :** प्र.37, प्र.40, प्र.45, प्र.64, प्र.66, प्र.71, का.4, का.7, लो.14, लो.15, लो.16, लो.18, पं.1, पं.7, म.9, म.10, म.13, म.39, म.64, वर.2, वर.13, अं.7, अं.30, अं.32, अं.38.
- **दिव्यभाव :**
  - (अ) **दिव्यभाव की परिभाषा :** प्र.63, प्र.71, प्र.72, का.7, लो.18, पं.4, पं.7, म.4, म.10, म.13, म.17, म.65, वर.7, अं.1, अं.2, अं.21, अं.31, अम.4.

(ब) **दिव्यभाव से लाभ – न समझने से हानि :** प्र.24, प्र.58, प्र.67, सा.18, लो.4, लो.18, पं.7, म.33, म.53, वर.5.

- **सर्वोपरि :** प्र.31, प्र.59, सा.1, लो.7, लो.14, पं.1, पं.6, म.9, म.13, अं.31, अं.36, अं.38, अम.6, अम.7.
- **अद्वितीय स्वामीसेवकभाव :** प्र.64, का.8, का.10, लो.4, लो.13, पं.2, म.3, म.67, अं.37, अं.39.
- **प्रकट :**

(अ) **श्रीजीमहाराज प्रकट भगवान :** प्र.3, प्र.27, प्र.31, प्र.37, प्र.38, प्र.49, प्र.56, का.2, का.8, पं.6, पं.7, म.13, म.35, अं.28, अं.31, अं.35, अं.38, अम.6 अम.7.

(ब) **प्रकट भगवान अथवा संत की आवश्यकता :** प्र.27, लो.7, म.21, म.32, म.59, वर.10, वर.19, अं.2, अं.7. अं.36, जे.1.

- **श्रीजीमहाराज के वचनों में श्रीजीमहाराज का दिव्यव्यक्तित्व :** प्र.10, प्र.18, प्र.26, प्र.29, प्र.37, प्र.44, प्र.68, प्र.70, प्र.73, सा.2, का.3, का.6, का.10, लो.3, लो.14, पं.1, म.1, म.13, म.19, म.22, म.27, म,28, म.30, म.33, म.35, म.39, म.40, म.45, म.47, म.48, म.49, म.50, म.55, म.56, म.60, म.62, म.63, वर.11, वर.16, वर.18, अं.2, अं.13, अं.14, अं.21, अं.24, अं.25, अं.27, अं.39, जे.3, जे.5.
- **अक्षरब्रह्म :**

(अ) **अक्षरब्रह्म की आवश्यकता :**

- परब्रह्म को तत्त्व सहित जानने के लिए : प्र.41, प्र.63, म.3, म.42.
- ब्रह्मरूप होने के लिए : म.20, म.31.
- ब्रह्मरूप होने की आवश्यकता : लो.7, लो.12. म.30, अम.2, सा.12, म.3, म.8, म.62.

(ब) **अक्षरब्रह्म का स्वरूप एवं महिमा :** प्र.7, प्र.21, प्र.63, प्र.71, सा.5, लो.13, लो.17, पं.1, म.20, म.42, अम.6.

13. आज्ञा :

प्र.15, प्र.31, प्र.63, प्र.73, प्र.78, सा.18, का.11, का.12, लो.3, लो.4, लो.6, म.7, म.19, म.51, अं.18, अं.27.

- **श्रीहरि के द्वारा दी गईं स्पष्ट आज्ञाएँ :** प्र.17, प्र.18, प्र.48, सा.4, लो.18, पं.3, म.8, म.13, म.21, म.31, म.35, म.40, म.45, म.47,

म.49, म.61, वर.11, अं.1, अं.19, अं.39, अम.4, जे.1, जे.5.

14. **एकांतिक धर्म - एकांतिक भक्त :**

- **धर्म, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति :** प्र.19, प्र.21, प्र.27, प्र.29, प्र.36, प्र.44, प्र.47, प्र.54, प्र.75, सा.18, लो.1, लो.6, लो.16, लो.17, पं.3, म.15, म.19, म.22, म.26, म.32, म.38, म.48, म.65, म.66, वर.3, अं.13, अं.21, अं.33.
- **निश्चय ही एकांतिकभाव :** प्र.66, पं.7, म.9, म.14, वर.1, अश्लाली.
- **निर्वासनिक होना ही एकांतिक :** प्र.11, प्र.38, प्र.43, प्र.60, सा.11, म.1.
- **भगवान में जुड़ना ही एकांतिकता :** म.48, म.55.

एकांतिक धर्म के पुष्टिकारक अंग :

- **स्वधर्म-नियम :** प्र.8, प्र.18, प्र.25, प्र.34, प्र.42, प्र.54, प्र.77, प्र.78, सा.9, का.7, लो.1, लो.5, लो.6, पं.3, म.2, म.4, म.6, म.9, म.13, म.16, म.33, म.35, म.39, म.51, म.61, म.62, वर.10, वर.17, वर.18, अं.8, अं.11, अं.14, अं.24, अं.26, अं.27, अं.29, अं.32, अं.33, अं.34, अं.38, जे.3, जे.4, जे.5.
- **तप-देहदमन :** प्र.38, सा.2, का.3, का.10, लो.1, लो.5, लो.8, लो.14, म.8, म.33, अं.11, अं.24, अं.32.
- **आत्मनिष्ठा :**
  - (अ) **आत्मनिष्ठा की महत्ता :** प्र.19, प्र.21, प्र.23, प्र.25, प्र.32, प्र.37, प्र.44, प्र.60, प्र.61, प्र.73, सा.1, सा.4, सा.9, सा.14, सा.15, का.3, लो.1, लो.2, लो.5, लो.6, लो.8, लो.10, लो.17, म.1, म.2, म.6, म.30, म.32, म.33, म.35, म.45, म.51, म.57, म.60, म.62, म.63, वर.11, वर.20, अम.2, अम.3, अं.1, अं.3, अं.19, अं.20, अं.21, अं.24, अं.26, अं.33, अं.39.
  - (ब) **आत्मनिष्ठा की गौणता :** प्र.61, का.1, म.26, म.63, म.65, म.66, अं.5, अश्लाली.
  - (क) **आत्मनिष्ठा दृढ़ करने के उपाय :**
    - उपासना-भक्ति के द्वारा : प्र.56, सा.15, म.35, अं.22, अं.36.
    - आत्मविचार के द्वारा : प्र.20, सा.1, सा.4, सा.12, लो.10, पं.3, म.2, म.62, म.63, अं.39.
    - सत्पुरुष के द्वारा : प्र.16, लो.10, म.51, म.66, वर.11, जे.1.

- **वैराग्य :**

(अ) **वैराग्य की महत्ता :** प्र.19, प्र.34, प्र.60, सा.11, सा.15, का.7, लो.17, म.7, म.30, म.60, अं.1, अं.3, अं.8, अं.11, अं.24, अं.29, अं.33, अं.34.

(ब) **वैराग्य के लक्षण :** प्र.2, प्र.26, प्र.44, प्र.47, लो.1, अं.30.

(क) **वैराग्य दृढ़ करने के उपाय :**

- विचार के द्वारा : प्र.12, सा.2, लो.9, लो.10, पं.1, मं.1, म.10, म.24, म.47, वर.17, वर.19, अं.14.
- आत्मा-परमात्मा के ज्ञान द्वारा : प्र.56, प्र.73, सा.1, लो.10, अं.24, अं.39.
- शास्त्र एवं सत्पुरुष द्वारा : प्र.8, सा.7, सा.11, सा.18, का.7, अं.29.
- अनुभव द्वारा : म.16, म.25.

- **भक्ति :**

(अ) **भक्ति की महत्ता :** प्र.19, प्र.37, प्र.56, प्र.61, सा.5, लो.7, लो.16, म.10, म.26, म.27, म.28, म.32, म.33, म.62, म.65, म.66, वर.3. अं.11, अं.15, अं.20, अं.22, अं.24, अं.30, अं.32, अं.34, जे.5.

(ब) **भक्तिमान के लक्षण :** प्र.5, प्र.15, प्र.26, प्र.31, प्र.37, प्र.40, प्र.47, प्र.76, का.10, म.10, म.11, म.19, वर.17, जे.3.

- **लीला चरित्रों की महिमा :** प्र.3, प्र.38, म.35, म.58.

(क) **निर्विध्न भक्ति :** प्र.19, प्र.23, प्र.78, सा.1, सा.5, सा.15, म.3, म.32, म.43, म.52, म.57, म.65, अं.1, अं.5, अं.6, अं.8, अं.9, अं.19, अं.20, अं.21, अं.28, अं.33, अं.36.

15. भगवान में प्रीति-स्नेह :

- **प्रीति की महिमा :** प्र.33, सा.11, सा.15, लो.2, म.9, म.36, म.59, वर.11, अं.8, अं.11, अं.29, जे.1.
- **पतिव्रता के समान भक्त के लक्षण :** प्र.26, प्र.36, प्र.44, प्र.57, का.11, लो.2, लो.6, लो.11, लो.14, पं.3, म.1, म.5, म.38, म.43, म.50, म.54, म.56, म.57, म.59, म.62, वर.19, अं.1, अं.7, अं.13, अं.16.
- **प्रीति उत्पन्न होने के कारण :** प्र.1, प्र.8, प्र.44, प्र.59, सा.2, लो.10, म.10, अं.3, अं.14, अं.23.

16. **अखंडवृत्ति - अंखंड चिंतन - अखंड स्मृति :**
    - **अखंडवृत्ति की महिमा :** प्र.1, प्र.22, प्र.23, प्र.24, प्र.25, सा.11, म.48, म.49, अम.3, जे.4.
    - **अखंडवृत्ति कठिन साधन :** प्र.1, प्र.49, का.7, म.4, म.36.
    - **अखंडवृत्ति रखने के उपाय :** प्र.21, प्र.22, प्र.23, प्र.25, प्र.26, प्र.32, प्र.34, प्र.49, प्र.78, का.7, म.4, म.36, म.49.

17. **ध्यान :**
    प्र.5, प्र.15, प्र.32, सा.9, सा.12, का.1, का.12, लो.5, लो.10, लो.11, लो.18, पं.2, म.10. म.12, म.13, म.19, म.35, वर.4, वर.8, अम.1. अं.23, अं.31, अं.36.

18. **प्रतिलोम - अंतर्दृष्टि :** प्र.20, प्र.23, प्र.49, प्र.56, सा.10, का.3, म.8, म.22, म.55, अं.9, अं.30.

19. **श्रद्धा :**
    प्र.5, प्र.15, सा.5, सा.9, सा.11, सा.18, लो.8, लो.12, म.4, म.16, म.52, अं.24, अं.25.

20. **गरज़ - कल्याण का स्वार्थ :**
    प्र.6, प्र.57, सा.10, लो.3, लो.6, लो.17, म.15, म.17, म.37, म.47, अम.3, अं.1, अं.24, अं.27, अं.34.

21. **कथावार्ता, सत्संगति :**
    प्र.1, प्र.2, प्र.8, प्र.14, प्र.21, प्र.29, प्र.30, प्र.51, प्र.59, प्र.70, सा.7, सा.9, सा.18, का.1, का.3, का.12, लो.5, लो.8, म.29, म.49, म.54, म.66, अं.2, अं.24, अं.33.

22. **सेवा :**
    प्र.8, प्र.10, प्र.31, प्र.43, प्र.47, प्र.55, प्र.71, सा.9, लो.8, म.7, म.25, म.28, म.29, म.40, म.41, म.47, म.52, म.59, म.62, म.63, वर.3, वर.5, अम.3, अं.5, अं.26, अं.34, अं.35.

23. **पक्ष :**
    प्र.78, लो.6, पं.5, म.5, म.28, म.60, म.61, म.63, वर.11, अं.7, अं.21.

24. **अभाव-अवगुण-द्रोह :**
    - **अभाव-अवगुण-द्रोह से क्षति, न्यूनता :** प्र.1, प्र.6, प्र.16, प्र.28, प्र.31, प्र.35, प्र.53, प्र.62, प्र.67, प्र.71, प्र.72, प्र.78, का.2, लो.1, लो.16,

लो.18, पं.3, म.11, म.26, म.27, म.28, म.40, म.44, म.46, म.47, म.53, म.63, म.65, म.66, वर.11, वर.12, वर.14, वर.15, अं.1, अं.11, अं.12, अं.21, अं.22, अं.35, जे.3.

- **अभाव-अवगुण-द्रोह के कारण :** प्र.6, प्र.35, का.2, लो.16, म.40, म.44, वर.11, वर.12, वर.15.
- **अभाव-अवगुण-द्रोह किस प्रकार क्षमा किए जाते हैं ? मुमुक्षु इन तीनों से कैसे बच सकते हैं ? :** का.2, का.9, लो.1, लो.16, लो.17, म.17, म.59, वर.11, अं.1.
- **गुणग्राहक दृष्टि :** प्र.6, प्र.16, प्र.24, प्र.28, प्र.53, प्र.58, प्र.67, लो.5, म.26, वर.14.

25. कुसंगति :

प्र.8, प्र.9, प्र.16, प्र.17, प्र.18, प्र.29, प्र.42, प्र.48, प्र.55, प्र.58, म.19, म.32, म.35, म.44, वर.12, वर.15, वर.20, अं.3, अं.32, अं.36, अं.38.

26. विमुख :

प्र.35, प्र.72, प्र.76, प्र.77, प्र.78, सा.9, का.9, लो.1, लो.17, लो.18, म.5, म.9, म.11, म.26, म.38, म.47, म.53, म.60, वर.11, वर.12, वर.18, अं.12, अं.32, अं.35.

27. यथार्थ, पूर्ण प्रसन्नताप्राप्त अनन्य भक्त :

प्र.14, प्र.26, प्र.38, प्र.49, प्र.58, प्र.72, प्र.73, प्र.76, सा.15, का.6, का.9, का.11, लो.1, लो.7, म.10, म.25, म.38, म.41, म.44, म.48, म.50, म.52, म.60, म.61, म.62, वर.17, वर.19, वर.20, अम.2, अं.5, अं.14, अं.24, अं.25, अं.26, अं.28, अं.39, अश्लाली, जे.3

28. गुणातीत संत एवं उनके लक्षण :

प्र.14, प्र.27, प्र.36, प्र.37, प्र.38, प्र.44, प्र.56, प्र.62, प्र.67, प्र.69, सा.10, का.3, का.6, का.10, म.22, म.23, म.25, म.27, म.33, म.47, म.48, म.52, म.53, म.61, वर.3, वर.10, वर.11, अं.26, अं.27, अं.35, अं.39.

29. सत्पुरुष की आवश्यकता :

प्र.19, प्र.27, प्र.37, प्र.43, प्र.44, प्र.51, प्र.54, प्र.55, प्र.58, प्र.19, प्र.60, प्र.64, प्र.66, सा.7, सा.10, सा.18, लो.11, लो.12, पं.2, पं.7, म.13, म.14, म.29, म.37, म.48, म.51, वर.3, वर.4, वर.5, वर.10, वर.12, वर.14, म.51, वर.3, वर.4, वर.5, वर.10, वर.11, वर.12, वर.14, अं.2, अं.5, अं.14, अं.18, अं.27, अं.29, अं.38, अश्लाली, जे.1

30. भगवान स्वामिनारायण का विशिष्ट उपदेश :

- **अपना अभिप्राय :** प्र.38, म.9.
- **प्रत्यक्षदर्शी तथा स्वानुभूत सत्य :** प्र.64, म.13, अं.39.
- **अपने निश्चय एवं सिद्धांत की बातें :** का.10, लो.13, पं.1, म.8, म.13, म.21, म.27, म.35, म.43, वर.20, अं.7, अं.10, अं.15, अं.21, अं.26, अं.33, अं.36, अं.38.
- **रुचि :** लो.14, म.33, म.49, अं.21.
- **रहस्य-अभिप्राय :** म.1, म.21, म.28, म.50, वर.16, अं.2, जे.1.
- **सर्वशास्त्र की साररूप बातें :** प्र.52, पं.2, पं.4, म.28, म.39, म.59, म.64, वर.2, वर.18, अं.10, अं.36, अं.38.

संक्षेपार्थ	कुल वचनामृत	पृष्ठ अवधि
प्र. = गढ़डा प्रथम प्रकरण	78	1 से 178
सा. = सारंगपुर	18	179 से 222
का. = कारियाणी	12	223 से 254
लो. = लोया	18	255 से 330
पं. = पंचाला	7	331 से 361
म. = गढ़डा मध्य प्रकरण	67	362 से 516
वर. = वरताल	20	517 से 558
अह. = अहमदावाद	3	559 से 565
अं. = गढ़डा अंत्य प्रकरण	39	566 से 666

अनुक्रमणिका

शीर्षक	वचनामृत	पृष्ठ
अक्षरधाम; मोक्ष की कुंजी	ग.म. 42	466
अखंड वृत्ति के चार उपाय	ग.म. 36	456
अचल सिद्धान्त	लो. 13	304
अनंतकोटि ब्रह्मांडों की उत्पत्ति	लो. 4	265
अन्तर्दृष्टि	ग.प्र. 49	93
अन्वय-व्यतिरेक	ग.प्र. 7	7
अन्ते या मतिः सा गतिः	ग.प्र. 14	17
अपना दोष नहीं दीख पाना ही मोह	ग.म. 53	481
अर्धदग्ध काष्ठ; साधना में उत्थान-पतन	ग.प्र. 28	48
अवतार-धारण का प्रयोजन	का. 5	235
असाधारण स्नेह	ग.प्र. 59	111
अहंकार-रहित सेवा	ग.म. 41	465
अहिंसामय धर्म	ग.प्र. 69	138
अज्ञानियों में अतिशय अज्ञानी कौन?	ग.प्र. 20	29
अन्तःजागृति का द्वार	ग.अं. 9	584
आकाश की उत्पत्ति एवं विलय	ग.प्र. 46	87
आठ प्रकार की मूर्ति तथा सन्त में प्राकट्य	ग.प्र. 68	136
आत्मकल्याण के लिए यत्न	ग.प्र. 35	63
आत्मदृष्टि - बाह्यदृष्टि	सा. 10	200
आत्मनिष्ठा आदि गुणों की अपेक्षा	ग.प्र. 19	28
आत्मनिष्ठा का प्रयोजन और सच्चा त्याग	ग.म. 57	488
आत्मनिष्ठा, पतिव्रता-भक्ति एवं दासत्व	ग.म. 62	498

शीर्षक	वचनामृत	पृष्ठ
● आत्मविचार	सा. 12	204
● आत्मसत्तारूप रहने के लक्षण	ग.म. 51	478
● आत्मज्ञानादि गुणों से अधिक भक्ति का प्राधान्य	ग.म. 26	433
● आत्मा-अनात्मा का विवेक	सा. 4	189
● आत्मा को बलवान करने का उपाय	ग.म. 63	503
● आत्मा-परमात्मा का चिंतनसातत्य	ग.अं. 39	660
● आत्यंतिक कल्याण	का. 7	239
● आध्यात्मिक मार्ग की राजनीति	ग.म. 12	395
● इन्द्रिय-अंत:करण पर जीत	लो. 5	269
● इन्द्रियों की चंचलता मिटाने के उपाय	लो. 8	286
● इमली के चीयें का दृष्टांत; कारण शरीर का नाश	का. 12	252
● ईर्ष्या का स्वरूप	सा. 8	197
● उचित-अनुचित गाँठ बाँधने से सुख-दु:खानुभूति	ग.अं. 27	628
● उन्नति और अवनति	ग.प्र. 53	101
● उपशम स्थिति	अम. 3	562
● उपासना की दृढ़ता	पं. 6	355
● ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:	लो. 7	279
● एक दंडवत् प्रणाम अधिक	ग.म. 40	463
● एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय	ग.प्र. 41	76
● एकादशी व्रत, ज्ञानयज्ञ, अंतर्दृष्टि	ग.म. 8	379
● एकान्तिक धर्म, अक्षर के दो स्वरूप	ग.प्र. 21	31
● एकान्तिक भक्त योगी की भगवद्-धारणा	वर. 4	525
● एकावन प्रकार के मायिक बन्धनों से रहित होना	ग.म. 45	469
● करामात!	ग.अं. 12	590
● कल्याणकारी गुण	ग.प्र. 62	117
● कल्याण का असाधारण साधन	ग.अं. 36	654
● काम पर विजय	ग.प्र. 73	153
● काँच की प्रतिमा एवं गाय के दृष्टांत से आत्मदर्शन	लो. 15	311
● कीट-भँवरी का दृष्टांत; जीव में भगवत्स्वरूप का निश्चय	का. 1	223

शीर्षक वचनामृत पृष्ठ
● कुटुम्बीजनों का सम्बंध ....ग.म. 32 446
● कुशाग्रबुद्धि..ग.प्र. 50 95
● कुसुंभी वस्त्र के दृष्टांत से विषयासक्ति का त्याग....................ग.म. 56 486
● कृतघ्नी सेवकराम...ग.प्र. 10 9
● क्रोध अत्यंत दुःखदायी और संपूर्ण सत्संग...............................लो. 1.............255
● क्रोधी, ईर्ष्यालु, कपटी एवं मानी व्यक्ति................................ग.प्र. 76 163
● खार भूमि ....सा. 18...........219
● घोंसले और खूंटे के दृष्टांत से
भगवान के स्वरूप में विराम ....ग.प्र. 32 55
● चतुर्व्यूह की वार्ता..ग.प्र. 66 132
● चमत्कारिक ध्यान..अम. 1 559
● चार प्रकार की निष्ठा...ग.प्र. 47 90
● चार प्रकार की मुक्ति...ग.प्र. 43 81
● चार प्रकार के कुसंगी ....ग.प्र. 48 92
● चार शास्त्रों से भगवान को समझना.....................................ग.प्र. 52 98
● चार शास्त्रों द्वारा भगवत्स्वरूप का ज्ञान...............................वर. 2.............519
● चौबीस तत्त्व जड या चैतन्य?...ग.म. 34 451
● छाया के दृष्टांत से ध्यान ....ग.अं. 31.........640
● जनकजी का ज्ञान ....वर. 20...........556
● जन्मभूमि की वासना; संत की पदवी ....ग.प्र. 37 65
● जीव एवं कारणशरीर का नित्य सम्बंध ....वर. 6.............530
● जीव का विनाश; सत्पुरुष में आत्मबुद्धि ही
आत्मदर्शन का साधन ....वर. 11 538
● जीव के कल्याण का उपाय..वर. 10...........537
● जीव तथा साक्षी का ज्ञातृत्व..का. 4.............234
● जीवन-डोर और दयालुता...ग.म. 28 438
● जीव तथा मन की मैत्री...ग.अं. 6 580
● जितेन्द्रिय-भाव ....वर. 17...........548
● ज्वार की खौँ और कल्याण का सरल उपाय..........................ग.म. 35 453

शीर्षक **वचनामृत** **पृष्ठ**

- तत्त्वों के लक्षण तथा उनकी उत्पत्ति..ग.प्र. 12 11
- तप से भगवान की प्रसन्नता ....का. 10...........246
- तीन प्रकार के वैराग्य..ग.प्र. 2 3
- त्यागियों के दो कुलक्षण..ग.अं. 19.........608
- त्यागी और गृहस्थ ....ग.म. 52 480
- दया एवं स्नेह..ग.अं. 3 571
- दरिद्र के दृष्टांत से विकारों का उन्मूलन..ग.म. 7 378
- दरिद्रता में पूर्व सुखानुभूति का स्मरण..ग.अं. 37.........656
- देशकाल आदि की प्रधानता..ग.प्र. 78 168
- देह, कुसंग और पूर्व संस्कार ....ग.प्र. 58 110
- दैवी-आसुरी जीव..ग.म. 44 468
- दैवी-आसुरी जीव के लक्षण..वर. 7.............533
- धर्म में भक्ति के समान गौरव..ग.अं. 21.........610
- धर्मादि चार गुणों की उत्पत्ति ....लो. 9.............291
- धर्मादि बल की वृद्धि का उपाय;
  प्रारब्ध, कृपा एवं पुरुष-प्रयत्न ....ग.प्र. 29 49
- धर्मिष्ठ तथा पापिष्ठ को समझने का विवेक ....वर. 14...........545
- ध्यान करने में कायर नहीं बनना..ग.प्र. 15 20
- ध्यान का आग्रह..ग.प्र. 5 6
- नारदजी जैसी ईर्ष्या ....ग.प्र. 4 5
- नास्तिक तथा शुष्क वेदान्ती..ग.म. 18 415
- निर्मानी भक्त की महत्ता; इष्टदेव की निष्ठा..ग.प्र. 56 104
- निर्मानी-भाव..पं. 5 354
- निर्विकल्प समाधि ....वर. 1.............517
- निरुत्थान निश्चय ही निर्विकल्प समाधि ....ग.म. 14 404
- निर्विकारिता..लो. 10...........292
- निश्चय द्वारा महत्ता ....ग.प्र. 31 53
- निश्चयरूप गर्भ का जतन ....ग.म. 10 388
- निश्चय के छः प्रकार ....लो. 12...........301

शीर्षक	वचनामृत	पृष्ठ
● निष्काम व्रत	ग.म. 33	448
● नैमिषारण्य क्षेत्र	सा. 7	196
● पक्का सत्संगी	ग.म. 61	496
● पतिव्रता का धर्म	ग.म. 5	375
● पतिव्रता स्त्री के समान भगवन्निष्ठा	ग.अं. 16	603
● परम कल्याण	ग.म. 59	492
● परमेश्वर में दृढ़ प्रीति तथा देहरूप अंगरखा	ग.प्र. 44	83
● पंचविषयों का खण्डन, हवेली का दृष्टांत	ग.प्र. 18	22
● पंचविषयों में आसक्ति	ग.म. 47	472
● पाँच अनादि तत्त्व	ग.अं. 10	586
● पाँच बातों का नित्य स्मरण	ग.अं. 30	639
● पुरुषप्रयत्न	सा. 11	202
● प्रत्येक अवस्था में निहित दो-दो अवस्थाओं और वाणी के प्रकार	सा. 6	193
● प्रमाद तथा मोह	सा. 14	208
● प्रीति के लक्षण	का. 11	250
● बरगद-पीपल की शाखा का रोपण	ग.प्र. 13	15
● बड़े आदमी के साथ रास नहीं आता	वर. 16	547
● बड़े सन्त की प्रसन्नता का कारण मलिन वासना का त्याग	ग.म. 27	435
● बाधितानुवृत्ति	ग.अं. 4	574
● बाह्य प्रकृति से मनुष्य को परखना कठिन	का. 3	231
● बीस मोट का प्रवाह; चित्तवृत्ति का निरोध	ग.प्र. 25	40
● बीस वर्षीय दो हरिभक्त	ग.अं. 29	636
● बुद्धिभेद न होने के चार उपाय	ग.अं. 33	644
● ब्रह्म मूर्तिमान होते हुए भी व्यापक	वर. 13	543
● ब्रह्मरूप होकर भगवत्प्रीति करना	अम. 2	561
● ब्रह्म-स्थिति को पाना; पानी का घड़ा ढालने के बजाए उंगली सी जलधारा बहाये रखना	ग.प्र. 23	35
● ब्रह्मस्वरूपिणी प्रीति	ग.म. 43	467

शीर्षक	वचनामृत	पृष्ठ
● भक्त की व्याख्या और अविवेक	वर. 19	555
● भक्त के द्रोह से भगवान का द्रोह	ग.अं. 35	650
● भक्त के सम्बंध से कल्याण	ग.प्र. 75	161
● भक्ति की रीति, जो मन को रास आती है	ग.अं. 15	602
● भक्तिरहित ब्रह्मज्ञान निरर्थक	ग.म. 65	508
● भक्तों से मलिन रीस	का. 9	245
● भगवन्मार्ग से पतन होने के दो प्रकार	ग.अं. 28	632
● भगवत्स्मरण के बिना सभी साधना शून्य	ग.प्र. 22	34
● भगवत्स्वरूप का निश्चय	लो. 18	324
● भगवत्स्वरूप में तत्त्व मीमांसा; स्थितप्रज्ञ	ग.म. 17	412
● भगवान अक्षरधाम सहित पृथ्वी पर बिराजमान हैं	ग.प्र. 71	144
● भगवान एवं सन्त की सेवा	ग.प्र. 8	8
● भगवान का अखंड चिंतन	ग.म. 48	475
● भगवान और मायिक आकार में भिन्नता	ग.म. 49	476
● भगवान का तत्त्वत: निश्चय	ग.प्र. 63	121
● भगवान की इच्छा ही सर्वोपरि	ग.प्र. 74	160
● भगवान की मूर्ति में स्नेह	सा. 2	181
● भगवान की योगमाया	पं. 7	357
● भगवान के प्रति वासना के उपाय	ग.अं. 34	647
● भगवान के प्रति स्नेह की रीति	पं. 3	340
● भगवान के प्रत्यक्षरूप की ही इच्छा	ग.प्र. 9	9
● भगवान के स्वरूप की महिमा	ग.म. 64	505
● भगवान के स्वरूप में मन की अखंड वृत्ति	ग.प्र. 1	1
● भगवान निरंतर निवास करके रहे ऐसी समझ	ग.प्र. 27	46
● भगवान में माया न समझना; भक्त-भगवान की समान सेवा	वर. 5	527
● भगवान में दृढ़ आसक्ति	ग.म. 29	440
● भजन-स्मरण तथा व्रत-नियम की दृढ़ता	ग.प्र. 55	103

शीर्षक .... वचनामृत .... पृष्ठ

- भरतजी का चमत्कारी आख्यान .... ग.अं. 17 605
- भागवतधर्म का पोषण और मोक्ष का द्वार .... ग.प्र. 54 102
- मत्सर समस्त विकारों का आधार .... का. 6 236
- मन-इन्द्रियों को वशवर्ती रखनेवाले संत .... ग.अं. 26 625
- मन को जीतने का उपाय .... सा. 1 179
- मनन द्वारा ब्रह्म का संग .... ग.म. 31 442
- मनुष्यभाव में दिव्यभाव .... पं. 4 346
- मानसी पूजाविधि .... ग.अं. 23 617
- माहात्म्य और श्रद्धा से भगवान का अखंड चिन्तन .... ग.म. 4 372
- माहात्म्य की आड़ में पाप .... ग.अं. 32 643
- माहात्म्य सहित निश्चय .... वर. 12 540
- माहात्म्ययुक्त निश्चय .... ग.प्र. 72 148
- माहात्म्ययुक्त भक्ति .... ग.अं. 5 577
- माहात्म्यज्ञान सहित निश्चय .... लो. 3 263
- मांचा भक्त की समझ .... ग.म. 38 459
- मुक्तों के प्रकार-भेद .... सा. 17 217
- मुग्धा, मध्या और प्रौढा गोपियाँ .... सा. 15 212
- मूढ़ विश्वास, प्रीति और ज्ञान से भगवान का दृढ़ आश्रय .... ग.प्र. 33 58
- मोक्ष का रहस्य; प्रत्यक्ष भगवान और सन्त ही कल्याणकर्ता .... ग.म. 21 422
- मोक्ष के असाधारण कारण .... ग.प्र. 57 108
- मोह का स्वरूप .... ग.म. 1 362
- मृत्युडोर; एकान्तिक धर्म से पतन .... ग.म. 46 471
- युग के धर्म की प्रवृत्ति; स्वधर्मरूपी स्थान .... सा. 9 198
- योगी की निद्रा .... वर. 8 534
- रसिक भक्त; निर्गुणभाव .... ग.प्र. 26 43
- रसिक भक्ति एवं आत्मज्ञान .... ग.म. 3 369
- रहस्य; जगत वासना से मुक्ति .... ग.म. 50 477
- राजा बलि की अनन्य भक्ति .... ग.प्र. 61 115
- लम्बकर्ण बनने की अविवेकी याचना .... ग.अं. 14 595

शीर्षक	वचनामृत	पृष्ठ
● लीलाचरित्र-स्मरण	ग.प्र. 3	4
● वज्र की कील	ग.अं. 7	582
● वासना का कुंठित और निर्मूल होना	लो. 16	316
● वासना की जीर्णता	ग.अं. 18	606
● वासना को मिटाने की साधना	ग.प्र. 60	113
● वासना तथा एकान्तिक भक्त	ग.प्र. 11	11
● वासना निवृत्ति; अन्वय-व्यतिरेक	सा. 5	190
● वासनिक त्यागी, और निर्वासनिक गृहस्थ	ग.म. 25	431
● विधिनिषेध	ग.प्र. 42	78
● विपरीत देशकाल में एकान्तिक धर्म की रक्षा	ग.अं. 13	592
● विवेकशीलता	ग.प्र. 16	21
● विवेकी-अविवेकी	ग.प्र. 6	6
● विश्वासी, ज्ञानी, शूरवीर और प्रीतिमान	लो. 2	260
● विषयासक्ति की लू तथा शीत	ग.म. 23	429
● विषयों की उत्पत्ति तथा उनकी निवृत्ति के उपाय	ग.म. 2	367
● विक्षेप मिटाना तथा पक्ष रखना	ग.म. 60	493
● शरीर और शरीरी	ग.प्र. 64	126
● शापित बुद्धि	का. 2	229
● शास्त्र-वचनों में विश्वास; अविचल निश्चय	सा. 13	206
● शुष्क वेदांत के ग्रंथ के श्रवण से उदासीन होकर किया गया पत्रलेखन	ग.म. 19	418
● शूरवीरता और अंतर्दृष्टि	ग.म. 22	425
● श्रवण, मनन, निदिध्यास और साक्षात्कार	सा. 3	186
● श्रीनरनारायण ऋषि का तप	सा. 16	216
● श्रीहरि की रुचि	लो. 14	308
● श्रीहरि की प्रसन्नता, सच्चे भक्त के लक्षण	ग.अं. 25	623
● श्रीहरि के स्वाभाविक गुण	ग.म. 39	460
● श्रीहरि के स्वरूप का ज्ञान; यथार्थ निश्चय	ग.म. 13	398
● सखी-सखा भाव	ग.अं. 22	614

शीर्षक	वचनामृत	पृष्ठ
सगुण-निर्गुण स्वरूप	का. 8	242
सच्चा त्यागी	ग.प्र. 36	64
सत्संग का मूल्यांकन; आत्मनिरीक्षण	ग.प्र. 38	68
सत्संग की महिमा; सत्पुरुष में आत्मबुद्धि	ग.म. 54	482
सत्संग में कुसंग क्या है ?	ग.प्र. 17	21
सत्संग-महिमा तथा भगवन्निश्चय की अडिगता	ग.प्र. 70	139
सत्पुरुष के अनुग्रह से आसुरी जीव दैवी होता है	वर. 15	546
सत्पुरुष के गुण प्राप्त होने के उपाय	ग.प्र. 67	134
सत्पुरुष के चार प्रकार	वर. 3	523
सत्पुरुष तथा असत्पुरुष की समझ	लो. 11	299
सद्गुरुओं के प्रश्न	ग.म. 66	509
सदैव सुखी रहने के उपाय	ग.अं. 8	583
सभी कर्म भक्तिरूप कैसे हों ?	ग.म. 11	393
समाधिजन्य आनन्द	वर. 9	536
समाधिनिष्ठ की ज्ञानशक्ति	ग.म. 20	420
सम्प्रदाय की पुष्टि	ग.म. 58	491
सम्प्रदाय की रीति	वर. 18	551
सर्वार्थसिद्धि; प्रकट गुरुरूप हरि	ग.अं. 2	569
सविकल्प तथा निर्विकल्प स्थिति	ग.प्र. 39	72
सविकल्प-निर्विकल्प समाधि	ग.प्र. 40	74
संकल्पों के घाव से निवृत्त होने का उपाय	ग.प्र. 30	51
संग-शुद्धि	लो. 6	272
साकार और निराकार का रहस्य	ग.प्र. 45	85
सांख्यज्ञान तथा निरंतर सुख !	ग.अं. 38	659
सांख्यनिष्ठा एवं योगनिष्ठा	ग.म. 24	430
सांख्य-योग	पं. 2	335
सीताजी की समझ	ग.अं. 11	588
सुख की मीमांसा	पं. 1	331
सोलह साधन	ग.अं. 24	619

शीर्षक	वचनामृत	पृष्ठ
● स्तुति एवं निंदा	लो. 17	320
● स्नेहरूपी माया - आज्ञापालन में सुख	ग.प्र. 34	60
● स्वभाव पर शत्रुभाव	ग.म. 15	405
● स्वभाव, प्रकृति या वासना की परिभाषा	ग.अं. 20	609
● स्वरूपनिष्ठा एवं धर्मनिष्ठा	ग.म. 16	407
● स्वरूपनिष्ठा, भगवत्स्वरूप का द्रोह	ग.म. 9	384
● स्वर्ण तथा स्त्री बन्धनकारी	ग.म. 30	441
● स्वर्णरूप चैतन्य में चांदीरूप मायिक गुणों की मिलावट	ग.म. 55	484
● स्वाभाविक प्रकृति	ग.म. 37	458
● स्वामी-सेवकभाव	ग.म. 67	514
● हीरे से हीरे का छेद, भगवान से भगवान का निश्चय	ग.प्र. 51	96
● हूंडी; चित्त का स्वभाव	ग.म. 6	376
● ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति एवं इच्छाशक्ति	ग.प्र. 65	128
● ज्ञान की आड़ लेकर धर्म को झूठा मत करें	ग.प्र. 77	164
● ज्ञान की स्थिति; माहात्म्य की खटाई	ग.प्र. 24	37
● ज्ञान तथा स्नेह का अंग	ग.अं. 1	566
● भूगोल-खगोल वचनामृतम्		669
● अहमदाबाद नगर के अधिक वचनामृतम्		675
– श्रीअसलाली – वचनामृतम्		685
– श्रीजेतलपुर – वचनामृतम्		687

● **परिशिष्ट - 1 :** वचनामृत में श्रीहरि के कृपावचन एवं प्रश्नों की कुल संख्या तथा विभागीकरण 701

● **परिशिष्ट - 2 :** वचनामृत में आनेवाले कठिन शब्दों के सरल अर्थ 702

● **परिशिष्ट - 3 :** भगवान स्वामिनारायण द्वारा उपयोग में लिए गये वस्त्र-परिधान, आसन तथा इस सम्बंध में प्रयोग किए जानेवाले विशिष्ट शब्दों के अर्थ 703

● **परिशिष्ट - 4 :** श्रीहरि के वस्त्र-परिधान की गई कुछ चित्रकारी 706

● **परिशिष्ट - 5 :** वचनामृत में श्रीहरि द्वारा प्रयुक्त श्लोक-संदर्भ 709

● **परिशिष्ट - 6 :** वचनामृत में श्रीहरि द्वारा प्रमाणित कीर्तन 716

नूतन संस्करण के अवसर पर...

भगवान श्रीस्वामिनारायण के दिव्य 'अमृतवचनों' का यह ग्रंथ, आध्यात्मिक विश्व का एक अनन्य एवं ऐतिहासिक ग्रंथ है! इस अमूल्य आध्यात्मिक ग्रंथ का नया संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अत्यंत ही आनन्द एवं हर्ष है।

इस संस्करण में भी श्रीहरि के वचनों में कहीं भी किसी प्रकार के क्षेपक शब्दों का समावेश न हो, इसके लिए सूक्ष्म ध्यान रखा गया है। वड़ताल के आचार्यश्री श्रीपतिप्रसादजी की आज्ञा से सं. 1984 में निर्णयसागर प्रेस, मुंबई से प्रकाशित शुद्ध प्रति के आधार पर बिना किसी परिवर्तन के शब्दशः इस ग्रंथ को प्रकाशित किया गया है। इसके अतिरिक्त अहमदाबाद संभाग से सम्बंधित अतिरिक्त ग्यारह वचनामृतों को भी सम्मिलित किया गया है।

प्रस्तुत संस्करण में श्रीहरि द्वारा प्रबोधित शास्त्र-संदर्भों के विशिष्ट अर्थ को स्पष्ट करने हेतु, टिप्पणी में विशेष प्रयास किया गया है। टिप्पणी में श्रीहरि द्वारा उद्बोधित तात्त्विक शब्दों के सरल भावों को भी समायोजित करने की चेष्टा की गई है। कुल मिलाकर लगभग 288 टिप्पणियों से वचनामृत ग्रंथ का यह संस्करण पठन-पाठन की दृष्टि से अत्यधिक प्रभावशाली बन गया है। सम्मिलित टिप्पणियों के संशोधन में अक्षरधाम, गांधीनगर (गुजरात) स्थित 'आर्ष' अनुसंधान केन्द्र के शोधकर्ता साधु श्रुतिप्रकाशदासजी (विद्यावारिधि) एवं उनके विद्वान सहयोगियों ने अत्यधिक परिश्रम किया है; जिसके लिए हम उनके आभारी हैं।

इसके उपरांत वचनामृत में उल्लेखित श्लोकों, कीर्तनों, कठिन शब्दों के अर्थ, श्रीहरि के परिधान सम्बंधी जानकारी तथा परिधानों के चित्र, दादाखाचर के दरबार का चित्रांकन तथा तिथिवार वचनामृतों का वर्गीकरण आदि विशेषताओं का समावेश, परिशिष्ट के अंतर्गत किया गया है। इन विशेषताओं के कारण यह ग्रंथ अत्यधिक समृद्ध हुआ है। इसी के साथ श्रीहरि ने जहाँ-जहाँ वचनामृतों का उद्बोधन किया है, उन स्थलों की रंगीन तसवीरें भी विशेष दर्शनीय हैं।

भक्तराज श्रीहर्षदभाई दवे ने इस वचनामृत का गुजराती से हिन्दी अनुवाद पं. रामवल्लभ शास्त्रीजी द्वारा सन् 1980 में करवाया था, जिसका प्रकाशन 'भारतीय विद्या भवन' संस्था ने भगवान श्रीस्वामिनारायण द्विशताब्दी महोत्सव के अवसर पर किया था। तत्पश्चात् कई वर्षों तक प्रकाशन न हो पाया, लेकिन अंतिम 8 वर्षों में चार बार पुनर्मुद्रण हो चुका है। अब तो क्षतिशोधन करके शुद्ध स्वरूप में प्रकाशन किया जा रहा है। फिर भी कुछ त्रुटियाँ छूट गई, नज़र में आए तो क्षमा कीजिएगा।

हमें आशा है, प्रकट गुरुहरि प्रमुखस्वामी महाराज की प्रेरणा एवं उनके आशीर्वाद से प्रकाशित हो रहा यह रुचिकर हिन्दी-संस्करण आप सभी की अध्यात्म-पिपासा की संतुष्टि में सहायक सिद्ध होगा।

- स्वामिनारायण अक्षरपीठ



'मुझे यह बात किसी प्रकार के
दम्भ अथवा मान अथवा
अपने बड़प्पन को बढ़ाने के लिए नहीं करनी है।
वास्तव में हम यह जानते हैं कि
'यदि यह बात इन समस्त साधुओं तथा
हरिभक्तों में से किसी की भी समझ में आ जाए,
तो उसकी आत्मा का अतिशय कल्याण होगा।'
इसी प्रयोजन से मैं यह बात कर रहा हूँ।
यह जो बात है, उसे मैं देख चुका हूँ तथा
अपने अनुभव से भी मैंने उसे सिद्ध किया है
और वह समस्त शास्त्रों द्वारा भी प्रामाणित है।
इस प्रकार की जो बात हम करते हैं,
वह बुद्धि की कल्पना से नहीं करते और
अपनी सिद्धता दिखलाने के लिए भी नहीं करते।
यह तो हमारी अनुभूत बातें हैं।
तथा हम जैसा आचरण करते हैं, वैसी ही बातें करते हैं।'

- भगवान श्रीस्वामिनारायण



वचनामृत के उद्‌गाता : भगवान श्रीस्वामिनारायण



परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान श्री स्वामिनारायण तथा अक्षरब्रह्म गुणातीतानंद स्वामी



ब्रह्मस्वरूप
भगतजी महाराज

ब्रह्मस्वरूप
शास्त्रीजी महाराज

ब्रह्मस्वरूप
योगीजी महाराज

प्रकट ब्रह्मस्वरूप
प्रमुखस्वामी महाराज

भगवान स्वामिनारायण के वचनामृत
उपोद्‌घात

पातुं धर्ममधर्ममुत्खनयितुं श्रीभक्तिधर्माङ्गतो
जातायोत्तरकोसलेषु दयया सर्वेश्वरेशाय च।
तृप्तिं वाक्यसुधारसैर्विदधते नैजैर्निजानां मुहुस्
तस्मै श्रीहरये नमोऽस्तु सहजानन्दाय सद्वर्णिने ॥1॥

ज्ञानेन धर्मेण युतां विरक्त्या माहात्म्यबोधेन च यो निजस्य।
प्रवर्तयामास भुवि स्वभक्तिं स श्रीहरिर्नोऽस्तु मतिप्रदाता ॥2॥

अज्ञानसंज्ञं गहनान्धकारं निजाश्रितस्वान्तगुहागतं यः।
अपाहरज्ज्ञानदिवाकरः श्रीधर्माङ्गजन्मा जयति प्रभुः सः ॥3॥

प्रोक्तानि यानीह वचोऽमृतानि श्रीस्वामिना तेन निजाश्रितेभ्यः।
तेषां लिखामः कतिचित्तदीयतुष्ट्यै यथाबुद्धि यथाश्रुतं च ॥4॥

तत्रादौ श्रीहरेस्तस्य जन्मादि-चरितं शुभम्।
कथयामः समासेन तदीयानन्ददायकम् ॥५॥

भगवान परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण का सर्वोपरि अक्षरधाम कोटि-कोटि सूर्यों, चन्द्रों तथा अग्नि के समान प्रकाशमान और दिव्य है। वह अत्यन्त श्वेत तथा सच्चिदानन्दरूप है, जिसे ब्रह्मपुर, अमृतधाम, परमपद, ब्रह्म और चिदाकाश कहते हैं। ऐसे अक्षरधाम में परब्रह्म परमात्मा सदैव विराजमान रहते हैं। उन्हें परब्रह्म पुरुषोत्तम, परात्पर वासुदेव, नारायण, परमात्मा, परब्रह्म आदि नामों से पुकारा जाता है।

ऐसे भगवान क्षर-अक्षर से परे हैं। वे सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, सर्वनियन्ता, सबके अन्तर्यामी, समस्त कारणों के कारण, निर्गुण, स्वप्रकाश और स्वतंत्र हैं। वे

अनन्त कोटि ब्रह्मरूप मुक्तों की उपास्य मूर्ति हैं। वे अनन्त कोटि ब्रह्मांडों की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयस्वरूपिणी लीला करनेवाले हैं। प्रकृति, पुरुष, काल, प्रधानपुरुष तथा महत्तत्त्वादि शक्तियाँ उनकी प्रेरक हैं अर्थात् सभी शक्तियाँ इनकी प्रेरणा से कार्यान्वित हैं।

वे अनन्त कोटि ब्रह्मांडों के राजाधिराज हैं। उनकी सदैव किशोरमूर्ति करोड़ों कन्दर्पों से अधिक सुन्दर हैं। उनका करोड़ों सूर्यों और चन्द्रों से अधिक तेजस्वी स्वरूप है। उनमें अनन्तकोटि कल्याणकारी गुण हैं। धर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि ऐश्वर्य और अणिमादि सिद्धियाँ उनके चरणकमलों की सेवा में तत्पर रहती हैं। मूर्तिमान चारों वेद उनकी स्तुति करते रहते हैं।

समग्र ऐश्वर्ययुक्त यह परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान पृथ्वी पर एकान्तिक धर्म के प्रवर्तन तथा धर्म, भक्ति एवं एकान्तिक भक्तों की रक्षा करने, उन्हें सुख देने, अनेक जीवों का कल्याण करने और अधर्म का नाश करने के लिए भरतखण्ड में कोशल प्रदेश में प्रकट हुए। और भगवान श्रीस्वामिनारायण के कल्याणकारी नाम से विख्यात हुए।

श्रुति में कहा गया है : **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'** लोकोत्तर महापुरुषों की प्रतिभा और उनके दिव्य चरित्र बुद्धि-मन से अगम्य ही होते हैं। केवल उनके अपने शब्दों में ही उनकी सही प्रतिभा के दर्शन होते हैं।

परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान श्रीस्वामिनारायण के बारे में इस नितांत सत्य का अनुभव, उनके समकालीन महान और समर्थ संतों-परमहंसों-भक्तों को सदैव होता रहा था। अत: उन्होंने भगवान के शब्दों को यथातथा ग्रहण करके, उसी के आधार पर ही उनके दिव्य एवं अनंत व्यक्तित्व को हृदयपूर्वक समझने का प्रयास किया था।

भगवान श्रीस्वामिनारायण ने एक पत्र में अपने प्राकट्य का उद्देश्य इस प्रकार बताया है :

'आज तो मैं अविद्यारूप जो माया है तिसके नाश के वास्ते प्रगट हुआ हूँ। ज्यों वेदों का वचन ज्यों अविद्या कुं नाश करो - ऐसी जो मेरी स्तुति किया है, सो वचन को आज मैं सत्य करता हूँ। अनंत जीवुं का जो अविद्यारूप जो माया है, तिसका मैं नाश करता हूँ। जिस दिन सुं मैं प्रगट हुआ था तिस दिन सुं अविद्या के नाश के वास्ते प्रवर्त्या हूँ... आज तो मेरा प्रयोजन एही है, ज्यों अविद्या कुं नाश करना, जीवकुं ब्रह्मरूप करना...'

'..दूसरा अवतार है, सो कार्य-कारण अवतार हुआ है, और मेरा यह अवतार है, सो तो जीवों कुं ब्रह्मरूप करके आत्यंतिक मुक्ति देने के वास्ते अक्षरातीत पुरुषोत्तम जो हम वह मनुष्य जैसा बन्या हूँ... ।'

परब्रह्म का प्राकट्य

ऐसे दिव्य और अनुपम करुणापूर्ण लक्ष्य के साथ वे प्रकट हुए। वह पवित्र समय था - रामनवमी का, यानी चैत्र शुक्ला नवमी, संवत् 1837, दिनांक 3 अप्रैल, 1781, रात्रि के दस बजकर दस मिनट का। वह परम सौभाग्यशाली स्थल था, अयोध्या के निकट छपिया नामक एक छोटा-सा गाँव! वह पुण्यभागी पवित्र परिवार था, पिता हरिप्रसादजी का जो विद्वद्जगत में पंडित धर्मदेव के नाम से और माता प्रेमवती जो भगवद्भक्ति में लीन होने के कारण भक्तिदेवी के नाम प्रसिद्ध थे।

जब भगवान तीन महीने और ग्यारह दिन के हो गये तब मार्कण्डेय ऋषि ब्राह्मण के वेश में पंडित धर्मदेव के घर पधारे। उस समय उन्होंने ऋषि का भव्य स्वागत-सत्कार किया और निवेदन किया कि 'आप हमारे पुत्र का नामकरण कीजिए।'

इस दिव्य बालक के भविष्य को देखते हुए ऋषि प्रसन्न हो गये और नामकरण करते हुए बोले कि 'धर्मदेवजी! आपका यह पुत्र सामान्य नहीं है। वह आपकी समस्त आपदाओं को दूर करेगा। इतना ही नहीं, जो भी लोग इसके आश्रित रहेंगे, उन सबके कष्टों को भी यह मिटा देगा। इस बालक का जन्म कर्क राशि में हुआ है; इसलिए इसका नाम **हरि** होगा। आपके इस प्रतिभाशाली पुत्र का शरीर श्याम वर्ण का है तथा यह अपने आश्रितजनों के मन को अपनी ओर आकृष्ट कर लेगा एवं इसका जन्म चैत्र मास में हुआ है, इसलिए यह **कृष्ण** नाम से विख्यात होगा। यद्यपि इसके दोनों नाम बहुत छोटे हैं तथापि इन दोनों के सम्मिश्रण से इसका तीसरा नाम **हरिकृष्ण** भी रहेगा। आपके इस पुत्र में त्याग, ज्ञान, तप, धर्म और योग नामक पाँच गुण रहेंगे। इन गुणों के बल पर यह बालक शिवजी जैसा होगा, इसलिए यह **नीलकंठ** नाम से संसार में प्रसिद्ध होगा। आपके पुत्र के हाथों में पद्म का चिह्न है तथा पैरों में वज्र, ऊर्ध्वरेखा और कमल के चिह्न हैं, इसलिए आपका यह पुत्र लाखों मनुष्यों का नियन्ता होगा।'

पंडित धर्मदेवजी तथा भक्तिमाता दोनों ही अपने पुत्र के गुणों का वर्णन

सुनकर प्रसन्न हुए। श्रीहरि अपनी बाललीलाओं द्वारा अपने माता-पिता और सम्बंधीजनों को प्रफुल्लित करते हुए बालचंद्र के समान बढ़ने लगे।

बचपन से ही अपनी दिव्य प्रतिभा का दर्शन कराते वे तप-त्याग-करुणा-वात्सल्य-ज्ञान-भक्ति आदि अनेक कल्याणकारी गुणों एवं अनेक दिव्य ऐश्वर्यों से असाधारण रहे।

केवल दस वर्ष की उम्र में वेद-वेदांत पुराण, इतिहास और सकल धर्मशास्त्रों का गहन अध्ययन कर, बालप्रभु ने अपनी तेजस्वी-कुशाग्र बुद्धि से उसका रहस्यार्क प्राप्त कर लिया था। इतनी छोटी उम्र में काशी में आयोजित एक बड़ी विद्वत्सभा में शास्त्रार्थ में अपना दार्शनिक मत स्थापित करके उन्होंने अपनी दिव्य प्रतिभा का परिचय दिया था।

बचपन से ही उनका प्रभाव विलक्षण था। मित्रों एवं परिवारजनों को वे अपनी अगमवाणी में बार-बार बताते रहे थे कि उनको अनेक जीवों के कल्याण के लिए भारतभर में यात्रा करनी है और अंततः पश्चिम प्रदेश में जाना है, क्योंकि वहाँ मुमुक्षु प्रकट हुए हैं और यही हुआ।

अनंत जीवों की मुक्ति के लिए गृहत्याग

केवल 11 साल की उम्र में, माता-पिता के देहांत के बाद, आषाढी संवत् 1849 में आषाढ शुक्ला दशमी के दिन उन्होंने गृह-त्याग कर दिया। बृहद् वैराग्यधारी घनश्याम ने अब 'नीलकंठ ब्रह्मचारी' नाम धारण किया।

केदारनाथ और बदरीनाथ की यात्रा कर घातक शीतकाल में, बदरीवन में तीन मास तक कठोर तपश्चर्या की और वह भी केवल कौपीन धारण करके, नंगे शरीर, नंगे पाँव, निराहार रहकर! तपश्चर्या के बाद इसी भयावह ऋतु में, तपःकृश शरीर से मानसरोवर तक हिमानी शिखरों को लाँघकर की गई उनकी यात्रा आगे बढ़ी, जो आज तक मनुष्य देह से असंभव ही रही है। तत्पश्चात् पुनः हिमालय में मुक्तिनाथ की कठोर यात्रा करके वहाँ भरतकुंड-गंडकी तट पर ढ़ाई मास तक कठोर तपश्चर्या करके मानवजाति को अनन्य आदर्श सिखाया।

नेपाल के घने जंगलों में आगे बढ़कर वे गोपाल योगी के आश्रम में पहुँचे, जहाँ केवल एक वर्ष में ही उन्होंने अष्टांगयोग सिद्ध कर लिया। तत्पश्चात् कामाक्षी तीर्थ, गंगासागर, जगन्नाथपुरी आदि तीर्थों से लेकर दक्षिण

में रामेश्वर और कन्याकुमारी तक पैदल विचरण किया।

पुनः उत्तर की ओर बढ़ते हुए नासिक–त्र्यंबकेश्वर की यात्रा कर उन्होंने गुजरात में प्रवेश किया।

किसी गूढ़ संकेत से ही वे मार्ग में आते अनेक तीर्थों में महान उत्सवों के समय पर ही पहुँचे, जहाँ हज़ारों मुमुक्षुओं को उनके दर्शन करके कृतकृत्यता की अनुभूति हुई।

श्रीनीलकंठ प्रभु ने मार्ग में अनेक तीर्थों को तीर्थत्व प्रदान किया, मठों–आश्रमों को परिशुद्ध किया, असुरों के आसुरी तत्त्वों को अपने दिव्य प्रभाव से नष्ट किया, असंख्य तपस्वियों–साधकों को उनकी तपश्चर्या का फल प्रदान किया। अपना साक्षात्कार कराके उनकी साधना की पूर्णाहुति करायी और असंख्य पथभ्रष्ट मुमुक्षुओं को सही अध्यात्ममार्ग दिखाया।

अपनी तीक्ष्ण विचक्षण बुद्धि से उन्होंने सकल भारत के विभिन्न मतों–संप्रदायों, धार्मिक परंपराओं, साधुसंस्थाओं, धर्मगुरुओं तथा आश्रमों का निरीक्षण किया और अध्यात्म साधना के नाम चलते पाखण्डों को भी देखा, अतः नवधर्मस्थापन का नूतन आयाम भी इसी यात्रा के दौरान उन्होंने निश्चित कर लिया।

उनके दिव्य प्रभाव से मोहित होकर अनेक राजा–महाराजाओं ने अपनी राज्य–समृद्धि को उनके चरणों में समर्पित किया, अनेक आश्रम–मठाधिपतियों ने इनको अपना सर्वस्व न्योच्छावर किया, किन्तु निःस्पृही नीलकंठ ब्रह्मचारी के लिए इन प्रलोभनों का मूल्य नगण्य था। अतः उनकी कठोर पदयात्रा कहीं भी न रुककर मानसरोवर से कन्याकुमारी तक, पूर्व में मुक्तिनाथ से लेकर सोमनाथ तक, अविरत आगे ही बढ़ती रही।

गुजरात में स्थायी निवास

7 वर्ष, 1 मास और 11 दिन तक, समग्र भारत में 12,000 कि.मि. का तीर्थाटन करते हुए वे गुजरात के पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित लोज गाँव में पधारे। यहाँ किसी गूढ़ संकेत से, महान संत स्वामी श्रीरामानन्दजी का आश्रम उनकी प्रतीक्षा कर रहा था।

नीलकंठ के आगमन से आनंदविभोर श्रीरामानंद स्वामी ने अपने शिष्य समुदाय को बताया कि यही परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण हैं, जिनकी वे आज तक

प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके परात्पर दिव्य व्यक्तित्व से प्रभावित श्रीरामानंद स्वामी ने उनको भागवती दीक्षा प्रदान करते हुए 'सहजानंद स्वामी' नाम दिया और केवल 21 वर्ष की उम्र में उनको अपने उत्तराधिकारी के रूप में पदारूढ़ किया। संवत् 1858, प्रबोधिनी एकादशी (सन् 1801, 16 नवम्बर) के दिन आयोजित इस ऐतिहासिक अवसर पर उन्होंने श्रीरामानंद स्वामी के पास प्रार्थना के रूप में दो वरदान माँगे :

हे गुरुदेव! आपके आश्रित हरिभक्त को एक बिच्छू काटने का दुःख भी होना हो तो, उसके बदले मेरे एक-एक रोम में कोटि-कोटि बिच्छुओं का दुःख मुझे हो; परन्तु हरिभक्त को कोई दुःख न हो।

'दूसरा यह कि हरिभक्त के भाग्य में भीख माँगना लिखा हो, तो वह भीख माँगना मुझे मिले, परन्तु सत्संगी को अन्न-वस्त्र के लिए कभी कोई दुःख न हो - ये दो वरदान मुझे दीजिए।'

न केवल हिन्दू धर्म में, बल्कि विश्वभर में यह अद्वितीय प्रार्थना निःस्वार्थ परोपकार और करुणा की चरमसीमा है। दूसरों के दुखों को इतनी हद तक अपने पर लेनेवाले, दूसरों के सुख के लिए स्वयं पर इतना कष्ट माँगनेवाले, दूसरों के कल्याण के लिए स्वयं का ऐसा बलिदान देनेवाले श्रीसहजानंद स्वामी सचमुच स्वयं करुणावतार ही थे। उन्होंने जगत को अनन्य, अनुपम, निःस्वार्थ प्रार्थना का यह शाश्वत उदाहरण दिया है।

और इसी करुणामय भावना के साथ उन्होंने अपना धर्मचक्र - प्रवर्तन का कार्य शुरू किया।

धर्मधुरा सौंपने के एक ही महीने के बाद श्रीरामानंद स्वामी ने देहत्याग कर दिया। उनके बारहवें श्राद्ध के बाद श्रीसहजानंद स्वामी ने शिष्यों को षडक्षरी महामंत्र दिया: 'स्वामिनारायण।' 'स्वामी' और 'नारायण' यानी ब्रह्म तथा परब्रह्म की विभावना देता यही मंत्र आगे चलकर भगवान के एक नाम के रूप में पर्यायवाची बन गया, जो 'भगवान श्रीस्वामिनारायण' के रूप में आराधित हुए।

अवतार कार्य - प्रारंभ

भगवान श्रीस्वामिनारायण ने अपने अवतारकार्य का आरंभ करते हुए,

सहस्रों लोगों को बिना अष्टांगयोग की सिद्धि के, समाधि अवस्था का अनुभव कराया। कभी उनके दर्शन करते हुए, कभी स्वामिनारायण महामंत्र का रटण करते हुए और कभी केवल उनकी पादुका की चटक-ध्वनि सुनते ही लोग समाधि अवस्था में हो जाते थे।

उन्होंने लोगों को अनुभव करवाया : परमात्मा सत्य हैं, दिव्य हैं, आनंदमय हैं। भगवान के अवतार सत्य हैं, उनका धाम सत्य है और कर्मफल भी सत्य है।

केवल 21 वर्ष की उम्र में भगवान श्रीस्वामिनारायण लोकहृदय के सिंहासन पर बिराजमान हो गये। उनके दिव्य स्वरूप का आकर्षण इतना असाधारण था कि लगभग तीन हज़ार मुमुक्षुओं ने उनके श्रीचरणों में समर्पित होकर त्यागमार्ग की दीक्षा ग्रहण कर ली। वह दिन इतिहास का एक अद्वितीय दिन था, जब उन्होंने मात्र 24 वर्ष की अल्प आयु में 500 समर्थ साधुओं को शिखा-सूत्र त्याग करवाकर परमहंस दीक्षा प्रदान की थी। इस परमहंस दीक्षा का भी कारण था - उस समय स्वामिनारायणी साधुओं को गंजेडी-भंगेडी बाबा जान से मार डालने लगे थे। परमहंस होने पर वे नहीं पहचाने जाने से बच जाते थे। इन परमहंसों में कई ऐसे भी थे जो राजाओं, सामंतों ओर जमींदार घरानों से जुड़े हुए थे।

अपने इन शिष्य-संतों के लिए भगवान ने पंचवर्तमान का आदेश दिया: नैष्ठिक अष्टांग ब्रह्मचर्य व्रत का पालन (निष्काम), लोभवृत्ति का त्याग (निर्लोभ), अमानिता (निर्मान), निःस्पृहिता (निःस्नेह) और निःस्वाद (स्वादरहित भोजन)। भगवान के आदेशानुसार इन संतों ने अपने विशुद्ध चरित्र, व्यापक उपदेशों और समाज की निःस्वार्थ सेवा द्वारा समाज के नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान का अद्वितीय कार्य किया।

18 वीं सदी का वह युग भारतीय इतिहास का 'अंधकारयुग' था। भगवान श्रीस्वामिनारायण के युगकार्य से, पश्चिम क्षेत्र में अज्ञान-अंधकार दूर होने लगा। बिना शस्त्र के उन्होंने क्रांति करके, अनेक डाकू-लुटेरों का जीवन-परिवर्तन किया। लाखों परिवारों में सदाचार-श्रद्धा का नवसर्जन किया। दहेज-सतीप्रथा आदि अनेक कुरिवाजों को समाप्त किया। स्त्रियों पर होते अत्याचारों को रोका, उनके उद्धार की ज्योति जलाई। हिंसामय यज्ञों को बंद करवाया, अहिंसामय यज्ञ की परंपरा को पुनर्जीवित किया।

अस्पृश्यता के उस घोर युग में भी उन्होंने अछूतों को अपने अनुयायियों के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने लोगों को समझाया कि सबको आत्मदृष्टि से देखना चाहिए।

अपनी पुस्तक 'कॅरेक्टर एण्ड पर्सनालिटी' में प्रसिद्ध इतिहासलेखक प्रिन्स होपकिन्स लिखते हैं :

'श्री स्वामिनारायण ने पिछड़े वर्गों में परिगणित जातियों और जनजातियों को ऊपर उठाया। उन्होंने चोरों, ठगों और डाकुओं का हृदय-परिवर्तन किया और उन्हें दूषणों से विमुक्त कर सच्चा शिष्य बनाया। प्रचार माध्यम रहित उस युग में उनके उपदेशों का हज़ारों लोगों के जीवन और चरित्र पर क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा। लडाकू और अपराधपेशा जनजातियों के लोगों ने भी मांस खाना और मद्यपान करना छोड़ दिया, अफीम और तंबाकू आदि व्यसनों का सेवन करना भी छोड़ दिया।' (खंड-13, पृष्ठ: 77)

वह एक ऐसा युग था, जिसमें भारत का सामाजिक जीवन वहम, अंधविश्वासों, तंत्र-मंत्र और जादू-टोने के मकड़जाल में उलझकर दम तोड़ रहा था। भगवान श्रीस्वामिनारायण ने अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व से लोगों को अंधविश्वास-वहम से मुक्त किया। उन्होंने कहा : 'इस तरह मंत्र-तंत्र से ही जीना संभव होता, तो जगत में कोई तो अमर होता या नहीं? और अगर मंत्र-तंत्र के बल से शत्रु को वश में करना सहज होता, तो ये राजा-महाराजा सेनाएँ क्यों रखते?'

धर्म-संस्थान दुराचरण से मुक्त रहकर निष्कलंक रहे, प्रत्येक मुमुक्षु की आध्यात्मिक साधना निष्कलंक रहे, इस उद्देश्य से उन्होंने स्त्रियों-पुरुषों के संयम पर ज्यादा जोर दिया। स्त्रियों और पुरुषों के पूजा-स्थान अलग बनवाये। स्त्रियों के लिए अलग से निर्मित सत्संगगृहों में, केवल महिला-उपदेशिकाओं के माध्यम से धार्मिक शिक्षा का प्रबंध किया।

उन्होंने परब्रह्म के प्रति पतिव्रता-भक्ति करने का आदेश देकर विधवाओं को 'सांख्ययोगी' नाम दिया और समाज में उनका गौरव बढ़ाया। महिलाओं को शिक्षित किया और नवजात कन्या-शिशु की 'दूधपीती' के नाम पर हत्या और सती-प्रथा का भी उन्मूलन किया।

भगवान श्रीस्वामिनारायण धार्मिक सहिष्णुता के प्रवक्ता थे। इसीलिए उन्होंने अपने अनुयायियों से कहा कि वे विष्णु, शिव, पार्वती, सूर्य और

गणपति- इन पंचदेवताओं को समान आदरभाव प्रदान करें। उनके विशाल हृदयी सहिष्णु व्यक्तित्व के विषय में ब्रिग्स हेनरी जार्ज ने अपनी पुस्तक 'सिटीज़ ऑफ गुर्जराष्ट्र' में लिखा है कि,

'श्रीस्वामिनारायण ने शिष्यत्व के लिए सभी का स्वागत किया और उन्हें स्वीकार किया। आध्यात्मिक ज्ञान के लिए सबको समान अधिकार और विशेषाधिकार प्रदान किए, चाहे वह मुसलमान, पारसी, ईसाई या कोई विदेशी ही क्यों न हो? वे ऐसे प्रथम धर्माचार्य थे, जिन्होंने हिन्दू धर्म से अन्य धर्म में गये हुये व्यक्तियों को अपने धर्म में लौटाने के कार्य को पूर्ण गंभीरता से संपन्न किया हो।'

अपनी स्थिति का बोध

स्वयं परब्रह्म परमात्मा होते हुए भी उन्होंने अपनी सर्वोत्तम अध्यात्म स्थिति का दर्शन कराते हुए कहा है : 'अन्तःकरण के भावों को मैं इस प्रकार पकड़ लेता हूँ, जिस तरह सिंह बकरे को अपने पंजों में जकड़ लेता है! परन्तु दूसरों को यह दिखाई नहीं पड़ता।' (वच. ग.प्र. 18)

मन पर उनका संयम क्षणिक नहीं था, किन्तु जीवनभर का और स्वतः सिद्ध था। वे कहते हैं : 'जिस दिन से हमने जन्म लिया है, उस दिन से लेकर आज तक हमें किसी भी दिन जाग्रत अथवा स्वप्नावस्था में द्रव्य या स्त्री के सम्बंध में किसी भी प्रकार का अशुभ संकल्प (विकृत विचार) हुआ हो, तो इन समस्त परमहंसों की सौगंध है!' (वच. ग.म. 33)

वे अपने मन का समत्व व्यक्त करते हुए कहते हैं : 'मुझे तो अच्छे पंचविषय हो अथवा बुरे पंचविषय, दोनों में समान भाव ही रहता है। मेरे लिए राजा और रंक तथा त्रिलोक का राज्य-शासन और भिक्षा माँग कर खाना अथवा हाथी के हौदे पर बैठना तथा पैदल चलना, सब कुछ एक समान ही है।' (वच. ग.म. 13)

अपनी इस उच्च स्थिति का कारण बतलाते हुए वे कहते हैं कि वह आत्मदर्शन की स्थिति है। भगवान श्रीस्वामिनारायण का आत्मदर्शन निरंतर, सम्यक् एवं अनादिसिद्ध था। वे कहते हैं : 'पहले से ही मैं आत्मा को साक्षात् देखता था और अब भी देखता हूँ। वह आत्मा सूर्य के समान प्रकाशयुक्त है। मुझे अपनी समस्त इन्द्रियों की क्रिया करने के बावजूद आत्मा का क्षणमात्र भी

विस्मरण नहीं होता।' (वच. ग.म. 35)

जैसे जल में रहकर ही मछली सभी क्रियाएँ करती है और उसे जल का सतत अनुशीलन रहता है; वैसे ही भगवान श्रीस्वामिनारायण सभी क्रियाएँ आत्मस्थ होकर करते थे। उन्हें आत्मा का निरंतर अनुशीलन था। अतएव वे सभी प्रकार के भय से मुक्त थे। ग्यारह साल की कोमल उम्र में घोर जंगल में अकेले विचरण करते हुए भगवान श्रीस्वामिनारायण को मृत्यु का भय भी नहीं था। वे कहते हैं : 'वन में भी बड़े-बड़े सर्प, सिंह, हाथी आदि अनेक प्रकार के प्राणी दिखाई पड़े, परन्तु मुझे मृत्यु का तनिक भी डर नहीं लगता था।' (वच. ग.म. 55)

आत्मा के पूर्ण अनुभव से भगवान श्रीस्वामिनारायण सम्यक्तया सद्गुण संपन्न थे, फिर भी वे अहंभाव से परे थे! वे कहते हैं : 'मेरे अंत:करण में अति तीव्र वैराग्य है। मुझमें जो सद्धर्म है और मैं ब्रह्म हूँ - ऐसा जो ब्रह्मज्ञान है, उसका अहंकार मुझे किसी तरह अनुभव नहीं होता।' (वच. ग.म. 13)

इससे भी ऊपर जाकर वे अपने स्वरूप का बोध कराते हुए कहते हैं: भगवान सदा साकार हैं। भगवान सर्वगुणसंपन्न, सर्वदोषमुक्त और सर्वसुख के निधान हैं। भगवान अति प्रकाशमय, अति सौम्य, अति मनोहर एवं दिव्य हैं... भगवान अपने चैतन्यरूप और तेजोमय अक्षरधाम में विराजमान हैं। 'यह बात अवश्य समझ लें कि (अक्षररूप उस) तेज:पुंज में जो मूर्ति है, वे ही ये प्रत्यक्ष महाराज (भगवान श्रीस्वामिनारायण) हैं।' (वच. ग.म. 13)

उनके वचनामृतों और अलौकिक चरित्रों में हज़ारों संतों और लाखों भक्तों ने उनके परमात्म-स्वरूप का दिव्य अनुभव किया था।

साक्षात् परब्रह्म के दिव्य अस्तित्व की अपनी अनुभूति और उनके दिव्य स्वरूप का वर्णन उनके समकालीन संतों ने अपने अनेक ग्रंथों एवं भक्ति-काव्यों में अनेक प्रकार से किया है।

तत्त्वज्ञान - सिद्धांत

सनातन वैदिक-दार्शनिक परंपरा के अनुसार भगवान श्रीस्वामिनारायण अपने दार्शनिक सिद्धांत में भी असंदिग्ध थे। उनका तत्त्वज्ञान ब्रह्मरूप होकर परब्रह्म की उपासना करने से पहचाना जा सकता है। जीव, ईश्वर, माया, ब्रह्म और परब्रह्म, इन पांच अनादि तत्त्वों का वे प्रतिपादन करते हैं।

परब्रह्म अर्थात् पुरुषोत्तम नारायण सर्वोपरि परम तत्त्व है, जो एक और अद्वितीय है। परब्रह्म अन्वयरूप में सर्वव्यापक और व्यतिरेक रूप में सर्वसे निर्लेप हैं। वे सदा दिव्य, साकार और पूर्ण हैं, सर्वजगत के नियन्ता एवं सर्वाधार हैं। परब्रह्म शरीरी हैं; जीव, ईश्वर, माया और ब्रह्म उनका शरीर है।

अक्षरब्रह्म अर्थात् अक्षर अथवा ब्रह्म। वह परब्रह्म का सर्वश्रेष्ठ सेवक है। वह जीव, ईश्वर और माया से भिन्न है। दो प्रकार से वह परब्रह्म की सेवा करता है: साकार रूप से और निराकार रूप से। साकार रूप से भगवान के धाम में और जहाँ भगवान अवतार धारण करते हैं, वहाँ उनके उत्तम सेवक के रूप में सेवा करता है। परमात्मा के साक्षात्कार के हेतु प्रयत्नशील मुमुक्षुओं के लिए अक्षरब्रह्म ही एकमात्र सर्वोत्तम माध्यम है। वही निराकार स्वरूप से वह 'अक्षरधाम' के रूप में अनंत कोटि मुक्तों और परब्रह्म का नित्य निवासस्थान है। अक्षरधाम अति तेजोमय है, अधो-ऊर्ध्व चारों ओर प्रमाण से रहित है, दिव्य है। वह जीव, ईश्वर, माया का आधार एवं कारण भी है।

अक्षरब्रह्म, परब्रह्म के साथ पृथ्वी पर अवतरित होता है और उसके बाद वह सन्तरूप में अपनी अनंत लीला से प्रकट रहकर परब्रह्म के अवतारकार्य को अविरत जारी रखता है। मुमुक्षुओं के लिए यह प्रकट ब्रह्मस्वरूप संत मोक्ष का द्वार है।

माया जड़ और बीजरूपी तत्त्व है, जिससे अनंत कोटि ब्रह्माण्डों के नामरूप आकारमात्र उत्पन्न होते हैं। वह त्रिगुणात्मिका है, अहं-ममत्व भी माया का ही स्वरूप है। वह जीव एवं ईश्वर के लिए बन्धन का कारण है।

ईश्वर अर्थात् प्रत्येक ब्रह्माण्ड के उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का संचालनकर्ता है। वह चैतन्य तत्त्व है। वह महामाया से बद्ध है। असंख्य ब्रह्माण्डों में असंख्य ईश्वर हैं।

जीव अर्थात् आत्मा, जो समग्र शरीर में व्याप्त एवं शरीर का आधाररूप चैतन्य तत्त्व है। वह सर्व कर्मों का ज्ञाता, भोक्ता एवं कर्ता है। कर्मफलप्रदाता भगवान के दिये कर्मफल के अनुसार वह भिन्न भिन्न शरीर को धारण करता है। वह माया से बद्ध है। जीव अनंत कोटि हैं और प्रत्येक जीव एक दूसरे से भिन्न है।

जीव के लिए आत्यन्तिकी मुक्ति का कारण एकान्तिक धर्म है, जिसमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य और भगवान की महिमायुक्त भक्ति समाविष्ट हैं। अक्षरब्रह्म

स्वरूप संत का आश्रय करके एकान्तिक धर्म की सिद्धि करना और आत्यन्तिकी मुक्ति प्राप्त करना ही जीवन का ध्येय है। इस सर्वोच्च पद की दिव्य अनुभूति इसी जीवन में की जा सकती है।

इस तत्त्वज्ञान युक्त शुद्ध वैदिक उपासना के प्रवर्तन के लिए भगवान श्रीस्वामिनारायण ने भव्य शिखरबद्ध मंदिरों की रचना करवाई। वरताल स्थित मंदिर में अपने हाथों से अपनी मूर्ति की स्थापना कर, उन्होंने अपने सर्वोपरि स्वरूप की प्रतीति करवाई।

49 वर्षों तक इस पृथ्वी पर एकांतिक धर्म-प्रवर्तन के लिए भगवान श्रीस्वामिनारायण ने अविरत विचरण किया। संवत् 1886 (सन् 1830) ज्येष्ठ शुक्ल दशवीं के दिन उन्होंने अपने पंचभौतिक शरीर का परित्याग किया। लेकिन उन्होंने यह वचन दिया कि वे अपने गुणातीत संत के द्वारा सदैव पृथ्वी पर प्रकट हैं।

अपने साक्षात् अक्षरधाम यानी अक्षरब्रह्म श्रीगुणातीतानंद स्वामी के द्वारा उन्होंने चिरकाल पर्यंत कल्याण-द्वार उद्घाटित करके रखा। आज भी इसी शुद्ध संत-परंपरा के द्वारा अनेक मुमुक्षुओं के भगवान श्रीस्वामिनारायण की अनुभूति हो रही है। इस संत-परंपरा में अक्षरब्रह्म श्रीगुणातीतानंद स्वामी के पश्चात् ब्रह्मस्वरूप श्रीभगतजी महाराज, ब्रह्मस्वरूप श्रीशास्त्रीजी महाराज, ब्रह्मस्वरूप श्रीयोगीजी महाराज और आज प्रकट ब्रह्मस्वरूप श्रीप्रमुखस्वामी महाराज विद्यमान हैं।

वचनामृत

वचनामृत स्वामिनारायण संप्रदाय का श्रेष्ठ आध्यात्मिक ग्रंथ है। इसमें भगवान श्रीस्वामिनारायण के आध्यात्मिक वार्तालापों का ऐतिहासिक संकलन है। गुजराती भाषा के इस सर्वप्रथम गद्यग्रंथ का संकलन, भगवान श्रीस्वामिनारायण की उपस्थिति में ही उनके चार महान संत शिष्यों - गोपालानन्द स्वामी, मुक्तानन्द स्वामी, नित्यानन्द स्वामी और शुकानन्द स्वामी ने भक्तिभावपूर्वक किया है। स्वयं भगवान ने इस ग्रंथ को 'आध्यात्मिक ज्ञान और प्रेरणाओं के स्रोत' के रूप में प्रमाणित किया है।

वचनामृत की भाषा अत्यंत सरल है। गहन बातों को मूर्तिमंत बनाने के लिए दिन-प्रतिदिन के उपयोग की वस्तुओं की उपमाओं, उपयुक्त दृष्टान्तों और

तर्कशुद्ध रूपकों के द्वारा उन्होंने आध्यात्मिक मार्ग के प्रत्येक पहलू का स्पर्श किया है और उस पर विशद मार्गदर्शन दिया है। आध्यात्मिक मार्ग की अत्यंत जटिल एवं अगम्य समस्याओं के यथार्थ व उपयुक्त उत्तर इस ग्रंथ में दिये गये हैं। मुमुक्षुओं को आध्यात्मिक मार्ग में बाधक दुविधाओं एवं क्षतियों से मुक्त करके परम शान्ति प्रदान करने की करुणा भगवान ने वचनामृत के द्वारा की है।

वचनामृत में संगृहीत परम सत्य एवं अनुभवयुक्त ज्ञान का उल्लेख करते हुए भगवान श्रीस्वामिनारायण स्वयं कहते हैं :

'यह मेरी वार्ता इतनी जानदार है कि देह रहने तक इसे प्रतिदिन करते रहना... और जो बात हमने आपको बतायी है, वह समस्त शास्त्रों का सिद्धान्त है तथा अनुभव में भी यही बात हमें सुदृढ़ है। हमने प्रत्यक्षरूप से देखकर ही आपको यह बात बतायी है। यदि हमने इसे प्रत्यक्षरूप से नहीं देखा हो, तो हमें समस्त परमहंसों की सौगंध है। (वच. ग.म. 13)

वचनामृत में सांख्य, योग, वेदान्त और पंचरात्र का सारतत्त्व है। इसमें परमात्मा के सदा साकार स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। वचनामृत में धर्म, ज्ञान, वैराग्य से युक्त एकांतिक भक्ति को मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है। इसके उपरान्त कहा गया है कि : ब्रह्मस्वरूप संत के आश्रय से ही आत्मसाक्षात्कार और परमात्म-साक्षात्कार हो सकता है।

वचनामृत एक दिव्य अमृत है।

जिसने इस अमृत की एक बूँद पी है, उसने अमृत के महासागरों का भी पान किया है।

वचनामृत का प्रारंभ करने से पहले, वचनामृत के संपादक संतों ने प्रत्यक्ष अनुभूति करते हुए भगवान श्रीस्वामिनारायण के दिव्य श्रीविग्रह का वर्णन इस प्रकार लिखा है :

'अब सर्वप्रथम श्रीसहजानन्द स्वामी महाराज की मूर्ति के चिह्नों को लिखते हैं। श्रीजीमहाराज के दोनों चरणारविन्दों के दोनों तलवों में ऊर्ध्व रेखा, अँगूठों के पास की उँगलियों के दोनों ओर निकली हुई है।

दायें पैर के अँगूठे के निचले भाग में ऊर्ध्वरेखा से मिलता-जुलता यह चिह्न (जौ का निशान) है। दाहिने पैर के तलवे में ऊर्ध्वरेखा के दोनों ओर कमल, अंकुश, ध्वज, अष्टकोण, वज्र, स्वस्तिक एवं जंबूफल के चिह्न हैं। दायें पैर के अँगूठे के नख में एक खड़ी हुई लाल रेखा का निशान है। इसी अँगूठे

के बाहर के भाग में एक तिल है। इस अँगूठे के पास की जो उँगली है, उसके ऊपरी हिस्से में एक तिल है।

दायें पैर की ऊर्ध्वरेखा की बायीं ओर दो श्याम चिह्न पास-पास में हैं और इस ऊर्ध्वरेखा से मिलता हुआ एक व्योमचिह्न है।

बायें पैर के तलवे में ऊर्ध्वरेखा के दोनों ओर धनुष, कलश, मत्स्य, त्रिकोण, गोपद तथा ऊर्ध्व चंद्र के चिह्न हैं।

दोनों पैरों के तलवे लाल हैं। दोनों पैरों के अँगूठों और उँगलियों के नाखून लाल, उठे हुए और तेजस्वी हैं।

दोनों पैरों के अँगूठों और उँगलियों के ऊपर बारीक और कोमल रोम (रोंये) हैं। दोनों पैरों के अँगूठों के पास की दोनों उँगलियों के ऊपर खड़ाऊँ के घिसने के निशान हैं तथा दोनों पैरों के बाहर के टखनों पर आसन पर बैठने के कारण बने हुए दाग के चिह्न हैं।

दायें पैर के टखने से पाँच अंगुल ऊपर नली पर बाहर की ओर एक छोटा तिल है। इस पैर की जाँघ के बाहर की ओर एक बड़ा चिह्न है और बाँयें पैर के टखने से पाँच अंगुल ऊपर नली पर एक बड़ा तिल है। उसके ऊपर पास में ही एक दूसरा छोटा तिल है। उसी पैर के घुटने के बाहर की ओर एक चिह्न है।

कटिभाग (कमर) में धोती पहनने के कारण पड़नेवाली लकीर का श्याम चिह्न है। सदा शीतल रहनेवाले उदर के ऊपर तीन रेखाएँ पड़ जाती हैं। गहरी और गोल नाभि के दोनों ओर तिल हैं। यह तिल दायीं ओर तो नाभि के किनारे पर है और बायीं ओर यह नाभि से थोड़ा दूर है। दायीं कोखपर एक बड़ा तिल है तथा उसके पास एक दूसरा छोटा तिल है।

नाभि के किनारे की दायीं ओर ऊपर दोनों तरफ तिल हैं। इनमें से दायीं ओर दो तिल नाभि के किनारे पर हैं और नली की बायीं ओर नाभि से थोड़ा दूर दायीं कोख पर एक बड़ा तिल है और नाभि के ऊपर दो अंगुल ऊपर तीन तिल हैं।

अन्ननली के दोनों ओर एक-एक तिल है और एक बीच में है तथा बीच के तिल से दो अंगुल ऊपर एक तिल है और बायीं ओर कोख से ऊपर तथा बगल के नीचे चार बड़े तिलों की एक खड़ी शृंखला है और उसके पास बाहर की तरफ दूसरे चार छोटे तिलों की एक पंक्ति है।

वक्ष:स्थल में रोमों (रोंयों) का श्रीवत्स चिह्न है। छाती के बीच अर्धचन्द्र के आकारवाला तथा पाँच अंगुल चौड़ा और थोड़ा लाल एक बड़ा चिह्न है तथा दायीं ओर कुछ ज्यादा चढ़ा हुआ चिह्न है। इस चिह्न के बीच थोड़ी बायीं ओर एक बड़ा तिल है। इस तिल से बायीं ओर दो अंगुल दूर एक तिल है और उससे बायीं ओर दो अंगुल के अंतर से बायें स्तन से ऊपर एक तिल है।

दोनों वक्षों से ऊपर दो छाप के चिह्न हैं। दायीं भुजा के पास में भीतर की ओर सीधे चार तिल हैं।

दायीं भुजा के अग्रिम भाग से तीन अंगुल नीचे एक छाप का चिह्न है तथा इस छाप के चिह्न के पास बाहर की ओर छोटे चार तिल हैं और दाहिनी कोहनी से नीचे तथा कलाई से दो अंगुल ऊपर दो तिल हैं।

बायें हाथ के अँगूठे के पास की उँगली और बीच की उंगली के बीच एक तिल है। इस अँगूठे के पास की उँगली के नख के पास भीतर की ओर एक छोटा सा तिल है। बायें हाथ की कलाई के ऊपर एक तिल है।

दोनों हाथों के नाखून लाल हैं और ऊपर उठे हुए हैं तथा तेजस्वी हैं। इन नाखूनों के अग्रभाग तीक्ष्ण हैं। दोनों हाथों के तलवे लाल हैं। इन तलवों में जो रेखाएँ हैं, वे कुछ श्याम दिखायी पड़ती हैं।

दोनों हथेलियों के अग्रिम भागों से ऊपर आठ अंगुल ऊँचे दो छाप चिह्न हैं और दोनों कोहनियाँ श्याम हैं।

कंठ के खड्डे के बीच एक तिल है। इस तिल से थोड़ा दूर एक छोटा तिल है और दाढ़ी के नीचे एक तिल है।

बायें कंधे से दो अंगुल नीचे पीठ पर रोम सहित एक बड़ा तिल है। इस तिल से नीचे एक तिल और उससे नीचे एक तिल है तथा मेरुदंड (रीढ़) की बायीं ओर गर्दन से दो अंगुल नीचे एक तिल है।

दायें पखौड़े (भुजा और स्कंध के सन्धिभाग) पर एक छोटा तिल है और रीढ़ से दायीं ओर पीठ के बीच चार तिल हैं।

नासिका (नाक) के पास दाहिनी ओर एक बड़ा तिल है। इस तिल से ऊँचे और आँख के कोने से नीचे पास में ही एक छोटा तिल है और दोनों नेत्रों के ऊपर और नीचे की ओर बरौनियों के ऊपर और नीचे बारीक-बारीक झुर्रियाँ हैं और नासिका के ऊपर चेचक के छोटे-छोटे चिह्न हैं।

मुख में दायीं ओर नीचे की डाढ़ में श्याम चिह्न है। जिह्वा कमलपत्र के

समान लाल है। बायें कान के भीतर श्याम बिंदु का चिह्न है। विशाल और उठे हुए ललाट में तिलक के आकारवाली दो खड़ी रेखाएँ हैं।

ललाट में दाहिनी ओर केश (बालों) से नीचे एक चिह्न है। दाहिने कान की 'बूटी' (कर्णाभूषण पहनने के निचले भाग) पर एक छोटा तिल है तथा तालु के अंदर एक बड़ा तिल है।

शिखा (चोटी) से आगे समीप में एक तिल है। शिखा के पीछे दाहिनी ओर तीन तिल हैं। इनके अलावा दूसरे कितने ही बारीक-बारीक तिल शरीर में हैं।

श्रीजीमहाराज की मूर्ति अत्यन्त रूपवान, सुन्दर और माधुर्यमयी है। यह मूर्ति पुष्ट और अतिशय शोभायमान है। जो भक्तजन इस मूर्ति का दर्शन करते हैं उनके मन और नेत्रों को यह मूर्ति मोहित कर लेती है।

यह मूर्ति घनश्याम है और उसका शान्त स्वभाव है। यह मूर्ति दुर्गपत्तन (गढडा) स्थित श्रीगोपीनाथजी की प्रतिमा जितनी ऊँची है।

श्रीजीमहाराज की मूर्ति के कर-चरण आदि अंग सामुद्रिक शास्त्र में वर्णित अंगों के समान हैं। इस प्रकार श्रीजीमहाराज की मूर्ति के जो चिह्न हैं, उन्हें अपनी स्मृति के अनुसार लिखा गया है।

अब श्रीजीमहाराज की स्वाभाविक चेष्टा को लिखते हैं -

श्रीजीमहाराज प्रतिदिन चार घड़ी अथवा तीन घड़ी रात्रि के शेष रहने पर उठते हैं और दातून करते हैं, ऐसा उनका स्वभाव है। इसके बाद स्नान करके और धोये हुए कोरे सूक्ष्म वस्त्र से शरीर पोंछते हैं तथा खड़े होकर पहनने के वस्त्र को दो जाँघों के बीच इकट्ठा करके और उसे दोनों हाथों से निचोड़ने के पश्चात् जाँघों और पैरों को पोंछकर धोये हुए सूक्ष्म तथा घट्ट श्वेत वस्त्र को अच्छी तरह कसकर पहनते हैं।

श्वेत वस्त्र पहनने की रुचि रखनेवाले श्रीजीमहाराज इसके पश्चात् धोये हुए दूसरे सूक्ष्म श्वेत वस्त्र को ओढ़कर और खड़ाऊ पहनकर नित्यविधि सम्पन्न करने के बाद भोजन करने के लिए पधारते हैं।

वे भोजन करने के पवित्र स्थान में जाकर आसन पर बैठते हैं। भोजन के लिए बैठने के समय वे ओढ़ने के वस्त्र को कान के पीछे सटाकर और दोनों कानों को खुला रखकर भोजन करने के लिए बैठते हैं।

भोजन के लिए बैठते समय श्रीजीमहाराज पूर्व अथवा उत्तर की ओर

मुख रखकर और बायें पैर से पालथी मारकर तथा दाहिने पैर को खड़ा रखकर और उसके ऊपर दायें हाथ की कोहनी रखकर भोजन करते हैं।

भोजन करते-करते श्रीजीमहाराज को जो खाद्य पदार्थ स्वादिष्ट प्रतीत होता है, उसे वे अपने परम प्रिय किसी अन्य श्रेष्ठ हरिभक्त को देते हैं।

भोजन करते-करते डकार लेकर पेट पर हाथ फेरने का उनका स्वभाव है। कभी-कभी तो वे किसी भक्तजन पर प्रसन्न होते ही अपनी प्रसादी का थाल देते या दिलवाते हैं।

यदि साधुओं को भोजन परोसना हो, तो बायें कंधे पर दुपट्टा डालकर और उसके दोनों किनारों को कमर पर कसकर बाँध के परोसते हैं। श्रीजीमहाराज जब परोसते हैं, तब लड्डू-जलेबी आदि खाद्य पदार्थों का बार-बार नाम लेते हुए पंक्ति में बारबार चक्कर लगाते हैं।

उन्हें साधु हरिभक्तों को भोजन कराने और परोसने में अतिशय श्रद्धा एवं आदर हैं तथा अत्यन्त प्रसन्नता होती है।

श्रीजीमहाराज कभी-कभी वर्षाऋतु तथा शरदऋतु में दुर्गपत्तन के समीप घेला नदी के जल को निर्मल जानकर साधुओं तथा सत्संगियों के साथ स्नान करने के लिए पधारते हैं और नदी के जल की प्रशंसा करते हुए अपने भक्तजनों को आनन्द प्रदान करते हैं।

वे भक्तजनों सहित अनेक प्रकार की जलक्रीडा करते हैं और जल में जब डुबकी लगाते हैं, तब अपने कान, नेत्र तथा नाक को अपने हाथों के अंगूठों और उँगलियों से दबाये रखते हैं तथा काफी समय तक डुबकी मारकर जब निकलते हैं, तब अपने मुखारविन्द पर दाहिना हाथ फेरकर कुल्ला करने का उनका स्वभाव है।

कभी-कभी तो वे नदी के प्रवाह के बीच खड़े होकर साधुओं से तालियाँ बजवाकर कीर्तन करवाते हैं और स्वयं भी उनके साथ ताली बजाते हुए उत्साहपूर्वक कीर्तन करते हैं और जल में स्नान करने के लिए बैठते हैं। स्नान करने के बाद जब वे निकलते हैं तब अपने किसी प्रिय एवं बलवान भक्त का हाथ अपने हाथ से पकड़ लेते हैं और अपने दर्शनों से प्रफुल्लित होनेवाले भक्तजनों सहित नदी के जल से बाहर निकलते हैं तथा नदी-तट पर खड़े होकर पहने हुए गिले वस्त्र को निचोड़कर और शरीर को पोंछकर सफेद धोती को अच्छी तरह कसकर पहनते हैं और इसके उपरांत मस्तक पर सफेद फेंटा

बाँधते हैं।

श्रीजीमहाराज माथे पर जब फेंटा बाँधते हैं, उस समय वे फेंटे के किनारेवाले हिस्से को निकालकर बाँधते हैं तथा फेंटे का एक घुमावदार पेच भ्रूकुटि को दबाकर बाँधते हैं। इसके बाद वे सफेद दुपट्टे को बायें कंधे पर डालते हैं और उसके (दुपट्टे के) छोर को कसकर बाँधते हैं। फिर एक सुंदर तथा कीमती घोड़ी अथवा घोड़े पर सवार होकर अपने हज़ारों भक्तों से घिरे हुए निकलते हैं तथा दर्शन करते हुए अपने भक्तजनों के नेत्रों को आनन्दित करते हुए अपने निवासस्थान पर आते हैं।

जिस समय श्रीजीमहाराज चलते हैं, तब ओढ़ने के सफेद दुपट्टे को बायें कंधे पर आड़ा-टेढ़ा डालकर दाहिने हाथ को हिलाते हुए चलते हैं और कभी-कभी रूमाल लिए हुए दायें हाथ को हिलाते हुए चलते हैं।

कभी-कभी तो वे बायें हाथ को कमर पर रखकर और दाहिने हाथ में रूमाल लेकर और उस हाथ को हिलाते-हिलाते चलते हैं।

श्रीजीमहाराज का सहज ही जल्दी-जल्दी चलने का स्वभाव है। जब श्रीजीमहाराज चलते हैं, तब उनके पीछे चलनेवाले भक्तजनों को उनका साथ देने के लिए दौड़ना पड़ता है। इतनी शीघ्रता के साथ श्रीजीमहाराज चलते हैं। जब वे खड़ाऊँ पहनकर चलते हैं, तब खड़ाऊ का चटचट शब्द होता है।

कभी-कभी तो वे कोई कार्य करने के लिए तत्पर होकर खड़े होते हैं और धीरे-धीरे चलते हैं, उस समय अपने दाहिने हाथ की मुट्ठी बंद करके उसे अपने दायीं जाँघ पर धीरे-धीरे मारने का उनका स्वभाव है।

कभी-कभी मनुष्यों की बड़ी भीड़ इकट्ठी होती है और धूल उड़ती है, तब वे अपनी नासिका और मुखारविन्द पर रूमाल को टेढ़ा करके डाल लेते हैं।

कभी-कभी वे खाट पर बैठते हैं और किसी समय चादर बिछे हुए गद्दे पर बैठते हैं। कभी-कभी गद्दी पर और कभी-कभी गूथे हुए चादरे पर बैठते हैं। किसी-किसी समय वे खाट पर पड़े हुए तकिये पर बैठते हैं। जब वे बैठते हैं, तब कभी पालथी मारकर और कभी घुटना बाँधकर बैठते हैं। वे जब-जब बैठते हैं, तब बहुधा तकिये का आधार लेकर बैठते हैं।

कभी-कभी खाट अथवा आसन पर बैठते समय पालथी मारकर बैठते हैं और अपने पैरों को लंबा करके पैर के ऊपर पैर रखने का उनका स्वभाव है।

कभी-कभी वे बैठते समय बायें चरणारविन्द की ऊर्ध्वरेखा के ऊपर

अपने दाहिने हाथ की उँगली को खड़ा करके फिराते हैं।

कभी-कभी अपनी जिह्वा (जीभ) एक तरफ के दाँतों के नीचे दबाकर बैठने का उनका स्वभाव है और कभी बैठे हुए गर्दन को दोनों बगल में मोड़ते हैं, तब चटाखे जैसी आवाज़ होती है।

कभी-कभी वे अपने भक्तजनों से अपनी पीठ दबवाते हैं, तब छाती के नीचे तकिया रखकर दबाते हैं।

श्रीजीमहाराज जहाँ-जहाँ सहज भाव से बैठे होते हैं, वहाँ तुलसी की माला से जप करते रहते हैं। कभी-कभी तो वे विनोदपूर्वक उस माला को दोहरी करके दो-दो मनकों को एकसाथ फेरते हैं।

कभी-कभी तो वार्तालाप करते समय वे माला को इकट्ठा करके दोनों हथेलियों के बीच रखकर घिसते हैं। कभी माला न हो तो अपने हाथों की उँगलियों के पोरों को गिनते हैं। वे कभी नेत्रकमलों को मींचकर ध्यान करते हुए बैठते हैं, तो कभी आँखें खुली रखकर ध्यान करते हुए विराजमान होते हैं।

कभी-कभी वे ध्यान करते समय चमककर जग जाते हैं। जब कभी साधुगण उनके सामने वाद्यवृंद द्वारा कीर्तन करते हैं, तब श्रीजीमहाराज ध्यानमग्न होकर बैठ जाते हैं और कभी चुटकी बजाते वे साधुओं के साथ मिलकर गाने लगते हैं। जब कभी साधु तालियाँ बजाकर कीर्तन करते हैं, उस समय श्रीजीमहाराज स्वयं ताली बजाकर कीर्तन करने लगते हैं।

जब कभी उनके आगे साधु वाद्यवृंद बजाकर कीर्तन करते हों या उनके सामने ग्रंथपाठ होता हो और स्वयं अपने भक्तजनों के समक्ष वार्ता करते हों, तब श्रीजीमहाराज खिसककर उनके समीप पहुँच जाते हैं।

जब कभी कथा होती है तब वे बारंबार 'हरे' शब्द का उच्चारण करते हैं। वे अपनी अल्प भावभंगिमाओं के समय भी इस कथा का ध्यान करके कभी-कभी अचानक 'हरे' शब्द का उच्चारण करने लगते हैं और उसकी स्मृति आते ही अपने पास बैठे हुए भक्तजनों को देखकर मंद-मंद हँसने लगते हैं।

जब कभी वे प्रसन्नमुद्रा में वार्ता करते हों अथवा कथा कराते हों, या कीर्तन कराते हों अथवा किसी विचार में मग्न होकर बैठे हों तब यदि कोई बीच में ही भोजन की बात पूछने के लिए आये अथवा कोई पूजा करने के लिए आये या हार चढ़ाने के लिए आये, तो वे उस पर रुष्ट हो जाते हैं।

कभी वे अपने भक्तजनों की सभा में बैठकर उनके सामने धर्म, ज्ञान

और वैराग्ययुक्त भक्ति पर चर्चा करते हैं, तो कभी योग, सांख्य, पंचरात्र एवं वेदान्त आदि शास्त्रों का रहस्य समझाते हैं।

जब कभी वे अपने भक्तजनों की सभा में बैठकर उनके समक्ष धर्मादि सम्बंधी वार्ता करते हैं, तब वे सर्वप्रथम अपनी दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर और ताली बजाकर सबको मौन रखते हैं और इसके पश्चात् वार्ता करते हैं।

किसी समय जब भक्तजनों के समूह की बड़ी सभा हुई हो और उनके आगे धर्मादि सम्बंधी वार्ता करनी हो, तब वे दूर बैठनेवालों को भी अच्छी तरह अपने वचनामृत का पान कराने के लिए स्वयं उठकर खड़े हो जाते हैं और ताली बजाकर सबको शान्त रखने के बाद वार्ता करते हैं।

कभी-कभी तो वे वार्ता के लिए इतने अधिक एकाग्रचित्त हो जाते हैं कि उन्हें अपने ओढ़ने के वस्त्र के खिसक जाने तक की सुध नहीं रहती, ऐसा उनका स्वभाव है।

कभी-कभी जब वे अपने भक्तजनों की सभा में बैठते हैं, तब अपने मुखारविन्द के समीप बैठे हुए साधुओं और हरिभक्तों से परस्पर प्रश्न-उत्तर कराते हैं। उनमें यदि कोई कठिन प्रश्न पूछ बैठे और उसका जवाब न आये तो सबको आनन्दित करते हुए वे स्वयं उसका उत्तर देते हैं।

कभी तो वे वार्ता करते-करते पुष्पगुच्छ अथवा किसी बड़े फूल को हाथ में लेकर उसे मसल डालते हैं और कभी-कभी वे वार्ता करते समय अपने रूमाल के छोर पर ऐंठन (बट) लगाते रहते हैं, ऐसा उनका सहज स्वभाव है।

जब कभी उत्सव के अवसर पर विभिन्न क्षेत्रों से आये हुए उनके भक्तजन प्रीतिपूर्वक उनका जो भव्य पूजन-अर्चन करते हैं, उसे वे स्वीकार कर लेते हैं।

कभी उत्सव के अवसर पर उनकी पूजा करने के लिए भारी संख्या में सामूहिक रूप से आये हुए भक्तजन जब उन्हें पुष्पहार अर्पित करते हैं, तब वे इन पुष्पहारों को अपने दोनों करकमलों से, चरणारविन्द से या तो छड़ी द्वारा ग्रहण करते हैं।

कभी तो वे निजी भक्तजनों को अपने दर्शनमात्र से समाधिस्थ करा देते हैं, तो कभी उन्हें तुरन्त ही समाधि से उठा देते हैं। यदि वे कभी स्वयं सभा में बैठे हों और किसी भक्तजन को अपने पास बुलाना हो, तो नेत्रकमलों से संकेत करके अथवा अँगूठे के पास की उँगली से इशारा करके उसे बुला लेते हैं।

कभी-कभी वे मोगरा आदि पुष्पों के हार को तथा नींबू आदि फलों को शीतल जानकर अपनी आँखों पर बारबार लगाते हैं।

कभी वे भगवत्कथा कराकर स्वयं सुनते हैं अथवा स्वयमेव भगवद्वार्ता करते हैं अथवा कीर्तन कराकर भक्तों के साथ मिलकर स्वयं गाते हैं अथवा साधुओं तथा ब्राह्मणों को भोजन कराते हैं। इस प्रकार के सत्कर्म किये बिना कभी भी निष्क्रिय नहीं रहते, ऐसा उनका स्वभाव है।

वे स्वयं भक्ति-धर्म सम्बंधी जो कार्य आरम्भ करते हैं, उन्हें वे अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक सम्पन्न करते हैं।

उन्हें जब छींक आती है, तब वे पहले से ही अपने रूमाल को खोल लेते हैं और उसे मुखारविन्द के आगे रखकर ऐसे ऊँचे स्वर से छींकते हैं कि उसे कुछ अंतर से सुना जा सके।

उन्हें जब-जब इस प्रकार की छींक आती है, तब वे इस तरह एकसाथ तीन बार छींकते हैं। उन्हें जब जम्हाई आती है तब वे 'हरि', 'हरि', 'हरि', शब्द का उच्चारण करते हैं और अपने हाथ से नेत्रकमलों को दो-तीन बार मसलते हैं।

निष्काम भक्त द्वारा की गयी अपनी सेवा में वे स्वभावतः रुचि रखते हैं। उन्हें विनोदपूर्ण की किसी बात पर जब बहुत जोरों की हँसी आती है, तब वे अपने रूमाल को मुखारविन्द पर रखते हुए हँसते हैं।

जब कभी देशान्तर से साधु और प्रिय भक्तजन उनके समीप आते हैं, तब वे उन्हें देखते ही प्रसन्न हो जाते हैं और तत्काल उठकर उन्हें छाती से लगाकर उनसे मिलते हैं। वे उनसे उन-उन देशों (प्रान्तों) के समाचार पूछते हैं।

कभी-कभी होनेवाले उत्सवों में जो साधु श्रीजीमहाराज के समीप रहने के बाद उन्हीं की आज्ञा से परदेश (दूर के प्रान्त) में जाते हैं, उनसे वे प्रसन्न होकर मिलते हैं।

कभी-कभी तो वे अपने भक्तजनों पर प्रसन्न होकर उनके मस्तक पर अपने दोनों हाथ रख देते हैं।

जब कभी वे किसी भक्तजन पर प्रसन्न हो जाते हैं, तो उसके हृदय पर अपने चरणारविन्दों को धारण करते हैं।

जब कोई भक्तजन तत्काल उनकी आज्ञा का पालन करने की इच्छा से तत्पर हो जाता है तथा जो भक्त उनकी आज्ञा का अच्छी तरह पालन करके

आया हो, उसे देखकर वे प्रसन्न हो जाते हैं और उसके हृदय पर अपने चरणारविन्द रख देते हैं।

किसी भक्तजन पर प्रसन्न होने पर वे उसे अपने प्रासादिक पुष्पहार, तुर्रा, बाजूबंद और अपने वस्त्र-आभूषण दे देते हैं। अतिशय उदार स्वभाववाले श्रीजीमहाराज को स्वयं जो पदार्थ अत्यन्त प्रिय है और वह कितने ही भारी मूल्य का क्यों न हो, उसे देने का संकल्प वे क्षण में कर लेते हैं और तत्काल सत्पात्र को दे देते हैं, किन्तु देर नहीं लगाते।

कभी-कभी वे अपने हाथों और पैरों की उँगलियों को मरोड़कर चटाखा बजाते हैं, तो कभी अपने समीप बैठे हुए भक्तजनों से अपने हाथों और पैरों की उँगलियों को मरोड़कर चटाखे बजवाते हैं।

जब कभी वे किसी प्राणी को दुःखी देखते या सुनते हैं, तो तुरन्त दयायुक्त होकर 'राम', 'राम', 'राम', कहते हैं। वे प्रत्येक मनुष्य को दुःखी देखकर दयार्द्र हो जाते हैं और उनका चित्त खिन्न हो जाता है। बाद में प्रसन्न होकर वे उस मनुष्य का दुःख मिटाने के लिए अन्न-वस्त्रादि पदार्थ देकर उसे उपकृत करते हैं।

यदि कभी कोई मनुष्य किसी को मारता हो, तो उसे देखकर उन्हें दया आ जाती है और उनसे यह दृश्य देखना सह्य नहीं होता, इसलिए वे तुरन्त हुंकार मारकर उसका निवारण कर डालते हैं। यदि कोई उनके सामने किसी साधु अथवा किसी हरिभक्त के प्रति अपशब्द बोलता है, तो उसे सुनकर वे उससे स्वयं रुष्ट हो जाते हैं और उसका अनादर करके उसे दण्ड अथवा प्रायश्चित्त देते हैं।

उनके शरीर में उन्हें जब किसी प्रकार की कसर दिखती हो, तो वे अपने बायें हाथ की उँगलियों से दाहिने हाथ की नाड़ी को देखते हैं और स्वयं जब सभा में से उठते हैं तब 'जय सच्चिदानन्द' अथवा 'जय स्वामिनारायण' कहकर और साधुओं को नमस्कार करके उनका उठने का स्वभाव है।

मार्ग में जब वे घोड़े पर सवार होकर जाते हैं। तब लीला करके कभी तो वे घोड़े की गर्दन पर अपना एक पैर लंबा रखकर उसे (घोड़े को) चलाते हैं।

शयन करने से पूर्व वे सबसे पहले हाथ की उँगलियों को खड़ा करके ललाट पर तिलक करने की चेष्टा करके फिराते हैं। सोते समय वे अपनी माला माँगते हैं तथा उसे दाहिने हाथ में लेकर जप करते करते सो जाते हैं।

शयन करते समय वे अपने मुखारविन्द को खुला रखकर ही सोते हैं। (अर्थात् अपना मुख चद्दर में ढँककर नहीं सोते) वे भरपूर नींद में होने पर भी थोड़ा स्पर्श होते ही तत्काल जग जाते हैं और पूछते हैं कि कौन है?

इस प्रकार श्रीजीमहाराज की जो चेष्टाएँ हैं, वह हमने अपनी स्मृति के अनुसार लिखी हैं।

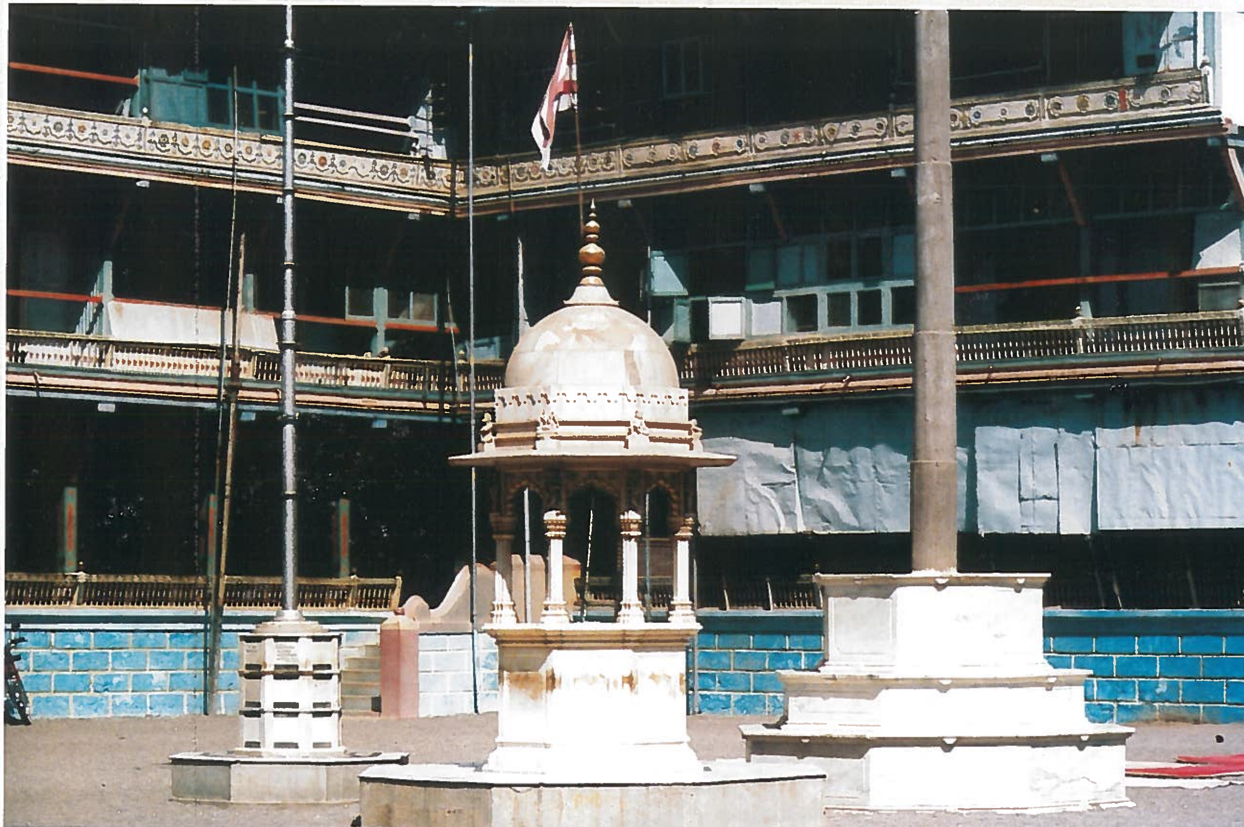
इस तरह की अन्य कितनी ही चेष्टाओंवाले श्रीजीमहाराज ने श्रीगढ़डा में रहते हुए अपने भक्तजनों के संशय को दूर करने के लिए स्वधर्म, आत्मज्ञान, वैराग्य, निजस्वरूप के ज्ञान और माहात्म्यसहित अपनी भक्ति के लिए इन पाँच वार्ताओं सम्बंधी जो वचनामृत कहे हैं तथा वहाँ से दूसरे गाँव में जाकर जो वचनामृत कहे हैं, उनमें से कुछ वचनामृत श्रीजीमहाराज के एकान्तिक भक्तों की प्रसन्नता के लिए अपनी स्मृति और बुद्धि के अनुसार लिखे हैं।

भक्तराज दादाखाचर का दरबार, गढ़डा (जिला : भावनगर, गुजरात)



आंगन में नीम का पेड़, सामने वासुदेव नारायण का कमरा तथा दाईं ओर पूर्वमुख द्वारवाला कमरा।
यहीं पर बिराजमान होकर भगवान श्रीस्वामिनारायण ने वचनामृतों का उद्बोधन किया था।

साधु-परमहंसों का निवासस्थान, दादाखाचर का दरबार, गढ़डा (जिला : भावनगर, गुजरात)



यहीं पर बिराजमान होकर भगवान श्रीस्वामिनारायण ने वचनामृतों का उद्बोधन किया था।

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ॥

श्रीगढ़डा प्रथम प्रकरण के वचनामृत

निजैर्वचोऽमृतैर्लोकेऽतर्पयद्यो निजाश्रितान् ।
प्रीतो नः सर्वदा सोऽस्तु श्रीहरिर्धर्मनन्दनः ॥

वचनामृत 1 : भगवान के स्वरूप में मन की अखंड वृत्ति

संवत् 1876 में मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्थी (21 नवम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में साधुओं के निवासस्थान पर रात्रि के समय पधारे थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण कर रखे थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में स्थान-स्थान के साधु एवं हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि 'समस्त साधनाओं में कौन-सी साधना कठिन है?' तब सभी ब्रह्मचारियों, साधुओं तथा गृहस्थों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार उत्तर दिए, परन्तु वे समुचित उत्तर नहीं दे पाए, तब श्रीजीमहाराज बोले, 'हम इसका उत्तर देते हैं कि **भगवान के स्वरूप में मन की अखंड वृत्ति को रखना, इसके सिवा अन्य कोई भी साधना कठिन नहीं है। जिस मनुष्य की मनोवृत्ति भगवान के स्वरूप में अखंड रहती है, उससे अधिक कोई अन्य प्राप्ति शास्त्रों में नहीं बताई गयी है; क्योंकि भगवान की मूर्ति तो चिन्तामणि के समान है।** जिस प्रकार किसी पुरुष के हाथ में चिन्तामणि हो, वह व्यक्ति जिस भी पदार्थ का चिन्तन करेगा, वह उसे तुरन्त प्राप्त होगा, उसी प्रकार जिसके मन की वृत्ति भगवान की मूर्ति में अखंड रूप से रहती है, वह भक्त यदि जीव, ईश्वर, माया और ब्रह्म के स्वरूप को देखने की इच्छा करता है, तो वह उन्हें तत्काल देख सकता है

और उसे भगवान के वैकुंठ, गोलोक, ब्रह्मधाम आदि धाम भी दिखाई देते हैं। इसलिए, भगवान के स्वरूप में अखंड वृत्ति रखने से बढ़कर कोई भी साधना कठिन नहीं है और उससे अधिक कोई महान उपलब्धि भी नहीं है।'

फिर हरिभक्त सेठ गोवर्धनभाई ने श्रीजीमहाराज से पूछा, 'जिसे भगवान की माया कहते हैं, उसका स्वरूप क्या है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, **'भगवान के भक्त को भगवान की मूर्ति के ध्यान के समय जो पदार्थ[1] विघ्न उपस्थित करता है, उसे ही माया कहते हैं।'**

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा, 'भगवान का भक्त जब पँचभौतिक देह को छोड़कर धाम में जाता है, तब वह किस प्रकार का शरीर धारण करता है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'धर्मकुलाश्रित[2] भगवान का भक्त भगवान की इच्छा के अनुसार ब्रह्ममय देह को प्राप्त करते हैं। वे अपनी देह का त्याग करके कोई तो गरुड पर, कोई रथ पर अथवा कोई विमान में बैठकर भगवान के धाम में जाते हैं, इनको योगसमाधिनिष्ठ पुरुष प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं।'

फिर हरिभक्त हरजी ठक्कर ने श्रीजीमहाराज से पूछा, 'कुछ लोग बहुत दिन तक सत्संग[3] करते हैं; फिर भी अपनी देह और उसके सम्बंधी में जितनी दृढ़ प्रीति है, उतनी दृढ़ प्रीति उसे सत्संग में नहीं होती, इसका क्या कारण है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'उसे भगवान का माहात्म्य सम्यक् रूप से ज्ञात नहीं हुआ है तथा जिन साधु के सत्संग के द्वारा भगवान के माहात्म्य का पूर्ण ज्ञान हो जाता है, वह साधु जब उसके स्वभाव (काम-लोभादिक) मिटाने के सम्बंध में बात करते हैं, तब वह अपने स्वभाव का त्याग नहीं कर पाता। इसके उपरांत ऐसी बात करनेवाले सन्त में दोष देखता है, इस दोष-

---

1. स्त्री-पुत्र-धनादि।
2. 'धर्मकुल' से श्रीहरि का अभिप्राय धर्मपिता-भक्तिमाता के कुल से नहीं है, अपितु 'धर्मकुल' का अर्थ यहाँ पर स्वयं 'भगवान श्रीस्वामिनारायण' ही होता है। क्योंकि अन्ततोगत्वा धर्मपिता के पुत्र-पौत्रों ने भी भगवान श्रीस्वामिनारायण का ही आश्रय ग्रहण किया था।
3. **सत्** शब्द से वर्णित भगवान, सत्पुरुष, सद्धर्म और सच्छास्त्र, इन चारों का यथायोग्य संग।

दर्शनरूप पाप के कारण उनको सत्संग में प्रगाढ प्रीति नहीं हो पाती, क्योंकि अन्य स्थान पर किए गए पाप सन्त के संग से दूर हो जाते हैं और सन्त के सम्बंध में आकर जो पाप करता है, वे सन्त के अनुग्रह के बिना किसी भी साधन से दूर नहीं होते। शास्त्रों में कहा भी है कि

'अन्यक्षेत्रे कृतं पापं तीर्थक्षेत्रे विनश्यति।
तीर्थक्षेत्रे[4] कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ॥'

अतः जो मुमुक्षु सन्त में अवगुण नहीं देखता, उसी की अनुरक्ति सत्संग में दृढ़तापूर्वक हो जाती है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥1॥

वचनामृत 2 : तीन प्रकार के वैराग्य

संवत् 1876 में मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी (22 नवम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में रात्रि के समय विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष हो रही सभा में साधु तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त उपस्थित थे।

तब मयाराम भट्ट ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! उत्तम, मध्यम तथा मन्द, तीन प्रकार का जो वैराग्य है, उसका पृथक्-पृथक् क्या लक्षण है? कृपया बताइए।'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जिसका वैराग्य उत्तम होता है, वह परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार अथवा अपने प्रारब्ध-कर्मवश, संसार में रहता है, परन्तु संसार-व्यवहार में वह राजा जनक के समान निर्लिप्त रहता है। उसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध नामक पाँच प्रकार के उत्तम विषय अपने प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त होते हैं और वह उन्हें भोगता है, परन्तु वह उनमें आसक्त नहीं होता। भोग को वह उदासीनतापूर्वक भोगता है। अतः विषय उसको लिप्त नहीं कर सकते और उसका त्याग मंद नहीं होता। वह तो विषयों में निरन्तर दोष ही देखता रहता है, तथा विषयों को शत्रु के समान समझता है। इसके अतिरिक्त वह सन्त, सत्शास्त्रों तथा भगवान की सेवा में निरन्तर मग्न रहता है और देश, काल एवं संग आदि बुरे होने पर भी उसका

4. साधुरूप तीर्थक्षेत्र।

ज्ञान क्षीण नहीं होता। ऐसे पुरुष को उत्तम वैराग्यवान कहते हैं।

जिसे मध्यम वैराग्य होता है, वह भी पाँचों प्रकार के उत्तम विषयों को भोगता है, परन्तु उनमें आसक्त नहीं होता। यदि देश, काल और संग आदि बुरे होते हैं, तो वह विषयों की आसक्ति में फँस जाता है तथा उसका वैराग्य मंद पड़ जाता है। ऐसे पुरुष को मध्यम वैराग्यवान् कहते हैं।

जो कनिष्ठ वैराग्यवान होता है, उसे सामान्य एवं दोषयुक्त पंच विषय प्राप्त होते हैं, तो वह इनको भोगने पर भी आसक्त नहीं होता, परन्तु यदि उत्तम पंचविषय प्राप्त हो गए और वह उन्हें भोगे, तो वहाँ आबद्ध हो जाता है। ऐसे पुरुष को मंद वैराग्यवान कहते हैं।'

॥ इति वचनामृतम् ॥2॥

वचनामृत 3 : लीलाचरित्र-स्मरण

संवत् 1876 में मार्गशीर्ष शुक्ला षष्ठी (23 नवम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में रात्रि के समय विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस पुरुष को अपने हृदय में भगवान की मूर्ति निरन्तर रूप से दिखाई देती हो, उसे भी भगवान ने जिस-जिस अवतार में जहाँ-जहाँ पर जो-जो लीलाएँ की हों, उनको स्मरण में रखना, तथा ब्रह्मचारियों, साधुओं एवं सत्संगियों के साथ स्नेह रखना और उन सभी का स्मरण भी रखना चाहिए। वह इसलिए कि कदाचित् देह-त्याग के समय यदि भगवान की मूर्ति विस्मृत हो गई, तो भी भगवान ने जिन स्थानों में जो लीलाएँ की हैं, उनकी स्मृति हो जाए तथा सत्संगी, अथवा ब्रह्मचारी अथवा साधुओं की स्मृति हो जाए, तो उनकी स्मृति के फलस्वरूप भगवान की मूर्ति का भी स्मरण हो आता है। ऐसे मुमुक्षु की जीवात्मा उच्च पद को प्राप्त हो जाती है और उसका कल्याण हो जाता है। इसीलिए हम बड़े-बड़े विष्णुयाग तथा प्रतिवर्ष जन्माष्टमी, एकादशी आदि व्रतोत्सवों का आयोजन करते हैं और उनमें ब्रह्मचारियों, साधुओं तथा सत्संगियों को एकत्र करते हैं। क्योंकि यदि कोई पापी भी हो और उसे अपने अन्त समय पर ऐसी स्मृति हो

जाए, तो उसे भी भगवान का धाम प्राप्त हो जाता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥3॥

वचनामृत 4 : नारदजी जैसी ईर्ष्या

संवत् 1876 में मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी (24 नवम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्वेत वस्त्र धारण करके विराजमान थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में साधु तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त उपस्थित थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'भगवान के भक्तों को परस्पर ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए।' तब आनन्दानन्द स्वामी बोले कि 'हे महाराज! ईर्ष्या तो रहती है।' इस पर श्रीजीमहाराज ने कहा, 'यदि ईर्ष्या ही करनी है, तो वह नारदजी जैसी होनी चाहिए। जैसे कि एक बार नारदजी और तुंबरु दोनों वैकुंठ में लक्ष्मीनारायण के दर्शन करने गए। उस समय तुंबरु ने लक्ष्मीनारायण के सामने गान प्रस्तुत किया। उससे लक्ष्मी और नारायण, दोनों प्रसन्न हो गए तथा उन्होंने तुंबरु को अपने वस्त्र और आभूषण दे दिए। इससे तुंबरु के प्रति नारदजी में ईर्ष्या उत्पन्न हो गयी और उन्होंने सोचा कि मुझे तुंबरु जैसी गायनविद्या सीखकर भगवान को प्रसन्न करना है।' फिर नारदजी ने गायनविद्या सीखी और भगवान के सामने गान प्रस्तुत किया; किन्तु भगवान ने कहा, 'तुम्हें, तुंबरु जैसा गाना नहीं आता।' अतः नारदजी ने शिवजी को प्रसन्न करने के लिए तपस्या की और उनसे वरदान प्राप्त कर गायनविद्या सीखी फिर भगवान के समक्ष गान प्रस्तुत किया। तो भी भगवान प्रसन्न नहीं हुए। फिर नारदजी ने सात मन्वन्तर तक यानि कि दो अरब, सोलह करोड वर्ष गायन विद्या का अभ्यास किया और भगवान का गुणगान करते रहे। फिर भी भगवान प्रसन्न नहीं हुए। अन्ततः उन्होंने स्वयं तुंबरु से गायनविद्या सीखी और द्वारिका में श्रीकृष्ण भगवान के सम्मुख गान किया। तब श्रीकृष्ण भगवान प्रसन्न हो गए और उन्होंने अपने वस्त्र-अलंकार नारदजी को भेंट कर दिए। उसी समय से तुंबरु से नारदजी की ईर्ष्या समाप्त हो गई। अतः यदि ईर्ष्या करनी हो तो इस प्रकार की करनी चाहिए कि जिससे ईर्ष्या हो, उसके गुणों का ग्रहण करें और अपने अवगुणों का परित्याग कर दें। यदि ऐसा न हो सके

तो भगवान के भक्तों को उसके प्रति द्रोह उत्पन्न करनेवाली ईर्ष्या का सर्वथा परित्याग कर दें।'

॥ इति वचनामृतम् ॥4॥

वचनामृत 5 : ध्यान का आग्रह

संवत् 1876 में मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी (25 नवम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए हुए थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष स्थान-स्थान के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'राधिकाजी सहित श्रीकृष्ण भगवान का ध्यान करना चाहिए।[5] यदि ऐसा ध्यान करते समय मूर्ति हृदय में न दिखायी पड़े तो भी ध्यान करना चाहिए, परन्तु कायर बनकर ध्यान छोड़ देना नहीं चाहिए। इस प्रकार के आग्रहवाले भक्तों पर भगवान की बड़ी कृपा होती है तथा उनकी भक्ति से भगवान उनके वश में हो जाते हैं।'

॥ इति वचनामृतम् ॥5॥

वचनामृत 6 : विवेकी-अविवेकी

संवत् 1876 में मार्गशीर्ष शुक्ला नवमी (25 नवम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्वेत वस्त्र धारण करके विराजमान थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में स्थान-स्थान के मुनि एवं हरिभक्त उपस्थित थे।

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'इस सत्संग में जो मुमुक्षु विवेकी[6] होता है, वह तो दिन-प्रतिदिन अपने में अवगुण देखता है तथा भगवान और उनके भक्तों में उसे गुण ही गुण दिखायी पड़ते हैं। भगवान एवं साधु उसके हित के लिए जो कठोर वचन कहते हैं, उन्हें वह अपने लिए हितकर समझता है और

---

5. इस दृष्टांत से श्रीहरि के उत्तम भक्त अक्षरब्रह्म गुणातीतानंद स्वामी तथा ब्रह्मस्वरूप सत्पुरुष के साथ भगवान स्वामिनारायण का ध्यान करना चाहिए ऐसा तात्पर्यार्थ है।

6. सत् असत् के ज्ञान से संपन्न।

दु:खी नहीं होता, ऐसा भक्त दिन-प्रतिदिन सत्संग में महत्ता को प्राप्त करता है; और जो अविवेकी होता है वह ज्यों-ज्यों सत्संग करता है, त्यों-त्यों अपने में गुण देखता है; और जब भगवान एवं सन्त उसके दोष दिखाकर बात करते हैं, तब वह अभिमानवश होकर सन्त की बातों को उलटा समझकर सन्त में ही अवगुण देखने लगता है।

ऐसे अविवेकी की भक्ति दिन-प्रतिदिन कम होती जाती है और सत्संग में वह प्रतिष्ठाहीन हो जाता है। अत: अपने गुणों के अभिमान का त्याग करके शूरवीरता से भगवान एवं भगवान के सन्त में दृढ़ विश्वास रखे, तो उसका अविवेक दूर हो जाता है और सत्संग में वह महानता प्राप्त करता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥6॥

वचनामृत 7 : अन्वय-व्यतिरेक

संवत् 1876 में मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी (26 नवम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्वेत वस्त्र धारण करके विराजमान थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष स्थान-स्थान के साधुओं एवं हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले, 'शास्त्रों में जहाँ-जहाँ अध्यात्म-वार्ता[7] आती है, उसे कोई समझ नहीं पाता और भ्रान्ति हो जाती है। इसलिए हम अध्यात्म-वार्ता के यथार्थ स्वरूप का वर्णन करते हैं, उसे सभी लोग सुनें। जीवात्मा जब स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण तीन प्रकार की देह के साथ एकात्मभाव से व्यवहार किया करती है, तो वह जीव का 'अन्वय-भाव' है, और उसी जीव को इन तीनों देहों से पृथक्[8] तथा सत्तामात्र[9] कहना वह जीव का व्यतिरेक भाव है तथा विराट, सूत्रात्मा और अव्याकृत इन तीनों शरीरों सहित ईश्वर का जो वर्णन है, वह ईश्वर का अन्वय-भाव है और उसी ईश्वर को उपरोक्त तीनों शरीरों से पृथक् सत्तामात्र कहना, वह ईश्वर का व्यतिरेक-भाव है। माया और माया के कार्यरूप अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में, अक्षरब्रह्म को व्यापकरूप से कहना,

7. आत्मा, परमात्मा आदि स्वरूप के ज्ञानयुक्त वार्ता।
8. चिद्रूप, स्वयंप्रकाश तथा अछेद्य, अभेद्य स्वरूप आदि।
9. ज्ञानसत्तामात्र यानी कि षड्विकारों से रहित।

वह अक्षरब्रह्म का अन्वय-भाव है और उन सबसे व्यतिरेक सच्चिदानन्द[10] रूप से अक्षरब्रह्म को कहना, वह उनका व्यतिरेक-भाव है। इसके अतिरिक्त अक्षरब्रह्म, ईश्वर, जीव, माया और माया के कार्यरूप ब्रह्मांडों में श्रीकृष्ण भगवान (प्रत्यक्ष श्रीहरि) को जो अन्तर्यामीरूप तथा नियन्तारूप में कहना, यह भगवान का अन्वय-भाव है और वही भगवान इन सबसे पृथक् तथा गोलोकधाम की ब्रह्मज्योति में रहनेवाले हैं,[11] ऐसा कहना वह भगवान का व्यतिरेक-भाव है। इस प्रकार **पुरुषोत्तम भगवान, अक्षरब्रह्म, माया, ईश्वर तथा जीव - ये जो पाँच तत्त्व हैं, वे अनादि हैं।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥7॥

वचनामृत 8 : भगवान एवं सन्त की सेवा

संवत् 1876 में मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी (27 नवम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्वेत वस्त्र धारण करके विराजमान थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष साधुओं तथा स्थान-स्थान के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इन्द्रियों की जो क्रियाएँ हैं, उन्हें यदि श्रीकृष्ण भगवान तथा उनके भक्त की सेवा में लगाए रखें, तो अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तथा जीव के अनन्तकाल के पापों का नाश हो जाता है। जो इन्द्रियों की वृत्तियों को स्त्री आदि विषयों में लगाए रखता है, उसका अंतःकरण भ्रष्ट हो जाता है और कल्याण-मार्ग से उसका पतन हो जाता है। इसलिए शास्त्रों में जिस प्रकार विषयों को भोगने का निर्देश दिया गया है, उसी प्रकार नियम में रहकर उनका उपभोग करना चाहिए, परन्तु शास्त्रों की मर्यादा का उल्लंघन करके उनका उपभोग नहीं करना चाहिए। इसके साथ ही साधुओं का संग करना चाहिए और कुसंग का परित्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार जो कुसंग

10. अक्षरधाम में मूर्तिमान सेवकरूप में तथा ब्रह्मधाम के रूप में।
11. *गोलोक में ब्रह्मज्योति'* का अर्थ अनंत गोलोकों के बीच अक्षरधाम सर्वोच्च है। जैसे कि अन्य पर्वतों के बीच हिमालय सबसे बड़ा है, उस प्रकार 'गोलोक में ब्रह्मज्योति' की विभावना है, परंतु 'गोलोक के भीतर अक्षरधाम अर्थात् ब्रह्मज्योति का समावेश है' यह आशय नहीं है। (वचनामृत गढ़डा प्रथम प्रकरण - 63)

का त्याग करके साधु का सत्संग करता है, तब उसे 'मैं देह हूँ' ऐसी अहंबुद्धि निवृत्त हो जाती है तथा देह के सम्बंधियों के प्रति ममत्वबुद्धि का भी लोप हो जाता है, भगवान के प्रति असाधारण प्रीति हो जाती है और भगवान के सिवा अन्य सांसारिक विषयों से उसको वैराग्य हो जाता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥8॥

वचनामृत 9 : भगवान के प्रत्यक्षरूप की ही इच्छा

संवत् 1876 में मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशी (28 नवम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्वेत वस्त्र धारण करके विराजमान थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में स्थान-स्थान के साधु और हरिभक्त उपस्थित थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जिसने श्रीकृष्ण भगवान का प्रत्यक्षभाव से निश्चय कर लिया हो तथा उनकी भक्ति करता हो, एवं दर्शन करता हो, फिर भी जो स्वयं को पूर्णकाम न माने और अपने अंतःकरण में न्यूनभाव रखे कि 'गोलोक, वैकुंठादि धामों में विद्यमान रहनेवाले इन्हीं भगवान के तेजोमय रूप का दर्शन मुझे जब तक नहीं हुआ है, तब तक मेरा परिपूर्ण कल्याण नहीं हुआ है।' ऐसे अज्ञानी के मुख से भगवान की बात तक नहीं सुननी चाहिए। और जो भक्त प्रत्यक्ष भगवान के प्रति दृढ़ निष्ठा रखता हो तथा उनके दर्शन से ही स्वयं को परिपूर्ण मानता हो तथा अन्य किसी की अपेक्षा न रखता हो, उसे तो भगवान स्वयमेव बलपूर्वक अपने धाम में अपना ऐश्वर्य और अपनी मूर्तियाँ दिखाते हैं। इसलिए भगवान में जिसकी अनन्य निष्ठा हो, उसे प्रत्यक्ष भगवान के सिवा अन्य किसी की इच्छा नहीं करनी चाहिए।'

॥ इति वचनामृतम् ॥ 9 ॥

वचनामृत 10 : कृतघ्नी सेवकराम

संवत् 1876 में मार्गशीर्ष शुक्ला त्रयोदशी (29 नवम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्वेत वस्त्र धारण करके विराजमान थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में परमहंस तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त उपस्थित थे।

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जब हम वेंकटाद्रि से सेतुबंध रामेश्वर जा रहे थे, तब मार्ग में एक साधु मिला। जिसका नाम सेवकराम था। उसने श्रीमद्भागवत आदि पुराणों का अध्ययन किया था। वह मार्ग में बीमार हो गया। उसके पास एक सहस्र रुपए की स्वर्णमुद्राएँ थीं, किन्तु उसकी देखभाल करनेवाला कोई भी नहीं था, इसलिए वह रोने लगा। हमने उससे कहा कि किसी भी प्रकार की चिन्ता मत करना। हम तुम्हारी चाकरी करेंगे।

गाँव के बाहर केले का एक बगीचा था, जिसमें बरगद का एक वृक्ष था। उस बरगद के वृक्ष में एक हज़ार भूत रहते थे। परन्तु, साधु चल नहीं सकता था और अत्यन्त अस्वस्थ था, उस पर हमें अतिशय दया आयी। अतः वहीं हमनेकेले के पत्ते लाकर उस साधु के लिए एक हाथ ऊँचा बिछौना तैयार कर दिया। वह रक्तातिसार से पीड़ित था, जिसे हम धोते और सेवा करते थे। वह साधु अपनी आवश्यकता के अनुसार चीनी, शक्कर, घी, अन्न मंगवाने के लिए हमें अपने पास से धन देता और हम ये वस्तुएँ खरीदकर लाते, उनसे रसोई तैयार कर उसे भोजन कराते तथा हम बस्ती में जाकर भिक्षा मांगकर खा लेते थे। कभी-कभार तो हमें भिक्षा में अन्न नहीं मिलता था, तो हमें उपवास करना पड़ता था। फिर भी, उस साधु ने कभी भी हमसे यह नहीं कहा कि 'हमारे पास धन है, अतः तुम, हम दोनों के लिए रसोई बना लो और तुम भी हमारे साथ भोजन किया करो।' परंतु हम उसी प्रकार सेवा करते रहे।

वह साधु दो महीने में कुछ स्वस्थ हुआ और उसके बाद हम सेतुबंध रामेश्वर के मार्ग पर चल पड़े। उसके सामान का वजन एक मन था, जिसे वह हमसे उठवाता था, और स्वयं माला लेकर निठल्ला चलता था। यद्यपि साधु स्वस्थ था और एक सेर घी खाकर पचाने की उसकी शक्ति थी, फिर भी वह अपना बोझ हमसे उठवाता था और स्वयं खाली हाथ चलता था। हमारी प्रकृति तो ऐसी थी कि हम भार के रूप में एक रूमाल तक नहीं रखते थे। फिर भी, हम उसे साधु समझकर उसका एक मन का बोझ उठाकर चलते थे। इस प्रकार हमने उस साधु की सेवा करके उसे निरोगी किया। लेकिन, साधु ने हमें एक पैसाभार भी अन्न नहीं दिया। बाद में हमने उसे कृतघ्न समझकर उसका साथ छोड़ दिया। इस प्रकार, **जो मनुष्य किए गए उपकार**

को नहीं माने, उसे कृतघ्न समझना चाहिए। और यदि किसी मनुष्य ने कोई पाप किया और शास्त्रानुसार पाप का प्रायश्चित्त कर लिया, तो फिर उसे जो कोई 'पापयुक्त' कहता है, उसको भी कृतघ्नी मनुष्य के समान पापी समझना चाहिए।'

॥ इति वचनामृतम् ॥10॥

वचनामृत 11 : वासना तथा एकान्तिक भक्त

संवत् 1876 में मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्दशी (30 नवम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्वेत वस्त्र धारण करके विराजमान थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त उपस्थित थे।

उस समय ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! वासना का स्वरूप कैसा है?' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'पूर्वजन्म में जिन विषयों को भोगा हो, देखा हो और उनके सम्बंध में सुना हो, उनकी इच्छा यदि अन्तःकरण में बनी रहे, उसको वासना कहा जाता है। और जिन विषयों को नहीं भोगा गया हो, उनकी अन्तःकरण में रहनेवाली इच्छा को भी वासना कहते हैं।'

इसके पश्चात् मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज! भगवान का एकान्तिक भक्त किसे कहा जाता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, **'जिसे भगवान के सिवा दूसरी कोई भी वासना न हो और जो स्वयं को ब्रह्मरूप समझकर भगवान की भक्ति करता हो, उसे एकान्तिक भक्त कहा जाता है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥11॥

वचनामृत 12 : तत्त्वों के लक्षण तथा उनकी उत्पत्ति

संवत् 1876 में मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णिमा (1 दिसम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्वेत वस्त्र धारण करके विराजमान थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष हो रही सभा में साधु-संत तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त उपस्थित थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जब जीव, जगत के कारणीभूत

पुरुष, प्रकृति, काल तथा महत्तत्त्वादि चौबीस तत्त्वों को जान लेता है, तब स्वयं के सम्बंध में रहनेवाली अविद्या और उसके कार्यरूप चौबीस तत्त्वों के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज! उन सभी के स्वरूपों का बोध किस प्रकार से हो सकता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'उनके स्वरूपों का बोध तो उनके लक्षणों द्वारा हो सकता है। उनके लक्षण ये हैं कि 'पुरुष' तो प्रकृति के नियन्ता और प्रकृति से विजातीय,[12] अखंड, अनादि, अनन्त, सत्य[13], स्वयंज्योति, सर्वज्ञ, दिव्यविग्रह, समग्र आकारमात्र की प्रवृत्ति का कारण और क्षेत्रज्ञ[14] कहा जाता है। जो प्रकृति है, वह त्रिगुणात्मिका, जडचिदात्मिका,[15] नित्य एवं निर्विशेष[16] है। महदादि समग्र तत्त्व और जीवमात्र का क्षेत्र है और भगवान की शक्ति भी है तथा 'काल' तो यह है, कि गुणसाम्यरूप[17] और निर्विशेष माया में जो विक्षेप करता है, वही काल है।

अब महत्तत्त्वादि तत्त्वों के लक्षणों को सुनिए। चित्त तथा महत्तत्त्व को अभेद रूप से जानना तथा महत्तत्त्वों में समग्र जगत सूक्ष्मरूप से रहा है, तथा वह स्वयं निर्विकार, प्रकाशमान, स्वच्छ तथा शुद्धसत्त्वमय[18] एवं शान्त है। अब अहंकार के लक्षण कहते हैं कि अहंकार त्रिगुणात्मक है तथा वह भूतमात्र, इन्द्रियों, अन्तःकरण, देवता तथा प्राण आदि की उत्पत्ति का कारण है। अहंकार में शान्तपन, घोरपन और विमूढ़ता है।

अब मन के लक्षण कहते हैं। मन स्त्री आदि की समग्र कामनाओं की उत्पत्ति का क्षेत्र है तथा संकल्प-विकल्पात्मक है। वह समस्त इन्द्रियों का नियन्ता भी है। अब बुद्धि के लक्षण कहते हैं। बुद्धि में पदार्थमात्र का ज्ञान

12. स्वरूप-स्वभाव से अत्यन्त विलक्षण।
13. तीन कालों में भी जिसके स्वरूप का लोप नहीं होता।
14. माया और उसके कार्य को जाननेवाले।
15. स्वयं जड है, तथा प्रलयकाल में जीव एवं ईश्वररूप चैतन्य को अपने गर्भ में समाविष्ट करनेवाली चित् है, इस प्रकार जड-चिदात्मिका।
16. कारण अवस्था में पृथ्वी आदि विशेष तत्त्वों से रहित।
17. सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की समता रखनेवाली।
18. जिसमें रजोगुण, तमोगुण के स्पर्श से रहित शुद्धसत्त्वगुण की प्रधानता रहती है।

रहता है और समस्त इन्द्रियों में जो विशेष ज्ञान है, वह बुद्धि के कारण है तथा बुद्धि में संशय, निश्चय, निद्रा तथा स्मृति का समावेश रहता है। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु (गुदा) और उपस्थ, इन दस इन्द्रियों के लक्षण ये हैं कि वे अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त रहती हैं।

अब पंच मात्राओं (पंचतन्मात्रा) के लक्षण कहते हैं। इनमें शब्द के लक्षण तो ये हैं कि शब्द अर्थमात्र का आश्रय तथा व्यवहारमात्र का कारण है। वह बोलनेवाले की जाति तथा स्वरूप का द्योतक है, आकाश में रहनेवाला है और आकाश की मात्रा[19] है तथा श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है। ये शब्द के लक्षण हैं। अब स्पर्श के लक्षण कहते हैं – स्पर्श वायु की तन्मात्रा है। वह कोमलता, कठोरता, शीतलता, उष्णतायुक्त है तथा त्वचा द्वारा ग्राह्य है। यही स्पर्श के लक्षण हैं। अब रूप के लक्षण कहते हैं – पदार्थमात्र के आकार का बोध कराना, पदार्थों में गौणभाव से व्याप्त रहना, पदार्थ की रचना के द्वारा परिणाम की निष्पत्ति प्राप्त करना, और जो तेजतत्त्व की तन्मात्रा है तथा चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है इत्यादि रूप के लक्षण हैं। अब रस के लक्षण कहते हैं – मधुरता, तिक्तता, कषायता, कड़वापन, खट्टापन, खारापन, जल की तन्मात्रा तथा रसना इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य तत्त्व को ही रस कहा गया है। अब गन्ध के लक्षण कहते हैं – सुगन्ध, दुर्गन्ध, पृथ्वी की तन्मात्रा तथा घ्राण इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने के तत्त्व को ही गन्ध का लक्षण बताया गया है। अब पृथ्वी के लक्षण कहते हैं – समस्त जीवमात्र को धारण करना, लोकरूप द्वारा स्थान (आश्रयदाता) होना, आकाशादि चार भूतों का विभागीकरण करना तथा समस्त भूतप्राणिमात्र के शरीर को प्रकट करना यह पृथ्वी का लक्षण है। अब जल के लक्षण कहते हैं – पृथ्वी आदि द्रव्यों का पिंडीकरण करना, पदार्थों को कोमल करना, आर्द्रता, तृप्ति प्रदान करना, प्राणिमात्र को जीवन-शक्ति देना, तृषा की निवृत्ति करना तथा उष्णता को दूर करना एवं विपुलता ये जल के लक्षण हैं। अब तेज के लक्षण कहते हैं – प्रकाशत्व, अन्नादि को पचाने की शक्ति होना, रस का ग्रहण करना, काष्ठ एवं हुतद्रव्यादि को ग्रहण करने की शक्ति होना, शीत को दूर करना, शोषण करना, तथा क्षुधा एवं तृषा को उद्दीप्त करना, ये तेज के लक्षण हैं। अब वायु के लक्षण कहते हैं – वृक्षादि

19. मात्रा अर्थात् असाधारण गुण।

में कम्पन उत्पन्न करना, तृणादि को एकत्र करना, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक पाँच विषयों को श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियों के प्रति उन्मुख करना तथा समस्त इन्द्रियों का प्राणस्वरूप होना आदि वायु के लक्षण हैं। अब आकाश के लक्षण कहते हैं - समस्त जीवमात्र को अवकाश प्रदान करना, भूतप्राणि-मात्र की देह का आन्तरिक और बाह्य व्यवहार का कारण होना तथा प्राण, इन्द्रियों एवं अन्तःकरण में स्थान होना ये आकाश के लक्षण कहे गये हैं। इस प्रकार चौबीस तत्त्वों, प्रकृति, पुरुष तथा काल के लक्षणों को जान लेने पर जीव अज्ञान से मुक्त हो जाता है।

इन सब तत्त्वों की उत्पत्ति को भी जानना चाहिए। इनकी उत्पत्ति का वर्णन करते हैं : अपने धाम में विराजमान श्रीकृष्ण भगवान ने अक्षरपुरुष द्वारा माया में गर्भ-स्थापन किया। तब उस माया से अनन्तकोटि प्रधान तथा पुरुष उत्पन्न हुए। वे प्रधान एवं पुरुष अनन्तकोटि ब्रह्मांडों की उत्पत्ति के कारण हैं। उनमें एक ब्रह्मांड की उत्पत्ति के कारणीभूत प्रधानपुरुष[20] का वर्णन करते हैं कि पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान ने प्रथम पुरुषरूप होकर प्रधान में गर्भ स्थापन किया। बाद में प्रधान से महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ और महत्तत्त्व से तीन प्रकार के अहंकार की उत्पत्ति हुई। उनमें सात्त्विक अहंकार से मन तथा इन्द्रियों के देवता, राजस अहंकार से दस इन्द्रियाँ, बुद्धि एवं प्राण तथा तामस अहंकार से पंचभूत और पंचतन्मात्राएँ उत्पन्न हुए। इस प्रकार ये समस्त तत्त्व उत्पन्न हुए।

इसके पश्चात् उन्होंने परमेश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर अपने-अपने अंशों के द्वारा ईश्वर और जीव की देहों का सृजन किया। ईश्वर की तीन देह विराट, सूत्रात्मा तथा अव्याकृत हुईं और जीव की तीन देह स्थूल, सूक्ष्म और कारण हुईं। उस विराट नामक ईश्वर की देह का आयुष्य द्विपरार्ध काल पर्यन्त है। उस विराट पुरुष के एक दिवस में चौदह मन्वन्तर होते हैं। तथा जितना प्रलम्ब उनका दिन है, उतनी ही लम्बी उसकी रात्रि है। जब तक उनका दिवस होता है, तब तक त्रिलोक की स्थिति रहती है, जब उनकी रात्रि होती है, तब त्रिलोक का नाश होता है, उसे निमित्त[21] प्रलय कहते हैं। जब विराट

20. 'प्रधानपुरुष' शब्द से बहुवचन समझना।

21. विराट का दिन पूर्ण होता है उस निमित्त को लेकर 'निमित्त' शब्द कहा गया है।

पुरुष का द्विपरार्ध काल पूरा होता है तब विराट देह का सत्यादि लोकों सहित नाश हो जाता है। महदादि चौबीस तत्त्व, प्रधान, प्रकृति तथा पुरुष, ये सभी महामाया में विलीन हो जाते हैं, इस स्थिति को प्राकृत प्रलय कहते हैं तथा जिस प्रकार रात्रि का दिन के प्रकाश में लय होता है, उसी प्रकार महामाया का अक्षरब्रह्म के प्रकाश में विलय हो जाता है, उसे आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं। देवों, दैत्यों और मनुष्यों आदि की देहों का प्रतिक्षण जो नाश होता है, उसे नित्य प्रलय कहते हैं। जिसे इस प्रकार विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का ज्ञान होता है, उसे संसार के प्रति वैराग्य हो जाता है तथा भगवान की भक्ति उत्पन्न हो जाती है। जब समस्त ब्रह्मांड का प्रलय होता है, तब सभी जीव माया में रहते हैं और भगवद्भक्त भगवान के धाम में जाते हैं।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा, 'भगवान का धाम कैसा है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'भगवान का धाम तो सनातन है, नित्य है, अप्राकृत है, सच्चिदानन्द है, अनन्त तथा अखंड है। उसका दृष्टान्त द्वारा वर्णन करते हैं – जैसे पर्वतवृक्षादि सहित तथा मनुष्यों, पशुओं और पक्षियों आदि की आकृतियों से युक्त समस्त पृथ्वी कदाचित् शीशे की हो और आकाश में व्याप्त समग्र तारे स्वयं सूर्य हों, फिर उनके तेज से समस्त आकृतियों सहित शीशे की पृथ्वी देदीप्यमान होकर जैसी शोभायमान होती है, वैसी ही शोभा भगवान के धाम की बनी रहती है। ऐसा जो भगवान का धाम है उसे भगवान के भक्त समाधि में देखते हैं और देहत्याग के पश्चात् वह भगवान के उसी तेजोमय धाम को प्राप्त होता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥12॥

वचनामृत 13 : बरगद-पीपल की शाखा का रोपण

संवत् 1876 में मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा (2 दिसम्बर, 1819) को रात के समय श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के समीप नीम के वृक्ष के नीचे चबूतरे पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे। वे लाल चूड़ीदार पायजामा तथा बगलबंडी पहने हुए थे। उन्होंने मस्तक पर ज़रीदार शेला बाँधा था और इसी प्रकार कमर में सुनहरी शेला कसा था। कंठ में मोतियों की मालाएँ पहनी थीं और

पाग में मोती के तुर्रे (फुँदने) लटक रहे थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त उपस्थित थे।

उस समय श्रीजीमहाराज से नित्यानन्द स्वामी ने यह प्रश्न पूछा, 'प्रत्येक शरीर में जीव एक है या अनेक हैं? यदि इसे 'एक' कहेंगे तो बरगद, पीपल आदि जो वृक्ष हैं, उनकी डालें काटकर उन्हें दूसरी जगह पर लगाते हैं, तब भी बिल्कुल उसी प्रकार का वृक्ष उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार एक जीव दो तरह से हुआ या दूसरे जीव ने प्रवेश किया? यदि यह कहेंगे कि 'यह तो एक ही जीव है', तो जीव को तो अखंड एवं अच्युत कहा गया है, फिर वह कट कर दो भाग में कैसे बँट गया?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि, 'सुनिये, इसका उत्तर देते हैं कि श्रीकृष्ण भगवान की दो शक्तियाँ हैं : पुरुष तथा प्रकृति। ये दोनों जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कारण हैं। भगवान ने पुरुष-प्रकृतिरूपी अपनी दोनों शक्तियों को ग्रहण करके स्वयं विराट रूप धारण किया। ऐसे विराट रूपवाले भगवान ने सबसे पहले ब्राह्मकल्प[22] में अपने अंगों से ब्रह्मादि से लेकर घास के स्तम्ब तक समस्त जीवों का सृजन किया, और पाद्मकल्प[23] में ब्रह्मा-रूप होकर मरीच्यादि तथा कश्यप का सृजन किया एवं दक्ष-रूप द्वारा देवों, दैत्यों, मनुष्यों और पशु-पक्षियों आदि समग्र स्थावर-जंगम जीवों का सृजन किया। ऐसे श्रीकृष्ण भगवान पुरुष-प्रकृति-रूपिणी अपनी शक्तियों के साथ प्रतिजीव में अन्तर्यामी स्वरूप में रहते हैं। और जिस जीव ने जैसे कर्म किए हैं, उसे वे उसी प्रकार की देह प्रदान करते हैं।

इस जीव ने पूर्वजन्म में कुछ सत्त्वगुण-प्रधान, कुछ रजोगुण-प्रधान तथा कुछ तमोगुण-प्रधान कर्म किए हैं, जिनके अनुसार भगवान उसे उद्भिज (वृक्ष-लता आदि), जरायुज (मनुष्य, पशु आदि), स्वेदज (कीड़े, मकोड़े आदि) तथा अंडज (पक्षी, सर्प आदि) जातियों की देह प्रदान करते हैं; और

22. वैराजपुरुष की आयुष्य के प्रथम अर्ध भाग को परार्ध कहा जाता है। उस परार्ध का प्रथम दिन अर्थात् प्रथम कल्प को ब्राह्मकल्प कहते हैं।

(श्रीमद्भागवतम् : 3/11/33-34)

23. उपरोक्त प्रथम कल्प के अंतिम दिन को पाद्मकल्प कहते हैं।

(श्रीमद्भागवतम् : 3/11/35)

उन्हें सुख-दुःखरूपी कर्मफल देते हैं और उस जीव के कर्मानुसार उसकी देह से अन्य देह का सृजन करते हैं। जिस प्रकार कश्यप आदि प्रजापतियों की देह से अनेक जातियों की देहों का सृजन उन्होंने किया, उसी प्रकार वही भगवान अन्तर्यामीरूप से प्रत्येक जीव में रहते हुए, जिस देह से जैसे शरीर की उत्पत्ति करने की विधि होती है, उसी के अनुसार वे दूसरी देह उत्पन्न करते हैं। परन्तु, वे जिस जीव से दूसरी देह उत्पन्न करते हैं, वह जीव ही अनेक रूपों में परिणत हो जाता है, ऐसी बात नहीं है। जिस जीव को जिस देह से उत्पन्न करने का कर्म-सम्बंध प्राप्त हुआ हो, उस जीव की उत्पत्ति तो वे उसी के द्वारा करते हैं।'

॥ इति वचनामृतम् ॥13॥

वचनामृत 14 : अन्ते या मतिः सा गतिः

संवत् 1876 में मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया (3 दिसम्बर, 1819) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे नीम वृक्ष के नीचे पलंग पर दक्षिण की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर सफ़ेद पाग पहनी थी, श्वेत धोती धारण की थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी। उनकी पाग में पीले पुष्पों की कलगी लगी हुई थी। उनके दोनों कानों में पीले फूलों के गुच्छ लगे हुए थे और उनके ऊपर गुलाब के पुष्प थे। उनके कंठ में पुष्पों का हार था तथा वे अपने दायें हाथ में सफ़ेद सेवती पुष्प को घुमा रहे थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

श्रीजीमहाराज ने साधुओं से प्रश्न पूछा, 'एक हरिभक्त है, वह संसार छोड़कर निकला है। यद्यपि वह अति तीव्र वैराग्यवाला तो नहीं है, और देह से व्रत-नियमों का यथार्थ पालन करता है, और उसके मन में संसार की थोड़ी-सी वासना बची हुई है, जिसे वह विचार द्वारा नष्ट कर देता है। उसके मन में भगवान का निश्चय भी सुदृढ़ बना हुआ है। ऐसा एक त्यागी भक्त है। दूसरा गृहस्थ भक्त है, उसे भी भगवान का निश्चय दृढ़ है। वह आज्ञापालन करके घर में रहा है और संसार से उदासीन है। संसार में जितनी वासना पूर्वोक्त त्यागी को है, उतनी ही वासना गृहस्थ को भी है। भगवान के इन

दोनों भक्तों में कौन श्रेष्ठ है ?'

मुक्तानन्द स्वामी बोले, 'त्यागी भक्त श्रेष्ठ है।' तब श्रीजीमहाराज बोले, 'वह तो संसार से उद्विग्न होने के कारण स्वयमेव केवल वेश बनाकर निकला है, वह किस प्रकार श्रेष्ठ है ? तथा गृहस्थ तो आज्ञापालन से घर में रहता है, वह किस प्रकार न्यून है ?' श्रीजीमहाराज के प्रश्न का मुक्तानन्द स्वामी ने अनेक प्रकार से समाधान किया, परन्तु समाधान हुआ नहीं। तब मुक्तानन्द स्वामी बोले, 'हे महाराज! आप ही समाधान कीजिए।'

फिर श्रीजीमहाराज बोले, 'त्यागी को यदि अच्छी तरह से खाने को मिले, उसमें भी वह अपरिपक्व मानसिकता रखता हो, तो संसार की वासना उसके हृदय में पुनः उत्पन्न हो जाती है अथवा त्यागी-जीवन में अत्यन्त दुःख पड़ने पर भी सांसारिक वासना फिर पैदा हो जाती है। ऐसी स्थिति में तो त्यागी की अपेक्षा गृहस्थ बहुत अच्छा है, क्योंकि गृहस्थ भक्त को जब दुःख पड़ता है अथवा अधिक सुख मिलता है, तब वह ऐसा विचार रखने लगता है कि शायद 'मुझे इन सुखों में बन्धन हो गया तो ?!' ऐसा समझकर वह संसार से उदासीन रहता है। इसलिए, वास्तव में वही सच्चा त्यागी है, जिसमें संसार छोड़ने के बाद सांसारिक वासना रहती ही नहीं है। गृहस्थ तो वासनिक त्यागी की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है, बशर्ते कि वह गृहस्थ-धर्म का पालन करे। लेकिन गृहस्थ-धर्म का पालन करना तो बड़ा कठिन है। क्योंकि अनेक प्रकार के सुख-दुःख आने पर भी वह सन्त की सेवा तथा धर्म से अपने मन को विचलित नहीं होने देता। वह तो यह समझता है कि **'सन्त का सत्संग जो मुझे मिला है, वह तो मुझे परमचिन्तामणि तथा कल्पवृक्ष प्राप्त हुआ है। धन, दौलत, पुत्र-पुत्रियाँ आदि तो सभी स्वप्नतुल्य हैं। सच्चा लाभ तो सन्त का सत्संग मिला वही है।'** ऐसा समझे और चाहे कितना ही भारी दुःख आ पड़े, फिर भी वह गृहस्थ उससे विचलित नहीं होता हो, इस प्रकार का गृहस्थ सत्संगी अतिश्रेष्ठ है। इस स्थिति से भी ऊपर उठकर भगवान का भक्त होना वास्तव में अत्यन्त कठिन है तथा भगवद्भक्त का संग मिलना तो और भी अधिक दुर्लभ है।' इतना कहने के पश्चात् श्रीजी-महाराज ने भगवान और सन्त की महिमा सम्बंधी मुक्तानन्द स्वामी रचित कीर्तनपदों का गान करवाया।

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न किया, 'श्रुतियों में ऐसा कहा गया है कि **'अन्ते या मतिः सा गतिः'**[24] अर्थात् अन्तकाल में यदि भगवान में मति रहे तो सद्गति होती है। यदि अन्तकाल में भगवान में मति स्थिर न हुई तो उसकी सद्गति नहीं होती। यदि ऐसा ही होता, तो जीवनभर मुमुक्षु ने जो भक्ति की है, उससे कौन-सा अधिक लाभ है ?'

फिर श्रीजीमहाराज बोले, **'जिसे साक्षात् भगवान की प्राप्ति हुई है, उसे अन्तकाल में उनकी स्मृति रहे या न रहे फिर भी उसका अकल्याण नहीं होता। भगवान उसकी रक्षा करते हैं।** और जो पुरुष भगवान से विमुख रहता है, वह यदि बोलते-चलते हुए, बिना कष्ट के देह-त्याग करता है, तो भी उसका कल्याण नहीं होता और वह मरकर यमपुरी में जाता है। कितने ही पापी कसाई होते हैं, जो बोलते-चलते हुए देह-त्याग करते हैं, और कई भगवान के भक्त होते हुए भी उनकी अकाल मृत्यु हो जाती है, तो क्या उन भक्तों का अकल्याण होगा ? और क्या उस पापी का कल्याण होगा ? बिल्कुल नहीं ! यहाँ तो इस श्रुतिवाक्य का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए कि 'इस समय उस भक्त की जैसी मति है, वैसी ही गति अन्तकाल में होती है।' इसलिए जिस भक्त की मति में ऐसा भाव रहता हो कि 'मेरा कल्याण तो हो चुका है।' तो अन्तकाल में अवश्यरूप से उसका कल्याण हो ही गया है। जिसे सन्त नहीं मिले हैं और भगवान के स्वरूप की भी प्राप्ति नहीं हुई है, उसकी मति में ऐसा हो कि 'मैं अज्ञानी हूँ, और मेरा कल्याण नहीं होगा।' तो उसकी मति के अनुसार ही उसकी गति होगी। जो पुरुष भगवान के दास हो गए हैं, उनको तो कुछ करना शेष नहीं रहा। उनके दर्शनों से तो अन्य जीवों का कल्याण हो जाता है। तब उनका अपना कल्याण होने में कहना ही क्या है ? परन्तु, भगवान का दास बनना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि **भगवान के जो दास होते हैं, उनके लक्षण ये हैं कि 'देह को मिथ्या जाने, और अपनी आत्मा को सत्य माने, और अपने स्वामी के भोग्य पदार्थों को स्वयं भोगने की इच्छा कभी न करे, तथा अपने स्वामी की इच्छा के विपरीत दूसरा आचरण कभी न करे। - ऐसा हो उसको ही भगवान का दास कहा जा सकता है।** जो भगवान का दास होता है, वह यदि

24. हिरण्यकेशीयशाखाश्रुतिः, यह शाखा वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं है।

देहरूप होकर बरतने लगता है, तो वह प्राकृत भक्त कहा जाएगा!'

॥ इति वचनामृतम् ॥14॥

वचनामृत 15 : ध्यान करने में कायर नहीं बनना

संवत् 1876 में मार्गशीर्ष कृष्णा तृतीया (4 दिसम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष सभा में साधु तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जिसके हृदय में भगवान की भक्ति होती है, उसकी ऐसी मनोवृत्ति रहती है कि 'भगवान तथा सन्त मुझे जो-जो वचन कहेंगे, उसी के अनुसार ही मुझे वर्तन करना है।' इस प्रकार की भावना उसके हृदय में बनी रहती है। परन्तु 'मैं इतने वचनों का पालन कर सकूँगा और इतने वचनों का पालन मुझसे नहीं हो पाएगा' ऐसा वचन तो वह भूलकर भी नहीं कहता है, तथा भगवान की मूर्ति को हृदय में उतारने के लिए वह हमेशा शूरवीर बना रहता है, प्रयत्न करने पर भी यदि वह भगवान की मूर्ति हृदय में न उतार पाया, तो भी वह कायर नहीं होता!

वह तो नित्य नवीन श्रद्धा रखता है, और मूर्ति को हृदयस्थ करते समय यदि अशुभ संकल्प उत्पन्न हो जाए और यदि वे हटाने पर भी नहीं हटे, तो वह भक्त भगवान की महान महिमा समझकर, स्वयं को कृतकृत्य मानकर उन संकल्पों को झुठलाता रहता है, साथ-साथ भगवान के स्वरूप को हृदय में धारण करने का प्रयत्न करता रहता है। फिर इस प्रयत्न में भले ही दस, बीस, पचीस अथवा सौ वर्ष क्यों न लग जाएँ, परन्तु वह कायर होकर भगवान के स्वरूप को हृदय में उतारने की साधना को कभी नहीं छोड़ता! क्योंकि श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में कहा है कि **'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।'**[25] इसलिए जो भक्त, भगवान को अपने हृदय में धारण करता रहता हो, और ऐसा अपना वर्तन रहता हो, उसे एकान्तिक भक्त कहते हैं।'

॥ इति वचनामृतम् ॥15॥

---

25. **भावार्थ :** अनेक जन्म के पुण्यकर्म द्वारा सिद्ध स्थिति प्राप्त होने पर उसे अंतिम जन्म-रूप परागति प्राप्त होती है अर्थात् प्रकट भगवान की प्राप्ति होती है। (गीता : 6/45)

वचनामृत 16 : विवेकशीलता

संवत् 1876 में मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्थी (5 दिसम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में साधु तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

फिर श्रीजीमहाराज ने कहा, 'भगवान के जिस भक्त में सत्-असत् का विवेक हो, वह अपने में विद्यमान दोषों को जान लेता है और विचार करके उन अवगुणों का परित्याग करता है। यदि सन्त में अथवा किसी सत्संगी में स्वयं को कोई दोष होने का आभास हो, तो वह उसका त्याग कर देता है और केवल उसके गुण को ही ग्रहण करता है और उसे परमेश्वर के स्वरूप में तो किसी दोष का आभास ही नहीं होता और भगवान तथा सन्त जो कुछ भी कहें, उसे परम सत्य मानकर उनके वचनों में कभी संशय नहीं करता; यदि सन्त यह कहें कि 'तुम देह, इन्द्रियों, मन और प्राण से भिन्न हो, सत्य हो और इन सभी के ज्ञाता हो और ये देहादिक सब असत्य हैं।' इन वचनों को सत्य समझकर उन सबसे अलग रहकर वह आत्मरूप में व्यवहार करे, परन्तु मन के कुसंकल्पों के चक्कर में न फँस जाए; और **जिसके कारण स्वयं को बन्धन हो तथा अपने एकान्तिक धर्म में बाधा पड़ती हो, ऐसे पदार्थों तथा कुसंग से सुविदित रहे, तथा उनसे दूर ही रहे; और कभी उनके बंधन में न फँसे; और एकांतिक धर्म में पुष्टिकर्ता विचार को ही ग्रहण करे तथा उसके विरुद्ध विचार का परित्याग कर दे। – इस प्रकार का जिसमें आचरण हो, तो समझ लें कि उसमें 'विवेक' है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥16॥

वचनामृत 17 : सत्संग में कुसंग क्या है?

संवत् 1876 में मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी (6 दिसम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के बड़े कमरे में कथावाचन (श्रीमद्भागवत कथा) करवा रहे थे। उन्होंने सफ़ेद धोती धारण की थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी, सफ़ेद पाग पहनी थी, पीले

पुष्पों की माला धारण की थी और पीले पुष्पों का तुर्रा पाग में खोंसा था। वे अतिप्रसन्न मुद्रा में विराजमान थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने मुक्तानन्द स्वामी, गोपालानन्द स्वामी आदि साधुओं को बुलाया और उनसे कहा कि 'हमारे सत्संग में थोड़ा-सा कुसंग का भाग रह जाता है, उसे आज दूर करना है और यह प्रकरण इस प्रकार चलाना है कि समस्त परमहंसों, सांख्ययोगिनियों (भगवान की भक्त ब्रह्मचारिणी विधवा स्त्रियों), कर्मयोगियों (गृहस्थ भक्तों) तथा अन्य सभी सत्संगियों में इस बात का प्रवर्तन हो जाए!

सत्संग में कुसंग क्या है? तो बात करनेवाले उत्साहहीन होकर बिना हिम्मत की बातें करते हैं, वही सत्संग में कुसंग है। ऐसे लोग किस प्रकार की बातें करते हैं? तो वे कहते हैं कि 'भगवान के वचनों का यथार्थरूप में पालन कौन कर सकता है? व्रत-नियमों का यथार्थ पालन कौन कर सकता है? इसलिए जितना हो सके, उतना धर्म-पालन[26] करना चाहिए; क्योंकि भगवान तो अधमों के उद्धारक हैं, वे कल्याण तो करेंगे ही!' तथा वे लोग ऐसी बातें भी कहते हैं कि भगवान के स्वरूप को हमें हृदय में धारण करना है, वह तो अपने किए कभी नहीं हो पाता! वह तो तभी संभव हो पाता है, जिस पर भगवान की दया होती है!'

इस प्रकार की बिना हिम्मत की बातें करके वे भगवान की प्रसन्नता के साधन, धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति आदि से दूसरों को विमुख कर डालते हैं। इसलिए, आज से **हमारे सत्संग में कोई भी इस तरह की बलहीन बातें मत करें; सदा हिम्मत के साथ ही बात करियेगा। यदि कोई इस प्रकार बलहीन बात करे, तो उसे नपुंसक ही समझना और ऐसी बलहीन बातें हो जाएँ, उस दिन उपवास करना।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥17॥

वचनामृत 18 : पंचविषयों का खण्डन, हवेली का दृष्टांत

संवत् 1876 में मार्गशीर्ष कृष्णा षष्ठी (8 दिसम्बर, 1819) को रात

26. गृहस्थ एवं त्यागियों के लिए श्रीहरि ने शिक्षापत्री आदि ग्रंथों में कहे गए भक्ति-पोषक सदाचाररूप नियम धर्म।

एक पहर शेष थी, तब स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे में बरामदे के आगे चौक में पलंग पर विराजमान थे और श्वेत वस्त्र धारण किए हुए थे।

तब उन्होंने परमहंसों तथा सत्संगियों को बुलाया। फिर बहुत देर तक विचारमग्न बैठे रहने के पश्चात् वे बोले कि 'एक बात कहता हूँ, उसे सुनिये। मेरे मन में ऐसा विचार आता है कि यह बात न कहूँ, किन्तु आप हमारे हैं, इसलिए ऐसा होता है कि मैं आप से वह बात अवश्य बता दूँ। क्योंकि इस बात को समझकर उसी के अनुसार वर्तन करनेवाला ही 'मुक्त' होता है; और इसके बिना तो चार वेदों, छः शास्त्रों,[27] अठारह पुराणों[28] तथा भारतादि (महाभारत, रामायण आदि) इतिहासों का अध्ययन करके, तथा उन शास्त्रों के अर्थों को समझ के अथवा उनका श्रवण करके भी कोई 'मुक्त' नहीं हो पाता। वही बात कहता हूँ, उसे सुनिये -

बाहर चाहे कितना ही मायिक पदार्थों का संयोग क्यों न हो, फिर भी अगर मन में उसका संकल्प न हो तो हमें कोई सन्ताप नहीं है। परन्तु अन्तःकरण में यदि पदार्थ का लेशमात्र भी संकल्प हो गया, तो उस पदार्थ का त्याग कर दें, तभी हमें शान्ति होती है, ऐसा हमारा स्वभाव है। इसलिए हमने हृदय में विचार किया कि भगवान के भक्त के हृदय में विक्षेप उत्पन्न होता है, उसका क्या कारण है? फिर हमने मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार पर दृष्टिपात किया, परन्तु हमें लगा कि अन्तःकरण तो उद्वेग का कारण नहीं है। वहाँ तो भगवान के स्वरूप के निश्चय का बल रहने के कारण अथवा आत्मज्ञान के बल के कारण अंतःकरण को ऐसी लापरवाही रहती है कि हमें तो भगवान मिल गए हैं, अतः अब कोई साधना करनी शेष नहीं रही!' ऐसी गफलत रहती है, इतना ही अन्तःकरण का दोष है, परन्तु अधिक दोष तो पाँच ज्ञानेन्द्रियों का है।

उनका विस्तृत रूप से वर्णन करते हैं कि यह जीव कई तरह के भोजन करता है, उनके विभिन्न स्वाद तथा विभिन्न गुण होते हैं। व्यक्ति जैसा भोजन

27. **छः दर्शन :** सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, वेदांत।
28. **अठारह पुराण :** ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, अग्नि, नारदीय, मार्कंडेय, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कंद, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड, ब्रह्मांड।

करता है वैसे ही गुण उसके अन्तःकरण तथा शरीर में बने रहते हैं। गहरी हरी भाँग पीनेवाला यदि प्रभु का भक्त हो, फिर भी ऐसी भाँग के कारण न तो धर्मपालन का ही भान रहता है और न भगवान के भजन की ही सुध रहती है, वैसे ही अनेक प्रकार के आहार के गुण भी गहरी भाँग के नशे के समान इतने विविध प्रकार के होते हैं कि उनकी गिनती करना ही असम्भव होगा ! उसी प्रकार यह जीव श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा अनन्त प्रकार के शब्दों को सुनता है, उन शब्दों के गुण भी अनन्त प्रकार के होते हैं। अतः व्यक्ति जैसा शब्द सुनता है, वैसा ही गुण उसके अन्तःकरण को प्रभावित करने लगता है। जिस प्रकार किसी हत्यारे की अथवा किसी व्यभिचारी पुरुष या स्त्री की अथवा लोकाचार और वेद-प्रतिपादित मर्यादा के विपरीत आचरण करनेवाले किसी भ्रष्ट जीव की बात को सुनना ऐसा ही है, जैसा गहरी भाँग पीनेवाले की या शराबी की बकवास होती है। ऐसी बातें तो सुननेवालों के अन्तःकरण को भ्रष्ट कर देती हैं तथा भगवान के भजन, स्मरण तथा नियम धर्म की विस्मृति करा देती हैं।

त्वचा का स्पर्श भी अनन्त प्रकार का होता है तथा उसके गुण भी अनन्त प्रकार के होते हैं। उनमें पापी जीव का स्पर्श, उसी भाँग और शराब के असर की तरह होता है। यदि कोई हरिभक्त भी पापी का स्पर्श कर ले तो उसकी सुधबुध खो जाती है।

रूप भी अनन्त प्रकार के होते हैं और उनके गुण भी अनन्त ही होते हैं। अतः किसी भ्रष्ट जीव को देखना - उसका दर्शन करना भी गहरी भाँग और शराब-सा उन्माद भर देता है। तथा पीनेवालों के समान पापी को देखनेवालों की हालत भी बुरी हो जाती है तथा उसकी बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है।

गन्ध भी कई प्रकार की हैं और उनके गुण भी कई तरह के होते हैं। यदि पापी के हाथ के पुष्प अथवा चन्दन को सूँघ लिया, तो बुद्धि उसी प्रकार भ्रष्ट हो जाती है, जिस तरह भाँग पीने से बुद्धि का नाश हो जाया करता है। इस प्रकार पतित व्यक्ति के कुसंग से व्यक्ति की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, परंतु परमेश्वर अथवा उनके संत की संगति से मुमुक्षु की बुद्धि अच्छी हो जाती है। यदि उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी हो, तो भी वह भगवान और संत के शब्दों को सुनने मात्र से उत्तम हो जाती है। उनके स्पर्श से भी मति शुभ

होती है। यदि धार्मिक मर्यादा के कारण महान सन्त का स्पर्श न हो पाया, तो उनकी चरण-धूलि को लेकर अपने मस्तक पर लगाने से या उनके दर्शन करने से भी उत्तम-पवित्र हो सकते हैं!

हाँ, उनका दर्शन भी धर्म की मर्यादा का पालन करते हुए ही करना चाहिए, तथा ऐसे महान सन्त का प्रसाद ग्रहण करने से भी जीव पवित्र तो होता है, परन्तु प्रसाद भी परमेश्वर के द्वारा प्रस्थापित वर्णाश्रम की मर्यादा का पालन करते हुए ही लेना चाहिए। यदि कोई वर्णाश्रमधर्म के कारण अन्य प्रसादी न ले सके, तो वह महान सन्त की प्रासादिक शक्कर की प्रसादी ले सकता है। इसी प्रकार से महापुरुषों को समर्पित किए गए पुष्प एवं चन्दन की सुगन्ध लेने से भी बुद्धि निर्मल हो जाती है। इसलिए कोई इन पंचविषयों का उपभोग बिना समझ के करेगा तथा सार-असार का विवेक नहीं रखेगा, तो यदि वह नारद-सनकादिक जैसा भी होगा तो भी उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाएगी। ऐसी स्थिति में यदि देहाभिमानी की बुद्धि भ्रष्ट हो जाए तो उसके लिए क्या कहना? अतः इन पाँच इन्द्रियों को योग्य-अयोग्य समझे बिना अपने वश से बाहर करेगा तो उसका अन्तःकरण भ्रष्ट हो जाएगा।

और **पाँच इन्द्रियों द्वारा जीव जो आहार करता है, वह यदि शुद्ध आहार करेगा तो अन्तःकरण शुद्ध होगा और अन्तःकरण शुद्ध होने से निरंतर भगवान की स्मृति बनी रहेगी। यदि पंचेन्द्रियों के आहार में एक भी इन्द्रिय का आहार मलिन रहा, तो अन्तःकरण भी मलिन हो जाता है।** इसलिए, भगवद्भक्त को भगवान के भजन में जो भी कोई विक्षेप पड़ता है, उसका कारण पाँचों इन्द्रियों के विषय ही हैं, परन्तु अन्तःकरण नहीं है!

और यह जीव जैसी संगति करता है, वैसा ही उसका अन्तःकरण हो जाता है। यदि वह जीव विषयी जीवों के समाज में बैठा हो और वहाँ सुन्दर सात मंजिलवाली हवेली हो, उसमें सुन्दर शीशे जड़े हुए हों, सुन्दर बिछौने बिछे हुए हों, नानाप्रकार के आभूषणों और वस्त्रों से सुसज्जित होकर विषयीजन बैठे हों और वे एक दूसरे को शराब के जाम पिला रहे हों, शराब से भरी कितनी ही बोतलें पड़ी हों, वेश्याएँ नूपुर-झंकार के साथ थेई-थेई

नृत्य कर रही हों, नाना प्रकार के बाजे बज रहे हों, ऐसे वातावरण में जाकर यदि कोई (धर्मिष्ठ भी) बैठ गया, तो उसका अन्तःकरण भी दूसरी तरह का (अशुद्ध, विकारी) हो जाता है। दूसरी ओर घासफूस की झोंपड़ी हो और उसमें फटी गूदड़ीवाले परमहंस की सभा हो रही हो तथा धर्म, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के साथ भगवत्कथा हो रही हो, उस समय वहाँ जाकर यदि कोई पुरुष (दुराचारी भी) बैठ गया, तो उस समय उसका अन्तःकरण दूसरी ही तरह का (विशुद्ध) हो जाता है।

इसलिए, सत्संग और कुसंग के कारण अन्तःकरण की कैसी स्थिति हो जाती है, वह तो विचार करने पर ही ज्ञात हो सकता है, किन्तु मूर्ख को तो कुछ ज्ञात नहीं होता। अतः यह बात जो मूर्खता तथा पशुतापूर्वक आचरण कर रहे हैं, उनको समझ में नहीं आती, परन्तु जो थोड़ा भी विवेकशील तथा भगवान का आश्रित हो उसे तुरन्त समझ में आती है। अतः परमहंस, सांख्ययोगी तथा कर्मयोगी हरिभक्त सभी को कुपात्र मनुष्यों की संगति नहीं करनी चाहिए।

और सत्संग में आने से पूर्व कैसा भी कुपात्र जीव हो, परन्तु उसे नियमों की प्रतिज्ञा देकर सत्संग में स्वीकार कर लेना, किन्तु सत्संग में आने के बाद भी यदि कोई स्त्री या पुरुष कुपात्रता रखें, तो उसे सत्संग से दूर कर देना! यदि उसे हटाया नहीं गया तो परिणाम में ज्यादा खराबी भुगतनी पड़ती है। जैसे 'सर्पदंश' अथवा 'किड़ियारा' - वल्मीक रोग (गेंग्रीन) से ग्रस्त अंग को यदि तुरन्त काट दिया जाए तो वह रोगी स्वस्थ हो जाता है। परन्तु, ऐसा करने में यदि हिचकिचाहट हुई तो और भी ज्यादा बिगाड़ हो जाता है।

उसी प्रकार जो कुपात्र प्रतीत होता हो, उसका तत्काल ही त्याग कर देना। और यह हमारा वचन है, उसे मेहरबानी करके आप सभी अवश्य पालन करना, तो हम समझेंगे कि आप लोगों ने हमारी हर प्रकार की सेवा की है और हम भी आप सबको आशीर्वाद देंगे, तथा बहुत प्रसन्न होंगे। क्योंकि आपने हमारे परिश्रम को सफल बनाया है और हम सब मिलजुलकर भगवान के धाम में भी साथ में रहेंगे, परन्तु आप सब इस प्रकार नहीं रहेंगे, तो आपके और हमारे बीच की दूरी बहुत बढ़ जाएगी तथा भूत या ब्रह्मराक्षस की देह मिलेगी, आपको परेशान होना पड़ेगा, तथा भगवान की जो कुछ

भक्ति की होगी, उसका फल तो भटकते-भटकते न जाने कब मिलेगा और उस समय भी, हमने आगे जो बात कही है, उसी के अनुसार यदि रहेंगे, तभी ही 'मुक्त' बनकर आप भगवान के धाम में जा सकेंगे।

यदि किसी ने भी हमारा अनुकरण किया, तो उसका बहुत बुरा होगा। क्योंकि हमारे हृदय में तो नरनारायण प्रकटरूप में बिराजमान हैं, और मैं तो अनादि मुक्त ही हूँ, लेकिन किसी के उपदेशों से मैं मुक्त नहीं बना हूँ। और मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार को मैं इस प्रकार पकड़ लेता हूँ, जिस तरह सिंह बकरे को पकड़ लेता है! उसी भाँति मैं अन्तःकरण को पकड़े रहता हूँ और दूसरों को अन्तःकरण दिखायी भी नहीं पड़ता।

अतः हमारा अनुकरण करके कोई समझे, कि हम भी विषयों का संसर्ग रखकर अलिप्त (निर्लेप) रह पाएँगे, तो समझ लेना कि जब नारद-सनकादिक जैसे भी इस प्रकार नहीं रह सके, तो दूसरों की तो बात ही क्या है? **आज तक अनन्त मुक्त हो गए और अनन्त होंगे, लेकिन उनमें विषयउपाधि में रहकर भी निर्लेप रहे, ऐसा कोई न तो हुआ है और न होगा ही। और, ऐसा आज भी कोई नहीं दिखाई देता है, तथा कोटि-कोटि कल्पों तक साधना करने पर भी ऐसा होने में कोई समर्थ नहीं है। अतः हमने जो कहा है, उसके अनुसार आप सभी रहेंगे तभी आपका श्रेय होगा।**

और हम जिस किसी को स्नेहपूर्वक बुलाते हैं, तो उसके जीव के श्रेय के वास्ते ही बुलाते हैं। या तो हम किसी के सामने देखते हैं, अथवा किसी के आग्रह पर स्वादिष्ट भोजन स्वीकार करते हैं, या किसी के द्वारा पलंग बिछाये जाने पर उसे भी स्वीकार करते हैं या किसी के दिये हुए वस्त्राभूषण तथा पुष्पमाला आदि पदार्थों का स्वीकार करते हैं, वह सब हमारा सुख-साधन बढ़ाने के उद्देश्य से नहीं, बल्कि उस जीव के भले के लिए स्वीकार करते हैं! यदि अपने सुख के लिए इन सभी का स्वीकार करते हों, तो हमें श्री रामानन्द स्वामी की सौगन्ध हैं!

अतः इसे सोच-समझकर कोई हमारा अनुकरण न करें। और **पाँचों इन्द्रियों के आहार को अतिशय शुद्ध रूप में बनाये रखें। हमारे इस वचन को अवश्य और अवश्यरूप से मानें।** हमारी यह बात तो इतनी

सरल है कि सबकी समझ में तुरन्त आ जाएगी। अतः इस बात का सत्संग में अतिशय प्रसार प्रचार करते रहें, उसमें हमारी बहुत प्रसन्नता है!' इतनी बात करने के बाद श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहते हुए अपने निवासस्थान पर पधारे।

॥ इति वचनामृतम् ॥18॥

वचनामृत 19 : आत्मनिष्ठा आदि गुणों की अपेक्षा

संवत् 1876 में पौष शुक्ला प्रतिपदा (18 दिसम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज सन्ध्या के समय श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके मुखारविन्द के सामने सभा में परमहंस तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'इस सत्संग में अपने आत्यन्तिक कल्याण की इच्छा रखनेवाला जो भक्त है, उसका आत्यंतिक कल्याण का उद्देश्य केवल एक आत्मनिष्ठा के गुण के द्वारा ही सिद्ध नहीं हो सकता। और, केवल प्रीति यानी स्नेहपूर्वक नौ प्रकार की भक्ति से भी कल्याण का हेतु सिद्ध नहीं होता तथा केवल वैराग्य और अकेला स्वधर्म भी आत्यन्तिक कल्याण के लिए कारगर नहीं होता। इसलिए, कल्याण के लिए आत्मनिष्ठा आदि चार गुणों को सिद्ध करना चाहिए। क्योंकि, इन चारों गुणों को एक-दूसरे की अपेक्षा रहती है।

अब किस तरह इन चारों गुणों को एक-दूसरे की अपेक्षा है वह कहते हैं - आत्मनिष्ठा होने पर भी यदि श्रीहरि में प्रीति न हो, तो उस प्रीति के द्वारा होती श्रीहरि की प्रसन्नता तथा उस प्रसन्नता से प्राप्य महान ऐश्वर्य अर्थात् 'माया के गुणों से पराभूत न हो सकें, ऐसा महान सामर्थ्य' को वह भक्त नहीं पा सकता। और यदि श्रीहरि में प्रीति हो, परन्तु आत्मनिष्ठा न हो तो देहाभिमान के कारण उस प्रीति की सिद्धि नहीं हो पाती।

यदि श्रीहरि में प्रीति भी हो तथा आत्मनिष्ठा भी हो परन्तु दृढ़ वैराग्य न हो तो मायिक पंच-विषय में आसक्ति रह जाती है, और उसी के कारण प्रीति एवं आत्मनिष्ठा की सिद्धि नहीं हो पाती।

यदि वैराग्य तो हो, फिर भी यदि भगवत्प्रीति और आत्मनिष्ठा न हो,

तो श्रीहरि के स्वरूप से सम्बंधित परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। साथ ही स्वधर्म के रहने पर भी यदि प्रीति, आत्मनिष्ठा और वैराग्य तीनों न रहे तो भूर्लोक, भुवर्लोक तथा ब्रह्माजी के लोक तक जो स्वर्गलोक है, उससे आगे जीव की गति नहीं हो पाती, अर्थात् ब्रह्मांड को लांघकर माया के तम से परे जो श्रीहरि का अक्षरधाम है, उसको वह नहीं पाता।

इसी प्रकार आत्मनिष्ठा, प्रीति तथा वैराग्य के रहने पर भी यदि स्वधर्म न हो, तो इन तीनों की सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार आत्मनिष्ठा आदि चारों गुणों को एक-दूसरे की अपेक्षा रहा करती है। इसलिए भगवान के एकान्तिक भक्त के सत्संग से जिस भक्त में इन चारों गुण अतिशय सुदृढ़ तौर से रहते हों, मान लें कि उसी भक्त के समस्त साधन सम्पूर्ण हो गए, तथा उसी को एकान्तिक भक्त समझें। अतः **इन चारों गुणों में से जिस भक्त में जिस गुण की न्यूनता हो, उसे भगवान के एकान्तिक भक्त की सेवा तथा सत्संग के द्वारा मिटा देना चाहिए।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥19॥

वचनामृत 20 : अज्ञानियों में अतिशय अज्ञानी कौन ?

संवत् 1876 में पौष शुक्ला द्वितीया (19 दिसम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने अपने मस्तक पर सफ़ेद पाग बाँधी थी, जिसमें पीले फूलों का तुर्रा लगा हुआ था। वे कंठ में पीले पुष्पों का हार तथा दोनों कानों में सफ़ेद और पीले पुष्पों के गुच्छ धारण किए हुए थे। उन्होंने सफ़ेद शाल ओढ़ रखी थी और काले पल्ले की धोती पहनी हुई थी। वे कथा-पाठ करा रहे थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में परमहंस तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

उस समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज बोले कि 'सुनिये, सबसे एक प्रश्न पूछते हैं।' तब समस्त हरिभक्तों ने हाथ जोड़कर निवेदन किया, 'पूछिये।'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'अज्ञानियों में अतिशय अज्ञानी कौन है?' यह सुनकर सब विचार करने लगे, परन्तु कोई भी उत्तर नहीं दे पाया। फिर

श्रीजीमहाराज बोले, 'लीजिए, हम ही उत्तर देते हैं।' तब सभी ने आनन्दित होते हुए कहा कि 'हे महाराज! आपसे ही यथार्थ उत्तर हो सकेगा; कृपया कहिए।'

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस देह में रहनेवाला जीव, रूप और कुरूप को देखता है, बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था को देखता है। इस प्रकार वह अनेक पदार्थों को देखता रहता है, परन्तु देखनेवाला स्वयं अपने आपको नहीं देखता, परंतु **बाह्यदृष्टि से जगतभर के पदार्थों को देखता रहता है, बल्कि स्वयं को नहीं देखता, वही अज्ञानियों में अतिशय अज्ञानी है।** जो अपने नेत्रों से अनेक प्रकार के रूपों का आस्वादन करता है, उसी तरह श्रोत्र, त्वक्, रसना तथा घ्राण इत्यादि इन्द्रियों द्वारा विषय-सुख का उपभोग करता है और उसी को जानता है। परन्तु, स्वयं न तो अपने सुख को भोगता है, और न तो अपने स्वरूप को भी पहचानता है, वही समस्त अज्ञानियों में अतिशय अज्ञानी है, और वही सभी पागलों में अतिशय पागल है, और वही मूर्खों में अतिशय मूर्ख है, तथा वही समस्त नीचों में अतिशय नीच है।' तब शुकमुनि ने आशंका प्रकट की कि 'क्या अपना स्वरूप देखना अपने बस की बात है? यदि यह अपने हाथ में हो, तो जीव क्यों अतिशय अज्ञानी रहे?'

इस प्रश्न को सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि **'जिसे सत्संग का सुयोग हुआ है, उसे तो अपना - अर्थात् जीवात्मा का दर्शन अपने हाथ में ही है!** उसने कौन-से दिन अपने स्वरूप को देखने का पुरुषार्थ किया, जो उसने न देखा? वह तो माया के अधीन रहकर, परवश होकर स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में अन्तर्दृष्टि करके प्रविष्ट होता है, किन्तु वह अपने आपकी इच्छा से कभी भी अपने स्वरूप को देखने के लिए अन्तर्दृष्टि नहीं करता। और जो जीव भगवान के प्रताप का विचार करके अन्तर्दृष्टि करता है, वह तो अपने स्वरूप को अत्यन्त उज्ज्वल और प्रकाशमान देखता है, तथा इसी प्रकाश के मध्य वह प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम भगवान की मूर्ति को देखता है और वह नारद-सनकादिक के समान सुखी भी हो जाता है। अतः हरिभक्त में जो कसर रहती है, वह तो उसके आलस्य के कारण ही रहा करती है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥20॥

वचनामृत 21 : एकान्तिक धर्म, अक्षर के दो स्वरूप

संवत् 1876 में पौष शुक्ला तृतीया (19 दिसम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में सायंकाल पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने काले पल्ले की धोती पहनी थी और सफ़ेद शाल ओढ़ी थी। वे मस्तक पर सफ़ेद पाग बाँधे हुए थे और पूर्व की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उनके समक्ष साधुजन झाँझ और पखावज बजाते हुए कीर्तन कर रहे थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में स्थान-स्थान के साधु तथा सत्संगी बैठे हुए थे।

श्रीजीमहाराज ने उन सबको मौन रहने का संकेत किया और कहा, 'सब सुनिये, एक बात बताते हैं।' इतना कहकर वे अपने नेत्रकमलों को काफ़ी देर तक बन्द करके कुछ विचार करते रहे, फिर बोले, 'जिन हरिभक्तों के मन में भगवान को अतिप्रसन्न करने की इच्छा हो, तो भगवत्प्रसन्नता का उपाय यह है कि **अपने-अपने वर्णाश्रमधर्म में अचल निष्ठा हो, आत्मनिष्ठा की अतिशय दृढ़ता हो, एकमात्र भगवान के सिवा अन्य समस्त पदार्थों के प्रति अरुचि हो और भगवान में माहात्म्य सहित निष्काम भक्ति हो, इन चारों साधनों के द्वारा भगवान अतिशय प्रसन्न होते हैं। इन चारों साधनों द्वारा की जानेवाली साधना को एकान्तिक धर्म कहा गया है।** ऐसे एकान्तिक धर्मवाले भक्त इस समय अपने सत्संग में कतिपय हैं। और भगवान के भक्तों को चाहिए कि वे खाते-पीते, नहाते-धोते, चलते-बैठते, समस्त क्रियाओं में भगवान की मूर्ति का चिन्तन करते रहें। तथा अंत:करण में जब कोई विक्षेप न हो, तब भगवान का ध्यान करें एवं भगवान की मूर्ति के समक्ष देखते रहें। हृदय में संकल्प-विकल्प का कोई विक्षेप यदि आ जाए, तो देह, इन्द्रियों, अन्त:करण, देवताओं तथा विषयों से अपने स्वरूप को भिन्न समझें; जब संकल्पों का विराम हो जाए, तब भगवान की मूर्ति का चिन्तन करें। और इस देह को अपना स्वरूप न मानें तथा देह के सम्बंधियों को भी अपना सम्बंधी न मानें; क्योंकि यह जो जीव है, वह पूर्व चौरासी लाख प्रकार की देहों को धारण करके आया है और जगत में जितनी स्त्रियाँ हैं, उन सबके उदर से वह जन्म ले चुका है; तथा संसार में जितनी

कुत्तियाँ, बिल्लियाँ और बंदरियाँ आदि चौरासी लाख योनियों के जीव हैं, उन सबके उदरों से उसने कितनी ही बार जन्म लिये हैं। और इस जगत में जितने प्रकार की स्त्रियाँ हैं, उनमें से किसको उसने अपनी स्त्री नहीं किया? सबको अपनी स्त्री बनाया है। उसी प्रकार इस जीव ने स्त्री-देह धारण करके संसार में जितने तरह के पुरुष हैं, उन सबको अपना पति बनाया है।

अतः जैसे हम उन चौरासी लाख प्रकार के सम्बंधों को आज नहीं मानते हैं, और चौरासी लाख तरह की देहों को अपना शरीर नहीं मानते हैं, ठीक उसी प्रकार इस देह को अपना स्वरूप न मानें। और इस देह के सम्बंधियों को अपना सम्बंधी भी नहीं समझना चाहिए, क्योंकि जब चौरासी लाख तरह की देहों का सम्बंध नहीं रहा, तब इस देह का भी सम्बंध नहीं रहेगा। इसलिए, देह-गृहादिक सब पदार्थों को असत्य मानकर देह, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से अपने स्वरूप को भिन्न समझकर, तथा अपने धर्म के प्रति निष्ठावान रहते हुए भगवान की निष्काम भक्ति करना; और दिन-प्रतिदिन **भगवान के माहात्म्य की अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए साधु का संग निरन्तर करना।**

और जिसको ऐसी समझ नहीं है, और जो केवल देहाभिमानी तथा प्राकृत मतिवाला है, उसे सत्संग में रहते हुए भी पशुवत् समझना चाहिए। और सत्संग में तो भगवान का बड़ा प्रताप है, जिससे पशु का भी कल्याण होता है, तब मनुष्य का कल्याण हो, उसमें आश्चर्य की क्या बात है? परन्तु, उसे वस्तुतः भगवान का एकान्तिक भक्त नहीं कहा जा सकता। एकान्तिक भक्त तो उसी को कहते हैं, जिसे पूर्व कही समझ हृदय में दृढ़ हो।

ऐसा जो एकान्तिक भक्त होता है, वह देह त्याग कर तथा माया के समस्त भावों से मुक्त होकर अर्चिमार्ग[29] द्वारा भगवान के अक्षरधाम में जाता है। उस अक्षर के दो स्वरूप[30] हैं। इनमें से एक तो निराकार[31]

29. भगवान के धाम की ओर ले जानेवाले मार्ग को अर्चिमार्ग, देवयान तथा ब्रह्मपथ भी कहते हैं। उस मार्ग में प्रथम अर्चि (ज्योति) आने के कारण उसे अर्चिमार्ग कहते हैं। [ब्रह्मसूत्र (4/3/1), छांदोग्योपनिषद् (5/10/1-2), गीता (8/24)]
30. साकार एवं निराकार।
31. अनंत कोटि ब्रह्मांडों में व्यापक चिदाकाशरूप, एवं साकार होने पर भी ➤

एकरस चैतन्य है। उसे चिदाकाश और ब्रह्मधाम कहते हैं तथा वह अक्षर दूसरे रूप से[32] पुरुषोत्तम नारायण की सेवा में रहता है। उस[33] अक्षरधाम को पानेवाला भक्त भी अक्षरब्रह्म के[34] साधर्म्य को[35] प्राप्त होता है और भगवान की सेवा में निरंतर रहता है। और उस अक्षरधाम में श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम नारायण सदैव विराजमान रहते हैं। और उस अक्षरधाम में अक्षर के साधर्म्य-भाव को प्राप्त हुए ऐसे अनन्त-कोटि मुक्त रह रहे हैं, जो सभी पुरुषोत्तम के दास होकर बरतते हैं। और पुरुषोत्तम नारायण उन सबके स्वामी तथा अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के राजाधिराज हैं। इसलिए, **हमारे समस्त सत्संगियों को केवल यही निश्चय करना चाहिए कि 'हमें भी इन अक्षररूप मुक्तों की पंक्ति में मिलना है और अक्षरधाम में जाकर भगवान की सेवा में निरंतर उपस्थित रहना है, किन्तु नाशवान एवं तुच्छ मायिक सुख की इच्छा नहीं करनी है और इसमें किसी भी स्थान के प्रति लुब्ध नहीं होना है।'** इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके भगवान की एकान्तिकी भक्ति निरन्तर करते रहना। तथा भगवान के अतिशय माहात्म्य को यथार्थरूप में समझकर, भगवान के सिवा अन्य जो स्त्री, धन आदि समस्त पदार्थ हैं, उनकी वासना को जीवित अवस्था में ही मिटा देना! यदि भगवान के सिवा अन्य पदार्थों की वासना रह गयी, और इसी दशा में उस मुमुक्षु का देहान्त हो गया तथा भगवान के धाम में जाते समय मार्ग में उसे सिद्धियाँ दिखायी पडीं, और वह भगवान को छोड़कर कर उन सिद्धियों में लुब्ध हो गया तो उसे बड़ा विघ्न उपस्थित हो जाएगा। इसलिए, समस्त पदार्थों की वासना को मिटा करके भगवान का भजन कर लेना!'

॥ इति वचनामृतम् ॥21॥

अत्यंत विशालता के कारण निराकार जैसा आभासित होता धाम-स्थानरूप।

32. दिव्य करचरणादिक अवयवों से युक्त सेवकरूप।

33. स्थानरूप।

34. दिव्य करचरणादिक अवयवों से युक्त सेवकरूप अक्षर का साधर्म्य।

35. साधर्म्य अर्थात् समान गुणों से युक्त। जिस प्रकार अक्षरब्रह्म अत्यंत स्नेहपूर्वक परब्रह्म की निरंतर सेवा करने की योग्यता से संपन्न है, उस प्रकार अक्षररूप मुक्त भी ऐसी ही योग्यता प्राप्त करता है; यह अक्षरब्रह्म का साधर्म्य कहा जाता है।

वचनामृत 22 : भगवत्स्मरण के बिना प्रत्येक साधना शून्य

संवत् 1876 में पौष शुक्ला चतुर्थी (20 दिसम्बर, 1819) को मध्याह्न के समय श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। वे श्वेत वस्त्र पहने हुए थे और उन्होंने अपनी पाग में फूलों का तुर्रा खोंस रखा था और दोनों कानों के ऊपर पुष्पगुच्छ धारण किए हुए थे। उनके कंठ में गुलदावदी के फूलों का हार सुशोभित हो रहा था। वे पूर्व की ओर मुखकमल किए हुए विराजमान थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में परमहंस तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे। परमहंस कीर्तनगान कर रहे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'सुनिये, एक बात कहते हैं।' तब समस्त परमहंस कीर्तन-गान बंद करके बात सुनने के लिए तत्पर हो गए। श्रीजीमहाराज बोले, 'मृदंग, सारंगी, सरोद तथा ताल आदि वाद्ययन्त्रों के साथ गाए जानेवाले कीर्तन के समय, यदि भगवान की स्मृति न रहे, तो जो कुछ गाया, वह अनगाया-सा ही रहता है। वैसे तो जगत में ऐसे कितने ही जीव हैं, जो भगवान का विस्मरण करके गाने-बजाने में लगे रहते हैं, तो भी उससे उनके मन में शान्ति नहीं हो पाती। इसलिए, भगवान के कीर्तन गायें, भगवन्नाम-रटन करें तथा नारायण-धुनआदि जो भी करें, भगवान की मूर्ति की स्मृति के साथ ही करें। और भजन करने के लिए बैठें तब तो अपनी चित्तवृत्ति भगवान में रखते ही हैं, परन्तु भजन से उठकर अन्य क्रिया करते हुए भगवान में वृत्ति नहीं रखते तो उनकी चित्तवृत्ति भजन में बैठने पर भी भगवान के स्वरूप में स्थिर नहीं हो पाएगी। इसलिए, चलते-फिरते, खाते-पीते तथा समस्त क्रियाओं में भगवान के स्वरूप में वृत्ति रखने का अभ्यास करना चाहिए। ऐसा करते रहने पर वह भगवद्भजन के लिए बैठेगा, तो उस वक्त उसकी वृत्ति भगवान में स्थिर हो जाएगी। भगवान की ओर जिसका मन इस तरह लग गया तो कामकाज के समय भी उसकी वृत्ति भगवान में बनी रहेगी। परंतु जो ग़फ़लत में रहनेवाला हो, उसका मन तो भजन के समय भी भगवान में मन स्थिर नहीं रह पाएगा। इसलिए, भगवान के भक्त को सावधान होकर भगवान के स्वरूप में अपनी वृत्ति लगाए रखने

का अभ्यास करते रहना।' इतनी बात करके श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब कीर्तन करिए।'

॥ इति वचनामृतम् ॥22॥

वचनामृत 23 : ब्रह्म-स्थिति को पाना; पानी का घड़ा ढालने के बजाए उंगली सी जलधारा बहाए रखना

संवत् 1876 में पौष शुक्ला पंचमी (21 दिसम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। श्रीजीमहाराज ने सिर पर सफ़ेद फेंटा बाँधा था तथा श्वेत अंगरखा पहना था। वे सफ़ेद चूड़ीदार पाजामा पहने हुए थे। उन्होंने कटि पर कुसुंभी रंग का शेला कसकर बाँध रखा था। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में परमहंस तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

श्रीजीमहाराज करुणा करके परमहंसों के सामने कहने लगे कि **'वासुदेवमाहात्म्य नामक ग्रन्थ हमें अत्यन्त प्रिय है,** क्योंकि इस ग्रन्थ में भगवद्भक्तों के लिए भगवान का भजन करने की विधि बताई गई है। और भगवान के भक्त दो प्रकार के हैं। इनमें से एक प्रकार का वह भक्त है, जिसका भगवान सम्बंधी निश्चय तो यथार्थ है, परन्तु वह देहात्मबुद्धि सहित भगवान का भजन करता है। **दूसरा भक्त तो अपना स्वरूप जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों देहों से परे चैतन्य-रूप समझता है और अपने स्वरूप में भगवान की मूर्ति को धारण करके भगवद्भजन करता है; फिर तीनों अवस्थाओं और शरीरों से परे अपने स्वरूप को अतिशय प्रकाशमान देखता है और उसी प्रकाश में उसे प्रकट प्रमाण भगवान की मूर्ति अतिशय देदीप्यमान दिखायी पड़ती है। ऐसी स्थिति उसे प्राप्त हो जाती है; और जब तक ऐसी स्थिति नहीं हुई, तब तक भगवान के भक्त होते हुए भी उसके सिर पर विघ्न मँडराता रहता है।**

और ऐसी स्थिति में शिवजी नहीं रह पाए तो मोहिनी स्वरूप को देखकर मोहित हो गए थे और ब्रह्माजी ऐसी स्थिति में नहीं रह पाए, तो वे सरस्वती पर मुग्ध हुए थे, नारदजी भी इस स्थिति के अभाव के कारण

विवाह करने के लिए लालायित हो उठे थे; तथा इन्द्र एवं चन्द्रादि को भी ऐसी स्थिति नहीं प्राप्त होने के कारण कलंकित होना पड़ा। अत: भगवान का भक्त होने पर भी यदि इस स्थिति तक नहीं पहुँच पाया, तो भगवान के स्वरूप में भी वह प्राकृतभाव देखने लगता है।

जैसे राजा परीक्षित ऐसे भक्त नहीं थे, तो उन्हें भगवान की रास-क्रीड़ा की बात सुनकर श्रीकृष्ण भगवान पर संशय उत्पन्न हो गया, जब कि शुकदेवजी ऐसे भक्त थे, तो उनके मन में भगवान के प्रति किसी भी प्रकार का संदेह नहीं हुआ। अत: जो ऐसा भक्त होता है, वह तो यह समझता है कि 'यदि मुझे भी कोई दोष छू नहीं सकता, और मेरे मार्ग में बाधक नहीं बन सकता, तब मैं जिनके भजन से ऐसा हुआ हूँ, उन भगवान में तो कोई मायिक दोष संभव ही कैसे हो हो सकता है?' ऐसा दृढ़रूप से समझता है।

और ऐसा जो भगवद्भक्त है, वह भगवान की मूर्ति में जब अपनी मनोवृत्ति रखता है, तब उस वृत्ति के दो भाग हो जाते हैं। इनमें से एक वृत्ति तो भगवान के स्वरूप में रहती है तथा दूसरी वृत्ति भजन करनेवाले में (आत्मा में) बनी रहती है। भगवान के स्वरूप में रहनेवाली वृत्ति प्रेममय वृत्ति रहती है, तथा भजन करनेवाले आत्मा में जो वृत्ति रहती है, वह विचारयुक्त हुआ करती है। और यह वृत्ति भजन के सिवा जो भी अन्य संकल्प-विकल्प होते हैं, उन सभी को मिथ्या कर डालती है तथा भजन करनेवाले के दोषों को मिथ्या कर डालती है। इस प्रकार उसकी वृत्ति भगवान में निरंतर रहा करती है। और जो जीव कभी तो एकाग्रचित्त होकर भगवान का भजन करता है, और कभी अन्य क्रियाओं में वृत्तियों को भटकाता फिरता है, उसे तो ऐसी स्थिति प्राप्त नहीं होती।

जैसे पानी का घड़ा एक जगह खाली कर दिया जाए और दूसरे या तीसरे दिन भी उसी स्थान पर एक घड़ा पानी डाला जाए, तो क्या वहाँ जल से भरी हुई झील बन जाएगी? नहीं, क्योंकि प्रथम दिन का पानी दूसरे दिन तक और दूसरे दिन का पानी तीसरे दिन तक सूख जाएगा। परन्तु यदि उँगली-जैसी छोटी-सी पानी की पतली धारा भी निरंतर बहती हो तो वहाँ धीरे-धीरे बड़ी-सी झील भर जाती है! उसी तरह खाते-पीते, चलते-फिरते तथा शुभ-अशुभ क्रिया में सदैव भगवान के प्रति निरंतर वृत्ति रखना, तभी

ऐसी दृढ़ स्थिति हो जाती है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥23॥

वचनामृत 24 : ज्ञान की स्थिति; माहात्म्य की खटाई

संवत् 1876 में पौष शुक्ला षष्ठी (22 दिसम्बर, 1819) को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उनके सिर पर सफ़ेद फेंटा बंधा हुआ था और उन्होंने श्वेत धोती पहनी थी, गरम पोश की लाल बगलबंडी पहनी हुई थी और सफ़ेद शाल ओढ़ी थी। उनके समक्ष सभा में परमहंस तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

श्रीजीमहाराज परमहंसों से बोले, 'ज्ञान द्वारा जो स्थिति होती है, उसे बताते हैं। **वह ज्ञान कैसा है? तो वह प्रकृति-पुरुष से परे है।**[36] **और जब उस ज्ञान में स्थिति होती है, तब प्रकृति-पुरुष और उनका कार्य कुछ भी दिखाई नहीं देता।** और उसे ज्ञानप्रलय कहते हैं। जिसकी ऐसी स्थिति होती है, उसे एकरस चैतन्य का अनुभव होता है, फिर उस चैतन्य में केवल भगवान की मूर्ति ही रहती है, अन्य दूसरा आकार नहीं रहता। कभी तो उस प्रकाश में भगवान की मूर्ति भी नहीं दिखाई देती, अकेला प्रकाश ही दिखाई पड़ता है। और कभी तो प्रकाश भी दिखता है, तथा भगवान की मूर्ति भी दिखायी पड़ती है। इसी स्थिति को ज्ञान द्वारा प्राप्त स्थिति कहते हैं। भगवान की मूर्ति जैसी प्रत्यक्ष रूप में दिखती है, उसी मूर्ति में अखंडितरूप से वृत्ति रहने पर ऐसी स्थिति होती है। जिसे भगवान की जितनी महिमा समझ में आयी हो, उसके हृदय में उतना ही प्रकाश होता है और उसे उतना ही प्रणव-नाद सुनायी देता है। इसी प्रकार जिसे भगवान सम्बंधी जितना निश्चय होता है और उनकी जितनी महिमा समझ में आती है, उसके उतने ही बुरे संकल्प समाप्त हो जाते हैं।

जब भगवान का यथार्थरूप में निश्चय हो जाता है तथा यथार्थ रूप में

36. यहाँ ज्ञान शब्द से ब्रह्मस्वरूप सत्पुरुष का बोध होता है। क्योंकि प्रकृति पुरुष से पर परमात्मा के पश्चात् मोक्ष के साधनरूप अक्षरब्रह्म ही रहता है। उनके समागम से ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है, जिससे आत्मा में केवल परमात्मा ही रहता है।

उनकी महिमा समझ में आ जाती है, तब उसके बुरे संकल्प बिल्कुल मिट जाते हैं। जिस प्रकार नींबू की एक फांक चूसने से दाँत थोड़े खट्टे पड़ जाते हैं, फिर भी चने धीरे धीरे चबाये जा सकते हैं, किन्तु मूँग का दाना बड़ी कठिनाई से चबाया जा सकता है। और अगर बहुत नींबू चूस डाले, तब तो ढीला भात तक नहीं खाया जा सकता। उसी तरह जिसे भगवान सम्बंधी निश्चय तथा माहात्म्यरूपी खटाई लग चुकी हो, तो उसकी चार अन्तःकरण एवं दस इन्द्रियरूपी डाढ़ें खट्टी हो जाती हैं। तब वह जीव मनरूपी अपनी डाढ़ द्वारा विषयों के संकल्परूपी चने चबाने में समर्थ नहीं होता! और वह चित्तरूपी अपनी डाढ़ से विषय का चिन्तन करने में असमर्थ हो जाता है, तथा बुद्धिरूपी अपनी डाढ़ से विषयभोग आदि विपरीत निश्चय करने में समर्थ नहीं होता, एवं अहंकाररूपी अपनी डाढ़ द्वारा विषय सम्बंधी अभिमान करने में समर्थ नहीं होता है।

इसके उपरांत पंच-ज्ञानेन्द्रिय एवं पंच-कर्मेन्द्रियरूपी जो डाढ़ें हैं, उनके द्वारा उन-उन इन्द्रियों के विषयरूपी चने चबाने में भी समर्थ नहीं होता। जिन्हें भगवान का यथार्थरूप में निश्चय न हुआ हो तथा भगवान की महिमा यथार्थरूप में समझ में न आई हो, उनकी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण अपने-अपने विषयों से संपूर्णतया निवृत्त नहीं हो पाते।

भगवान का स्वरूप माया और माया के गुणों से परे है, समस्त विकारों से रहित है, तो भी वे जीव के कल्याण के लिए मनुष्य के समान दिखते हैं। ऐसे भगवान में जो मन्द मतिवाले लोग होते हैं, वे जिन-जिन दोषों की कल्पना करते हैं, उनमें से कोई भी दोष भगवान में नहीं हैं, किन्तु इस प्रकार की कल्पना करनेवालों की बुद्धि में से ये दोष कभी भी मिटनेवाले नहीं हैं। उसमें भी भगवान को जो कामी समझता है, वह अत्यन्त कामी हो जाता है, भगवान को जो क्रोधी समझता है, वह अत्यन्त क्रोधी हो जाता है, भगवान को जो लोभी समझता है, वह अत्यन्त लोभी हो जाता है तथा भगवान को जो ईर्ष्यालु समझता है, वह अत्यन्त ईर्ष्यालु हो जाता है। जो व्यक्ति भगवान पर इस प्रकार का दोषारोपण करते हैं, वे तो जैसे 'सूर्य के ऊपर फेंकी हुई धूल लौटकर अपनी आँखों में ही पड़ती है' उस प्रकार स्वयं को ही दुःखी बना लेते हैं और जिन दोषों की कल्पना उसने भगवान में की थी वही दोष

उसे ही पीड़ा देने लगते हैं! **अपने आपमें चाहे कैसे भी बुरे स्वभाव हों, पर यदि वह भगवान को अतिशय निर्दोष समझें तो स्वयं भी अत्यन्त निर्दोष (दोषरहित) हो जाता है।'**

फिर ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा, 'यदि किसी भी विषय में अपनी इन्द्रियाँ आकर्षित न होती हों तथा अन्त:करण में भी अशुभ संकल्प न रहते हों तथा भगवान का निश्चय भी यथार्थरूप से रहता हो, फिर भी यदि भीतर अपूर्णता रहती है और अन्त:करण सूना रहता है, तो इसका क्या कारण है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'यह भी उस हरिभक्त में एक बड़ी कमी है, कि उसका मन यद्यपि स्थिर हो चुका है तथा भगवान के प्रति निश्चय भी दृढ़ है, फिर भी हृदय में ऐसा अतिशय आनन्द नहीं आता कि 'मैं धन्य हूँ और कृतार्थ हुआ हूँ। संसार के जीव (लोग) तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा तथा तृष्णा से परेशान होते फिरते हैं और त्रिविध तापों से रात-दिन जलते रहते हैं, किन्तु मुझे तो प्रकट पुरुषोत्तम ने करुणा करके अपने स्वरूप की पहचान करवाई है, तथा काम-क्रोधादि समस्त विकारों से मुक्त कर दिया है तथा मुझे नारद-सनकादिक जैसे सन्तों के सत्संग में रखा है, इसलिए मेरा धन्य भाग्य है।' इस प्रकार का विचार नहीं करता और आठों पहर अतिशय आनन्दमग्न नहीं रहता, यह उसकी बड़ी कमी है।

जिस प्रकार से बालक के हाथ में चिन्तामणि दे दिया हो, किन्तु उसे उसका महत्त्व प्रतीत नहीं होता और उसे उसका आनन्द नहीं मिल पाता। उसी प्रकार वह हरिभक्त यह नहीं समझ पाता कि मुझे भगवान पुरुषोत्तम मिले हैं और मेरे अन्त:करण में मुझे आठों प्रहर खुमार नहीं रहता कि 'मैं पूर्णकाम हुआ हूँ।' ऐसा नहीं समझता, वह हरिभक्त में सबसे बड़ी कमी है। और जब कभी किसी हरिभक्त का दोष दिखाई दे, तब यही समझना कि 'यद्यपि इसका स्वभाव सत्संग में शोभास्पद नहीं है, तथापि उसे सत्संग प्राप्त हुआ है, तो वह चाहे साधारण ही क्यों न हो, परन्तु वह सत्संग में पड़ा रहा है, तो उसके पूर्वजन्म का अथवा इस जन्म का संस्कार बहुत बड़ा है, अत: उसे ऐसा सत्संग मिला है।' ऐसा समझकर उसका भी अतिशय गुण ग्रहण करना चाहिए।' इतनी वार्ता करके श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने निवास पर पधारे।

॥ इति वचनामृतम् ॥24॥

वचनामृत 25 : बीस मोट का प्रवाह; चित्तवृत्ति का निरोध

संवत् 1876 में पौष शुक्ला सप्तमी (23 दिसम्बर, 1819) को प्रात:काल श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में परमहंसों के स्थान पर पधारे। उन्होंने सफ़ेद धोती धारण की थी। श्वेत शाल ओढ़ी थी, सफ़ेद फेंटा बाँधा था और वे पश्चिमी द्वार के बरामदे में पूर्वाभिमुख होकर विराजमान थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में परमहंस तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

श्रीजीमहाराज कृपा करके बोले, 'भगवान का भक्त स्वधर्म से युक्त हो फिर भी उसको अपने हृदय में यथार्थ पूर्णकामता अनुभव नहीं होती। **पूर्णकामता तो आत्मनिष्ठा एवं भगवान के माहात्म्य के ज्ञान से ही अनुभव होती है। इन दोनों में जितनी न्यूनता रहती है, उतनी ही न्यूनता पूर्णकामता में भी रहती है।** अत: भगवान के भक्त को इन दोनों साधनों को दृढ़तापूर्वक सिद्ध कर लेना चाहिए। इन दोनों में जितनी कमी रहती है, वह समाधि में भी उतनी ही बाधक बन जाती है।

हाल में ही हमने एक हरिभक्त (स्त्री) को समाधिस्थ किया था। उस स्थिति में उसे अतिशय तेज दिखाई दिया। उसे देखकर वह चीखने लगी और बोली कि 'मैं जल रही हूँ।' अत: समाधिवाले को भी आत्मज्ञान की आवश्यकता अनिवार्यरूप से रहती है। यदि वह अपने स्वरूप को आत्मा न समझकर 'देह' ही मानता है, तो उसमें बहुत कचाई-अपूर्णता रह जाती है। फिर हमने उस हरिभक्त को समझाया कि 'तुम्हारा स्वरूप देह नहीं, बल्कि आत्मा है। तथा 'लाडकीबाई' नाम एवं भाट जाति की देह तुम्हारा वास्तविक रूप नहीं है। अछेद्य तथा अभेद्य आत्मा ही तुम्हारा स्वरूप है।' बाद में हमने उसे समाधि कराकर बताया कि 'गणपति के स्थान में चार पंखुड़ीवाले कमल के पास जाकर तुम अपने स्वरूप को देखो। और जब समाधिवाला गणपति के स्थान में जाता है, तब उसे वहाँ नाद सुनाई पड़ता है और प्रकाश दिखाई देता है। फिर उससे परे ब्रह्मा के स्थान में जाने पर और भी अधिक नाद सुनाई पड़ता है तथा अधिक प्रकाश भी दिखाई पड़ता है। फिर उससे परे विष्णु के स्थान में जाता है, तब उसे उससे भी अधिक नाद और तेज क्रमश:

सुनाई और दिखाई पड़ते हैं।[37]

इस प्रकार ज्यों-ज्यों वह ऊर्ध्वगति करता है, त्यों-त्यों उसे तीव्र नाद सुनाई पड़ता है और अधिकाधिक प्रकाश दिखाई पड़ता है। इस तरह समाधि में अतिशय तेज दिखाई पड़ता है, तथा अत्यधिक नाद सुनाई पड़ने लगता है और बहुत अधिक कड़ाके होते हैं, ऐसे समय में चाहे कितना ही अधिक धैर्यवान हो, फिर भी उसमें कायरता आ जाती है। यद्यपि अर्जुन भगवान के अंश थे तथा महाशूरवीर भी थे, फिर भी वे भगवान के विश्वरूप को देखने में समर्थ नहीं हुए। वे बोले कि 'हे भगवन्! मैं इस रूप को देखने में समर्थ नहीं हूँ। इसलिए, आप अपने पूर्व-रूप के दर्शन कराइए। इस प्रकार समाधि में जब ऐसे समर्थ व्यक्ति को भी ब्रह्मांड फट जाने के समान कड़ाके सुनाई पड़ते हैं और जिस प्रकार समुद्र के अमर्यादित होने पर प्रचंड जलप्रवाह को देखकर डर लगता है, उसी तरह प्रचंड तेज के समूह को भी देखकर धैर्य नहीं रहता। इसलिए, अपने स्वरूप को देह से भिन्न समझना चाहिए। इस तरह जो समाधि होती है, उसके दो प्रकार होते हैं। पहला प्रकार वह है कि प्राणायाम करने से प्राण का निरोध होता है और उसके साथ-साथ चित्त का भी निरोध हो जाता है। दूसरा प्रकार यह कि चित्त के निरोध से प्राण का निरोध हो जाता है। चित्त का निरोध तब होता है, जब सब स्थानों से वृत्ति हटकर एक भगवान में जुड़ जाए। और यह वृत्ति भगवान में तभी जुड़

37. गणपति तथा विष्णु आदि के स्थान सम्बंधी जानकारी : आधार आदि छः चक्र तथा सातवें ब्रह्मरंध्र का वर्णन, योगशिखोपनिषद् के संदर्भानुसार (1/168-175) दिया गया है :

क्रम	चक्र का नाम	कमल की पांख	देवता	शरीर में स्थान
1.	आधार (मूलाधार)	चार पंखुड़ीवाला कमल	गणपति	लिंग तथा गुदा के मध्य के बीच
2.	स्वाधिष्ठान	छः पंखुड़ीवाला कमल	ब्रह्मा	लिंग के पास
3.	मणिपूर	दस पंखुड़ीवाला कमल	विष्णु	नाभि के पास
4.	अनाहत	बारह पंखुड़ीवाला कमल	शिव	हृदय के पास
5.	विशुद्ध	सोलह पंखुड़ीवाला कमल	जीवात्मा	कंठ के पास
6.	आज्ञाचक्र	दो पंखुड़ीवाला कमल	गुरु	भ्रूकुटी के मध्य में
7.	ब्रह्मरंध्र	हज़ार पंखुड़ीवाला कमल	परमात्मा	मस्तिष्क में

पाती है, जब सभी स्थानों से वासना मिटकर एक भगवान के स्वरूप की ही वासना हो जाए। ऐसा होने पर चित्त की वृत्ति को कोई हटाने का प्रयत्न करे, फिर भी वह भगवान से नहीं हट सकती।

जिस तरह किसी कुएँ पर बीस मोट (चरसा) चलते हों और प्रत्येक का प्रवाह भिन्न-भिन्न दिशा में जाता हो, तो उन प्रवाहों में शक्ति नहीं रहती, परन्तु यदि इन बीस मोटों के प्रवाह को मिला दिया जाए, तो उसमें नदी के समान इतना तीव्र प्रवाह होता है कि वह किसी के हटाने पर भी नहीं हटता। उसी प्रकार, जिसकी वृत्ति निर्वासनिक होती है, उसका चित्त भगवान के स्वरूप में लग जाता है। परन्तु जिसके चित्त में संसार के सुखों की वासना हो, उसकी वृत्ति श्रोत्र-इन्द्रिय द्वारा अनन्त प्रकार के शब्दों में अलग-अलग होकर बिखर जाती है। उसी प्रकार, त्वचा-इन्द्रिय द्वारा हज़ारों प्रकार के स्पर्शों में अलग-अलग होकर वह फैल जाती है। इसी तरह नेत्रेन्द्रिय की वृत्ति हजारों प्रकार के रूपों में, रसनेन्द्रिय की वृत्ति हजारों प्रकार के रसों में, नासिका (घ्राण) इन्द्रिय की वृत्ति हजारों प्रकार की गंधों में फैल जाती है। इस तरह कर्म इन्द्रियों की वृत्तियाँ भी अपने-अपने विषयों में हजारों प्रकार से फैल जाती हैं। वैसे दसों इन्द्रियों के द्वारा उसका अन्तःकरण हज़ारों प्रकार की वृत्तियों में बिखर गया है। अतः चित्त जब भगवान का ही चिन्तन करे, मन भगवान का ही संकल्प करे, बुद्धि भगवान के स्वरूप का ही निश्चय करे और अहंकार 'मैं आत्मा हूँ तथा भगवान का भक्त हूँ', ऐसा अभिमान करे, तब उसकी 'एक' ही वासना हुई समझें।

और प्राण से चित्त का निरोध अष्टांगयोग द्वारा होता है। अष्टांगयोग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि इन आठ अंगों से युक्त होता है। यह अष्टांगयोग तो साधनरूप है तथा उसकी फलश्रुति है भगवान के स्वरूप में निर्विकल्प समाधि! जब ऐसी निर्विकल्प समाधि होती है, तब प्राण के निरोध से चित्त का निरोध होता है। और यदि चित्त निर्वासनिक होकर भगवान में लग जाता है, तब उस चित्त के निरोध से प्राण का निरोध होता है। अतः जिस प्रकार अष्टांगयोग की सिद्धि से चित्त का निरोध होता है, वैसे ही भगवान के स्वरूप में जुड़ जाने से चित्त का निरोध होता है। इसलिए जिस **भक्त की चित्तवृत्ति भगवान के**

स्वरूप में जुड़ गई, तो मान लीजिए उसे अष्टांगयोग की सिद्धि, बिना साधना के ही सिद्ध हो गई है। अत: हमने आत्मनिष्ठा तथा भगवान के माहात्म्यज्ञानरूपी जो दो साधन बताए हैं, उनमें दृढ़ता रखें; और धर्म-मर्यादा अर्थात् भगवान की आज्ञा का पालन अवश्य करें। जिस प्रकार नहाना-धोना और पवित्रतापूर्वक रहना आदि ब्राह्मण का धर्म है, वह कभी शूद्र के घर का पानी भी नहीं पीता इसे वह अपना धर्म समझता है। उसी तरह सत्संगी को भगवान की आज्ञा के पालन में कभी न्यूनता नहीं बरतनी चाहिए। क्योंकि जो आज्ञा का पालन करता है, उस पर भगवान प्रसन्न हो जाते हैं। तथा भगवान का माहात्म्य-ज्ञान तथा वैराग्यसहित आत्मज्ञान - दोनों गुणों में अतिशय दृढ़ता रखें एवं स्वयं को पूर्णकाम हुए समझें कि 'अब मुझमें कोई कमी नहीं है।' इस प्रकार समझकर निरन्तर भगवान की भक्ति करनी चाहिए। तथा ऐसी समझ के मद से कभी उन्मत्त भी नहीं होना और स्वयं को अकृतार्थ भी नहीं मानना चाहिए। यदि वह स्वयं को अकृतार्थ मानेगा तो समझ लें कि उसके ऊपर भगवान की कृपा तो हुई, किन्तु क्षारभूमि में बोया गया बीज उगा ही नहीं, तथा उन्मत्त होने पर जैसा-तैसा बरतने लगा तो यह समझना कि अग्नि में डाला गया बीज जैसे जल गया! अत: हमने जिस प्रकार बताया उसी प्रकार जो समझता है, उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रहती।' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज अपने निवास पर पधारे।

॥ इति वचनामतम् ॥25॥

वचनामृत 26 : रसिक भक्त; निर्गुणभाव

संवत् 1876 में पौष शुक्ला एकादशी (27 दिसम्बर, 1819) को दोपहर के समय श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कक्षों के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सिर पर सफ़ेद पाग बाँधी थी, सफ़ेद धोती धारण की थी, सफ़ेद शाल ओढ़ी थी, दोनों कानों पर गुलदावदी के बड़े-बड़े दो पुष्प खोंसे थे और पाग में पुष्पों का तुर्रा लगाया था। उनके मुखारविन्द के समक्ष स्थान-स्थान के परमहंस तथा हरिभक्त बैठे थे। कुछ परमहंस पखावज लेकर कीर्तन कर रहे थे।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब कीर्तन बन्द करिये और हम ज्ञान-

वार्तारूपी जो कीर्तन करते हैं उसे सुनिये।'

परमहंसों ने कहा, 'महाराज! बहुत अच्छा, आप बात करिये।'

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान के रसिक कीर्तन गाते हुए यदि एकमात्र भगवान के स्वरूप में ही रस का अनुभव करें तो ठीक है। किन्तु यदि भगवान के स्वरूप को छोड़कर किसी दूसरे स्थान पर (स्त्री आदि विषयों में) रस का अनुभव करें तो उसमें बड़ा दोष[38] है।

क्योंकि, ऐसे भक्त को जिस प्रकार भगवान के शब्द के प्रति प्रेम होता है और उनके ही शब्दों में रस मालूम पड़ता है, वैसा ही रस सांसारिक गीतों और वाद्यतंत्रों के स्वर में अथवा स्त्री आदि के शब्दों में मालूम होने लगता है और उन्हीं से लगाव हो जाता है। ऐसे भक्त को अविवेकी समझना। भगवान अथवा उनके सन्त के वचनों में जैसा रसानुभव होता है वैसी ही समान रसानुभूति यदि उस भक्त को अन्य सांसारिक शब्दों में होती हो, तो ऐसी मूर्खता का परित्याग कर देना चाहिए। ऐसी मूर्खता को छोड़कर एकमात्र भगवान के शब्द में ही आनन्द मानना चाहिए। और ऐसा जो रसिक भक्त है, वही सच्चा भक्त है। शब्द की तरह स्पर्श भी एकमात्र भगवान का ही हो ऐसी इच्छा रखे और अन्य स्पर्श को काले साँप तथा जलती अग्नि के समान समझे, तभी जानना कि वह पक्का रसिक भक्त है!

इसके अतिरिक्त भगवान के रूप को देखकर जो भक्त आनन्दित होता है, उनके अलावा अन्य सभी रूप, उसे सड़े हुए कुत्ते के समान या नरक के ढ़ेर के समान लगे, वही पक्का रसिक भक्त है। उसी प्रकार भगवान के महाप्रसाद से ही जो परम आनन्द प्राप्त करे, परन्तु संसार के नाना प्रकार के अन्य रसों से आनन्दित न हो वही रसिक भक्त सच्चा! और भगवान को समर्पित तुलसी, पुष्पहार तथा नाना प्रकार की सुगंधवाले इत्र और चन्दन आदि सुगंध को ग्रहण करके जो भक्त परम आनंदित हो, परन्तु किसी अन्य विषयी जन ने अपने शरीर पर लगाए इत्र-चन्दन तथा उसके पहने हुए पुष्पहारों की सुगन्ध से जो भक्त राज़ी होता ही न हो, तो समझिए कि वह रसिक भक्त सच्चा है। इस प्रकार भगवान सम्बंधी पंचविषयों में अतिशय प्रीति करनेवाला तथा जगत सम्बंधी पाँच विषयों से अत्यन्त अनासक्त

38. अपने कल्याण के मार्ग से च्युत होने रूप दोष।

रहनेवाला ही सच्चा रसिक भक्त है।

और रसिक भक्त होकर वह जैसे भगवान सम्बंधी विषय के योग से आनंद पाता है, उसी प्रकार जगत सम्बंधी अन्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध के भोग से आनन्दित होता है, तो वह झूठा रसिक भक्त है। क्योंकि जिस प्रकार वह भगवत्सम्बंधी विषय में आनन्दित हुआ, ठीक उसी प्रकार जगत्सम्बंधी विषयों में भी वह प्रसन्न हुआ!! इसलिए, ऐसी झूठी रसिकता को और ऐसी उपासना को मिथ्या कर डालना चाहिए, क्योंकि भगवान का स्वरूप तो सत्य है, किन्तु ऐसे भक्त का भाव झूठा है, वजह यह है कि उसने जिस तरह अन्य पदार्थों को समझा, उसी प्रकार भगवान को भी मान लिया, इसलिए उसकी भक्ति तथा रसिकता मिथ्या कही गई।

जैसे स्थूल देह तथा जाग्रत अवस्था में पंचविषयों का विवेक बताया, वैसे ही अब सूक्ष्म देह और स्वप्नावस्था में सूक्ष्म पंचविषयों का भोग रहता है, उसके विषय में बताते हैं - जिसे स्वप्न में जब भगवान की मूर्ति को देखकर भगवान सम्बंधी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध द्वारा जैसा आनन्द प्राप्त होता है, वैसा ही सुख यदि स्वप्न में अन्य पंचविषयों को देखकर मिलने लगता है, तो उस भक्त की रसिकता झूठी है। और स्वप्न में केवल भगवान के सम्बंध से ही जो भक्त आनन्द पाता हो और अन्य विषयों का तो वमन किए गए अन्न की तरह जिसे अभाव रहता हो, तो वह रसिक भक्त सच्चा है। यदि ऐसी समझ न हो तो समझना कि उसे जो भगवान स्वप्न में दिखायी पड़े, वे स्वरूपतः सच्चे हैं, परन्तु उस भक्त को भगवान के प्रति जैसा प्रेम हो, वैसा ही प्रेम अन्य विषयों में भी है। अतः उसकी समझ मिथ्या है। और जो भक्त एकमात्र भगवान के स्वरूप में ही लुब्ध बनकर रहे और अन्य विषयों में आसक्त न हो, ऐसी समझ सच्ची है।

और जब भक्त को केवल भगवान का ही चिन्तन रहता है, तब ऐसा चिन्तन करते-करते वह शून्य-भाव (अवस्था) को प्राप्त हो जाता है, तब उस भक्त को भगवान की मूर्ति के सिवा पिंड एवं ब्रह्मांड आदि कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता। फिर ऐसे शून्य में भगवान की मूर्ति को देखने के प्रयास में प्रकाश दिखाई देता है, फिर उस प्रकाश में भगवान की मूर्ति दृश्यमान होती है। इसलिए, जिसे केवल भगवान के स्वरूप में ही प्रीति रहती हो वही

पतिव्रता की भक्ति है।

जब भी आप लोग रसिक भजन-कीर्तन गाते हैं, तब हम भी आँखें मूँदकर यही चिन्तन करते हैं। चाहे भले ही हमारा विचार थोड़ा ही है, किन्तु उन विचारों की धारा में भगवान के सिवा अन्य कुछ भी टिक नहीं सकता। भगवान के स्वरूप में रही हमारी रसमय प्रीति में यदि कोई विषय रुकावट डालने के लिए उपस्थित हो जाए, तो उस विषय का सिर कट जाए, ऐसा हमारा बलवान् विचार है। जिस प्रकार आप लोग भजन की रचना करते हैं, उसी प्रकार हमने भी आज जो बात कही, उसी का वार्तारूपी कीर्तन संजोकर रखा है और उसी का वर्णन आपके सामने किया है।' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने स्वयं को निमित्त बनाकर अपने भक्तों के लिए इस बात को विस्तार से समझाया।

॥ इति वचनामृतम् ॥26॥

वचनामृत 27 : भगवान निरंतर निवास करके रहे ऐसी समझ

संवत् 1876 में पौष शुक्ला द्वादशी (28 दिसम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज सूर्योदय के पूर्व श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में परमहंसों की जगह पर पधारे थे। उन्होंने सिर पर सफ़ेद फेंटा बाँधा था, श्वेत चादरा ओढ़ा था और धोती धारण की थी। वे पश्चिम की ओर मुखारविंद करके चबूतरे पर विराजमान थे। उनके समक्ष सभा में परमहंस बैठे हुए थे।

उस समय श्रीजीमहाराज आधी घड़ी तक अपनी नासिका के अग्रभाग की ओर देखते रहे, फिर बोले, 'परमेश्वर की भक्ति करने की सबकी इच्छा रहती है, किन्तु समझ में भेद रहता है। इसलिए, जिसकी इस प्रकार की समझ हो, तब उसके हृदय में भगवान समस्त प्रकार से निवास करते हैं। उस समझ का विवरण यह है कि -

जो ऐसा समझता हो कि 'जिनके रखने से यह पृथ्वी स्थिर रहती है और डुलाये जाने पर डोलती है; जिनके द्वारा रखे जाने पर तारामंडल ऊँचे टिका रहता है; जिनके बरसाने पर मेघ से वर्षा होती है; जिनकी आज्ञा से सूर्य और चन्द्र का उदय एवं अस्त होता है तथा चंद्र की कला घटती-बढ़ती है; तथा बिना पाल के समुद्र अपनी मर्यादा में रहता है; तथा जल के

बिन्दु से मनुष्य उत्पन्न होता है और उसके हाथ, पैर, नाक, कान आदि दस इन्द्रियाँ निर्मित हो जाती हैं; एवं अंतरिक्ष में जल यूं ही बिना आधार रख छोड़ा है तथा उसमें गड़गड़ाहट होती है और बिजली चमकती है - ऐसे अनन्त आश्चर्य हैं, वह मुझको प्राप्त हुए भगवान के द्वारा होते हैं।' जो ऐसा समझता है, परन्तु प्रकट प्रमाण जो भगवान है उसके सिवा अन्य कोई भी इन आश्चर्यों का करनेवाला नहीं है, ऐसा मानता है तथा 'पूर्व काल में जो-जो आश्चर्य हुए हैं, अभी भी जो हो रहे हैं और भविष्य में भी जो होंगे, वह मुझे प्रकट मिले भगवान के द्वारा ही होते हैं, ऐसा समझे। और फिर उसमें ऐसी समझ हो कि 'चाहे कोई मुझ पर धूल डाले, चाहे कोई कितना ही अपमान करे, चाहे कोई हाथी पर बैठाये और चाहे कोई नाक-कान काटकर गधे पर बैठाये, ऐसी समस्त क्रियाओं में भी मुझे समान भाव है।'

तथा जिसे रूपवती यौवना अथवा कुरूप स्त्री या वृद्धा तीनों में भी समभाव रहता है; और जो स्वर्ण का ढेर या पत्थरों का ढेर दोनों को एक ही समान समझता है; इस प्रकार के **ज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदि अनेक शुभगुणों से सम्पन्न जो भक्त हो, उसके हृदय में भगवान निवास करते हैं। फिर ऐसा भक्त भगवान के प्रताप से अनन्त प्रकार के ऐश्वर्यों को प्राप्त करता है और असंख्य जीवों का उद्धार करता है। तथा ऐसा सामर्थ्य रखने पर भी वह अन्य जीवों द्वारा किए गए मान एवं अपमान को सहन करता है। ऐसी सहनशीलता भी एक प्रकार का सामर्थ्य ही है, क्योंकि समर्थ होते हुए भी क्षमा करना, किसी से भी सम्भव नहीं हो सकता। अतः ऐसी तितिक्षा-क्षमा रखनेवाले को अति महान समझना।**

तथा वह समर्थ भी कैसा है? तो उसके नेत्रों द्वारा देखनेवाले स्वयं भगवान ही हैं। अतः ब्रह्मांड में जितने प्राणी हैं, उन सबके नेत्रों को प्रकाशवान करने में वह समर्थ होता है। उसके पैरों से चलनेवाले भगवान हैं, अतः वह ब्रह्मांड के समस्त जीवों के पैरों में चलने की शक्ति देने में समर्थ होता है। इसी प्रकार, उस सन्त की सभी इन्द्रियों में भगवान का निवास है, इसलिए वह ब्रह्मांड के समस्त जीवों की इन्द्रियों को प्रकाश देने में समर्थ होता है। अतएव, ऐसे संत संपूर्ण **जगत के आधार-रूप हैं।** वह तुच्छ जीवों द्वारा

किए गए अपमान को सहन करते हैं, यह उनकी अतिशय महानता है।

इस प्रकार समर्थ होने पर भी क्षमाभाव रखनेवाले ही अत्यन्त महान हैं। और जो अपने से गरीब व्यक्ति को आँखें दिखाकर डराता है और मन में समझता है कि 'मैं बड़ा आदमी हो गया हूँ,' परन्तु वह बड़ा नहीं है। अथवा जगत में कोई अपनी सिद्धता दिखाकर लोगों को डराता है, ऐसे जगत में कितने ही जीव हैं, वे भगवान के भक्त नहीं, बल्कि माया के जीव हैं, और यमपुरी के अधिकारी हैं। ऐसे लोगों का जो बड़प्पन है, वह सांसारिक है। जिस प्रकार, संसार में सवारी के लिए घोड़ा नहीं रखनेवाले की अपेक्षा एक घोड़ा रखनेवाले को बड़ा माना जाता है तथा उसकी अपेक्षा पाँच घोड़े रखनेवाले को बड़ा माना जाता है, उसी तरह जिस व्यक्ति के पास ज्यों-ज यों अधिक सम्पत्ति हो, उसे संसार-व्यवहार में लोग 'बड़ा आदमी' कहते हैं। परन्तु भगवान के भजन में उसकी कोई महानता नहीं है। तथा जिसकी मति ऐसी हो, कि 'यह स्त्री तो अतिशय रूपवती है, और यह वस्त्र तो बहुत बढ़िया है, और यह महल तो बहुत सुन्दर है, यह तुम्बी तो बहुत अच्छी है और यह पात्र तो बहुत अच्छा है,' ऐसे गृहस्थ तथा वेशधारी नकली साधु सभी तुच्छ बुद्धिवाले हैं।

तब आप कहेंगे कि उनका कल्याण होगा या नहीं ? तो वस्तुतः कल्याण तो सत्संग में रहनेवाले पामर जीव तक का होता है, परन्तु आगे कही गई ऐसी साधुता उसमें कभी नहीं आ पाती और पहले बताए गए सन्त के गुण उसमें कभी भी नहीं आते, क्योंकि वह सुपात्र नहीं हुआ है।' इस प्रकार वार्ता करके 'जय सच्चिदानन्द' कहकर श्रीजीमहाराज दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास स्थान पर पधारे।

॥ इति वचनामृतम् ॥27 ॥

वचनामृत 28 : अर्धदग्ध काष्ठ; साधना में उत्थान-पतन

संवत् 1876 में पौष शुक्ला चतुर्दशी (30 दिसम्बर, 1819) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष भोजन के लिए साधुओं की पंक्ति बैठी थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जिस सत्संगी का सत्संग से पतन होनेवाला हो, उसमें असद् वासना की वृद्धि होती है तथा उसे सबसे पहले तो दिन-प्रतिदिन सत्संगीमात्र के प्रति दोष-भावना हो जाती है और वह अपने हृदय में ऐसा समझता है कि 'सभी सत्संगी नासमझ हैं, और केवल मैं ही हूँ, जो समझदार हूँ।' इस प्रकार वह सबसे अधिक अपने आपको ही महत्त्वपूर्ण समझता है। ऐसा व्यक्ति रात-दिन अपने हृदय में स्वयं को हताश महसूस करता है और दिन में किसी भी जगह चैन से नहीं बैठ पाता। यदि वह रात में सोये, तो उसे नींद तक नहीं आती तथा उसका क्रोध कभी मिटता ही नहीं और आधे जले हुए काष्ठ की भांति उसका हृदय अर्धदग्ध रहा करता है। जिसकी दशा इस प्रकार की हो जाए, उसे देखकर समझना चाहिए कि 'सत्संग से इसका पतन होनेवाला है।' ऐसी दशा में वह चाहे जितने भी दिन सत्संग में रहे, परन्तु उसे कभी भी आनन्द नहीं मिलता और अन्त में उसका पतन निश्चित ही हो जाता है।

इसके अलावा सत्संग में जिसकी प्रगति होनेवाली हो, उसकी शुभ-वासना में वृद्धि होती है। उसके हृदय में दिन-प्रतिदिन सत्संगीमात्र के प्रति गुणदृष्टि ही रहा करती है और वह सभी हरिभक्तों को महान समझता है, तथा स्वयं को न्यून समझता है। उसके हृदय में आठों प्रहर सत्संग का आनन्द छाया रहता है। जब ऐसे लक्षण हों, तब समझना चाहिए कि 'उसकी शुभवासना में वृद्धि हो चुकी है।' वह ज्यों-ज्यों अधिक सत्संग करता है, त्यों-त्यों उसकी उन्नति अधिक होती जाती है और अतिशय महत्ता को वह प्राप्त करता है।' इस प्रकार बात करके श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने निवास पर पधारे।

॥ इति वचनामृतम् ॥28॥

वचनामृत 29 : धर्मादि बल की वृद्धि का उपाय; प्रारब्ध, कृपा एवं पुरुष-प्रयत्न

संवत् 1876 में पौष शुक्ला पूर्णिमा (31 दिसम्बर, 1819) को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण

की थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी, माथे पर श्वेत पाग बाँधी थी, सफ़ेद पुष्पों के हार पहने थे और दोनों कान पर श्वेत पुष्पों के तुर्रे लटक रहे थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष स्थान-स्थान के साधु तथा हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि, 'प्रश्न पूछिये।'

तब गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि 'धर्म, ज्ञान, वैराग्य सहित भक्ति के बल की वृद्धि किस प्रकार होती है ?'

तब श्रीजीमहाराज ने उत्तर देते हुए कहा, 'उसके लिए चार उपाय हैं, जिनमें से एक तो पवित्र देश, दूसरा पवित्र काल, तीसरी शुभ क्रिया और चौथा सत्पुरुष का संग, ये चार हैं। उनमें क्रिया का सामर्थ्य थोड़ा तथा देश, काल और संग का सामर्थ्य विशेष रहता है; क्योंकि यदि पवित्र देश हो, पवित्र काल हो, और आप जैसे सन्त का संग हो, तो वहाँ क्रिया शुभ ही होती है। और यदि सिन्ध जैसा अपवित्र देश हो, तथा अशुभ काल हो और पतुरियों (वेश्याओं), भडुवों अथवा मद्यपान-मांसभक्षण करनेवालों का संग हो, तो वहाँ क्रिया भी बुरी ही होती है। अत: पवित्र देश में रहना, अशुभ काल का प्रभाव हो, तो उस समय इधर-उधर खिसक कर वहाँ से निकल जाना चाहिए; और संग भी प्रभु के भक्तों का एवं पंचव्रतयुक्त ब्रह्मवेत्ता साधु का ही करना चाहिए; तभी हरिभक्त को परमेश्वर की भक्ति के बल की अतिशय वृद्धि होती है। इस प्रश्न का यही उत्तर है।'

इसके बाद मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज ! किसी हरिभक्त का अन्त:करण पहले तो मलिन-सा रहता हो, और बाद में वह अत्यन्त शुद्ध हो गया, तो क्या उसके पूर्वसंस्कार[39] के कारण ऐसा हुआ ? या भगवान की कृपा के कारण ऐसा हुआ ? अथवा इस हरिभक्त के पुरुषार्थ के कारण शुद्धि हुई ?'

तब श्रीजीमहाराज ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया, 'पूर्वजन्म के संस्कारों के अनुसार, जो अच्छा या बुरा फल मिलता है, वह तो समस्त जगत को ज्ञात हो जाता है। जैसे भरतजी को मृग में आसक्ति हुई, इस दृष्टांत में प्रारब्ध को महत्त्व देना चाहिए। जैसे कोई कंगाल हो, फिर उसे बड़ा राज्य मिले, ऐसा होने पर सब संसार उसे जान पाता है, तब ऐसी घटना को प्रारब्ध

39. पूर्वसंस्कार अर्थात् अगले जन्मों में संचित एवं इस शरीर की उत्पत्ति में कारणभूत प्रारब्ध कर्म।

ही मानना चाहिए।'

इतना कहकर श्रीजीमहाराज ने अपनी बात कही कि, 'हमने जो-जो साधनाएँ की थीं, उनमें किसी भी तरह जीवित रहना संभव नहीं था, फिर भी देह जीवित रह गयी, तो वह भी **प्रारब्ध**[40] ही है। जैसे हम जब श्रीपुरुषोत्तम-पुरी (जगन्नाथपुरी) में निवास करते थे, तब कई मास तक वायुभक्षण करके ही रहे थे। एक बार तो हमने तीन-चार कोस के पाटवाली नदी में अपना शरीर बहता हुआ छोड़ दिया था और शीतकाल, ग्रीष्मकाल तथा चौमासे में हम बिना छाया के मात्र एक कौपीन धारण करके रहते थे। झाड़ी में बाघों, हाथियों और जंगली भैंसों के साथ घूमते-फिरते थे। हमने ऐसे-ऐसे अनेक विकट ठिकानों में भ्रमण किया, तो भी किसी तरह देह नहीं छूटी (मृत्यु नहीं हुई)। यहाँ 'प्रारब्ध' को ही महत्त्व देना चाहिए।

और जैसे सान्दीपनि नामक ब्राह्मण का पुत्र नरक से मुक्त हुआ, तथा जैसे पाँच वर्ष के ध्रुवजी भगवान की स्तुति करने लगे, तब वेदादि के अर्थ उन्हें सहज में ही स्फूर्त हो गए। इस प्रकार अति-शुद्धभाव से प्रसन्न हुए भगवान की इच्छा से तथा उनके वरदान से अथवा अति-शुद्धभाव से प्रसन्न हुए भगवान के एकान्तिक साधु के वरदान से यदि किसी की बुद्धि पवित्र हो जाए, तो उसे भगवान की **कृपा** समझना चाहिए तथा पवित्र साधु के संग से एवं स्वयं अपने विचार के द्वारा जो पवित्र होते हैं, उसे **पुरुषार्थ** कहना चाहिए।' इस प्रकार बात करके 'जय सच्चिदानन्द' कहकर श्रीजीमहाराज हँसते हुए अपने निवास पर पधारे।'

॥ इति वचनामृतम् ॥29॥

वचनामृत 30 : संकल्पों के घाव से निवृत्त होने का उपाय

संवत् 1876 में पौष कृष्णा प्रतिपदा (1 जनवरी, 1820) को सायं-काल श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के निकटवर्ती उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सफ़ेद धोती धारण की थी, श्वेत चादर ओढ़ी थी,

40. भगवान को प्रारब्ध कर्म का सम्बंध न होने पर भी उन्होंने मनुष्यरूप धारण किया है, इसलिए यहाँ 'प्रारब्ध' शब्द से श्रीहरि अपनी बात करते हैं।

सिर पर सफ़ेद फेंटा धारण किया था तथा श्वेत पुष्पों के हार पहने थे। उनके दोनों कानों में श्वेत पुष्पों के तुर्रे लटक रहे थे। उन्होंने सफ़ेद फूलों के बेरवे पहने थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे तथा मुनिमंडल कीर्तन कर रहा था।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब तो प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ कीजिए।' तब श्रीजीमहाराज से दीनानाथ भट्ट ने पूछा कि 'हे महाराज ! कभी-कभार तो सहस्रों संकल्प[41] उठे, किन्तु मन में उनका दंश[42] नहीं बैठता। कभी-कभार तो अल्प संकल्प होने पर भी मन में उस संकल्प का दंश लग जाता है, उसका क्या कारण है ? और भगवान के भक्त के लिए मन के इन संकल्पों से निवृत्त होने का कौन-सा उपाय है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका कारण तो (माया के तीन) गुण हैं। जब तमोगुण की प्रधान अवस्था हो, उस समय मन में संकल्प हुआ, तब सुषुप्ति के समान अवस्था रहती है; अतः संकल्प का दंश चुभता नहीं है। जब सत्त्वगुण की प्रधान अवस्था होती है, तब अंतःकरण प्रकाशित-सा रहता है। अतः उस समय जो भी संकल्प होते हैं, वे ज्ञान द्वारा ही मिथ्या किए जाते हैं। अतः उस समय होनेवाले संकल्पों के भी दंश नहीं जमते! परन्तु जब रजोगुण का प्राधान्य रहता है, तब मन में जो संकल्प होते हैं, उनके दंश मन में गहराई तक उतर जाते हैं। अतः दंश बैठता है अथवा नहीं बैठता है, इसका कारण तो गुणों की वृत्ति है। और कोई बुद्धिमान ही इस बात को समझकर जिस समय पर जो संकल्प हुआ, उसे देखकर अपने भीतर जिस गुण की प्रधानता हो, उसे पहचान सकता है। और घड़ी-घड़ी और पल-पल में जो सूक्ष्म संकल्प होते हैं, वे तो किसी को ज्ञात ही नहीं हो पाते! यदि आप जैसा कोई बुद्धिमान् हो तो दिनभर में दो, तीन, चार स्थूल संकल्पों को पहचान पाता है तथा जिस गुण की प्रधानता के कारण संकल्प होते हैं, उनके सामने दृष्टि रखते हुए, **सत्संग में हो रही भगवान की वार्ता को हृदय में धारे और उसका चिन्तन करे, तो इस सत्संग का प्रताप ऐसा है कि उसे जिस गुण के द्वारा संकल्प होते हों उन संकल्पों की**

41. मायिक विषयभोग को प्राप्त करने के संकल्प।
42. वासना की तीव्रता का असर।

निवृत्ति हो जाती है और निरुत्थान[43] होकर परमेश्वर के स्वरूप का अखंड चिन्तन होने लगता है। बिना सत्संग के कोटि प्रकार की साधना करने पर भी संकल्प तथा रजोगुण आदि गुणों से छुटकारा नहीं मिल पाता। यदि कोई निष्कपट भाव से सत्संग करता है और परमेश्वर की बात को हृदय-स्थ करके उस पर विचार करता है, तो उसके मलिन संकल्प नष्ट हो जाते हैं। अतः सत्संग का प्रताप अतिशय महान है। अन्य कोई भी साधन सत्संग के समान महिमामय नहीं होते; क्योंकि अन्य किसी भी साधना से जिस संकल्प की निवृत्ति नहीं होती, उसकी निवृत्ति सत्संग में होती है। इस कारण को दृष्टिगत रखते हुए, **जिसे रजोगुण सम्बंधी मलिन संकल्प नष्ट करने हों, उसे मन, कर्म तथा वचन द्वारा निष्कपट भाव से सत्संग करना चाहिए,** तभी सत्संग के प्रताप से उन संकल्पों की निवृत्ति हो जाएगी।'

॥ इति वचनामृतम् ॥30॥

वचनामृत 31 : निश्चय द्वारा महत्ता

संवत् 1876 में पौष कृष्णा द्वितीया (2 जनवरी, 1820) को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान के पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में गादी-तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे।

उस समय योगानन्द मुनि ने प्रश्न किया कि 'हे महाराज ! भगवान के भक्त दो प्रकार के होते हैं। उनमें से एक तो निवृत्ति मार्ग[44] को अपनाकर बैठे रहता है, जो किसी को भी अपनी वाणी से दुःख नहीं पहुँचाता। तथा दूसरा भक्त परमेश्वर और उनके भक्तों की अन्न, वस्त्र एवं पुष्पादि से सेवा करता रहता है, किन्तु वचन से किसी को (भगवत्सेवा के निमित्त) कुछ दुःख पहुँचाता है, इन दोनों भक्तों में कौन-सा भक्त श्रेष्ठ है ?'

तब श्रीजीमहाराज ने इसका उत्तर नहीं दिया और मुक्तानन्द स्वामी तथा ब्रह्मानन्द स्वामी को बुलवाकर उन्हें यह प्रश्न सुनवाया। फिर उनसे कहा

---

43. पुनः संकल्प का उत्थान ही न हो ऐसी स्थिति।
44. अपनी वाणी, क्रिया आदि से किसी को भी दुःख न पहुँचे, ऐसे विचारवाला अंतर्मुखी भक्त; भगवत्सेवा भावना से रहित।

कि 'इसका उत्तर आप दीजिए।'

तब इन दोनों ने उत्तर दिया कि 'अपने वचन द्वारा किसी को कुछ दुःख भले ही पहुँचाता हो, किन्तु भगवान अथवा सन्त की जो सेवा करता है, वह श्रेष्ठ है, परन्तु निवृत्तिमार्ग पर चलनेवाला भक्त यद्यपि किसी को दुःख नहीं देता, फिर भी उससे भगवान तथा सन्त की कोई सेवा नहीं हो सकती, तो उसे असमर्थ-सा जानना, और सेवा-चाकरी करनेवाला तो भक्तिमान कहा जाता है, वह भक्तिवाला ही श्रेष्ठ है।'

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह उत्तर ठीक है। और जो ऐसी भक्तिवाला हो, तथा भगवान के वचन में दृढ़ रहता हो, फिर उसमें अल्प मात्रा में भी (कठोर वाणीरूप) दोष दिखायी पड़े और उसे देखकर उसका अवगुण ग्रहण किया जाए, तो यह एक बड़ी कमी है। अगर इस प्रकार दोष देखे, तब जीवों के कल्याण के लिए परमेश्वर ने देह धारण की है, उनके स्वरूप में भी दोष देखनेवाले को भी कमी अवश्य दिखेगी! और वैसे ही भगवान के अति बड़े भक्त में भी उसे अवश्यरूप से दोष दिखाई देगा। परन्तु दोष देखनेवाले ने कमी ढूँढ निकाली, उससे क्या परमेश्वर के अवतार अथवा सन्त कल्याणकारी नहीं रहे? वस्तुतः वे तो कल्याणकारी ही हैं, किन्तु जिसकी दुर्बुद्धि है, उसे सब कुछ उल्टा ही दिखाई पड़ता है। जैसे शिशुपाल कहता था कि 'पांडव तो वर्णसंकर हैं, और पाँच पुरुषों की केवल एक ही स्त्री है, इसलिए वे धार्मिक भी नहीं हैं तथा कृष्ण भी पाखंडी है, क्योंकि उसने जन्मकाल से ही, पहले तो एक स्त्री को मार डाला, इसके बाद बगुले और बछड़े का भी वध कर डाला और मधु (शहद) के छत्ते उखाड़ने के कारण उसे मधुसूदन कहते हैं, परन्तु उसने कोई मधु नामक दैत्य को नहीं मारा! फिर भी वर्णसंकर पांडवों ने उसकी पूजा की, तो क्या वह इससे भगवान हो गया?' इस प्रकार आसुरी बुद्धिवाले शिशुपाल ने भगवान और उनके भक्तों पर दोषारोपण किया, परन्तु जो भगवान के भक्त थे, उन्होंने ऐसा कोई भी दोष ग्रहण नहीं किया। इसलिए, जो अवगुण देखता है, उसे आसुरी बुद्धिवाला ही समझना चाहिए।'

तब मुनियों ने पुनः प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! भगवान के जो महान भक्त होते हैं, उनमें तो कोई अवगुण दिखाई नहीं देता, परन्तु कोई साधारण-

सा हरिभक्त हो, उसका कोई अवगुण तो दिखने में आता है?'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'आप सब जैसा समझते हैं, उस प्रकार किसी की लघुता और महानता नहीं होती है। **महत्ता तो प्रत्यक्ष भगवान के निश्चय से तथा उन भगवान की आज्ञा का पालन करने में है।** जो पुरुष इन दोनों बातों पर ध्यान नहीं देता, वह व्यावहारिक दृष्टि से चाहे कितना ही बड़ा हो, वह छोटा ही रहता है और पहले बताई गयी महत्ता तो आजकल हमारे सत्संग में सब हरिभक्तों में है। क्योंकि आज जो हरिभक्त हैं, वे सब ऐसा समझते हैं कि 'अक्षरातीत भगवान पुरुषोत्तम हमें प्रत्यक्षरूप से मिले हैं, और हम कृतार्थ हुए हैं।' ऐसा समझकर वे प्रत्यक्ष भगवान की आज्ञा में रहते हुए भगवान की भक्ति करते हैं, ऐसे हरिभक्तों का कोई सामान्य सा देह-स्वभाव देखकर उनका अवगुण ग्रहण नहीं करना चाहिए। अवगुण देखने का स्वभाव जिसका भी होता है, उसकी तो आसुरी बुद्धि हो जाती है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥31॥

वचनामृत 32 : घोंसले और खूंटे के दृष्टांत से भगवान के स्वरूप में विराम

संवत् 1876 में पौष कृष्णा तृतीया (3 जनवरी, 1820) को प्रातः-काल श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी, सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी, ललाट में केसर-मिश्रित चन्दन लगाया था, सफ़ेद फूलों का हार पहना था और पाग में सफ़ेद फूलों का तुर्रा लटकाया था। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में साधुवृंद तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे और साधुजन कीर्तन गा रहे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'सुनिये, एक प्रश्न करते हैं।' तब साधुओं तथा हरिभक्तों ने कहा, 'हे महाराज! पूछिये।' तत्पश्चात् श्रीजी-महाराज बहुत देर तक विचारमग्न रहे। बाद में उन्होंने कहा कि 'इस संसार में विषयी जीव पंचविषयों के बिना नहीं रह सकते। जिस प्रकार इन विमुख जीवों के लिए पाँच विषय हैं, उसी तरह भक्तों के लिए भी पंचविषय हैं, परन्तु उनमें अन्तर है। वह अंतर क्या है? विषयी जीव बिना भगवान के

लौकिक विषयों का उपभोग करते हैं, और भगवद्भक्तों के लिए तो भगवान की कथा सुनना वही श्रोत्र का विषय है, और भगवान के चरणारविन्दों का स्पर्श करना या सन्त की चरणरज का स्पर्श करना, वही त्वचा का विषय है; और भगवान अथवा सन्त का दर्शन करना, वह नेत्र का विषय है; और भगवान का प्रसाद लेना और उनका गुणगान करना, वह जिह्वा का विषय है; तथा भगवान को अर्पित पुष्पादि की सुगन्ध लेना, वह नासिका का विषय है। इस प्रकार विमुख जीवों तथा हरिभक्तों के पंचविषयों में बड़ा अन्तर है। और इस तरह के विषयों के बगैर तो हरिभक्तों से भी नहीं रहा जा सकता। और नारद-सनकादिक जैसे अनादि मुक्तों[45] से भी ऐसे पंचविषयों के बिना नहीं रहा जाता। वे समाधि में बहुत समय तक रहते हुए भी समाधि से जाग्रत होकर भगवान के कथाकीर्तन-श्रवणादि विषयों को भोगते हैं।

और जिस प्रकार पक्षी चारा करने के लिए अपने घोंसलों से बाहर निकलते हैं और पेट भरने के बाद रात्रि के समय वापस अपने-अपने घोंसलों में आकर आराम करते हैं, परन्तु कभी भी अपने स्थानों को भूलकर दूसरों के घोंसलों पर नहीं जाते। उसी प्रकार भगवद्भक्त, भगवान का कथाकीर्तन-श्रवणादि रूपी चारा ग्रहण करने के बाद भगवान के स्वरूपरूपी अपने घोंसले में विराम करते हैं।

और जैसे पशु-पक्षी सभी जीव अपना-अपना चारा करने के बाद अपने-अपने स्थानों में आकर विराम करते हैं, वैसे ही मनुष्य भी अपने कार्यों के लिए देश-विदेश जाते हैं, परन्तु जब अपने घर वापस लौटते हैं, तब सुख-चैन पाते हैं। इन दृष्टान्त-सिद्धान्तों के जरिए हम आप सभी हरिभक्तों से प्रश्न पूछते हैं कि 'जिस प्रकार विमुख जीव लौकिक पंचविषयों के बन्धन में पड़े हुए हैं और उनके बिना उनसे पलमात्र भी नहीं रहा जाता, उसी प्रकार आप सब भगवान की कथावार्ता के श्रवणादिरूपी विषयों में दृढ़तापूर्वक निमग्न होकर उनके 'विषयी' हुए हो कि नहीं? तथा हम एक अन्य प्रश्न भी पूछते हैं कि 'जिस प्रकार पक्षी अपना चारा लेने के बाद अपने घोंसले में आ जाते हैं, उसी प्रकार क्या आप सब भगवान का कथाकीर्तनादि रूपी चारा

---

45. माया से परे केवल दो ही अनादि तत्त्व हैं : ब्रह्म एवं परब्रह्म। अतः यहाँ नारद सनकादिक के लिए प्रयुक्त 'अनादि मुक्त' शब्द महिमापरक समझना चाहिए।

ग्रहण करने के पश्चात् भगवान के स्वरूपरूपी घोंसले में विश्राम करते हैं या फिर किसी अन्य स्थान पर जहाँ-तहाँ विराम करते हैं?

और, जैसे मालिकी का पशु चरागाह में चरने के बाद शाम को अपने खूँटे पर आ जाता है, किन्तु जो निरंकुश पशु होता है, वह खूँटे पर नहीं आता और जिस किसी का खेत खाकर जहाँ-तहाँ बैठा रहता है। बाद में कोई उसे लाठी मारता है या बाघ आता है तो उसे मार डालता है, वैसे ही क्या आप उस निरंकुश पशु के समान किसी का खेत खाकर और जहाँ-तहाँ बैठकर विश्राम करते हैं या पालतु पशु की तरह अपने खूँटे पर आ जाते हैं? जो बड़े सन्त हों, वे अपने अन्तःकरण में विचार करके इन प्रश्नों के उत्तर दें।'

बाद में मुनि तथा हरिभक्त सभी पृथक्-पृथक् रूप से बोले, 'हे महाराज! हम भगवान की कथा एवं कीर्तनादि के विषयी भी हुए हैं और भगवान की मूर्तिरूपी घोंसले तथा खूँटे को छोड़कर अन्य दूसरे ठिकाने पर रहते भी नहीं हैं।' इस बात को सुनकर श्रीजीमहाराज अत्यन्त प्रसन्न हुए।

उसी दिन दोपहर ढलने पर श्रीजीमहाराज दादाखाचर के राजभवन के बीच नीमवृक्ष के नीचे पलंग पर विराजमान हुए थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे। श्रीजीमहाराज श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के सम्मुख विराजमान थे तथा मुनि कीर्तनगान कर रहे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ करिए।' तब दीनानाथ भट्ट तथा ब्रह्मानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा, 'कभी-कभार तो भगवान के भक्त के हृदय में भगवान का भजन-स्मरण आनन्दपूर्वक होता है और भगवान की मूर्ति का चिन्तन होता है और कभी-कभार अन्तर विचलित हो जाता है तथा भजन-स्मरण का आनन्द नहीं आता, इसका क्या कारण है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'उसे भगवान की मूर्ति को धारण करने की युक्ति नहीं आती।'

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'वह युक्ति कैसे ज्ञात हो?'

तब श्रीजीमहाराज ने उत्तर देते हुए कहा कि 'वह युक्ति इस प्रकार है कि अन्तःकरण में गुणों का प्रवेश होता है; सो जब सत्त्वगुण रहता है, तब अन्तःकरण निर्मल हो जाता है तथा भगवान का भजन-स्मरण आनन्दपूर्वक

होता है; किन्तु रजोगुण के रहने पर अन्तःकरण विपरीत हो जाता है तथा अनेक संकल्प-विकल्प होने लगते हैं और भजन-स्मरण भी अच्छी तरह नहीं हो पाता और जब तमोगुण रहता है, तब तो अन्तःकरण शून्य हो जाता है। इसलिए, भजन करनेवाले को गुणों का अवलोकन करके उन्हीं को पहचानना चाहिए और जिस समय सत्त्वगुण रहता हो, उस समय भगवान की मूर्ति का ध्यान करना चाहिए। तथा तमोगुण के रहने पर कोई भी संकल्प-विकल्प नहीं होता और अंतर शून्य-सा रहता है, उस समय भी भगवान का ध्यान नहीं करना चाहिए। और जब रजोगुण रहता है तब अनेक संकल्प-विकल्प होते रहते हैं। इसलिए, उस अवस्था में भगवान का ध्यान नहीं करना चाहिए तथा उस समय ऐसा समझना चाहिए कि 'मैं संकल्प से भिन्न हूँ और उस संकल्प को जाननेवाला हूँ तथा मुझमें अन्तर्यामी रूप से पुरुषोत्तम भगवान सदैव विराजमान हैं।' (ऐसा समझकर उच्च स्वर से भगवन्-नामस्मरण करना चाहिए।) जब रजोगुण का वेग मिट जाए, तब भगवान की मूर्ति का ध्यान करना चाहिए। रजोगुण रहता है, तब अनेक संकल्प-विकल्प होते हैं। उन्हें देखकर उद्विग्न नहीं होना चाहिए, क्योंकि अन्तःकरण छोटे बालक, बन्दर, कुत्ते और बच्चे को खिलानेवालों के सदृश (नटखट) होता है। इस अंतःकरण का स्वभाव ऐसा है कि बिना प्रयोजन के ही नखरा करता रहता है। **अतः जिसे भगवान का ध्यान करना हो, उसे चाहिए कि वह अन्तःकरण के संकल्पों को देखकर व्यग्र न हो जाए। और अन्तःकरण के संकल्प को माने भी नहीं और स्वयं को तथा अपने अन्तःकरण को पृथक् समझे एवं अपनी आत्मा को पृथक् समझकर भगवान का भजन करते रहे।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥32॥

वचनामृत 33 : मूढ़ विश्वास, प्रीति और ज्ञान से भगवान का दृढ़ आश्रय

संवत् 1876 में पौष कृष्णा पंचमी (5 जनवरी, 1820) को, दिवस का अंतिम पहर था। उस समय श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के निकटवर्ती कमरे के बरामदे में

पूर्व की ओर मुखारविन्द करके पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सफ़ेद धोती धारण की थी, श्वेत चादर ओढ़ी थी, सिर पर कुसुंभी रंग के पल्लेवाला फेंटा बाँधा था। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न किया कि 'भगवान को प्रसन्न करने के लिए अनंत प्रकार के साधन शास्त्रों में बताए गए हैं, परन्तु उनमें ऐसा कौन-सा एक बलवान साधन है; जो सिद्ध करने से समग्र साधनों की अपेक्षा, वे केवल उस एक ही साधन से प्रसन्न हो जाएँ? कृपया ऐसा कोई साधन हो तो बताइए।'

उत्तर देते हुए श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान जिस एक ही साधन से प्रसन्न होते हैं, उसके विषय में सुनिये - **भगवान का दृढ़ आश्रय**[46] **ही समस्त साधनों में महान साधन है। जिससे भगवान प्रसन्न होते हैं।** उस आश्रय की अतिशय दृढ़ता होनी चाहिए और उसमें किसी भी प्रकार का खोखलापन नहीं होना चाहिए। आश्रय के भी तीन प्रकार हैं। उनमें से एक मूढ़तापूर्वक दृढ़ विश्वास से भगवान का आश्रय होता है। अतिमूढ़ को ब्रह्मा के सदृश भी कोई भगवान के आश्रय से विचलित करने का प्रयत्न करे, फिर भी वह नहीं डगमगाता। दूसरा प्रकार है, भगवान में प्रीति। ऐसी प्रीति रहने से भगवान का आश्रय दृढ़ हो जाता है। जिसे ऐसी दृढ़ प्रीति होती है उसको परमेश्वर के सिवा अन्य किसी पदार्थ में जबरन भी प्रीति नहीं हो पाती। ऐसी सुदृढ़ प्रीति को ही भगवान का दृढ़ आश्रय कहा जाता है।

और आश्रय का तीसरा प्रकार यह है कि जिसकी बुद्धि विशाल हो, कि जो भगवान के सगुण-निर्गुणभाव को समझता हो तथा अन्वय-व्यतिरेक-भाव को जानता हो। और भगवान की माया से जो भी सृष्टि हुई है, उसे

46. अनन्य शरणागति अर्थात् 'हे प्रभु! मैं आपके अपराधमात्र के स्थानरूप हूँ, अर्थात् मैंने आपके अनेक अपराध किए हैं। मैं अनन्यगति हूँ, यानी कि इन अपराधों से छूटने के लिए मेरे पास आपकी कृपा सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है। और मैं अकिंचन हूँ, यानी कि आपको प्रसन्न करने के लिए मेरे पास कोई साधन नहीं है। अतः हे प्रभु! मेरे अभीष्ट में आप ही उपायभूत हों, यानी कि आप ही मेरा श्रेय करो।' इस भावना के साथ भगवान की शरण में जाना।

समझता हो, और पृथ्वी पर भगवान के जो अवतार होते हैं, उनकी रीति को जानता हो। तथा जगत की उत्पत्ति के समय भगवान जिस प्रकार अक्षररूप में रहते हैं, फिर पुरुषप्रकृति के रूप में रहते हैं, विराट पुरुष के रूप में, ब्रह्मादि प्रजापतिरूप में रहते हैं; एवं जीवों के कल्याण के लिए नारद-सनकादिक के रूप में वे भगवान विद्यमान रहते हैं, उन सभी रीतियों को समझ लेता हो। और पुरुषोत्तम भगवान को सबसे परे[47] और निर्विकार समझता हो। - इस तरह जिसकी दृष्टि पहुँचती हो, उसको बुद्धि द्वारा भगवान का दृढ़ आश्रय कहा जाता है। वह आश्रय अन्यों के द्वारा[48] विचलित किए जाने पर भी बिल्कुल विचलित नहीं होता। और अपने आप भी उस आश्रय को टालने का यत्न करेगा, तो भी वह नहीं टलेगा! इसके उपरांत यदि भगवान मनुष्य देह को ग्रहण करके समर्थ अथवा असमर्थभाव दिखाते हों, तो उन्हें देखकर भी उसकी बुद्धि में भ्रान्ति नहीं होती।'

इतना कहने के बाद श्रीजीमहाराज पुनः बोले, 'यदि आप कहें तो एक प्रश्न पूछूँ?' तब मुक्तानन्द स्वामी बोले कि 'पूछिये महाराज!'

श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'हमने जो आश्रय के तीन प्रकार बताए हैं, उनमें से आपका अंग कैसा है? (यानी तीन प्रकार में से आप किस 'प्रकार' में दृढ़ता रखते हो?) और भगवान के भक्त को तो तीनों प्रकार मिश्रित रहते हैं, परन्तु उनमें भी जो प्रकार प्रधान होता है, वही उसका 'अंग' कहलाता है। इस तरह मूढ़ता, प्रीति तथा ज्ञान-समझ, इन तीनों अंगों में से आपका अंग कौन-सा है?' मुक्तानन्द स्वामी तथा ब्रह्मानन्द स्वामी बोले कि 'हमारा तो समझ (ज्ञान) का अंग है।' इसी प्रकार अन्य सन्तों ने भी अपने-अपने अंग बताए।

॥ इति वचनामृतम् ॥33॥

वचनामृत 34 : स्नेहरूपी माया - आज्ञापालन में सुख

संवत् 1876 में पौष कृष्णा एकादशी (11 जनवरी, 1820) को प्रातःकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी

47. स्वरूप, स्वभाव, गुण, विभूति एवं अवतारों से श्रेष्ठ।
48. शुष्कवेदान्ती आदि लोगों के द्वारा।

द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर दक्षिण की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उन्होंने सफ़ेद धोती धारण की थी, श्वेत चादरा ओढ़ा था, सिर पर सफ़ेद पाग बाँधी थी, फूलों का हार पहना था और पाग में पुष्प तथा रेशम के तुर्रे लटक रहे थे और दोनों कानों के ऊपर पुष्पगुच्छ खोंसे हुए थे। उस समय उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के सत्संगी बैठे थे। मुनिगण बाजे बजाकर भजन गा रहे थे।

फिर श्रीजीमहाराज ने कहा कि, 'अब भजन समाप्त करके, प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ करिए।'

तब ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा, 'समस्त आनन्द के धाम और सबसे परे रहनेवाले परमेश्वर में जीव की वृत्ति नहीं लगती, किन्तु मायिक, नाशवान एवं तुच्छ पदार्थों में ही जीव की वृत्ति लिप्त रहती है, उसका क्या कारण है?' मुक्तानन्द स्वामी उसका उत्तर देने लगे, परन्तु वह यथार्थ उत्तर न दे सके।

तब श्रीजीमहाराज ने कहा, 'हम इस प्रश्न का उत्तर देते हैं। सुनिये, परमेश्वर ने जबसे इस सृष्टि की रचना की है तबसे उन्होंने ऐसा यन्त्र लगाया है कि उन्हें (परमेश्वर को) फिरसे परिश्रम न करना पड़े तथा संसार की जो वृद्धि करनी है, वह अपने-आप होती रहे, ऐसा चक्र चला रखा है।

इसलिए, पुरुष को स्त्री से और स्त्री को पुरुष से सहज प्रेम हो जाता है तथा स्त्री से उत्पन्न होनेवाली सन्तान से भी सहज स्नेह हो जाता है, वस्तुतः **वह भगवान की स्नेहरूपी माया ही है। उस माया के प्रवाह में जो न बहे, उसकी वृत्ति ही भगवान के स्वरूप में रहती है।** इसलिए, भगवान के भक्त को मायिक पदार्थों में दोषबुद्धि रखकर वैराग्य को सिद्ध करना चाहिए और भगवान को सर्व आनन्दमय जानकर परमेश्वर में ही अपनी वृत्ति को बनाए रखना चाहिए। यदि वह मायिक पदार्थों में वैराग्य की भावना न रखे और भगवान के स्वरूप से बिछड़ जाए, तो वह शिव, ब्रह्मा तथा नारद आदि समर्थ मुक्त के समान होने पर भी मायिक पदार्थों की आसक्ति में लिप्त हो जाता है। अतः भगवान को छोड़कर मायिक पदार्थों का संग करना भक्त की आसक्ति बढ़ाना ही है। इसलिए परमेश्वर के भक्त को भगवान के सिवा अन्यत्र कहीं भी स्नेह नहीं रखना चाहिए।'

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब प्रश्न करने के लिए मुक्तानन्द स्वामी की बारी आई है, इसलिए प्रश्न पूछिए।' तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जीव के लिए भगवान की (साक्षात्) प्राप्ति अतिदुर्लभ है। और भगवान की प्राप्ति हो जाने से उससे बढ़कर और कोई दूसरा अधिक लाभ ही नहीं है, और उससे बड़ा अन्य आनन्द भी नहीं है। फिर ऐसे परम आनन्द को छोड़कर जीव तुच्छ पदार्थों के लिए क्लेश क्यों प्राप्त करता है ? यह प्रश्न है।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि, 'इसका उत्तर यह है कि **जब जीव परमेश्वर के वचनों का उल्लंघन करके इधर-उधर भटकता है, तब वह क्लेश को पाता है। यदि वह आज्ञा के अनुसार रहता है, तो उसे भगवान का जो आनन्द है, वही आनन्द प्राप्त होता है।**

और भगवान के वचनों का जितना जो उल्लंघन करता है, उतना ही वह क्लेश पाता है। इसलिए, त्यागियों के लिए जो-जो आज्ञा दी गयी है, उसके अनुसार ही त्यागी को रहना चाहिए तथा गृहस्थ को जो भी आज्ञा कही गई है, उसके अनुसार गृहस्थ को रहना चाहिए। इसमें जितना भी फ़रक होता है, उतना ही क्लेश होता है। अतः साधु को आठ प्रकार से स्त्री का त्याग रखना चाहिए, तभी उसके ब्रह्मचर्यव्रत को पूर्ण कहा जा सकता है। उसमें जितना फ़रक रहता है, उतना उसे क्लेश होता है।

एवं गृहस्थ के लिए भी ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने को कहा गया है कि परस्त्री-संग का त्याग रखना और अपनी स्त्री का भी व्रत के दिन संग नहीं करना, और ऋतुकाल में ही वे अपनी स्त्री का संग करें; इत्यादि जो-जो नियम त्यागी और गृहस्थ के लिए बताए गए हैं, उनके पालन में जितनी कमी रहती है, उतना ही उसे क्लेश रहता है।

और जो जीव भगवान से विमुख है, उसे जो सुख-दुःख होते हैं, वे तो उसके अपने कर्मानुसार ही आते हैं, किन्तु जो भगवान के भक्त होते हैं, उनको जितना भी दुःख होता है, वह तुच्छ पदार्थों के लिए भगवान की आज्ञा का उल्लंघन किए जाने के कारण ही होता है और उसे जितना सुख होता है, वह भगवान की आज्ञा का पालन करने के कारण ही होता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥34॥

वचनामृत 35 : आत्मकल्याण के लिए यत्न

संवत् 1876 में पौष कृष्णा द्वादशी (12 जनवरी, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे नीम के वृक्ष के नीचे पलंग पर पूर्व की ओर मुखारविंद करके विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे। उनके मुखारविंद के समक्ष सभा में संतवृंद तथा स्थान-स्थान से आए हरिभक्त बैठे हुए थे।

फिर श्रीजीमहाराज संतों से बोले कि 'आप प्रश्न पूछेंगे या हम पूछें?' तब संतों ने कहा, 'हे महाराज! आप पूछिए।'

पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि 'एक पुरुष ऐसा है कि उसमें बुद्धि अल्प है, फिर भी वह अपने कल्याण के लिए प्रयत्न करने में पीछे नहीं हटता; तथा कोई दूसरा पुरुष ऐसा है कि उसमें (व्यावहारिक) बुद्धि तो अधिक है, और वह बड़े-बड़े व्यक्तियों की भी गलती निकालने की क्षमता रखता है, फिर भी वह कल्याण के मार्ग पर नहीं चलता, इसका क्या कारण है?'

मुनियों ने अपनी समझ के अनुसार उत्तर दिए। किन्तु श्रीजीमहाराज ने उसमें शंकाएँ उपस्थित कीं, अतः वे यथार्थ उत्तर नहीं दे पाए।

फिर श्रीजीमहाराज बोले, 'अच्छा, अब हम इसका उत्तर देते हैं – भले ही उस पुरुष में बुद्धि अधिक है, परन्तु वह बुद्धि दूषित[49] है, अतः वह कल्याण के मार्ग पर नहीं चल सकता। जैसे भैंस का बढ़िया दूध हो और उसमें शक्कर मिलाई गई हो, किन्तु उसमें यदि सर्प की लार गिर पड़े, तो वह शक्कर मिश्रित दूध विष ही हो जाता है। उसे अगर कोई जीव पी ले, तो उसका प्राणान्त हो जाएगा। वैसे ही इसमें बुद्धि तो अधिक है, किन्तु उसने किसी बड़े सन्त या परमेश्वर के प्रति दोषभाव रखा है, अतः, यह अवगुण-रूपी दोष उसकी बुद्धि में प्रवेश कर गया है, जो सर्प की लार के सदृश है, इसलिए वह कल्याण के मार्ग पर कैसे चल सकता है? प्रत्युत यदि कोई उसके मुख से बात सुने तो सुननेवाले की बुद्धि भी सत्संग से विमुख हो जाती है। इस प्रकार ऐसी दूषित बुद्धिवाला जहाँ-जहाँ जन्म लेता है, वहाँ-वहाँ

49. भगवान अथवा भगवान के भक्त के अवगुण ग्रहण करने के कारण।

भगवान अथवा उनके भक्तों से द्रोह ही करता है, और जिसकी बुद्धि इस प्रकार दूषित न हो और वह यदि थोड़ी ही हो, तो भी वह आत्मकल्याण के लिए यत्न करने से पीछे नहीं हटता।'

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! वह दूषित बुद्धिवाला कभी भगवान के सम्मुख होता है या नहीं ?'

श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'वह तो कभी भगवान के सम्मुख होता ही नहीं है।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! किसी भी प्रकार से ऐसी आसुरी बुद्धि न हो, उसका उपाय बताइए।'

श्रीजीमहाराज बोले कि **'एक क्रोध, दूसरा मान, तीसरी ईर्ष्या और चौथा कपट, इन चार दोषों को परमेश्वर तथा सन्त के प्रति नहीं रखें, तो कभी भी उसकी आसुरी बुद्धि नहीं होती।** यदि इन चारों में से एक को भी रखा गया, तो जय-विजय की तरह, जो कि अधिक बुद्धिमान थे, फिर भी सनकादिक के साथ अभिमान करने के कारण, वैकुंठलोक से पतित होकर आसुरी बुद्धिवाले हो गए। इसी प्रकार उसकी भी आसुरी बुद्धि हो जाती है। जब आसुरी बुद्धि होती है, तब भगवान और भगवद्भक्त के गुण भी दोष जैसे दिखाई पड़ते हैं, और वह जहाँ-जहाँ जन्म लेता है, वहाँ-वहाँ या तो वह शिव का गण होता है अथवा दैत्यों का कोई राजा होता है और वैरभाव से परमेश्वर का भजन करता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥35॥

वचनामृत 36 : सच्चा त्यागी

संवत् 1876 में पौष कृष्णा त्रयोदशी (13 जनवरी, 1820) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, कंठ में श्वेत तथा पीले पुष्पों के हार धारण किये थे, दोनों कानों पर श्वेत पुष्पों के गुच्छे खोंसे थे और पाग में पीले पुष्पों का तुर्रा लटक रहा था। उन्होंने कर्णिकार के लाल पुष्पों का तुर्रा लगा रखा था और वे दाहिने हाथ में सफ़ेद फूलों का गेंद घुमा रहे थे।

इस प्रकार शोभायमान होते हुए वे अपने भक्तजनों को आनन्दित करते हुए विराजमान थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में संतवृंद तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जिसने संसार छोड़ दिया है और साधु का वेश धारण किया है, फिर भी उसकी परमेश्वर के स्वरूप को छोड़कर असत्पदार्थों में प्रीति नहीं मिटती है, उस त्यागी को कैसा समझना चाहिए? तो उसे 'साहूकार के सामने कंगाल आदमी' जैसा समझना। जैसे कंगाल मनुष्य को पहनने के लिए वस्त्र न मिलते हों, और वह कूड़े के ढ़ेर में से दाने बिनकर खाता हो, फिर वह स्वयं को पापी समझता है, और अन्य साहूकार मनुष्य भी उसे पापी समझते हैं कि 'इसने पाप किए होंगे, अतः इसे अन्न-वस्त्र नहीं मिलते हैं।' वैसे ही साधु होकर जो पुरुष अच्छे-अच्छे वस्त्रादि पदार्थों को एकत्र करके रखता है और ऐसे पदार्थों की तृष्णा भी अधिक रखता है, तथा धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति में प्रीति नहीं रखता। ऐसे साधु को बड़े एकान्तिक साधु कंगाल मनुष्य के समान पापी ही समझते हैं। क्योंकि वह पापी है, इसी कारण उसे धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति में प्रीति नहीं होती और परमेश्वर को छोड़कर अन्य पदार्थों से प्रीति हो जाती है। और, **जो त्यागी होता है, उसे कचरा और कंचन दोनों में समान भाव ही रहता है। उसमें तो 'यह पदार्थ अच्छा है और वह पदार्थ बुरा है', ऐसा विचार तक नहीं रहता तथा एकमात्र भगवान में ही उसकी प्रीति बनी रहती है, वही सच्चा त्यागी है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥36॥

वचनामृत 37 : जन्मभूमि की वासना; संत की पदवी

संवत् 1876 में पौष कृष्णा चतुर्दशी (14 जनवरी, 1820) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे पलंग पर पश्चिम की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उनके सिर पर सफ़ेद पाग थी, जिसमें पीले पुष्पों का तुर्रा लगा हुआ था। दोनों कानों पर सफ़ेद पुष्पों के गुच्छे लगे हुए थे और कंठ में पीले तथा श्वेत पुष्पों का हार पहना था। उन्होंने सफ़ेद चादर ओढ़ी

हुई थी और श्वेत धोती धारण की थी। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा, 'जो अज्ञानी हो और जिसने त्यागी का वेश धारण किया हो, उसे अपनी जन्मभूमि से स्नेह नहीं मिटता है।' इतना कहकर श्रीजीमहाराज सबको अपनी जाँघ पर बाल्यावस्था में वृक्ष की ठूँठ लग गयी थी, उसे दिखाकर बोले कि इस चिह्न को जब हम देखते हैं, तब हमें उस वृक्ष और तालाब की याद आ जाती है। इस प्रकार जन्मभूमि अपने सम्बंधीजनों को हृदय से विस्मृत कर देना बड़ा कठिन है। अतः जिनको जन्मभूमि तथा देह के सम्बंधीजनों की याद न आती हो, वे बोलें। और, जो लज्जावश उसे छुपाएँगे, उन्हें श्रीनरनारायण की सौगंध है।'

बाद में सभी साधुओं ने अपनी-अपनी स्थिति बता दी। उसे सुनकर श्रीजीमहाराज बोले 'जब स्वयं को आत्मारूप मानते हो, तब उस आत्मा की जन्मभूमि कैसी? उस आत्मा का सम्बंधी कौन? उस आत्मा की जाति भी कैसी? यदि सम्बंध ही बताना हो, तो पूर्वजन्मों में चौरासी लाख योनियों में देह धारण किये थे, उन सबका सम्बंध समान जानना चाहिए और यदि उन समस्त सगे-सम्बंधियों के कल्याण की इच्छा हो, तो पिछले जन्मों के सभी सम्बंधियों के कल्याण की कामना करनी चाहिए! जैसे इस मनुष्यदेह में चौरासी लाख तरह के माता-पिताओं को अज्ञानवश भूल गए हैं, उसी प्रकार इस वर्तमान शरीर के माँ-बाप को ज्ञान द्वारा भुला देना चाहिए।

हमारा तो किसी भी सगे-सम्बंधी के साथ स्नेह नहीं है। और, जो हमारी सेवा करते हैं, उनके हृदय में यदि परमेश्वर की भक्ति न हो, तो उनसे स्नेह करें तो भी हमें स्नेह नहीं होता है। और, **यदि नारदजी के समान गुणवान हो, किन्तु उसमें भगवान की भक्ति न हो, तो वह हमें रुचता नहीं है।** एवं, जिसके हृदय में भगवान की भक्ति हो और जो यह समझता हो कि जैसे (साकार रूप में) प्रकट भगवान पृथ्वी पर विराजित हैं और जैसे (साकार रूप में) भक्त उन भगवान के समीप विराजित हैं, वैसे के वैसे ही आत्यन्तिक प्रलय होने पर भी रहते हैं और 'ये भगवान तथा भगवद्भक्त सदा साकार ही हैं', ऐसा समझता हो; तथा चाहे जैसे (शुष्क) वेदान्ती के ग्रन्थों को सुने, पर भगवान और भगवद्भक्तों को निराकार समझता ही नहीं;

और वह ऐसा जाने कि 'भगवान के सिवा दूसरा कोई भी जगत का कर्ता है ही नहीं।' तथा जो यह जानता हो कि 'भगवान की आज्ञा के बिना सूखा पत्ता भी हिलने में समर्थ नहीं हो पाता।' ऐसी जिसे भगवान में साकार भाव की दृढ़ प्रतीति हो, तो वह साधारण-सा[50] होगा, तो भी वही हमें पसन्द है। उस पर काल, कर्म तथा माया का हुक्म नहीं चलता। यदि उसे दण्ड देना हो, तो भगवान स्वयं देते हैं, किन्तु अन्य किसी का[51] हुक्म उस पर नहीं चलता। यदि ऐसी निष्ठा न हो, तो उसके त्याग-वैराग्ययुक्त रहने पर भी हमारे अन्तःकरण पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता तथा जिसके हृदय में भगवान की ऐसी अचल निष्ठा हो, वह चाहे जितने शास्त्र सुने अथवा चाहे किसी का भी संग करे, परन्तु भगवान में साकार-भाव की अपनी जो निष्ठा है, वह नहीं मिटती! वह भगवान को प्रकाश के बिम्ब जैसे निराकार कभी समझता ही नहीं।

ऐसी निष्ठावाले सन्त की चरणरज को हम भी सिर पर चढ़ाते हैं, और उसे दुःखी करने से मन में डरते हैं तथा उसके दर्शन के भी इच्छुक रहते हैं। ऐसी निष्ठा से विहीन जो जीव होते हैं, वे अपने साधनों के बल पर आत्मकल्याण की कामना करते हैं, परन्तु परमेश्वर के ऐसे प्रताप से अपने कल्याण की इच्छा नहीं करते हैं; ऐसे जड़मति पुरुष, बिना नौका के अपने बाहुबल से समुद्र पार करने की इच्छा करनेवाले मनुष्यों के समान मूर्ख हैं। दूसरी ओर जो भगवान के प्रताप से अपना कल्याण चाहते हैं, वे नाव में बैठकर समुद्र पार करने की इच्छा रखनेवाले पुरुषों के समान बुद्धिमान हैं। और, भगवान के स्वरूप का ऐसा ज्ञानवाले जो भक्त हैं, वे सब देह-त्याग के बाद भगवान के धाम में चैतन्यमूर्ति[52] होकर भगवान की सेवा में रहते हैं। जिसकी ऐसी निष्ठा न हो, परन्तु यदि उसने अन्य साधन अपनाये हों, तो वह अन्य देवों के लोक में रहता है। और, **जो भगवान के यथार्थ भक्त हैं, उनका दर्शन तो भगवान के दर्शन के समान है। एवं उनके दर्शन से तो अनेक पतित जीवों का उद्धार होता है, ऐसे ये महान हैं।'** इस प्रकार

50. लौकिक दृष्टि से व्यवहार कुशल न हो, ऐसा।
51. यमराज आदि का।
52. अक्षरब्रह्ममय दिव्य शरीर से युक्त।

की वार्ता करने के बाद श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब भजन गाएँ।'

॥ इति वचनामृतम् ॥37॥

वचनामृत 38 : सत्संग का मूल्यांकन; आत्मनिरीक्षण

संवत् 1876 में माघ शुक्ला प्रतिपदा (16 जनवरी, 1820) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में संध्या के समय घुड़साल के बरामदे में गद्दी बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी। सिर पर लाल पल्ले का सफ़ेद फेंटा बांधा था, डोरीबद्ध अंगरखा पहना था और सफ़ेद चादरा ओढ़ा था। उनके समक्ष सभा में साधु तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज समस्त हरिभक्तों की ओर देखते हुए बहुत देर तक सोचते रहे और बाद में इस प्रकार कहने लगे, 'सुनिये ! बात करते हैं, जो सत्संगी हो, उसने जबसे सत्संग में आना शुरू किया, तबसे लेकर आज तक अपने मन की जाँच पड़ताल करनी चाहिए कि 'प्रथम वर्ष में मेरा मन 'ऐसा' था और बाद में 'ऐसा' था तथा 'इतनी' भगवान की वासना थी और 'इतनी' जगत की वासना थी। इस प्रकार वर्षानुवर्ष सत्संग में अपनी स्थिति का लेखा-जोखा करते रहना चाहिए और अपने मन में जगत की जितनी वासना शेष रह गयी हो, उसे थोड़ा-थोड़ा करके निरन्तर समाप्त करते रहना चाहिए।

यदि वह इस प्रकार विचार नहीं करता है और वासनिक वृत्तियों को एकत्र करता रहता है, तो उसकी वह वासना कभी नहीं मिटेगी। जैसे किसी बनिये के यहाँ कोई खाता खोला हो, उसका हिसाब यदि हर महीने नियमितरूप से चुका दिया जाए, तो उसका हिसाब चुकाने में कठिनाई नहीं पड़ती, किन्तु एक वर्ष का हिसाब इकट्ठा होने पर उसे चुकता करना बहुत कठिन हो जाता है, इस प्रकार निरन्तर विचार करते रहना चाहिए।

और, मन तो जगत की वासनाओं से परिपूरित ही रहता है। जिस प्रकार तिल फूलों की सुगन्ध से सुगन्धित हो जाते हैं, उसी प्रकार भगवान के चरित्र का महिमा सहित नित्य स्मरणरूपी फूलों से मन को सुगन्धित करना चाहिए। और, **भगवान के चरित्र रूपी जाल में मन**

को जकड़कर रखना चाहिए और मन में भगवान सम्बंधी संकल्प करते रहना चाहिए। एक संकल्प के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा संकल्प करते रहना चाहिए। इस प्रकार, मन को निवृत्त नहीं रहने देना चाहिए।' इतना कहने के बाद श्रीजीमहाराज ने भूत का दृष्टान्त विस्तृतरूप से सुनाया।[53]

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस प्रकार भगवान के एक दिन के चरित्रों, वार्ता तथा दर्शन का स्मरण करने लगें, तो उनका ही पार नहीं पाया जा सकता, तब जिसके सत्संग-प्रवेश के दस-पन्द्रह वर्ष लग चुके हैं, तब उनकी स्मृतियों का पार ही कैसे लग सकता है? और, उन चरित्रों को इस प्रकार स्मरण करें कि 'इस गाँव में इस प्रकार महाराज तथा परमहंसों की सभा हुई थी, इस तरह महाराज की पूजा हुई थी तथा इस प्रकार वार्ता हुई थी।' इत्यादि जो भगवान के चरित्र हैं उनका बार-बार स्मरण करना चाहिए और जो अधिक न समझ पाता हो उसके लिए तो ऐसा करना ही श्रेष्ठ उपाय है, इसके समान दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।

तब, आप कहेंगे कि 'अन्न कुछ कम खायें तथा अनेक उपवास करें।' यह बात तो हम नहीं कहते। वह तो जिनके जो नियम बताए गए हैं, उन्हें उसी के अनुसार सामान्यरूप से रहना चाहिए परंतु जो करना है, वह हमने यह जो बात आपसे की है, वही है। और, हम तो ऐसा मानते हैं कि मन निर्वासनिक होना चाहिए और कोई देह से चाहे जितनी प्रवृत्ति करे, किन्तु यदि उसका मन शुद्ध है, तो उसका अति अनिष्ट नहीं होता। और, संसार में तो प्रवृत्तिवाले का बुरा जैसा दिखाई पड़ता है।

तथा, जिसके मन में वासना हो और बाहर से वह अच्छी तरह

53. एक व्यक्ति को भूत अपने वश में आ गया। वह उसका हर एक काम पलभर में निपटा लेता और जैसे ही फुर्सत पाता, उस व्यक्ति को कहता कि अब मैं तुझे खा जाऊँगा। उसने परेशान होकर एक महात्मा को अपनी समस्या बताई। उन्होंने कहा कि जब तुम्हें भूत का कोई काम हो, तो बुला लेना और खाली समय में उसको एक खंभे के ऊपर लगातार चढ़ने-उतरने के लिए भेज देना। इस प्रकार करने से भूत को कभी फुर्सत ही नहीं मिली और उसने कभी अपने मालिक को परेशान भी नहीं किया। इस प्रकार मन को हमेशा भगवान के लीलाचरित्रों में प्रवृत्त रखना चाहिए; अन्यथा वह फुर्सत पाते ही व्यक्ति को खा जाता है।

निवृत्तिपरायण आचरण करता हो, तो संसार में वह अच्छा ही दिखाई देता है, परन्तु उस जीव का अत्यन्त अनिष्ट होता है। क्योंकि मरण के समय, मन में जैसे संकल्प होते हैं, वैसी ही स्मृतियाँ उमड़ने लगती हैं। जैसे, भरतजी को अन्तकाल में मृगशावक की याद आ गई, तब उनका दूसरा जन्म मृग के आकार में हुआ और उन्होंने पहले तो राज्य को छोड़ दिया था। ऋषभदेव भगवान उनके पिता थे, फिर भी ऐसा हुआ। इसलिए, **मन से निर्वासनिक रहना यही हमारा मत है।** उपवास आदि से देह के दुर्बल होने पर मन कमज़ोर हो जाता है, यह बात तो ठीक है, परन्तु जब देह पुष्ट हो जाए तब मन भी पुनः पुष्ट हो जाता है; अतः देह से विषयों का त्याग और मन से भी उनका त्याग, दोनों एकसाथ ही होने चाहिए। हमारे सत्संग में वही बड़ा है, जिसके मन में भगवान के संकल्प होते हों और जगत के संकल्प न होते हों; और यदि ऐसा न हो, तो वह छोटा है। गृहस्थ को भी ऊपर-ऊपर से व्यवहार करना, परन्तु मन से तो उसे भी त्यागी की भाँति निर्वासनिक रहना चाहिए, और भगवान का चिन्तन करना चाहिए और व्यवहार तो भगवान की आज्ञा के अनुसार रखना। एवं, यदि मन से किया गया त्याग सच्चा न हो, तो जनक का ही दृष्टांत लीजिए। वे राजकाज चलाते थे, फिर भी उनका मन बड़े योगेश्वर के समान (निर्वासनिक) था। इसलिए, मन द्वारा जो त्याग करता है, वही उचित है।

तथा, यदि अपने मन में बुरे संकल्प होते हों, तो उन्हें बता देना चाहिए, परन्तु जिस प्रकार 'कुत्ते का मुख कुत्ता चाटे', 'सर्प के घर मेहमान साँप, मुँह चाटकर लौटा आप' और विधवा के पास सौभाग्यवती स्त्री जाए तो उससे वह यह कहे कि 'आ बहन तू भी मेरी जैसी हो जा' ऐसी कहावतों की तरह जो अध्यात्म में हमारे समकक्ष ही हों, तथा जो स्वयं बुरे संकल्प से परेशान होते हों, उसके सामने अपने संकल्पों को प्रकट करना, उपरोक्त दृष्टान्तों के समान[54] है। इसलिए अपने बुरे संकल्प केवल उसी व्यक्ति के समक्ष प्रकट करने चाहिए, जिसके मन में कभी जगत के असत् संकल्प न होते हों, और जो स्वयं भीतर से बलिष्ट हो। और, ऐसे व्यक्ति भी अनेक हों, जिनके मन

54. रुचिकर वस्तुओं का लाभ नहीं होता, परंतु उसके बदले में अरुचिकर वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती है।

में ऐसे बुरे संकल्प न उठते हों, परन्तु उन सभी में से भी ऐसे व्यक्ति से संकल्प बताया जाए, जो उन बुरे संकल्पों को सुनकर उनको मिटाने के लिए बातें किया करे; और जब तक उस कहनेवाले का संकल्प मिट न जाए, तब तक बैठते-उठते, खाते-पीते, समस्त क्रियाओं में बातें करता ही रहे। वह भी जैसी अपने संकल्पों को टालने की तीव्रता हो, वैसी ही दरकार सामनेवाले के दोषों को मिटाने की हो, उसी के सामने संकल्पों को कहना, किन्तु जिसके समक्ष अपने बुरे संकल्पों के विषय में बात कहें, परन्तु यदि वह इस प्रकार हमारे दोष मिटाने की बात न करें और स्वयं आलसी हो, तो हमें लाभ क्या हो सकता है? अतः अपने मन के संकल्पों को कहकर, उनको मिटाकर अपने मन में केवल भगवान का संकल्प करते रहें तथा जगत के सुख से निर्वासनिक हो जाएँ।

तथा, 'एकादशी का व्रत करने का क्या लक्षण है? दस इन्द्रियों तथा ग्यारहवें मन को अपने-अपने विषयों से हटाकर उन्हें भगवान में जोड़ देना, इसी को 'एकादशी का व्रत' किया कहा जाता है। भगवान के भक्त को ऐसा व्रत निरन्तर करना चाहिए। जिसका मन इस प्रकार निर्वासनिक न हो, परन्तु देह से व्रत, तप करता रहता हो, तो भी उसका परिणाम इतना अच्छा नहीं होता। इसलिए, भगवान के जो भक्त हों, उन्हें अपने-अपने धर्म में रहकर और भगवान के माहात्म्य को समझकर अपने मन को निर्वासनिक करने का नित्य अभ्यास करते रहना चाहिए।' ऐसी वार्ता कही।

फिर श्रीजीमहाराज ने दूसरी बात कही कि 'सच्चा त्यागी किसे कहा जाए?' तो जिसने किसी पदार्थ का त्याग कर दिया, फिर उस पदार्थ का उसे कभी संकल्प न हो, उसे सच्चा त्यागी कहते हैं। इस विषय में नारदजी द्वारा शुकजी के प्रति कहा गया श्लोक है: **'त्यज धर्ममधर्मं च।'**[55] इस श्लोक का सारांश यह है कि एक आत्मा के सिवा जो अन्य पदार्थ हैं, उनका त्याग करके केवल आत्मारूप से रहें तथा भगवान की उपासना करें, उसी को पूर्ण त्यागी कहते हैं। गृहस्थ हरिभक्त तो जनकराजा के इस कथन

55. महाभारत, शांतिपर्व : 316/40, 318/44; यहाँ धर्मादि का स्वरूपतः त्याग नहीं कहा गया किन्तु भगवान के ध्यान में विघ्न करने वाले संकल्पों का त्याग कहा गया है अथवा ऐसे ही फल का त्याग कहा गया है।

को समझते हैं कि 'मेरी यह मिथिला नगरी जलती है, परन्तु उसमें मेरा कुछ भी नहीं जलता।' वहाँ श्लोक है कि **'मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन।'** वस्तुतः ऐसा ज्ञानी गृहस्थ ही सच्चा हरिभक्त कहलाता है। और, जो कोई इस प्रकार के त्यागी एवं गृहस्थ न हो, उसे प्राकृत भक्त कहते हैं, और पहले जैसा कहा गया है, वैसा भक्त हो तभी उसे एकान्तिक भक्त कहा जाता है।'

इसके पश्चात् बड़े आत्मानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'देह, इन्द्रियों, अन्तःकरण और देवता से भिन्न जो जीवात्मा है, उसका स्वरूप किस प्रकार का है?' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'संक्षेप में इसका उत्तर यह है कि देह तथा इन्द्रियादि के स्वरूप का जो वक्ता है, वह श्रोता को उन सबके स्वरूपों को अलग-अलग करके समझाता है। वह जो समझानेवाला वक्ता है, वह देह आदि सबके प्रमाण का करनेवाला है और जाननेवाला है एवं वह सबसे पृथक् रहता है, उसी को जीव कहते हैं। तथा, जो श्रोता है, वह देहादिक के रूपों को अलग-अलग समझता है तथा उन्हें प्रमाणित करता है, और उसे जानता है तथा इन सबसे भिन्न है, उसी को जीव कहते हैं। इस प्रकार जीवात्मा सबसे पृथक् है; यही जीव के स्वरूप को समझने की रीति है।' इस प्रकार[56] श्रीहरि ने बातें कही।

॥ इति वचनामृतम् ॥38॥

वचनामृत 39 : सविकल्प तथा निर्विकल्प स्थिति

संवत् 1876 में माघ शुक्ला तृतीया (18 जनवरी, 1820) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी, सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी, पीले पुष्पों के तुर्रे पाग में झूल रहे थे और कंठ में पीले पुष्पों के हार पहने थे। उस समय उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

56. मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय आदि का जो ज्ञाता, निश्चयकर्ता, द्रष्टा, श्रोता, वक्ता, भोक्ता, घ्राता, मननकर्ता जो है वह जीवात्मा है, वही अपना स्वरूप है इस तरह।

तब, श्रीजीमहाराज ने वहाँ आए हुए एक वेदान्ती[57] ब्राह्मण से प्रश्न पूछा, 'आप एक ब्रह्म का प्रतिपादन करते हो तथा ब्रह्म के सिवा अन्य जो जीव, ईश्वर, माया, जगत, वेद, शास्त्र एवं पुराण आदि सबको मिथ्या[58] कहते हो, यह बात हमारी समझ में नहीं आती, अतः हम उसे नहीं मानते। अतएव, हम आपसे पूछते हैं, उस प्रश्न का उत्तर दीजिए। आप यह उत्तर वेदों, शास्त्रों, पुराणों, स्मृतियों तथा इतिहास के प्रमाणों-सन्दर्भों के साथ देना। यदि आप किसी कल्पित ग्रन्थ के वचनों का उद्धरण देकर उत्तर देंगे, तो हम उसे नहीं मानेंगे। यदि आप यही उत्तर व्यासजी के वचनों के आधार पर देंगे तो हम उसे मान लेंगे, क्योंकि व्यासजी के वचनों में हमारा दृढ़ विश्वास है।'

फिर वह वेदान्ती अनेक प्रकार की युक्तियों के साथ उत्तर देने लगा, परन्तु श्रीजीमहाराज ने उसमें शंका प्रकट की, अतः उस प्रश्न का समाधान नहीं हुआ। तब श्रीजीमहाराज बोले, 'सुनिये, इस प्रश्न का उत्तर हम देते हैं कि परमेश्वर का भजन करके जो 'मुक्त' हुए हैं, उनकी स्थिति के दो प्रकार हैं। जैसे, मेरु पर्वत पर खड़े हुए पुरुष मेरु के निकटवर्ती समस्त पर्वतों, वृक्षों और उनका आधार स्वरूप पृथ्वी का तल आदि सबको पृथक् रूप से देखते हैं, वैसे ही सविकल्प समाधिवाले ज्ञानी मुक्त जीव, ईश्वर, माया तथा उनके आधाररूप जो ब्रह्म, सबको अलग-अलग रूप से देखते हैं, और जैसे लोकालोक पर्वत के ऊपर खड़े हुए पुरुष उस पर्वत के समीपवर्ती पर्वतों तथा वृक्षों को एकमात्र पृथ्वीरूप में ही देखता है, परन्तु पृथक् रूप से नहीं देखता, वैसे ही निर्विकल्प समाधिवाले जो महामुक्त हैं, वे जीव, ईश्वर तथा माया को एकमात्र ब्रह्मरूप में ही देखते हैं, किन्तु पृथक्रूप से नहीं देखते। ऐसे दो प्रकार की स्थितिवाले मुक्त हैं। इन दोनों मुक्तों की स्थिति के कारण इन सभी तत्त्वों की सत्यता एवं असत्यता को कहा गया है।

तथा, सविकल्प स्थितिवालों के वचन, वेद, शास्त्र तथा पुराण इत्यादि में आते हैं, जो वचन उपरोक्त तत्त्वों को सत्य कहते हैं; तथा निर्विकल्प स्थितिवालों के वचन इन सभी को असत्य कहते हैं, परन्तु ये सब असत्य नहीं हैं। क्योंकि वे तो अपनी निर्विकल्प स्थिति के कारण (अलग-अलग

57. परब्रह्म को निराकार एवं निर्गुण प्रतिपादन करनेवाला शुष्कज्ञानी।
58. सीप में चांदी की भाँति कल्पित।

रूप से) दृष्टिगोचर नहीं होते, इसी कारण उन्हें असत्य कहते हैं। और जैसे, सूर्य के रथ में बैठनेवालों के लिए रात्रि नहीं होती, परन्तु पृथ्वी के ऊपर रहनेवालों के लिए रात और दिन दोनों होते हैं। उसी प्रकार निर्विकल्प स्थितिवालों के मतानुसार ये सब तत्त्व नहीं हैं, किन्तु दूसरों के मत से (सविकल्प स्थिति के लिए) ये सभी तत्त्व हैं। इस प्रकार ब्रह्मनिरूपण करने से शास्त्रों के वचनों में पूर्वापर कोई बाध नहीं आएगा, अन्यथा पूर्वापर बाध होता है। उस बाध को जो न समझता हो तथा ऐसी स्थिति को भी प्राप्त नहीं हुआ हो और केवल शास्त्रों में से सीखकर वचनमात्र से केवल एक ब्रह्म ही है - ऐसा प्रतिपादन करता हो, तथा गुरु, शिष्य, जीव, ईश्वर, माया, जगत और वेदों, पुराणों, शास्त्रों को कल्पित कहता हो, वह महामूर्ख है और अन्त में वह नरक का अधिकारी हो जाता है।'

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'हमने यह बात कही है, उसमें यदि आपको शंका होती हो तो बोलिए।' तब वह वेदान्ती ब्राह्मण बोला, 'हे महाराज! हे प्रभो! हे स्वामिन्! आप तो परमेश्वर हैं और जगत के कल्याण के लिए प्रकट हुए हैं। अतएव, आपने जो उत्तर दिया है वह यथार्थ है, उसमें शंका के लिए कोई भी स्थान नहीं है।' इतना कहकर वह वेदान्ती ब्राह्मण अत्यन्त प्रसन्न हुआ और अपने अज्ञान का परित्याग करके श्रीजीमहाराज का आश्रित हो गया।

॥ इति वचनामृतम् ॥39 ॥

वचनामृत 40 : सविकल्प-निर्विकल्प समाधि

संवत् 1876 में माघ शुक्ला चतुर्थी (19 जनवरी, 1820) को प्रातः-काल श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी, सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी, उस पाग में पीले पुष्पों का तुर्रा लटक रहा था और कंठ में पीले पुष्पों का हार पहना था। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में समस्त मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

तब, मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा, 'हे महाराज!

सविकल्प समाधि तथा निर्विकल्प समाधि किसे कहते हैं?'

श्रीजीमहाराज बोले, 'भगवान के स्वरूप में जिसकी स्थिति हो गई हो उसमें अशुभ वासना तो नहीं रहती; किन्तु शुभ वासना रही हो कि 'मैं नारद-सनकादिक तथा शुकजी जैसा हो जाऊँ, अथवा नरनारायण के आश्रम में जाकर और वहाँ के मुनियों के साथ रहकर तप करूँ, अथवा श्वेतद्वीप में जाकर तपस्या करके श्वेतमुक्त सदृश हो जाऊँ' ऐसा विकल्प जिसके मन में रहता हो, उसे सविकल्प समाधिवान् कहते हैं। और, जिसे ऐसा विकल्प न हो, तथा **अक्षरब्रह्म के साधर्म्यभाव को प्राप्त करके केवल भगवान की मूर्ति में ही निमग्न रहता हो, उसे निर्विकल्प समाधिवान् कहते हैं।**[59]

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! भक्ति तथा उपासना में क्या अन्तर रहता है?'

श्रीजीमहाराज बोले कि –

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं, सख्यमात्मनिवेदनम्॥'[60]

इस तरह (प्रीतिपूर्वक) नव प्रकार से भगवान की जो भक्ति की जाती है उसे 'भक्ति' कहते हैं तथा उपासना तो उसे कहा जाता है, जिसे भगवान के स्वरूप में सदैव साकार-भाव की दृढ़ निष्ठा हो और भजन करनेवाला

---

59. योगदर्शन (योगसूत्र : 1/17,18) में संप्रज्ञात तथा असंप्रज्ञात इन दोनों प्रकार की समाधियों का निरूपण किया गया है। संप्रज्ञात समाधि में अविद्या-संकल्प आदि होने से उसे सबीज कहा जाता है। असंप्रज्ञात समाधि में अविद्या का लेशमात्र नहीं होने से उसे निर्बीज समाधि कहा गया है। अद्वैत वेदान्त में इन दोनों को क्रमशः सविकल्प-निर्विकल्प संज्ञा से कहा है। (ध्यानदीप : 126-129)
परंतु भगवान स्वामिनारायण ने इन दोनों समाधियों को अत्यंत सरल ढंग से निरूपित किया है। जिसमें स्पष्ट किया गया है कि सविकल्प समाधि में उपास्य एवं उपासक दोनों की शुद्धि नहीं है, जबकि निर्वकल्प समाधि में उपासक भी गुणातीत अर्थात् अक्षरब्रह्म के साधर्म्य को प्राप्त हुआ है तथा उपास्य इष्टदेव मायिक गुणों से रहित पुरुषोत्तम परमात्मा है।

60. भगवान की कथा का श्रवण, कीर्तनों का गान, स्मृति, चरण-सेवा, अर्चन-पूजा, अष्टांग अथवा पंचांग प्रणाम, दासभाव पूर्वक आज्ञापालन, निष्कपटभाव, सर्वस्व सर्मपण – ये नव प्रकार की भक्ति कही गई है। (श्रीमद्भागवतम् : 7/5/23)

यदि स्वयं ब्रह्मरूप हो जाए तो भी उस निष्ठा का लोप न हो और निराकार-भाव का प्रतिपादन करनेवाले चाहे किसी भी ग्रन्थ को सुनें, तो भी भगवान के स्वरूप को सदा साकार ही समझें और शास्त्रों में चाहे कैसी ही बात आए, किन्तु स्वयं भगवान के साकार स्वरूप का ही प्रतिपादन करें, परन्तु अपनी उपासना का खंडन नहीं होने दे। इस प्रकार जिसकी दृढ़ समझ हो, उसे उपासक कहते हैं।'

॥ इति वचनामृतम् ॥40॥

वचनामृत 41 : एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय

संवत् 1876 में माघ शुक्ला पंचमी (20 जनवरी, 1820) को सायं-काल श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के समीप नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे पर बिछाये गए पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे, पीले पुष्पों के हार पहने थे, पीले पुष्पों के गुच्छे कान पर धारण किए थे और पगड़ी में पीले पुष्पों के तुर्रे लटकते हुए रखे थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में साधुवृंद तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा, 'अब प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ करिए।'

तब नृसिंहानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज! **'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय।'**[61] इस श्रुति-वाक्य का अर्थ जगत के कितने ही पंडित तथा वेदान्ती ऐसा समझते हैं कि प्रलयकाल में जो एकमात्र भगवान ही रहे थे, वही स्वेच्छा पूर्वक सृष्टिकाल में समस्त जीव एवं ईश्वररूप हो गए हैं।' यह बात तो मूर्ख हो, वह माने, लेकिन हमें तो आपका आश्रय है, अतः उस बात का मेल नहीं बैठता है और हम ऐसा समझते हैं कि भगवान अच्युत हैं और वे च्युत होकर जीव-ईश्वररूप नहीं होते। अतः इस श्रुति-वाक्य का अर्थ आप ही कहें, ताकि यथार्थ बात समझ में आ सके।' तब श्रीजीमहाराज बोले, 'इस श्रुति का जैसा अर्थ वे सब बताते हैं, वैसा नहीं है। इसका अर्थ दूसरी तरह का है, वह वेदस्तुति के गद्य में कहा गया है कि - **'स्वकृतविचित्रयोनिषु विषन्निव**

61. **'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय।'** इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् (6/2/3) में पाठान्तर प्राप्य है।

हेतुतया तरतमतश्चकास्स्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः।'[62] अर्थात् 'पुरुषोत्तम भगवान स्वनिर्मित नाना प्रकार की योनियों में कारणभाव तथा अन्तर्यामी रूप से प्रवेश करके न्यूनाधिक भाव से उन्हें प्रकाशित करते हैं। उसकी प्रक्रिया यह है कि अक्षरातीत पुरुषोत्तम भगवान सृष्टिकाल में जब अक्षर के समक्ष दृष्टिपात करते हैं, तब उस अक्षर में से पुरुष (मुक्त) प्रकट होता है।

इसके पश्चात् वे पुरुषोत्तम अक्षर में प्रवेश करके पुरुष में प्रवेश करते हैं तथा पुरुषरूप होकर प्रकृति को प्रेरित करते हैं। इस प्रकार ज्यों-ज्यों पुरुषोत्तम का प्रवेश[63] होता गया त्यों-त्यों सृष्टि की प्रवृत्ति हुई। तब प्रकृति-पुरुष से प्रधानपुरुष का आविर्भाव हुआ तथा उन प्रधानपुरुष से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से तीन प्रकार के अहंकार, अहंकार से भूत, विषय, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा देवता हुए। उनसे विराट पुरुष तथा उनके नाभिकमल से ब्रह्मा प्रकट हुए, उन ब्रह्मा से मरीच्यादिक प्रजापति, उनसे कश्यप प्रजापति, उनसे इन्द्रादि देवता और दैत्य उत्पन्न हुए तथा स्थावर-जंगम सृष्टि हुई। और, **पुरुषोत्तम भगवान उन सबके कारण होने से सबमें अन्तर्यामी रूप से प्रवेश करके रहे हैं, किन्तु[64] जिस प्रकार वे अक्षर में हैं, उस प्रकार प्रकृतिपुरुष में नहीं हैं।** जिस प्रकार प्रकृतिपुरुष में हैं, उस प्रकार प्रधानपुरुष में नहीं हैं, जैसे प्रधानपुरुष में हैं, वैसे महत्तत्त्वादि चौबीस तत्त्वों में नहीं हैं।

जिस प्रकार चौबीस तत्त्वों में हैं, उस प्रकार विराटपुरुष में नहीं हैं, जैसे विराटपुरुष में हैं, वैसे ब्रह्मा में नहीं हैं, जिस प्रकार ब्रह्मा में हैं, उस प्रकार मरीच्यादिकों में नहीं हैं, जैसे मरीच्यादिकों में हैं वैसे कश्यप में नहीं हैं,

62. श्रीमद्भागवतम् : 10/87/19

63. सर्वव्यापक पुरुषोत्तम भगवान का प्रवेश सर्वदा, सर्व वस्तुओं में अनादि काल से है ही, किन्तु नया नहीं है; इसलिए यहाँ जिसे 'प्रवेश' कहा गया है, वह विशिष्ट शक्तियों से युक्त अनुप्रवेश समझना। (तैत्तिरीयोपनिषद् : 2/6)

64. अब प्रारंभ होनेवाले वाक्यों का अर्थ यह है कि परब्रह्म स्वयं, अक्षरब्रह्म के द्वारा जैसा सामर्थ्य दिखाते हैं, वैसा सामर्थ्य प्रकृतिपुरुष आदि द्वारा दिखाते नहीं हैं। इसमें पात्रता का भेद कारणभूत है। जैसे सूर्य की किरणें मिट्टी पर इतनी परावर्तित नहीं होतीं, जितनी पानी अथवा काँच पर परावर्तित होती हैं। यहाँ सूर्य की किरणें कारणभूत नहीं हैं, किन्तु पात्रों की पात्रता का भेद कारणभूत है।

जिस प्रकार कश्यप में हैं उस प्रकार इन्द्रादि देवताओं में नहीं हैं, जैसे इन्द्रादि देवताओं में हैं वैसे मनुष्य में नहीं हैं, जिस तरह मनुष्य में हैं उस प्रकार पशुपक्षी में नहीं हैं। इस प्रकार पुरुषोत्तम भगवान, अपनी कारणता होने से अन्तर्यामी रूप से सबमें तारतम्यपूर्वक रहते हैं।

जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि रहती है और वह भी लम्बे काष्ठ और टेढ़े काष्ठ में उसके आकार के समान ही रहती है, उसी प्रकार पुरुषोत्तम भगवान भी जिसके द्वारा जो कार्य करना है, उतने सामर्थ्य के साथ ही उसमें रहते हैं। अक्षर तथा पुरुष-प्रकृति आदि सबमें पुरुषोत्तम भगवान अन्तर्यामी रूप से रहते हैं, परन्तु पात्र के तारतम्य से सामर्थ्य में तारतम्य रहता है। इस प्रकार एकमात्र पुरुषोत्तम भगवान अन्तर्यामी रूप से इन सबमें प्रवेश करके रहते हैं,[65] किन्तु उन्होंने जीवत्व या ईश्वरत्व को स्वयं ग्रहण करके अनेक रूप नहीं किए हैं। इस श्रुति-वाक्य का यही अर्थ समझना चाहिए।'

॥ इति वचनामृतम् ॥41 ॥

वचनामृत 42 : विधिनिषेध

संवत् 1876 में माघ शुक्ला षष्ठी (21 जनवरी, 1820) को श्रीजी-महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे पर बिछाये गए पलंग पर पश्चिम की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उन्होंने सिर पर श्वेत पगड़ी बाँधी थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी, श्वेत धोती धारण की थी और दोनों कानों के ऊपर पीले पुष्पों के गुच्छ शोभते थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में साधुवृंद तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

उस सभा में कई वेदान्ती ब्राह्मण भी आकर बैठे थे। उन्हें देखकर श्रीजीमहाराज बोले कि वेदान्तशास्त्र को जो-जो पढ़ते और सुनते हैं, वे ऐसा कहते हैं कि 'विधि-निषेध तो मिथ्या हैं तथा विधि-निषेध से प्राप्त होने योग्य स्वर्ग और नरक भी मिथ्या हैं, और उन्हें पानेवाला शिष्य और गुरु भी मिथ्या हैं। एकमात्र ब्रह्म ही सबमें समाया हुआ है, वही सत्य है।' इस प्रकार जो कहते हैं, वे क्या समझकर कहते होंगे? और, समस्त वेदान्तियों के आचार्य

65. **'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।'** (गीता 11/40)

शंकराचार्य ने तो अपने शिष्यों को दंड-कमंडल धारण कराये और कहा कि 'भगवद्गीता तथा विष्णुसहस्रनाम का पाठ करना, और विष्णु का पूजन करना, तथा तरुणों को वयोवृद्ध व्यक्तियों का सम्मान-अभिवादन करना और पवित्र ब्राह्मण के घर की ही भिक्षा ग्रहण करना।'

इस प्रकार उन्होंने विधि-निषेध का प्रतिपादन किया,[66] तो क्या उन्हें यथार्थ 'ज्ञान' नहीं था? और, आजकल के जो 'ज्ञानी' हुए हैं, उन्होंने विधि-निषेध को मिथ्या कर डाला है तो क्या वे शंकराचार्यजी से भी बड़े हो गए? अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वे यह बात केवल मूर्खता के कारण कहते हैं।

विधि-निषेध को शास्त्रों में जिस प्रकार मिथ्या कहा गया है, उसे इस तरह बताया गया है कि जैसे कोई बड़ा जलपोत हो, वह महासागर में एक वर्ष तक चलता ही रहे और उसे अगला या पिछला किनारा भी दिखाई नहीं पड़े तथा दोनों किनारों के बड़े-बड़े पर्वत भी न दिखाई दें, तो वहाँ के वृक्ष तथा मनुष्य कैसे दिखाई पड़ेंगे? जहाँ देखा जाए, वहाँ केवल जल ही जल दिखाई देगा, जल के अतिरिक्त दूसरी कोई भी वस्तु दिखाई नहीं पड़ेगी और यदि ऊपर को देखा जाए तो भी समुद्र की बड़ी-बड़ी लहरों के उठने पर ऊपर भी जल ही दिखाई देगा, तब उस जलपोत में बैठे हुए पुरुष ऐसा कहें कि 'सर्वत्र केवल जल ही जल है, दूसरा कुछ भी नहीं है!'

इस दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मस्वरूप में जिनकी निर्विकल्प स्थिति हो गयी, वे तो ऐसा ही कहेंगे कि एकमात्र ब्रह्म ही है और उसके सिवा जो अन्य जीव, ईश्वर और माया आदि हैं सब मिथ्या हैं और उनके शास्त्र में लिखित वचनों को सुनकर अपनी तो स्थिति ऐसी (ब्रह्ममय) न हुई हो, तो भी वह विधि-निषेध को मिथ्या कहने लगता है। वह मिथ्याज्ञानी अपनी स्त्री और बच्चों की तो शुश्रूषा करता है, और संसार का जितना भी व्यवहार है, सबको सच्चा जानकर सावधानी के साथ करता रहता है, और शास्त्रों में प्रतिपादित विधि-निषेध को मिथ्या कहता है! अतः इस जगत में केवल ऊपर-ऊपर से ज्ञान रटनेवाले कथित ज्ञानी को घोर अधम तथा नास्तिक समझना।

---

66. 'चर्पटपंजरिकास्तोत्रम्', 'यतिधर्मनिर्णयः', 'संन्यासधर्मपद्धतिः', साधनपंचकम्' – आदि शंकराचार्य रचित ग्रंथों में विधि-निषेध के आदेश प्राप्त होते हैं।

एवं, शंकराचार्य ने जीव के हृदय में नास्तिकता आ जाने की आशंका के कारण **'भज गोविन्दं भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढमते!'** आदि विष्णु के अनेक स्तोत्र रचे हैं, तथा शिवजी, गणपति आदि बहुत से देवताओं के स्तोत्र भी रचे हैं, जिनको सुनकर सब देवताओं के सम्बंध में सत्यता प्रतिपादित हो जाए, इस आशय से ही शंकराचार्य ने सभी देवताओं के स्तोत्रों की रचना की है। किन्तु आजकल के कथित ज्ञानी लोग सबको मिथ्या कहकर ऐसा बोलते हैं कि 'ज्ञानी चाहे कैसा ही पाप करें, पर उन्हें कुछ भी असर नहीं होगा।' ऐसी बात वे मूर्खता के कारण कहते हैं। और जितने त्यागी-परमहंस हो गए, उन सबमें जड़भरत श्रेष्ठ थे तथा जितने पुराण तथा वेदान्त सम्बंधी ग्रन्थ हैं, उन सबमें जड़भरत की घटना लिखी गयी है।

ऐसे महान जड़भरत पूर्वजन्म में ऋषभदेव भगवान के पुत्र थे। वे राज्य का त्याग करके वन में गए थे, परन्तु केवल दया के कारण उन्हें मृग के साथ प्रीति हो गई, तो उनको दोष लगा और उन्हें स्वयं को मृग के रूप में जन्म लेना पड़ा। मृग के समान चार पाँव, छोटी पूँछ, सिर में छोटे सींग, ऐसा आकार उन्हें प्राप्त हुआ। तथा, परमात्मा श्रीकृष्ण भगवान के साथ व्रज की गोपियों ने कामबुद्धि से प्रीति की तो भी सब भगवान की माया को तैर गईं और स्वयं गुणातीत होकर उन्होंने भगवान के निर्गुण अक्षरधाम को प्राप्त कर लिया। उसका कारण यह है कि श्रीकृष्ण भगवान स्वयं साक्षात् पुरुषोत्तम, गुणातीत, दिव्यमूर्ति थे, तो गोपियों ने उनके साथ जानबूझकर या अनजाने में प्रीति की, तो भी वे गुणातीतरूप हो गईं और भरतजी ने दया की भावना से मृग से प्रीति की तो वे (दूसरे जन्म में) मृग हो गए। इसीलिए, **चाहे कोई जितना भी बड़ा हो, उसे भी कुसंग के कारण तो बुरा ही फल मिलता है। चाहे जितना भी पापी जीव हो, पर यदि वह सत्यस्वरूप ऐसे भगवान से अटूट प्रीति-सम्बंध करे, तो परम पवित्र होकर अभयपद को पा जाता है।**

और, यदि भगवान श्रीकृष्ण स्वयं गुणातीत न होते तो उनकी भक्त गोपियाँ गुणातीतभाव को प्राप्त नहीं कर पातीं। और यदि उन्होंने गुणातीत पद को प्राप्त कर लिया तो भगवान श्रीकृष्ण गुणातीत कैवल्य दिव्यमूर्ति ही थे। तथा, वेदान्ती तो यह कहते हैं कि ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है। तब जिस प्रकार

गोपियों ने श्रीकृष्ण भगवान से प्रीति की, वैसे ही सब स्त्रियाँ अपने-अपने पतियों से प्रीति करती हैं और सब पुरुष अपनी-अपनी स्त्रियों से प्रीति करते हैं, तो भी उन्हें गोपियों जैसी प्राप्ति नहीं होती। उन्हें तो घोर नरक की प्राप्ति होती है। इसीलिए, विधि-निषेध सच्चे हैं, परन्तु मिथ्या नहीं हैं। **जो विधि-निषेधों को मिथ्या कर दिखाते हैं, वे तो नारकी हो जाते हैं।'** ऐसी वार्ता करके श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने निवास स्थान पर पधारे।

॥ इति वचनामृतम् ॥42॥

वचनामृत 43 : चार प्रकार की मुक्ति

संवत् 1876 में माघ शुक्ला सप्तमी (22 जनवरी, 1820) को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर श्वेत पगड़ी बाँधी थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी और श्वेत धोती धारण की थी। और पाग में पीले पुष्पों के तुर्रे लटकते थे। उन्होंने कंठ में पीले पुष्पों के हार पहने थे तथा दोनों कानों पर पीले पुष्पों के गुच्छ खोंसे थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में साधु-संत तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज समस्त भक्तजनों को करुणा-दृष्टि से देखकर बोले, 'सब सुनिए, एक प्रश्न पूछते हैं कि श्रीमद्भागवत पुराण में कहा गया है कि 'भगवान के भक्त होते हैं, वे चार प्रकार की मुक्ति के इच्छुक नहीं होते।' भगवान के अन्य बड़े भक्त भी ऐसा ही कहते हैं कि 'भगवद्भक्त चार प्रकार की मुक्ति को नहीं चाहते।' वह चार प्रकार की मुक्ति क्या है? तो सुनिये, इनमें से पहली तो यह है कि भगवान के लोक में रहना (सालोक्य), दूसरी भगवान के सान्निध्य में रहना (सामीप्य), तीसरी भगवान के समान रूप प्राप्त करना (सारूप्य) और चौथी मुक्ति भगवान के सदृश ऐश्वर्य को प्राप्त करना (साधर्म्य) है। चार प्रकार की ऐसी जो मुक्ति हैं, उसे भगवान का भक्त नहीं चाहता, वह तो केवल भगवान की सेवा का ही इच्छुक रहता है। अब प्रश्न यह है कि वह भक्त चार प्रकार की मुक्ति को क्यों नहीं चाहता? इस प्रश्न का उत्तर जिसको जैसे आए वैसा दो।'

तब समस्त परमहंस उत्तर देने लगे, किन्तु यथार्थ उत्तर न दे सके। फिर

श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस प्रश्न का उत्तर हम देते हैं और वह यह है कि भगवान का भक्त होकर भी जो पुरुष चार प्रकार की मुक्ति की इच्छा रखता है, वह सकाम भक्त कहलाता है। और, जो भक्त इस चतुर्धा मुक्ति को नहीं चाहता, किन्तु एकमात्र भगवान की सेवा का ही इच्छुक रहता है, वह निष्काम भक्त कहा जाता है। इसका वर्णन श्रीमद्‌भागवत में इस प्रकार किया गया है –

'मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादि चतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम् ॥[67]
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥'[68]

इन श्लोकों का अर्थ यह है कि भगवान का निष्काम भक्त उस चतुर्धा मुक्ति की भी इच्छा नहीं करता, जिसमें भगवान की सेवा या परिचर्या न हो। वह तो वस्तुतः केवल सेवा का ही इच्छुक रहता है। ऐसे निष्काम भक्त को भगवान अपनी सेवा में रखते हैं और भक्त की अनिच्छा होने पर भी भगवान बल–पूर्वक उसे अपने ऐश्वर्य–सुख प्राप्त कराते हैं। इस सम्बंध में कपिलदेव भगवान ने कहा है :

'अथो विभूतिं मम मायाविनस्ताम् ऐश्वर्यमष्टांगमनुप्रवृत्तम्।
श्रियं भागवतीं वा स्पृहयन्ति भद्रां परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके ॥'[69]

---

67. **अर्थ :** मेरी सेवा से प्राप्त होनेवाली सालोक्यादि चतुर्विध मुक्ति को मेरी सेवा से ही परिपूर्ण हुए निष्काम भक्त नहीं चाहते, तब वे फिर काल द्वारा नष्ट होनेवाले देवताओं के ऐश्वर्यों को प्राप्त करने की इच्छा न करें, उसके सम्बंध में क्या कहना? (श्रीमद्‌भागवतम् : 9/4/67)

68. **अर्थ :** मेरी सेवा के सिवा भगवान द्वारा बलपूर्वक प्रदत्त सालोक्यादि मुक्ति को भी जब निर्गुण भक्तिवाले भक्त ग्रहण नहीं करते, तब फिर वे सांसारिक फल की इच्छा न करें, उसके सम्बंध में क्या कहना? (श्रीमद्‌भागवतम् : 3/29/13)
वस्तुतः आत्यंतिकी मुक्ति में चार भेद नहीं हैं। भगवान स्वामिनारायण ने आत्यंतिकी मुक्ति का लक्षण इस प्रकार कहा है : *तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवामुक्तिश्च गम्यताम्।* (शिक्षापत्री : 121) अर्थात् 'अक्षरधाम को प्राप्त अक्षरमुक्त अक्षरब्रह्म के साधर्म्य को प्राप्त होता है, (वच. गढ़डा प्रथम – 21)। इस प्रकार उन्होंने 'ब्रह्मरूप होकर परब्रह्म की सेवा' को ही मुक्ति के रूप में स्वीकार किया है।

69. **अर्थ :** अर्चिरादिमार्ग में जाना आरम्भ होने के बाद मेरे निष्काम भक्त मेरी ➤

भगवान ने ऐसे निष्काम भक्तों को ही गीता में ज्ञानी कहा है, जो सकाम भक्त हैं, उन्हें अर्थार्थी बताया है। इसीलिए, **भगवान के भक्त को भगवान की सेवा के सिवा अन्य किसी की भी इच्छा नहीं करनी चाहिए। यदि वह इच्छा करे, तो उसमें इतनी कचाई कही जाएगी। और, यदि ऐसी कचाई हो, तो उसने भगवान के निष्काम तथा एकान्तिक भक्त का सत्संग करके उस कमी को समाप्त कर देना!'**

॥ इति वचनामृतम् ॥43 ॥

वचनामृत 44 : परमेश्वर में दृढ़ प्रीति तथा देहरूप अंगरखा

संवत् 1876 में माघ शुक्ला अष्टमी (23 जनवरी, 1820) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में प्रात:काल में ही श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे के मध्यभाग में बिछाये गए पलंग पर पश्चिम की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी, सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी और उस पाग के अन्तिम छोर को मुख पर लपेटकर नक़ाब किया हुआ था। उस पाग पर सफ़ेद पुष्पों के हार सुशोभित हो रहे थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि 'भगवान में स्नेह हो, उसका क्या स्वरूप (लक्षण) है?' तब ब्रह्मानन्द स्वामी स्नेह का स्वरूप बताने लगे, परन्तु समाधान नहीं हुआ।

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'आपको तो स्नेह की दिशा ही नहीं मिली, और आपने 'पिंड-ब्रह्मांड से नि:स्पृह रहने' को स्नेह बताया, परन्तु यह स्नेह का स्वरूप नहीं, यह तो वैराग्य का रूप है। वस्तुत: स्नेह तो उसे कहते

– योगमाया के स्वामी की – प्रसिद्ध विभूति को, ब्रह्मलोक तक की सम्पत्ति, भक्तियोग से प्राप्त होनेवाले अणिमादि आठ प्रकार के ऐश्वर्यों को तथा वैकुंठादि दिव्य-लोकों में रहनेवाली सम्पत्ति को, अर्थात् मंगलरूप भागवती श्री को प्राप्त करना नहीं चाहते। फिर भी सबसे परे मेरे धाम में जाकर वे उन्हें प्राप्त करते हैं। यदि मेरे ये भक्त 'भागवती श्री' तक को नहीं चाहते हैं, तो वे माया-विभूति आदि की इच्छा न करें, इसमें कहना ही क्या है? (श्रीमद्भागवतम् : 3/25/37)

हैं, जिसके द्वारा 'भगवान की मूर्ति की अखंड स्मृति बनी रहे।' जिस भक्त का पूर्ण स्नेह भगवान में रहता हो, उसे तो भगवान के सिवा अन्य संकल्प होता ही नहीं। और, यदि भगवान के बिना अन्य संकल्प होते हैं, तो उसके स्नेह में उतनी कमी है। तथा, **जिसे भगवान से पूर्ण स्नेह हो, उसे जाने-अनजाने में यदि भगवान की मूर्ति के सिवा अन्य कोई भी संकल्प हो गया, तो उसे इतना असह्य कष्ट होता है कि जिस प्रकार पाँच प्रकार के स्वादिष्ट भोजन करते समय किसी के द्वारा अंजली भरकर कंकड़ और मिट्टी डाले जाने पर होता है अथवा भाल में किसी तप्तमुद्रा दाग दिये जाने पर होता है। इस तरह भगवान के बिना मन में दूसरा संकल्प उठने पर ऐसा कष्ट होता हो, तो समझें कि उसे भगवान से प्रीति है।** अतः आप सब अपने-अपने हृदय को टटोल कर देखिए, तो जिसको जितनी प्रीति होगी, उसका पता उसको लग जाएगा।'

फिर ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान से ऐसी दृढ़ प्रीति बनी रहे, उसका कौन-सा साधन है?' तब श्रीजीमहाराज कहने लगे कि **'सत्पुरुष का प्रसंग[70] ही परमेश्वर में दृढ़ प्रीति होने का कारण होता है।'**

फिर सोमलाखाचर बोले कि 'ऐसा प्रसंग तो बहुत करते हैं, फिर भी ऐसी दृढ़ प्रीति क्यों नहीं होती?' तब श्रीजीमहाराज ने उत्तर देते हुए कहा कि 'आप प्रसंग तो करते हैं, परन्तु उसमें भी आधा प्रसंग हमारा और आधा प्रसंग जगत-संसार का करते हैं। इसी कारण भगवान में दृढ़ प्रीति नहीं होती।'

इसके बाद गाँव वसो के विप्र वालाध्रुव ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! देह तथा देह के सम्बंधियों में अहंता-ममता के जो संकल्प होते रहते हैं, उन्हें कैसे मिटाया जाए?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'वह तो जीव को विपरीत भावना हुई है कि वह स्वयं को देह से पृथक् रहनेवाली जीवात्मा नहीं समझता, किन्तु देहरूप ही समझता है! और, उस जीवात्मा में देहभाव किस प्रकार लिपटा हुआ है, वह बताते हैं। जिस प्रकार कोई पुरुष दर्जी के घर जाकर अंगरखा सिलाता है, और उसे पहनकर यदि वह माने कि 'दर्जी मेरा बाप है और दर्जिन मेरी माँ है।' तो वह मूर्ख ही कहलाता है। उसी प्रकार इस जीव का

70. **प्रसंग :** अत्यंत प्रीतिपूर्वक लगाव यानी आत्मबुद्धिपूर्वक जुड़ जाना।

यह देहरूपी जो अंगरखा है, वह कभी ब्राह्मण और ब्राह्मणी से उत्पन्न होता है, और कभी उसकी उत्पत्ति नीच जाति से होती है तथा चौरासी लाख योनियों से देह उत्पन्न होती है। यदि उस देह में जो अहंभाव रखता है और उस देह के माँ–बाप को अपना माँ–बाप समझता है, तो वह मूर्ख कहलाता है, और उसे पशु के समान समझा जाना चाहिए। तथा, चौरासी लाख योनियों में अपनी जो माताएँ, बहनें, लड़कियाँ और स्त्रियाँ होती हैं, उनमें से कोई भी पतिव्रता के धर्म का पालन नहीं करती। अतः जो ऐसे सम्बंध को सच्चा मानता है, उसके अहंता एवं ममता के संकल्प कैसे मिटेंगे? और इस प्रकार की समझ के बिना जन्मभूमि की वासना को मिटाना अत्यन्त कठिन है। तथा, जब तक देह को अपना स्वरूप मानता रहता है, तब तक उसकी समस्त समझ वृथा ही रहती है।

एवं, जब तक वह वर्ण अथवा आश्रम के घमंड से साथ घूमता–फिरता है, तब तक उसमें साधुता आती ही नहीं। इसीलिए, **देह तथा देह के सम्बंधियों के साथ रहनेवाली अहंता तथा ममता दोनों का परित्याग करके, अपनी आत्मा को ब्रह्मरूप मानकर तथा समस्त वासनाओं का त्याग करके जो पुरुष स्वधर्मरत रहते हुए भगवान का भजन करता है, वह साधु कहलाता है। जिसमें ऐसी साधुता आती है, उसके और पुरुषोत्तम भगवान के बीच कोई दूरी नहीं रहती।** अन्य सब कुछ हो सकता है, परन्तु इस प्रकार की साधुता को पाना, वह तो बहुत ही कठिन है। और, ऐसा साधु तो मैं हूँ, क्योंकि मुझमें वर्णाश्रम का लेशमात्र भी अभिमान नहीं है।' इस प्रकार से श्रीजीमहाराज ने जो कुछ कहा वह अपने भक्तों को शिक्षा देने के निमित्त ही बताया है, ऐसा समझना। क्योंकि वे स्वयं साक्षात् पुरुषोत्तम नारायण हैं।

॥ इति वचनामृतम् ॥44॥

वचनामृत 45 : साकार और निराकार का रहस्य

संवत् 1876 में माघ शुक्ला दशमी (24 जनवरी, 1820) को सायंकाल स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा–स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे चबूतरे पर दक्षिण की ओर मुखारविन्द

करके विराजमान थे। उन्होंने श्वेत चादर ओढ़ी थी, सफ़ेद धोती धारण की थी, और सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! कितने ही वेदान्ती ऐसा कहते हैं कि भगवान का आकार नहीं है, और ऐसे ही सिद्धान्त के प्रतिपादन की श्रुतियों[71] का सन्दर्भ देते हैं। जबकि नारद-शुक-सनकादिक जैसे कितने ही भगवद्भक्त भगवान के साकार[72] होने का प्रतिपादन करते हैं, तो इन दोनों में सच्चे कौन हैं?'

तब, श्रीजीमहाराज बोले, 'भगवान पुरुषोत्तम हैं, वे तो सदा साकार ही हैं तथा महातेजोमय मूर्ति हैं। और अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र पूर्ण जो सच्चिदानन्द ब्रह्म है, वह मूर्तिमान पुरुषोत्तम भगवान का तेज है। और, श्रुतियाँ भी ऐसा कहती हैं कि वे भगवान माया के सामने देख रहे थे।'[73] अत: जब वे देख रहे थे, तो क्या उन्हें अकेली आँखें ही होंगी? हाथ-पैर भी तो होते हैं। इस प्रकार साकार रूप का ही प्रतिपादन हुआ। तथा, जिस प्रकार, समग्र जल के जीवरूप वरुण अपने लोक में साकार हैं, किन्तु जल निराकार कहलाता है। और, अग्नि की ज्वाला निराकार कहलाती है, परन्तु उसके देवता अग्नि अपने अग्निलोक में साकार हैं। और, जैसे समग्र धूप निराकार कहलाती है, परन्तु सूर्यमंडल में व्याप्त सूर्यदेव साकार हैं। ठीक वैसे ही सच्चिदानन्द ब्रह्म निराकार है, परन्तु पुरुषोत्तम भगवान साकार है। सर्वत्र पूर्णरूप से विद्यमान सच्चिदानन्द ब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का तेज[74] है। यहाँ कोई तो ऐसा कहेंगे

71. **'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।'** (श्वेताश्वतरोपनिषद् : 3/19) इत्यादि श्रुतियों से।

72. **'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश... तस्य यथा कप्यासं पुंडरीकमेवमक्षिणी।'** (छान्दोग्य : 1/6/6-7) **'तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजनं वासो।'** (बृहदारण्यक : 2/3/6) **'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशम्।** (मुंडक : 3/1/3) इत्यादि श्रुतियों से।

73. **'स ईक्षत'** (ऐतरेयोपनिषद् : 3/1) इत्यादि श्रुतियों से।

74. यहाँ अपने तेज को 'ब्रह्म' कहा गया है, वह यौगिक अर्थ समझना। परन्तु 'धामरूप अथवा सेवकरूप अक्षरब्रह्म' को निर्दिष्ट करनेवाला रूढ अर्थ नहीं समझना चाहिए।

कि **श्रुतियों में तो ऐसा बताया गया है कि 'परमेश्वर तो कर-चरणादि से रहित और सर्वत्र पूर्ण हैं।' तो ऐसा जो यहाँ श्रुतियों ने करचरणादि का जो निषेध किया है, वह मायिक कर-चरणादि का निषेध है; परन्तु भगवान का आकार दिव्य है, मायिक नहीं है।** यद्यपि अन्तर्यामी रूप से जीव-ईश्वर में व्यापक ऐसा जो पुरुषोत्तम भगवान का ब्रह्मरूप तेज है, वह निराकार है, तथापि उसमें जीव-ईश्वर दोनों को उनके कर्मानुसार यथायोग्य कर्मफल देने में नियन्तापन है और वह साकार के समान नियन्तारूप होकर क्रिया को करता है, अतः उस तेज को भी साकार जैसा समझना चाहिए। इस प्रकार **भगवान पुरुषोत्तम सदैव साकार ही हैं, परन्तु निराकार नहीं हैं ! फिर भी, उन्हें जो निराकार कहते हैं, वे ना-समझ लोग ही हैं।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥45॥

वचनामृत 46 : आकाश की उत्पत्ति एवं विलय

संवत् 1876 में माघ शुक्ला एकादशी (25 जनवरी, 1820) को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के समीप चबूतरे पर दक्षिण की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी और सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे। उस समय भट्ट माहेश्वर नामक वेदान्ती ब्राह्मण ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न किया, 'समाधि में जब देहादिक सब कुछ लीन हो जाता है, तब आकाश किस प्रकार लीन होता है ?'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'आकाश के रूप का हम समुचित रूप से विश्लेषण करते हैं, उसे आप सब सावधान होकर सुनिए[75] – आकाश अवकाश को कहते हैं, और जिन-जिन पदार्थों का अस्तित्व रहता है, वे अवकाश में ही रहता है। उन पदार्थों में भी आकाश व्याप्त होकर रहता है।

---

75. आकाश के दो प्रकार हैं : भौतिक आकाश तथा महाकाश। योगी महाकाश को ही चिदाकाश कहते हैं। यहाँ चिदाकाश के स्वरूप को निरूपित करके 'समाधि में चिदाकाश का लय नहीं होता, परंतु भौतिक आकाश का संकोचनरूप लय होता है...' इस तरह उत्तर देते हैं।

अतः ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जिसमें आकाश न हो; क्योंकि पृथ्वी के एक अतिसूक्ष्म रजकण में भी आकाश है, और यदि उसके करोड़ों टुकड़े भी कर डालें तो भी उसमें आकाश रहता है। इसीलिए, आकाश की दृष्टि से जब देखें तब पृथ्वी आदि चार भूत नहीं दिखाई पड़ते, अकेला आकाश ही दिखाई पड़ता है। वह आकाश सबका आधार है तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूपी तीनों शरीर आकाश में रहते हैं। यह ब्रह्मांड भी आकाश में रहता है, और ब्रह्मांड के कारण प्रकृति-पुरुष भी आकाश में हैं। ऐसा आकाश प्रकृति-पुरुष तथा उनके कार्य पिंड-ब्रह्मांड आदि के भीतर भी रहता है तथा सबका आधार होकर बाहर भी रहता है। ऐसा यह आकाश सुषुप्ति अथवा समाधि में भी लीन नहीं होता। तब कोई कहेगा कि 'आकाशादिक पंचभूत तो तमोगुण से उत्पन्न हुए हैं, ऐसी स्थिति में उस आकाश को पुरुष तथा प्रकृति का आधार कैसे कहा जा सकता है? उसे सर्वव्यापक भी कैसे कहा जाए?' तो इसका उत्तर यह है कि प्रकृति में यदि अवकाशरूपी आकाश न हो, तो जिस प्रकार वृक्षों से फल-पुष्पादिक बाहर निकलते हैं और गाय के पेट में से बछड़ा निकलता है, तथा प्रकृति में से जो महत्तत्त्व निकलता है, वह कैसे निकले? इसीलिए, प्रकृति में आकाश है तथा महत्तत्त्व में से अहंकार निकलता है, इस कारण महत्तत्त्व में आकाश है। इसी प्रकार, अहंकार में से तीन गुण निकलते हैं, अतः अहंकार में भी आकाश है। वैसे तमोगुण में से आकाश आदि पाँच भूत निकलते हैं, अतः तमोगुण में भी आकाश है। और, तमोगुण में से जो आकाश निकलता है वह (आकाश) तमोगुण का कार्य है, और विकारवान है; किन्तु **सबका आधार जो आकाश है, वह निर्विकारी है और अनादि है। ऐसा सर्वाधार जो आकाश है, उसे ब्रह्म तथा चिदाकाश कहते हैं।**

और, इस आकाश में पुरुष तथा प्रकृति संकोच और विकास-अवस्था को प्राप्त करते हैं। उसका प्रकार यह है कि जब पुरुष; प्रकृति के सामने देखता है, तब स्त्री-पुरुष से होनेवाली सन्तानोत्पत्ति के समान पुरुषरूपी पति तथा प्रकृतिरूपी स्त्री से महत्तत्त्वादिक सन्तान की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह प्रकृति चौबीस तत्त्वरूप तथा पिंड-ब्रह्मांडरूप होती है, यह उसकी विकास-अवस्था है। इसके अतिरिक्त, प्रकृति के जितने कार्य हैं, उनमें पुरुष अपनी शक्ति द्वारा व्यापक रूप से रहता है, यही पुरुष की विकास-अवस्था

है। जब काल द्वारा प्रकृति के सब कार्य नष्ट हो जाते हैं और प्रकृति भी पुरुष के अंग में लीन-सी रहती है, तब उसी को प्रकृति की संकोचावस्था कहा जाता है। जब पुरुष भी प्रकृति के समस्त कार्यों के नष्ट होने पर अपने स्वरूप में बना रहा, उसी को पुरुष की संकोचावस्था माना जाता है। जैसे कछुआ विकासोन्मुख होने पर अपने समस्त अंगों को बाहर निकाल लेता है और संकोचावस्था को प्राप्त होने पर अपने सभी अंगों को समेट लेता है, तब वह जड़-सा हो जाता है; वैसे ही पुरुष तथा प्रकृति की संकोच एवं विकास की अवस्था बनी रहती है। प्रकृति तथा उसके कार्यों में भी पुरुष का ही अन्वय-व्यतिरेक भाव रहता है, परन्तु सबका आधार जो चिदाकाश (अक्षरब्रह्म) है, उसका ऐसा अन्वय-व्यतिरेक भाव नहीं है; क्योंकि जो सर्वाधार है, वह किससे व्यतिरिक्त हो सकता है ? वह तो सदैव सबमें रहता है। और, यह जो ब्रह्मांड है, उसके चारों ओर लोकालोक पर्वत है, जो उसके लिए किले के समान रहता है। उस लोकालोक से बाहर अलोक है, उससे परे सात आवरण हैं, उन आवरणों से परे अकेला अन्धकार है और उस अन्धकार से परे प्रकाश है, जिसे चिदाकाश कहते हैं। उसी प्रकार, ऊँचाई भी ब्रह्मलोक तक बताई गई है; उसके परे सप्त आवरण हैं, उनसे परे अन्धकार है, उससे परे प्रकाश है, जिसे चिदाकाश कहा जाता है।

इस प्रकार ब्रह्मांड के चारों ओर चिदाकाश है, और वही ब्रह्मांड के अन्दर भी है। ऐसा जो वह सर्वाधार आकाश है, उस आकाशाकार जिसकी दृष्टि हो जाए उसे 'दहरविद्या' कहते हैं। और भी 'अक्षिविद्या' आदि अनेक प्रकार की ब्रह्मविद्याएँ कही गई हैं, जिनमें एक ब्रह्मविद्या भी है। और, यह चिदाकाश अतिप्रकाशवान है तथा अनादि है। उसकी उत्पत्ति तथा विनाश नहीं होता। जिस आकाश की उत्पत्ति तथा विनाश की बात कही गई है, वह आकाश तो (तमोगुण से उत्पन्न होने के कारण) तमोगुण का कार्य और अन्धकाररूप है और वह लीन हो जाता है। परन्तु, सबका आधार जो चिदाकाश है, वह लीन नहीं होता। इस प्रकार आपके प्रश्न का उत्तर दिया है। अब उसमें किसी को शंका हो तो पूछिये।' तब वह वेदांती ब्राह्मण तथा समस्त हरिभक्त बोले कि 'अब किसी को लेशमात्र भी संशय नहीं है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥46॥

वचनामृत 47 : चार प्रकार की निष्ठा

संवत् 1876 में माघ शुक्ला द्वादशी (27 जनवरी, 1820) को प्रात:काल स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे के मध्य पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज दाहिने हाथ से चुटकी बजाकर बोले, 'आप सब लोग सावधान होकर एक बात सुनिये। यद्यपि यह बात स्थूल है, फिर भी आप पूर्णरूप से ध्यान देकर उसे सुनेंगे तो समझ पाएँगे, अन्यथा नहीं समझ पाएँगे।' तब समस्त हरिभक्त बोले, 'हे महाराज! कहिये।'

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'परमेश्वर के भक्त हैं, उनमें से किसी में धर्मनिष्ठा, किसी में आत्मनिष्ठा, किसी में वैराग्यनिष्ठा और किसी में भक्ति-निष्ठा प्रधानरूप से रहती है। गौणरूप से तो ये सब निष्ठाएँ समस्त हरिभक्तों में होती हैं।

उनमें से जिसमें भागवतधर्म-निष्ठा प्रधान होती है, वह अहिंसा तथा ब्रह्मचर्य आदि अपने वर्णाश्रम सम्बंधी सदाचार से युक्त होकर निर्दम्भभाव से भगवान और भगवद्भक्तों की सेवा-चाकरी करने में प्रीति पूर्वक कार्यरत रहता है। ऐसा भक्त भगवान के मन्दिरों का निर्माण करना, भगवान के लिए बाग-बगीचों को बनाना, भगवान को नाना प्रकार के नैवेद्य को अर्पित करना तथा भगवान के मन्दिरों और सन्तों के स्थान में लीपना-पोतना और झाड़ना आदि कार्यों में रुचि रखता है; तथा श्रवण-कीर्तनादि भक्ति में निर्दम्भभाव से तत्पर रहता है। ऐसी धर्मनिष्ठा रखनेवाला भक्त भागवतधर्मयुक्त शास्त्रों के श्रवण तथा कीर्तनादि में अतिशय रुचि रखता है।

अब जिसमें आत्मनिष्ठा प्रधान रहती है, वह तीन देहों और तीन अवस्थाओं से परे रहनेवाली सत्तारूपी अपनी आत्मारूप में ही निरन्तर रहता है। और, वह अपने इष्टदेव प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण परमात्मा को सबसे परे, अति शुद्ध स्वरूप तथा सदा दिव्य साकारमूर्ति समझता है। और, वह अपनी आत्मा तथा परमात्मा के शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाली वार्ता को स्वयं करता

है और उसे दूसरों से सुनता है। तथा, उसी प्रकार के शास्त्रों में प्रीतिपूर्वक प्रवृत्ति रखता है और स्वयं को आत्मसत्तारूप रहने में विक्षेप हो, तो उसे सहन न कर सकने की प्रकृतिवाला होता है।

एवं, जिसकी वैराग्यनिष्ठा प्रधान होती है, उसे एकमात्र भगवान की मूर्ति के सिवा अन्य समस्त मायिक पदार्थों में निरन्तर अरुचि रहती है। उन्हें असत्यरूप समझकर मल की भाँति त्याग किए हुए अपने घर-परिवारजन आदि को वह सदैव विस्मृत करके व्यवहार करता है। और, ऐसा भक्त, भगवान के त्यागी भक्तों का ही संग करता है और भगवान की भक्ति भी ऐसी करता है कि अपने निजी त्याग में वह बाधक न बनने पाये। और, वह स्वयं त्यागप्रधान वार्ता करता है तथा त्याग का प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों में रुचि रखता है। उसे अपने त्याग में बाधा डालनेवाले स्वादिष्ट भोजन तथा अच्छे वस्त्रादि एवं पंचविषय सम्बंधी मायिक पदार्थों को प्राप्त करने में अतिशय अरुचि रहती है।

जिसकी भक्तिनिष्ठा प्रधान होती है, वह एकमात्र भगवान के स्वरूप में ही दृढ़ प्रीति बनाये रखता है और उन भगवान के स्वरूप से भिन्न अन्य मायिक पदार्थों में अपनी रुचि कभी नहीं रख सकता। ऐसा भक्त, भगवान को प्रेमपूर्वक वस्त्र एवं अलंकार धारण कराने, भगवान के मानवचरित्रों का श्रवण करने और भगवान की मूर्ति का निरूपण करनेवाले शास्त्रों में ही रुचि रखता है। तथा, वह केवल उसी भक्त से प्रीति करता है, जिस भक्त का प्रेम भगवान के प्रति देखता है, उस भक्त के सिवा अपने पुत्रादि से भी कभी प्रेम नहीं करता। और, भगवान सम्बंधी क्रियाओं में ही ऐसे भक्त की प्रवृत्ति निरन्तर बनी रहती है।

इस प्रकार, ऐसी चार निष्ठाएँ रखनेवाले भक्तों के लक्षणों की वार्ता पर विचार करके, जिसका जैसा अंग हो (प्रधानरूप से जिस निष्ठा की दृढ़ता हो) उसका वर्णन कीजिए। तथा, यह वार्ता दर्पण के समान है, जो जिसका जैसा अंग होता है, उसे दिखला देती है। और, भगवान के जो भक्त हैं, वे बिना अंग के होते ही नहीं हैं, किन्तु वे अपने अंगों की परख नहीं कर पाते, इसीलिए इन अंगों की दृढ़ता नहीं हो पाती। जब तक अपने अंगों की दृढ़ता नहीं हो पाती, तब तक जैसी बात होती है, वैसा ही उसका अंग बन जाता

है। इसीलिए, इस वार्ता पर विचार करके अपने-अपने अंगों को दृढ़ बनाइये और जिसका जैसा अंग हो वैसा बताइए।' इसके पश्चात् समस्त हरिभक्तों में से जिसका जैसा अंग था, उसने वैसा बताया। बाद में श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिनका एक-समान अंग हो, वे उठकर खड़े हो जाएँ।' तब जिस-जिसका एक-समान अंग था, वे सब उठकर खड़े हुए। बाद में श्रीजीमहाराज ने इन सबको बैठने का आदेश दिया।

इसके पश्चात् नित्यानन्द स्वामी ने पूछा, 'इन चारों अंगोंवालों को अपने-अपने अंगों में कोई गुण-दोष है या नहीं?' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो गुण-दोष हैं, उन्हें कहते हैं, सुनिये - इन चारों अंगोंवाले भक्तों के जो लक्षण हमने पहले बताए हैं, उनके अनुसार जो आचरण करते हैं, यह उनका गुण है तथा जो ऐसा आचरण नहीं करते, उतना उनका दोष है।'

तत्पश्चात् मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा, 'इन चारों निष्ठावालों में कोई अधिक-न्यून हैं या ये चारों ही समान हैं?'

तब, श्रीजीमहाराज बोले, 'जब तक मुमुक्षु एक-एक निष्ठा के साथ बरतने लगते हैं, तब तक ये चारों समान रहते हैं और जब ये चारों निष्ठाएँ एक मुमुक्षु सिद्ध कर ले, तब वह सबसे आगे रहता है और **एक में ही जब ये चारों निष्ठाएँ इकट्ठी रहती हैं, तब उसको परम भागवत कहते हैं तथा उसको ही एकान्तिक भक्त कहते हैं।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥47॥

वचनामृत 48 : चार प्रकार के कुसंगी

संवत् 1876 में माघ शुक्ला त्रयोदशी (28 जनवरी, 1820) को सायंकाल स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे के मध्य पलंग पर पश्चिम की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे। उनके सामने दो मशालें जल रही थीं और श्रीवासुदेव नारायण की सन्ध्या आरती तथा नारायणधुन हो चुकी थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'आप सब सावधान होकर सुनिये,

एक वार्ता करते हैं।'

तब समस्त मुनि तथा हरिभक्त बोले कि 'हे महाराज! कहिये।'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'भगवान के भक्त को प्रतिदिन भगवान की पूजा तथा स्तुति करके उनसे यह माँगना चाहिए कि 'हे महाराज! हे स्वामिन्! हे कृपासिन्धो! हे शरणागत-प्रतिपालक! कुसंगी से मेरी रक्षा करना।' वे कुसंगी चार प्रकार के हैं – एक कुंडापन्थी (वाममार्गियों का एक विभाग), दूसरा शक्तिपन्थी, तीसरा शुष्कवेदान्ती तथा चौथा नास्तिक। उनमें से यदि कुंडापन्थी का संग हो जाए तो वह निष्काम धर्म (ब्रह्मचर्यव्रत तथा व्रतमान धर्म) से हटाकर उसे भ्रष्ट कर डालता है। यदि शक्तिपन्थी का संग हो जाए, तो वह शराब पिलाकर और माँस खिलाकर स्वधर्म से भ्रष्ट कर डालता है। यदि शुष्कवेदान्ती का संग हो जाए, तो वह भगवान के धाम तथा भगवान के शाश्वत दिव्य आकार और उनके अवतारों की मूर्तियों के आकारों, सबको मिथ्या बताकर भगवान की भक्ति-उपासना से भ्रष्ट करता है। यदि नास्तिक का संग हो जाए, तो वह कर्मों को ही सही बतलाकर परमेश्वर, जो श्रीकृष्ण भगवान हैं, उन्हें मिथ्या कर दिखाता है तथा अनादि सत्शास्त्रों द्वारा बताए गए मार्ग से भ्रष्ट कर डालता है। अतः **भगवान से याचना करनी चाहिए कि 'ऐसे चार प्रकार के मनुष्यों का संग कभी भी न हो।' तथा, यह प्रार्थना भी करनी चाहिए कि 'हे महाराज! काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या और देहाभिमान आदि अन्तःशत्रुओं से रक्षा कीजिए तथा नित्य अपने भक्तों के सत्संग का अवसर प्रदान कीजिए।' इस प्रकार, नित्य ही भगवान से प्रार्थना करनी चाहिए तथा इन कुसंगियों और अन्तःशत्रुओं से निरन्तर डरते रहना चाहिए।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥48॥

वचनामृत 49 : अन्तर्दृष्टि

संवत् 1876 में माघ शुक्ला चतुर्दशी (29 जनवरी, 1820) को सायंकाल स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे के मध्य पलंग पर विराजमान थे। उनके मुखारविन्द के सामने दो बड़े दीपक

जल रहे थे। उन्होंने कंठ में पीले पुष्पों का हार पहना था, दोनों हाथों में पीले पुष्पों के गजरे धारण किए थे और श्वेत वस्त्र पहने थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ कीजिए।' तब ब्रह्मानन्द स्वामी ने प्रश्न किया कि 'हम भगवान में जो मनोवृत्ति रखते हैं, वह बहुत बलपूर्वक रखने के कारण रहती है, किन्तु जगत के पदार्थों में यह स्वयमेव रहा करती है, उसका क्या कारण है ?'

श्रीजीमहाराज बोले, 'भगवान के भक्त की मनोवृत्ति भगवान के सिवा अन्य किसी भी स्थान पर नहीं रहती। उन्हें यही चिन्ता लगी रहती है कि 'हमें जगत के पदार्थों में वृत्ति रखना ही कठिन रहेगा।' अतः परमेश्वर के भक्तों को जगत के पदार्थों में मनोवृत्ति रखना ही कठिन है तथा जगत के जीवों के लिए परमेश्वर में वृत्ति रखना अत्यन्त दुष्कर रहता है। इसीलिए, जिसकी मनोवृत्ति परमेश्वर में नहीं रहती, वह भगवद्भक्त नहीं है। फिर भी सत्संग में यदि आता रहे, तो वह धीरे-धीरे सन्त की वार्ता को सुनते-सुनते परमेश्वर का भक्त हो जाएगा।'

फिर ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'इस प्रकार भगवान में वृत्ति रखने का कौन-सा साधन है ?'

तब, श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान में वृत्ति रखने का साधन अन्तर्दृष्टि है। वह अन्तर्दृष्टि कौन-सी है ? तो **स्वयं को जो प्रत्यक्ष भगवान मिले हैं, उनकी मूर्ति के सामने देखते रहना ही अन्तर्दृष्टि है। यदि उस मूर्ति को छोड़कर षट्चक्र[76] दिखायी पड़े अथवा भगवान के गोलोक एवं वैकुंठ आदि धाम दृष्टिगोचर हो जाएँ, तो भी वह अन्तर्दृष्टि नहीं है।**

इस कारण भगवान की मूर्ति को अन्तःकरण में धारण करके, उसका अवलोकन करते रहने तथा बाहर भी भगवान की मूर्ति को निहारते रहने को ही अन्तर्दृष्टि कहा गया है। उस मूर्ति को छोड़कर अन्य जिस-जिस स्थान पर वृत्ति रहे, तो उसे बाह्यदृष्टि कहा जाता है।'

---

76. षट्चक्र की विशेष जानकारी के लिए देखिए : वच. ग.प्र. 25 की पादटीप क्रमांक : 37

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज परमहंसों से बोले कि 'अब दो-दो भक्त आमने-सामने बैठकर प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ करें।' इसके पश्चात् परमहंसों ने बहुत देर तक परस्पर प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम चलाया। उन्हें सुनते हुए श्रीजीमहाराज उनकी बुद्धि की परीक्षा करने लगे।

॥ इति वचनामृतम् ॥49॥

वचनामृत 50 : कुशाग्रबुद्धि

संवत् 1876 में माघ कृष्णा प्रतिपदा (31 जनवरी, 1820) को प्रातःकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन की ऊपर की मंजिल के बरामदे पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेतवस्त्र धारण किए थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

फिर श्रीजीमहाराज ने मुनियों से यह प्रश्न पूछा कि 'जिसकी कुशाग्रबुद्धि होती है, उसे ब्रह्म (परब्रह्म) की प्राप्ति होती है। ऐसी कुशाग्र-बुद्धि क्या लौकिक व्यवहार में अत्यन्त दक्ष पुरुष हो, अथवा शास्त्रों-पुराणों के भलीभाँति अर्थवेत्ता हो, उसकी कही जा सकती है या नहीं?' इसका उत्तर देने का मुनियों ने प्रयत्न किया, परन्तु यथार्थरूप से वे उत्तर न दे पाए। तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'कितने ही मनुष्य अत्यन्त व्यवहार-कुशल होते हैं, फिर भी वे आत्मकल्याण के लिए कोई भी यत्न नहीं करते तथा कुछ लोग शास्त्रों, पुराणों और इतिहास के अर्थों को अच्छी तरह जानते हुए भी अपने कल्याण के लिए कोई प्रयास नहीं करते, इसीलिए उन्हें कुशाग्रबुद्धिवाला नहीं मानना चाहिए। बल्कि, ऐसे मनुष्यों को स्थूलबुद्धिवाला ही समझा जाना चाहिए। जो कल्याण के लिए प्रयत्न करता है, वह अल्पबुद्धि होने पर भी कुशाग्रबुद्धिवाला है तथा जो लौकिक व्यवहार में दत्तचित्त होकर जुटा हुआ है, वह अति सूक्ष्मबुद्धिवाला होने पर भी स्थूलबुद्धिवाला कहलाता है। इस विषय पर भगवद्गीता का श्लोक है :

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ॥'[77]

77. गीता : 2/69

इसका अर्थ यह है कि भगवान का भजन करने में समस्त जगत के जीवों की बुद्धि रात्रि के समान अन्धकारमय बनी रहती है, अर्थात् ऐसे जीव भगवान का भजन नहीं करते। जो भगवद्भक्त हैं, वे भगवान के भजन के सम्बंध में जाग्रत हैं, अर्थात् वे भगवान का निरन्तर भजन करने में लगे हुए हैं। एवं, एक ओर जहाँ जीवमात्र की बुद्धि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध नामक पाँच विषयों में जाग्रत बनी हुई है, अर्थात् ये जीव विषयों को भोगने में ही लगे हुए हैं, वहीं दूसरी ओर भगवान के भक्तों की बुद्धि इन विषयभोगों के प्रति अन्धकारयुक्त बनी रहती है, अर्थात् वे विषयों का उपभोग नहीं करते। अतः इस तरह **जो अपने कल्याण के लिए सावधान रहते हैं वही कुशाग्रबुद्धिवाले हैं और उनके बिना तो सभी मूर्ख हैं।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥50॥

वचनामृत 51 : हीरे से हीरे का छेद, भगवान से भगवान का निश्चय

संवत् 1876 में माघ कृष्णा द्वितीया (1 फरवरी, 1820) को रात्रि के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सफ़ेद चूड़ीदार पाजामा और श्वेत अंगरखा पहना था, सिर पर सफ़ेद पाग बाँधी थी। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछने का आदेश दिया, तब पूर्णानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'दस इन्द्रियाँ रजोगुणात्मक हैं तथा चार अन्तःकरण सत्त्वगुणमूलक हैं। अतः ये समस्त इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण मायिक हैं और भगवान माया से परे हैं, तब मायिक अन्तःकरण द्वारा उन भगवान का निश्चय किस प्रकार से हो सकता है? और, चक्षु आदि मायिक इन्द्रियों द्वारा भगवान कैसे दृष्टिगोचर हो सकते हैं?'

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'मायिक वस्तुओं द्वारा मायिक पदार्थों का बोध हो सकता है, इस कारण, मायिक अन्तःकरण तथा इन्द्रियों द्वारा भगवान को बोधगम्य किया जाए, तो भगवान भी मायिक सिद्ध हो

जाएँगे, यही आपका प्रश्न है ?' पूर्णानन्द स्वामी तथा समस्त मुनियों ने कहा, 'हे महाराज! यही प्रश्न है, जिसकी आपने पुष्टि कर दी है।'

तब, श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'इसका उत्तर यह है कि पचास कोटि योजनपर्यन्त पृथ्वी की पीठ है, उस पृथ्वी पर घटपटादिक अनेक पदार्थ हैं। उन समस्त पदार्थों में यह पृथ्वी स्थित है तथा वह अपने स्वरूप से भिन्न भी रही है। इसीलिए, जब पृथ्वी की दृष्टि से देखेंगे तो प्रतीत होगा कि इन समस्त पदार्थों के रूप में पृथ्वी का अस्तित्व बना हुआ है और पृथ्वी के सिवा दूसरा कोई भी पदार्थ नहीं है।

और, वह पृथ्वी जल के एक अंश से उत्पन्न हुई है, और जल पृथ्वी के नीचे, पार्श्व में और ऊपर भी है तथा पृथ्वी के मध्य में भी जल सर्वत्र व्यापक होकर रहता है। इसीलिए, यदि जल की दृष्टि से देखा जाए तो लगेगा कि पृथ्वी है ही नहीं, बल्कि अकेला जल ही है। इस जल की भी उत्पत्ति तेज के एक अंश से हुई है, इसीलिए, तेज की दृष्टि से देखेंगे, तो जल है ही नहीं, वरन् अकेला तेज ही है। और, वह तेज भी वायु के एक अंश से उत्पन्न हुआ है, इसीलिए, वायु की दृष्टि से देखेंगे, तो तेज है ही नहीं, किन्तु एकमात्र वायु ही है। वस्तुतः वायु भी आकाश के एक अंश से उत्पन्न हुई है, इसीलिए, आकाश की दृष्टि से देखेंगे, तो वायु आदि चारों भूत तथा उनके कार्य पिंड-ब्रह्मांड कुछ भी नहीं दिखाई देंगे, किन्तु अकेला आकाश ही सर्वत्र दिखाई पड़ेगा। और, वह आकाश भी तामस अहंकार के एक अंश से उत्पन्न हुआ है। वह तामस अहंकार, राजस अहंकार, सात्त्विक अहंकार तथा भूत, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और देवता, ये सब महत्तत्त्व के एक अंश से उत्पन्न हुए हैं। अतएव, महत्तत्त्व की दृष्टि से देखा जाए तो तीन प्रकार के अहंकार, भूत, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा देवता, ये सब हैं ही नहीं, बल्कि केवल महत्तत्त्व ही दिखाई पड़ेगा।

और, यह महत्तत्त्व भी प्रधान-प्रकृति के एक अंश से उत्पन्न हुआ है। इसलिए, यदि प्रकृति की दृष्टि से देखें तो महत्तत्त्व है ही नहीं, एकमात्र यह प्रकृति ही है। तथा, वह प्रकृति भी प्रलयकाल में पुरुष के एक अंश में लीन हो जाती है और बाद में सृष्टि के समय एक अंश से उत्पन्न होती है। इसीलिए, पुरुष की दृष्टि से देखें तो यह प्रकृति है ही नहीं, अकेला पुरुष ही है। एवं, ऐसे अनन्तकोटि पुरुष हैं, जो महामाया के एक अंश से उत्पन्न

होते हैं। इसीलिए, इस महामाया की दृष्टि से देखेंगे, तो ये पुरुष हैं ही नहीं, अकेली महामाया ही है। और, वह महामाया भी महापुरुष के एक अंश में से उत्पन्न होती है। इसलिए, यदि महापुरुष की दृष्टि से देखा जाए तो, वह महामाया है ही नहीं, बल्कि अकेला महापुरुष ही है। और, यह महापुरुष भी पुरुषोत्तम भगवान का जो अक्षरधाम है, उस अक्षर के एक स्थल से उत्पन्न होता है; इसीलिए, उस अक्षर की दृष्टि से देखें तो ये महापुरुष आदि सब हैं ही नहीं, वरन् एक अक्षर ही दिखाई पड़ेगा। और, उस अक्षर से परे अक्षरातीत ऐसे जो पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे ही सबकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के कर्ता हैं और सबके कारण हैं। और, जो कारण होता है, वह अपने कार्य में व्यापक होता है तथा उससे अलग भी रहता है। इसीलिए, उन सबके कारण-रूप पुरुषोत्तम भगवान की दृष्टि से देखा जाए, तब उन पुरुषोत्तम भगवान के सिवा अन्य कुछ भी दिखाई नहीं पड़ेगा।

ऐसे जो भगवान हैं, वही कृपा करके जीवों के कल्याण के लिए पृथ्वी पर सभी मनुष्यों को प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं। उस समय जो जीव सन्त की संगत करके इन पुरुषोत्तम भगवान की ऐसी महिमा को समझ लेता है, तब उसकी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण, सब पुरुषोत्तममय हो जाते हैं।[78] तभी, उनके द्वारा उन भगवान का निश्चय हो जाता है। जिस प्रकार हीरे के द्वारा ही हीरा छेदा जाता है, लेकिन दूसरे के द्वारा उसका छेद नहीं होता, वैसे ही भगवान का निश्चय भी भगवान के द्वारा ही होता है; तथा भगवान का दर्शन भी भगवान के द्वारा ही होता है, किन्तु मायिक इन्द्रियों तथा अन्तःकरण द्वारा नहीं होता।' इस तरह वार्ता करने के पश्चात् श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने निवास स्थान पर पधारे।

॥ इति वचनामृतम् ॥51॥

वचनामृत 52 : चार शास्त्रों से भगवान को समझना

संवत् 1876 में माघ कृष्णा तृतीया (2 फरवरी, 1820) को श्रीजी-

78. जैसे लोभी द्रव्य में, कामी अपनी मनचाही स्त्री में आसक्त होता है, तब वह सबकुछ भूलकर तद्रूप हो जाता है। ठीक उसी तरह पुरुषोत्तम में ही तन्मय हो जानेवाले को पुरुषोत्तमरूप कहा गया है।

महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन के ऊपर की मंजिल के बरामदे में कथावाचन[79] करवा रहे थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में संतवृंद तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे। कथा में प्रसंग आया कि सांख्य, योग, वेदान्त तथा पंचरात्र, इन चार शास्त्रों द्वारा जो पुरुष भगवान के स्वरूप को समझ लेता है, वही पूर्ण ज्ञानी कहलाता है। तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज ! इन चार शास्त्रों द्वारा किस प्रकार भगवान को जाना जा सकता है ? यदि इन चार शास्त्रों द्वारा भगवान को न जाना जा सके तो उसमें कौन-सी न्यूनता रहती है, वह बताइए।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'सांख्यशास्त्र भगवान को चौबीस तत्त्वों से परे पच्चीसवाँ बताता है। चौबीस तत्त्व जिस प्रकार भगवान के बिना कुछ भी करने में समर्थ नहीं होते, उसी प्रकार जीव-ईश्वर भी भगवान के बिना कुछ भी करने में समर्थ नहीं हो पाते। इसीलिए, जीव-ईश्वर की भी चौबीस तत्त्वों के भीतर ही गणना की जाती है; तथा जीव-ईश्वर सहित ऐसे जो चौबीस तत्त्व हैं, उन्हें क्षेत्र कहा जाता है और पच्चीसवें जो भगवान हैं, उन्हें क्षेत्रज्ञ कहते हैं। योगशास्त्र भगवान को छब्बीसवाँ तत्त्व तथा मूर्तिमान बताता है और जीव-ईश्वर को पच्चीसवाँ कहता है तथा चौबीस तत्त्वों को पृथक् बताता है। उसका यह निर्देश भी है कि इन तत्त्वों से अपनी आत्मा को पृथक् समझकर भगवान का ध्यान करते रहना चाहिए। वेदान्तशास्त्र भगवान को सबका कारण, सर्वव्यापक, सर्वाधार, निर्गुण, अद्वैत, निरंजन तथा कर्ता होने पर भी अकर्ता, प्राकृत विशेषणरहित तथा दिव्य विशेषणसहित बताता है।

पंचरात्र शास्त्र ने भगवान के सम्बंध में यह बताया है कि श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम नारायण ही वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न नामक चतुर्व्यूहरूप होते हैं और पृथ्वी पर अवतार धारण करते हैं। जो पुरुष उनकी नव प्रकार की भक्ति करता है, उसका कल्याण होता है। इस प्रकार, ये चार शास्त्र भगवान के सम्बंध में जैसा वर्णन करते हैं, उसे यथार्थरूप में समझनेवाला पुरुष ही पूर्ण ज्ञानी कहलाता है। यदि अन्य तीन शास्त्रों को छोड़कर जो पुरुष केवल सांख्यशास्त्र के द्वारा ही भगवान के स्वरूप को समझता है, उसमें बाधा उत्पन्न हो जाती है। क्योंकि सांख्यशास्त्र में जीव-

79. मोक्षधर्म की।

ईश्वर को तत्त्वों से अलग नहीं बताया गया है, इसलिए जब तत्त्वों का निषेध करके तत्त्वों से अपनी जीवात्मा को पृथक् समझा जाए, तभी पच्चीसवाँ अपनी जीवात्मा को समझा जा सकेगा, किन्तु भगवान को नहीं समझा जा सकता।' यदि अकेले योगशास्त्र द्वारा ही भगवान के स्वरूप को समझा जाए, तो यह दोष आता है कि 'योगशास्त्र ने भगवान को मूर्तिमान बताया है। वह उन्हें परिच्छिन्न मानता है, किन्तु अन्तर्यामी और परिपूर्ण नहीं मानता।' जो एकमात्र वेदान्तशास्त्र द्वारा ही भगवान के स्वरूप को समझता है, तो यह दोष आता है कि 'भगवान को जिस प्रकार सर्वकारण, सर्वव्यापक तथा निर्गुण कहा गया है, उन्हें वह निराकार समझता है, परन्तु वह भगवान के प्राकृत कर-चरणादि रहित और दिव्य अवयव वाले सनातन आकार को नहीं मानता।' यदि अकेले पंचरात्र शास्त्र द्वारा ही भगवान के स्वरूप को समझा जाए, तो यह दोष उपस्थित हो जाएगा कि भगवान के अवतार के प्रति भक्ति कही है लेकिन उसमें मनुष्यभाव आता है तथा उनमें एकदेशस्थ भाव (केवल एक स्थान में रहने का भाव) होता है, परन्तु इससे भगवान के सर्वान्तर्यामी होने तथा उनके परिपूर्ण होने के भाव की समझ नहीं हो पाती है!'

अतः इन चारों शास्त्रों द्वारा भगवान को न समझा जाए तो उपरोक्त दोष उपस्थित होते हैं। यदि इन चारों शास्त्रों के माध्यम से भगवान के स्वरूप को समझा जाए, तो एक शास्त्र के ज्ञान से उपस्थित होनेवाले दोष का निराकरण अन्य शास्त्र के बोध से सहज हो जाता है। इसीलिए, इन चारों शास्त्रों के माध्यम से जो भगवान के स्वरूप को समझता है, उसको परिपूर्ण ज्ञानी कहते हैं। जो इन चारों शास्त्रों में से एक शास्त्र को छोड़ दे, उसे पौन-ज्ञानी कहते हैं। दो शास्त्रों को छोड़नेवाला अर्ध ज्ञानी कहलाता है और तीन शास्त्रों को छोड़नेवाले को पाव ज्ञानी कहा जाता है। जो इन चारों शास्त्रों को छोड़कर अपने मन की कल्पना से चाहे किसी भी तरह शास्त्रों को समझकर उनका पालन करता हो, वह भले ही वेदान्ती हो या उपासनावाला हो, दोनों को ही पथभ्रष्ट माना जाएगा और उनमें से किसी को भी कल्याण का मार्ग अब तक हाथ में नहीं आया है। अतः वह वेदान्ती भी दम्भी ज्ञानी है तथा ऐसा उपासक भी दम्भी भक्त है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥52॥

वचनामृत 53 : उन्नति और अवनति

संवत् 1876 में माघ कृष्णा नवमी (8 फरवरी, 1820) को श्रीजी-महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पश्चिम की ओर मुखारविन्द करके पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत चूड़ीदार पाजामा और सफ़ेद अंगरखा पहना था तथा जरीदार पल्लेवाला कुसुम्बी रंग का भारी शेला कमर पर बाँधा था, सिर पर पल्लेवाला नीले रंग का भारी रेंटा धारण किया था। पाग में पुष्पों के तुर्रे झूल रहे थे। उन्होंने कंठ में पुष्पों के हार पहने थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'कोई प्रश्न पूछिये।'

उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'कोई तो सत्संग में रहकर दिन-प्रतिदिन उन्नति करता रहता है और किसी की सत्संग में रहने पर भी दिन-प्रतिदिन अवनति होती रहती है। इसका क्या कारण है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, **'महान साधु में अवगुण देखनेवाला हमेशा अवनति पाता रहता है, और उन साधु के गुणों को ग्रहण करनेवाले की उन्नति होती रहती है और भगवान में उसकी भक्ति भी बढ़ती जाती है।** अतः उन साधु में अवगुण नहीं देखना चाहिए। बल्कि उनके गुणों को ही ग्रहण करना चाहिए। यदि साधु, परमेश्वर द्वारा निर्धारित पंचव्रतों की मर्यादाओं में से किसी मर्यादा का उल्लंघन करे, तभी उसमें अवगुण समझना ठीक है, परन्तु पंचव्रतों का उन्होंने तनिक भी उल्लंघन न किया हो, और केवल उनकी स्वाभाविक प्रकृति ठीक न लगे, इतने भर अवगुण को देखकर यदि कोई उन साधु के अन्य अनेक गुणों की उपेक्षा करके, उनका केवल अवगुण ही ग्रहण करता है, तो उस दोष को देखनेवाले के ज्ञान-वैराग्य आदि शुभ गुण कम हो जाते हैं। इसलिए, पंचव्रतों के पालन में कोई अन्तर दिखाई पड़ने पर ही साधु का अवगुण समझना, किन्तु भगवान के भक्त का यों ही अवगुण नहीं देखना चाहिए। यदि वह अवगुण नहीं देखता है, तो उसके शुभ गुणों की दिन-प्रतिदिन

वृद्धि होती रहती है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥53॥

वचनामृत 54 : भागवतधर्म का पोषण और मोक्ष का द्वार

संवत् 1876 में माघ कृष्णा एकादशी (10 फरवरी, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी, जरी के पल्लेवाला कुसुम्बी रंग का 'रेटा' ओढ़ा था और आसमानी रंग का जरीदार रेशमी फेंटा सिर पर बाँधा था। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में संतवृंद तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में जनकराजा तथा नव योगेश्वर के संवाद द्वारा बताए गए भागवतधर्म का पोषण कैसे होता है और जीव के लिए मोक्ष का द्वार किस प्रकार खुला रह सकता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि **'स्वधर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा माहात्म्य-ज्ञान सहित भगवद्भक्ति करनेवाले भगवान के एकान्तिक साधु के प्रसंग से भागवतधर्म का पोषण होता है तथा ऐसे साधु के प्रसंग से ही जीवों के लिए मोक्ष का द्वार भी खुल जाता है।** यही बात कपिलदेव भगवान ने देवहूति से कही है :

'प्रसंगमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥'[80]

इस जीव को अपने सम्बंधीजनों से जैसा दृढ़ प्रसंग[81] रहता है, वैसा का वैसा ही प्रसंग यदि भगवान के एकान्तिक साधु से रहे, तो इस जीव के लिए मोक्ष का द्वार खुल जाता है।'

फिर शुकमुनि ने पूछा, 'चाहे कैसी भी आपत्ति आ जाए, किन्तु स्वधर्म से विचलित न होनेवाले पुरुष को किस लक्षण द्वारा परखा जा सकता है?'

80. श्रीमद्भागवतम् : 3/25/20
81. **प्रसंग :** अत्यंत प्रीतिपूर्वक लगाव यानी आत्मबुद्धिपूर्वक जुड़ जाना।

तब श्रीजीमहाराज बोले, **'जिसे परमेश्वर के वचनों के पालन की तत्परता रहती हो तथा छोटे-बड़े वचन का लोप न कर सके, ऐसा जिसका स्वभाव हो, उसे चाहे कैसा ही आपातकाल आ जाए, तो भी वह धर्म से च्युत नहीं होता। इसीलिए, जिसमें वचनपालन की दृढ़ता रहती है, उसका ही धर्म सुदृढ़ रहता है, तथा सत्संग भी उसी का सुदृढ़ रहता है।**

॥ इति वचनामृतम् ॥54॥

वचनामृत 55 : भजन-स्मरण तथा व्रत-नियम की दृढ़ता

संवत् 1876 में माघ कृष्णा एकादशी (10 फरवरी, 1820) को श्रीजीमहाराज दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास-स्थान में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में सन्तवृंद तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम प्रारम्भ कीजिए।' उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जीव में भजन, स्मरण तथा व्रत-नियमों के पालन की एक समान दृढ़ता क्यों नहीं रहती?' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'अशुभ देश, काल, क्रिया और संग का योग होने के कारण ऐसी दृढ़ता नहीं रहती। यह दृढ़ता भी तीन प्रकार की होती है: उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। किन्तु देश, काल, क्रिया और संग बहुत खराब होने पर वे उसकी उत्तम दृढ़ता को भी समाप्त कर डालते हैं। फिर मध्यम और कनिष्ठ दृढ़ता की तो बात ही क्या करें? देश, काल, क्रिया और संग के अत्यन्त खराब होने पर भी यदि दृढ़ता ज्यों की त्यों बनी रहती है, तो उसका कारण पूर्वजन्म के बीजरूप भारी संस्कार और भारी पुण्य हैं। यदि देश, काल, क्रिया और संग, सभी अतिपवित्र हैं, फिर भी किसी की बुद्धि मलिन हो जाती है, तो उसका यही कारण है कि उसके पूर्वजन्म तथा इस जन्म का कोई बड़ा पाप आज बाधक बन रहा है अथवा भगवान के किसी बड़े भक्त के साथ किया गया द्रोह उसके मार्ग में रुकावट डाल रहा है, क्योंकि देश, काल, क्रिया और संग

अच्छा होने पर भी उसका अन्तःकरण खराब हो जाता है। इसीलिए **अब वह सत्पुरुष की सेवा में यदि सावधान हो जाए, तो उसके पाप जलकर भस्म हो जाते हैं।** यदि अतिपापी का संग हो जाए, तो पाप में वृद्धि होती है तथा कुछ पुण्य बचा हो, वह भी नष्ट हो जाता है। और मदिरापान करनेवाली वेश्याओं के गले में हाथ डालकर कोई बैठ जाए, फिर परमेश्वर को दोष दे कि 'भगवान ने मेरा मन ठिकाने पर क्यों नहीं रखा?' ऐसे पुरुष को तो महामूर्ख समझना चाहिए।'

॥ इति वचनामृतम् ॥55॥

वचनामृत 56 : निर्मानी भक्त की महत्ता; इष्टदेव की निष्ठा

संवत् 1876 में माघ कृष्णा द्वादशी (11 फरवरी, 1820) को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी। जरीदार नीले रंग का 'रेटा' ओढ़ा था और सिर पर घुमावदार पल्ले का कुसुम्बी फेंटा बाँधा था। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनिगण तथा स्थान-स्थान से आए हरिभक्त बैठे हुए थे। नारायण-धुन करके मुनिगण झाँझ-मृदंग लेकर कीर्तन कर रहे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब कीर्तन स्थगित कीजिए और थोड़ी देर के लिए प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ करें।' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'अच्छा, मैं प्रश्न पूछता हूँ कि 'श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में चार प्रकार के भक्त बताए हैं, उनमें ज्ञानी को अधिक (श्रेष्ठ) बताया है।[82] फिर भी, जब इन चारों प्रकार के भक्तों में, भगवान के स्वरूप का निश्चय एक समान ही रहता है, तब ज्ञानी को ही श्रेष्ठ क्यों बताया गया है?'

मुनि इस प्रश्न का यथेष्ट उत्तर न दे सके।

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि, 'ज्ञानी तो ब्रह्मभाव की स्थिति में

82. गीता : 7/16-17; ज्ञानी स्वयं को ब्रह्मरूप मानकर एकमात्र परमात्म-भक्ति की ही अभिलाषा रखता है, इसी कारण उसको आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी से अधिक कहा गया है।

रहता है तथा भगवान की महिमा को यथार्थरूप में जानता है। इसलिए, उसे भगवान के स्वरूप के सिवा मन में अन्य किसी प्रकार की कामना नहीं रहती। किन्तु तीन प्रकार के अन्य भक्तों को यद्यपि भगवान का निश्चय तो रहता है, फिर भी वे भगवान की महिमा यथार्थरूप से नहीं जानते, अतः इनमें भगवान के अतिरिक्त अन्य कामनाएँ बनी रहतीं हैं, इसलिए, वे ज्ञानी के समान श्रेष्ठ नहीं हो सकते। अतः भगवान के भक्त के मन में भगवान के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की कामना रहती है, तो यह एक बड़ी कमी है। जिसमें किसी तरह की वासना न हो, और तीव्र वैराग्यवान हो, फिर भी वह वैराग्य के योग से अहंकारपूर्ण आचरण करता है, तो वह उसमें एक बड़ी कमी है। यदि कोई अत्यन्त आत्मज्ञान अथवा भगवान में दृढ़ भक्ति होने के घमंड से गरीब हरिभक्त के प्रति नम्र व्यवहार नहीं करता अथवा उसके समक्ष विनयपूर्ण वचन नहीं बोलता, तो यह भी उसमें बड़ा दोष है। इस दोष के कारण उस हरिभक्त की निष्ठा वृद्धि नहीं पा सकती।

जिस प्रकार संगतराश (भूमिगत जलविशेषज्ञ) कुआँ खोदता हो और नीचे के भाग में पत्थर की ध्वनि यदि कम सुनाई दे तो वह कहेगा कि 'पानी बहुत होगा', किन्तु ऊपरी तौर पर खनकनेवाले कठिन पत्थर हों, और उसे काटते समय (हथौड़े की चोट के कारण) अग्नि की चिंगारियाँ उड़ें तो संगतराश यह कहेगा कि इस कुएँ में पानी तो होगा, लेकिन कम होगा। उसी प्रकार जो पुरुष ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति के घमंड से उन्मत्त रहता है, वह यद्यपि बड़ा तो कहलाता है, फिर भी उसमें निरभिमान भक्त के सदृश महान गुण नहीं रहते। इसलिए, **जो भगवान को प्रसन्न करने की इच्छा रखता हो, उसे ज्ञान, वैराग्य, भक्ति तथा किसी अन्य श्रेष्ठ गुण के रहने के अहंकार से उन्मत्त नहीं होना चाहिए।** तभी उस पुरुष के हृदय में प्रकट प्रमाण श्रीकृष्ण नारायण प्रसन्न होकर निवास करते हैं।'

यह सुनकर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि, 'हे महाराज! ज्ञान, वैराग्य, भक्ति तथा अन्य शुभ गुणों के योग से यदि अभिमान उत्पन्न हो जाए, तो उसे किस उपाय द्वारा टालना चाहिए?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा, 'भगवान के भक्तों के माहात्म्य को जानकर स्वयं उन्हें नमस्कार करें, और उनकी सेवा-चाकरी करें। यदि हृदय में मान

का कोई संकल्प उत्पन्न हो, तो ऐसे विपरीत विचारों को पहचाने तथा (आत्म) विचार का बल रखें, तभी उसका मान मिट जाता है। और, अतिशय प्रेमलक्षणा भक्ति के फलस्वरूप भगवान यदि उस भक्त के वश में हो गए तब उस भक्त के हृदय में कदाचित् भक्ति का घमंड पैदा हो जाए, तो भी उसमें यह एक बड़ी कमी रहेगी। यदि आत्मज्ञान अथवा वैराग्य का मान रहता है, तो भी वह मान देहात्मबुद्धि को ही दृढ़ करता है। इसलिए, भगवान के भक्तों को किसी भी प्रकार का मान नहीं रखना चाहिए, यही भगवान को प्रसन्न करने का उपाय है। जो अन्तर्दृष्टिवाले भगवान के भक्त हों, वे यदि आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने हृदय को टटोलकर देखेंगे, तो उन्हें थोड़ा-सा भी मान रहता होगा, तब उसके अन्तःकरण में विराजमान भगवान की मूर्ति की दृष्टि कठोर दिखाई पड़ेगी और जब उसे निर्मान-भाव रहेगा, तब अपने हृदय में बस रहे भगवान की मूर्ति की दृष्टि अतिशय प्रसन्न प्रतीत होगी। इसीलिए, भगवान के भक्तों को (आत्म) विचार का बल रखकर किसी भी प्रकार के मान को उत्पन्न होने का अवसर नहीं देना चाहिए। मानयुक्त ज्ञान, वैराग्य और भक्ति 'मिलावट वाला स्वर्ण' ही समझा जाएगा। जिस प्रकार, सोने में मिलावट होने पर उसे पन्द्रह अंश (कैरेट) का स्वर्ण कहते हैं, उससे अधिक मिलावट होने पर वह बारह अंश का और उससे बहुत अधिक मिलावट होने पर आठ अंशवाला सोना कहा जाता है, उसी तरह उन भक्तों के ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति में जैसे-जैसे अहंकार का मिश्रण अधिक होता जाएगा, वैसे-वैसे ये तीनों सद्गुण कम होते जाएँगे। अतः मानरहित ज्ञान, वैराग्य और भक्ति सोलह अंशवाले स्वर्ण के समान हैं तथा मानयुक्त लोगों में ये सद्गुण ऊपर से तो बहुत अच्छे दिखते हैं, किन्तु ऐसे लोगों के अंतःकरण में अधिक बल नहीं होता है। जैसे एक दृष्टान्त है कि जिस प्रकार 'पचास कोटि योजन पृथ्वी पूरे समुद्र, पर्वत तथा समस्त भूतप्राणिमात्र की आधार है, अतः बहुत बलिष्ट दिखाई देती है! उससे भी अधिक जल है, जो बहुत शक्तिशाली मालूम पड़ता है, क्योंकि उस जल में पृथ्वी कंडे की भाँति तैरती रहती है, और जल की अपेक्षा तेज में अधिक बल होने की प्रतीति होती है, तेज की अपेक्षा वायु में अधिक बल जान पड़ता है, किन्तु आकाश में तो कुछ भी बल मालूम नहीं होता, फिर भी वह सबसे अधिक शक्तिशाली प्रतीत होता

है, क्योंकि आकाश इन चारों का आधाररूप है। उसी प्रकार, निर्मानी भक्त के ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति आकाश के समान बलवान हैं, जो ऊपर-ऊपर से तो कुछ भी प्रतीत नहीं होता है, किन्तु निर्मानी भक्त सबसे श्रेष्ठ है। जिस प्रकार बालक को किसी भी प्रकार के मान का संकल्प नहीं होता, उसी प्रकार साधु भी अपनी चाहे जितनी पूजा-प्रतिष्ठा हो, परन्तु उसे हमेशा बालक के समान मानरहित ही बरतना चाहिए!'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा, 'इन्द्रियों, अन्तःकरण, प्राण तथा जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति; इन तीन अवस्थाओं और स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण, इन तीन शरीरों से जीव का स्वरूप भिन्न है, ऐसा सत्संग में सुनकर दृढ़ निश्चय किया है, फिर भी इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के साथ मिलकर सुखरूप जीवात्मा, परमात्मा का भजन-स्मरण करती हुई भी संकल्पों के योग से दुःखी क्यों हो जाती है?'

श्रीजीमहाराज ने कहा, **'कितने ही सिद्ध होते हैं, और कितने सर्वज्ञ होते हैं, तथा कुछ देवता होते हैं, इत्यादि अनन्त प्रकार की महत्ता को पाते हैं, तथा परमपद को प्राप्त करते हैं, वह सभी भगवान की उपासना के बल से प्राप्त करते हैं, परन्तु उपासना के बिना कोई भी साधना सिद्ध नहीं होती।** इसीलिए, शास्त्रों में आत्मा एवं अनात्मा का विवरण समझकर अथवा किसी बड़े सन्त के मुख से बात सुनकर कोई यह मान ले कि 'मैं आत्मा एवं अनात्मा का विवेक प्राप्त कर लूँगा', किन्तु इस तरह यह बात उसे सिद्ध नहीं होती। वह तो उस जीव को अपने इष्टदेव परमेश्वर में जितनी निष्ठा रहती है, उतना ही आत्मा-अनात्मा का विवेक प्राप्त होता है, परन्तु इष्टदेव के बल के बिना कोई भी साधना सिद्ध नहीं होती। फिर भी, जिसमें गोपियों जैसी प्रेमलक्षणा भक्ति है, उसकी समस्त साधनाएँ पूर्ण हो चुकी हैं। और, जिसके हृदय में ऐसा प्रेम न हो, उसे तो भगवान की महिमा को समझना कि 'भगवान गोलोक, वैकुंठ, श्वेतद्वीप तथा ब्रह्मधाम के स्वामी हैं और वे भक्तों के सुख के लिए ही मनुष्य-जैसे दिखाई पड़ते हैं, परन्तु गोलोक आदि अपने धामों में अपनी मूर्ति के एक-एक अंश में कोटि-कोटि सूर्यों का प्रकाश द्योतित होता है। और, मर्त्यलोक में मनुष्य ऐसे भगवान की सेवा करते हैं, तब भले ही भक्त दीपक जलाए तभी

भगवान के आगे प्रकाश होता हो, परन्तु, वे सूर्य-चन्द्रादि सबको प्रकाश के दाता हैं। और, गोलोकादि धामों में राधिका, लक्ष्मी आदि अपने भक्तों द्वारा की गई सेवा को वह भगवान निरन्तर ग्रहण करते हैं। और, जब ब्रह्मांडों का प्रलय होता है, तब ये प्रकट भगवान एकमात्र ही रहते हैं और उसके पश्चात् सृष्टि-रचना के समय में भी प्रकृति-पुरुष द्वारा अनन्तकोटि ब्रह्मांडों को ये ही भगवान उत्पन्न करते हैं।' इस प्रकार भगवान की महिमा का विचार करना, यही आत्मा एवं अनात्मा के विवेक का कारण है। और, जितनी उस भक्त को भगवान की माहात्म्यसहित निष्ठा है, उतना ही उस भक्त के हृदय में वैराग्य उत्पन्न होता है। अतः अन्य साधनों के बल का परित्याग करके एकमात्र भगवान की उपासना का बल ही रखना चाहिए। और, जो ऐसा भक्त होता है, वह यही समझता है कि 'चाहे कैसा ही पापी क्यों न हो, किन्तु यदि वह **अन्त समय में 'स्वामिनारायण' नाम का उच्चारण करता है, तो समस्त पापों से मुक्त होकर ब्रह्मधाम में निवास करता है। तब, जो भगवान का आश्रित हो, वह भगवान के धाम को प्राप्त हो, इसमें संशय ही क्या है !'** ऐसा माहात्म्य समझना चाहिए। इसलिए भगवान के भक्त को भगवान की उपासना के बल को सत्संग के द्वारा दिन-प्रतिदिन बढ़ाते रहना चाहिए।'

॥ इति वचनामृतम् ॥56॥

वचनामृत 57 : मोक्ष के असाधारण कारण

संवत् 1876 में फाल्गुन शुक्ला द्वितीया (15 फरवरी, 1820) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में साधुओं के निवास स्थान पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में साधुवृंद तथा स्थान-स्थान से आए हरिभक्त बैठे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जो प्रश्नोत्तर करना जानते हैं, वे एक-एक प्रश्न पूछें।' तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! मोक्ष का असाधारण कारण क्या है?'

श्रीजीमहाराज बोले कि **'भगवान के स्वरूप का ज्ञान तथा भगवान के माहात्म्य को जानना, ये दो मोक्ष के असाधारण कारण हैं।'**

मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान में जो स्नेह है, उसका रूप

(परिभाषा) क्या है?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'स्नेह का रूप यह है कि स्नेह में किसी भी प्रकार का विचार नहीं चाहिए। यदि गुणों का विचार करके स्नेह किया जाएगा, तो उसका वह स्नेह अवगुण दीखने पर टूट जाएगा। अतः स्नेह जैसा हुआ हो, उसे वैसा ही रहने देना। बार-बार विचार करके स्नेह का स्थापन-उत्थापन मत करना तथा मूढ़ता के साथ भगवान में स्नेह करना। यदि गुणों पर विचार करके स्नेह करें, तो उसका विश्वास ही नहीं रहता। इसलिए, देह के सम्बन्धियों के साथ जैसा स्नेह होता है, ऐसा ही स्नेह भगवान से करना। इसी स्नेह को मूढ़तापूर्ण स्नेह कहते हैं। भगवान के माहात्म्य को जानकर जो स्नेह होता है, वह तो दूसरी ही तरह का है,[83] ऐसा समझना चाहिए।'

फिर शिवानन्द स्वामी ने पूछा, 'सत्संग में रहने की गरज़ तो है, फिर भी कोई अनुचित स्वभाव रह जाता है, वह क्यों नहीं टलता?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जो स्वभाव सत्संग में विघ्न डालता हो, उस पर जब तक अरुचि पैदा न हो जाए, तब तक उसे सत्संग की पूरी गरज़ ही कहाँ है? और उस स्वभाव को भी पूरा शत्रु कहाँ समझा है? जैसे कोई पुरुष अपना मित्र हो और उसी ने अपने भाई को मार डाला हो, तो फिर उसके साथ मित्रता नहीं रहती और उसी का सिर काटने के लिए वह तैयार हो जाता है। क्योंकि मित्र की अपेक्षा भाई का सम्बंध अधिक है। वैसे ही अपना जो स्वभाव नियम-पालन में बाधा डालकर अपने को सत्संग से विमुख करता हो, उस स्वभाव पर यदि वैरभाव नहीं हो जाता, तथा उस स्वभाव पर क्रोध नहीं आता, तब समझना कि उसे सत्संग में पूर्ण स्नेह नहीं है। और, अपने भाई पर जैसा स्नेह मनुष्य को रहता है वैसा ही स्नेह यदि सत्संग पर रहे, तो वह अनुचित स्वभाव को तत्काल मिटा सकता है। क्योंकि जीव अतिसमर्थ है। जैसे कि मन और इन्द्रियाँ आदि क्षेत्र हैं तथा जीव इनका क्षेत्रज्ञ है, अतः जीव जो चाहे, वह कर सकता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥57॥

---

83. अर्थात् भगवान के मनुष्य-चरित्रों को देखते हुए भी क्षीण न होनेवाला, सुदृढ़ एवं प्रतिदिन बढ़नेवाला स्नेह, जो मूढ़तापूर्ण स्नेह से अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठ है।

वचनामृत 58 : देह, कुसंग और पूर्व संस्कार

संवत् 1876 में फाल्गुन शुक्ला पंचमी (18 फरवरी, 1820) को संध्याकालीन आरती के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में परमहंसों के निवास स्थान पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में स्थान-स्थान से आए हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि प्रश्न पूछिये। तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न किया, 'हे महाराज! भजन-स्मरण करते समय भगवान के भक्त के हृदय में रजोगुण तथा तमोगुण के वेग उत्पन्न होते हैं, तब भजन एवं स्मरण का सुख प्राप्त नहीं होता। अतः कृपया बताइए कि इन गुणों के वेग कैसे मिट सकते हैं?' इस प्रश्न के उत्तर में श्रीजीमहाराज बोले कि, 'इन (मायिक) गुणों की प्रवृत्ति के तीन कारण हैं - देह (देहात्मबुद्धि), कुसंग तथा पूर्वसंस्कार। उनमें देह के योग से जो गुण प्रवर्तमान रहते हों, वे आत्मा-अनात्मा के विचार द्वारा मिट जाते हैं। और, जो कुसंग द्वारा प्रवृत्त हुए हो, वह सन्त की संगत से दूर हो जाते हैं। किन्तु रजोगुण-तमोगुण के जो वेग उपरोक्त दोनों साधनों के द्वारा भी नहीं टलते, वे पूर्वजन्म के किसी अशुभ संस्कार के योग से निर्माण हुए हैं, उनका टलना अत्यन्त कठिन होता है।'

फिर आनन्दानन्द स्वामी ने पूछा, 'यदि पूर्वजन्म के संस्कार मलिन हों, तो वे कैसे टल सकते हैं?' तब श्रीजीमहाराज बोले, **'जिस पर अतिशय महान सत्पुरुष की प्रसन्नता हो जाए, उसके चाहे जितने भी मलिन संस्कार हों, वे भी नष्ट हो जाते हैं और उनके प्रसन्न होने से रंक भी राजा हो जाता है। इसके साथ ही चाहे जितने अनिष्टकारी प्रारब्ध कर्म हों, वे सब शुभ हो जाते हैं और उसके सिर पर चाहे जितना बड़ा विघ्न उपस्थित होनेवाला हो, वह नष्ट हो जाता है।'**

इस उत्तर पर आनन्दानन्द स्वामी ने पुनः पूछा, 'कौन-सा उपाय करने से ऐसे महान सन्त प्रसन्न होते हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि, 'सबसे पहली बात यह है कि महान संत से निष्कपटभाव से जुड़ जाए तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर,

आशा, तृष्णा, अहंकार और ईर्ष्या आदि का त्याग करें, तथा सन्त का गुलाम होकर रहे। और, अन्तःकरण में मान की भावना रहने पर भी दैहिक रूप से सबके प्रति विनम्र भाव से रहे, तो उस भक्त पर महान सन्त प्रसन्न होते हैं!'

इसके बाद महानुभावानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! सत्संग में रहते हुए समस्त अवगुणों का नाश हो जाए और भगवान की भक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती रहे, इसका क्या उपाय है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो भक्त महापुरुष का गुण जैसे-जैसे ग्रहण करता जाता है, वैसे-वैसे उसकी भक्ति में वृद्धि होती जाती है। और, अति महान संत को अत्यन्त निष्कामी समझ लें, तो स्वयं भले ही कुत्ता जैसा कामी हो, फिर भी वह निष्कामी बन जाता है, और यदि महापुरुष में कामुकता का दोष सोचनेवाला मनुष्य चाहे जितना भी निष्कामी हो, फिर भी वह घोर कामी हो जाता है। और, महान संत में क्रोध एवं लोभवृत्ति की कल्पना करनेवाला स्वयं क्रोधी और लोभी हो जाता है। और, **यदि महान सन्त को अतिशय निष्कामी, निर्लोभी, निःस्वादी, निर्मानी और निःस्नेही समझे, तो वह भी इन समस्त विकारों से मुक्त हो जाता है, और दृढ़ हरिभक्त बन जाता है।** ऐसे दृढ़ हरिभक्त की क्या पहचान है? तो जिसे अच्छे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक पाँच विषयों के प्रति उसी प्रकार अरुचि हो, जैसे कोई दुःखदायी चीज़ के प्रति अरुचि रहती है, और एकमात्र परमेश्वर के स्वरूप में ही जिसकी अचल निष्ठा रहती हो, उसी को दृढ़ हरिभक्त जानना। ऐसा दृढ़ हरिभक्त होने का केवल यही उपाय है कि परमेश्वर के दास का गुलाम होकर रहे, और यह समझे कि **'ये समस्त भक्त बड़े हैं और मैं सबसे न्यून हूँ।' ऐसा जानकर वह हरिभक्त का दासानुदास होकर रहे। और, जो पुरुष इस प्रकार रहता है, उसके समस्त विकारों का विनाश हो जाता है और दिन-प्रतिदिन उसके ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि शुभ गुण बढ़ते रहते हैं।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥58॥

वचनामृत 59 : असाधारण स्नेह

संवत् 1876 में फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी (27 फरवरी, 1820) को

श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा–स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी। सफ़ेद चादर ओढ़ी थी, मस्तक पर रेशमी किनारीदार श्वेत धोती बाँधी थी और उनका ललाट चन्दन की अर्चना से सुशोभित था। उस समय उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनिगण तथा स्थान–स्थान से आए हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ कीजिए!' तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न किया, 'हे महाराज! भगवान में असाधारण प्रेम होने का क्या उपाय है?' तब श्रीजीमहाराज ने उत्तर देते हुए कहा कि 'सबसे पहले तो भगवान के प्रति ऐसा विश्वास हो कि 'यह जो मुझे मिले हैं, वे निश्चित रूप से भगवान हैं।' इसके साथ ही उसे आस्तिकता हो; एवं वह भगवान के ऐश्वर्य को जानता हो कि 'ये भगवान ब्रह्मधाम, गोलोक तथा श्वेतद्वीप आदि समस्त धामों के स्वामी और अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के अधिष्ठाता और सबके कर्ता हैं। और, पुरुष, काल, कर्म, माया, तीन गुणों, चौबीस तत्त्वों तथा ब्रह्मादिक देवों में से किसी को भी इस ब्रह्मांड का कर्ता नहीं मानता हो, परन्तु एकमात्र भगवान पुरुषोत्तम को ही इन सभी के कर्ता और सबका अन्तर्यामी समझता हो। इस प्रकार की समझ के साथ जिसका प्रत्यक्ष भगवान के स्वरूप में दृढ़ निश्चय हो, वही परमेश्वर में असाधारण स्नेह होने का उपाय है।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा, 'भगवान की ऐसी महिमा जानने पर भी यदि असाधारण स्नेह नहीं होता, तो उसका क्या कारण है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि वह भगवान की ऐसी महिमा जानता है, तो भगवान से उसका असाधारण स्नेह है ही! किन्तु उसे अपने स्नेह के विषय में जानकारी नहीं है। जैसे हनुमानजी में अपार बल था, परन्तु किसी के बताए बिना उसकी प्रतीति नहीं हुई।'[84] जैसे प्रलम्बासुर, बलदेवजी को उठाकर ले जाने लगा तब बलदेवजी में अपार बल था, किन्तु वे स्वयं नहीं जानते नहीं थे। फिर जब आकाशवाणी से सूचित किया गया, तब उन्हें अपने

84. जाम्बवान ने हनुमानजी को उनके बल का बोध कराया था, उसे वाल्मीकि रामायण में **'जाम्बवान् समुदीक्ष्यैवं'** इत्यादि वचनों से कहा गया है।
(किष्किन्धाकांड, सर्ग : 65)

बल के विषय में मालूम हो गया।'[85] उसी प्रकार उस भक्त को भगवान से असाधारण प्रीति तो है, परन्तु (किसी भक्त के द्वारा अवगत कराये बिना) उसे मालूम नहीं होता।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'ऐसी अनन्य प्रीति है, ऐसा कब जान सकते हैं?' श्रीजीमहाराज बोले कि 'सत्संग तथा सत्शास्त्रों का श्रवण करते हुए उसे अपनी भगवान में असाधारण प्रीति अनुभव होती है।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा, 'देश, काल तथा क्रिया के शुभ अथवा अशुभ होने का कारण संग है या अन्य कोई वस्तु?'

श्रीजीमहाराज ने उत्तर में कहा कि 'पृथ्वी को देश कहते हैं और वह देश सभी स्थानों पर एक समान रहता है, और काल भी एक समान है, परन्तु अतिशय महान समर्थ पुरुष जिस देश में रहते हों, उनके प्रताप से अशुभ देश, अशुभ काल, अशुभ क्रिया आदि शुभ हो जाते हैं तथा घोर पापी पुरुष जिस देश में रहते हों, उनके योग से अच्छा देश, अच्छी क्रिया और अच्छा काल होते हुए भी सभी अशुभ हो जाते हैं। इसीलिए, शुभ एवं अशुभ देश, काल और क्रिया के हेतु तो पुरुष हैं। यदि वह पुरुष अतिशय समर्थ हो, तो समस्त पृथ्वी में देश, काल और क्रिया को अपने स्वभाव के अनुसार प्रवृत्त करता है। और, यदि उससे निम्न पुरुष हो, तो वह एक देश में उसे प्रवृत्त करता है, और, उससे भी निम्न व्यक्ति एक गाँव में उसे प्रवृत्त करता है। तथा उससे भी निम्नतर पुरुष एक मुहल्ले में तथा अपने घर में ही उसे प्रवर्तित करता है। इस तरह शुभ-अशुभ देश, काल तथा क्रिया की प्रवृत्ति के कारण तो शुभ और अशुभ, दो प्रकार के पुरुष हैं।'

॥ इति वचनामृतम् ॥59 ॥

वचनामृत 60 : वासना को मिटाने की साधना

संवत् 1876 में फाल्गुन कृष्णा प्रतिपदा (1 मार्च, 1820) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में परमहंसों के

85. श्रीकृष्ण भगवान ने बलदेवजी को उनके बल से अवगत कराया था, उसे विष्णुपुराण में **'इति संस्मारितो विप्र!'** इत्यादि वचनों से कहा गया है। (विष्णुपुराण : 5/9/34)

निवासस्थान पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, श्वेत चादर ओढ़ी थी, मस्तक पर सफ़ेद पाग बाँधी थी, उसमें सफ़ेद पुष्पों के तुर्रे लगे हुए थे तथा उनके कंठ में श्वेत पुष्पों के हार सुशोभित हो रहे थे। सभा में उस समय उनके मुखारविन्द के समक्ष मुनिगण तथा स्थान-स्थान से आए हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा, 'समस्त साधनाओं की अपेक्षा वासना को मिटाना, यह सबसे बड़ी साधना है। उस वासना को मिटाने का उपाय यह है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक पाँच विषयों में जितनी अपनी तृष्णा है, उस पर विचार करना चाहिए कि मुझे भगवान में जितनी वासना है, उतनी ही क्या जगत में भी है अथवा उससे न्यून या अधिक है? उसकी परीक्षा करनी चाहिए। जैसे कि भगवान की बातें सुनने में श्रोत्रेन्द्रिय जितनी लुब्ध होती है, उतनी ही यदि जगत की बातें सुनने में आकृष्ट होती हो, तो यह समझना चाहिए कि भगवान तथा जगत में समान वासना है। इसी प्रकार स्पर्श, रूप, रस और गंध इत्यादि विषयों से होनेवाली अपनी स्थिति का पता लगाना चाहिए। इस प्रकार जब पता लगाते-लगाते जगत की वासना को कम करता रहता है, तथा भगवान सम्बंधी वासना को बढ़ाता जाता है, तब परिणामस्वरूप पंचविषयों में उसकी समबुद्धि हो जाती है। और, समबुद्धि होने के पश्चात् उसे निन्दा एवं स्तुति समान लगती है तथा अच्छा स्पर्श और बुरा स्पर्श एक समान प्रतीत होता है। उसी तरह अच्छा रूप और बुरा रूप, तथा बालिका, युवती एवं वृद्धा स्त्रियाँ तथा कचरा और कांचन - यह सब समान प्रतीत होता है। ठीक उसी तरह अच्छा और बुरा स्वाद और गन्ध भी समान प्रतीत होने लगते हैं। इस तरह जब स्वाभाविक रूप से वर्तन हो, तब समझना चाहिए, कि वासना को जीत चुके हैं। और, **वासना-रहित वर्तन हो, वही एकान्तिक का धर्म है।** यदि अल्प वासना भी रह गई, तो समाधि की स्थिति होने पर भी वासना उसे समाधि में से वापस जगत की ओर खींच लाती है। इसलिए, वासना मिटानेवाले को ही एकान्तिक भक्त कहा जाता है।'

यह सुनकर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा, 'वासना को टालने का क्या उपाय है?' तब श्रीजीमहाराज ने उत्तर देते हुए कहा कि 'एक तो आत्मनिष्ठा

की दृढ़ता चाहिए। दूसरा, पंचविषयों की तुच्छता समझनी चाहिए और तीसरा भगवान का अतिशय माहात्म्य समझना चाहिए कि भगवान वैकुंठ, गोलोक एवं ब्रह्ममहोल, इन समस्त धामों के स्वामी हैं, इसलिए, ऐसे भगवान को प्राप्त करके तुच्छ विषयों के सुख में मैं अनुरक्ति क्यों रखूँ?' इस प्रकार भगवान की महिमा का विचार करें और यह सोचें कि भगवान का भजन करने पर भी यदि कोई कमी रह गई और कदाचित् भगवान के धाम की प्राप्ति न हो पाई तथा भगवान यदि हमें इन्द्रलोक एवं ब्रह्मलोक में रखें, फिर भी इस पृथ्वी लोक की अपेक्षा तो वहाँ करोड़ गुना अधिक सुख है।' ऐसा विचार करके इस संसार के तुच्छ सुख की वासना से रहित हो जाना चाहिए। इस प्रकार भगवान की महिमा जानकर जब कोई वासनारहित हो जाता है, तब उसे प्रतीत होता है कि मुझमें कभी वासना थी ही नहीं! वह तो बीच में मुझे कुछ भ्रम-सा हो गया था, परन्तु मैं तो सदा वासनारहित हूँ।' इस प्रकार का जो एकान्तिक धर्म है, वह ऐसा निर्वासनिक पुरुष हो, तथा जिसने भगवान में अपनी स्थिति बना रखी हो, उसके वचनों से ही सुलभ हो जाता है। केवल ग्रन्थों में लिखे हुए वचनों से वह एकान्तिक धर्म प्राप्त नहीं होता। यदि कोई ऐसी बातें सुनकर ठीक इसी प्रकार से वैसी की वैसी बात करने का प्रयत्न करे, तो उसे ऐसी बात करना भी कठिन हो जाता है! अत: **जिसकी एकान्तिक धर्म में सुदृढ़ स्थिति हो गयी हो, उसी के द्वारा ही एकांतिक धर्म की सिद्धि हो सकती है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥60 ॥

वचनामृत 61 : राजा बलि की अनन्य भक्ति

संवत् 1876 में फाल्गुन कृष्णा तृतीया (3 मार्च, 1820) को श्रीजी-महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे पर बिछे हुए पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर रेशमी किनारवाली श्वेत धोती बाँधी थी, सफ़ेद पिछौरी ओढ़ी थी, श्वेत धोती धारण की थी और कंठ में सफ़ेद फूलों के हार पहने थे। उनकी पाग में बायें भाग की ओर श्वेत पुष्पों के तुर्रे लटक रहे थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में साधुवृंद तथा स्थान-स्थान से आए

हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न किया कि 'काम, क्रोध, लोभ तथा भय के योग से भी धैर्य से विचलित न होने का क्या उपाय है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'मैं देह नहीं, बल्कि शरीर से भिन्न और सबको जाननेवाली आत्मा हूँ।' ऐसी आत्मनिष्ठा[86] जिसे सुदृढ़ हो जाती है तब वह किसी भी तरह धैर्य से विचलित नहीं हो सकता। किन्तु आत्मनिष्ठा के बिना यदि अन्य अनेक उपाय क्यों न करें, पर धैर्य कभी नहीं टिकेगा।'

यह सुनकर ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा, 'यदि (उपासनाहीन केवल) आत्मनिष्ठा रहे तो वह अन्त समय में कितनी सहायता करती है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि नदी को तैरकर पार करना है, तो ऐसा काम वही कर सकता है, जिसे तैरना आता हो, किन्तु जिसे तैरना न आता हो, वह मजबूर होकर खड़ा ही रहेगा। किन्तु जब समुद्र को तैरकर पार करना हो, तो दोनों को जहाज की ही आवश्यकता होगी। उसी प्रकार ठंड, धूप, भूख, प्यास, मान, अपमान, सुख एवं दुःखरूपी नदी को आत्मनिष्ठावाला पुरुष तैरकर पार कर लेता है, परन्तु मृत्यु का समय समुद्र के समान है। अतः आत्मनिष्ठावाले या आत्मनिष्ठाहीन, दोनों को ही भगवान के उपासनारूपी जहाज की आवश्यकता होती है। अतएव, अन्तकाल में भगवान का दृढ़ आश्रय ही काम में आता है, आत्मनिष्ठा किसी काम में नहीं आती। इसीलिए भगवान की उपासना को सुदृढ़ करके रखना।'

मुक्तानन्द स्वामी ने पुनः पूछा कि 'भगवान के भक्त के मार्ग में सिद्धियाँ बाधक बनती हैं, तो क्या वे भगवान के प्रति निष्ठा में कचाईवालों के सामने ही उपस्थित होकर बाधा डालती हैं या अविचल निष्ठा रखनेवालों के रास्ते में भी रुकावट डालती हैं?'

तब श्रीजीमहाराज ने उत्तर दिया, 'ये सिद्धियाँ तो भगवान के परिपक्व निश्चयवालों के समक्ष ही उपस्थित होती हैं। अन्य के लिए ये सिद्धियाँ बहुत ही दुर्लभ हैं। और, भगवान भी भक्त की परीक्षा लेने के लिए इन सिद्धियों को प्रेरित करते हैं, कि 'उस भक्त को मुझसे अधिक स्नेह है, या सिद्धियों से अधिक लगाव है?' इस प्रकार भगवान अपने भक्त की परीक्षा लेते हैं।

86. आत्मनिष्ठा से युक्त उपासना।

यदि वह दृढ़ भक्त है तथा भगवान के सिवा किसी भी अन्य वस्तु की इच्छा नहीं करता, तो भगवान ऐसे निर्वासनिक एकान्तिक भक्त के वश में हो जाते हैं। जैसे वामनजी ने राजा बलि का त्रिलोक का राज्य ले लिया, तथा चौदह लोकों को अपने दो चरणों से नाप लिया और तीसरे कदम के लिए राजा बलि ने अपना पूरा शरीर समर्पित कर दिया। इस प्रकार यद्यपि उसने भगवान को श्रद्धासहित अपना सर्वस्व दे दिया, फिर भी भगवान ने बिना अपराध के उसे बाँधा लेकिन वह भक्ति से विचलित नहीं हुआ। अपने प्रति उसकी ऐसी अनन्य भक्ति देखकर स्वयं भगवान भी उसके वश में हो गए। भगवान ने तो राजा बलि को क्षणमात्र के लिए बाँधा था, किन्तु वे (भगवान) उसकी भक्तिरूपी डोर से बँध चुके हैं। आज तक भगवान बलि के दरवाजे पर निरन्तर खड़े हैं, और वे राजा बलि की दृष्टि से पलमात्र के लिए भी दूर नहीं होते।

इस प्रकार, हमें भी समस्त वासनाओं को मिटाकर सर्वस्व भगवान को अर्पित करके भगवान का दास होकर रहना चाहिए। ऐसा करने पर भी भगवान हमें अधिक दुःख देंगे, तो भी वे स्वयं हमारे वश में हो जाएँगे! क्योंकि वे भक्तवत्सल तथा कृपासिन्धु हैं। वे जिसकी अपनी ओर दृढ़ भक्ति देखते हैं, उसके अधीन स्वयमेव हो जाते हैं। फिर ऐसे प्रेमी भक्त की मन-रूपी डोरी के बंधनों में बंध जाते हैं, फिर उस प्रेमबंधन से छूटने में समर्थ नहीं हो पाते। **अतः भगवान ज्यों-ज्यों हमारी कसौटी करें, हमें त्यों-त्यों अधिक प्रसन्न होना चाहिए कि 'भगवान जैसे-जैसे मुझे अधिक दुःख देंगे, वैसे-वैसे वे अधिकाधिक मेरे वश में होते जाएँगे और पलमात्र भी मुझसे अलग नहीं रहेंगे।' ऐसा समझकर भगवान ज्यों-ज्यों अधिक कसौटी करते जाएँ, त्यों-त्यों हमें भी अधिक से अधिक प्रसन्न रहना चाहिए। परन्तु किसी भी तरह के दुःख को देखकर, अथवा शारीरिक सुख सुविधा के लिए कायर की भांति पीछे नहीं हटना चाहिए।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥61 ॥

वचनामृत 62 : कल्याणकारी गुण

संवत् 1876 में फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी (4 मार्च, 1820) को श्रीजी-

महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में चौक के बीच पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी और सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी, उस पाग में सफ़ेद पुष्पों के हार तथा तुर्रे लगे हुए थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में साधुवृंद तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

उस समय स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने कहा, 'श्रीमद्भागवत' में कहा गया है कि -

'सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम् ।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम् ॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः ।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च ॥
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः ।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहंकृतिः ॥'[87]

87. **सत्यम्** = सर्वभूतप्राणिमात्र का हित करना अथवा सत्य वचन बोलना।
शौचम् = पवित्रता, निर्दोष भावना।
दया = दूसरे के दुःख को सहन न कर सके ऐसी मनोवृत्ति।
क्षान्तिः = अपराधी पुरुष के अपराधों को सहन करना।
त्यागः = याचकों के प्रति उदारता अथवा परमात्मा के प्रति आत्मसमर्पण।
सन्तोषः = सदा क्लेशरहित रहने का भाव।
आर्जवम् = मन, वाणी तथा कर्म की एकरूपता अर्थात् सरलता।
शमः = मन का निग्रह करना।
दमः = चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों का निग्रह करना।
तपः = शरीर एवं मन को क्लेश हो, ऐसे व्रतादि को करना।
साम्यम् = शत्रु-मित्रादि के प्रति समान भावना से व्यवहार करना।
तितिक्षा = सहनशीलता, सुख-दुःखादि के द्वन्द्वों से परास्त नहीं होना।
उपरतिः = अधिक लाभ एवं प्राप्ति के प्रति उदास रहना।
श्रुतम् = समस्त शास्त्रों के अर्थों का यथार्थ ज्ञान होने का भाव।
ज्ञानम् = आश्रितों के अनिष्ट की निवृत्ति तथा इष्ट की प्राप्ति कराने में उपयोगी ज्ञान। जीव, ईश्वर, माया, ब्रह्म तथा परब्रह्म की अनुभवपूर्ण जानकारी।
विरक्तिः = विषयों में निःस्पृहभाव अथवा विषयों से चित्त का अनाकर्षण।

'ये जो उनतालीस कल्याणकारी गुण भगवान के स्वरूप में निरन्तर रहते हैं, वे गुण सन्त में किस प्रकार आते हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'सन्त में इन गुणों का उदय होने का कारण यह है कि भगवान के स्वरूप का यथार्थ निश्चय हो गया, तो भगवान के कल्याणकारी गुण सन्त में उदित हो जाते हैं। वह निश्चय कैसा होना चाहिए? तो जो पुरुष भगवान को काल जैसा न समझे, कर्म जैसा न समझे, स्वभाव जैसा न समझे, माया जैसा न समझे, तथा पुरुष जैसा न समझे;

ऐश्वर्यम् = सबकी प्राणवृत्तियों का नियमन करने का सामर्थ्य।
शौर्यम् = शूरवीरता।
तेजः = किसी से भी पराजित न होने का भाव।
बलम् = कल्याणकारी गुणों को धारण करने का सामर्थ्य।
स्मृतिः = भक्तों के अपराधों को भूलकर, उनके गुणों का स्मरण करना।
स्वातन्त्र्यम् = दूसरे की अपेक्षा से रहित रहने का सामर्थ्य।
कौशलम् = निपुणता।
कान्तिः = आध्यात्मिक तेज।
धैर्यम् = सर्वदा अव्याकुलता।
मार्दवम् = चित्त की कोमलता। क्रूरता से रहित रहने का भाव।
प्रागल्भ्यम् = ज्ञान की गंभीरता, प्रगल्भता।
प्रश्रयः = विनयभाव तथा ज्ञानपूर्वक आत्मसात् हुआ दीनभाव।
शीलम् = सत्याचरण।
सहः = प्राणों को नियमन करने का सामर्थ्य।
ओजः = ब्रह्मचर्य से प्राप्त की गई दिव्य कांति।
बलम् = कल्याणकारी गुणों को धारण करने का सामर्थ्य।
भगः = ज्ञानादि गुणों का उत्कर्ष।
गाम्भीर्यम् = ज्ञान की गहनता, छिछोरापन से रहित होने का भाव। अथवा अभिप्राय ज्ञात न हो सके, ऐसा आंतरिक गुण।
स्थैर्यम् = क्रोध का निमित्त होने पर भी विकार न होना। अचंचलता।
आस्तिक्यम्= शास्त्रों के अर्थों में विश्वास। भगवान सदा कर्ता, साकार, सर्वोपरि एवं प्रगट हैं, ऐसी दृढ़ श्रद्धा।
कीर्तिः = यश।
मानः = पूजा-सम्मान की योग्यता।
अनहंकृतिः = अहंकार का अभाव, निर्मानीता।

परन्तु इन सभी से भगवान को भिन्न समझे, तथा उन सबका नियन्ता और कर्ता समझे तथा सबके कर्ता होने पर भी वे निर्लेप हैं, ऐसा भगवान को समझे; इस तरह प्रत्यक्ष भगवान के स्वरूप का किया गया निश्चय कभी भी विचलित नहीं होता, सो चाहे जितने युक्तिपूर्ण या उलझानेवाले शास्त्रों[88] का श्रवण करे, अथवा अन्य मतवादियों (शुष्कवेदान्ती आदि) की बातें सुने तथा स्वयं अपना अन्तःकरण चाहे जितने कुतर्क करे फिर भी भगवान के निश्चय में अडिगता न टूटे, ऐसी भगवान के निश्चय की दृढ़ता हो, तब उसे 'भगवान का सम्बंध हुआ' कहा जाता है। अतः जिसे जिसके साथ सम्बंध हो, उसमें उसके जैसे ही गुण सहज रूप से उदित हो आते हैं। जैसे दीपक के साथ नेत्रों का सम्बंध हो जाता है, तब दीपक का प्रकाश नेत्रों में छा जाता है, और आँखों के आगे से अन्धकार दूर हट जाता है, वैसे ही **भगवान के स्वरूप का दृढ़ निश्चय होने से उस निश्चयवाले के हृदय में भगवान के कल्याणकारी गुणों का उदय हो जाता है।** फिर तो भगवान जिस प्रकार माया से पूर्णरूप से निर्बन्ध हैं, तथा जो चाहे वह करने में समर्थ हैं, उसी तरह वह भक्त भी अतिशय समर्थ और माया से निर्बन्ध हो जाता है।'

तब निर्विकारानन्द स्वामी ने पूछा कि 'निश्चय होने पर भी अच्छे गुण नहीं आते, और मान एवं ईर्ष्या की भावना दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है, उसका क्या कारण होगा?' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि भगवान के समक्ष अमृत तथा विषैली औषधियाँ लाएँ, तथा खीर और शक्कर तथा अफ़ीम लाकर भगवान के थाल में अर्पण करें, तो उन पदार्थों के जैसे जिनके गुण होंगे, वे क्या बदल जाएँगे? नहीं, वह तो वैसा का वैसा ही रहेगा, उनके गुणों में कोई परिवर्तन संभव नहीं है। उसी प्रकार जो जीव आसुरी और अति कुपात्र होते हैं, वे भगवान के समीप आने पर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। फिर ऐसा आसुरी जीव किसी गरीब हरिभक्त से द्वेष करे, तो उसका बुरा ही होता है। यह उसी कारण होता है कि भगवान समस्त जीवों में अन्तर्यामीरूप से रहते हैं, वे जहाँ अपनी इच्छा हो, वहाँ अपना उतना ही सामर्थ्य दिखलाते हैं। अतः किसी भक्त के अपमान से भगवान का भी अपमान हो जाता है, तब उस अपमानकर्ता का अत्यन्त अहित हो जाता है।

88. कुटिल युक्तिजाल से मन को संशयग्रस्त करनेवाले असच्छास्त्र।

जैसे हिरण्यकशिपु ने त्रिलोक को अपने वश में कर रखा था, इतना बलवान होते हुए भी जब उसने प्रह्लादजी का द्रोह किया, तो भगवान ने स्तंभ में से नृसिंहरूप में प्रकट होकर उसका विनाश कर दिया। ऐसा विचार करके **भगवान के भक्त को अत्यन्त नम्र होकर किसी का भी अपमान नहीं करना।** क्योंकि भगवान ऐसे गरीब प्रकृति के नम्र भक्त के अन्तःकरण में भी विराजमान रहते हैं। वे ऐसे भक्त का अपमान करने वाले व्यक्ति का अनिष्ट कर डालते हैं। ऐसा समझकर किसी साधारण जीव को भी दुःख नहीं देना। और, यदि कोई व्यक्ति अहंकारवश हर किसी को पीड़ा पहुँचाता रहे, तो गर्वभंजक भगवान, जो अन्तर्यामी रूप से सर्वव्यापी हैं, वे इसे सहन नहीं करेंगे और आखिर में वे चाहे जिसके द्वारा प्रकट होकर उस अभिमानी व्यक्ति के अभिमान को पूरी तरह चूर-चूर कर देते हैं। अतः ऐसे समर्थ भगवान से डरकर किसी भी साधुपुरुष को लेशमात्र भी अभिमान नहीं रखना चाहिए और चींटी के समान जीव को भी पीडा नहीं पहुँचाना, यही निर्मानी साधु का धर्म है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥62॥

वचनामृत 63 : भगवान का तत्त्वतः निश्चय

संवत् 1876 में फाल्गुन कृष्णा सप्तमी (7 मार्च, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी और श्वेत रेशमी किनारीवाली पाग सिर पर बाँधी थी और कंठ में श्वेत पुष्पों के हार सुशोभित हो रहे थे। पाग में गुलाब के पुष्पों के तुर्रे लगे हुए थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुनिगण तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय नृसिंहानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान सम्बंधी निश्चय होने में जिसे किसी प्रकार की त्रुटि हो, उसके मन में कैसे संकल्प होते हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे भगवान के निश्चय में कोई त्रुटि हो, उसे जब कभी भगवान में कुछ सामर्थ्य दिखाई देता है, तब उसे बहुत ही आनन्द होता है, परन्तु जब सामर्थ्य नहीं दिखाई देता, तब उसका अन्तःकरण

निस्तेज हो जाता है। उसके हृदय में कुछ अनुचित संकल्प होते हों, और वे टालने पर भी नहीं टलते हों, तब वह भगवान को ही दोषी ठहराने लगता है कि 'मैं इतने दिनों से सत्संग कर-करके मर गया फिर भी भगवान मेरे बुरे संकल्पों को टालते नहीं हैं।' इस प्रकार वह भगवान पर दोष मढ़ता है, और जिन पदार्थों में उसकी आसक्ति रहती हो तथा उसका मन हटाने पर भी उस पदार्थ से न हटता हो, तब वैसा का वैसा दोष वह भगवान में भी देखता है कि 'मुझमें जिस प्रकार कामादिक दोष हैं, वैसे ही वही दोष भगवान में भी हैं। परन्तु वे भगवान हैं, अतः महान कहलाते हैं।' इस प्रकार के संकल्प जिसके मन में रहते हों, उसके निश्चय में त्रुटि है, इसलिए उसका निश्चय परिपक्व नहीं है।'

फिर परमचैतन्यानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज! जिसे भगवान का परिपक्व निश्चय होता है, उसे किस प्रकार के संकल्प होते हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे परिपक्व निश्चय होता है, उसके मन में ऐसी भावना रहती है कि 'मुझे सब कुछ प्राप्त हो चुका है, और जहाँ प्रत्यक्ष भगवान हैं, वहीं परमधाम है, तथा ये सभी सन्त नारद-सनकादिक के समान हैं और ये सभी सत्संगी उद्धव, अक्रूर, विदुर, सुदामा और वृन्दावन के ग्वालों के समान हैं। जो स्त्री-हरिभक्त हैं, वे गोपियाँ, द्रौपदी, कुन्ती, सीता, रुक्मिणी, लक्ष्मी और पार्वती के समान हैं और मैं अब पूर्णकाम हो गया हूँ, मुझे अब कुछ करना शेष नहीं रहा। मैं गोलोक, वैकुंठ, ब्रह्मपुर को प्राप्त हो चुका हूँ।' जिसके ऐसे संकल्प होते हों और हृदय में अति आनन्द समाया रहता हो, इस प्रकार जिसके अन्तर में प्रतीत हो रहा हो, उसके निश्चय को परिपक्व समझना चाहिए।'

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान के स्वरूप को तत्त्वतः जान लेने के पश्चात् उसे जानने के लिए कुछ शेष नहीं रहता। सो अब तत्त्वतः भगवान के स्वरूप को समझने की रीति बताते हैं, उसे सुनिये, जिसे सुनकर परमेश्वर के स्वरूप का अडिग निश्चय हो जाता है। भगवान को तत्त्वतः समझने में सर्वप्रथम तो भगवान की महत्ता जाननी चाहिए। जैसे कोई बड़ा राजा हो और उसके दास-दासियों के लिए भी सात मंज़िला हवेलियाँ हों, तथा बाग-बगीचे, रथ और घोड़े तथा स्वर्ण-आभूषण इत्यादि सामग्रियों से

युक्त उन दास-दासियों के घर भी देवलोक के समान दिखाई देते हों, तब उस राजा का राजभवन व उसमें विद्यमान सामग्रियाँ अत्यन्त शोभायमान होंगी ही!

वैसे ही, श्रीपुरुषोत्तम भगवान की आज्ञा का पालन करनेवाले ब्रह्मांड के अधिपति ब्रह्मादिक देवताओं के लोक तथा उनके वैभव का भी पार नहीं पाया जा सकता। तब उन विराटपुरुष, जिनके नाभिकमल में से ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं, उनके वैभव का पार कैसे पाया जा सकता है? ऐसे अनन्तकोटि विराटपुरुषों के स्वामी पुरुषोत्तम भगवान का धामरूप अक्षर, जिसके एक-एक रोम में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अणुवत् उड़ते फिरते हैं, ऐसा भगवान का धाम है, उस धाम में स्वयं पुरुषोत्तम भगवान दिव्यरूप से सदा विराजमान रहते हैं। उस धाम में अपार दिव्य सामग्रियाँ हैं, ऐसे भगवान की महत्ता का पार कैसे पाया जा सकता है? इस प्रकार भगवान की महत्ता को समझना चाहिए।

और, जो जिससे बड़ा होता है, वह उससे सूक्ष्म भी होता है और वह उसका कारण भी होता है। जैसे पृथ्वी से जल महान है, और वह पृथ्वी का कारण भी है और पृथ्वी से सूक्ष्म भी है। जल से बड़ा तेज है और तेज से बड़ा वायु है तथा वायु से बड़ा आकाश है। वैसे ही अहंकार, महत्तत्त्व, प्रधानपुरुष, प्रकृतिपुरुष तथा अक्षर, ये सभी एक-दूसरे से बड़े हैं, तथा एक-दूसरे से सूक्ष्म और एक दूसरों के कारण भी हैं। और, ये सभी मूर्तिमान हैं, परन्तु भगवान का अक्षरधाम अत्यंत बड़ा है। उस अक्षर के एक-एक रोम में अनन्तकोटि ब्रह्मांड अणुवत् उड़ते ही फिरते हैं। जैसे किसी बड़े हाथी के शरीर पर चींटी चल रही हो, किन्तु हाथी के सामने उसकी कोई गणना ही नहीं, वैसे ही उस अक्षर की महत्ता के आगे अन्य किसी की कोई गणना ही नहीं होती।

जैसे मच्छरों के बीच चींटियाँ बड़ी दिखाई देती हैं, चींटियों के बीच बिच्छू बड़ा दिखाई देता है, बिच्छुओं के मध्य सर्प बड़ा दिखाई पड़ता है, सर्पों के बीच चील बड़ी दिखाई देती है, चीलों के बीच भैंसा बड़ा दिखाई पड़ता है, भैंसे के बीच हाथी बड़ा लगता है, और हाथियों के बीच गिरनार जैसा पर्वत बड़ा दिखता है, और गिरनार के मध्य मेरु पर्वत बड़ा दिखाई देता है। ऐसे मेरु पर्वतों के बीच लोकालोक पर्वत बड़ा लगता है, और लोकालोक पर्वत से पृथ्वी अतिशय बड़ी दिखाई देती है।

और, पृथ्वी का कारण जो जल है, वह पृथ्वी से बड़ा और सूक्ष्म भी

है। इसी प्रकार जल का कारण तेज है, तेज का कारण वायु है, वायु का कारण आकाश है, आकाश का कारण अहंकार है, अहंकार का कारण महत्तत्त्व है, महत्तत्त्व का कारण प्रधान एवं पुरुष हैं, और उन प्रधान और पुरुष का कारण मूल प्रकृति तथा ब्रह्म (अक्षरपुरुष) है।

और, **इन सबका कारण अक्षरब्रह्म है, और वह अक्षर तो पुरुषोत्तम भगवान का धाम है। और, उस अक्षर की संकुचन या विकास की अवस्था नहीं होती है, उसका सदैव एक ही रूप बना रहता है। और, वह अक्षर मूर्तिमान हैं, परन्तु बहुत बड़े हैं, अतः उन अक्षर का रूप किसी की भी दृष्टि में नहीं आता।**

जैसे चौबीस तत्त्वों का कार्य ब्रह्मांड पुरुषावतार कहलाता है, और वह विराटपुरुष कर-चरणादि से युक्त है, परन्तु उसकी मूर्ति अतिशय विशाल है, अतः उसे देखने में नज़र नहीं पहुँचती। और उस विराटपुरुष की नाभि से उत्पन्न कमल के नाल में ब्रह्मा एक सौ वर्ष तक चलते रहे, परन्तु जब कमल की नाल का ही अन्त नहीं आया, तब विराटपुरुष का पार ही कैसे पाया जा सकता है? इस प्रकार विराट का रूप नहीं दिखाई देता।

ठीक उसी तरह अक्षरधाम भी मूर्तिमान हैं, परन्तु वह किसी को नहीं दिखाई देते; क्योंकि वह इतने बड़े हैं कि ऐसे-ऐसे असंख्य ब्रह्मांड उनके एक-एक रोम में उड़ते ही रहते हैं। उन अक्षरधाम में पुरुषोत्तम भगवान स्वयं सदैव विराजमान रहते हैं तथा अपनी अन्तर्यामी शक्ति द्वारा अक्षरधाम, अनन्तकोटि ब्रह्मांडों तथा उन ब्रह्मांडों के सभी ईश्वरों में वह अन्वयभाव से रहते हैं। और, उस अक्षरधाम में अपने साधर्म्य को प्राप्त हुए ऐसे अनन्तकोटि मुक्त भगवान की सेवा में रहते हैं। और, उन भगवान के सेवकों के एक-एक रोम में कोटि-कोटि सूर्यों के समान प्रकाश दिखता है। अतः जिनके सेवक ऐसे हैं, तो उनके स्वामी पुरुषोत्तम भगवान की महिमा का वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है? ऐसे अति समर्थ भगवान स्वयं अक्षर में प्रवेश करके अक्षररूप होते हैं तथा इसके पश्चात् मूल प्रकृति-पुरुषरूप हो जाते हैं। और, फिर प्रधान-पुरुषरूप होते हैं। उसके पश्चात् वे प्रधान में से उत्पन्न चौबीस तत्त्वों में प्रवेश करके उनका स्वरूप ग्रहण करते हैं। इसके बाद वे उन तत्त्वों द्वारा उत्पन्न विराटपुरुष में प्रवेश करके उनका स्वरूप धारण करते हैं तथा

ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव में प्रवेश करके उनका रूप ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार अति समर्थ, अति प्रकाशयुक्त तथा अत्यन्त महान ये भगवान अपने ऐसे ऐश्वर्य और तेज को स्वयं में संगोपन करके जीव के कल्याण के लिए मनुष्याकार हो जाते हैं और तब ऐसा रूप धारण करते हैं, ताकि मनुष्य उनके दर्शन तथा सेवा एवं अर्चना आदि करने में समर्थ हो सके।

जैसे चींटी के पैर में बारीक काँटा लग गया हो, उसे बरछी और नहनी द्वारा निकाला जाए, तो निकलता नहीं है, अपितु बहुत बारीक लोहे के उपकरण से वह निकलता है। वैसे ही भगवान भी अपनी महत्ता को स्वयं में छिपाकर अतिशय अल्प रूप धारण करते हैं। जिस प्रकार अग्निदेव भी अपने प्रकाश तथा ज्वाला को छिपाकर मनुष्य सदृश हो जाते हैं, उसी तरह भगवान भी अपने सामर्थ्य को छिपाकर जीव के कल्याण के लिए मनुष्योचित व्यवहार करते हैं। तब जो मूर्ख होता है, वह ऐसा समझता है कि 'भगवान कोई भी सामर्थ्य क्यों प्रकट नहीं करते हैं?' परन्तु, भगवान केवल जीव के कल्याण के लिए अपने सामर्थ्य को छिपाकर व्यवहार करते हैं। यदि भगवान अपनी महत्ता को प्रकट करें तो ब्रह्मांड की कोई महत्ता नहीं दिखाई देती, तब जीव की तो गणना ही क्या? इस तरह जिसके हृदय में ऐसी महिमा सहित भगवान का निश्चय सुदृढ़ हो गया हो, उसे काल, कर्म, माया, किसी भी प्रकार का बन्धन करने में समर्थ नहीं हो सकते। इसलिए, जिसने उक्त रीति के अनुसार भगवान को तत्त्वतः समझ लिया है, उसे कुछ भी करने के लिए शेष नहीं रह जाता।'

यह सुनकर नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'क्या भगवान ऐसे अनुक्रम द्वारा अवतार धारण करते हैं, या अनुक्रम के बिना भी मनुष्याकृति धारण करते हैं?' तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'अनुक्रम का कोई मेल नहीं है। जैसे कोई पुरुष तालाब में डुबकी लगाकर चाहे तो वहीं निकल सकता है, या किनारे पर अथवा आसपास कहीं भी निकल सकता है, वैसे ही पुरुषोत्तम भगवान अक्षररूप धाम में डुबकी लगाकर चाहे तो वहीं से सीधे मनुष्याकृति ग्रहण कर लेते हैं अथवा स्वेच्छानुसार उक्त अनुक्रम द्वारा मनुष्याकार हो जाते हैं।'

इस प्रकार वार्ता करके श्रीजीमहाराज पुनः बोले, 'जिसे अत्यन्त दृढ़ निश्चय है, उसके लक्षण संक्षेप में कहता हूँ, उसे सुनिये। परिपक्व निश्चयवाले का प्रथम लक्षण यह है कि स्वयं अत्यन्त त्यागी होने पर भी

उससे चाहे जितनी प्रवृत्तिमार्ग की क्रिया कराई जाए तो वह करता है, किन्तु करने से पीछे नहीं हटता और बे-मन होकर नहीं, बल्कि प्रसन्नतापूर्वक करता है। दूसरा लक्षण यह है कि उसका चाहे जैसा स्वभाव हो, और कोटि उपाय करने पर भी वह स्वभाव न टलता हो, परन्तु उस स्वभाव को छोड़ देने के लिए परमेश्वर का आग्रह देखें, तो वह उस बुरे स्वभाव का तत्काल परित्याग कर डालता है।

तीसरा लक्षण यह है कि अपने में कुछ अवगुण होते हुए भी परमेश्वर के कथा-कीर्तन तथा भगवान के सन्त के बिना घड़ी भर भी वह नहीं रह सकता और अपना अवगुण देखता है, तथा सन्त का अधिक से अधिक गुण ग्रहण करता है। और, भगवान की कथा, कीर्तन और उनके सन्त की अति अधिक महिमा समझता है, ऐसा जिसका दृढ़ आचरण होता है उसका निश्चय परिपक्व समझना चाहिए।

ऐसा निश्चयवान भक्त यदि प्रारब्धवश कभी अपने आचरण से च्युत भले ही हो जाए, परन्तु उसका अकल्याण नहीं होता। यदि ऐसा निश्चय न रहे, तो चाहे कैसा भी त्यागी हो तो भी उसका कल्याण नहीं होता।'

॥ इति वचनामृतम् ॥63॥

वचनामृत 64 : शरीर और शरीरी

संवत् 1876 में फाल्गुन कृष्णा नवमी (9 मार्च, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी। काले पल्ले का दुपट्टा ओढ़ा था, मस्तक पर रेशमी किनारीवाली धोती बाँधी थी तथा तुलसी की नयी कंठी गले में पहन रखी थी। उनके समक्ष सभा में संतवृंद तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

फिर श्रीजीमहाराज ने संतों से पूछा कि 'पुरुषोत्तम भगवान का शरीर आत्मा तथा अक्षर हैं, ऐसा श्रुतियों ने बताया है।[89] वस्तुतः ये आत्मा और अक्षर तो विकाररहित हैं तथा उन दोनों में किसी प्रकार की मायिक उपाधि नहीं है। जिस प्रकार भगवान माया से परे हैं, वैसे ही आत्मा और अक्षर

89. **'यस्यात्मा शरीरम्'** (बृहदारण्यकोपनिषद् : 3/7/30) इत्यादि।

भी माया से परे हैं, ऐसी आत्मा तथा अक्षर उनको भगवान का शरीर किस प्रकार कहा जाता है?[90] और, जीव का शरीर जीव से अत्यन्त विलक्षण तथा विकारी है। देही अर्थात् जीव निर्विकार है, अत: देह और देही दोनों में अत्यन्त विलक्षणता है, वैसे ही पुरुषोत्तम और उनका शरीर आत्मा और अक्षर हैं, उनमें भी अत्यन्त विलक्षणता होनी चाहिए, तो बताइए कि वह विलक्षणता किस प्रकार से है?'

इसका उत्तर समस्त मुनियों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार दिया, किन्तु किसी से यथार्थ उत्तर न हो सका। फिर श्रीजीमहाराज बोले, 'अच्छा, हम उत्तर देते हैं, आत्मा[91] तथा अक्षर इन दोनों को पुरुषोत्तम भगवान का शरीर बताया गया है। वह, उन दोनों का व्याप्य भाव, दोनों की अधीनता तथा असमर्थता के आधार पर कहा गया है। अब इस तथ्य को समझाता हूँ: भगवान अपनी अन्तर्यामी शक्ति द्वारा आत्मा और अक्षर में व्यापक हैं तथा वे दोनों व्याप्य हैं। भगवान स्वतन्त्र हैं, तथा आत्मा एवं अक्षर भगवान के अधीन और परतन्त्र हैं। भगवान अति समर्थ हैं तथा आत्मा एवं अक्षर भगवान के समक्ष अत्यन्त असमर्थ हैं। इस प्रकार भगवान इन दोनों के शरीरी हैं और ये दोनों भगवान के शरीर हैं। ऐसे शरीरी पुरुषोत्तम भगवान सदैव दिव्य मूर्तिमान हैं। ऐसे जो भगवान हैं, वे व्यापक तथा द्रष्टा ऐसी जो सभी आत्माएँ हैं तथा उन आत्माओं के लिए व्याप्य और दृश्य ऐसी जो देह हैं, उन सभी में अपनी अन्तर्यामी शक्ति द्वारा आत्मारूप से रहते हैं। इस प्रकार पुरुषोत्तम भगवान; जो सभी की आत्मा हैं, उनको जब शास्त्रों में रूपवान दृश्य की आत्मा के रूप में ही बताया गया हो, तब यह मानना चाहिए कि पुरुषोत्तम को दृश्यरूप से प्रतिपादित किया गया है, और जब उस भगवान को द्रष्टा ऐसी जो जीवात्मा; उनके भी आत्मा के रूप में प्रतिपादन किया गया हो, तब

---

90. **'शीर्यते तच्छरीरम्'**, जो विशीर्ण होता है, उसे शरीर कहा जाता है। इस प्रकार की व्युत्पत्ति से शरीर का जो शब्दार्थ है, वह निर्विकारी आत्मा तथा अक्षर के सम्बंध में किस तरह सम्भव होता है, यही प्रश्नार्थ है।

91. **'शीर्यते तच्छरीरम्'**, यहाँ उपरोक्त अर्थ नहीं बताया गया। परंतु उपनिषद् में उल्लिखित शरीर शब्द का पारिभाषिक अर्थ व्याप्यता, अधीनता तथा असमर्थता किया गया है।

मानना कि पुरुषोत्तम को अरूपभाव से शास्त्रों में बताया गया है। फिर भी, पुरुषोत्तम भगवान रूपवान दृश्य और अरूपी[92] आत्मा इन दोनों से भिन्न हैं तथा सदैव मूर्तिमान रहते हैं। वे प्राकृत आकार से रहित हैं तथा मूर्तिमान होने पर भी द्रष्टा (जीवात्मा) एवं दृश्य (जगत) दोनों के द्रष्टा हैं और आत्मा एवं अक्षर, सबके प्रेरक, स्वतन्त्र तथा नियन्ता होने के साथ-साथ समस्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न हैं और सर्व से परे जो अक्षर है, उससे भी परे हैं। ऐसे पुरुषोत्तम भगवान जीवों के कल्याण के लिए, कृपा करके पृथ्वी पर मनुष्य-जैसे दिखाई देते हैं। जो मनुष्य उन्हें इस प्रकार सर्वदा दिव्य मूर्तिमान समझकर उनकी उपासना और भक्ति करते हैं, वे तो इन भगवान के साधर्म्यभाव और अनन्त ऐश्वर्य[93] को प्राप्त कर लेते हैं तथा ब्रह्मभाव को प्राप्त अपनी आत्मा द्वारा प्रेम सहित निरन्तर परम आदरभाव के साथ पुरुषोत्तम भगवान की सेवा में रहते हैं। किन्तु, जो जीव इन भगवान को निराकार समझकर ध्यान-उपासना करते हैं, वे तो (मृत्यु के बाद) ब्रह्म-सुषुप्ति[94] में विलीन हो जाते हैं और फिर वे वहाँ से कभी भी नहीं निकल पाते तथा भगवान का कोई एश्वर्य भी प्राप्त नहीं कर पाते।[95] यह वार्ता हमने प्रत्यक्ष देखकर ही कही है। इसलिए, इसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं करना। इस वार्ता के मर्म को केवल वही पुरुष समझ सकता है, जो इन भगवान के स्वरूप को सदैव दिव्य साकार रूप मानकर उपासना करने की अपनी दृढ़ निष्ठा पर अटल बना हुआ है, परन्तु अन्य कोई भी मनुष्य इसे समझने में समर्थ नहीं हो पाता। इसलिए, इस वार्ता को अत्यन्त सुदृढ़ बनाकर सिद्ध करना।'

॥ इति वचनामृतम् ॥64॥

वचनामृत 65 : ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति एवं इच्छाशक्ति

संवत् 1876 में फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी (13 मार्च, 1820) को

92. कर-चरणादिक अवयवरहित होने के कारण अरूप।
93. ऐश्वर्य अर्थात् माया के गुणों से पराभूत न होने का सामर्थ्य।
94. सुषुप्ति तुल्य अक्षरब्रह्मतेज में।
95. यदि वह कोई ऐश्वर्य को प्राप्त नहीं करता, तो भगवत्सेवा का आनंद तो मिलेगा ही कैसे?

श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने शयन कक्ष के बरामदे में गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे। उस समय उनके समक्ष सभा में परमहंस तथा देश-देशान्तर के हरिभक्त बैठे थे।

श्रीजीमहाराज कथा करवा रहे थे। उस समय उन्होंने बड़े-बड़े परमहंसों को अपने समीप बुलवाया। फिर कथा का अध्याय पूर्ण होने पर श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब सभी बड़े-बड़े साधु परस्पर प्रश्नोत्तरी का प्रारम्भ करें। क्योंकि प्रश्नोत्तरी से जिसकी जैसी बुद्धि होती है, उसका पता चल जाता है।' इसके बाद स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने परमानन्द स्वामी से प्रश्न पूछा, 'आकाश की उत्पत्ति तथा लय किस प्रकार होते हैं?' परमानन्द स्वामी इस प्रश्न का उत्तर देने लगे, परन्तु यथार्थ उत्तर न दे सके।

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जिस तरह बालक माता के उदर में स्थित हो तब, तथा उसके जन्म के समय उसके हृदयादिक इन्द्रियों के छिद्र सूक्ष्म होते हैं, और फिर जैसे-जैसे वह बालक बड़ा होता जाता है, वैसे-वैसे वे छिद्र भी बड़े होते जाते हैं। और, उनमें आकाश भी उत्पन्न होता दिखाई पड़ता है, तथा जब वह वृद्धावस्था को प्राप्त होता है, तब उसकी इन्द्रियों के छिद्र संकुचित होते जाते हैं और आकाश भी लय होता दिखाई पड़ता है, वैसे ही जब विराट देह उत्पन्न होती है, तब उसके अवान्तर हृदयादिक छिद्रों में आकाश की उत्पत्ति होती दिखाई पड़ती है और जब इस विराट देह का लय हो जाता है, तब आकाश भी विलीन होता दिखाई पड़ता है। इस प्रकार आकाश की उत्पत्ति और लय का क्रम चलता रहता है। परन्तु जो आकाश सबका आधार है, वह प्रकृतिपुरुष के समान 'नित्य'[96] ही रहता है, इसलिए

96. नित्य तत्त्व में तीन भेद हैं : (1) कूटस्थ नित्य : तीनों काल में परिणामगामी नहीं होता है उसे कूटस्थ नित्य कहा जाता है। (2) प्रवाह नित्य : गाँव या शहर में सैकड़ों सालों में प्रजा परिवर्तित होती रहती है, परंतु गाँव या शहर की उम्र सैकड़ों सालों की ही कही जाएगी। इस प्रकार ब्रह्मांडों की महाउत्पत्ति के समय पुरुष बदल जाने पर भी उसी के नाम से विद्यमान स्थान तथा उत्पत्ति में कारणभूत स्थान को नित्य कहा जाता है। (3) परिणामी नित्य : परिणाम बदलते रहने पर भी तत्त्व नहीं बदलता है। जैसे स्वर्ण वही रहने पर भी उसके विविध गहने बनते हैं। उसी प्रकार माया की परिणामगामी नित्यता समझनी चाहिए। ➤

उसकी उत्पत्ति तथा लय नहीं हो सकता। समाधि द्वारा आकाश की उत्पत्ति तथा लय होता है, उसकी रीति को समाधिवाले ही जानते हैं।'

तत्पश्चात् परमानन्द स्वामी ने स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी से प्रश्न पूछा, 'सुषुम्णा नाड़ी देह के भीतर और बाहर कैसे रहती है?' स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी इस प्रश्न का उत्तर देने लगे, किन्तु यथार्थ उत्तर न हो सका। तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस ब्रह्मांड में जितने तत्त्व हैं, उतने ही इस पिंड में भी हैं। वे पिंड में सूक्ष्म रूप में हैं, और ब्रह्मांड में विशाल रूप में हैं। जैसा आकार इस पिंड का है, वैसा ही आकार ब्रह्मांड का भी है। जिस प्रकार ब्रह्मांड में नदियाँ हैं, वैसे ही पिंड में नाड़ियाँ हैं। इसी प्रकार जैसे ब्रह्मांड में समुद्र है वैसे ही पिंड में स्थित कुक्षि में जल रहता है और ब्रह्मांड में जिस तरह चन्द्र तथा सूर्य रहते हैं, उसी प्रकार पिंड की इडा-पिंगला नाड़ी में चन्द्र-सूर्य हैं। इस प्रकार जो तत्त्व ब्रह्मांड में हैं, वे पिंड में भी हैं तथा इस पिंड में इन्द्रियों की जो नाड़ियाँ हैं, उनकी ब्रह्मांड के साथ एकात्मता रहती है और भक्त जब जिह्वा पर नियंत्रण कर लेता है, तब वह वरुणदेव पर नियंत्रण पा लेता है। उसी प्रकार वाक्-इन्द्रिय को नियन्त्रित कर लेने पर अग्निदेव पर नियन्त्रण हो जाता है, वैसे ही त्वचा इन्द्रिय पर नियंत्रण होने से वायुदेव पर नियंत्रण होता है। इसी तरह जब वह शिश्न (जननेन्द्रिय) पर नियंत्रण पा लेता है तब प्रजापति पर नियंत्रण हो जाता है और हाथ पर नियन्त्रण होने पर इन्द्र पर नियंत्रण हो जाता है। उसी प्रकार हृदय में रहनेवाली सुषुम्णा नाड़ी के अंतिम भागरूप ब्रह्मरन्ध्र को प्राप्त करते हैं, तब शिशुमार चक्र में रहनेवाली वैश्वानर नामक अग्नि के अभिमानी देवता पर नियन्त्रण हो जाता है, तब ब्रह्मरन्ध्र से लेकर प्रकृति-पुरुष तक तेज का एक सीधा मार्ग दिखता है, उसी तेज के मार्ग को सुषुम्णा कहते हैं। इस प्रकार सुषुम्णा नाड़ी पिंड और ब्रह्मांड में रहती है।'

फिर परमानन्द स्वामी ने स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी से प्रश्न किया कि 'सर्वप्रथम जाग्रत अवस्था का लय होता है? या स्वप्न अथवा सुषुप्ति का

उपरोक्त संदर्भ में प्रकृतिपुरुष की तरह आकाश की नित्यता कही है, वह तो केवल उसके नित्यत्व धर्म को लेकर ही कही है, परंतु पुरुष, प्रकृति एवं चिदाकाश तीनों तत्त्वों की नित्यता में अंतर है। इस प्रकार चिदाकाश कूटस्थ नित्य है, एवं प्रकृति परिणामगामी नित्य है तथा पुरुष प्रवाह नित्य है।

लय होता है?' तब स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी इस प्रश्न का उत्तर न दे सके।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जाग्रत अवस्था में जब भगवान की मूर्ति में अत्यन्त प्रेमपूर्वक समाधि लग जाती है, तब सबसे पहले जाग्रत अवस्था का लय होता है, उसके पश्चात् स्वप्न एवं सुषुप्ति का लय हुआ करता है और, जब मानसिक रूप से चिन्तन करते-करते स्वप्न में भगवान की मूर्ति में लक्ष्य हो जाता है, तब सर्वप्रथम स्वप्नावस्था का लय होता है, और उसके पश्चात् जाग्रत और सुषुप्ति अवस्थाएँ विलीन हो जाती हैं। और, जब भगवान की मूर्ति का चिन्तन करते-करते उपशम-भाव से लक्ष्य (समाधि) होता है, तब सबसे पहले सुषुप्ति का लय होता है, और उसके बाद जाग्रत तथा स्वप्नावस्था का लय होता है।' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने इस प्रश्न का उत्तर दिया।

तत्पश्चात् स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने परमानन्द स्वामी से प्रश्न किया, 'भगवान के सम्बंध में ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति तथा इच्छाशक्ति को किस प्रकार समझना चाहिए?' तब श्रीजीमहाराज हँसकर बोले कि 'इसका उत्तर तो आपको भी नहीं आता होगा।' ऐसा कहकर वे स्वयमेव उत्तर देने लगे कि 'जब इस जीव में सत्त्वगुण का प्राधान्य हो, और उस समय वह जो भी कर्म करता है, उसका फल[97] जाग्रत अवस्था है। जब इस जीव की प्रवृत्ति रजोगुण प्रधान हो और उस समय वह जो भी कर्म करता हो, उसका फल स्वप्नावस्था है। जब जीव की प्रवृत्ति में तमोगुण का प्राधान्य हो, और उस समय वह जो भी कर्म करता हो, उसका फल सुषुप्ति अवस्था है। और, जब इस जीव की सुषुप्ति अवस्था होती है, तब बड़े चट्टान की तरह शिला के समान वह जड़ हो जाता है, और उस स्थिति में उसे किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता कि 'मैं पंडित हूँ या मूर्ख हूँ, या मैंने यह कार्य किया है, या इस काम को मुझे पूर्ण करना है अथवा यह मेरी जाति है, या ऐसा मेरा वर्ण है, या ऐसा मेरा आश्रम है अथवा यह मेरा नाम है या यह रूप मेरा है अथवा मैं देव हूँ या मनुष्य हूँ या बालक हूँ या वृद्ध, धर्मिष्ठ हूँ या पापात्मा हूँ' इत्यादिक किसी प्रकार का कोई ज्ञान उसे नहीं रहता।

और, जब वह जीव इस प्रकार का हो जाता है, तब भगवान उसे ज्ञानशक्ति द्वारा सुषुप्ति अवस्था से जगाकर उसके करने योग्य समस्त क्रियाओं

97 कर्मफल का भोगस्थान

का ज्ञान प्रदान करते हैं; उसे ज्ञानशक्ति कहते हैं। और, वह जीव जिस-जिस क्रिया में प्रवृत्त होता है, वह भगवान की क्रियाशक्ति के अवलंबन से ही प्रवृत्त होता है, उसे क्रियाशक्ति कहते हैं। और, यह जीव जिस किसी पदार्थ को पाने की इच्छा करता है, वह परमेश्वर की इच्छाशक्ति का अवलंबन करने से प्राप्त हो जाता है। उसे भगवान की इच्छाशक्ति कहते हैं। और, इस जीव को जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में जो भोग भोगने पड़ते हैं, उन्हें वह केवल कर्म द्वारा ही नहीं भोगता, बल्कि कर्मफलप्रदाता परमात्मा उस जीव को उसके कर्मफल को भोगने के लिए प्रेरित करते हैं, तब वह जीव उसे भोग सकता है। क्योंकि यह जीव जाग्रत अवस्था के फल का उपभोग करता हो, तब वह यदि स्वप्नावस्था में जाने की इच्छा करता है, तो वह स्वेच्छामात्र से स्वप्न में नहीं जा सकता, क्योंकि कर्मफल देने वाले परमात्मा उसकी वृत्तियों को अवरुद्ध रखते हैं। इसी प्रकार जीव केवल अपनी इच्छा द्वारा स्वप्नावस्था से जाग्रत अवस्था या सुषुप्ति अवस्था में अथवा सुषुप्ति अवस्था से स्वप्नाव-स्था तथा जाग्रत अवस्था में नहीं जा पाता। वस्तुतः कर्मफल प्रदाता परमात्मा, जब जिस अवस्था के कर्मफल का भोग भोगने का अवसर देते हैं; तब जीव उसी प्रकार के फल को भोग सकता है। परन्तु, वह जीव स्वयं अपनी इच्छा से अथवा क्रिया द्वारा कर्मफल का भोग नहीं कर सकता। इस प्रकार भगवान में ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति एवं इच्छाशक्ति रहती है।'[98] इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने कृपा करके उत्तर दिया।

॥ इति वचनामृतम् ॥65॥

वचनामृत 66 : चतुर्व्यूह की वार्ता

संवत् 1876 में फाल्गुन कृष्णा अमावस्या (14 मार्च, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने काले पल्ले की धोती धारण की थी, सफ़ेद मोटी चादर ओढ़ी थी और मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

98. अर्थात् भगवान सभी जीवों के गुणकर्मानुसार जीव में ज्ञान आदि शक्तियों को प्रेरित करते हैं। अतः भगवान में कोई विषमता नहीं है।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'श्रीमद्भागवत में चतुर्व्यूह अर्थात् वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध की ही वार्ता है। उसे किसी स्थान पर सगुण और किसी स्थान पर निर्गुण रूप में बताया गया है। जहाँ भगवान के निर्गुण स्वरूप को कहा गया है, वह भगवान वासुदेव का द्योतक है और जहाँ सगुणात्मक वर्णन है, वह संकर्षण, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न का द्योतक है। अतः शास्त्रों में भगवान के निर्गुण स्वरूप का जो वर्णन है, उसे पठन करनेवालों तथा ऐसी कथा को सुननेवालों की मति भ्रमित हो जाती है, क्योंकि वे समझने लगते हैं कि 'भगवान का आकार होता ही नहीं है' अर्थात् वे निराकार हैं। परन्तु यह उनकी विपरीत मति है। क्योंकि शास्त्रों में जो शब्द हैं वे एकान्तिक भक्त के सिवा किसी की समझ में नहीं आते। वे कैसे शब्द हैं, तो, जैसे कि 'भगवान अरूप है तथा ज्योतिःस्वरूप हैं तथा निर्गुण हैं और सर्वत्र व्यापक हैं,' ऐसे शब्द को सुनकर जो मूर्ख है, वह यह समझता है कि 'शास्त्रों में भगवान को निराकार ही बताया गया है, परन्तु जो एकान्तिक भक्त हैं, वह ऐसा समझता है कि 'शास्त्रों में भगवान को अरूप एवं निर्गुण प्रतिपादित किया गया है, वह उनके मायिक रूप-गुण के निषेध के लिए ही बताया गया है, लेकिन भगवान नित्य दिव्यमूर्ति तथा अनन्त कल्याणकारी गुणों से युक्त हैं।' और, उन्हें जहाँ तेज के पुंज स्वरूप कहा गया है, वहाँ यह समझना है कि बिना मूर्ति के तेज होता ही कहाँ से? इस दृष्टि से वह तेज तो मूर्ति का ही तेज है। जैसे अग्नि की मूर्ति में से अग्नि की ज्वाला प्रकट होती है, उससे अग्नि की वह मूर्ति दिखाई नहीं देती, और ज्वाला दिखती है। यह देखकर विवेकी पुरुष यह समझता है कि 'अग्नि की मूर्ति से ही ज्वाला निकलती है।' वैसे ही वरुण की मूर्ति से जल प्रकट होता है, सो हमें जल ही दिखाई पड़ता है, किन्तु वरुण की मूर्ति नहीं दिखाई पड़ती। फिर भी, बुद्धिमान व्यक्ति ऐसा समझता है कि 'वरुण की मूर्ति में से समस्त जल निकलता है।' ठीक उसी प्रकार ब्रह्मसत्तारूप कोटि सूर्यों का जो प्रकाश है, वह पुरुषोत्तम भगवान की मूर्ति का ही प्रकाश है।

और, शास्त्रों में ऐसे वचन भी हैं कि 'जिस प्रकार काँटे से काँटा निकालकर फिर दोनों का ही परित्याग कर दिया जाता है, उसी प्रकार भगवान पृथ्वी का भार उतारने के लिए देह धारण करते हैं, और भार उतारने

के पश्चात् देह का परित्याग कर देते हैं।' ऐसे शब्दों को सुनकर मूर्ख भ्रमित हो जाता है तथा भगवान को निराकार समझता है, परन्तु वह भगवान की मूर्ति को दिव्य नहीं मानता। और, एकान्तिक भक्त यह समझता है कि जब श्रीकृष्ण भगवान अर्जुन की प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के निमित्त ब्राह्मण के पुत्र को लेने के लिए चले, तब उन्होंने अर्जुन के साथ द्वारिका से रथ पर बैठकर प्रस्थान किया और लोकालोक पर्वत को लाँघकर मार्ग में पड़नेवाले माया के अन्धकार को सुदर्शन चक्र द्वारा दूर कर दिया। वहाँ से रथ को आगे बढ़ाकर तेजपुंज में प्रवेश किया तथा वे भूमापुरुष से ब्राह्मण के पुत्र को ले आए। अतः श्रीकृष्ण भगवान दिव्य मूर्ति थे, तो उनके प्रताप से काष्ठ का रथ और पँचभौतिक देहवाले घोड़े भी दिव्य एवं मायातीत चैतन्य रूप के हो गए। यदि वे दिव्य स्वरूप को प्राप्त न करते, तो हमें स्पष्ट हो गया होता कि जितना माया का कार्य होता है, वह माया में ही लीन हो जाता है, परन्तु माया से परे ब्रह्म[99] तक नहीं पहुँच सकता! अतः भगवान की मूर्ति के प्रताप से जो मायिक पदार्थ थे, वह भी अमायिक बन गए! ऐसा जो भगवान का स्वरूप है, उसे मूर्खजन मायिक समझता है, जबकि एकान्तिक सन्त भगवान की मूर्ति को अक्षरातीत समझता है, तथा मूर्तिमान पुरुषोत्तम भगवान को ब्रह्मरूप, ऐसे जो अनन्तकोटि मुक्तों, तथा अक्षरधाम उन सभी की आत्मा समझता है। इसलिए, **चाहे किसी भी प्रकार के शास्त्रों का पठन-पाठन करते हों, पर उस समय यदि भगवान के निर्गुण रूप का प्रतिपादन देखा गया, तो वहाँ यह समझना चाहिए कि यहाँ भगवान की मूर्ति की महिमा ही कही गई है, अन्यथा भगवान तो सदा मूर्तिमान ही है। जो इस प्रकार समझता है, उसे एकान्तिक भक्त कहते हैं।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥66॥

वचनामृत 67 : सत्पुरुष के गुण प्राप्त होने के उपाय

संवत् 1876 में चैत्र शुक्ला सप्तमी (21 मार्च, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में मुनियों के निवासस्थान में विराजमान थे। वे श्वेत वस्त्र धारण किए हुए थे। उनके

99. यहाँ ब्रह्म शब्द से भूमापुरुष का लोक समझना चाहिए। - भागवत : 10/89/53-58

समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

श्रीजीमहाराज ने मुनियों से पूछा, **'कोई सत्पुरुष हैं, जिन्हें इस लोक के सुख का तो मोह ही नहीं है, किन्तु परलोक, जो भगवान का धाम है, तथा भगवान की मूर्ति है, उन्हीं में वासना बनी हुई है और जो कोई जीव उनका संग करता है, उसका भी वे इसी प्रकार हित करते हैं कि 'यह जो मेरा संगी है, उसकी सांसारिक वासना मिट जाए और भगवान से प्रीति हो जाए तो बहुत अच्छा होगा।' ऐसे सत्पुरुष जो कुछ भी यत्न करते हैं, वे सब भगवान के धाम में पहुँचने के बाद सुख हो, ऐसे ही प्रयत्न करते हैं। परन्तु वे अपने दैहिक सुख के लिए कोई भी क्रिया करते ही नहीं।** ऐसे सत्पुरुष के समान गुण, मुमुक्षु में किस प्रकार की समझ हो तो आ सकते हैं, और किस तरह की समझ हो, तो उसमें नहीं आते?'

तब मुक्तानन्द स्वामी ने कहा, 'जिन्हें इस लोक के सुखों की इच्छा नहीं है, ऐसे सत्पुरुष के प्रति देवबुद्धि हो तथा वे जो भी आज्ञा दें, उन वचनों को सत्य मानकर तदनुसार आचरण करे, तब सत्पुरुष के गुण, मुमुक्षु में आते हैं और यदि ऐसा न हुआ तो सत्पुरुष के गुण नहीं आते।'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'यह उत्तर तो ठीक है, परन्तु इस तरह समझे, तो महान सत्पुरुष के गुण मुमुक्षु के अंतर में सिद्ध होते हैं, उस समझ की रीति को बताते हैं, उसे सुनिए। जिन पुरुष को परमेश्वर के सिवा अन्यत्र कहीं भी प्रीति नहीं होती, उनके गुणों को मुमुक्षु इस प्रकार ग्रहण करता रहे कि 'ये पुरुष तो बहुत बड़े हैं, और इनके आगे लाखों मनुष्य हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं, फिर भी वे संसार के सुखों की लेशमात्र भी इच्छा नहीं करते हैं। और, मैं तो ऐसा घोर पामर जीव हूँ कि केवल सांसारिक सुखों में ही आसक्त रहता हूँ और परमेश्वर की वार्ता को तो लेशमात्र भी नहीं समझता, इसलिए मुझे धिक्कार है।' इस प्रकार की आत्मग्लानि करता हो, तथा उन सत्पुरुष के गुणों को ग्रहण करता हो, तथा अपने अवगुणों पर पश्चात्ताप करता रहता हो। तत्पश्चात् ऐसे पश्चात्ताप करते-करते उसके हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, इसके बाद उसमें सत्पुरुष जैसे गुण आते हैं।

अब जिसके हृदय में सत्पुरुष के गुण बिल्कुल नहीं आते, उसके लक्षण कहते हैं, उन्हें सुनिए। जो पुरुष ऐसा समझता है कि 'यद्यपि ये महा-पुरुष कहलाते हैं, फिर भी इनमें किसी प्रकार का विवेक नहीं है, इन्हें न तो खाने-पीने का ढंग ही मालूम है और न ओढ़ना तथा कपड़े पहनना ही आता है। और, परमेश्वर ने इन्हें बहुत सुख दिया है, फिर भी उसका उपभोग करना नहीं आता और वे किसी को कुछ देते भी हैं, तो उसे बिना विचार-विवेक के ही दे देते हैं।' इस प्रकार सत्पुरुष में ऐसे अनंत प्रकार के अवगुण ठहराता रहता है, ऐसे दुर्बुद्धि पुरुष में कभी सत्पुरुष के गुण आते ही नहीं।'

॥ इति वचनामृतम् ॥67॥

वचनामृत 68 : आठ प्रकार की मूर्ति तथा सन्त में प्राकट्य

संवत् 1876 में चैत्र शुक्ला नवमी (23 मार्च, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी और सिर पर श्वेत रेशमी किनारीवाली धोती बाँधी थी। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'हम एक प्रश्न पूछते हैं।' तब मुनियों ने कहा कि 'पूछिए।' श्रीजीमहाराज बोले, 'उनहत्तर के (सं. 1869) के दुर्भिक्ष के समय हमें एक महीने तक योगनिद्रा लगती थी, तब ऐसा आभास होता था कि हम पुरुषोत्तमपुरी में जाकर श्रीजगन्नाथजी की मूर्ति में प्रवेश करके रह रहे हैं। यद्यपि वह काष्ठ की मूर्ति थी, फिर भी हम उनके नेत्रों से सबको देखते थे, तथा पुजारी के भक्तिभाव और छलकपट को भी देखते थे। आज हमारे सत्संग में भी जो समाधिनिष्ठ होते हैं, वे भी इस प्रकार समाधि द्वारा दूसरों के शरीर में प्रवेश करके सबको देखते हैं तथा समस्त शब्दों को सुनते हैं। और, शास्त्रों में भी ऐसे वचन हैं कि शुकदेवजी वृक्ष में प्रवेश करके बोले थे।' इसलिए, महान सत्पुरुष अथवा परमेश्वर अपनी इच्छा के अनुसार कहीं भी प्रवेश करने का सामर्थ्य रखते हैं।

अतः परमेश्वर ने आज्ञा करके जो मूर्ति पूजन करने के लिए दी हो, वे

मूर्तियाँ आठ प्रकार की होती हैं।[100] उनमें स्वयं भगवान साक्षात् प्रवेश करके विराजमान रहते हैं। जब भगवान का भक्त उस मूर्ति की पूजा करता हो, तब उसे मूर्ति की उसी प्रकार मर्यादा रखनी चाहिए, जिस तरह प्रत्यक्षरूप से विराजमान भगवान की मर्यादा का पालन करता हो! उसी प्रकार सन्त के हृदय में भी भगवान की मूर्ति है, अतः उन सन्त की भी मर्यादा रखनी चाहिए। किन्तु, ऐसी मर्यादा का वह भक्त लेशमात्र पालन नहीं करता है, उल्टे उस मूर्ति को वह चित्र अथवा पाषाणादिक की समझता है, तथा सन्त को अन्य व्यक्तियों के समान मानता है। और, **भगवान ने तो अपने श्रीमुख से ऐसा कहा है कि मैं अपनी आठ प्रकार की प्रतिमा तथा सन्त में निरन्तर प्रवेश करके रहता हूँ।'** फिर भी वह भक्त तो भगवान की प्रतिमा के समक्ष तथा सन्त के समक्ष मनचाहा स्वच्छंद और अविवेकपूर्ण आचरण करता है, परन्तु भगवान का भय लेशमात्र भी नहीं रखता है, उसे भगवान का निश्चय है या नहीं? यह प्रश्न है।' तब परमहंस बोले कि 'जब वह भगवान को अन्तर्यामी जानकर भी मर्यादा नहीं रखता, तो यही प्रतीत होता है कि उसमें भगवान का निश्चय ही नहीं है।'

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'उसे निश्चय तो है ही नहीं, तथा बाह्य रूप से वह पाखंडमय भक्ति करता है, तो उसका कल्याण होगा या नहीं?'

तब सन्त बोले कि 'उसका कल्याण नहीं होगा।'

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे भगवान की मूर्ति एवं सन्त में नास्तिकता बनी रहती है, वह उसी मुकाम पर रुकेगा नहीं; वह तो जिसका भजन-स्मरण करता है, ऐसे प्रत्यक्ष भगवान के विषय में भी नास्तिक बन जाएगा। उसे भगवान के गोलोक एवं ब्रह्मपुर आदि धामों के विषय में भी नास्तिकता बनी रहेगी। वह जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय को काल, माया और कर्म द्वारा ही मानेगा! किन्तु परमेश्वर के द्वारा नहीं मानेगा, ऐसा पक्का नास्तिक होगा।'

---

100. **'शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।**
मणिमयी मनोमयी प्रतिमाष्टविधाः स्मृताः॥' (श्रीमद्भागवतम्: 11/27/12)
पत्थर की, काष्ट की, धातु की, चित्रित की हुई, रेखांकन की हुई, कांच से बनी, मणि से निर्मित और मन में धारण की हुई - इस प्रकार मूर्तियों के आठ भेद हैं।

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा, 'इस नास्तिकता का कारण पूर्वजन्म का कोई कर्म है अथवा कुसंग?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'नास्तिक ग्रन्थों का श्रवण करना ही नास्तिकता का कारण है। और, ऐसे ग्रन्थों में जिनकी प्रतीति हो, उनका संग भी नास्तिकता का निमित्त बन जाता है। तथा, काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, मान तथा ईर्ष्या आदि दोष भी नास्तिकता के जनक बन जाते हैं। क्योंकि इनमें से यदि किसी एक स्वभाव का भी प्रभाव हो, तो नारद-सनकादिक जैसे साधु भी यदि उस व्यक्ति को समझाएँ, तो भी वह उनकी बात नहीं मानेगा। ऐसी नास्तिकता कब मिट सकती है? तो जब वह श्रीमद्भागवत जैसे आस्तिक ग्रन्थों में प्रतिपादित जगत की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयरूपी भगवान की लीला का श्रवण करे, तथा भगवान और सन्त का माहात्म्य समझे, तब जाकर उसकी नास्तिकता मिट सकती है और आस्तिकता उत्पन्न हो सकती है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥68 ॥

वचनामृत 69 : अहिंसामय धर्म

संवत् 1876 में चैत्र शुक्ला द्वादशी (26 मार्च, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। वे श्वेत वस्त्र धारण किए हुए थे। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

श्रीवासुदेव नारायण की संध्या-आरती सम्पन्न हुई; पश्चात् नारायण धुन करके श्रीजीमहाराज बोले कि 'धर्म किसका नाम है, इसका शास्त्रोक्त रीति से उत्तर दीजिए। और, जो हिंसक राजा थे, वे भी शरणागत जीव की न तो स्वयं हत्या करते थे, और न ही किसी अन्य पुरुष को उसकी हत्या करने देते थे। अत: शरणागत जीव को मारने से जैसे पाप होता है, वैसे क्या अन्य किसी की हत्या करने से पाप होता है या नहीं?'

तत्पश्चात् जिसे जैसा लगा उसने वैसा उत्तर दिया। परन्तु, श्रीजी-महाराज ने शंका प्रकट की, तब किसी से उत्तर नहीं हो पाया। फिर समस्त मुनि बोले, 'हे महाराज! हम भी आपसे यही प्रश्न पूछते हैं कि एक ओर

तो यज्ञादि में पशुहिंसा के सहित धर्म निरूपण हुआ है, और दूसरी ओर अहिंसा-रूप भी धर्म को बताया गया है, इसीलिए कृपया बताइए कि इसमें सत्य बात क्या है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'हिंसायुक्त जो धर्म है, वह तो धर्म, अर्थ और कामपरक है, और वह भी हिंसा के संकोच के लिए प्रतिपादित किया गया है। और, जो अहिंसामय धर्म है, वह मोक्षपरायण बताया गया है, यही साधु का धर्म है। और, हिंसामय जो धर्म है, वह तो आसक्ति से प्रेरित है, किन्तु कल्याण के लिए नहीं है। और, जो अहिंसामय धर्म है, वह तो केवल कल्याण के लिए है। अतः गृहस्थों और त्यागीजनों के लिए केवल अहिंसामय धर्म को ही कल्याण के लिए बताया गया है। जैसे उपरिचरवसु नामक राजा अपने राज्य में केवल अहिंसाधर्म का ही आचरण करते थे, अतः **साधु को तो मन, कर्म तथा वचन द्वारा किसी के भी अहित की कामना नहीं करनी चाहिए। और, किसी बात का अहंकार भी नहीं रखना चाहिए और सबके दासानुदास होकर रहना चाहिए। एवं, क्रोधयुक्त प्रकृति दुष्ट पुरुष का धर्म है, और शान्त स्वभाव से आचरण करना वही साधु का धर्म है।** तब कोई यह कहेगा कि जब हज़ारों मनुष्यों से नियमों का पालन कराना हो, तो साधुता ग्रहण करने से कैसे काम चलेगा? इसका उत्तर यह है कि राजा युधिष्ठिर का हज़ारों कोसों में राज्य था, तो भी उन्होंने साधुता रखी थी। और, भीमसेन के समान डराने-धमकानेवाले तो सहस्रों पुरुष हो सकते हैं, जिन्हें रोका जाए तो भी वे अपने स्वभाव के अनुसार आचरण करने से नहीं रुक सकते। अतः कठोर स्वभाववालों की कोई कमी नहीं है, ऐसे तो बहुत मिले, लेकिन 'साधु' होना ही अत्यन्त दुर्लभ है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥69॥

वचनामृत 70 : सत्संग-महिमा तथा भगवन्निश्चय की अडिगता

संवत् 1876 में चैत्र शुक्ला पूर्णिमा (29 मार्च, 1820) को श्रीजी-महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सिर पर रेशमी किनारीवाली श्वेत धोती बाँधी थी, सफ़ेद धोती धारण की थी तथा श्वेत चादर ओढ़ी थी।

वे अपने हस्तकमल में तुलसी की माला फेर रहे थे। उनके समक्ष सभा में परमहंस तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'बड़े-बड़े परमहंस अब परस्पर प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ करें। यदि किसी गृहस्थ हरिभक्त को भी कुछ पूछना हो, तो वह अपना प्रश्न परमहंसों से पूछे।'

तब रोजका गाँव के हरिभक्त काकाभाई ने नित्यानन्द स्वामी से प्रश्न किया, 'कभी कभी अन्त:करण से ऐसी आवाज़ आती है, कि पंचविषयों का उपभोग करो! जबकि दूसरी ओर ऐसी आवाज़ भी आती है कि पंचविषयों को नहीं भोगना चाहिए! तो भीतर से जो पंचविषय भोगने की 'हाँ' कहता है, वह कौन है? तथा जो 'ना' बोलता है वह कौन है?'

तब नित्यानन्द स्वामी ने कहा, 'जो मना करता है, वह जीवात्मा है और जो भोगने की संमति देता है वह मन है।'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'इस प्रश्न का उत्तर हम देते हैं, कि हमने जन्म के बाद जिस दिन से होश सँभाला, और माता-पिता को पहचाना, उस दिन से माँ-बाप ने हमें निश्चय कराया कि 'यह तेरी माँ, यह तेरा बाप, यह तेरा काका, यह तेरा भाई, यह तेरा मामा, यह तेरी बहन, यह तेरी मामी, यह तेरी काकी, यह तेरी मौसी, यह तेरी भैंस, यह तेरी गाय, यह तेरा घोड़ा, यह तेरे कपड़े, यह तेरा घर, यह तेरा मकान, यह तेरा खेत और यह तेरे गहने।' ऐसे-ऐसे कुसंगियों के समस्त शब्द इस जीव की बुद्धि में रह-रहे हैं। ये किस प्रकार से रहे हैं? तो जैसे स्त्रियाँ जब कसीदे का काम करती हैं, तब कसीदावाली चीज़ में शीशे का टुकड़ा लगाया जाता है, वैसे ही कसीदाकारी की जगह बुद्धि है और शीशे के टुकड़े के स्थान पर यह जीव है, और उस बुद्धि में कुसंगी लोगों के वे शब्द तथा उनके रूप इन पंचविषयों के सहित रहते हैं। बाद में उस जीव को जब सत्संग प्राप्त हुआ, तब सन्त ने परमेश्वर की महिमा तथा विषयों के खंडन और जगत के मिथ्या होने की बात कही।

उन सन्त की ऐसी बातें तथा उन संतों के रूप भी इस जीव की बुद्धि में रहे हैं। इन दो प्रकार के शब्दों की दो सेनाएँ हैं, जो आमने-सामने उसी तरह खड़ी हुई हैं, जिस प्रकार कुरुक्षेत्र में कौरवों तथा पांडवों की सेनाएँ एक-दूसरे के सामने खड़ी हुई थीं। उनके बीच युद्ध में तीर, बरछियाँ, आदि

शस्त्रों का उपयोग किया गया। उस समय कुछ योद्धा आमने-सामने तलवारें और कतिपय वीरपुरुष गदाएँ लेकर, तो कुछ सैनिक गुत्थम-गुत्था लड़ रहे थे। उस स्थिति में किसी का सिर उड़ गया, तो किसी की जाँघ कट गयी, ऐसा भीषण रक्तपात हुआ था। उसी प्रकार इस जीव के अन्तःकरण में भी जो कुसंग के भाव हैं, वे पंचविषयरूपी शस्त्रों को लेकर खड़े हैं तथा सन्त के जो भाव हैं, वे भी 'भगवान सत्य हैं, जगत मिथ्या है तथा विषय झूठे हैं', इन शब्दरूपी शस्त्रों से सज्जित होकर खड़े हैं और इन दोनों प्रकार के शब्दों का आपस में युद्ध होता है। सो जब कुसंगी का बल बढ़ जाता है, तब विषयों के भोगने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है, तथा जब सन्त का बल बढ़ता है, तब विषयोपभोग की इच्छा नहीं होती। इस प्रकार परस्पर अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है। इसलिए, कहा गया है :

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूति, र्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥[101]

इस श्लोक में बताया गया है कि 'जहाँ योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण हैं और धनुषधारी अर्जुन हैं, वहीं लक्ष्मी है, वहीं विजय है, वहीं ऐश्वर्य है और वहीं अचल नीति बनी रहती है।' इस तरह जिसके पक्ष में यह सन्तमंडल है, उसी की विजय होगी, ऐसा निश्चय रखना।'

तब काकाभाई ने पुनः पूछा, 'हे महाराज! भीतर जो सन्त बैठे हैं, उनका बल बढ़े तथा कुसंगी की शक्ति कम हो, उसका क्या उपाय है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि, 'अन्तःकरण में और बाहर जो कुसंग रहता है, वे दोनों एक हैं तथा हृदय में और बाहर जो संत रहते हैं, वे भी एक हैं। अन्तस्तल में रहनेवाले कुसंगी का बल बाहरवाले कुसंगी के पोषण से बढ़ता है, और अंतर में निवास करनेवाले सन्त का बल तभी बढ़ता है, जब बाहरवाले सन्त से उसे पोषण प्राप्त होता हो। इसीलिए, बाहर के कुसंगियों का संग न करके बाहर के जो सन्त हैं, उन्हीं का सत्संग करें तभी कुसंगियों का बल कम हो जाता है, तथा सन्त के बल में वृद्धि होती है।' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने प्रश्न का उत्तर दिया।

काकाभाई ने पुनः यह प्रश्न पूछा, 'हे महाराज! एक पुरुष तो ऐसा

101. गीता : 18/78

है, जिसके लिए कुसंगियों का संघर्ष समाप्त हो गया है और केवल सन्त का संबल प्राप्त है तथा एक अन्य पुरुष भी है, जिसका संघर्ष ज्यों का त्यों चलता रहता है। इस स्थिति में, इन दोनों में जिसका संघर्ष समाप्त हो गया है, उसके मरने पर उसे भगवान के धाम की प्राप्ति होती है, इस बात में तो कोई सन्देह नहीं है, परन्तु जिसका संघर्ष पूर्ववत् चल रहा है, उसका देहान्त होने पर उसकी कैसी गति होती है, यह बताइए।'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जैसे एक योद्धा जब युद्ध करने के लिए निकला, तब उसके समक्ष बनिये अथवा गरीब लोग आए उन्हें जीत लिया, तब उसे भी विजय कहा जायेगा। ठीक उसी तरह दूसरा योद्धा युद्ध करने गया, तब उसके सामने आरबों की सेना आई तथा राजपूत, काठी और कोली जैसे योद्धा आए, उन्हें जीतना कठिन ही है। वे कोई बनियोंजैसे थोड़े ही हैं, जिन पर तुरन्त विजय पा ली जाए! इस कारण वह योद्धा उनके साथ बस संघर्षरत ही रहता है। उनमें कदाचित् जीता तो जीत ही गया! परन्तु अगर जो लड़ते-लड़ते शत्रु द्वारा खदेड़े जाने पर भी नहीं हटा, तथा आयुष्य समाप्त होने के कारण अगर वह मर भी गया, तो क्या उसका स्वामी यह बात नहीं जानेगा कि 'इसका मुकाबला बड़े-बड़े बलवान लोगों से हुआ था, जिन्हें जीता नहीं जा सकता था! तथा जो पहला योद्धा था वह बनिये आदि को जीता था। वह वाकई आसान काम था।' इस प्रकार, दोनों योद्धाओं पर उनके स्वामी की नज़र रहती है। उसी प्रकार भगवान भी नज़र रखते हैं कि 'इन्हें ऐसे प्रबल संकल्प-विकल्पों के विघ्न हैं, फिर भी उनके साथ लड़ाई लड़ता रहा है, इसलिए यह धन्य है।' इस प्रकार भगवान उसकी सहायता करते हैं। अतएव, बेफ़िक्र रहना, किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं करना, भगवान का भजन करते रहना; सन्त का अधिक से अधिक सत्संग करना और कुसंगी से दूर ही रहना।' इस प्रकार श्रीजीमहाराज प्रसन्न होकर बोल रहे थे।

फिर 'जसका' गाँव के जीवाभाई ने नित्यानन्द स्वामी से प्रश्न किया, 'भगवान सम्बंधी अटल निश्चय किस प्रकार से हो सकता है ?'

तब नित्यानन्द स्वामी ने कहा, 'यदि कुसंगी लोगों से दूर रहें और सन्त का अधिकाधिक सत्संग करें, तो उन सन्त की बातों से भगवान का अटल निश्चय हो जाता है, परन्तु यदि कुसंगी लोगों का संग किया, तो अडिग

निश्चय नहीं हो सकता।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब हम इसका उत्तर देते हैं कि **भगवान का निश्चय करना, वह केवल अपने जीव के कल्याण के लिए ही करना, लेकिन किसी पदार्थ की लालसा से नहीं करना। जैसे कि 'यदि मैं सत्संग करूँ, तो मेरा रोग दूर हो जाए अथवा निःसंतान हूँ तो पुत्र मिले, या पुत्र की मृत्यु हो जाती है, तो वह जीवित रहे, अथवा निर्धन हूँ तो धनवान हो जाऊँ, या भू-सम्पत्ति चली गई है, वह सत्संग करने से वापस आ जाए।'** इस प्रकार पदार्थों की लालसा रखकर सत्संग नहीं करना। जो मनुष्य ऐसी इच्छा के साथ सत्संग करता है, उसकी पदार्थों की लालसा यदि पूरी हो गई, तो वह पक्का सत्संगी बन जाता है, और यदि इच्छा पूर्ण न हुई, तो भगवान सम्बंधी निश्चय कम हो जाता है।

इसलिए सत्संग अपने जीव के कल्याण के लिए ही करना। किन्तु किसी प्रकार के भौतिक पदार्थों की इच्छा तो रखनी ही नहीं। क्योंकि अगर घर में दस मनुष्य हों उन सभी का मृत्युकाल उपस्थित हो गया, तब उनमें से एक भी आदमी बच गया तो क्या कम है? अथवा प्रारब्ध में यदि भिक्षा माँगने का योग हो और रोटियाँ खाने को मिलें, तो क्या कम है? सबकुछ जाने वाला था, उसमें से यदि इतना बच गया है, तो वह पर्याप्त है, ऐसा मानना।

इस प्रकार अत्यधिक दुःख आनेवाला हो, वह परमेश्वर के आश्रय को ग्रहण करने से निश्चित रूप से कम तो होता है, परन्तु जीव को यह बात समझ में नहीं आती। अन्यथा एक बात तो पक्की है कि किसी को सूली चढ़ने का योग हो, तो ऐसा दुःख केवल काँटा लगने मात्र से भी टल जाता है, इतना अन्तर भगवान के आश्रय से पड़ता है।

इस प्रसंग में एक वार्ता स्मरणीय है : एक गाँव में बहुत चोर रहते थे, जिनमें से एक चोर साधु के पास बैठने के लिए जाया करता था। एक बार मार्ग में चलते हुए उस चोर के पैर में काँटा चुभ गया और वह आरपार निकल गया। उसका पैर सूज गया और इस हालत में वह चोरी करने के लिए नहीं जा सका। दूसरे चोर चोरी करने के लिए गए, और एक राजा का खजाना लूटा। बहुत-सा धन लेकर उन्होंने उसे आपस में बाँट लिया। उधर, जो चोर साधु के पास आता था, और पैर में काँटा लग गया था, उसके

माता-पिता, पत्नी और अन्य सम्बंधीजन उसे डाँटने-फटकारने लगे कि तू चोरी करने नहीं गया और साधु के पास बैठा रहा, तो हमारा भारी नुक़सान हो गया! देखो वे चोर राजा के यहाँ चोरी करके कितने अधिक धनवान बन गए! जब वे ऐसी बातचीत कर ही रहे थे कि राजा के सैनिक वहाँ पहुँच गए और उन्होंने सब चोरों को पकड़कर सूली पर चढ़ा दिया। वे इन चोरों के साथ सत्संग में आनेवाले उक्त चोर को भी सूली पर चढ़ाने के लिए ले गए। तब उस गाँव के लोगों के साथ साधु ने आकर गवाही देते हुए बताया कि यह तो चोरी करने गया ही नहीं था, क्योंकि इसके पैर में काँटा लग गया था। इस तरह उस चोर की रक्षा हो गई।

इस प्रकार जो सत्संग करते हैं, उनका सूली जैसा दुःख भी काँटे से मिट जाया करता है, क्योंकि हमने रामानन्द स्वामी से प्रार्थना की है कि 'आपके सत्संगियों को यदि एक बिच्छू का कष्ट होनेवाला हो, तो मेरे एक-एक रोम में करोड़ों बिच्छुओं के डंक लगने की पीड़ा हो जाए, किन्तु उन्हें (सत्संगियों को) ऐसा कष्ट प्राप्त न हो; तथा आपके सत्संगियों के प्रारब्ध में यदि भिक्षापात्र का योग हो, तो वह मुझे मिल जाए, परन्तु आपके सत्संगी अन्न-वस्त्र के अभाव से दुःखी न हों। कृपया ये दो वरदान मुझे दीजिए।' इस प्रकार मैंने रामानन्द स्वामी से दो वरदान माँगे, जो उन्होंने मुझे प्रसन्नतापूर्वक दिए हैं। इसलिए, जो कोई सत्संग करता है, उसे व्यवहार में यदि कोई दुःख होनेवाला हो तो भी वह नहीं हो पाता। फिर भी, पदार्थ तो नाशवान ही है, इसलिए, यदि पदार्थों की लालसा से कोई सत्संग करेगा, तो उसके भगवान सम्बंधी निश्चय में संशय हुए बिना नहीं रहेगा! इसलिए, **सत्संग केवल निष्कामभाव से तथा अपने जीव के कल्याण के लिए ही करना, तभी अडिग निश्चय होगा।'** इस संदर्भ में श्रीहरि ने बहुत सी बातें की हैं, परन्तु यहाँ पर तो मात्र अल्प ही लिखी गई हैं।

॥ इति वचनामृतम् ॥70 ॥

वचनामृत 71 : भगवान अक्षरधाम सहित पृथ्वी पर बिराजमान हैं

संवत् 1876 में चैत्र कृष्णा चतुर्थी (2 अप्रैल, 1820) को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के

ऊपर की मंजिल के सामने चबूतरे पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी और सिर पर श्वेत फेंटा बाँधा था। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा विभिन्न स्थानों के हरिभक्त बैठे हुए थे। उस समय मुक्तानन्द स्वामी आदि साधुवृंद वाद्ययन्त्रों सहित कीर्तनगान कर रहे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब कीर्तनभक्ति समाप्त करके परस्पर प्रश्न-उत्तर कीजिए।' इस आदेश पर सोमलाखाचर ने प्रश्न किया कि 'भगवान यद्यपि अपने भक्तों के समस्त अपराधों को क्षमा कर देते हैं, तथापि ऐसा कौन-सा अपराध है, जिसे भगवान क्षमा नहीं करते?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि, 'भगवान अन्य सभी अपराधों को क्षमा कर देते हैं, किन्तु वे भगवद्भक्त के द्रोहरूप अपराध को क्षमा नहीं करते, इसलिए भगवान के भक्त का किसी भी प्रकार से द्रोह नहीं करना चाहिए। और, भगवान के समस्त अपराधों में सबसे बड़ा अपराध वही है, जो भगवान के साकार स्वरूप का खंडन करना। अतः वह अपराध कभी भी नहीं करना। यदि कोई व्यक्ति वह अपराध करता है, तो उसे पाँच महा-पापों से भी अधिक पाप लगता है। वस्तुतः भगवान सदैव साकार मूर्तिमान हैं, उन्हें निराकार समझना ही भगवान के आकार का खंडन करना कहलाता है।

तथा, पुरुषोत्तम भगवान करोड़ों सूर्य-चन्द्रमाओं के तेज के समान देदीप्यमान रहनेवाले अपने अक्षरधाम में सदैव दिव्यरूप धारण करके विराजमान रहते हैं। और, अनन्तकोटि ब्रह्मरूप ऐसे मुक्त उनके चरणकमलों की सेवा किया करते हैं। ऐसे परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान ही स्वयमेव कृपा करके जीवों के कल्याण के लिए पृथ्वी पर प्रकट होते हैं। तब वे जिन-जिन तत्त्वों को अंगीकार करते हैं, वे सभी तत्त्व ब्रह्मरूप (दिव्य) हो जाते हैं। क्योंकि रामकृष्णादि अवतारों के स्वरूपों में स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण इन तीन देह तथा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के भाव दिखाई देते हैं, तथा दस इन्द्रियाँ, पंचप्राण इत्यादि भी मनुष्य के समान ही दिखाई देते हैं। परन्तु ये सब ब्रह्म (दिव्य) हैं, मायिक नहीं। इसलिए ऐसे भगवान के आकार का कभी भी खंडन नहीं करना।'

तत्पश्चात् मातरा धाधल ने पूछा, 'ईर्ष्या का स्वरूप कैसा है?' तब

श्रीजीमहाराज बोले, 'जिस पर जिसको ईर्ष्या होती है, उसका उत्कर्ष उससे सहन नहीं होता, किन्तु उसका अहित होने पर उसे प्रसन्नता होती है, यही ईर्ष्या का लक्षण है।'

फिर श्रीजीमहाराज ने साधुओं से प्रश्न पूछा, 'यदि किसी को भगवान की प्रत्यक्ष मूर्ति का निश्चय हो, और वह भजन करता हो और सत्संग के नियमों के अनुसार आचरण करता हो, तो उसका कल्याण होता है। यह तो सत्संग की रीति है, परन्तु शास्त्रों में कल्याण की रीति क्या बताई गई है? और, वेदों के अर्थ तो अत्यन्त कठिन हैं, इसलिए वेदों की कथा नहीं होती, तथा श्रीमद्भागवत पुराण और महाभारत में वेदों का ही अर्थ है और वह सुगम है, इसलिए जगत में उनकी कथा होती है। अतः शास्त्रों के कहे अनुसार कल्याण की रीति बताइए। और, शंकराचार्यजी ने भगवान के निराकार स्वरूप का प्रतिपादन किया है, जबकि रामानुजादिक आचार्यों ने भगवान के साकार स्वरूप को ही प्रतिपादित किया है। इसीलिए इस प्रकार शास्त्रों के मतानुसार उत्तर दीजिए।'

इसके पश्चात् मुनियों ने शास्त्रीय रीति से निराकार के पक्ष को मिथ्या सिद्ध करके यह बात बताई कि साकार भगवान का भजन करने से कल्याण होता है। तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'हम भी इसी पक्ष का ग्रहण करते हैं। फिर भी, इस सम्बंध में आपसे एक प्रश्न पूछते हैं, कि 'यद्यपि निराकार अक्षरब्रह्म से परे, सदा साकार मूर्ति पुरुषोत्तम भगवान हमें पृथ्वी पर प्रत्यक्ष रूप से मिले हैं, तथापि ब्रह्मपुर, गोलोक, वैकुंठ एवं श्वेतद्वीप आदि भगवान के धामों को देखने की जिसे लालच रहती है, उसे भगवान का निश्चय है या नहीं?' तब मुनियों ने बताया, 'भगवान की प्राप्ति होने पर भी जिसके मन में ऐसी इच्छा रहती हो कि 'जब अक्षर आदि धाम देखेंगे, अथवा कोटि-कोटि सूर्यों का प्रकाश देखेंगे तभी हमारा कल्याण होगा', तो ऐसी समझवालों को भगवान का यथार्थ निश्चय नहीं है।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसने ब्रह्मपुर आदि धामों तथा ब्रह्मस्वरूप को देखने की लालसा रखकर क्या कोई पाप किया है, जिससे आप यह मत व्यक्त करते हैं कि उसे भगवान का निश्चय नहीं हुआ है?'

मुनियों ने बताया कि 'जिसने प्रत्यक्ष प्रमाण भगवान के दर्शन को

कल्याणकारी मान लिया हो, उसके लिए ब्रह्मपुर, गोलोक आदि धाम भी भगवान के ही धाम हैं, तब वह उनसे अरुचि क्यों रखे? परन्तु वह भगवान के बिना उसकी इच्छा नहीं करता।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'वे धाम तथा उनमें रहनेवाले पार्षद तो चैतन्यमूर्ति हैं और माया से परे भी हैं, तब उनमें कौन-सा ऐसा दोष है कि वह उसे नहीं इच्छता? और, भगवान जब पृथ्वी पर प्रकट रूप से विराजते हों और तब उनके जो मनुष्यरूप सेवक होते हैं, वे तो नाशवान लगते हैं, तथा वे जिन घरों में रहते हैं, वे भी मिट्टी में मिल जाए ऐसे होते हैं, तो इसके बारे में कहिए, आपकी समझ क्या है?' तब मुनि बोले कि 'इन घरों को हम ब्रह्मपुरादिक धाम समझते हैं तथा सेवकों को हम ब्रह्मरूप समझते हैं।'

फिर श्रीजीमहाराज बोले, 'ब्रह्मपुर और उसमें रहनेवाले पार्षद अखंड एवं अविनाशी हैं। तो इस मृत्युलोक के नाशवान घरों और नाशवान शरीरवाले पार्षदों के साथ उसकी तुलना क्यों करते हैं?'

अब नित्यानन्द स्वामी बोले, 'हे महाराज! इसका उत्तर आप ही दीजिए।' तब श्रीजीमहाराज ने बताया, **'भगवान जीव के कल्याण के लिए जब मूर्ति धारण करते हैं, तब वे अपने अक्षरधाम[102] एवं चैतन्यमूर्ति पार्षदों तथा समस्त निजी ऐश्वर्यों सहित ही पधारते हैं, परन्तु वे दूसरे लोगों को दिखाई नहीं पड़ते।** और, जब किसी भक्त को समाधि में अलौकिक दृष्टि प्राप्त होती है, तब उसे भगवान की मूर्ति में कोटि-कोटि सूर्यों के समान प्रकाश दिखता है, और अनन्तकोटि मुक्त भी उस भगवान के साथ दिखाई देते हैं और वह अक्षरधाम भी भगवान की मूर्ति के साथ ही दिखाई देता है। यद्यपि ये सब भगवान के साथ ही रहते हैं, तथापि परमेश्वर अपने भक्त मनुष्यों की ही सेवा को स्वीकार करते हैं, और वे अपने भक्तों के मिट्टी और पत्थरों से बनाए गए घरों में विराजमान होते हैं। उनके श्रद्धालु भक्त जो धूप, दीप और अन्नवस्त्रादि अर्पित करते हैं, उन्हें

102. यहाँ निर्दिष्ट अक्षरधाम अर्थात् भगवान स्वामिनारायण के साथ पृथ्वी पर पधारे हुए संत सद्गुरुवर्य गुणातीतानंद स्वामी ही हैं, जिनकी पहचान स्वयं श्रीहरि ने बार-बार करवाई थी। इसी कारण वे संप्रदाय में अपने ही समय में 'अक्षरब्रह्म' एवं 'वचनामृत-रहस्य के ज्ञाता' के रूप में प्रसिद्ध हुए थे।

भगवान प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेते हैं। वह इसलिए कि इससे अपने मनुष्य सेवक दिव्यरूपधारी पार्षदों की पंक्ति में सम्मिलित हों! अतः भक्तजन भगवान की सेवा में जिन-जिन वस्तुओं को समर्पित करते हैं, वे सभी वस्तुएँ भगवान के धाम में दिव्यरूप हो जाती हैं और वे भक्त भी दिव्यरूप होकर उसे प्राप्त करते हैं। अतः ऐसा अचल-अखंड सुख अपने भक्तजनों को प्राप्त कराने के लिए ही भगवान भक्तों की समस्त सेवाओं को स्वीकार करते हैं। अतएव, **भगवान के भक्तों को चाहिए कि वे भगवान का स्वरूप अक्षरधाम सहित पृथ्वी पर विराजमान है ऐसा समझें और दूसरों के समक्ष भी ऐसी ही वार्ता करें।**'[103]

॥ इति वचनामृतम् ॥71 ॥

वचनामृत 72 : माहात्म्ययुक्त निश्चय

संवत् 1876 में चैत्र कृष्णा एकादशी (9 अप्रैल, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के समीप उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर पूर्व की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे और उनके समक्ष सभा में मुनिजन तथा विभिन्न स्थानों के हरिभक्त बैठे हुए थे। उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'हे महाराज! कल आपने दादाखाचर के सामने बहुत सुन्दर बातें कही थीं, उसे सुनने की हम सबको बहुत इच्छा है।'

तब वह बात बताते हुए श्रीजीमहाराज बोले कि **'जिस भगवद्भक्त को भगवान का माहात्म्यसहित निश्चय हो, तथा वह सन्त एवं सत्संगी का माहात्म्य बहुत अच्छी तरह जानता हो, उस भक्त का कर्म एवं काल यदि कठिन हो, फिर भी उस भक्त के भीतर भक्ति का अतिशय बल होने से काल तथा कर्म एकसाथ मिलकर भी उसका अहित नहीं**

103. इस पृथ्वी पर अक्षर सहित पुरुषोत्तम अर्थात् गुणातीतानंद स्वामी के साथ श्रीहरि सर्वदा प्रकट रहते हैं। इसी ज्ञान को गुरु परम्परा द्वारा प्राप्त करके ब्रह्मस्वरूप शास्त्रीजी महाराज ने गुणातीतानंद स्वामी तथा भगवान स्वामिनारायण इन दोनों की मूर्तियों की स्थापना करके ज्ञान को मूर्तिमान बनाया।

कर सकते। जिसको भगवान और उनके सन्त के प्रति निष्ठा में कुछ न्यूनता होगी, तो भगवान स्वयं भी उसका भला चाहे, तब भी उसका भला नहीं होगा।

और, जो गरीबों को सताता है, उसका तो कभी भी भला नहीं हो पाता। जैसे कि महाभारत में भीष्म पितामह ने राजा युधिष्ठिर से ऐसा कहा है कि यदि तुम गरीबों को सताओगे तो तुम अपने वंश के साथ जलकर भस्म हो जाओगे। इसलिए भगवान के भक्त अथवा अन्य किसी भी गरीब को, लेशमात्र भी दु:ख नहीं देना। क्योंकि गरीब को त्रास देनेवाले का भला कभी भी नहीं होगा। यदि गरीब को दु:ख दिया, तो उसे ब्रह्महत्या के समान पाप लगता है। इसी प्रकार, किसी के सिर पर मिथ्या कलंक लगाना भी ब्रह्महत्या के समान ही पाप है। यदि कोई वास्तविक रूप से कलंकित हो, तो भी उस व्यक्ति को एकान्त में बुलाकर उसका भला हो, ऐसी हितकारी बात कहना, किन्तु उसकी फज़ीहत नहीं करना।

और, जो पुरुष पाँच प्रकार की स्त्रियों का धर्म भंग करता है, तो उसे भी ब्रह्महत्या जैसा पाप लगता है। पाँच प्रकार की स्त्रियों में प्रथम वह है, जो शरण में आई हो, दूसरी अपनी स्त्री हो, जो व्रत-उपवास के दिन पति-संग नहीं करना चाहती हो, तीसरी, पतिव्रता स्त्री, चौथी विधवा स्त्री, और पाँचवीं, विश्वासी स्त्री। यदि ऐसी स्त्रियों के साथ व्यभिचार किया गया, तो अपराध करनेवाले पुरुष पर ब्रह्महत्या का पाप लगता है। उनमें भी विधवा स्त्री का मन यदि कुमार्गगामी हो गया, तो उसे समझाकर भी धर्माचरण की ओर मोड़ देना।'

इसके बाद समस्त मुनि भगवान के शृंगारिक पद गाने लगे, उसे सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान जीव के कल्याण के लिए ही देह धारण करते हैं। तब उनकी जो क्रियाएँ मनुष्योचित होती हैं, उन्हें देखकर भगवद्भक्त उन्हें चरित्र-लीला समझता है, किन्तु विमुख जीव अथवा अपरिपक्व भक्त ऐसे चरित्रों में दोष देखते हैं। जैसे शुकजी ने रास-पंचाध्यायी का वर्णन किया, तब राजा परीक्षित को संशय उत्पन्न हुआ, फिर उन्होंने शुकदेवजी से पूछा कि 'भगवान तो धर्म की मर्यादा स्थापित करने के लिए प्रकट हुए थे, तब उन्होंने परस्त्री का संग करके धर्मभंग क्यों किया?'

इस प्रकार उन्होंने भगवान की लीला में दोष देखा, परन्तु शुकजी ने पूर्णरूप से सोच-विचार करके भगवान का गुणगान किया कि कामदेव ने ब्रह्मादिक देवताओं को जीतकर अपने वश में कर लिया उसका उसे अत्यन्त गर्व हो गया। उस गर्व को दूर करने के लिए भगवान ने कामदेव को ललकारा। जिस प्रकार कोई बलवान राजा अपने शत्रु को अपनी ओर से गोला-बारूद दिलवाकर उसके साथ लड़ने जाता है, उसी प्रकार भगवान ने कामदेवरूपी शत्रु को लड़ने का सामान पहले से ही दिलवा दिया। वह क्या? तो जब स्त्री का संसर्ग होता है, तब कामदेव का बल बढ़ता है, विशेषकर शरदऋतु की रात्रियों में कामदेव के बल में अधिक वृद्धि हो जाया करती है। उस समय स्त्री के रागरंगमय विलास के शब्द सुनने, उसका रूप देखने और स्पर्श करने से कामदेव का बल अत्यधिक बढ़ जाता है। श्रीकृष्ण भगवान ने यह सब सामान कामदेव को देकर उस पर विजय प्राप्त कर ली और वे अखंड ब्रह्मचारी के समान ऊर्ध्वरेता रहे। इस प्रकार भगवान ने कामदेव के गर्व का मूलोच्छेद कर दिया। ऐसा अलौकिक सामर्थ्य भगवान के सिवा अन्य किसी में हो ही नहीं सकता। इस प्रकार, शुकजी ने भगवान का महान सामर्थ्य जानकर उनका चरित्र गान किया, जबकि राजा परीक्षित को यह बात समझ में नहीं आई, इस कारण उन्होंने भगवान में दोष देखा।

अतः यदि कोई आपसे यह कहे कि आप परमहंस होने पर भी श्रृंगारिक भजन क्यों गाते हैं? तो उसे बताना चाहिए कि यदि हम श्रृंगारिक भजन नहीं गावें, और भगवान की श्रृंगार-लीलाओं के सम्बंध में दोष देखें, तो हम भी राजा परीक्षित तथा अन्य नास्तिक-विमुख जीवों की पंक्ति में मिल जाएँ। अतः हमें विमुख जीवों की पंक्ति में सम्मिलित नहीं होना है, क्योंकि समस्त परमहंसों के गुरु शुकजी ने स्वयं भगवान की श्रृंगार-लीला का गुणगान किया है, इसलिए हमें भी भगवान का गुणगान अवश्य करना है।'

और, जो पुरुषोत्तम भगवान क्षर-अक्षर से परे हैं, वे जब जीवों के कल्याण के लिए ब्रह्मांड में मनुष्यरूप धारण करके विचरण करते हैं, तब वे मनुष्यों के समान ही समस्त लीला दिखाते हैं। **जिस प्रकार मनुष्यों में जय, पराजय, भय, शोक, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा, तृष्णा तथा ईर्ष्या आदि मायिक स्वभाव होते हैं, वैसे ही स्वभाव**

भगवान भी अपने स्वरूप में दिखलाते हैं। वास्तव में भगवान की ऐसी समस्त लीलाएँ जीवों के कल्याण के लिए ही होती हैं। फिर जो भक्त हैं, वे इन लीलाओं का गान करके परमपद को प्राप्त करते हैं, किन्तु विमुख जीव, उन लीलाओं में दोष देखते हैं। जिस प्रकार भगवान क्षर की आत्मा हैं, वैसे ही वे प्रकृति-पुरुष से परे रहेनेवाले अक्षरब्रह्म की भी आत्मा हैं तथा क्षर-अक्षर को अपनी शक्ति द्वारा धारण किए हुए हैं। और वे स्वयं तो क्षर-अक्षर से भिन्न हैं। तथा भगवान की महिमा ऐसी अपरंपार है कि 'जिनके एक-एक रोम के छिद्र में अनन्तकोटि ब्रह्मांड परमाणु के समान रह रहे हैं,' ऐसे अत्यन्त महान भगवान जीवों के कल्याण के लिए मनुष्य जैसे हो जाते हैं, तब जीवों को सेवा करने का अवसर मिलता है।

और यदि भगवान जैसे हैं, वे वैसे के वैसे ही बने रहें, तो ब्रह्मांड के अधिपति ब्रह्मादिक देवों में भी भगवान के दर्शन और सेवा करने का सामर्थ्य नहीं रहता। तब मनुष्यों में तो ऐसा सामर्थ्य रहेगा ही कैसे? जैसे वडवानल अग्नि समुद्र में रहती है और वह उसके जल को पीती है तथा समुद्र द्वारा बुझाने पर भी वह नहीं बुझ पाती, ऐसी महान वडवानल अग्नि यदि हमें घर में दीपक की आवश्यकता होने पर हमारे घर में आ बैठे, तो हमें वह अग्नि दीपक के समान सुखकारी नहीं लगेगी, अपितु उससे जलकर सब भस्म हो जाएँगे, परन्तु वही अग्नि यदि दीपक का स्वरूप ग्रहण कर ले, तब प्रकाश भी होता है और सुख भी होता है। वस्तुतः दीपक भी वही अग्नि है, जो फूँक मारने और हाथ हिलाकर बुझाने पर बुझ जाती है, ऐसी असमर्थ है। परन्तु उसी के द्वारा हमें सुख मिलता है, परन्तु वडवानल से ऐसा सुख नहीं मिलता। उसी प्रकार भगवान मनुष्य जैसे असमर्थ दिखाई देते हों, परन्तु अनेक जीवों का कल्याण उनके द्वारा ही होता है। यदि भगवान अपने एक-एक रोम में अनन्तकोटि ब्रह्मांड दिखा दें, तो ऐसी (ऐश्वर्ययुक्त) मूर्ति का दर्शन करने के लिए जीव समर्थ भी नहीं हो पाता। अतः ऐसे (विशाल) रूप द्वारा कल्याण नहीं होता।

इसलिए भगवान मनुष्यरूप धारण करके जैसी-जैसी लीलाएँ करते हैं, वे सब चरित्र, गान करने योग्य हैं, परन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिए कि 'भगवान होकर भी वे ऐसा क्यों करते हैं?' भगवान की समस्त लीलाओं

को कल्याणकारी ही समझना चाहिए, यही भक्त का धर्म है तथा ऐसा समझनेवाला ही भगवान का पूर्ण भक्त कहलाता है।'

इसके पश्चात् रोजका के हरिभक्त काकाभाई ने पूछा 'जिसे बिना माहात्म्य का निश्चय हो जाता है, उसके कौन से लक्षण हैं और जिसे माहात्म्य सहित निश्चय होता है, उसके कौन से लक्षण हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जिसे माहात्म्य रहित निश्चय हुआ है, उसे ऐसे संकल्प होते हैं कि 'भगवान तो मिले हैं, परन्तु यह कौन जानता है कि हमारा कल्याण होगा या नहीं?' तथा जिसे माहात्म्य सहित निश्चय हो गया है, वह यह समझने लगता है कि 'जिस दिन से मुझे भगवान के दर्शन हुए हैं, उसी दिन से मेरा कल्याण हो चुका है तथा जो जीव श्रद्धापूर्वक मेरे दर्शन करेंगे तथा मेरे वचनों का पालन करेंगे, उनका भी कल्याण हो जाएगा, तब मेरा कल्याण होने में क्या संशय रहेगा? मैं तो कृतार्थ हूँ, और जो कुछ साधना करता हूँ, वह भगवान की प्रसन्नता के लिए ही करता हूँ।' जो भक्त ऐसा समझने लगता है, मान लीजिए कि उसे भगवान का माहात्म्य सहित निश्चय हो चुका है।'

फिर काकाभाई ने पूछा कि 'भगवान के उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ कहे जानेवाले तीन प्रकार के भक्तों के क्या लक्षण होते हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जो भक्त स्वयं को देह से भिन्न रहनेवाली आत्मा का रूप मानता है तथा जड़ता, दुःख, मिथ्यापन और अपवित्रता आदि इस देह के गुणों को आत्मा के गुण नहीं मानता, और अछेद्य, अभेद्य एवं अविनाशी आदि आत्मा के गुणों को देह में नहीं मानता; और, अपने शरीर में रहनेवाली जीवात्मा को देखता है, उस आत्मा में स्थित परमात्मा को भी देखता है, तथा दूसरे लोगों की देहों में रहनेवाली आत्मा को भी देखता है, ऐसा सामर्थ्य रखने पर भी वह केवल आत्मदर्शन से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण भगवान तथा उनके सन्त को समझता है। स्वयं को आत्मदर्शन हुआ है, उसका लेशमात्र भी अभिमान नहीं करता, ऐसे जिसके लक्षण हों, उसी को उत्तम भक्त कहते हैं।

अब, भगवान का निश्चय तथा आत्मनिष्ठा दोनों होने पर भी जिसे भगवद्भक्त पर ईर्ष्या बनी रहती हो, एवं यदि भगवान उसका अपमान कर दें, तो भगवान के प्रति भी ईर्ष्या उत्पन्न हो कि 'वे बड़े होकर भी, बिना दोष

के ही ऐसा व्यवहार क्यों करते होंगे?' ऐसे लक्षण वाले को मध्यम कोटि का भक्त समझना। तथा, भगवान का निश्चय तो हो, परन्तु आत्मनिष्ठा न हो, तथा भगवान से तो प्रीति हो, किन्तु इसके साथ-साथ सांसारिक व्यवहार के कारण भी उसे हर्ष एवं शोक प्रभावित करते हों, तो उसे कनिष्ठ भक्त समझना।'

॥ इति वचनामृतम् ॥72॥

वचनामृत 73 : काम पर विजय

संवत् 1876 में चैत्र कृष्णा अमावस्या (12 अप्रैल, 1820) को रात्रि के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास स्थान में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी और श्वेत फेंटा मस्तक पर बाँधा था। उनके मुखारविन्द के समक्ष सभा में मुक्तानन्द स्वामी आदि चार बड़े साधु तथा लगभग पचास हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय गोपालानन्द स्वामी ने प्रश्न किया कि 'काम का क्या स्वरूप है?' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'वीर्य ही काम का स्वरूप है।' बाद में यह शंका की कि 'वीर्य तो सात धातुओं में से एक धातु है। अतः इसे ही काम का स्वरूप कैसे कहा जा सकता है? तथा उस वीर्य की उत्पत्ति कैसे होती है?' तब श्रीजीमहाराज ने कहा 'मनोवहा नामक नाड़ी में मन रहता है और मन में जब स्त्री सम्बंधी संकल्प होता है तब वीर्य शरीर में से मथकर मनोवहा नाड़ी में एकत्र होकर शिश्न द्वारा उसी प्रकार आ जाता है, जिस तरह मथानी द्वारा दही को मथे जाने पर घी तैरता हुआ ऊपर आ जाता है। जिनका वीर्य शिश्न से बाहर नहीं आता, उन्हें ऊर्ध्वरेता पुरुष तथा नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा जाता है। और, श्रीकृष्ण भगवान ने रासक्रीड़ा के समय स्त्रियों के साथ रहने पर भी वीर्यपात नहीं होने दिया था, इसीलिए उन्हें ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी कहा गया और उन्होंने 'काम' को जीत लिया। अतएव, वीर्य ही काम का स्वरूप है। जिसने वीर्य को जीतकर अपने वश में कर लिया है, वही काम पर विजय प्राप्त करने में समर्थ हो पाता है।'

फिर गोपालानन्द स्वामी ने पूछा, 'जब इस देह को जला दिया जाता है, तब सप्त धातुएँ भी देह के साथ जल जाती हैं। ऐसी स्थिति में, यदि वीर्य

को ही काम का रूप माना जाए, तो शरीर के साथ ही वीर्य के जल जाने से काम भी तो जल जाना चाहिए, तब इस जीव के अन्य देह में जाने पर काम क्यों उत्पन्न होता है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'वीर्य तो सूक्ष्म शरीर के साथ ही रहता है और उस सूक्ष्म शरीर के योग से स्थूल शरीर उत्पन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ, भूत (प्रेत) का शरीर सूक्ष्मरूप से होता है, किन्तु जब वह सूक्ष्म देह में से स्थूल शरीर को धारण करके स्त्री का संग करता है, तब उस स्त्री को भूत से बालक उत्पन्न होता है। इसीलिए, वीर्य सूक्ष्म शरीर के साथ ही रहता है।'

फिर गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि 'शिवजी यद्यपि ऊर्ध्वरेता थे, फिर भी मोहिनी रूप को देखकर उन्हें वीर्यपात हो गया था। वैसे ही, जिसकी देह में वीर्य होता है, उसे जाग्रत अथवा स्वप्नावस्था में स्त्री का योग होने पर वीर्य-पात हुए बिना नहीं रह सकता। इसलिए, जब तक देह में वीर्य रहेगा तब तक किसी को भी निष्कामी कैसे कहा जा सकता है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले 'शिवजी की योगकला में इतनी कमी कही जाती है। जिसे जाग्रत अथवा स्वप्न अवस्था में स्त्री सम्बंधी संकल्पों के कारण वीर्यपात होता है, तो उसे पक्का ब्रह्मचारी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः, इस संसार में दृढ़ ब्रह्मचर्य वाले तो एकमात्र नरनारायण ऋषि हैं। हमें उनका आश्रय है। उनके प्रताप से धीरे-धीरे उनका भजन करके हम लोग भी उनके समान निष्कामी हो जाएँगे। देह में जो वीर्य रहता है, उसे जला डालने के लिए योगी कितने ही प्रकार के यत्न करते रहते हैं; और, श्रीकृष्ण भगवान ने स्त्रियों के संग में रहकर भी नैष्ठिक ब्रह्मचर्य जो दृढ़ रखा था, ऐसा सामर्थ्य भगवान में ही हो सकता है, परन्तु दूसरे तो इस प्रकार नहीं रह सकते। अतएव, अन्य योगियों को जाग्रत अथवा स्वप्नावस्था में स्त्री-सम्बंधी संकल्प न होने देने के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए।'

फिर शुकमुनि ने पूछा कि 'द्वारिका में भगवान की सोलह हज़ार एक सौ आठ स्त्रियाँ थीं, उनमें से प्रत्येक स्त्री को दस-दस पुत्र हुए तथा एक-एक पुत्री हुई, ऐसा भी कहा गया है। उसे किस प्रकार समझना चाहिए ?' तब श्रीजीमहाराज बोले, 'द्वारिका और व्रज की बात एक-दूसरे से भिन्न है। द्वारिका में भगवान ने सांख्यमत का आश्रय लिया था। जैसे कि

सांख्यमत का अनुसरण करनेवाला अपने स्वरूप को देह, इन्द्रियों तथा मन से भिन्न समझता है और समस्त क्रियाओं को करते हुए भी स्वयं को अकर्ता मानता है। उन क्रियाओं द्वारा उसे हर्ष-शोक भी नहीं प्राप्त होता। भगवान ने भी उसी मत को अंगीकार किया था, इसलिए भगवान को निर्लिप्त कहा गया है। और, द्वारिका में भगवान ने जिस सांख्यमत का आश्रय ग्रहण किया था, वह जनक जैसे राजाओं का मत है। जो राजा गृहस्थाश्रम में रहकर प्रभु का भजन करते रहते हैं, वे सांख्यमतानुयायी होते हैं। इसी प्रकार भगवान भी गृहस्थाश्रम में रहे थे और द्वारिका के राजा कहलाते थे। इसलिए, वे सांख्यमतावलम्बी होने के कारण निर्लेप रहे थे। और, वृन्दावन में उन्होंने योगकला का आश्रय ग्रहण किया था, इस कारण स्त्रियों का संग करके भी नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत रखा था। इस स्थान पर उन्होंने स्वयं में नरनारायण ऋषि का भाव दिखलाया। यह कथा श्रीमद्भागवत में है। जिसमें कपिलदेव ने देवहूति के प्रति कहा है कि मेरी जो स्त्री-रूपिणी माया है, उसे जीतने में नरनारायण ऋषि के सिवा अन्य कोई भी समर्थ नहीं है। इसी कारण श्रीकृष्ण भगवान ने स्त्रियों के संग में रहने पर भी काम को जीत लिया था।

और, जब दुर्वासा ऋषि पधारे तो भगवान ने समस्त गोपियों से वहाँ खाद्य पदार्थों से भरे हुए थाल ले जाने के लिए कहा। तब गोपियाँ बोलीं कि हम यमुनाजी को किस प्रकार पार कर सकेंगे? श्रीकृष्ण भगवान ने कहा कि यमुनाजी से इस प्रकार कहना कि यदि श्रीकृष्ण सदैव बालब्रह्मचारी रहे हों तो हमें मार्ग दे दीजिए। बाद में, गोपियाँ जब इस प्रकार बोलीं तब यमुनाजी ने मार्ग दे दिया। समस्त गोपियाँ जब ऋषि को भोजन करा चुकीं, तब वे बोलीं कि हमारे जाने के मार्ग में यमुनाजी हैं, तो हम अपने घर किस प्रकार जा पायेंगी?' तब ऋषि ने पूछा कि 'वहाँ से आते समय किस प्रकार आई थीं?' गोपियों ने बताया कि 'हमने यमुनाजी से ऐसा कहा था कि यदि श्रीकृष्ण सदैव ब्रह्मचारी रहे हों, तो हमें मार्ग दे दीजिए। इसलिए यमुनाजी ने हमें मार्ग दे दिया था, परन्तु अब घर किस तरह जाएँ?' तब दुर्वासा ऋषि बोले कि इस बार यमुनाजी से यह कहना कि यदि दुर्वासा ऋषि सदा उपवासी रहे हों, तो हमें मार्ग दे दीजिए।' जब गोपियों ने यमुनाजी से इस प्रकार कहा, तब यमुनाजी ने उन्हें मार्ग दे दिया। इस पर गोपियों को अत्यन्त आश्चर्य हुआ,

परन्तु वे भगवान तथा दुर्वासा ऋषि की महिमा को नहीं जान सकीं। वास्तव में भगवान ने नैष्ठिक व्रत रखकर गोपियों के साथ क्रीड़ा की थी, इसलिए वे ब्रह्मचारी थे। और दुर्वासा ऋषि भी विश्वात्मा श्रीकृष्ण भगवान में अपनी आत्मा की एकता करके गोपियों द्वारा लाए गए समस्त थालों के खाद्य पदार्थों को अंगीकार कर गए थे, इस कारण वे भी उपवासी ही थे, क्योंकि समस्त खाद्य पदार्थ उन्होंने वस्तुतः भगवान को ही खिला दिए थे। अतः महापुरुषों की क्रियाएँ समझ में नहीं आतीं।

यदि सांख्य-मतावलम्बियों को खोजा जाए तो वे सहस्रों की संख्या में मिल जाएँगे, परन्तु योगकला द्वारा ऊर्ध्वरेता रहनेवाले तो एकमात्र नरनारायण ही हैं, अथवा नरनारायण के जो अनन्य भक्त होते हैं, वे भी नरनारायण के भजन के प्रताप से दृढ़ ब्रह्मचर्यवाले हो जाते हैं, किन्तु दूसरे लोग ऐसे नहीं हो सकते। जिसके इन्द्रियद्वार से जाग्रत अथवा स्वप्नावस्था में वीर्यपात होता है, वह ब्रह्मचारी नहीं कहलाता। और, जो पुरुष आठ प्रकार से स्त्री का त्याग रखता है, उसने ब्रह्मचर्य के मार्ग पर चलना शुरू किया है, अतः वह नरनारायण के प्रताप से धीरे-धीरे ब्रह्मचारी हो जाएगा।

जब हमारी शैशवावस्था थी, तब हमने यह सुना था कि वीर्य तो पसीने द्वारा भी निकल जाता है। तब हमने वीर्य को ऊर्ध्वगामी रखने के लिए दो प्रकार की जलबस्ति[104] सीखी थी तथा कुंजरक्रिया[105] की शिक्षा पाई थी। और, काम को जीतने के लिए कई आसन सीखे थे। तथा रात्रि में गोरख आसन[106] में शयन किया करते थे, जिससे स्वप्नावस्था में भी वीर्यपात नहीं

104. बस्ति के दो प्रकार हैं। एक में गुदामार्ग से चढ़ाये गए जल को गुदा द्वारा ही बाहर निकाला जाता है, दूसरे प्रकार में लिंग द्वारा ग्रहण किए पानी को लिंग द्वारा ही अथवा गुदामार्ग से बाहर निकाला जाता है।

105. सर्व प्रथम मुख से जल पीकर उसका फिर से मुँह के जरिये ही वमन कर डालना, उसे गजकरणी क्रिया अथवा कुंजरक्रिया भी कहते हैं।

106. **गोरक्षासन** = दोनों पाँव के तलवों को मिलाकर बद्ध कोणासन में बैठ जाएँ। पश्चात् दोनों एड़ियों को ऊपर उठाकर भगासन में बैठें। धीरे-धीरे सीवनी पर दोनों पाँव की एड़ियों को रखकर टांगें इस तरह फैलाएँ कि बायें पाँव के तलवे पर बायाँ नितम्ब एवं दायें पाँव के तलवे पर दायाँ नितम्ब स्थित हो जाए। पश्चात् दोनों हाथ को पीछे ले जाएँ। बायें हाथ से दायें पैर का और दायें हाथ से ➤

हो पाए। फिर तो काम को जीतने का ऐसा उपाय किया कि शरीर से पसीना ही नहीं निकले तथा ठंड और धूप भी न लगे। बाद में हम रामानन्द स्वामी के पास आए तब स्वामी ने पसीना निकले इसलिए हमारे शरीर पर 'अर्बूर' नामक वनस्पति का लेप लगवाया, उसी की पट्टियाँ भी लगवाईं, फिर भी देह में पसीना नहीं आया। अतः काम पर विजय प्राप्त करने की साधना तो सबसे अत्यन्त कठिन है। काम पर वही विजय पा सकता है, जिसे भगवान के स्वरूप की उपासना का सुदृढ़ संबल हो तथा जिसमें पंचविषय की वासना बिल्कुल मिट गई हो और निर्वासनिक रहने की भावना अत्यन्त दृढ़ हो चुकी हो, वही पुरुष भगवान के प्रताप से निष्कामी होता है।

फिर नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'निर्वासनिक होने के लिए ऐसी बात सुनना आवश्यक है, या वैराग्य की जरूरत होती है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'अकेला वैराग्य नहीं टिक सकता; अन्ततो गत्वा वह नष्ट हो जाता है। और, व्यक्ति को जब आत्मनिष्ठा हो तथा भगवान की मूर्ति का यथार्थ ज्ञान हो जाए, फिर वह आलोचना करे कि 'मैं आत्मा हूँ, तथा सच्चिदानन्दरूप हूँ। और पिंड-ब्रह्मांड मायिक एवं नाशवान हैं, इसलिए मेरे साथ इस पिंड-ब्रह्मांड की तुलना कैसे की जा सकती है? तथा मेरे इष्टदेव पुरुषोत्तम भगवान अनन्तकोटि ब्रह्मांडों का आधार जो अक्षर है, उससे भी परे हैं तथा उन भगवान का मुझे दृढ़ आश्रय हुआ है।' ऐसी आलोचना से जो वैराग्य उदित होता है, वह ज्ञानयुक्त कहलाता है तथा उस वैराग्य का किसी भी काल में नाश नहीं होता। जैसे जलती हुई आग पानी के योग से बुझ जाती है, किन्तु समुद्र में स्थित बड़वानल अग्नि, पानी से बुझाए जाने पर भी नहीं बुझती। वैसे ही ज्ञानयुक्त वैराग्य, बड़वानल अग्नि और बिजली की अग्नि जैसा होता है। ऐसा वैराग्य कभी भी नहीं नष्ट होता! ऐसे वैराग्य के बिना अन्य वैराग्य विश्वसनीय नहीं है।

और, हमारे भीतर जो वैराग्य है, वह बिजली की अग्नि तथा बड़वानल के सदृश है। सो हमारे स्वभाव को तो जो भक्त हमारे साथ बहुत दिनों तक रहे होंगे, वही पहचानते हैं, और जो हमसे दूर रहते हैं, उन्हें हमारे

बायें पैर का अंगूठा पकड़कर तनकर बैठ जाएँ। इसे गोरक्षासन कहते हैं। इस आसन का दूसरा नाम भद्रासन है।

स्वभाव का परिचय नहीं होता! जैसे ये मुकुन्द ब्रह्मचारी भोले-भाले दिखाई पड़ते हैं, फिर भी वे हमारे स्वभाव को यथार्थरूप से जानते हैं कि 'महाराज तो आकाश के समान निर्लिप्त हैं और उनके लिए न तो कोई अपना है और न ही कोई पराया है!' यदि मुकुन्द ब्रह्मचारी हमारे इस स्वभाव को इस प्रकार समझते हैं, तो ईश्वर के समान गुण ब्रह्मचारी में दिख रहे हैं। तथा अन्तर्यामी (भगवान) सबमें विद्यमान रहकर प्रत्येक स्त्री-पुरुष के अन्तःकरण में इस प्रकार प्रतीति दे रहे हैं कि '(मुकुन्द) ब्रह्मचारी में किसी भी प्रकार का दोष नहीं है!' **ऐसे दिव्य गुणों के उदय होने का कारण यह है, कि सत्पुरुष के स्वरूप में जो निर्दोष बुद्धि रखता है, वह समस्त दोषों से रहित हो जाता है। और जो सत्पुरुष में दोष देखा करता है, उस दोष देखनेवाले की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, और कामादिक समस्त शत्रु उनके हृदय में आकर निवास करते हैं।** तत्पश्चात् सत्पुरुष के प्रति दोषदृष्टि रखनेवाले के हृदय को सदैव अशुभ संकल्प पीड़ा देते रहते हैं और सत्संग करते हुए भी उसका दुःख नहीं मिटता। और, जो बुद्धिमान हैं, वे हमारे समीप रहने के कारण हमारे समग्र स्वभाव को अच्छी तरह जानते हैं कि 'संसार में मोह उत्पन्न करनेवाले धन, स्त्री, अलंकार तथा खाद्य-पेयादिक जो पदार्थ हैं, उनसे महाराज का कोई भी लगाव नहीं है और महाराज सबसे उदासीन रहते हैं। यदि वे किसी को कृपा करके अपने पास में बैठने देते हैं या उसके समक्ष ज्ञानवार्ता करते हैं, तो वह केवल उस मनुष्य के कल्याण के लिए ही दया करके ऐसा करते हैं।'

और, जो मूर्ख होते हैं, वे हमारे पास रहने या दूर रहने पर भी हमारे स्वभाव को इस तरह नहीं जान पाते। और यह बात भी उसकी समझ में आती है, जिसे आत्मनिष्ठा की दृढ़ता हो, तथा आत्मा में परमेश्वर की मूर्ति को धारण करके उसकी भक्ति करता रहता हो, तथा स्वयं ब्रह्मरूप हो गया हो, फिर भी भगवान की उपासना का त्याग न करे।

इस प्रकार, आत्मनिष्ठा तथा भगवान की मूर्ति की महिमा को समझ लेने से किसी भी पदार्थ में वासना नहीं रहती और वासना के टल जाने के बाद वह अपने प्रारब्धानुसार सुख-दुःख को अवश्य भोगता है, परन्तु उसकी इन्द्रियों की तीक्ष्णता मिट जाती है। और, मनोमय चक्र की धाराएँ जो इन्द्रियाँ

हैं, वे ब्रह्म तथा उनसे परे परब्रह्म का साक्षात् दर्शन होने से कुंठित हो जाती हैं। जैसे किसी ने ढेर सारे नींबू को चूस लिए हों, और उसके दाँत खट्टे पड़ गए हों, ऐसी दशा में उसे चने चबाने पड़ें, तो भी वह किसी तरह उन्हें चबा नहीं सकता और उसे बहुत अधिक भूख लगी हो, तो चने निगलकर गले के नीचे भले ही उतार दे, परन्तु वे चबाये नहीं जा सकते। वैसे ही जिसने आत्मा तथा भगवान की यथार्थ महिमा जान ली हो, उसे संसार के किसी भी विषय सुख में आनन्द नहीं आता। और, प्रारब्ध रहने तक यद्यपि वह खान-पान आदि सभी भोगों को अवश्य भोगता है, परन्तु जिस तरह दाँतों के खट्टे पड़ जाने के कारण चनों को निगल जाने के लिए बाध्य होना पड़ता है, उसी प्रकार वह भोगों को भोगता है।

और, वासना को मिटाना भी अत्यन्त कठिन कार्य है। वासना तो समाधिनिष्ठ होने पर भी रह जाती है। समाधि लगने के बाद ब्रह्म के स्वरूप से पुनः देह में किसी भी प्रकार लौटा नहीं जाता। फिर भी यदि कोई वापस लौटता है, तो उसके तीन कारण होते हैं। प्रथम कारण यह है कि जिसे सांसारिक सुख की यदि कोई वासना रह गई हो, तो वह समाधि से लौटकर पुनः देह में आता है।

दूसरा कारण यह है कि कोई अति समर्थ हो और समाधिस्थ हो गया, तो वह अपनी इच्छा से पुनः देह में वापस लौटता है।

तीसरा कारण यह है कि कोई अपने से भी अति सामर्थ्यवान हो, तो वह इसे समाधि से पुनः देह में ले आता है। इन तीन कारणों से ही जीव का इस देह में प्रत्यावर्तन होता है। जब समाधि लग जाती है, तो उसमें ब्रह्म का दर्शन होता है, और कोटि-कोटि सूर्यों के समान ब्रह्म का प्रकाश देखने पर यदि वह अपनी अल्पबुद्धि के कारण प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम भगवान की मूर्ति में किसी प्रकार की न्यूनता मान लेता है, तथा ब्रह्म में अधिक महत्ता मान लेता है, तब उपासना भंग हो जाती है। अतः प्रत्यक्ष मूर्ति में अत्यन्त दृढ़ निश्चय होना ही चाहिए, तभी समस्त कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। हमने भी ऐसा दृढ़ निश्चय किया है कि जो कोई हमको समर्पित होते हुए अपना मन अर्पण कर देता है, और लेशमात्र भी पर्दा हमारे साथ नहीं रखता, तो हम भी उसमें किसी भी बात की कमी नहीं रहने देते हैं।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जिसने मन अर्पित कर दिया हो, उसके कैसे लक्षण होते हैं, और मन न देनेवाले के कैसे लक्षण दिखाई देते हैं ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसने अपना मन अर्पित कर दिया हो वह, परमेश्वर की कथा हो रही हो तथा उनका दर्शन होता हो, तब स्वयं उपस्थित न रह सका तो अपने हृदय में अत्यंत दुःखी होता हो; और जब भगवान के के दर्शन करे तथा भगवान की कथा का श्रवण करे तब उसे उन दोनों से अधिकाधिक प्रीति बढ़ती चले, परन्तु कथा एवं दर्शन से उसका मन कभी पीछे न हटे। और, जब परमेश्वर किसी को परदेश भेजने की आज्ञा करते हों, तब मन अर्पण करनेवाले के हृदय में ऐसी भावना हो आती है कि यदि भगवान मुझे आदेश दें तो मैं बुरहानपुर तथा काशी में जहाँ-कहीं भी भेजें, वहाँ प्रसन्न मन से जाऊँ। इस प्रकार परमेश्वर की रुचि में रहकर जो स्वयं प्रसन्न रहता हो, वह यदि सहस्रों कोस दूर हो, फिर भी हमारे पास ही है! परन्तु जिसने इस प्रकार मन अर्पित नहीं किया हो, वह हमारे अत्यन्त निकट रहने पर भी लाखों कोस दूर है! जिसने हमें मन अर्पित न किया हो, उसे उपदेश देने में भी हमें भय रहता है कि क्या मालूम, यह सीधा समझेगा या उलटा! इस प्रकार जिसने मन अर्पण किया हो, या न अर्पण किया हो, उसके लक्षण हैं।'

॥ इति वचनामृतम् ॥73॥

वचनामृत 74 : भगवान की इच्छा ही सर्वोपरि

संवत् 1876 में वैशाख शुक्ला एकादशी (24 अप्रैल, 1820) को प्रातःकाल स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे चबूतरे पर रखे हुए पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जिसे जितना वैराग्य होता है तथा जिसकी जितनी समझ होती है, उसका पता तब चलता है, जब किसी विषयभोग की प्राप्ति हो अथवा संकटकाल की स्थिति उपस्थित हो! इन दोनों के बिना व्यक्ति की कैसी समझ है, वह मालूम नहीं होता। यदि उसे अधिक सम्पत्ति अथवा भीषण विपत्ति आ जाए, तब तो बात ही क्या करनी! परन्तु इन

दादाखाचर पर जब थोड़ा-सा संकटकाल घिर आया था, तब जिसका जैसा अन्त:करण रहा होगा, वैसा सबको विदित हुआ होगा।'

यह सुनकर मुक्तानंद स्वामी ने कहा कि 'भगवान के भक्त के प्रति हृदय में स्नेह और सहानुभूति तथा उसका पक्ष हमें रहता तो है, किन्तु वह भी इस विचार से रहता है कि यदि सत्संग की उन्नति होती है, तो बहुत लोगों को सद्भाव होता है; किन्तु यदि सत्संग की प्रगति में कुछ रुकावट हुई, तो लोगों को सद्भाव नहीं होगा। इसी विचार से हमें हर्ष या विषाद के भाव प्रभावित करते हैं।' तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'हम तो श्रीकृष्ण नारायण के दास हैं, उनकी पसंद में ही हमें प्रसन्न रहना चाहिए। यदि श्रीकृष्ण भगवान की इच्छा होगी तो सत्संग की वृद्धि होगी और यदि उनकी घटाने की इच्छा होगी, तो वह घट जाएगा। और, वे भगवान हमें कदाचित् हाथी पर बैठायें, तो हमें हाथी पर बैठकर प्रसन्न रहना है; यदि वे हमें गधे पर बैठायें तो उस पर बैठकर भी खुश रहना है। लेकिन उन भगवान के चरणारविन्दों के सिवा अन्यत्र कहीं भी प्रीति नहीं रखनी है। और, भगवान की इच्छा के अनुसार जैसे-जैसे सत्संग की वृद्धि होती रहे, उस तरह प्रसन्न रहना चाहिए। फिर चाहे भगवान की इच्छा से पूरा संसार सत्संगी बन जाए, अथवा उनकी इच्छा के अनुसार समूचा सत्संग समाप्त हो जाए, फिर भी मन में किसी प्रकार का हर्ष या शोक नहीं रखना चाहिए। **भगवान का किया ही सब कुछ होता है। अतः जिस प्रकार सूखा पत्ता वायु के झोंके से संचारित रहता है, उसी प्रकार भगवान के अधीन रहकर आनन्द के साथ परमेश्वर का भजन करते रहना, और मन में किसी भी तरह का उद्वेग नहीं आने देना चाहिए।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥74॥

वचनामृत 75 : भक्त के सम्बंध से कल्याण

संवत् 1876 में वैशाख कृष्णा एकादशी (8 मई, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे नीमवृक्ष के नीचे पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने पीले पुष्पों के हार कंठ में धारण किए थे और श्वेत वस्त्र पहने थे। उनके समक्ष मुनियों तथा स्थान-स्थान के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब सुराखाचर ने पूछा कि 'ऐसा कहा गया है कि जिसके कुल में भगवान का एक भी भक्त होता है, उसकी एकोत्तर पीढ़ियों का उद्धार हो जाता है,[107] किन्तु उस भक्त के गोत्र में सन्त तथा भगवान के कितने तो द्वेषीजन भी होते हैं, फिर भी उनका उद्धार होता है, वह कैसे होता है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जैसे देवहूति ने कर्दम ऋषि के साथ पतिरूप में भाव रखते हुए संग किया था, तो भी कर्दम ऋषि में स्नेह रहने के कारण उसका उद्धार हो गया तथा सौभरि ऋषि का सुन्दर रूप देखकर ही उनके साथ मान्धाता राजा की पचास पुत्रियों ने विवाह किया। उन्हें सौभरि में कामभाव से स्नेह था, तो भी ऋषि के समान उन सबका कल्याण हुआ। उसी प्रकार जिसके कुल में भक्त उत्पन्न होता है, उसके समस्त कुटुम्बीजन ऐसा समझते हैं कि 'हमारा यह बड़ा भाग्य है कि हमारे कुल में भगवान का भक्त हुआ है।' इस प्रकार भक्त का माहात्म्य समझकर स्नेह रखेगा, तो उन सभी कुटुम्बीजनों का कल्याण हो जाएगा। और, जो पितृ आदि मरकर स्वर्ग में गए हों और वे भी यदि ऐसा समझें कि 'हमारे कुल में भगवान का भक्त हुआ है, यह हमारा बड़ा भाग्य है,' ऐसा समझकर वे भगवान के भक्त से स्नेह रखें, तो उन पितरों का भी कल्याण हो जाता है।

किन्तु, भगवान के भक्त के साथ जो वैरभाव रखता है, उसका कल्याण नहीं होता। वह ज्यों-ज्यों भगवान के भक्त के साथ वैर करता रहता है, त्यों-त्यों उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। तथा जब वह शरीर छोड़ता है, तब वह उसी नरककुंड को प्राप्त होता है, जहाँ पंचमहापाप करनेवाले पड़े रहते हैं। **इसलिए, भगवान के भक्त से स्नेह रखनेवालों का कल्याण ही होता है, भले ही वे सम्बंधी हों या अन्य जन, सभी का कल्याण होता है।'**

107. एकोत्तर शब्द से एकोत्तरशत (101) अथवा एकोत्तरविंशति (21) कहने का अभिप्राय है। दस पूर्व के और दस बाद के कुलों तथा स्वयं के एक कुल को मिलाकर इक्कीस कुलों का उद्धार हो जाता है, ऐसा श्रीमद्भागवत में (7/10/18) भगवान नृसिंह ने कहा है। यह भी कहा गया है कि पिता के 24, माता के 20, भार्या के 16, भगिनी के 12, दुहिता के 11, बुआ के 10, मौसी के 8, इस प्रकार सात गोत्रों को मिलाकर 101 कुलों का उद्धार हो जाता है। उल्लिखित माता-पिता आदि के कुलों में आधे पूर्व के और आधे बाद के समझने चाहिए।
(निर्णयसिंधु : 3/2, पृ. 267)

फिर नाजा भक्त ने पूछा कि 'भगवान के भक्तों में एक तो दृढ़ निश्चयवाला हो तथा दूसरा कम निश्चयवाला हो ये दोनों ऊपर से अच्छे भक्त लगते हैं, परन्तु उनकी यथार्थ पहचान किस प्रकार की जा सकती है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जिसे आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो, दृढ़ वैराग्य हो, तथा भक्ति एवं स्वधर्म भी परिपूर्ण हो, उसके निश्चय को परिपूर्ण समझना और यदि इनमें से एक बात की भी कमी रहे, तो निश्चय होने पर भी वह माहात्म्य रहित है। अतः जिसमें ये चारों बातें संपूर्ण हों, तो यह समझ लेना कि उसमें माहात्म्यसहित भगवान का निश्चय दृढ़ रूप से है !'

॥ इति वचनामृतम् ॥75॥

वचनामृत 76 : क्रोधी, ईर्ष्यालु, कपटी एवं मानी व्यक्ति

संवत् 1876 में प्रथम ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी (23 मई, 1820) को श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज अपने निवासस्थान में विराजमान थे। वे श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष कुछ बड़े-बड़े साधु बैठे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने उनके समक्ष वार्ता कही कि 'क्रोधी, ईर्ष्यालु, कपटी तथा मानी, ये चार प्रकार के मनुष्य हरिभक्त होने पर भी उनके साथ हमारी नहीं बनती! और, क्रोध एवं ईर्ष्याभाव दोनों मान के आधार पर रहते हैं। तथा कामी का तो हमें कभी विश्वास ही नहीं होता कि 'यह सत्संगी है।' कामी पुरुष सत्संग में रहते हुए भी विमुख जैसा रहता है।

जिसे पंचव्रतमानों में किसी भी प्रकार की कमी न हो, तथा उसे हम चाहे जितनी कठिन आज्ञा करें तथा उसको अपनी पसन्द का सोचा हुआ विचार छुड़ाकर उसे हमारी अपनी रुचि के अनुसार रखें, फिर भी वह जीवनपर्यन्त ग्लानि-मुक्त रहे, वही पक्का सत्संगी है। ऐसे हरिभक्त पर हमें सहज ही बिना स्नेह किए ही स्नेह उमड़ पड़ता है। किन्तु जिसमें ऐसे गुण न हों, उस पर यदि हम स्नेह करने का यत्न भी करें फिर भी स्नेह नहीं होता। हमारा यही स्वभाव है कि जिसके हृदय में भगवान की ऐसी परिपूर्ण भक्ति होती है, उस पर ही स्नेह होता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥76॥

वचनामृत 77 : ज्ञान की आड़ लेकर धर्म को झूठा मत करें

संवत् 1876 में द्वितीय ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या (10 जुलाई, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष साधुओं तथा स्थान-स्थान से आए हरिभक्तों की सभा हो रही थी। उस समय मुनि परस्पर प्रश्नोत्तरी कर रहे थे। इस अवसर पर एक मुनि अनजाने में ही भगवान के निश्चय के बल के आधार पर धर्म (स्व-धर्मनिष्ठा को) झुठलाने की चेष्टा करने लगे।

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'भगवान के ज्ञान का आश्रय लेकर जो कोई व्यक्ति धर्म को मिथ्या सिद्ध करने का प्रयास करता है, उसे असुर समझना। भगवान के स्वरूप में ऐसे कल्याणकारी अनन्त गुण हैं, जिनका वर्णन श्रीमद्-भागवत के प्रथम स्कन्ध में पृथ्वी ने धर्म के समक्ष किया है। अतः जिसे भगवान का आश्रय होता है, उसमें भगवान के कल्याणकारी गुण आते हैं तथा जिसे भगवान के स्वरूप का निश्चय होता है, उसमें एकादश स्कन्ध में बताए गए साधु के तीस लक्षण आते हैं।[108] अतः जिसमें सन्त के

---

108. **कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।**
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमान् जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥

(श्रीमद्भागवतम् : 11/11/29-31)

कृपालुः = स्वार्थ की अपेक्षा किए बिना ही दूसरे का दुःख सहन न हो, ऐसा पुरुष, अथवा दूसरे के दुःख को टालने की इच्छावाला।

सर्वदेहिनाम् अकृतद्रोहः = समस्त देहधारियों में मित्रादि भाव रखनेवाला और किसी का भी द्रोह न करनेवाला।

तितिक्षुः = द्वन्द्व को सहन करनेवाला।

सत्यसारः = सत्य को ही एक मात्र बल माननेवाला।

अनवद्यात्मा = द्वेष, असूया आदि दोषों से रहित मनवाला। ➤

समः = सभी में समदृष्टिवाला।
सर्वोपकारकः = सबका उपकार ही करनेवाला।
कामैरहतधीः = विषयभोग से बुद्धि में क्षोभ प्राप्त नहीं करनेवाला।
दान्तः = इन्द्रियों का दमन करनेवाला।
मृदुः = मृदुचित्तवाला।
शुचिः = बाह्य एवं आन्तरिक रूप से पवित्रता रखनेवाला। स्नानादिजन्य शुचिता को बाह्य पवित्रता तथा भगवान के चिन्तन से उत्पन्न शुचिता को आन्तरिक पवित्रता कहा गया है।
अकिञ्चनः = अन्य प्रयोजनों से रहित।
अनीहः = लौकिक व्यापाररहित अथवा किसी भी प्रकार की इच्छा से रहित।
मितभुक् = मिताहार करनेवाला।
शान्तः = जिसका अन्तःकरण नियमानुवर्ती है।
स्थिरः = स्थिरचित्तवाला।
मच्छरणः = जिसका मैं ही रक्षक और प्राप्ति का उपाय हूँ, ऐसा शरणागत।
मुनिः = शुभाशय का मनन करनेवाला।
अप्रमत्तः = सावधान।
गभीरात्मा = जिसका अभिप्राय न जाना जा सके, ऐसा पुरुष।
धृतिमान् = आपत्काल में भी धैर्य रखनेवाला।
जितषड्गुणः = अशन, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु - इन छः द्वन्द्वों पर विजय प्राप्त करनेवाला।
अमानी = दूसरों से अपने सत्कार की अभिलाषा नहीं रखनेवाला।
मानदः = दूसरों का सम्मान करनेवाला।
कल्पः = हितकारी उपदेश करने में समर्थ।
मैत्रः = किसी को भी नहीं ठगनेवाला।
कारुणिकः = निःस्वार्थ, अलोभ रहकर केवल करुणापूर्ण व्यवहार करनेवाला।
कविः = जीव, ईश्वर, माया, ब्रह्म और परब्रह्म - इन पाँच तत्त्वों को यथार्थ जाननेवाला।

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः॥
ज्ञात्वाज्ञात्वाऽथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः॥

भावार्थ : 'वेद द्वारा प्रतिपादित गुणदोषों को जानकर तथा अपने समस्त धर्मों ➤ को फल द्वारा त्याग करके, जो उपायोपेयभाव से मेरा भजन करता है, उसे उत्तम

तीस लक्षण न हों, उसे पूरा साधु नहीं समझना चाहिए। और, जिसे भगवान का निश्चय होता है, उसके हृदय में प्रभु के कल्याणकारी गुण अवश्य ही आते हैं। जब प्रभु के गुण सन्त में आते हैं, तब वह साधु तीस लक्षणों से युक्त होता है। इसलिए, **आज से जो कोई पंचव्रतरूप धर्म को छोड़कर केवल ज्ञान अथवा भक्ति का बल ग्रहण करेगा, वह गुरुद्रोही तथा वचनद्रोही है। तथा, जो कोई धर्म-भंग की ऐसी बातें करता हो, उसे विमुख कहना चाहिए।** और, उसे तो ऐसा कहना चाहिए कि 'तुमने तो असुर का पक्ष लिया है, अतः हम तुम्हारी बात नहीं मानेंगे!' ऐसा कहकर उस अधर्मी की बात को तुरन्त झुठला देना।'

बाद में सन्त ने प्रश्न किया, 'हे महाराज ! कोई तो भगवान का अत्यन्त दृढ़ भक्त होता है, फिर भी उसे देह-त्याग करते समय पीड़ा होती है और बोलने का भी भान नहीं रहता और दूसरा पक्का हरिभक्त न दिखता हो, फिर भी वह देह छोड़ने के समय अति समर्थ मालूम होता है तथा भगवान के प्रताप को बहुत अच्छी तरह समझते हुए, मुख से भगवान की महिमा का गुणगान करते हुए सुखपूर्वक देह छोड़ता है, इसका क्या कारण है ? जो अच्छा भक्त होता है, उसका अन्तसमय अच्छा नहीं दिखाई देता और जो सामान्य जैसा भक्त है, उसका तो अन्तिम समय अच्छा दिखाई पड़ता है, इसका कारण बताइए।'

तब श्रीजीमहाराज बोले,[109] 'देश, काल, क्रिया, संग, ध्यान, मन्त्र, दीक्षा तथा शास्त्र, ये आठ के अनुसार ही पुरुष की मति हो जाती है। ये आठों यदि शुभ रहें तब उसकी मति अच्छी होती है और यदि ये अशुभ हों, तो उसकी मति खराब हो जाती है। और, व्यक्ति के हृदय में परमेश्वर की माया द्वारा

साधु जानना चाहिए। मैं जैसा स्वरूपवाला हूँ और जितनी विभूतियों से सम्पन्न हूँ, उन्हें जानकर, यानी उन पर बार-बार विचार करके अनन्य भाव से जो मेरा भजन करता है उसे ही उत्तम भक्त माना गया है।' इस प्रकार साधु के तीस लक्षण कहे गए हैं। (श्रीमद्भागवतम् : 11/11/32-33)

109. उसके दो कारण हैं काल और अवस्था। ये दोनों ही शुभ अथवा अशुभ होते हैं। यदि अन्त समय में ये दोनों शुभ रहे तो मृत्यु तेजोमय होती है परंतु अशुभ बने रहे, तो मरणकाल कष्टदायक होता है। मरणोत्तर गति में तो शुभाशुभकाल या अवस्था कारणभूत नहीं होते। उसमें तो अपना धर्माचरण ही कारण बनता है।

प्रेरित चारों युगों (सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग) के धर्म, एक के बाद एक प्रवृत्त रहते हैं। इसमें मृत्यु का समय आ चुका हो, तब यदि सतयुग का धर्म बरतने लगे, तो उस पुरुष की मृत्यु बहुत शान्तिपूर्ण होती है, तथा मृत्युप्रसंग देदीप्यमान हो जाता है! यदि त्रेता और द्वापर के धर्म उसके अन्त:करण में आ गए, तो देहान्त के समय उसकी मृत्यु इतनी शोभायमान नहीं रहती। और, यदि मृत्यु के समय हृदय में कलियुग का धर्म आ गया, तो उसकी मौत भयानक एवं दु:खद दिखाई पड़ती है; इस प्रकार अन्त समय की अच्छी-बुरी स्थिति युगधर्म के अनुसार होती है। अथवा जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति नामक तीन अवस्थाओं में से यदि व्यक्ति के अन्त समय में जाग्रत अवस्था बनी रहती हो, तो पापी पुरुष भी बोलते-चालते और चलते-फिरते अपनी देह छोड़ देता है। यदि अन्तकाल में स्वप्नावस्था बनी रहे, तो भगवान का भक्त भी प्रलाप करता हुआ अपने शरीर को छोड़ता है। और अन्तकाल में सुषुप्ति अवस्था की प्रधानता रहे, तो भगवान का भक्त हो या विमुख पुरुष हो, वह भी बेहोशी की हालत में ही मर जाता है। उस स्थिति में वह भी शुभ या अशुभ बात बोलने में समर्थ नहीं रहता है। और, अन्तकाल में इन तीनों अवस्थाओं से पर एवं ब्रह्मरूप ऐसी अपनी जीवात्मा को साक्षात्कार मानता हुआ देह-त्याग करता है, वह तो जैसे ईश्वर का सामर्थ्य हो, ऐसा सामर्थ्य दिखाकर मृत्यु का वरण करता है।

वस्तुत: ब्रह्मरूप होकर और ईश्वर जैसा सामर्थ्य दिखाकर अपनी देह छोड़ना तो, भगवान के भक्त को ही संभव होता है, किन्तु अन्य विमुख जीवों से ऐसा हो ही नहीं सकता। इस प्रकार अन्त समय में कालधर्म से अथवा इन अवस्थाओं के योग से शुभ अथवा अशुभ दिखाई पड़ता है। और, यदि कोई भगवान से विमुख जीव हो, परन्तु अन्त समय में उसकी जाग्रत अवस्था रहती हो और उसने बोलते हुए ही शरीर छोड़ दिया हो, फिर भी इससे उनका कोई कल्याण नहीं होता। विमुख जीव, सुखपूर्वक देह-त्याग करें, अथवा बुरी तरह देह को छोड़ें, वे अन्ततः नरक में ही जाते हैं। परन्तु, भगवान का भक्त हो, और भले ही वह बोलते-चालते अथवा लड़खड़ाती जबान से प्रलाप करते हुए अथवा शून्य मौन रहकर अपना शरीर छोड़ दे, तो भी उसका कल्याण अवश्यम्भावी है। इस बात में कोई संशय नहीं है, यह

सत्य भगवान के भक्तों को ठीक तरह से समझ लेना चाहिए।

तथा भगवान के भक्त को अन्त समय में स्वप्नादिक अवस्थाओं के योग के कारण बाह्यरूप से भले ही पीड़ाजनक स्थिति का सामना करना पड़ता हो, परन्तु उसके अन्तःकरण में भगवान के प्रताप से अत्यंत ही आनन्द की अनुभूति हुआ करती है। अतः एक बात तो निश्चित ही है कि जो पक्का हरिभक्त है, वह अन्त समय में भले ही प्रलाप करते हुए दयनीय हालत में अपना शरीर छोड़े, फिर भी उसके कल्याण में लेशमात्र भी संशय नहीं रखना।'

॥ इति वचनामृतम् ॥77॥

वचनामृत 78 : देशकाल आदि की प्रधानता

संवत् 1877 में आषाढ़ शुक्ला तृतीया (13 जुलाई, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी, मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी और कंठ में सफ़ेद पुष्पों का हार पहना था। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा विभिन्न स्थानों के हरिभक्त बैठे थे।

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'समस्त सन्त सुनिए, एक प्रश्न पूछते हैं।' सन्तों ने कहा कि 'पूछिए महाराज !'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'देश, काल, क्रिया, संग, मन्त्र, देवता का ध्यान, दीक्षा तथा शास्त्र, ये आठ शुभ हों, तो पुरुष की बुद्धि निर्मल होती है और यदि ये आठों अशुभ हों, तो उसकी बुद्धि भ्रष्ट होती है। इसलिए, इन आठों में पूर्व संस्कारजन्य कर्मों की कुछ प्रबलता है या नहीं?'

तब मुनि बोले कि 'पूर्वकर्मों का प्रभाव अवश्य मालूम होता है। यदि पूर्वकर्म शुभ हों, तो पवित्र देश में जन्म होता है तथा अशुभ कर्म हों, तो अशुभ देश में जन्म होता है। वैसे ही कालादिक भी सात हैं, उनमें भी पूर्व-कर्मानुसार योग बन जाता है। इसलिए, इन सब बातों में पूर्वकर्मों की प्रधानता दिखाई पड़ती है। देशकालादिक आठ बातों की प्रधानता तो अमुक जगह पर रहती है, किन्तु पूर्वकर्मों का प्राधान्य सभी स्थानों पर दिखाई पड़ता है।'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'देश, काल से लेकर देवताओं तक, परमेश्वर पर्यन्त सभी के सम्बंध में यदि आप पूर्वकर्मों की प्रधानता बताते हैं, तो यह बात किन शास्त्रों के आधार पर प्रतिपादित करते हैं, उनके वचनों का प्रमाण देकर सुनाइए। क्योंकि कर्मों की प्रधानता एकमात्र जैनशास्त्र में बताई गई है, अन्य शास्त्रों में नहीं। अन्य शास्त्रों में परमेश्वर तथा उनके भक्तों के संग की ही प्रधानता को बताया गया है। परन्तु, आप तो पूर्वकर्मों का ही प्रतिपादन करते हैं। इसीलिए आप ऊपर से सत्संगी और गुप्त रीति से नास्तिक हैं क्या? क्योंकि, नास्तिकों के सिवा, दूसरे लोग कर्मों का प्रतिपादन नहीं करते। नास्तिकजन वेदों, शास्त्रों, पुराणों और महाभारत आदि इतिहासों को मिथ्या समझते हैं। वे मागधी भाषा के अपने ग्रन्थों को ही सच्चा मानते हैं। इसलिए, वे मूर्ख होते हुए कर्मों का प्रतिपादन करते हैं।

यदि पूर्वकर्मों द्वारा ही देश, काल से लेकर देवता पर्यन्त आठ तत्त्व परिवर्तित होते हों, तो मारवाड़ के कितने ही पुण्यात्मा राजाओं के लिए एक सौ हाथ गहरा पानी एकदम ऊपर क्यों नहीं आ गया? यदि पूर्वकर्मों के अधीन देश रहे, तो पुण्य कर्मवालों के लिए पानी ऊँचाई पर आ जाना चाहिए और पापी के लिए पानी गहरा हो जाना चाहिए। परन्तु, ऐसा तो होता नहीं। मारवाड प्रदेश में सर्वत्र सबके लिए गहरा पानी ही निकलता है, भले ही वे पापी हों या पुण्यात्मा, किन्तु वह प्रदेश अपने गुण का त्याग नहीं करता। इसलिए, देश-कालादि कभी पूर्वकर्मों के अनुसार परिवर्तित नहीं होते हैं। अतएव, अपने कल्याण की इच्छा रखनेवाले को नास्तिकों की तरह कर्मों के बल पर नहीं रहना चाहिए और आठ अशुभ देशकालादि का त्याग करके आठ शुभ देश-कालादि का सेवन करते रहना चाहिए।

और, देश तो स्थान के रूप में अच्छा या बुरा हो सकता है और, अपना शरीररूपी देश भी शुभाशुभ हो सकता है। जब शरीररूपी शुभ देश में जीव रहता हो, तब उसमें शील, सन्तोष, दया, धर्म आदि कल्याणकारी गुण बने रहते हैं, परन्तु जब देहरूपी अशुभ देश में यह जीव रहता हो, तब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि अशुभ गुणों की वृद्धि होती है। और, अच्छे-बुरे संग की पहचान यह है कि जिसका संग हो, उसके साथ किसी भी प्रकार का अन्तर न रहे। तभी यह समझ लेना कि उसके साथ पूरा संग हो

गया। यद्यपि दिखाने के लिए तो बाहर से शत्रु को भी गले लगाकर मिलते हैं, परन्तु हृदय में अपने और उसके बीच लाखों कोसों का अन्तर रहता है। इसी प्रकार बाह्य संग को वास्तविक संग नहीं कहा जा सकता। वास्तविक संग तो उसे ही कहा जाता है, जो मन, कर्म तथा वचन द्वारा किया जाए। अतः मन, कर्म, वचन द्वारा संग तो परमेश्वर और उनके भक्त का ही करना चाहिए, ताकि जीव का कल्याण हो, परन्तु पापी का संग कभी भी नहीं करना।'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने मध्याह्न के समय सभी छोटे विद्यार्थी साधुओं को अपने समीप बुलवाया और उनसे कहा कि 'तुम सब विद्यार्थी मुझसे प्रश्न पूछो।' तब बड़े शिवानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जिसे भगवान का अचल निश्चय हो वह किस प्रकार पहचाना जा सकता है?'

श्रीजीमहाराज बोले, 'जिसे अचल निश्चय होता है, वह तो भगवान यदि भली-बुरी किसी भी प्रकार की क्रिया करें, तो भी इन सब क्रियाओं को कल्याणकारी समझता है। यदि भगवान की कभी जीत हो या हार, अथवा किसी स्थान से उन्हें भागना पड़े या कभी प्रसन्न हो जाएँ या कभी शोक-ग्रस्त हो जाएँ, ऐसी अनन्त प्रकार की भगवान की क्रियाओं को देखकर निश्चयवाला भक्त यही कहता है कि 'प्रभु की ये समस्त क्रियाएँ कल्याण के लिए हैं।' इस कोटि का भक्त जब कभी बोले, तब वह इसी प्रकार अपने उद्गार प्रकट करता रहे, ऐसा जो भक्त हो, तो उसे परिपक्व निश्चयवाला समझ लेना चाहिए।'

इसके पश्चात् निर्मानानन्द स्वामी ने पूछा, 'भगवान और उनके सन्त के प्रति दोषबुद्धि न होने देने का क्या उपाय है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि जिस भक्त को भगवान सम्बंधी अचल निश्चय होता है, उसे भगवान के सम्बंध में किसी भी प्रकार की दोषबुद्धि नहीं होती तथा वह ऐसे बड़े भगवान के सेवक की महिमा पर जब विचार करता है, तब उसके मन में भगवद्भक्त के प्रति अवगुण देखने की कोई भावना उत्पन्न नहीं होती।'

फिर निर्मानानन्द स्वामी तथा छोटे प्रज्ञानानन्द स्वामी, दोनों ने मिलकर पूछा कि 'जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं में भगवान की मूर्ति को निरंतर कैसे देखा जा सकता है?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा, 'किसी का पूर्वजन्म का कोई शुभ संस्कार प्रबल रहे, तो उसे भगवान की मूर्ति तीनों अवस्थाओं में निरंतर दिखाई पड़ती है अथवा जिसके अंतर में भय, काम अथवा स्नेह के भाव निरंतर विद्यमान रहते हों उसे भगवान के सिवा अन्य वस्तुएँ भी तीनों अवस्थाओं में निरन्तर दिखाई देने लगती हैं, तब भगवान दिखाई पड़ें इसमें तो कहना क्या? ये तो दीखते ही हैं।'

फिर छोटे शिवानन्द स्वामी ने पूछा कि 'सत्संग में जिसकी नींव अविचल हो, उसे किस प्रकार पहचाना जाता है? एक तो यह प्रश्न है, और दूसरा प्रश्न यह है कि मान, काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर तथा ईर्ष्या आदि शत्रु किस प्रकार नष्ट हो सकते हैं?' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस पुरुष को सत्संग का पक्ष (तरफ़दारी) अत्यन्त दृढ़ रूप से हो, वह किसी के भी द्वारा हो रही सत्संग की निन्दा-टीका को सहन नहीं कर सकता। जैसे किसी व्यक्ति को अपने कुटुंबीजनों के साथ झगड़ा हो गया। ऐसी स्थिति में भी यदि कोई उन कुटुंबीजनों को भला-बुरा कहेगा, तो वह उन आक्षेपों को बिल्कुल सहन नहीं करता। इस प्रकार **जैसा सम्बंधियों का पक्ष है, वैसे ही सत्संगी का पक्ष रहे, तो समझना कि इसकी नींव सत्संग में अविचल हो चुकी है।**

तथा दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि जिसने सत्संग का ऐसा पक्ष सुदृढ़ रखा है, वह सन्त अथवा सत्संगी के प्रति अहंभाव, मत्सर एवं ईर्ष्या-भाव कैसे रख सकता है? अतः जिसे सत्संग का पक्ष प्रबल रहता है, उसके अहंभाव, मद, मत्सर तथा ईर्ष्या आदि समस्त शत्रुओं का नाश हो जाता है। परन्तु जिसे सत्संगी के प्रति पक्ष-भावना न हो, और जो सत्संगी एवं कुसंगी को समान स्तर पर देखता हो, वह सत्संग में कितना ही बड़ा (अग्रणी) कहलाता हो, फिर भी वह आखिर में निश्चितरूप से विमुख हो जाता है।'

फिर छोटे आत्मानन्द स्वामी ने पूछा, 'भगवान और उनके सन्त किसी को निःसंकोच होकर जो भी कहना हो, कह डालते हैं और उसकी ओर से उन्हें ऐसा भरोसा होता है कि इसका चाहे कितना ही सम्मान करेंगे, अथवा तिरस्कार करेंगे तो भी यह किसी भी प्रकार से सत्संग से पीछे नहीं हटेगा। ऐसा भरोसा भगवान तथा उनके सन्त को मुमुक्षु के ऊपर किस प्रकार हो

सकता है? एक प्रश्न तो यह है, दूसरा प्रश्न यह है कि जिस सन्त के पास रहते हों, उसका अपने प्रति जैसा स्नेह रहता है, वैसा ही प्रेमभाव अन्य समस्त सन्तों का हम पर किस प्रकार रह सकता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'शिवानन्द स्वामी के प्रश्न का जैसा उत्तर दिया गया है वैसा ही उत्तर इस प्रश्न पर भी लागू होता है कि जिसका सत्संग का पक्ष सुदृढ़ होता है, उसको कुछ भी कहने में भगवान और उनके सन्त को संदेह नहीं होता और उस पर किसी भी तरह ऐसा अविश्वास नहीं होता कि यदि 'इसे कुछ कहेंगे तो यह सत्संग से चला जाएगा।' इसकी ओर से तो दृढ़ विश्वास ही होता है कि 'इसका सत्संग अचल है, अतः यदि हम इससे कुछ भी कहेंगे तो उसकी कोई चिन्ता नहीं है।'

दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि जो भक्त प्रथम जिस सन्त के पास रहता हो, उस संत से उसे कोई अनबन हो गई, तब वह जब दूसरे सन्त के पास जाकर रहता है, उस समय वह पहले वाले सन्त के विरुद्ध किसी के द्वारा भी निंदा सुनकर उस निंदा को सहन नहीं कर सकता है! तब अन्य साधुओं को भी ऐसी धारणा हो जाएगी कि 'यह कृतघ्नी नहीं है। इसने जिसके साथ रहकर चार अक्षर पढ़े हैं, उसका गुण (उपकार) नहीं छोड़ता है, इसलिए यह बहुत अच्छा साधु है।' यह जानकर सभी साधु उस पर अपना स्नेह बनाए रखेंगे। परन्तु यदि वह प्रथम जिसके पास रहा था, उसे छोड़कर दूसरे साधुओं के पास गया, और जब वह पहले वाले सन्त की निन्दा करेगा, तो समस्त साधुओं को ऐसा प्रतीत होगा कि 'यह कृतघ्न पुरुष है। अतः जब हमारे साथ भी इसकी नहीं पटेगी तब यह हमारी भी निन्दा करेगा।' इस कारण उस पर किसी का भी स्नेह नहीं रहेगा।'

फिर दहरानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान अक्षरातीत हैं, और मन एवं वाणी से परे हैं, सबके लिए अगोचर हैं; फिर भी वे सबको प्रत्यक्ष दिखते हैं, इसका क्या कारण है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'अक्षरातीत तथा मन-वाणी से परे और अगोचर रहनेवाले भगवान स्वयं कृपा करके ऐसा संकल्प करते हैं कि 'मृत्युलोक के सभी ज्ञानी-अज्ञानी पुरुष मुझे देखें।' इसीलिए, सत्य संकल्पवाले भगवान मृत्युलोक के समस्त मनुष्यों के लिए अपना दर्शनीय स्वरूप धारण

करते हैं।'

फिर त्यागानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान किस प्रकार प्रसन्न होते हैं?' तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जो व्यक्ति भगवान को प्रसन्न करने का इच्छुक हो, उसे शारीरिक सुख की इच्छा नहीं करनी चाहिए तथा भगवान के दर्शन का भी लोभ नहीं रखना चाहिए और भगवान जैसी आज्ञा दें, वैसा ही करना चाहिए। भगवान को प्रसन्न करने का यही उपाय है।'

फिर लक्ष्मणानन्द स्वामी ने प्रश्न किया कि 'किस तरह समझने से भगवान और उनके सन्त का संग आश्चर्यसदृश मालूम हो! तथा आठों प्रहर आनन्द ही आनन्द तथा अहोभाव की स्थिति किस प्रकार हो सकती है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो भक्त ऐसा समझता है कि 'ये भगवान और ये सभी सन्त वैकुंठ, गोलोक तथा ब्रह्मपुर के निवासी हैं। ऐसे सन्त तथा परमेश्वर जहाँ विराजमान हैं, वहीं पर वे सब धाम हैं तथा उन सन्त के साथ मेरा निवास हुआ है, यह मेरा अति महान सौभाग्य है।' इस तरह जो समझता है, उसे आठों प्रहर आश्चर्यवत् स्थिति बनी रहती है; और वह आठों प्रहर आनन्दसागर में तैरता रहता है।'

फिर परमात्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में सन्त के जो तीस लक्षण बताए गए हैं, वे किस उपाय द्वारा सिद्ध हो सकते हैं?' तब श्रीजीमहाराज बोले, **'तीस लक्षणयुक्त जो सन्त हों, उनमें गुरु-बुद्धि तथा देवबुद्धि रखकर मन, कर्म एवं वचन द्वारा उनका संग करे, तब ऐसे संत के संगी में ये तीस लक्षण आते हैं।** तथा समस्त शास्त्रों में भी ऐसा कहा गया है कि 'जो सन्त का सेवन करता है वह सन्त के समान हो जाता है।'

फिर शान्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'एक भक्त तो ऐसा है, जो भगवान के स्वरूप में अखंड वृत्ति रखता है, तथा दूसरा भक्त भगवान का भजन-स्मरण करने के साथ-साथ स्वयं कथा-कीर्तन करता है और उन्हें सुनता भी है। इन दो प्रकार के भगवद्भक्तों में कौन-सा भक्त श्रेष्ठ है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे निर्विकल्प समाधि लग जाती हो और अपनी देह की सुधबुध न रहती हो, वह यदि कथा-कीर्तन न भी करे, तो भी श्रेष्ठ है। और, जिसे शारीरिक स्थिति का भान रहता हो, और भजन

में से स्वयमेव उठकर खाने-पीने की समस्त दैहिक क्रियाएँ करता हो और यदि भगवान के कथा-कीर्तन नहीं करता हो तथा न सुनता हो, तो उसकी अपेक्षा भगवान के कथा-कीर्तन करनेवाला और सुननेवाला पुरुष ही श्रेष्ठ होता है।'

फिर आधारानन्द स्वामी ने पूछा कि 'किस प्रकार का आचरण करने पर भगवान तथा उनके सन्त प्रसन्न होते हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'पंचव्रतों का पूर्णरूप से पालन किया जाए और उसमें किसी भी तरह की कमी न आने दी जाए, तो भगवान तथा उनके सन्त प्रसन्न हो जाते हैं, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है।'

फिर वेदान्तानन्द स्वामी ने प्रश्न किया कि 'पहले जिसका कुछ अनुचित आचरण रहा हो, तो उसे ऐसा कौन-सा उपाय करना चाहिए, जिससे उस पर भगवान तथा उनके सन्त प्रसन्न हो जाएँ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'अपना कोई बूरा स्वभाव हो, उसे देखकर भगवान एवं भगवान के संत अप्रसन्न रहते हों, तब उस स्वभाव के साथ शत्रुभाव रखना चाहिए। जब ऐसा वैरभाव हो, तब जिसका, जिसके साथ वैर होता है, उसकी जानकारी समस्त जगत को हो जाती है, अतः सन्त को भी मालूम हो जाता है कि इसको अपने स्वभावों से वैर हो गया है। सन्त तो स्वभावों के वैरी होते ही हैं; अतः वे अपने मुमुक्षु के पक्ष में शामिल होकर उस पर दया करते हैं और ऐसा उपाय बताते हैं, जिससे उन स्वभावों पर विजय हो। अतएव, जिस स्वभाव के कारण अपनी फ़जीहत हुई हो, उस स्वभाव के साथ दृढ़तापूर्वक वैर बांधकर, जब तक उसका मूलोच्छेद हो, तब तक उपाय करना चाहिए। ऐसा करने पर भगवान और उनके सन्त पूर्ण दया करते हैं। और जब हरि की तथा उनके भक्त की जिस पर दया होती है, उसके हृदय में अतिशय सुख बना रहता है और कल्याण के मार्ग पर चलने का सामर्थ्य भी बढ़ जाता है, और अपने काम, क्रोध, लोभादिक शत्रुओं की शक्ति क्षीण हो जाती है। अतः जिसके हृदय में जो शत्रु अत्यधिक पीड़ा पहुँचाता हो, उसके साथ पूर्ण रूप से शत्रुता रखी जाए, तो परमेश्वर उसकी सहायता करते हैं। इसलिए, अपने कामादिक शत्रुओं के साथ अवश्य ही वैरभाव रखना चाहिए। और, अपने आन्तरिक शत्रुओं के साथ वैर करने में

अत्यधिक लाभ होता है।'

फिर भगवदानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज! भगवान के पास बैठकर उनकी जितनी मर्यादा रहती है, वैसी की वैसी मर्यादा दूर जाने पर भी बनी रहे। वह क्या समझने पर बनी रहती है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान का माहात्म्य यदि पूर्ण रूप से समझ लिया जाए, तो भगवान की जो मर्यादा उनके पास में रहने पर बनी रहती है, वैसे ही उनसे दूर जाने पर भी रह सकती है। वह माहात्म्य इस प्रकार से समझें कि 'अक्षरातीत जो पुरुषोत्तम भगवान हैं, उनकी इच्छा से अनन्तकोटि ब्रह्मांडों की उत्पत्ति होती है और वे उन ब्रह्मांडों को अपनी शक्ति द्वारा धारण किये रहते हैं। और, वे भगवान व्यतिरिक्त रहते हुए भी सबमें अन्वयभाव से रहते हैं तथा वे अन्वय होते हुए भी व्यतिरेक हैं। वे भगवान जैसे प्रत्यक्षप्रमाण हैं, वैसे के वैसे ही अणु-अणु में अन्तर्यामी रूप से विराजमान हैं। ऐसे भगवान की इच्छा के बिना एक तिनका भी हिलने-डुलने में समर्थ नहीं हो पाता तथा अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में जो उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं, और उनमें जीवों को सुख-दुःख प्राप्त होते हैं, यह सब कुछ पुरुषोत्तम भगवान के नियंत्रण में है। भगवान जितना कुछ करना चाहते हैं, उतना ही होता है। ऐसे समर्थ भगवान जब जीवों के कल्याण के लिए पृथ्वी पर पधारते हैं, तब वे घोड़े पर बैठते हैं, और घोड़ा भगवान को अपनी पीठ पर उठकर चलता है, परन्तु ये तो घोड़े के भी आधार हैं, और जब वे पृथ्वी पर बैठे हों, तो ऐसा लगता है कि पृथ्वी भगवान को धारण कर रही है, परन्तु वे तो स्थावर-जंगम सहित समग्र पृथ्वी को धारण कर रहे हैं। और, रात्रि हो, तब चन्द्रमा, दीपक या मशाल के प्रकाश से भगवान का दर्शन होता है, और दिवस में सूर्य के प्रकाश से उनका दर्शन होता है, परन्तु वह भगवान तो सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि इन सभी को प्रकाश प्रदान करते हैं। उनमें ऐसा अद्भुत सामर्थ्य है, फिर भी वे जीवों के कल्याण के लिए, मनुष्य जैसे होकर मुझे दर्शन देते हैं।' इस प्रकार माहात्म्य समझें, तब जैसी मर्यादा उनके पास में रहने पर रहती है, वैसी ही मर्यादा उनके दूर जाने पर भी रह सकती है।'

फिर भगवदानन्द स्वामी ने दूसरा प्रश्न पूछा, 'भगवान के किए बिना कुछ भी नहीं होता, सब भगवान का ही किया हुआ होता है, तब भगवान

को और भगवान के भक्त को जब कुछ बूरे देशकाल के योग से दु:ख प्राप्त होता है, उस दु:ख को भगवान क्यों नहीं टालते हैं? और उन्हें टालने के मनसूबे क्यों किया करते हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान जब मनुष्यदेह धारण करते हैं तब उनकी यही रीति रहती है कि मनुष्य के सदृश समस्त व्यवहार करते हैं, परन्तु अपने अलौकिक सामर्थ्य को प्रकट नहीं करते हैं। इस प्रकार, सभी शास्त्रों में भगवान की लीलाएँ बताई गई हैं। इसलिए, जब भगवान कुछ नई लीलाएँ करें तो संशय करिएगा, किन्तु जहाँ तक वे पूर्व अवतारों जैसी लीलाएँ करें, वहाँ तक किसी भी प्रकार का संदेह नहीं करना।'

फिर निर्मलानन्द स्वामी ने पूछा, 'किस प्रकार समझने से प्रभु के सन्त की महिमा अच्छी तरह विदित हो सकती है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'भगवान के मत्स्य, कच्छप, वराह, वामन, परशुराम तथा रामकृष्णादि अनेक अवतारों की महिमा पर विचार करना चाहिए कि 'जिन भगवान ने रामकृष्णादि अवतारों के द्वारा असंख्य जीवों का उद्धार किया है, उन भगवान के ये सन्त हैं और उनके सत्संग का लाभ मुझे मिला है, अत: मैं भी बड़ा सौभाग्यशाली हूँ।' इस प्रकार समझने से सन्त की महिमा दिन-प्रतिदिन बहुत अच्छी तरह मालूम होती है।'

फिर नारायणानन्द स्वामी ने पूछा, 'स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण, इन तीनों देह में जीव अन्वय भाव से किस तरह है, एवं व्यतिरेक भाव से किस प्रकार रहता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब देह में सुख-दु:ख का योग होता है, तब जीव ऐसे सुख-दु:ख को अपने में मान लेता है, तब वह अन्वयभाव से रहता है, और जब इन तीनों देहों के सुख-दु:खों से जीव स्वयं को भिन्न समझता है, तब वह व्यतिरेकभाव से रहता है।'

फिर शून्यातीतानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जब कोई सत्संग करता है, तब सन्त तथा सत्संगी में उसको अत्यन्त स्नेह हो जाता है, किन्तु कुछ समय के बाद उसमें कमी क्यों आ जाती है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'प्रथम तो सन्त में उसकी अलौकिक मति रहती है और बाद में वह सन्त का अल्प दोष देखकर अपनी कुबुद्धि

से अधिक दोष मान लेता है। इस कारण उसकी असद्वासना हो जाती है, जिसके फलस्वरूप सन्त के प्रति विद्यमान भाव में न्यूनता हो जाती है। इसलिए, यदि वह विवेकपूर्वक असद्वासना को टाल दे, तो वह पहले जैसा शुद्ध था, वैसा शुद्ध हो जाता है; और यदि वह असद्वासना को नहीं मिटाता है, तो आखिर वह विमुख हो जाता है।'

फिर प्रसादानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जीव के लिए मोक्ष का उपाय क्या है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, **'जिस प्रकार सन्त कहें, उसी तरह निःसंशय होकर किया करे, वही जीव के मोक्ष का उपाय है।'**

फिर त्रिगुणातीतानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जहाँ देश, काल, क्रिया और संग की विषमता रहे, तब वहाँ कैसा उपाय करना चाहिए?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जहाँ देशादि विषम हो जाए, वहाँ तो सुरक्षित रहने का यही उपाय है कि वहाँ से जिस-किसी भी तरह भागकर स्वयं को मुक्त कर लेना।'

फिर छोटे निर्विकारानन्द स्वामी ने पूछा कि 'यद्यपि भगवान के प्रति निश्चय है, फिर भी असद्वासना क्यों नहीं मिटती?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'भगवान का माहात्म्य यथार्थरूप से नहीं समझा है, इसलिए असद्वासना नहीं मिटती है।'

फिर बड़े योगानन्द स्वामी ने पूछा कि यद्यपि 'भगवान का निश्चय परिपूर्ण है, फिर भी भगवान तथा उनकी कथा में रुचि उत्पन्न क्यों नहीं होती?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'भगवान का जैसा माहात्म्य है, वैसा इस जीव की समझ में नहीं आया है। और, यदि भगवान का यथार्थरूप से माहात्म्य समझ में आ जाए, तो भगवान के सिवा दूसरों में स्नेह करने पर भी स्नेह नहीं होता, और एकमात्र भगवान तथा भगवान के सन्त एवं भगवान के कथा-कीर्तन में ही अचल प्रीति होती है।'

फिर प्रतोषानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान की भक्ति किस प्रकार अचल रह सकती है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'चतुर्व्यूह अर्थात् अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण एवं वासुदेव तथा केशवादिक चौबीस मूर्तियों और वराहादि अवतारों

के कारण जो प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम भगवान हैं, उनकी महिमा को जो अत्यधिक समझ लेता है उसके लिए भगवान की श्रवणादिक नवधा भक्ति निश्चल रहती है।'

इस प्रकार, समस्त मुनियों के प्रश्नों का उत्तर देने के पश्चात् श्रीजीमहाराज ने सबसे पूछा कि 'काम, क्रोध तथा लोभ, ये तीनों ही नरक के द्वार हैं। इनमें से जिसको जिसने अधिकाधिक जीत लिया हो, उसके सम्बंध में आप सब बताएँ।'

तब, जिनको जिस बात की अतिशय दृढ़ता थी, उसके अनुसार उन्होंने उत्तर दिया। उन मुनियों के वचनों को सुनकर श्रीजीमहाराज अत्यन्त प्रसन्न हुए। तथा, उन्होंने आत्मानन्द स्वामी, योगानन्द स्वामी, भगवदानन्द स्वामी और शिवानन्द स्वामी को प्रसन्नतापूर्वक हृदय में अपने चरणारविन्द प्रदान किए और कहा कि 'जैसे महानुभावानन्द स्वामी आदि जो बड़े साधु हैं, उनके साथ ये चार साधु भी महान हैं। इसलिए, इनका किसी के भी द्वारा अपमान नहीं करने देना।' इस प्रकार मुक्तानन्द स्वामी आदि बड़े साधुओं को आदेश देकर श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने निवास पर भोजन करने के लिए पधारे।

॥ इति वचनामृतम् ॥78॥

॥ श्रीगढ़डा प्रथम प्रकरणं समाप्तम् ॥

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ॥

श्रीसारंगपुर प्रकरण के वचनामृत

वचनामृत 1 : मन को जीतने का उपाय

संवत् 1877 में श्रावण कृष्णा पंचमी (28 अगस्त, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा, **'जितं जगत् केन मनो हि येन।'**[1] इस श्लोक में यह कहा गया है कि जिसने अपने मन को जीत लिया है, उसने समस्त जगत पर विजय प्राप्त कर ली है; सो मन जीता गया हो, वह कैसे प्रतीत हो सकता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध नामक पंचविषयों से जब इन्द्रियाँ पीछे हट जाती हैं और किसी भी विषय को प्राप्त करने की इच्छा नहीं रह जाती, तब समस्त इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। और, जब इन्द्रियाँ विषयों का स्पर्श ही नहीं करती हैं, तब मन भी इन्द्रियों तक नही पहुँचता और हृदय में ही बना रहता है। इस प्रकार, जिसने पंचविषयों का अत्यन्त दृढ़ परित्याग कर दिया है, तो समझना कि उसने मन को जीत लिया है। यदि विषयों से कुछ भी लगाव है, तो विजित मन को भी जीता गया नहीं समझना चाहिए।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'विषयासक्ति की निवृत्ति का कारण वैराग्य है या परमेश्वर के प्रति प्रीति है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'विषयासक्ति की निवृत्ति का एक कारण

1. मणिरत्नमाला : 11

आत्मनिष्ठा है तथा दूसरा कारण माहात्म्यसहित भगवान सम्बंधी ज्ञान है। उसमें आत्मनिष्ठा की समझ ऐसी है कि 'मैं चैतन्य हूँ, देह जड है, मैं शुद्ध हूँ, देह नरकरूप है, मैं अविनाशी हूँ, देह नाशवान है तथा मैं आनन्दरूप हूँ और देह दुःखरूप है।' इस तरह जब अपनी आत्मा को समस्त प्रकार से देह से अतिशय विलक्षण समझता है, तब वह देह को अपना रूप मानकर विषयों से प्रीति करता ही नहीं। इस प्रकार, आत्मज्ञान द्वारा विषयों की निवृत्ति हो जाती है।

और, भगवान की महिमा को इस प्रकार समझे कि 'मैं आत्मा हूँ और मुझे जो प्रत्यक्ष भगवान मिले हैं, वे परमात्मा हैं। और, गोलोक, वैकुंठ, श्वेतद्वीप, ब्रह्मपुर तथा अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के अधिपति जो ब्रह्मादि देव हैं, उन सबके स्वामी, जो श्रीपुरुषोत्तम भगवान हैं, वह मुझे प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त हुए हैं। और, वे मेरी आत्मा में भी निरन्तर विराजमान हैं। और, ऐसे **भगवान का जो एक निमेषमात्र का दर्शन हो, उस पर अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के सभी विषयसुखों को न्योच्छावर कर दें, फिर भगवान के एक रोम में जितना आनन्द समाया है, उतना आनन्द अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के विषयसुखों को इकट्ठा करने पर भी उनके कोटि के एक भाग के बराबर भी नहीं होता।** और, भगवान के अक्षरधाम की तुलना में अन्य देवताओं के लोकों को 'मोक्षधर्म' में नरकतुल्य बताया गया है। ऐसे भगवान मुझे प्रकट रूप से मिले हैं, तब उन्हें छोड़कर नरककुंड जैसे विषयसुखों की इच्छा मैं क्यों करूँ? क्योंकि विषयसुख केवल दुःखरूप ही है।

इस प्रकार भगवान के माहात्म्य को जानने से विषयासक्ति की निवृत्ति होती है। ऐसा जो **आत्मज्ञान एवं परमात्मा का ज्ञान है, उसके द्वारा जो वैराग्य प्रकट होता है, उस वैराग्य से समस्त विषयसुखों की वासना निवृत्त हो जाती है।** और, जिसने इस प्रकार समझकर विषयी-सुखों का परित्याग कर दिया है, उसे पुनः विषयों में प्रीति होती ही नहीं। उसी का मन जीता हुआ कहा जाता है। और, ऐसे ज्ञान के बिना भले ही उसे भगवान में अधिक स्नेह दिखता हो, परन्तु किसी अच्छे विषय-सुख प्राप्त होने पर भगवान को छोड़कर विषय में उसकी प्रीति हो जाती है, अथवा पुत्र-स्त्री आदि से प्रीति हो जाती है; या रोगादि सम्बंधी पीड़ा के समय, अथवा

पंच-विषयों के सुख नष्ट हो जाने पर भगवान से प्रीति नहीं रहती और वह व्याकुल हो जाता है। जैसे कुत्ते का पिल्ला छोटा होने पर सुन्दर दिखाई पड़ता है, वैसे ही ऐसे पुरुष की भगवद्भक्ति पहले अच्छी दिखती है, परन्तु अन्त में शोभनीय नहीं रहती।'

॥ इति वचनामृतम् ॥1॥ ॥79॥

वचनामृत 2 : भगवान की मूर्ति में स्नेह

संवत् 1877 में श्रावण कृष्णा षष्ठी (29 अगस्त, 1820) को श्रीजीमहाराज श्रीसारंगपुर ग्राम स्थित जीवाखाचर के उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में बिछे हुए पलंग पर उत्तर की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी, सफ़ेद पिछौरी ओढ़ी थी और श्वेत धोती धारण की थी। उनके सम्मुख सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान से आए हरिभक्त बैठे थे।

पश्चात् श्रीजीमहाराज ने मुनियों से कहा कि 'आप सभी आपस में प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ करें।' तब स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'भगवान के भक्त को भगवान की मूर्ति में अतिशय स्नेह किस प्रकार होता है?' फिर मुनिजन इस प्रश्न का उत्तर परस्पर देने लगे, परन्तु यथार्थ उत्तर न हुआ।

तब श्रीजीमहाराज इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बोले, 'स्नेह तो रूप से भी होता है, काम से भी होता है, लोभ से भी होता है, स्वार्थ से भी होता है, तथा गुण द्वारा भी होता है। उनमें रूप द्वारा जो स्नेह उत्पन्न होता है, वह देह में पित्त अथवा कोढ़ निकलने पर नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार लोभ, काम और स्वार्थ द्वारा उत्पन्न हुए स्नेह का भी अन्त में नाश हो जाता है। किन्तु, गुणों को परख कर जो स्नेह हुआ हो, वह तो अन्त तक रहता है।'

उस पर श्रीजीमहाराज से सोमला खाचर ने पूछा, 'ये गुण कौन-से हैं, बाह्य अथवा आन्तरिक?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'बाह्य गुणों से क्या होता है? वह तो वचन, देह और मन द्वारा उत्पन्न गुणों की बात है! इन तीनों के द्वारा जो स्नेह होता है, उसका नाश नहीं होता। क्या आप केवल यही पूछते हैं कि उस भक्त को भगवान से कैसे स्नेह होता है? या आप यह भी पूछते हैं कि भगवान को

भक्त से किस प्रकार स्नेह होता है?' यह सुनकर स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी बोले कि 'हम दोनों स्नेह के बारे में पूछते हैं।'

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज विस्तारपूर्वक बताने लगे कि 'वचन द्वारा किसी भी जीव-प्राणिमात्र को दुःखी मत करना। और, परमेश्वर एवं महान सन्त के साथ यदि प्रश्नोत्तरी कर रहे हो, फिर उसमें स्वयं को अपनी जीत की प्रतीति होने लगे, फिर भी बड़ों के पास अपनी हार स्वीकार लेना, परन्तु अपने से बड़े सन्त को सभा में प्रश्नोत्तर के समय लज्जित होना पड़े, ऐसा कभी न करें, महान सन्त और परमेश्वर के सामने स्वयं पराजित होकर ही प्रसन्न रहना चाहिए। और, परमेश्वर और महान सन्त यदि अपने प्रति कोई उचित अथवा अनुचित वचन कहें तो उसे स्नेहपूर्वक तत्काल मान लें। उन वचनों में यदि उचित वचन (आज्ञा) हो, तो उसमें कोई शंका नहीं होती, परन्तु यदि उन्होंने कोई अनुचित वचन कहा हो, और उसमें कुछ संदेह होता हो, तो भी उस समय उसको शिरोधार्य कर लेना; और परमेश्वर या बड़े सन्त के समक्ष अपनी सहमति प्रकट करके कहना कि 'हे महाराज! आप जैसा कहेंगे, वैसा ही मैं करूँगा।' यदि वह वचन मन में स्वीकार्य न हो, फिर भी परमेश्वर और बड़े सन्त की मर्ज़ी हो, तो उनके समक्ष हाथ जोड़कर भक्तिपूर्ण यही निवेदन करना कि 'हे महाराज! आपने जो वचन कहा है, वह तो ठीक है, परन्तु उसमें मुझे इतना संदेह होता है।' इस प्रकार दीनभाव से अपना मन्तव्य प्रकट करना। यदि परमेश्वर की मरजी न हो, तो उनके निकट रहनेवाले महान सन्त तथा हरिभक्त को इस बात से अवगत करा देना चाहिए कि 'परमेश्वर ने ऐसा वचन कहा है, वह मुझे अपने लिए स्वीकार्य नहीं लगता।' इसके पश्चात् बड़े सन्त इसका निराकरण करें या तो परमेश्वर को निवेदन करके इस बात का समाधान कराएँ। परन्तु परमेश्वर के वचन को मानने से कभी मना करना ही नहीं, चाहे वह उचित हो या अनुचित। इस प्रकार युक्ति द्वारा बड़ों के वचनों को धीरज से लौटाना, परन्तु उसे मानने से तत्काल अस्वीकार नहीं करना। इस प्रकार वचन से बर्ताव करना। तब जाकर उस भक्त के प्रति परमेश्वर तथा महान सन्त का स्नेह होता है। इसी तरह, भक्त को भी भगवान के साथ दृढ़ स्नेह हो जाता है।

अब देह के द्वारा कैसा आचरण करना चाहिए यह बताते हैं। यदि

अपने शरीर में किसी प्रकार की उन्मत्तता दिखाई पड़े, तो भजन में बैठकर अथवा चांद्रायण व्रत के द्वारा देह को दुर्बल कर देना। फिर ऐसी अवस्था को देखकर यदि बड़े सन्त अथवा परमेश्वर शरीर की भले ही देखभाल कराएँ, परन्तु स्वयं अपने आप ही देह का जतन न करे। तथा अपनी देह द्वारा भगवान और भगवान के भक्तों की सेवा-शुश्रूषा करते रहे। इस प्रकार, जब वह अपने देह के द्वारा आचरण करने लगता है, तब उसे देखकर परमेश्वर और बड़े सन्त का उससे स्नेह हो जाता है और उस भक्त को भी भगवान से प्रीति हो जाती है।

अब मन के द्वारा व्यवहार करने की रीति बताते हैं। जब भी परमेश्वर का दर्शन करना, अपने मन और दृष्टि को एकाग्र रखना। परमेश्वर के दर्शन करते समय यदि कोई मनुष्य अथवा श्वान या कोई अन्य पशु-पक्षी वहाँ आ गया, तब अपना ध्यान हटाकर परमेश्वर के दर्शन से वृत्ति को तोड़कर इधर-उधर ऊपर-नीचे दृष्टि घुमाता हो, तथा उन पशुओं को भी देखता रहता हो, तो ऐसी विचलित दृष्टिवाले को देखकर परमेश्वर तथा बड़े सन्त प्रसन्न नहीं होते। क्योंकि वह भगवान का दर्शन उसी प्रकार से करता है, जैसे अन्य मनुष्य करते हैं। अतः लौकिक दृष्टिवाले ऐसे पुरुष को उस गिलहरी के समान समझना चाहिए, जो बोलने के साथ ही पूँछ को भी ऊँचा किया करती है। क्योंकि, भगवान के दर्शन के साथ-साथ वह अन्य वस्तुओं को भी देखता रहता है। ऐसे 'लौकिक' दर्शन के कारण उसकी पहले जैसी अच्छी स्थिति थी, वैसी नहीं रहती और वह दिन-प्रतिदिन अपने स्तर से नीचे गिरता जाता है। अतः परमेश्वर के दर्शन करते समय अपनी दृष्टि इधर-उधर नहीं डालनी चाहिए।

भक्त को चाहिए कि वह परमेश्वर के सर्वप्रथम दर्शन करते समय हृदय में जैसी अलौकिकता अनुभव करता है, वैसी की वैसी अलौकिकता मन में हमेशा बनाये रखें। तथा एक ही दृष्टि से मूर्ति को देखते रहें। दृष्टि को पलट-पलटकर अपने अन्तःकरण में उसी मूर्ति को उतारते रहें। जैसे धर्मपुर में कुशलकुंवरबाई थीं, वे हमारे दर्शन करती जाती थीं और दृष्टि को पलटकर मूर्ति को अपने अन्तःकरण में उतार लेती थीं। वैसे ही दर्शन मनोयोगपूर्वक दृष्टि को एकाग्र रखकर करना, परन्तु दूसरों की तरह दर्शन नहीं करना।

यदि परमेश्वर के दर्शनों के साथ-साथ अन्य लौकिक - मनुष्य अथवा कुत्ते और बिल्ली को भी देखता जाएगा, तो उसे स्वप्नावस्था में परमेश्वर भी दिखायी पड़ते हैं तथा साथ ही अन्य लौकिक रूप भी दिखाई पड़ेंगे। इसलिए **परमेश्वर का दर्शन चंचल दृष्टि से नहीं, बल्कि एकाग्र स्थिर दृष्टि से करना चाहिए। और दृष्टि को नियम में रखकर परमेश्वर के दर्शन जो करता है, उसे वह दर्शन निश्चित ही बिल्कुल नवीनतम रहता है। तथा परमेश्वर के कहे गए वचन भी उनके लिए नित्य नूतन बने रहते हैं।** परन्तु लौकिक बाह्यदृष्टि से दर्शन किए हों, उसके लिए परमेश्वर के दर्शन तथा वचन सब कुछ पुराने हो जाते हैं। भले ही वह प्रतिदिन दर्शन क्यों न किया करता हो! ऐसे पुरुष के लिए ये दर्शन 'नहीं किए गए के समान' ही होते हैं। वह तब मालूम होता है, जब वह भजन करने के लिए बैठता है, तब उसका मन स्थिर नहीं रहता और वह अनेक विचारधाराओं में बिखर जाता है। और, परमेश्वर का ध्यान करता है, तब उनके साथ-साथ दूसरे जो भी दर्शन किए गए हैं, उनकी स्फुरणा भी हृदय में अचिन्तित रूप से होने लगती है। इसलिए दर्शन एकमात्र परमेश्वर के ही करने चाहिए। जो व्यक्ति ऐसे दर्शन करता है, उनका मन भजन एवं स्मरण करते समय केवल परमेश्वर में ही लगा रहता है, परन्तु बहुविचारधारा में फैल नहीं जाता और उसकी एक ही विचारधारा रहती है। और, जो चपल दृष्टि से दर्शन करता है, उसको मैं जानता हूँ और जिनकी दृष्टि और मन नियन्त्रण में हो, ऐसे बड़े सन्त भी जानते हैं कि 'यह तो लौकिक दर्शन करता है।' फिर लौकिक दर्शन करनेवाला दिन-प्रतिदिन इस सत्संग से च्युत होता जाता है। और, जैसे कोई कामी पुरुष अपनी रूपवती स्त्री में ही एकाग्रता-पूर्वक दृष्टि को पिरोकर रखता है, और तब बीच में अगर कोई पशु-पक्षी आता-जाता है या बोलता है, तो भी उसको उसकी सुध नहीं रहती; इस प्रकार एकाग्र दृष्टि द्वारा परमेश्वर से जुड़ जाएँ, परन्तु लौकिक दर्शन न करें।'

तब निर्विकारानन्द स्वामी ने शंका प्रकट की, 'हे महाराज! हमें देशभर में स्थान-स्थान पर मनुष्यों के समक्ष (कथा) वार्ता करनी पड़ती है, उस कारण मन की एकाग्रता नहीं रहती है।'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जनसमूह के समक्ष वार्ता करने की आज्ञा तो

हमने दे रखी है, किन्तु यहाँ मूर्ति के दर्शनों को छोड़कर अन्य दर्शन करने की अनुमति हमने किस दिन दी?' इतना कहने के पश्चात् वे पुन: वार्ता करने लगे, 'मूर्ति के प्रथम दर्शन के समय मुमुक्षु को कैसी अलौकिकता रहती है! वैसी की वैसी अलौकिकता तो तभी रहे, जब दृष्टि को एकाग्र मन के साथ ही परमेश्वर में रखे। यदि मन द्वारा ऐसा आचरण हुआ, तब उस भक्त पर भगवान का नित्य ही नवीनतम स्नेह बना रहता है। इसी तरह, भक्त को भी भगवान से नित्य ही अभिनव स्नेह बना रहता है।

तथा भक्त को चाहिए कि वह नेत्र और श्रोत्र इन दोनों को विशेष रूप से संयम में रखे। क्योंकि जहाँ-जहाँ लौकिक बातें होती हैं, वहाँ श्रोत्रेन्द्रिय की वृत्ति आकृष्ट हो जाती है, और वही बातें सुनाई देती हैं, फिर सुने हुए समस्त लौकिक शब्दों की स्मृति भजन करते समय होने लगती है। और, असंयमी नेत्रवृत्ति के द्वारा जो-जो रूप देखे गए हों, उन सबका स्मरण भी भजन के समय होने लगता है। इसलिए, नेत्र और श्रोत्र दोनों इन्द्रियों को कठोरता पूर्वक नियमबद्ध रखना चाहिए। और, मूर्ति का दर्शन करते समय जब नेत्र एवं श्रोत्रेन्द्रिय की वृत्ति मूर्ति के दर्शनों को छोड़कर दूसरी ओर आकृष्ट हो जाए, तब दोनों इन्द्रियों को यह उपदेश देना, कि 'हे मूर्ख इन्द्रियाँ! तुम भगवान की मूर्ति को छोड़कर अन्य रूपों को देखती हों या परमेश्वर की वार्ता का त्याग करके दूसरी बातें सुनती हों, उससे तुम्हें क्या मिल जाएगा? और अभी तुम्हारी ऐसी सिद्धदशा नहीं हो पाई है कि जैसा चिन्तन करो, उसका वैसा ही फल तुम्हें तत्काल मिल जाए; क्योंकि अभी तो तुम मात्र साधक ही हों। इसलिए जिस विषय का तुम चिन्तन करोगी, उसकी प्राप्ति नहीं हो पाएगी, और व्यर्थ की लालसा करके तुम परमेश्वर को क्यों छोड़ रही हो? यदि तुम्हें कोई अल्प विषय प्राप्त हो भी गया, तो उसके पाप के कारण यमपुरी की मार-पीट इतनी सहनी पड़ेगी कि कहीं उसका अन्त ही नहीं होगा।' इस प्रकार, नेत्रेन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय को उपदेश देना चाहिए।

और उनसे कहो, 'जब तुम भगवान की मूर्ति में एकाग्र हो जाओगीं, तब तुम्हें सिद्धदशा प्राप्त होगी। फिर तुम ब्रह्मांडों में होनेवाली विभिन्न वार्ताओं को सहज ही सुन पाओगी। तुम ब्रह्मा, विष्णु और शिव सदृश रूप को प्राप्त करने की इच्छा करोगी, तो तुम्हें इच्छित रूप भी मिल जाएगा।

यदि तुम लक्ष्मी या राधिका जैसा भक्त होने की कामना करोगी, तो वैसा भी हो जाएगा। यदि तुम अपने जीवन-पर्यन्त भगवान का भजन करते-करते सिद्ध-दशा को न पा सके, तो देह छोड़ने के बाद मुक्त होने पर सिद्धदशा मिल जाएगी, किन्तु सिद्धदशा प्राप्त हुए बिना यदि तुम लौकिक रूपों को देख-देखकर मर भी जाओगी, तो भी तुझे वह रूप नहीं मिल पाएगा। यदि तुम लौकिक शब्दों को सुन-सुनकर मर भी जाओगी, तो उनसे बुद्धि अत्यन्त भ्रष्ट हो जाएगी, परन्तु उसमें से कुछ भी प्राप्ति नहीं होगी।' इस प्रकार, नेत्रेन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय को उपदेश देकर, एकमात्र भगवान की मूर्ति में ही जोड़कर रखना चाहिए। जो पुरुष इस तरह का आचरण करता है, उसे भगवान की मूर्ति के प्रति दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक स्नेह होता जाता है, तथा उस भक्त के ऊपर परमेश्वर और सत्पुरुष का स्नेहभाव भी दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥2॥ ॥80॥

वचनामृत 3 : श्रवण, मनन, निदिध्यास और साक्षात्कार

संवत् 1877 में श्रावण कृष्णा सप्तमी (30 अगस्त, 1820) को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के राजभवन में कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी, काले पल्ले की धोती ओढ़ी थी और श्वेत धोती धारण की थी। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से पूछा कि 'हे महाराज! एक भक्त नाना प्रकार की पूजा-सामग्री लेकर प्रत्यक्ष भगवान की पूजा करता है, जबकि एक अन्य भक्त नाना प्रकार के मानसिक उपचारों के द्वारा भगवान की मानसी पूजा करता है, कृपया बताइए कि इन दोनों भक्तों में कौन श्रेष्ठ है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो भक्त भगवान के प्रेम में अति रोमांचित-गात्र होकर तथा गद्‌गदकंठ होकर यदि भगवान की प्रत्यक्ष पूजा करता है, अथवा इसी प्रकार भगवान की मानसिक पूजा करता है, तो ये दोनों ही श्रेष्ठ हैं। और, यदि भगवत्प्रेम में रोमांचित-गात्र तथा गद्‌गदकंठ हुए बिना

केवल शुष्क मन से भगवान की प्रत्यक्ष पूजा करता है, तो भी न्यून है और मानसीपूजा करता है, तो भी न्यून है।'

तब सोमला खाचर ने पूछा, 'इस प्रकार प्रेममग्न होकर जो भक्त प्रत्यक्ष भगवान की पूजा करता हो, अथवा मानसी पूजा करता हो, उसे किन लक्षणों द्वारा पहचाना जाता है ?'

फिर श्रीजीमहाराज ने कहा, 'जिस भक्त को भगवान की पूजा-सेवा में एवं कथा-वार्ता तथा कीर्तन में अतिशय श्रद्धा हो और भगवान के माहात्म्य को पूर्णतः समझता हो, इन दोनों साधन करते हुए जिसके अंतर में प्रतिदिन बिल्कुल नई उमंगें रहती हों, किन्तु (उसकी उमंग) कभी भी गौण न पड़ती हों, ऐसे लक्षण से उस भक्त को पहचाना जा सकता है। जैसे मुक्तानन्द स्वामी को हमने पहली बार लोजपुर में देखा था, उनमें जैसी श्रद्धा और भगवान का माहात्म्य था, वैसा का वैसा आज तक पूर्णरूप से नया का नया ही दिखाई दे रहा है, परन्तु तनिक भी गौण नहीं पड़ा। इन दोनों लक्षणों से उस भक्त को पहचाना जाता है। ऐसे माहात्म्य तथा श्रद्धा के बिना ही समस्त यादव श्रीकृष्ण भगवान के साथ रहते थे और जैसे अन्य राजा की सेवा-चाकरी करे, उसी प्रकार भगवान की सेवा-चाकरी भी करते थे, परंतु आज कोई भी उनके नाम तक नहीं जानता[2] और वे भक्त भी नहीं कहलाए। परंतु उद्धवजी यदि श्रीकृष्ण भगवान की श्रद्धा एवं माहात्म्य सहित सेवा-चाकरी करते थे, तो वे परम भागवत कहलाए तथा शास्त्रों एवं संसार में भी उनकी अतिशय ख्याति बनी हुई है।'

फिर निर्विकारानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! श्रवण, मनन, निदिध्यास तथा साक्षात्कार किसे कहा जाता है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'श्रोत्रों द्वारा वार्ता को सुनना उसे **श्रवण** कहा जाता है। और, जो वार्ता सुनी है, उस पर मन द्वारा विचार करके, जितनी वार्ता त्याग करने योग्य हो, उतनी छोड़कर उसके ग्राह्य अंश को ग्रहण करना वह **मनन** कहलाता है तथा जो वार्ता निश्चयपूर्वक मन में ग्रहण की गई हो, उसे रात-दिन स्मरण में रखने का अभ्यास करना उसे **निदिध्यास**

---

2. **'दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि। ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम्।'** (श्रीमद्भागवतम् : 3/2/8) इस श्लोक का यही भावार्थ है।

कहा जाता है। तत्पश्चात् वह वार्ता बिना चिन्तन किए भी यथार्थरूप में मूर्तिमान के समान पूर्णत: स्मरण में आ जाए उसे **साक्षात्कार** कहते हैं। और, यदि आत्मा के स्वरूप का इस प्रकार श्रवणादि किया गया हो, तो आत्मस्वरूप का इस तरह साक्षात्कार हो जाता है। उसी प्रकार यदि भगवान की कथा का श्रवण, मनन और निदिध्यास किया गया हो, तो भगवान का साक्षात्कार हो जाता है। परन्तु, बिना मनन एवं निदिध्यास किए, केवल श्रवण द्वारा ही साक्षात्कार नहीं हो पाता।

और, यदि भगवान के स्वरूप का दर्शन करके भगवान का मनन तथा निदिध्यास न किया गया हो, तो चाहे एक लाख वर्षों तक दर्शन करते रहने पर भी उनके स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो पाता। तथा वह दर्शन तो केवल श्रवणमात्र ही कहलाएगा। एवं यदि कोई भक्त भगवान के प्रत्येक अंग का दर्शन करके उसका मनन एवं निदिध्यास करेगा, तो उसे भगवान की मूर्ति आज भी सहजभाव से स्मरण में आ जाएगी। परंतु उसने यदि भगवान के अंग का केवल दर्शन ही किया होगा तो स्मरण करने पर भी वह भगवान की मूर्ति की स्मृति नहीं कर पाएगा। और, कितने ही हरिभक्त कहा करते हैं कि 'हम तो ध्यानावस्था में बैठकर महाराज की मूर्ति का अधिक से अधिक स्मरण करने का प्रयास करते हैं, फिर भी उनके एक भी अंग की धारणा नहीं होती, तब समग्र मूर्ति का ध्यान कैसे संभव हो सकता है?' इस समस्या का कारण भी यही है कि वह भगवान की मूर्ति का दर्शनमात्र करता है, परन्तु मनन तथा निदिध्यास नहीं करता, तब ध्यानावस्था में मूर्ति कैसे आ सकती है? क्योंकि मायिक पदार्थ को भी केवल दृष्टिमात्र से देखा हो और केवल श्रवण द्वारा सुना हो किन्तु यदि उसका मनन करके मन में स्मृति में न रखा हो, तो वह भी विस्मृत हो जाता है, तब अमायिक एवं दिव्य ऐसा जो भगवान का स्वरूप है, वह बिना मनन और निदिध्यास के, स्मृति में कैसे आएगा? इसलिए, **भगवान का दर्शन करके तथा वार्ता सुनकर यदि उसका मनन और निदिध्यास निरन्तर किया करता है तो उसे साक्षात्कार हो सकता है, अन्यथा सारी उम्र दर्शन-श्रवण करते हुए बीत जाए फिर भी साक्षात्कार नहीं होता।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥3॥ ॥81॥

वचनामृत 4 : आत्मा-अनात्मा का विवेक

संवत् 1877 में श्रावण कृष्णा अष्टमी (31 अगस्त, 1820) को श्रीजीमहाराज श्रीसारंगपुर ग्राम स्थित जीवाखाचर के राजभवन के कमरे के बरामदे में पलंग पर उत्तर की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी, सफ़ेद पिछौरी ओढ़ी थी और श्वेत धोती धारण की थी। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! आत्मा-अनात्मा का भेद स्पष्टरूप से किस प्रकार समझ में आता है? जिसे समझकर आत्मा और अनात्मा की एकता संभव ही न हो।'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज कहने लगे कि 'एक श्लोक से, दो श्लोकों से, पाँच श्लोकों से, एक सौ श्लोकों से अथवा एक सहस्र श्लोकों से भी यदि यह बात स्पष्टरूप से समझ में आ जाए, वही अच्छा है; जो समझ लेने के पश्चात् आत्मा-अनात्मा में ऐक्य होने का भ्रम ही न रहे। ऐसी स्पष्ट समझ ही आनंददायक होती है, परंतु संदिग्ध समझ कभी सुखदायी नहीं होती। अतः ऐसा स्पष्टरूप से समझ लेना चाहिए कि 'मैं आत्मा हूँ, अतः मेरे जैसा एक भी गुण देह में नहीं आता। और मैं तो चैतन्य हूँ, इस कारण जड, दुःख-रूप एवं मिथ्यारूप देह के गुणों में से एक भी गुण मुझमें नहीं आता।' ऐसा भेद समझकर, अत्यन्त निर्वासनिक होकर तथा चैतन्यरूप होते हुए पुरुषोत्तम भगवान का चिन्तन करे, इस प्रकार का जड-चैतन्य का विवेक हो, उसी को सुदृढ़ विवेक जानना। परन्तु घड़ीभर स्वयं को आत्मारूप माने और घड़ीभर स्वयं को देहरूप मानकर स्त्री का चिंतन करे, तो उसे मलिन समझना चाहिए, उसके अन्तःकरण में सुख की अनुभूति नहीं होती। जैसे अत्यन्त स्वादिष्ट अमृत-सा खाद्यपदार्थ हो, उसमें अगर थोड़ा-सा विष मिला दिया जाए, तो वह सुखदायी नहीं, बल्कि दुःखदायी हो जाता है। वैसे ही **आठों प्रहर आत्मा सम्बंधी विचार करके एक घड़ीभर स्वयं को देहरूप मानकर यदि स्त्री का चिंतवन करे, तो उसके सभी विचार धूल में मिल जाते हैं। इसलिए अत्यन्त ही निर्वासनिक हो सकें, ऐसा**

ही स्पष्ट आत्म-विचार करना चाहिए।

और, यदि किसी को ऐसा संशय होता हो कि हम अत्यन्त निर्वासनिक नहीं हो पाएँगे, और यदि ऐसी ही अपरिपक्व अवस्था में मर जाएँगे, तो हमारा क्या हाल होगा?' तो भगवान के भक्त को ऐसा विचार नहीं करना चाहिए। उसे तो यह समझना चाहिए कि 'यदि मौत आई, तो शरीर ही मरेगा, परन्तु मैं तो आत्मा हूँ और अजर-अमर हूँ। इसलिए, मैं नहीं मरूँगा।' ऐसा समझकर हृदय में हिम्मत रखनी चाहिए। और, परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य समस्त वासनाओं का परित्याग करके निश्चल मति करनी चाहिए।

तथा इस प्रकार वासना को टालते-टालते यदि थोड़ी कुछ वासना रह गई, तो उसे 'मोक्षधर्म' में बताए गए नरकों की प्राप्ति होगी। उन नरकों का विवरण यह है कि भगवान के भक्त को यदि तनिक भी सांसारिक वासना रह गई, तो उसे इन्द्रादि देवताओं के लोकों की प्राप्ति होती है। वहाँ जाने पर अप्सराएँ, विमान तथा मणिमंडित महल आदि समस्त वैभव जो कि परमेश्वर के धाम की तुलना में नरक-सदृश हैं, उन्हें वह भोगता है, किन्तु विमुख जीव की तरह यमपुरी अथवा चौरासी लाख योनियों में वह नहीं भटकता। अतः आप यदि भगवान के सवासनिक भक्त भी होंगे, तो अधिक से अधिक देवता होना पड़ेगा। यदि देवलोक से पतन हो गया, तो मनुष्य-शरीर धारण करके पुनः भगवान की भक्ति करके निर्वासनिक बनकर अन्त में भगवान को पाएँगे, किन्तु विमुख जीव की तरह चौरासी लाख योनियों को तो नहीं भोगना पड़ेगा। ऐसा समझते हुए **भगवान के भक्त को उग्र वासना को देखकर हिम्मत नहीं हारनी चाहिए और आनन्दमग्न रहकर भगवान का भजन करते रहना तथा वासना को मिटाने का उपाय करते रहना, एवं भगवान तथा उनके सन्त के वचनों में दृढ़ विश्वास रखना।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥4॥ ॥82॥

वचनामृत 5 : वासना निवृत्ति; अन्वय-व्यतिरेक

संवत् 1877 में श्रावण कृष्णा नवमी (1 सितम्बर, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के राज-भवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। वे श्वेत वस्त्र

धारण किए हुए थे। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'वासना की निवृत्ति होने का कौन-सा श्रेष्ठ उपाय है, जिसमें वासना मिटाने के सभी साधन समाविष्ट हो जाए?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसके हृदय में श्रद्धा हो तथा भगवान एवं भगवान के भक्तों में विश्वास हो तथा भगवान में प्रीति हो एवं परमेश्वर के स्वरूप का माहात्म्यज्ञान हो, ये चार गुण जिस भक्त में हों, उसकी वासना निवृत्त हो जाती है। उसमें भी यदि माहात्म्यज्ञान सुदृढ़ हो, तो श्रद्धा, विश्वास और प्रीति दुर्बल होने पर भी ये तीनों महाबलवान होते हैं। बिना माहात्म्य की भक्ति भले ही अधिक दिखाई पड़ती हो, परन्तु अन्त में उसका नाश हो जाता है। जैसे दस-बारह वर्ष की कोई कन्या हो और उसे क्षयरोग हो गया, तो वह युवती होने से पहले ही मर जाएगी। वैसे ही जिसकी भक्ति बिना माहात्म्य की हो, वह भी परिपक्व हुए बिना ही धीरे-धीरे नाश हो जाती है। और, जिसके हृदय में माहात्म्यसहित भगवान की भक्ति हो, और अन्य कल्याण-कारी गुण न भी हों, तो भी उसमें ये सभी गुण आ जाते हैं। यदि ऐसी माहात्म्यसहित भक्ति जिसके हृदय में नहीं है परंतु शम-दमादिक कल्याण-कारी उत्तम गुण तो हैं, फिर भी वे नगण्य जैसे ही कहे जाएँगे। क्योंकि अंत में उन गुणों का भी नाश हो जाएगा। अतः केवल एक माहात्म्यसहित भक्ति ही हो, तो उसकी वासना भी निवृत्त हो जाती है और जो कल्याणकारी गुण हैं, वे सभी हृदय में आकर निवास करते हैं। इसीलिए **माहात्म्यसहित भगवान की भक्ति ही वासना को मिटाने का अतिश्रेष्ठ एवं अविचल साधन है।'**

तत्पश्चात् स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जीव, ईश्वर तथा अक्षरब्रह्म अन्वयभाव से एवं व्यतिरेकभाव से किस तरह हैं तथा पुरुषोत्तम भगवान का अन्वयभाव और व्यतिरेकभाव किस प्रकार जानना चाहिए?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जीव का जो 'जन्म-मरण को भोगनेवाला' स्वरूप है, उसे जीव का अन्वयरूप जानना, और अछेद्य, अभेद्य तथा अविनाशी जो जीव का स्वरूप है उसे व्यतिरेक समझना।

और, विराट, सूत्रात्मा तथा अव्याकृत इन तीन शरीरों में ऐक्यभाव

से वर्तन करे, वह ईश्वर का अन्वय स्वरूप है तथा पिंड-ब्रह्मांडों से परे सच्चिदानन्द भाव द्वारा जो निरूपण किया गया है, वह ईश्वर का व्यतिरेक स्वरूप जानना।

और, प्रकृतिपुरुष तथा सूर्यचन्द्रादि समस्त देवताओं के प्रेरक स्वरूप है, उसे अक्षर का अन्वय स्वरूप जानना, तथा जिस स्वरूप में पुरुषप्रकृति आदि की कोई उपाधि नहीं रह पाती और एकमात्र पुरुषोत्तम भगवान ही रहते हैं, वह अक्षर का व्यतिरेक स्वरूप जानना।

और, बद्ध जीव तथा मुक्त जीव दोनों के हृदय में साक्षीरूप रहे हैं, फिर भी बद्धता और मुक्तता, जिसका स्पर्श नहीं कर सकती है; वैसे ही ईश्वर के एवं अक्षर के हृदय में साक्षीरूप से निवास करने पर भी जो उन दोनों की उपाधि से रहित है, वह पुरुषोत्तम का अन्वय स्वरूप है; और जीव, ईश्वर तथा अक्षर से परे जो अक्षरातीत स्वरूप है, वह **पुरुषोत्तम का व्यतिरेक स्वरूप** जानना। इस प्रकार, अन्वय तथा व्यतिरेक भाव समझना।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान के दर्शन, नामस्मरण और स्पर्श की जो महिमा है, वह भगवान के भक्त के लिए है, या समस्त मनुष्यों के लिए है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'दर्शनादि साधना में तो अन्तर रहता ही है। उसे बताते हैं कि जब भगवान का दर्शन करनेवाला एकाग्र दृष्टि से मन स्थिर करके दर्शन करता है, तो वह दर्शन ऐसा होता है कि अगर उसका विस्मरण करना चाहे, फिर भी वह विस्मृत नहीं होता। इसी प्रकार, मन पिरोकर यदि त्वचा से भगवान का स्पर्श करे, तो उस स्पर्श का भी विस्मरण नहीं होता। जैसे भागवत में भगवान के प्रति गोपांगनाओं के यह वचन हैं कि 'हे भगवन्! जिस दिन से आपके चरणों का स्पर्श हुआ है, उस दिन से हमें बिना आपके संसार के अन्य सुख भी विष के समान लगते हैं।' इस प्रकार समस्त ज्ञानेन्द्रियों से जो भी दर्शन, स्पर्श और श्रवणादि क्रियाएँ की जाती हैं, वे यदि मन पिरोकर की गईं, तो वे किसी भी समय विस्मृत नहीं होतीं। जैसे अज्ञानी जीव ने मन लगाकर पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो-जो विषय भोगे हों, उन्हें भुलाने पर भी उसे उनका विस्मरण नहीं होता। वैसे ही जो पुरुष मनोयोगपूर्वक दर्शनादि करते हैं, उन्हीं को दर्शन आदि समझना चाहिए, दूसरों

को तो दर्शन हुआ भी है, तो भी वह न होने जैसा ही है, क्योंकि जिस समय उसने दर्शन किया था, उस समय उसका मन किसी दूसरी जगह ही भटक रहा था। अतः ऐसा दर्शन तो एक दिन में या पाँच दिन में या पचास दिन में अथवा छः महीनों में तथा एक वर्ष में अथवा पाँच वर्ष में अवश्य विस्मृत हो जाएगा, परन्तु अन्त तक वह नहीं रहेगा।

अतः माहात्म्य समझकर अतिशय प्रीतिपूर्वक मनसहित दृष्टि आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो पुरुष (भगवान का) दर्शन-स्पर्शादि करता है, उसी को उनका फल मिलता है और दूसरे मनुष्य को तो परमेश्वर के जो दर्शनादि होते हैं, उनका संस्कारफल होता है। यथार्थ महिमा उसके लिए है, जो पूरे मनोयोग के साथ दर्शनादि करता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥5॥ ॥83॥

वचनामृत 6 : प्रत्येक अवस्था में निहित दो-दो अवस्थाओं और वाणी के प्रकार

संवत् 1877 में श्रावण कृष्णा दशमी (2 सितम्बर, 1820) को श्रीजीमहाराज श्रीसारंगपुर ग्रामस्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए हुए थे। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

उस समय नित्यानन्द स्वामी ने प्रश्न किया कि 'एक-एक अवस्था में अन्य दो-दो अवस्थाएँ कैसे रही हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह जीवात्मा जिसमें रहकर विषयभोगों को भोगती है, उसे 'अवस्था' कहते हैं। वह अवस्था जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति नाम से तीन प्रकार की है। उनमें जो जाग्रत अवस्था है, वह वैराज-पुरुष की स्थिति-अवस्था का कार्य है। वह सत्त्वगुणात्मक है और नेत्र-स्थान में रही है। ऐसी जाग्रत अवस्था में विश्वाभिमानी[3] नामक जीवात्मा स्थूल देह के अभिमान के साथ दस इन्द्रियों और चार अन्तःकरणों द्वारा विवेकपूर्वक

3. स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण नामक तीन देहों के अभिमान से जीव का विश्व, तैजस और प्राज्ञ नाम से तीन नामाभिधान हुआ है। जो कि वास्तविक नहीं, किन्तु उपाधि के कारण है। इसीलिए यहाँ 'विश्वाभिमानी' शब्द का प्रयोग किया है।

यथार्थरूप से अपने पूर्वकर्मों के अनुसार बाह्य शब्दादि पंचविषयों के भोगों को भोगती है। उसे सत्त्वगुणप्रधान जाग्रत अवस्था कहते हैं। उस जाग्रत अवस्था में यदि जीवात्मा भ्रान्त रहकर अयथार्थ रूप से बाह्य विषयभोगों को भोगती है, तो उसे जाग्रत अवस्था में स्वप्न अवस्था कहते हैं। यदि वह (जीवात्मा) जाग्रत अवस्था में शोक तथा श्रमादि के कारण विवेक रहित होकर जब बाह्य विषयभोगों को भोगती है, तब उसे जाग्रतावस्था में सुषुप्ति कहते हैं। तथा स्वप्नावस्था तो हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति-अवस्था का कार्य है। ऐसी रजोगुणात्मक अवस्था कंठ-स्थान में रही है। उस अवस्था में तैजसाभिमानी नामक जीवात्मा सूक्ष्म देह के अभिमानसहित रहती हुई इन्द्रियों तथा अन्तःकरणों द्वारा पूर्वकर्मों के अनुसार सुख-दुःखरूपी वासनामय भोगों को भोगती है, उसे रजोगुणप्रधान स्वप्नावस्था कहते हैं। इस स्वप्नावस्था में यह जीवात्मा जब जाग्रतावस्था की तरह ही विवेकपूर्वक जानते हुए वासनामय भोगों को भोगती है, तब इसे स्वप्नावस्था में जाग्रत अवस्था कहा जाता है। उस स्वप्नावस्था में विदित वासनामय भोगों को भोगती हुई भी वह जीवात्मा यदि जडता के कारण उन्हें न जान पाए, तो इसे स्वप्नावस्था में सुषुप्ति कहते हैं। यह सुषुप्ति अवस्था ईश्वर की प्रलयावस्था का कार्य है, और तमोगुणात्मक है और हृदय-स्थान में रहती है। ऐसी यह सुषुप्ति-अवस्था जब जीव में आती है, तब इन्द्रियों और अन्तःकरण की वृत्तियाँ, विषयभोग की वासना तथा ज्ञातृत्व[4] एवं कर्तृत्व[5] ये समस्त कारणदेह में विलीन हो जाते हैं। और, इस कारणदेह की अभिमानी प्राज्ञ नामक जीवात्मा है, जिसकी प्रधानपुरुषरूप सगुणब्रह्म[6] के अल्प सुख में अतिशय लीनता हो जाती है, उसे तमोगुणप्रधान सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। और, इस सुषुप्ति अवस्था में कर्म-संस्कार द्वारा जिस कर्ता-वृत्ति[7] की उत्पत्ति होती है, उसे [8]सुषुप्ति में स्वप्न कहते हैं; और जाग्रत एवं स्वप्नावस्था में उत्पन्न होनेवाली पीड़ा के

4. जीव विषयों को जानता है, वही उसका ज्ञातृत्व है।
5. जीव अहंवृत्ति के कारण विषयों के लिए कर्म करता है, वही उसका कर्तृत्व है।
6. सगुणब्रह्मरूप प्रधानपुरुष।
7. कर्म करनेवाला जो जीव है, इस प्रकार की वृत्ति की।
8. रजोगुणप्रधान।

ताप से, पुनः सुषुप्ति अवस्था के सुख में प्रवेश करनेवाली जो कर्तावृत्ति है, उसके प्रतिलोम-भाव के ज्ञान को सुषुप्ति में जाग्रत अवस्था कहते हैं। इस प्रकार एक-एक अवस्था में अन्य दो-दो अवस्थाएँ रहती हैं। इन अवस्थाओं के भेद का ज्ञान जीवात्मा को जिसके द्वारा होता है तथा उस-उस अवस्था में उस जीव को कर्मानुसार जो फल प्रदान करता है, उसे तुर्य पद, अन्तर्यामी, द्रष्टा, ब्रह्म तथा परब्रह्म कहते हैं।'[9]

फिर नित्यानन्द स्वामी ने पुनः प्रश्न किया कि 'परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी नामक जो चार वाणियाँ हैं, उन्हें किस प्रकार समझा जाए ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह वार्ता तो बहुत विस्तृत है और अत्यन्त सूक्ष्म भी है। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में श्रीकृष्ण भगवान ने उद्धवजी से यह वार्ता कही है। उसको संक्षिप्तरूप से कहते हैं, उसे सुनिए। प्रथम उत्पत्तिकाल में पुरुषोत्तम भगवान ने वैराजपुरुष के मस्तक में स्थित सहस्र-दल कमल में प्रवेश करके अक्षरब्रह्मात्मक नाद किया। फिर वह नाद सुषुम्णा मार्ग द्वारा विराटपुरुष के नाभिकन्द में व्याप्त होकर महाप्राण सहित वहाँ से बहुत ऊँचा चला गया। इससे उन विराटपुरुष का अधोमुख नाभिपद्म ऊर्ध्वमुख हो गया। इस प्रकार, उन विराटपुरुष के नाभिकन्द में जो नाद हुआ, उसे परावाणी कहते हैं। उसी परावाणी को स्वयं भगवान ने वेद की उत्पत्ति के लिए बीजरूप से प्रकाशित किया है। वह तेज के प्रवाहरूप है और अर्ध-मात्रारूप है। इसके बाद वही परावाणी वहाँ से विराट के हृदयाकाश में पहुँचकर पश्यन्ती नामवाली हुई। वहाँ से वह कंठप्रदेश में पहुँचकर मध्यमा नाम से विख्यात हुई। वहाँ से वह विराट के मुख में पहुँचकर वैखरी संज्ञा को प्राप्त हुई और अकार, उकार तथा मकार नामक तीन वर्णों का रूप ग्रहण करके प्रणव-रूप हो गई। बाद में बावन अक्षरों का स्वरूप ग्रहण करके उसने चार वेदों का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार विराटपुरुष में परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी नामक चार वाणियाँ समझनी चाहिए।

अब इस जीव की देह में भी चार वाणियाँ कहते हैं, उन्हें सुनिए। वे ही पुरुषोत्तम भगवान उस जीव में अन्तर्यामीरूप से रहते हैं। वे जीव की तीनों अवस्थाओं में स्वतन्त्र होते हुए अनुस्यूत हैं। वही भगवान जीव के कल्याण

9. यहाँ ब्रह्म और परब्रह्म दोनों को अलग तत्त्व के रूप में निर्देशित किया गया है।

के लिए पृथ्वी पर अवतार धारण करते हैं। तब वह जीव उन **भगवान के स्वरूप तथा उनके धाम, गुणों और ऐश्वर्यों का प्रतिपादन करता है तथा उनके चरित्रों का वर्णन करता है, तथा आत्मा-अनात्मा का विवेक प्रस्तुत करता है, तथा जीव, ईश्वर, माया, ब्रह्म और परब्रह्म के भेदों को पृथक्-पृथक् करके दिखलाता है, उस वाणी को परावाणी कहते हैं।** और, जो मायिक पदार्थों तथा विषयों को विवेकपूर्वक यथार्थ रूप से कह दिखाती है, उसे वैखरी वाणी कहा जाता है। पदार्थों तथा विषयों को भ्रान्ति सहित जो अयथार्थ रूप से कह दिखाती है, उसे मध्यमा वाणी कहते हैं। तथा उन पदार्थों और विषयों को जो उलट-सुलट करके दिखाती है, जिसमें कुछ भी समझने में न आये, उसे पश्यन्ती वाणी कहते हैं। इस प्रकार जीव की जाग्रत अवस्था में इन चारों वाणियों के रूप समझ में आते हैं। तथा स्वप्नावस्था एवं सुषुप्ति-अवस्था में तो समाधि की स्थिति रखनेवाले से ही इन चारों वाणियों के स्वरूप समझे जाते हैं, किन्तु अन्य किसी की समझ में वह नहीं आते हैं।'

॥ इति वचनामृतम् ॥6॥ ॥84॥

वचनामृत 7 : नैमिषारण्य क्षेत्र

संवत् 1877 में श्रावण कृष्णा एकादशी (3 सितम्बर, 1820) को रात्रि के समय श्रीजीमहाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने श्रीमद्भागवत पुराण के प्रथम स्कन्ध की कथा का वाचन आरम्भ कराया था। उसमें ऐसी वार्ता आई कि 'जहाँ मनोमय चक्र की धार कुंठित हो जाए, वहाँ नैमिषारण्य क्षेत्र समझना चाहिए।' इस वार्ता को सुनकर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज! यह मनोमय चक्र क्या है, तथा इसकी धार किसे समझना चाहिए?'

तब श्रीजीमहाराज बोले 'मनोमय चक्र मन को समझना चाहिए और इसकी धार दस इन्द्रियाँ हैं। उस **इन्द्रियरूपी मन की जो धार है, वह जिस**

स्थान पर घिस जाने से कुंठित हो जाए, उसे नैमिषारण्य क्षेत्र जानना। उस स्थान पर जो कोई जप, तप, व्रत, ध्यान, पूजा आदि शुभ सुकृत का आरम्भ करता है, तो दिन-प्रतिदिन उनकी वृद्धि होती है। ऐसा जो नैमिषारण्य क्षेत्र है, वह जिस स्थान पर भगवान के एकान्तिक साधु रहते हों, वहीं पर जानना चाहिए। और, जब मनोमयचक्र की इन्द्रियरूपी धार कुंठित हो जाए, तब शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक पंचविषयों में कतई प्रीति नहीं रहती है। और, जब कोई रूपवती स्त्री दीख पड़े अथवा अतिसुन्दर वस्त्र-अलंकारादि वस्तुएँ दिखाई पड़ें, तब देखनेवाले के मन में अत्यन्त अभाव हो जाता है, परन्तु उनमें इन्द्रियों की वृत्ति नहीं जुड़ती है। जैसे अति तीक्ष्ण नोकदार बाण को जिस पदार्थ को लक्ष्य करके मारा जाए, तो वह उसे बेधकर अन्दर प्रवेश कर जाता है और पुनः निकाले जाने पर भी वह नहीं निकलता। और, यदि उस बाण में से उसका नुकीला फलक निकाल लिया जाए, फिर थोथे को लेकर दीवार पर घाव करें, तो वहाँ से उखड़कर वह नीचे गिर जाता है, किन्तु पूर्ववत् उसे बेध नहीं सकता। वैसे ही मनोमय चक्र की धाररूपी इन्द्रियाँ जब कुंठित हो जाती हैं, तब चाहे कितना ही श्रेष्ठ विषय हो, उसमें इन्द्रियों की वृत्ति नहीं जमती और थोथी धार की तरह इन्द्रियों की वृत्ति विषय की ओर से वापस हटे; ऐसा वर्तन हो, तब यह मान लेना चाहिए कि मनोमयचक्र की धार कुंठित हो गई है। **इस प्रकार का सन्त के सत्संगरूप नैमिषारण्य क्षेत्र जहाँ दिखाई पड़े, वहाँ कल्याण की इच्छा करना तथा वहीं पर अत्यन्त दृढ़ मन करके बसना।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥7॥ ॥85॥

वचनामृत 8 : ईर्ष्या का स्वरूप

संवत् 1877 में श्रावण कृष्णा द्वादशी (4 सितम्बर, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के राज-भवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

उस समय चैतन्यानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज ! ईर्ष्या का क्या रूप

है ?' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसके हृदय में मान होता है, उस मान में से ईर्ष्या उत्पन्न होती है। और, क्रोध, मत्सर तथा असूया की भी उत्पत्ति मान से होती है। ईर्ष्या का रूप यह है कि 'अपने से जो श्रेष्ठ हों, फिर भी जब उनका भी सम्मान होता है, तब उसे न देख सके, ऐसा जिसका स्वभाव हो, उसके बारे में यूं समझना कि इसके हृदय में ईर्ष्या है। और यथार्थ ईर्ष्या करनेवाला तो किसी की भी महत्ता को नहीं देख सकता।' ।

॥ इति वचनामृतम् ॥8॥ ॥86॥

वचनामृत 9 : युग के धर्म की प्रवृत्ति; स्वधर्मरूपी स्थान

संवत् 1877 में श्रावण कृष्णा त्रयोदशी (5 सितम्बर, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज अपने भक्तजनों को सुख देने के लिए सारंगपुर से चलकर श्रीकुंडल ग्राम में पधारे। वहाँ वे अमरा पटगर के पश्चिमी कमरे के बरामदे में पलंग पर उत्तर की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर श्वेत पगड़ी बाँधी थी, सफ़ेद पिछौरी ओढ़ी थी और श्वेत चुस्त पाजामा धारण किया था। तथा श्वेत अंगरखा धारण किया था। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान से आए हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! व्यक्ति के हृदय में युग के धर्मों की प्रवृत्ति रहती है, उसका क्या कारण है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'युगधर्मों के प्रवर्तन का कारण (सत्त्वादिक) गुण है। जब शुद्ध सत्त्वगुण प्रवर्तमान हो, तब हृदय में सतयुग की प्रवृत्ति रहती है। जब सत्त्वगुण तथा रजोगुण दोनों प्रवर्तमान हो, तब त्रेतायुग की प्रवृत्ति होती है। जब रजोगुण और तमोगुण प्रवर्तमान हों, तब द्वापरयुग की प्रवृत्ति होती है। और, जब अकेला तमोगुण प्रवर्तमान हो, तब उसके हृदय में कलियुग की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार 'गुणों' द्वारा युगों की प्रवृत्ति रहती है।'

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पुनः पूछा, 'गुणों की प्रवृत्ति होती रहने का क्या कारण है ?'

उत्तर के रूप में श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'गुणों की प्रवृत्ति होती रहने का कारण कर्म है। जैसे पूर्वकर्म होते हैं, वैसे ही गुणों की प्रवृत्ति होती रहती है। जिनका रजोगुणी तथा तमोगुणी स्वभाव हो, वे यदि एकाग्र होकर भगवान

का ध्यान करने लगें तो भी वह नहीं हो पाता। इसलिए, ऐसे पुरुषों को तो आत्मनिष्ठा तथा भगवान की महिमा का बल रखना और यह समझना चाहिए कि 'मैं तो आत्मा हूँ, इसलिए मुझमें मायाकृत उपाधि नहीं हो सकती, मैं तो गुणातीत हूँ।'

तथा भगवान की महिमा का विचार इस प्रकार करना चाहिए कि 'अजामिल यद्यपि महापापी था, फिर भी उसने अपने पुत्र के योग से 'नारायण' ऐसा नाम-उच्चार किया, तो वह समस्त पापों से मुक्त हो गया और उसे परमपद की प्राप्ति हो गई। परन्तु मुझे तो भगवान प्रत्यक्ष रूप से मिले हैं और रात-दिन मैं उन भगवान का नाम-स्मरण किया करता हूँ, इसलिए मैं तो कृतार्थ हुआ हूँ।' इस प्रकार की धारणा करके आनन्दमग्न रहना चाहिए। लेकिन जिसमें तमोगुण एवं रजोगुण के भाव रहते हों, वह ध्यान-धारणा के लिए आग्रह न रखे। उसे तो जैसा हो सके, वैसा भजन-स्मरण करना चाहिए। और, देह से भगवान तथा सन्त की परिचर्या श्रद्धासहित करनी चाहिए, तथा अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए स्वयं को पूर्णकाम मानना चाहिए।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा, 'अनेक तामसिक कर्मों के कारण जिसके हृदय में यदि कलियुग की प्रवृत्ति रहती हो, तो वह किसी उपाय द्वारा टल सकती है या नहीं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, **'यदि उसे सन्त तथा परमेश्वर के वचनों में अतिशय श्रद्धा हो तथा अत्यन्त दृढ़ विश्वास हो, तो भले ही उसके कैसे भी तामसिक कर्म क्यों न हो, उनका भी नाश हो जाता है; और कलियुग के धर्म मिटकर सतयुग के धर्म का प्रवर्तन होने लगता है। इसलिए, कोई अति शुद्ध भावना से सत्संग करता है, तो किसी भी प्रकार का दोष उसके हृदय में नहीं रहता और वह अपने जीवनकाल में ही ब्रह्मरूप हो जाता है।'**

फिर स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने पूछा, 'स्थान किसे कहते हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'चार वर्णों और चार आश्रमों का जो अपना-अपना धर्म है, उसे **'स्थान'**[10] जानना। यद्यपि आप त्यागी हैं, फिर भी त्याग-

10. 'स्थान' का अर्थ यहाँ कोई मठ, मंदिर अथवा सम्प्रदाय तक सीमित नहीं है, परंतु धर्मनिष्ठा ही श्रीहरि के मतानुसार सच्चा 'स्थान' है।'

पक्ष का परित्याग करके यदि गृहस्थ के मार्ग पर चलने लग जाएँ, तो आप स्थानभ्रष्ट हो गए, ऐसा मानना। अतएव, चाहे कैसा भी आपत्काल क्यों न आ जाए और हम आज्ञा करें, तो भी आपको अपने धर्म से नहीं हटना है। और, जिस प्रकार कोई गृहस्थ वस्त्रों तथा अलंकारों द्वारा हमारी पूजा करने का इच्छुक हो, वैसी इच्छा आपको नहीं करनी चाहिए। आपको तो पत्र, पुष्प, फल और जल द्वारा पूजा करनी चाहिए, तथा ऐसी पूजा करके ही आनन्द मानना चाहिए। किन्तु अपने धर्म से चलायमान होकर परमेश्वर की पूजा करना उचित नहीं है। इसलिए, सबको अपने धर्म का पालन करते हुए जितनी संभव हो, उतनी पूजा करनी चाहिए। यह हमारी आज्ञा है, इसका दृढ़ता के साथ पालन करना।'

॥ इति वचनामृतम् ॥9॥ ॥87॥

वचनामृत 10 : आत्मदृष्टि - बाह्यदृष्टि

संवत् 1877 में श्रावण कृष्णा चतुर्दशी (6 सितम्बर, 1820) को श्रीजीमहाराज ने समस्त साधुमंडल के साथ कुंडल ग्राम से प्रस्थान किया और मार्ग में वे खांभड़ा गाँव में आए। वहाँ वे पीपलवृक्ष के नीचे ठहरे। इसके पश्चात् गाँव के लोगों ने पलंग लाकर वहाँ बिछाया और उस पर श्रीजीमहाराज को बैठाया। उस समय श्रीजीमहाराज श्वेत वस्त्र धारण किए हुए थे। उनके चारों ओर साधु तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

साधु कीर्तन कर रहे थे। कीर्तन को बंद कराके श्रीजीमहाराज ने गाँववालों से कहा, 'इस संसार में धर्मवान् और अधर्मी दो प्रकार के मनुष्य हैं। धर्मवान् मनुष्य चोरी, परस्त्री संग और चुगली करना आदि समस्त पापों का परित्याग कर और परमेश्वर से डरकर धर्म-मर्यादा के अनुसार चलते हैं। संसार में अन्य मनुष्य या अपने कुटुम्बीजन हो, वे सब उनका विश्वास करते हैं। और, वे जो कुछ बोलते हैं, वह सभी को सत्य ही प्रतीत होता है। ऐसे धार्मिक पुरुषों को ही सच्चे सन्त का सत्संग रुचिकर लगता है।

और, जो अधर्मी मनुष्य होते हैं, वे चोरी, परस्त्री-संग, मद्यपान, मांस-भक्षण, धर्मभ्रष्ट होना और दूसरों को भ्रष्ट करना आदि सभी कुकर्म करने में लगे रहते हैं। और, संसार में कोई भी व्यक्ति उनका विश्वास नहीं करता।

उनके सम्बन्धी भी उनका विश्वास नहीं करते। ऐसे अधर्मी पुरुषों को सच्चे सन्त का सत्संग पसन्द ही नहीं आता, और यदि कोई उस सन्त का सत्संग करता है, तो वे अधर्मी लोग उसका भी द्रोह करने लगते हैं। इसलिए, जो पुरुष आत्मकल्याण के इच्छुक हों, उन्हें अधर्म के मार्ग पर चलना ही नहीं; धर्मवान् पुरुषों के मार्ग पर चलकर सच्चे सन्त का सत्संग करना, ऐसा करने पर निश्चय ही उन जीवों का कल्याण हो जाएगा। इसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं है।' इतनी वार्ता सुनने के बाद गाँव के कितने ही मनुष्यों ने श्रीजीमहाराज का आश्रय ग्रहण कर लिया।

बाद में वहाँ से श्रीजीमहाराज पुनः सारंगपुर पधारे। यहाँ जीवाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में बिछे हुए पलंग पर वे विराजमान हुए। उस समय उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'गोलोक, वैकुंठ, श्वेतद्वीप तथा ब्रह्मपुर आदि जो भगवान के धाम हैं, उन्हें यदि बाह्यदृष्टि से देखा जाए, तो वे बहुत दूर हैं, किन्तु उन्हें आत्मदृष्टि से देखें, तो वे अणु-जितनी भी दूरी पर नहीं हैं। अतः बाह्यदृष्टिवालों की समझ मिथ्या है[11] और आत्मदृष्टिवालों की समझ सत्य है। और, जो साधु इस प्रकार समझता है कि 'मेरे चैतन्य में भगवान सदैव विराजमान रहते हैं। जैसे देह में जीव रहता है, वैसे मेरी आत्मा में भगवान रहते हैं, और मेरा जीव तो शरीर है तथा भगवान मेरे जीव के शरीरी हैं।' और, **जो सन्त अपनी जीवात्मा को स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक तीन शरीरों से पृथक् मानता हो और उसमें भगवान अखंड रूप से विराजमान हैं, ऐसी समझ रखता हो, तो ऐसे सन्त के लिए भगवान अथवा उनका धाम अणुमात्र भी दूर नहीं हैं।** और, ऐसा जो संत है, वह श्वेतद्वीप के मुक्त के समान है। **ऐसे सन्त का दर्शन हुआ तो यह समझ लेना कि 'मुझे साक्षात् भगवान का दर्शन हुआ है।'** ऐसा समझवाला जो सन्त है, वह तो कृतार्थ हो चुका है। और, यदि जिसको ऐसी समझ आ न सके, तो जिसे समझ प्राप्त हुई है, ऐसे सन्त की संगत में अपना

11. अंतर्दृष्टिवालों की तुलना में बाह्यदृष्टिवालों की स्थिति तथा समझ अल्प गुणकारी है, ऐसा मिथ्या शब्द का अर्थ समझना चाहिए।

जीवन न्योच्छावर करे, और वह सन्त यदि उसे नित्य पाँचबार जूतियों से प्रताड़ित करें, तो भी वह इस अपमान को सहन करता हुआ सन्त के संग को छोड़ न सके, जैसे अफ़ीम का व्यसनी अफ़ीम को नहीं छोड़ सकता, वैसे ही वह भी किसी भी तरह से सन्त का सत्संग नहीं छोड़ सकता ऐसी समझवाले को पूर्वोक्त सन्त के समान ही मानना। और, जैसी प्राप्ति उन महान सन्त को होती है, वैसी ही प्राप्ति इस (शरणागत) को होती है, जो सन्त-समागम में पड़ा रहता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥10॥ ॥88॥

वचनामृत 11 : पुरुषप्रयत्न

संवत् 1877 में श्रावण कृष्णा अमावस्या (7 सितम्बर, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'शास्त्रों में पुरुषप्रयत्न (पुरुषार्थ) करने को कहा है। उस पुरुषप्रयत्न के द्वारा कितना काम होता है तथा परमेश्वर की कृपा द्वारा कितना काम होता है?'

इसका उत्तर देते श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस पुरुष ने सद्गुरु तथा सत्-शास्त्रों के वचनों द्वारा दृढ़ वैराग्य प्राप्त किया हो, और जो दृढ़ श्रद्धावान हो, और जिसने आठ प्रकार के ब्रह्मचर्य का अत्यन्त दृढ़ता के साथ पालन किया हो, और जो अहिंसा-धर्म में दृढ़ प्रीति रखनेवाला हो तथा जिसकी आत्मनिष्ठा भी अतिपरिपक्व हो गई हो, उसकी जन्म-मरण से निवृत्ति हो जाती है। जैसे धान के ऊपर का छिलका उतर जाने पर फिर से धान नहीं उगता, वैसे ही पहले कहे हुए गुणों से युक्त पुरुष भी अनादि अज्ञानरूप माया से मुक्त हो जाता है तथा जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है और आत्मसत्ता को प्राप्त करता है। **इतना तो पुरुषप्रयत्न से होता है। और, परमेश्वर की कृपा भी उस पर ही होती है, जो ऐसे लक्षणों से युक्त हो। और, जब परमेश्वर की कृपा होती है, तभी वह भगवान का**

एकान्तिक भक्त हो जाता है। और, श्रुति में कहा गया है कि **'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।'**[12] इस श्रुति का अर्थ यह है कि अंजनरूप माया से रहित पुरुष भगवान की तुल्यता को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् जिस प्रकार भगवान को शुभाशुभ कर्मों का बन्धन नहीं होता है, ठीक वैसे वह मुक्त पुरुष भी शुभ-अशुभ कर्मों के बन्धन में नहीं फँसता। और, जैसे लक्ष्मीजी कभी स्नेहवश भगवान के स्वरूप में लीन हो जाती हैं और कभी अलग रहकर भगवान की सेवा में तत्पर रहती हैं। इसी प्रकार, वह भक्त भी अतिशय स्नेहपूर्वक कभी तो भगवान में लीन हो जाता है और कभी-कभी मूर्तिमान रूप से भगवान की सेवा में रहता है। और, जैसे भगवान स्वतन्त्र हैं, वैसे ही वह भगवद्भक्त भी स्वतंत्र होता है। इस प्रकार का सामर्थ्य उसे भगवान की कृपा से प्राप्त होता है।'

तब नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जिसमें ये समस्त अंग सम्पूर्ण रूप से होते हैं, उस पर तो भगवान की कृपा होती है, लेकिन यदि किसी में इन अंगों में से किसी अंग की न्यूनता रहे, तो उसकी कैसी गति होती है?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि **'वैराग्य, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, अहिंसा-धर्म तथा आत्मनिष्ठा में से यदि किसी अंग में न्यूनता हो, तो वह पुरुष भगवान के आत्यन्तिक मोक्ष जो अक्षरधाम, उसको नहीं पाता। इसे छोड़कर वह दूसरे भगवान के धामों को पाता है। अथवा वह अधिक सवासनिक होने पर देवलोक को पाता है; जिस देवलोक को मोक्षधर्म में भगवान के धाम की तुलना में नरकतुल्य बताया गया है।** इस प्रकार जीव देवता से मनुष्य होता है और मनुष्य में से पुनः देवता हो जाता है!

तथा **'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'**[13] इस श्लोक का भी यही अर्थ है कि भगवान का जो भक्त सवासनिक होता है, वह नरक तथा चौरासी लाख योनियों में नहीं जाता, परन्तु देवलोक तथा मनुष्यलोक में उसे अनेक जन्म धारण करने पड़ते हैं। फिर जब वह पूर्वोक्त वैराग्य आदि लक्षणों से युक्त हो जाता है, तभी भगवान की कृपा का पात्र होता है और बाद में भगवान का एकान्तिक भक्त होकर भगवान के गुणातीत अक्षरधाम को प्राप्त

12. मुण्डकोपनिषद् : 3/1/3
13. गीता : 6/45

कर लेता है। इसलिए, एक जन्म अथवा अनेक जन्मों में जिस दिन पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त होकर जब वह अत्यन्त निर्वासनिक होगा, तभी भगवान की कृपा का पात्र बनेगा तथा आत्यन्तिक मोक्ष को प्राप्त करेगा, उसके बिना उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।'

फिर नृसिंहानन्द स्वामी ने पूछा कि 'क्या ऐसा कोई उपाय है कि जिससे इस जीवन में ही सभी क़सर मिट जाए?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'यदि मुमुक्षु सावधान होकर अपनी साधना में जुट जाए, तो इसी जीवन में सब क़सर मिट सकती है। यदि देहपर्यन्त क़सर न मिटी हो, तो भी अगर वह अन्त समय में निर्वासनिक हो जाए तथा उसकी भगवान से अत्यन्त प्रीति हो जाए, तो अन्तकाल में भी भगवान की कृपा हो जाती है और वह भगवान के धाम को प्राप्त कर लेता है। इसलिए, एक देह अथवा अनन्त देहों से या अन्तकाल में मृत्यु के बीच एक घड़ी भी रही हो और उस समय भी यदि भगवान में उसकी वृत्ति तीव्रता से जुड़ गई, तो उस भक्त में किसी भी प्रकार की क़सर नहीं रहती।'

॥ इति वचनामृतम् ॥11॥ ॥89॥

वचनामृत 12 : आत्मविचार

संवत् 1877 में भाद्रपद शुक्ला प्रतिपदा (8 सितम्बर, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। वे श्वेत वस्त्र धारण किए हुए थे। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय निर्विकारानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'साधु में कौन-से गुण अखंड रहते हैं और कौन-से गुण आते-जाते हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'एक तो आत्मनिष्ठा, दूसरा स्व-धर्म तथा तीसरा भगवान के स्वरूप का निश्चय, ये तीन गुण तो साधु में निरंतर रहते हैं। अन्य गुण आते भी हैं और जाते भी हैं, परन्तु ये तीन गुण तो उन सन्त में अखंड बने रहते हैं।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'यदि देह और आत्मा की भिन्नता

को समझ लिया हो, तब भी उसे भूलकर जीव पुनः देहाभिमानी क्यों हो जाता है?'

तब श्रीजीमहाराज ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि 'देह और आत्मा की भिन्नता को एक बार यदि अच्छी तरह समझ लिया हो, तो वह पुनः विस्मृत नहीं होती। और, ऐसा यदि माने कि मैं देह हूँ, तो भी देह को अपना रूप नहीं माना जा सकता। और, भगवान सम्बंधी निश्चय भी एक बार सुदृढ़ हो गया, तो पुनः मिटाने पर भी वह नहीं मिटता। कभी-कभी उसे मन में ऐसा होता है कि आत्मबुद्धि मिटकर देहबुद्धि आ जाती है, किन्तु यह मन का मिथ्या भ्रम है। क्योंकि उसे देहाभिमान तो उदित ही नहीं होता। और, ऐसा जो परिपक्व ज्ञानी होता है, उसे आत्मा का ही अभिमान दृढ़ रहता है। वह अपनी आत्मा को ब्रह्मरूप मानता है; तथा वह यह भी मानता है कि उस ब्रह्म में परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान अखंड रूप से विराजमान हैं। एवं उसे उन भगवान के स्वरूप का निश्चय भी निरंतर बना रहता है।'

पश्चात् स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने पूछा कि 'अपनी आत्मा के सम्बंध में किस प्रकार विचार करना चाहिए?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जब द्रष्टा जीवात्मा अन्तःकरण के सामने देखता है, तब बाह्य स्थूल शरीर एवं उसके सम्बंधी समस्त विषय विस्मृत हो जाते हैं। अन्तःकरण एवं द्रष्टा इन दोनों के बीच जो विचार बना रहता है, उस विचार के द्वारा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि के रूपों को जान लेना, बाद में विचार की दृष्टि से अन्तःकरण के संकल्पों के सामने देखते रहना। इस तरह देखते-देखते जब संकल्पमात्र स्थिर हो जाए, तब भगवान की मूर्ति का ध्यान करना। और, जब तक संकल्पों का बल बना रहे तब तक उन संकल्पों के सामने देखते रहना, किन्तु ध्यान नहीं करना।

और जब स्थूल देह में पंच ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर अभिमुख होती हैं, तब विचार को दो प्रकार में बाँट देना : एक तो यह कि इन्द्रियाँ जिन विषयों में आसक्त हो गई हैं, उन विषयों के सम्बंध में विचार करना। तथा दूसरा प्रकार यह है कि इन्द्रियों के गोलक में जो द्रष्टा है, उस आत्मा परक विचार करना। ऐसा करने से विषयों के विचार तथा द्रष्टा सम्बंधी आत्मापरक विचार दोनों का एकीकरण हो जाता है। इसके पश्चात् जीव की

वृत्ति उन विषयों से बिल्कुल टूट जाती है। यदि इस प्रकार बिना विचार के ही वृत्ति को विषयों से जबरन हटाया गया, तो वृत्तियों में रही विषयों की आसक्ति मिटेगी नहीं। परन्तु यदि वृत्तियों को विषयों से विचारपूर्वक लौटा लिया गया, तो उसकी आसक्ति पुनः विषयों में रहेगी ही नहीं!

अतः जब तक इन्द्रियों की वृत्ति विषयों से प्रीति करने में लगी रहे, तब तक भगवान का ध्यान नहीं करना, और जब इन्द्रियों की वृत्ति स्थिर हो जाए, तब भगवान का ध्यान करना। जब द्रष्टा स्थूल देह में बरतता हो, तब स्पष्ट वर्गीकरण कर डालना चाहिए कि स्थूल देह में बरतते समय सूक्ष्म देह के संकल्पों की ओर ध्यान देना ही नहीं! परन्तु जब अन्तःकरण के सम्मुख देखना, तब स्थूल देह की ओर से बिल्कुल मुकर जाना। द्रष्टा और दृश्य के मध्य में रहनेवाले विचार द्वारा यह समझना कि, 'द्रष्टा और दृश्य नितान्त भिन्न हैं।' ऐसा विवेक रखकर देह के भावों को देह में और द्रष्टा (चैतन्य) के भावों को चैतन्य में लय कर देना। जैसे कि बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था, स्थूलता, कृशता, जीवन, मरण आदि सब देह के भाव हैं, उन्हें आत्मा में मानना ही नहीं! तथा अछेद्य, अभेद्य, अजर, अमर, ज्ञानरूप, सुख-रूप और सत्तारूप जो आत्मा के भाव हैं; उन्हें कभी भी देह में नहीं समझना। यह आत्मविचार तब तक त्याग न करें, जब तक (मायिक) संकल्पों का बल रहता हो! जैसे कोई राजा बलवान् शत्रु के रहते राजगद्दी पर बैठकर भी सुख नहीं भोग सकता, किन्तु शत्रुमात्र का नाश होने पर ही वह अपने राज्य के वैभवों का उपभोग कर सकता है, वैसे ही भगवान के भक्त को मन तथा इन्द्रियरूपी शत्रुओं द्वारा पीड़ित किए जाने तक पूर्वोक्त विचार की दृढ़ता रखना तथा जब मन और इन्द्रियों के संकल्पों का शमन हो जाए, तब परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान करना।'

॥ इति वचनामृतम् ॥12॥ ॥90॥

वचनामृत 13 : शास्त्र-वचनों में विश्वास; अविचल निश्चय

संवत् 1877 में भाद्रपद शुक्ला द्वितीया (9 सितम्बर, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के राज-भवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। वे श्वेत वस्त्र

धारण किए हुए थे। सभा में उनके समक्ष मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान के स्वरूप का निश्चय होने के बाद यदि वह मिट जाता है, तो उस मुमुक्षु को यथार्थ निश्चय हुआ था या नहीं?' इसके उत्तर में स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी बोले कि 'जिसे अपनी जीवात्मा में निश्चय हुआ हो, वह तो किसी भी तरह नहीं टलता। फिर भी शास्त्रों की रीति जानकर यद्यपि निश्चय कर लिया, तो परमेश्वर यदि ऐसा चरित्र करें कि शास्त्रों में ऐसे चरित्र का कहीं उल्लेख तक न हो, तो उसे देखकर कोई मुमुक्षु का भगवान संबन्धी निश्चय होकर भी मिट जाता है।'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले, 'शास्त्रों में परमेश्वर का सामर्थ्य, उनकी असमर्थता, कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व - आदि अनेक बातें बताई गई हैं। अतः ऐसा कौन-सा चरित्र परमेश्वर ने दिखाया होगा, जो शास्त्रों के विपरीत होगा? जो देखकर उसका निश्चय समाप्त हो गया?इस प्रश्न का उत्तर दीजिए।' तब समस्त मुनि बोले, 'जो शास्त्र-सम्मत न हो, ऐसा तो परमेश्वर का कोई चरित्र नहीं है। इसलिए, हे महाराज! अब यह बताइए कि भगवान का निश्चय होने के बाद भी क्यों मिट जाता है?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा, 'जिसे भगवान का निश्चय होता है, वह शास्त्रों के द्वारा ही होता है, क्योंकि शास्त्रों में परमेश्वर के लक्षण भी कहे होते हैं और सन्त के लक्षण भी लिखे होते हैं। अतः शास्त्र के द्वारा जो निश्चय होता है, वही अविचल रहता है, किन्तु बिना शास्त्र के अपने मन से ही निश्चय किया हो, तो वह निश्चय मिट जाता है। और, धर्म की प्रवृत्ति के कारण भी शास्त्र ही हैं। जिन्होंने शास्त्रों का कभी भी श्रवण नहीं किया है, ऐसे जीवों में भी माता, बहन, पुत्री और स्त्री सम्बंधी विवेक-द्योतक धर्म की मर्यादा आज तक चली आ रही है, उसके कारण भी शास्त्र ही हैं। क्योंकि सर्व प्रथम किसी ने शास्त्रों में से ही ऐसी बात सुनी है, जो परम्परा द्वारा सभी लोगों में प्रचलित हुई है। इसलिए, जिसे भगवान सम्बंधी निश्चय होकर भी मिट जाता है, उसे शास्त्रवचनों में विश्वास ही नहीं है। वह तो मनमानी बात करनेवाला है और नास्तिक है। जिसे शास्त्रों में प्रतीति होती है, वह कभी परमेश्वर से विमुख होता ही नहीं। क्योंकि शास्त्रों में भगवान के अनेक

प्रकार के चरित्र हैं। अतः परमेश्वर चाहे जैसे चरित्र करें, फिर भी वे शास्त्रों से विपरीत होते ही नहीं। अतः जिसे शास्त्र-वचनों में विश्वास होता है, उसी को भगवान के स्वरूप का निश्चय अटल बना रहता है और कल्याण भी उसी का होता है। वह कभी भी धर्मच्युत होता ही नहीं।'

॥ इति वचनामृतम् ॥13॥ ॥91॥

वचनामृत 14 : प्रमाद तथा मोह

संवत् 1877 में भाद्रपद शुक्ला तृतीया (10 सितम्बर, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के राजभवन के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने काले पल्ले की श्वेत धोती धारण की थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी, मस्तक पर श्वेत पगड़ी बाँधी थी, कानों में पीत पुष्पों के गुच्छ लगाए हुए थे और पाग में पीले फूलों के तुर्रे धारण किए थे। उनके कंठ में पीत पुष्पों का हार नाभि तक लटकता हुआ सुशोभित हो रहा था। श्रीजीमहाराज पश्चिम की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान ने गीता में कहा है कि जो भगवद्भक्त भगवान के वैकुंठादि धामों को प्राप्त होते हैं, वहाँ से उन्हें लौटना नहीं पड़ता।[14] फिर भी, वहाँ से जिसका पतन होता है, वह किस दोष से हुआ करता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान के धाम को प्राप्त करके, वहाँ से कौन गिरा है, हमें एक तो बताइए!'

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने कहा, 'वैकुंठ से भगवान के जय-विजय नामक पार्षदों का पतन हुआ तथा गोलोक से राधिकाजी तथा श्रीदामा को भी पृथ्वी पर लौटना पड़ा।'

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'जय-विजय को भगवान ने इसलिए गिराया कि अपने सच्चे सन्त की महिमा से सब अवगत हों। जैसे 'सनकादि के समान साधु से जो भी द्रोह करेगा, तो वैकुंठादि के समान धामों को प्राप्त करके भी उसका पतन हो जाया करता है।' और जय-विजय तो अपने तीसरे

14. **'यद्गत्वा न निवर्तन्ते।'** गीता : 15/6

जन्म में पुनः भगवान के वैकुंठधाम में पहुँच गए। इसलिए, इन्हें गिरे हुए नहीं कह सकते! वह पतन भगवान की इच्छा से हुआ था। वास्तव में भगवान के धाम से गिरा हुआ उसे कहा जाता है, जिसका भगवान से पुनः किसी भी प्रकार से सम्बंध ही न रहे। और गोलोक से राधिकाजी को लौटना पड़ा, वह भी भगवान की ही इच्छा थी। स्वयं भगवान को भी मनुष्य-देह धारण करके अनंत जीवों का उद्धार करना था तथा अपने कल्याणकारी चरित्रों का विस्तार करना था। इसलिए, कोई राधिकाजी का 'पतन' कहेगा, तो उनके साथ भगवान भी 'गिरे हुए' कहलाएँगे। अतः जो कोई भगवान की इच्छा से ही गोलोक से पृथ्वी पर अवतरित हुआ, तो उसे गिरा हुआ नहीं कहा जाता। वहाँ तो भगवान की इच्छा को ही सर्वोपरि मानना। क्योंकि भगवान की इच्छा से तो अक्षरधाम से भी (कोई मुक्त) पृथ्वी पर देह धारण करे, और जड हो, वह भी चैतन्य हो जाए, और चैतन्य हो, वह जड हो जाए; क्योंकि भगवान तो अत्यन्त समर्थ हैं, वह जो करे, सो हो सकता है। परन्तु, उस भगवान की इच्छा के बिना, भगवान के धाम को प्राप्त कर कोई गिरता ही नहीं है। और जो गिरता है, वह तो आधुनिक अपक्व भक्त होता है, और जिसका साधना-काल से ही पतन होता है, उसे योगभ्रष्ट कहा जाता है, परन्तु वैराग्य, आत्मनिष्ठा, भगवान की भक्ति तथा ब्रह्मचर्यादि धर्म द्वारा जो 'सिद्ध' होते हैं, वे श्वेतद्वीपनिवासी मुक्तजनों के सदृश हैं। उनका कभी भी पतन नहीं होता।'

इतनी वार्ता कहने के बाद श्रीजीमहाराज ने कहा, 'लीजिए, अब हम एक प्रश्न पूछते हैं।' मुनियों ने कहा कि पूछिए।

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'महाभारत के उद्योगपर्व में सनत्सुजात ऋषि ने धृतराष्ट्र से कहा है कि **'प्रमाद और मोह दोनों का त्याग करनेवाला सर्व प्रकार से भगवान की माया को तैर चुका है। और, प्रमाद एवं मोह का नाम ही माया है।'** अतएव, हम भगवान के त्यागी भक्त कहलाते हैं, फिर जिसको प्रमाद और मोह रहते होंगे और वह भक्त यदि भगवान की महिमा के बल को लेकर प्रमाद और मोह को मिटाने में सावधानी नहीं बरतेगा, तो वह भक्त अपने जीवनकाल में कैसा सुख भोगेगा तथा मरकर कैसे सुख को प्राप्त करेगा? यह प्रश्न है।'

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने उत्तर दिया कि 'भगवान का भक्त भगवान

के माहात्म्य का अत्यंत बल ग्रहण करके प्रमाद एवं मोह के न मिटने पर भी उसके सम्बंध में कुछ अधिक चिन्ता नहीं करता।'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'भगवान के जिस भक्त में प्रमाद और मोह रहे हों, उन्हें मिटाने की सावधानी रखता हो, उसमें क्या कमी है? तथा जो उन्हें मिटाने की सतर्कता नहीं रखता उसमें कौन-सी विशेषता है?'

तब स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी बोले कि 'भगवान की महिमा का बल रखता है तथा अपने साधन का बल नहीं रखता, इसलिए वह विशेष ही है।'

तब श्रीजीमहाराज ने संशय किया कि, 'प्रमाद और मोहरूपी शत्रु रहने पर भी जो पुरुष गाफ़िल रहता है, उसे आप श्रेष्ठ कहते हैं, जैसे कोई पतिव्रता स्त्री, अपने पति के भय से पतिव्रता धर्म रखने की आशंका से मन में अत्यन्त सतर्कता रखते हुए किसी पुरुष से हँसकर ताली नहीं लेती। उसके मन में यह डर लगा रहता है कि 'मैं गफ़लत रखूँगी, तो मेरा पति मुझे व्यभिचारिणी समझेगा और मेरी सेवा को अंगीकार नहीं करेगा, जिससे मेरे पतिव्रता धर्म में बाधा पड़ेगी,' ऐसा समझकर सावधान रहती है। वैसे ही जो भक्त ऐसी पतिव्रता की जैसी भक्ति रखता है और प्रमाद तथा मोह को मिटाने की सावधानी बरतता है, उसमें तो आप भारी दोष बताते हैं। जैसे कोई स्त्री उच्छृंखल होकर अपने मनमाने पुरुष के साथ तालियाँ देकर घूमती-फिरती हो तथा पतिव्रता धर्म का पालन करने की सावधानी नहीं बरतती हो, उसकी तरह जो भक्त प्रमाद और मोह को टालने की सावधानी नहीं रखता हो, उसे आप श्रेष्ठ बतलाते हैं। यह आपकी उल्टी समझ नहीं है तो क्या है? और जो गफ़लत रखेगा, फिर वह भगवान का भक्त होगा, तो भी उसके समक्ष प्रमाद तथा मोह नामक दो शत्रु बाधा डाले बिना नहीं रहेंगे। जैसे मदिरा और भांग पीने का नशा जैसे विमुख पुरुष को चढ़ता है, वैसे ही भगवान के भक्त को भी चढ़ता है और वह भी पागल बन जाता है। उसी तरह, मदिरा और भाँगरूपी प्रमाद तथा मोह जैसे विमुख जीव को बाधा डालते हैं, वैसे ही भगवान के भक्त को भी विघ्न उपस्थित करते हैं। विमुख जीव और हरिभक्त में केवल इतना ही अन्तर है कि 'विमुख से ये दोनों शत्रु टलते नहीं, किन्तु भगवान का भक्त यदि सावधानी रखकर उन्हें टालने का उपाय करे, तो इन दोनों शत्रुओं का नाश हो सकता है।' भगवान के भक्त में

इतनी विशिष्टता रहती है। किन्तु जो ग़फ़लत रखता है, वह यदि भगवद्भक्त हो फिर भी अच्छा नहीं है।'

श्रीजीमहाराज ने पुनः प्रश्न किया कि 'स्थूल शरीर कितने तत्त्वों का है और सूक्ष्म शरीर कितने तत्त्वों का है? तथा स्थूल देह में तथा सूक्ष्म शरीर में समान तत्त्व हैं या कुछ न्यूनाधिक हैं?' इन दोनों शरीरों के स्वरूप बताइए।'

स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी इस प्रश्न का उत्तर देने लगे, किन्तु वे यथार्थ उत्तर न दे सके। तब समस्त मुनि बोले, 'हे महाराज! कृपया आप ही इसका उत्तर दीजिए।'

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'स्थूल शरीर पृथ्वी आदि पंचमहाभूत नामक पाँच तत्त्वों का है। और, सूक्ष्म शरीर पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच प्राणों, चार अन्तःकरणों, इन उन्नीस तत्त्वों का है। उस स्थूल शरीर में भी जब सूक्ष्म शरीर अनुस्यूत भाव से रहता है, तभी समस्त क्रियाएँ यथार्थ रूप से होती हैं, परन्तु उसके बिना नहीं होतीं, क्योंकि कान, नेत्र आदि इन्द्रियों के गोलक से युक्त जो स्थूल शरीर है, उसमें उन इन्द्रियों सहित सूक्ष्म शरीर मिलता है, तब उन इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण होता है, परन्तु केवल स्थूल देह के गोलकों से ग्रहण नहीं होता। अतएव, पंचतत्त्वों के स्थूल शरीर में उन्नीस तत्त्वों का सूक्ष्म शरीर अनुस्यूत रूप से मिला है। इसलिए स्थूल देह में भी चौबीस तत्त्व निहित हैं।

और, सूक्ष्म देह में भी पंच तत्त्वों का स्थूल शरीर एकत्वरूप से रहता है, तभी सूक्ष्म देह के भोग सिद्ध होते हैं। और, सूक्ष्म शरीर उन्नीस तत्त्वों का है, उनमें पाँच तत्त्वों का स्थूल शरीर मिलता है, अतः सूक्ष्म शरीर भी चौबीस तत्त्वों का है। और, यदि सूक्ष्म देह में स्थूल देह अवस्थित है, तो सूक्ष्म शरीर में स्त्री का संग करने से स्थूल देह में वीर्यपात हो जाता है। अतः स्थूलदेह एवं सूक्ष्मदेह की जाग्रत अवस्था में एवं स्वप्नावस्था में एकता है।'

मुनि ने पुनः प्रश्न किया कि 'हे महाराज! इस प्रकार स्थूल देह के सदृश ही सूक्ष्म देह हुई, तब जैसे स्थूल देह में कर्मों का बन्धन रहता है, वैसे ही सूक्ष्म देह में भी कर्मबन्धन रहता है या नहीं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'स्थूल देह में अपनेपन की जैसी दृढ़ मान्यता है, वैसी ही मान्यता यदि सूक्ष्म देह में हो, तो स्थूल देह के कर्मों के समान

सूक्ष्म देह में भी कर्म-बन्धन हो जाता है। और, सूक्ष्म देह के कर्मों को जो अल्प कहा गया है, वह तो जीव को हिम्मत दिलाने के लिए कहा गया है। और, जिसे स्थूल देह और सूक्ष्म देह में (कर्तृत्व का) अभिमान नहीं होता, उसे स्थूल या सूक्ष्म शरीरों से किए गए कर्मों का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वह केवल आत्मस्वरूप ही रहता है। ऐसे आत्मज्ञानियों को स्थूल तथा सूक्ष्म देह सम्बंधी कर्मों का बन्धन नहीं होता।

और आत्मज्ञानी इस शरीर से अशुभ कर्म तो करता ही नहीं है, फिर भी प्रारब्ध के अनुसार जो सुख-दु:ख आते हैं, उन्हें वह भोगता है, और इन सुख-दु:खों को भोगता हुआ ऐसा मानता है कि 'मैं इनका भोक्ता नहीं, बल्कि आत्मा हूँ।' और जो अज्ञानी देहाभिमानी हो, उसे स्थूल देह अथवा सूक्ष्म देह सम्बंधी सभी कर्म लगते हैं। तब वह उन कर्मों के अनुसार सुख-दु:ख भी भोगता है। क्योंकि अज्ञानी पुरुष जिस विषय को भोगता है, उसे भोगता हुआ वह स्वयं को देहरूप समझकर ऐसा मानता है कि 'मैं इस विषय का भोक्ता हूँ।' फिर जब उसका अन्त समय आता है, तब उस अज्ञानी जीव को यम के दूत दिखाई पड़ते हैं। उस स्थिति में उसे देह की विस्मृति और मूर्च्छावस्था हो जाती है। इसके पश्चात् यमदूत आकर शरीर से जीव को अलग करते हैं। तब उस जीव को प्रेत का शरीर प्राप्त होता है, जिसके द्वारा वह यमपुरी के कष्टों को भोगता है।

और भगवान के ज्ञानी भक्त को तो अन्त समय में भगवान अथवा उनके सन्त के दर्शन होते हैं। उस जीवात्मा को अन्त समय में देह की विस्मृति हो जाती है और मूर्च्छावस्था होती है, फिर वह शरीर को छोड़कर अलग होता है। तब उस भक्त को भगवान भागवती शरीर प्रदान करते हैं, जिसे धारण कर वह भगवान के धाम में निवास करता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥14॥ ॥92॥

वचनामृत 15 : मुग्धा, मध्या और प्रौढा गोपियाँ

संवत् 1877 में भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी (11 सितम्बर, 1820) को श्रीजीमहाराज श्रीसारंगपुर ग्राम स्थित जीवाखाचर के राजभवन में कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष

सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

श्रीजीमहाराज बोले कि 'लीजिए, एक प्रश्न करते हैं भगवान के दो प्रकार के भक्त हैं। इनमें से एक भक्त को तो भगवान से अत्यन्त प्रीति रहती है और भगवान के दर्शन के बिना उससे क्षणमात्र भी रहा नहीं जाता। और, भगवान के प्रति उसका प्रेम ऊपर से बहुत दिखाई पड़ता है। तथा भगवान का जो अन्य भक्त है, उसे आत्मनिष्ठा भी दृढ़ है, तथा वैराग्य भी परिपूर्ण है एवं भगवान के प्रति प्रीति भी है, फिर भी उसका प्रेम पहले भक्त के समान मालूम नहीं होता। और, पूर्वोक्त भक्त में यद्यपि आत्मनिष्ठा और वैराग्य नहीं है, तथापि उसकी भक्ति लोगों में बहुत आदरपात्र होती है। किन्तु, आत्मनिष्ठा तथा वैराग्ययुक्त रहने पर भी अन्य भक्त की भगवद्भक्ति पहले बताए गए भक्त की भांति 'अच्छी' नहीं दिखती, इन दो प्रकार के भक्तों में किसकी भक्ति श्रेष्ठ है और किसकी भक्ति कनिष्ठ है?'

तब स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने उतर दिया कि 'आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य न रहने पर भी जिसे भगवान से अत्यन्त प्रेम है, वही श्रेष्ठ है।'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज ने तर्क किया कि 'जिसे वैराग्य और आत्मनिष्ठा नहीं है, उसे आप कौन-सी बुद्धि से श्रेष्ठ बताते हैं, क्योंकि वह तो देहाभिमानी है, इसलिए जब इसे शारीरिक सुख मिलेगा और ऐसे पंचविषयों का योग होगा, तब इसको विषयों में आसक्ति हो जाएगी। फिर इसे भगवान से वैसी प्रीति नहीं रहेगी। आप इसे श्रेष्ठ क्यों कहते हैं?'

तब स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी बोले कि 'जिसे विषयों से प्रीति हो, उसे हम भगवत्प्रेमी नहीं कहते। हम तो गोपियों जैसे भक्तों के लिए यह बात बताते हैं।' परंतु श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'गोपियाँ कहीं भोलीभाली नहीं थीं। वे तो आत्मनिष्ठा एवं वैराग्ययुक्त विवेकशील भक्तों से भी बढ़कर समझदार थीं। जैसे कोई राजनीतिज्ञ हो, और वह उच्चारण करता हो, ऐसा गोपियों का वाक्चातुर्य था, और वे भगवान को भी जैसा जानना चाहिए, वैसा (महिमापूर्वक) यथार्थरूप से जानती थी।

और, समस्त यादवों में अतिशय बुद्धिमान तथा भगवान के प्रधान सचिव उद्धवजी भी गोपियों की अध्यात्म-समझ को देखकर गद्गदकंठ हो

गए और बोले थे कि 'ज्ञान की बातें बताने के लिए मुझे गोपियों के पास भेजकर भगवान ने मुझ पर अत्यन्त अनुग्रह किया है।'[15] यद्यपि वे स्वयं गोपियों को उपदेश देने के लिए गए थे, किन्तु वहाँ गोपियों के वचनों को सुनकर उन्होंने स्वयं उनसे उपदेश ग्रहण किया।

और, यदि आप कहेंगे कि 'गोपियाँ ऐसी बुद्धिमती नहीं थीं।' किन्तु, उनमें मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा नामक तीन प्रकार के भेद थे।

उनमें मुग्धा का लक्षण यह है कि वह भगवान को खूब चकमा देती हैं, फिर ऐसे वचन बोलती रहती हैं कि 'हम आपके लिए कर-करके मर गईं, तो भी आप हमें दृष्टि में नहीं लेते।' ऐसा कहने पर अगर उसे अधिक छेड़ा जाए, तो वह भगवान से रूठकर तुच्छ-सा वचन बोलने लगती हैं, उस समय सुननेवालों को ऐसा मालूम होने लगता है कि ये अभी-अभी विमुख हो जाएँगी। अतः शास्त्रों में जिनके इस प्रकार के वचन हों, उन गोपियों को मुग्धा समझना चाहिए। और, 'मध्या' तो किसी भी दिन भगवान के सामने रोष नहीं करती, और व्यंग्य-वचन भी नहीं बोलती, वह चतुराई एवं युक्तिपूर्वक अपना स्वार्थ दूसरे को नहीं मालूम होने देती। और, अपने स्वार्थ को साधती हुई थोड़ा-बहुत भगवान की मरज़ी के अनुसार भी करती हैं परंतु केवल भगवान की ही पसन्द के अनुसार नहीं बरततीं। और, यदि उसे भगवान की ही मरज़ी के अनुसार करना पड़े, तो भी कुछ अपनी बात भी मनवाने की युक्ति अवश्य ढूँढ़ निकालती हैं। शास्त्रों में जिन गोपियों के ऐसे वचन हों, उनको 'मध्या' जानना।

और, जो प्रौढ़ा होती हैं, वह तो केवल भगवान की पसन्द के अनुसार ही चलती हैं, किन्तु किसी प्रकार से अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए युक्ति नहीं खोजती। वे केवल भगवान को प्रसन्न करने का ही सोचती हैं, तथा भगवान जिस प्रकार से प्रसन्न रहें, उसी तरह वे स्वयं को भी प्रसन्न रखती हैं। और, वे अपनी बराबरी की गोपियों पर ईर्ष्या और क्रोध करती ही नहीं! तथा मान-मत्सर आदि समस्त विकारों का परित्याग करके भगवान की सेवा में ही तत्पर रहती हैं। और, वह कभी भी मन, कर्म तथा वचन द्वारा ऐसा कोई भी आचरण नहीं करती, जिससे भगवान अप्रसन्न हो जाएँ। शास्त्रों में

15. श्रीमद्भागवतम् : 10/47/27-28

जिनके ऐसे वचन हों, उन गोपियों को प्रौढ़ा समझना चाहिए।

इस प्रकार मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा गोपियों के भेद हैं। वस्तुतः गोपियों की समझ में अतिशय विवेक था। इसलिए, उनकी प्रीति को अविवेकपूर्ण नहीं कहा जा सकता। और गोपियाँ भगवान की महिमा को यथार्थरूप से जानती थीं। उस महिमा के प्रताप से ही उनके हृदय में आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य की भावना सहज बनी रहती थी। इसलिए, उन गोपियों के हृदय में आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य आदि अनेक कल्याणकारी गुण भगवान के माहात्म्य के प्रताप से सम्पूर्ण बने हुए थे।

और, ऐसे (आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य से रहित) भक्तों की रीति यह है कि वे केवल भगवान सम्बंधी ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक पाँच विषयों की इच्छा करते हैं, परन्तु अन्य मायिक विषयों की इच्छा नहीं करते। भगवान सम्बंधी पंचविषयों से अतिशय स्नेह के कारण उन्हें वैराग्य और आत्मनिष्ठा न होने के बावजूद उनके हृदय में भगवान के सिवा जगत के किसी भी अन्य संकल्प का उदय मालूम नहीं होता। जैसे कि वर्षा नहीं हुई हो, तब नाना प्रकार के तृण-बीज पृथ्वी पर कहीं भी नहीं दिखाई पड़ते, किन्तु वर्षा होते ही इतने तृण उगने लगते हैं कि पृथ्वी कहीं दिखाई नहीं पड़ती। वैसे ही आत्मनिष्ठा और वैराग्य रहित पुरुष को यद्यपि भगवान के सिवा अन्य किसी भी विषय के संकल्प मालूम नहीं होते, फिर भी जब उसे कुसंग का योग होगा, तब मायिक विषयों के संकल्प होने लगेंगे तथा बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाएगी, तब उसके हृदय में परमेश्वर की स्मृति भी नहीं रहेगी, तथा अखंड रूप से विषयों का ही ध्यान बना रहेगा। तब वैराग्य तथा आत्मनिष्ठा रहित प्रेमी को ऐसा आभास होने लगेगा कि 'मुझे भगवान से लेशमात्र भी प्रीति नहीं है।' **अतएव, आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य से रहित जो प्रेमी भक्त दिखाई पड़ता हो, वह तो अत्यन्त न्यून है।** और, जिसमें आत्मनिष्ठा एवं वैराग्य के रहते कदाचित् भगवान के प्रति साधारण सी प्रीति ही होगी, तो वह ऐसा मानता है कि 'मेरी जीवात्मा में ही भगवान की मूर्ति अखंडरूप से विराजमान है।' ऐसा जानकर ऊपर से यद्यपि भगवान की मूर्ति के दर्शन-स्पर्शादि के सम्बंध में आतुरता जैसा कुछ नहीं दिखता है, और शान्तभाव दिखाई पड़ता है, तो भी उसकी प्रीति की जड़ें गहरी हैं। सो किसी भी कुसंग के योग से उसकी प्रीति कम नहीं हो

सकती। इसी कारण वह श्रेष्ठ है तथा एकान्तिक भक्त है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥15॥ ॥93॥

वचनामृत 16 : श्रीनरनारायण ऋषि का तप

संवत् 1877 में भाद्रपद शुक्ला पंचमी (12 सितम्बर, 1820) को श्रीजीमहाराज श्रीसारंगपुर ग्राम स्थित जीवाखाचर के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। वे श्वेत वस्त्र धारण किए हुए थे। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

उस समय परमानन्द स्वामी ने प्रश्न किया कि 'श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि 'श्रीनरनारायण ऋषि बदरिकाश्रम में रहते हुए इस भरतखंड के समस्त मनुष्यों के कल्याण तथा सुख के लिए तप करते रहते हैं।'[16] तब सभी मनुष्य कल्याण के मार्ग में प्रवृत्त क्यों नहीं होते?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध में है कि 'ये भगवान अभक्तों के लिए नहीं बल्कि अपने भक्तों के लिए ही तप करते हैं।' वह कैसे? तो इस भरतखंड में अतिशय दुर्लभ मनुष्य शरीर के महत्त्व को समझकर जो-जो मनुष्य भगवान की शरण में जाते हैं तथा भक्ति करते हैं, उन पर अनुग्रह करने के लिए तपस्वी-सदृश वेषधारण करनेवाले श्रीनरनारायण भगवान कृपापूर्वक भारी तपस्या करते हैं। और, अपने में निरन्तर अधिकाधिक रूप से रह रहे धर्म, ज्ञान, वैराग्य, उपशम तथा ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त तपस्या करते हुए, वे भगवान इस जगत में रात्रि-प्रलय होने तक बदरिकाश्रम में रहे हैं। और, भरतखंड में निवास करनेवाले अपने भक्तों के धर्मज्ञानादिक गुण अति अल्प होने पर भी, उन भगवान के गुणयुक्त तप के प्रताप से, उनमें थोड़े ही समय में अतिशय वृद्धि हो जाती है। इसके बाद भगवान की इच्छा से दीखनेवाले अक्षरब्रह्ममय तेज में साक्षात् श्रीकृष्ण भगवान के दर्शन होते हैं। इस प्रकार भगवान के तप द्वारा भगवद्भक्तों का निर्विघ्न कल्याण होता है। परन्तु, भगवान के जो भक्त नहीं हैं, उनका कल्याण नहीं होता। इस प्रकार इस प्रश्न का उत्तर है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥16॥ ॥94॥

---

16. श्रीमद्भागवतम् : 10/87/6

वचनामृत 17 : मुक्तों के प्रकार-भेद

संवत् 1877 में भाद्रपद शुक्ला षष्ठी (13 सितम्बर, 1820) को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीसारंगपुर ग्राम-स्थित जीवाखाचर के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'भगवान का भजन करनेवाले जीव की दृष्टि जैसे-जैसे सूक्ष्म होती जाती है, वैसे-वैसे उसको परमेश्वर की महत्ता विदित होती जाती है तथा भगवान की महिमा भी अधिकाधिक मालूम होती जाती है। जैसे कि जब वह भक्त स्वयं को देहरूप मानता हो, तब वह भगवान को जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति का साक्षी समझता है, तथा जब वह स्वयं को जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति से परे समझता है, तब भगवान तो उसे उससे भी परे भासित होते हैं। फिर उसकी जैसे-जैसे सूक्ष्म दृष्टि होती जाए, वैसे-वैसे वह भगवान को अपने से परे जानता है, और उनकी महिमा को भी विशेष रूप से समझता रहता है। इसके बाद जैसे-जैसे अपनी वृत्ति प्रेमपूर्वक भगवान के साथ लगती जाए, वैसे वैसे उपासना अत्यन्त दृढ़ होती जाती है।

यहाँ दृष्टान्त है कि समुद्र से अगाध मीठे जल से यद्यपि चींटी, जाकर पानी पीए, तथा चिडिया भी पीए, तथा मनुष्य, पशु, घोड़ा, हाथी तथा बड़े-बड़े मगर-मच्छ, सभी जल पीकर बलवान बनते हैं, फिर भी वह अगाध जल लेशमात्र भी कम नहीं होता, और जिस-जिस जीव की जितनी अधिक शक्ति होती है, उतनी शक्ति के अनुसार वह समुद्र की महिमा अधिक जान लेता है।

और दूसरा भी दृष्टांत देखें : जैसे आकाश में मच्छर, चिड़िया, चील, बाज, अनल पक्षी तथा गरुड़ आदि सभी उड़ते हैं, फिर भी इन सबके लिए आकाश अपार का अपार ही रहता है और जिसके पंखों में अधिक शक्ति होती है, वह आकाश की महिमा को अधिक जान लेता है और अपनी न्यूनता समझ जाता है। वैसे ही मरीच्यादि प्रजापतियों के समान अल्प उपासना वाले भक्त मच्छर सदृश हैं; और ब्रह्मादि की तरह उससे अधिक उपासना करने वाले भक्त चिड़िया के समान हैं; और विराटपुरुषादि की तरह उससे अधिक

उपासना वाले भक्त चील जैसे हैं; और प्रधानपुरुष की तरह उससे अधिक उपासना वाले भक्त बाज जैसे हैं; और शुद्ध प्रकृति-पुरुष की तरह उससे अधिक उपासना वाले भक्त अनल पक्षी सदृश हैं। और अक्षरधाम-स्थित अक्षरमुक्तों की तरह, उससे (प्रकृति-पुरुष से) अधिक उपासना वाले भक्त गरुड जैसे हैं।[17] इस प्रकार ये सब भक्त ज्यों-ज्यों विशिष्ट सामर्थ्य को प्राप्त करते जाते हैं; त्यों-त्यों भगवान की महिमा को विशेष रूप से जानते जाते हैं। और, जैसे-जैसे विशेष सामर्थ्य को वे प्राप्त करते गए, वैसे-वैसे भगवान में उनका स्वामी-सेवक का नाता भी अत्यन्त दृढ़ होता गया है।

और जब भजन करनेवाला जीवरूप था, तब उस जीव में खद्योत जितना प्रकाश था। इसके पश्चात् जैसे-जैसे भगवद्भजन करते-करते उसका (मायिक) आवरण हटता गया, वैसे-वैसे प्रकाश भी अधिक प्राप्त होता चला। जैसे कि प्रथम वह दीप जैसा हुआ, फिर मशाल जैसा हुआ, फिर अग्नि की ज्वाला जैसा हुआ, फिर दावानल जैसा हुआ, फिर बिजली जैसा हुआ, फिर चन्द्रमा जैसा हुआ, फिर सूर्य जैसा हुआ, फिर प्रलयकाल की अग्नि जैसा हुआ, और अन्त में महातेज के सदृश हो गया। इस प्रकार प्रकाश में भी वृद्धि हुई और सामर्थ्य भी बढ़ता गया। इसके साथ-साथ आनंद भी बढ़ता गया। ऐसे खद्योत से लेकर महातेज पर्यन्त आद्य, मध्य और अन्त के जो भेद बताए गए हैं, वे सब मुक्तों के भेद हैं।[18] सो जैसे-जैसे वे उच्च स्थिति को प्राप्त

---

17. अनल पक्षी तथा गरुड के दृष्टांत के द्वारा श्रीहरि ने प्रकृतिपुरुष एवं अक्षरमुक्त में स्थितिभेद का वर्णन किया है। यहाँ उल्लेखनीय है कि वचनामृत गढडा मध्य प्रकरण 12 तथा वचनामृत गढडा मध्य प्रकरण 31 में प्रकृति के साथ संलग्न होनेवाले पुरुष को ही अक्षरमुक्त कहा गया है - इन परस्पर विरोधी विधानों का समाधान इस प्रकार है कि प्रकृति के साथ संलग्न होनेवाले पुरुष तो प्रवृत्ति-परक है, तथा अन्य अक्षरमुक्त निवृत्तिपरक है, दोनों में इतना भेद कहा जाएगा, परंतु दोनों की प्राप्ति तथा स्थिति में कोई अंतर नहीं है।

18. यहाँ मुक्तों के भेद दिखाए गये हैं, वह अक्षरमुक्तों के भेद नहीं है। अक्षरधाम स्थित तमाम अक्षरमुक्त तो ब्रह्म का साधर्म्य प्राप्त करके समान रूप से भगवान के दिव्य आनंद का उपभोग किया करते हैं। परंतु यहाँ उपासना में भेद होने के कारण जो मुक्त गोलोक, वैकुंठ आदि धामों को प्राप्त हुए हैं, उनके ये भेद हैं। अर्थात् जिसने भगवान स्वामिनारायण को जिस अवतार के समान समझा, उसे उस अवतार के धाम की प्राप्ति हुई। इस प्रकार मुक्तों में भेद हो गये।

करते गए तथा भगवान की महिमा को अधिकाधिक जानते गए, वैसे-वैसे उनके मुक्तपन में विशेषता आती गयी।'

इतना कहकर श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' बोलते हुए उठकर खड़े हुए। बाद में इमली की टहनी को पकड़कर पूर्व की ओर मुखारविन्द करके बोले कि 'जैसे पूर्णिमा का चन्द्रमंडल यहाँ से यद्यपि छोटी थाली जैसा दिखाई पड़ता है, परन्तु जैसे-जैसे उसके समीप जाते हैं, वैसे-वैसे वह बड़ा दिखाई पड़ता है। किन्तु, जब उसके अत्यन्त निकट जाते हैं, तब वह इतना विशाल दिखाई देता है कि दृष्टि भी नहीं पहुँच सकती। **वैसे ही मायारूप अन्तराल के मिटने के बाद जैसे-जैसे भगवान के निकट हुआ जाता है, वैसे-वैसे भगवान की भी अत्यन्त अपार महत्ता विदित होती जाती है, और भगवान के प्रति दासभाव भी अत्यन्त दृढ़ होता जाता है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥17॥ ॥95॥

वचनामृत 18 : खार भूमि

संवत् 1877 में भाद्रपद शुक्ला अष्टमी (15 सितम्बर, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीसारंगपुरग्राम-स्थित जीवाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सफ़ेद धोती धारण की थी। श्वेत चादर ओढ़ी थी और मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी। वे उत्तर की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि, **'जो श्रद्धावान पुरुष हो, उसको यदि सच्चे सन्त का संग मिल जाए तथा वह उनके वचनों में श्रद्धावान हो जाए, तो उसके हृदय में स्वधर्म, वैराग्य, विवेक, ज्ञान, भक्ति आदि सर्व कल्याणकारी गुण प्रकट हो आते हैं तथा उसके हृदय से काम-क्रोधादि विकार भस्म हो जाते हैं।** और अगर उसे कुसंग मिल गया और वह कुसंगी के वचनों में श्रद्धावान हो गया, तो वैराग्य, विवेकादि सभी गुणों का नाश हो जाता है। जैसे खार भूमि में चाहे कितनी ही वर्षा क्यों न हो, किन्तु उसमें तृणादि नहीं उगते। उसी खारभूमि में अगर भारी वर्षा के कारण बाढ़ आ जाए, तो वहाँ का खार धुल जाता है। और, जिस जगह खार

था, वहाँ नयी मिट्टी बहकर आ जाती है। उस मिट्टी के साथ यदि बड़, पीपल आदि वृक्षों के बीज आ गए हों, तो उनके बीज उगकर बड़े-बड़े वृक्ष खड़े हो जाते हैं। वैसे ही जिसके हृदय में पूर्वोक्त स्वधर्म आदि गुणों की दृढ़ता रही हो, तथा संसार सम्बंधी विषयसुखों का अंकुर भी उसके हृदय में नहीं उग सके, ऐसी दृढ़ता हो, फिर भी यदि उसे कुसंग मिल गया, तो उसके हृदय में कुसंगरूपी जल के वेग से सांसारिक वार्तारूप नयी मिट्टी आकर जम जाती है। बाद में उस मिट्टी में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरादि के बीज उगकर विशाल वृक्ष बन जाते हैं। इसलिए, भगवान के भक्तों को कभी भी कुसंग नहीं करना चाहिए।

और, यदि स्वयं में कोई कुस्वभाव हो, तो उसे सन्त-समागम द्वारा समझ-विचार कर टाले तो वे स्वभाव मिट जाते हैं। यदि मूर्खतापूर्वक उन्हें टालने के कितने ही उपाय किए जाएँ, तो भी बुरा स्वभाव नहीं मिट पाता। और, मूर्ख पुरुष को जब उद्वेग होता है, तब वह या तो सोया करता है या रोता है या किसी से झगड़ा करने लगता है अथवा उपवास करता है। इन चार प्रकार से अपनी व्यग्रता को टालने का प्रयास करता है। ऐसा करने पर भी यदि भारी उद्विग्नता बनी रही, तो आखिर में वह आत्महत्या भी कर लेता है। इस प्रकार मूर्ख पुरुष अपनी बेचैनी को दूर करने का उपाय करता है। परन्तु, ऐसा करने से दुःख नहीं मिटता, और कुस्वभाव भी नहीं मिटते। यदि वह समझपूर्वक दुःख तथा कुस्वभाव को टालना चाहे, तो वे टल सकते हैं। इसलिए, विवेकशील पुरुष ही सुखी होता है। जैसे अग्नि की बड़ी ज्वाला पर वर्षा का पानी पड़ जाए, तो वह तुरन्त बुझ जाती है, किन्तु बिजली से उत्पन्न होनेवाली अग्नि का प्रकाश भले ही थोड़ा दिखाई पड़ता हो, परन्तु वह मेघमंडल में छिपी रहने पर भी नहीं बुझती, वैसे ही बिना विवेक यानी समझ के, चाहे कितना ही वैराग्य हो या भगवान से प्रीति हो, तो भी अग्नि की ज्वाला जिस प्रकार जल से बुझ जाती है, उस प्रकार कुसंगरूपी पानी से उन ज्वालारूपी गुणों का नाश हो जाता है। अतः समझ के साथ वैराग्य और प्रीति बनी रहे तो वे गुण बिजली की अग्नि के समान अल्प मात्रा में रहने पर भी उनका नाश नहीं होता।'

फिर निर्विकारानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज! यदि किसी पुरुष में

क्रोधादिक बुरे स्वभाव हो, तो वे टलते हैं या नहीं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि, 'जिस तरह बनिया जितना व्यापार करता है, उसका हिसाब लिख लेता है, वैसे ही जिसने सत्संग के प्रारम्भ दिन से ही अपना लेखा लिख रखा हो, उसके बुरे स्वभाव मिट जाते हैं। और, वह तो ऐसा सोचता रहता है कि 'मैंने जब सत्संग नहीं किया था, तब मेरा इतना मलिन स्वभाव था, किन्तु सत्संग करने के बाद इतना उत्तम स्वभाव हो चुका है।' इस तरह प्रतिवर्ष अपनी प्रगति होती हो या उसमें कुछ अंतर रहता हो, उस सभी की जाँच किया करे, परन्तु मूर्ख बनिया जिस तरह अपना हिसाब नहीं लिखता है, उसके समान आचरण न करे। इस प्रकार सत्संग करके जो अपनी प्रगति की जाँच-पड़ताल करता रहता है, उसके जो-जो दुष्ट स्वभाव होते हैं, वह सभी नष्ट हो जाते हैं।'

यह सुनकर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जब कुसंग हुआ तो बुरा स्वभाव होगा ही, किन्तु सन्त का संग करने के बाद भी अगर मलिन स्वभाव हो जाता है, तो उसका क्या कारण है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जब बाल-अवस्था होती है, तब काम-क्रोध-लोभादि शत्रु नहीं होते और भगवान से भी विशेष प्रीति बनी रहती है। फिर जब युवावस्था आती है, तब कामादि शत्रु बढ़ जाते हैं तथा देहाभिमान भी बढ़ जाता है। बाद में यदि वह कामादि शत्रुओं तथा देहाभिमान से रहित सन्त का संग करता है, तो वह युवावस्थारूपी समुद्र को पार कर लेता है। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो कामादि शत्रुओं द्वारा पराजित होने पर भ्रष्ट हो जाता है। और, जिसकी प्रौढ़ावस्था हो और सत्संग करने पर भी यदि वह पथभ्रष्ट होता है, तो उसका कारण यह है कि ऐसा मनुष्य सत्पुरुष में जिस-जिस तरह के दोषों की कल्पना करता है, उस-उस प्रकार के दोष हृदय में आकर समा जाते हैं। यदि वह बड़े सत्पुरुष के गुणों का ग्रहण कर ले और ऐसा माने कि 'सत्पुरुष जो जो स्वभाव रखते हैं, वह तो जीवों के कल्याण के लिए हैं। बड़े सत्पुरुष तो निर्दोष हैं। मुझे उनमें जो दोष दिखाई पड़ा, वह तो मेरी कुमति की कल्पनामात्र है।' ऐसा विचार करके सत्पुरुष के गुणों को ग्रहण करें और अपने अपराध के लिए उनसे क्षमायाचना करें। ऐसा करने से उस पुरुष की मलिनता मिट जाती है।'

फिर महानुभावानन्द स्वामी ने पूछा कि 'राजसिक, तामसिक तथा सात्त्विक गुणों के स्वभाव साधना करने पर टल जाते हैं या नहीं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'ये समस्त स्वभाव टालने से टल जाते हैं।'

पुनः महानुभावानन्द स्वामी ने पूछा, 'यद्यपि दुर्वासा आदि मुक्त पुरुष हुए हैं, फिर भी उनकी तामसिक मनोवृत्ति क्यों रही है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'दुर्वासा आदि में जो तमोगुण आदि मायिक गुण रहे हैं वह वे इसलिए हैं, कि वे स्वयं इन गुणों को स्वेच्छा से रखना चाहते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि 'कुमार्ग पर चलनेवाले पुरुषों को शिक्षा देने के लिए यह जो तमोगुण है, वह बहुत अच्छा है।' ऐसा सद्गुण समझकर ही यह स्वभाव उन्होंने रखा है। अतः यदि स्वयं में जो कुस्वभाव हो और उसे अवांछनीय समझा जाए कि 'मैं भगवान का भक्त हूँ, इसलिए मुझे ऐसा बुरा स्वभाव नहीं रखना चाहिए, इस प्रकार उसे दोषरूप जानकर जो जो स्वभावों को दूर करने की इच्छा करेगा तो भगवान के प्रताप से उसके उन बुरे स्वभावों की निवृत्ति हो जाएगी।'

॥ इति वचनामृतम् ॥18॥ ॥96॥

॥श्रीसारंगपुर प्रकरणं समाप्तम् ॥

भक्तराज जीवाखाचर का दरबार, सारंगपुर (जिला : बोटाद, गुजरात)



यहीं पर बिराजमान होकर भगवान श्रीस्वामिनारायण ने वचनामृतों का उद्‌बोधन किया था।

भक्तराज वस्ताखाचर का दरबार, कारियाणी (जिला : भावनगर, गुजरात)



उत्तरमुख द्वारवाले कमरे, यहाँ बिराजमान होकर भगवान श्रीस्वामिनारायण ने वचनामृतों का उद्‌बोधन किया था।

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ॥

श्रीकारियाणी प्रकरण के वचनामृत

वचनामृत 1 : कीट-भँवरी का दृष्टांत; जीव में भगवत्स्वरूप का निश्चय

संवत् 1877 में भाद्रपद शुक्ला द्वादशी (19 सितम्बर, 1820) को श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में सूरत के हरिभक्त जादवजी छप्पर पलंग लाए थे, उसे बिछाया गया था। पलंग पर रेशमी गद्दा डाला गया था, जिस पर रेशमी चादर बिछी थी। उस पर सफ़ेद तकिया और लाल मशरूम के घुटना-तकिए रखे हुए थे। उस पलंग पर चारों ओर सुनहरे तार में मोतियों की लडियाँ झूम रही थीं। ऐसे सुसज्जित पलंग पर श्रीजीमहाराज उत्तर की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उन्होंने सुनहरे पल्ले का श्वेत फेंटा सिर पर बाँधा था, सुनहरे पल्ले का शेला बाँध रखा था और काले पल्ले की सफ़ेद धोती धारण की थी। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे। उस समय समस्त भक्तजन श्रीजीमहाराज के मुखारविन्दरूपी चन्द्रमा को चकोर की भाँति देख रहे थे।

फिर श्रीजीमहाराज परमहंसों से बोले, 'आपस में प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ करिए।' तब भूधरानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान सम्बंधी निश्चय अन्तःकरण में होता है या जीव में?' तब शिवानन्द स्वामी उसका उत्तर देने लगे, किन्तु यथार्थ उत्तर न दे सके। अतः श्रीजीमहाराज ने उत्तर देते हुए कहा कि 'यह जीव बुद्धि द्वारा समझ पाता है। वह बुद्धि ही समस्त ज्ञान का कारण है और सबसे बड़ी है। वह बुद्धि मन में रही है, चित्त में रही है, अहंकार में रही है, श्रोत्रेन्द्रिय में रही है, चक्षु-इन्द्रिय में रही है, घ्राणेन्द्रिय में रही है, जिह्वा में रही है, वाणी में रही है, त्वचा में रही है, हाथ-पैरों में रही है, शिश्न

में रही है, तथा गुदा में रही है। इस प्रकार बुद्धि नख-शिखा पर्यन्त इस शरीर में व्याप्त होकर रही है। और, उस बुद्धि में जीव रहा है, परन्तु वह जीव प्रतीत नहीं होता, अकेली बुद्धि ही प्रतीत होती है।

यहाँ एक दृष्टान्त है - जैसे अग्नि की ज्वाला वायु द्वारा बढ़ती है और घटती है, परन्तु ऐसी स्थिति में वायु नहीं दिखती है। और, अग्नि को कण्डे पर रखें, तो वह जलने लगता है, वहाँ अगर वायु नहीं रहती तो उसका धुआँ ऊँचाई तक सीधा चला जाता है। ऐसी स्थिति में भी वायु नहीं दिखाई देती। और, जैसे बादल आकाश में वायु द्वारा ही चलते हैं, तो बादल दिखाई पड़ते हैं, लेकिन उनकी गति के पीछे कारणभूत वायु का रूप नहीं दिखाई देता, वैसे ही ज्वाला, धुएँ और बादलों के स्थान पर बुद्धि को समझना और वायु के स्थान पर जीव को जानना। वह जीव कैसा है? तो बुद्धि द्वारा किए गए निश्चय को वह जानता है, तथा उस बुद्धि में निश्चय की समझ बैठानेवाले ब्रह्मा को भी जानता है। और, वह जीव मन के संकल्पों को जानता है एवं संकल्पों की पूर्ण समझ देनेवाले देवता - चन्द्रमा को भी जानता है, तथा चित्त की चिन्तनशीलता को जानता है, और उस चित्त के चिन्तन को विवेक देनेवाले वासुदेव को भी जानता है, तथा अहंकार की अहंमन्यता को जानता है तथा उस अहंकार की समझ को देनेवाले रुद्र को भी जानता है। इस प्रकार वह जीव चारों अन्तःकरणों, दस इन्द्रियों, उनके विषयों तथा उनके विवेक-दायी देवताओं को एककालावच्छिन्न रूप से[1] जानता है। ऐसा वह जीव एक देशस्थ ज्ञात होता है, तथा बरछी की नोक के समान तीक्ष्ण तथा अतिशय सूक्ष्म मालूम होता है। वह बुद्धि सहित है, इसीलिए इतना सूक्ष्म प्रतीत होता है; किन्तु उस जीव को जब देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, देवता और विषय इन सभी का प्रकाशक जानते हैं, तब तो जीव बहुत बड़ा और व्यापक मालूम होता है,[2] वह बुद्धिरहित है। और वह अनुमान द्वारा ज्ञात होता है, किन्तु साक्षात् रूप से वह नहीं दिखाई पड़ता। यहाँ पर एक दृष्टान्त और है - जैसे कोई मनुष्य दस मन

1. एक ही समय में एक साथ ही।
2. यहाँ जीवात्मा को ज्ञानशक्ति के द्वारा इन्द्रियों अन्तःकरण आदि सहित पूरे शरीर में व्यापक कहा गया है, परंतु वास्तव में तो वह अणुतुल्य सूक्ष्म है। अद्वैती लोग उसे आकाश की तरह व्यापक मानते हैं, उस मान्यता का श्रीहरि अस्वीकार करते हैं।

की किसी तलवार को देखकर यह अनुमान लगा लेता है कि इस तलवार को उठानेवाला बहुत शक्तिशाली होगा, वैसे ही वह जीव, इन्द्रियादि सहित समस्त देह को प्रकाशित करता है, इसलिए अनुमान हो सकता है कि वह जीव वाकई बहुत बड़ा है।' श्रीजीमहाराज ने इस प्रकार उत्तर दिया।

तब नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! इसमें उत्तर क्या हुआ?' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसमें तो यह उत्तर हुआ कि जब बुद्धि में निश्चय हुआ, तब जीव में भी निश्चय हो गया, ऐसा समझना। सबसे पहले इन्द्रियों में निश्चय होता है, फिर अहंकार में निश्चय होता है, फिर चित्त में निश्चय होता है, फिर मन में निश्चय होता है, तथा अन्त में बुद्धि में निश्चय होता है, इसके बाद जीव में निश्चय होता है।' तब नित्यानन्द स्वामी ने पुनः पूछा कि 'हे महाराज! इन्द्रियों में निश्चय हुआ है, या अन्तःकरण में निश्चय हुआ है, या जीव में निश्चय हो चुका है, यह भेद किस प्रकार मालूम हो सकता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'इन्द्रियों में निश्चय हुआ इस प्रकार जानना चाहिए कि इस जगत में जितने पदार्थ हैं, वे देखने में सुनने में, सूंघने में स्पर्श करने में आते हैं, उनमें कुछ शुभ हैं और कुछ अशुभ हैं, कितने ही सुखरूप हैं और कितने ही दुःखरूप हैं, कितने ही प्रिय हैं और कितने ही अप्रिय हैं तथा कितने ही उचित हैं और कितने ही अनुचित हैं। ये सब यदि भगवान में दिखाई पड़ें, फिर भी भगवान के स्वरूप में कुछ भी संशय न हो, तब उस निश्चय को इन्द्रियों तक हुआ निश्चय समझना चाहिए और, सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीन गुणों के जो कार्य हैं, उनमें आलस्य एवं निद्रादि तमोगुण का कार्य है, काम-क्रोधादि रजोगुण का कार्य है तथा शम-दमादि सत्त्वगुण का कार्य है। यदि ये सब भगवान में दिखायी पड़ें और किसी भी तरह का भगवान में संदेह न रहे, तो उसे अन्तःकरण में भगवान का निश्चय जानना। जैसे ऋषभदेव भगवान निर्विकल्प समाधि में उन्मत्त होकर रहते थे, परन्तु (मृत्यु के समय खाने की आदत के जरिए) मुख में पत्थर रख दिया! तथा उन्हें दावानल में जल जाने पर भी अपनी देह की सुध नहीं रही,[3] ऐसी गुणातीत स्थिति यदि भगवान में दिखाई पड़े और उसमें किसी प्रकार का संशय न रहे, तब जानना कि उसे जीव में निश्चय हुआ है।

3. श्रीमद्भागवतम् : 5/6/7-8

'यहाँ एक दृष्टान्त है - जैसे समुद्र में जहाज़ चलता है, उसमें लोहे का लंगर रहा करता है। जहाज़ को सागर में स्थिर करने के लिए लंगर डाला जाता है, वह लंगर यदि पृथ्वी तक न पहुँचा हो, तो उसे तुरन्त खींच लेने में अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता, वह तुरन्त बाहर निकल आएगा, यदि वह धरती तक पहुँच गया, तो बहुत परिश्रम के बाद निकल आता है, लेकिन यदि वह गहराई तक गड़ गया हो, तो बहुत खींचने पर भी निकल नहीं पाता। ठीक उसी प्रकार यदि जिसको जीव में निश्चय दृढ़ हो गया, तो वह निश्चय किसी तरह मिटाने पर भी नहीं मिटता।' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने बहुत वार्ताएँ कीं, परन्तु यहाँ तो अल्पमात्र ही लिखी हैं।

फिर चैतन्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! भगवान तो मन और वाणी से परे हैं तथा गुणातीत हैं; तब उन्हें मायिक इन्द्रियाँ और अन्तःकरण किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं? (यानी उनका निश्चय कर सकते हैं।)'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'इस देह, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण को जाननेवाला जीव जब सुषुप्ति-अवस्था में लीन हो जाता है, तब उसकी इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण भी सुषुप्ति में विलय हो जाते हैं। तब भगवान उस समय में जीव को प्रकाशमान करते हैं।[4] जब सुषुप्ति-अवस्था में से स्वप्नावस्था आती है, तब भगवान उस स्वप्नावस्था सम्बंधी स्थान, भोग, विषय तथा जीव को प्रकाशमान बनाते हैं[5] तथा जाग्रत अवस्था में भी जीव को भगवान प्रकाशमान करते हैं।[6] इस प्रकार भगवान रूपभाव[7] एवं अरूपभाव[8] से रहनेवाले जीव को प्रकाशमान करते हैं। और, प्रधान में से महत्तत्त्व हुआ, महत्तत्त्व में से तीन प्रकार के अहंकार हुए तथा उन अहंकारों में से इन्द्रियों, देवताओं, पंचभूतों तथा पंचमात्राओं की उत्पत्ति हुई। इन सबको भी भगवान ने प्रकाशमान बनाया है।[9] और इन सब तत्त्वों ने मिलकर विराट की रचना की। उस विराट को भी भगवान ने प्रकाश प्रदान किया है। और, ये सब जब माया में लीन हो जाते हैं,

---

4. तामसकर्म के फलरूप भोग को भुगतने के लिए शक्तिमान करते हैं।
5. राजसकर्म के फलरूप स्वप्न भोग को भुगतने के लिए शक्तिमान करते हैं।
6. सात्त्विककर्म के फलरूप भोग को भुगतने के लिए शक्तिमान करते हैं।
7. जाग्रत और स्वप्न में देह-इन्द्रिय आदि भावों से सहित।
8. सुषुप्ति में देह-इन्द्रिय आदि भावों रहित।
9. अपने-अपने कार्य के लिए शक्तिमान किया है।

तब उस माया को भी भगवान प्रकाशित करते हैं। इस प्रकार जीव और ईश्वर दोनों जब रूपभाव से रहते हैं, तब भगवान उन्हें प्रकाशमान करते हैं। जब यह जीव तथा ईश्वर नामरूप रहित होकर सुषुप्ति-अवस्था एवं प्रधान में रहते हैं, तब भी भगवान उन्हें प्रकाश प्रदान करते हैं, और काल को भी भगवान प्रकाशमान करते हैं, जो काल, मायादि तत्त्वों को नामरूप भाव को प्राप्त कराता है, और अरूपभाव को प्राप्त कराता है। ऐसे (महामहिमावंत) भगवान इन्द्रियों तथा अन्तःकरण द्वारा कैसे जाने जा सकते हैं, यही आपका प्रश्न है या नहीं?' तब सब कहने लगे कि 'हाँ, महाराज! यही प्रश्न है।'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले, 'इसका उत्तर इस प्रकार है कि ऐसे जो भगवान हैं, उनको इस जगत की उत्पत्ति तथा स्थिति को करना है, सो कुछ भी अपने लिए नहीं है। क्योंकि श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि:

'बुद्धीन्द्रिय-मनःप्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः।
मात्रार्थं च भवार्थं च ह्यात्मनेऽकल्पनाय च ॥'[10]

इस श्लोक में बताया गया है कि 'भगवान ने सब लोगों की बुद्धि, इन्द्रियों, मन तथा प्राणों का सृजन किया है। इनका सृजन मनुष्य के विषय के लिए भोगों, तथा जन्म एवं लोकान्तर में जाने तथा मोक्ष के लिए किया गया है।' इसलिए, भगवान इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी मनुष्य के कल्याण के लिए करते हैं। वे अनेक प्रकार की संसृति करने से थके हुए जीवों के विश्राम के लिए ही प्रलय करते हैं। इस तरह समस्त प्रकार के जीवों के हित के लिए ये भगवान जब कृपा करके मनुष्याकार होते हैं, तब उन भगवान के सन्त का संग जो जीव करता है, वह (प्रत्यक्ष भगवत्स्वरूप को) क्यों नहीं जान पाए? वह अवश्य जान पाता है।'

तब भजनानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज! इस श्रुति में ऐसा क्यों कहा गया है कि **'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह।'**[11]

तब श्रीजीमहाराज प्रसन्न होकर बोले, 'उसका तो यह रहस्य है कि जिस प्रकार पृथ्वी आकाश में रहती है, फिर भी वह आकाशभाव को प्राप्त नहीं होती, जल आकाश में रहने पर भी वह आकाशभाव को नहीं पाता,

10. श्रीमद्भागवतम् : 10/87/2
11. मुंडक उपनिषद् : 3/1/3; गीता : 4/10

तेज आकाश में स्थित रहता है, किन्तु वह आकाशभाव को प्राप्त नहीं होता तथा वायु आकाश में रहने पर भी आकाशभाव को वह नहीं पाती, वैसे ही मन और वाणी भगवान को प्राप्त नहीं होते।' तब नित्यानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज ! श्रुति-स्मृति में ऐसा भी कहा गया है कि **'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति', 'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।'**

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'यह तो हमने अभक्तों के मन और इन्द्रियों के लिए कहा है, परन्तु, भक्तों के मन और इन्द्रियाँ तो भगवान के साक्षात्कार रूप को प्राप्त करते हैं। जैसे आकाश में स्थित पृथ्वी प्रलयकाल में आकाश-रूप हो जाती है तथा जल भी आकाशरूप हो जाता है और तेज भी आकाश-रूप हो जाता है एवं वायु भी आकाशरूप हो जाती है, वैसे ही भगवान के भक्तों के शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और प्राण भगवान सम्बंधी ज्ञान से भगवान के आकाररूप तथा दिव्य हो जाते हैं, क्योंकि भगवान स्वयं दिव्यमूर्ति हैं। इसलिए, उन भक्तों के शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण, सभी भगवान की इन्द्रियों, अन्तःकरण तथा देह के आकार रूप हो जाते हैं, अर्थात् दिव्य हो जाते हैं। यहाँ एक दृष्टान्त है - जैसे भँवरी कीड़े को पकड़ लाती है और उसे डंक मारकर उसके ऊपर गुंजार करती है, जिससे वह कीट उसी देह से तदाकार हो जाता है, परन्तु कीट का कोई अंग नहीं रहता, वह तो भँवरी के समान भँवरी ही हो जाता है, वैसे ही भगवान का भक्त भी इसी ही देह भगवदाकार हो जाता है, अर्थात् दिव्य हो जाता है।

हमने जो यह वार्ता कही है, उसका सारांश यह है कि आत्मज्ञान सहित भक्तिनिष्ठावाले तथा केवल भक्तिनिष्ठावाले दोनों की यह गति कही गई है। फिर भी, केवल आत्मनिष्ठा वाले कैवल्यार्थी[12] के देह, इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण भगवान की मूर्ति से तदाकारभाव प्राप्त नहीं करते। वह तो केवल ब्रह्मसत्ता को (निराकार अक्षरभाव को) प्राप्त होता है।' इतनी वार्ता करने के बाद श्रीजीमहाराज ने कहा, 'अब यह वार्ता यहीं तक रखिए, क्योंकि सभा में स्तब्धता छा गई है। इसलिए, कुछ अच्छे कीर्तन बोलिए।' इतना कहकर वे स्वयं ध्यानस्थ हो गए और सन्त कीर्तनगान करने लगे।

॥ इति वचनामृतम् ॥1॥ ॥97॥

12. कैवल्यार्थी अर्थात् आत्मा को ही परमात्मा माननेवाला; भक्तिरहित।

वचनामृत 2 : शापित बुद्धि

संवत् 1877 में आश्विन शुक्ला द्वितीया (9 अक्तूबर, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे पर विराजमान थे। वे श्वेत वस्त्र धारण किए हुए थे। उनके समक्ष सभा में परमहंस तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

श्रीजीमहाराज की आज्ञा से छोटे-छोटे परमहंस निकट आकर प्रश्नोत्तरी कर रहे थे। उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'अच्छा, हम एक प्रश्न पूछते हैं।' तब सभी बोले, 'पूछिए महाराज!' तब श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'किसी पुरुष की बुद्धि तो ऐसी होती है कि जिस दिन से सत्संग किया हो, उस दिन से वह भगवान तथा सन्त के दोष देखा करता है, परन्तु वह दोष उसके भीतर टिकता नहीं, मिट जाता है। इसी प्रकार, उसे भगवान तथा सन्त के गुण तथा दोष दिखते-मिटते रहते हैं, फिर भी वह सत्संग छोड़कर कभी भी नहीं जाता। क्योंकि वह बुद्धिमान है, अतः वह मानता है कि 'ऐसे सन्त पूरे ब्रह्मांड में कहीं भी नहीं हैं, और इन महाराज के सिवा दूसरा कोई भगवान नहीं है।' इस समझ के कारण वह सत्संग में अडिग रहता है, जबकि अन्य पुरुष की ऐसी बुद्धि है कि वह सन्त अथवा भगवान में कभी भी दोष देखता ही नहीं। इन दोनों की बुद्धि तथा दोनों का भगवान सम्बंधी निश्चय भी एक समान है, किन्तु इनमें से एक की प्रवृत्ति दोष देखने की रहती है, जबकि दूसरा पुरुष इससे अलिप्त रहता है। यहाँ जो अवगुण-दोष देखता है, उसकी बुद्धि में कौन-सा दोष है? यह प्रश्न हम छोटे शिवानन्द स्वामी से पूछते हैं।'

छोटे शिवानन्द स्वामी इसका उत्तर देने लगे, किन्तु वे यथेष्ट उत्तर न दे सके, तब भगवदानन्द स्वामी ने कहा, 'उस पुरुष की बुद्धि शापित है।'

फिर श्रीजीमहाराज बोले, 'ठीक कहते हैं। इस प्रश्न का उत्तर यही है। जैसे जगत में कहते हैं न, कि 'इसको तो किसी की हाय लग गई है!' ठीक इसी तरह उसने बड़े सन्त अथवा किसी गरीब का दिल दुखाया हो या माँ-बाप की सेवा नहीं की हो, इसी कारण उन्होंने इसे शाप दे दिया हो, जिससे

उसकी ऐसी कुबुद्धि बनी हुई है।'

फिर भगवदानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज! इसकी शापित बुद्धि में किस प्रकार सुधार हो सकता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'इसका विश्लेषण तो यह है कि हमने अपने माथे पर जो वस्त्र बाँध रखा है, उस पतले वस्त्र को और दरी जैसे मोटे वस्त्र को समान परिश्रम से नहीं धोया जा सकता। यह पतला वस्त्र तो थोड़ा-सा साबुन लगाकर धो डालने पर वह तुरन्त साफ़ हो जाएगा। अगर मोटे वस्त्र को धोना हो, तो पहले तो उसे पानी में दो-चार दिन तक भिगोकर रखना पड़ेगा, इसके बाद इसे भट्ठी पर चढ़ाकर भाप देनी पड़ेगी, फिर साबुन लगाकर धोने से वह साफ़ हो पाएगा। वैसे ही जिसकी बुद्धि शापित है, वह अगर अन्य भक्तों के समान साधना करे, तो उसका दोष नहीं मिट पाएगा। उसे अन्य भक्त जिस प्रकार निष्कामी, निःस्वादी, निर्लोभी, निःस्नेही तथा निर्मानी रहते हैं, उनकी तरह ही नहीं रहना चाहिए। उसे तो अन्य निष्कामी रहते हों उससे विशेष रूप से निष्कामी रहना चाहिए। अन्य निर्लोभी रहते हों उससे विशेष रूप से निर्लोभी रहना चाहिए। अन्य निःस्वादी रहते हों उससे विशेष रूप से निःस्वादी रहना चाहिए। अन्य निःस्नेही रहते हों उससे विशेष रूप से निःस्नेही रहना चाहिए। तथा अन्य निर्मानी रहते हों उससे विशेष रूप से निर्मानी रहना चाहिए। और, उसे दूसरों के सोने के बाद एक घड़ी देर से सोना चाहिए, दूसरों की अपेक्षा अधिक मालाएँ फेरनी चाहिए तथा दूसरों के उठने से पूर्व घड़ीभर पहले ही उठ जाना चाहिए। इस प्रकार दूसरों की अपेक्षा ऐसे नियमों का विशेष पालन करने से ही उसकी शापित बुद्धि मिटेगी, अन्यथा वह कभी भी नहीं मिटेगी।'

फिर बड़े शिवानन्द स्वामी ने बड़े योगानन्द स्वामी से प्रश्न किया कि, 'कर्म मूर्तिमान हैं या अमूर्त?' तब बड़े योगानन्द स्वामी ने कहा, 'मुझे नहीं लगता कि मैं इसका उत्तर दे सकूँगा।'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'वस्तुतः कर्म तो अमूर्त हैं, और इन कर्मों के परिणामस्वरूप होनेवाले शुभाशुभ फल मूर्तिमान होते हैं। और नास्तिक लोग ही कर्मों को मूर्तिमान कहते हैं,[13] वरना यह स्पष्ट है कि कर्म यानी क्रिया

13. जैन दर्शन में जीव, अजीव आदि सात तत्त्वों का स्वीकार किया गया है। ➤

कभी भी मूर्तिमान नहीं होती।'

इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने बहुत-सी वार्ताएँ की। उनमें से ये तो अल्पमात्र लिखी गई हैं।

॥ इति वचनामृतम् ॥2॥ ॥98॥

वचनामृत 3 : बाह्य प्रकृति से मनुष्य को परखना कठिन

संवत् 1877 में आश्विन कृष्णा सप्तमी (28 अक्तूबर, 1820) को सायंकाल श्रीजीमहाराज श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सिर पर श्वेत फेंटा बाँधा था, सफ़ेद धोती धारण की थी तथा श्वेत चादर ओढ़ी थी। वे उत्तर की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उनके समक्ष सभा में परमहंस तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'ये शुकमुनि बहुत बड़े साधु हैं। जिस दिन से ये हमारे पास हैं, उस दिन से इनकी उमंग चढ़ती ही दिखाई देती है। उसमें कभी मंदगति नहीं हुई। अतः ये तो मुक्तानन्द स्वामी के समान हैं।' इतना कहने के पश्चात् श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'मनुष्य को परस्पर लगाव होता है तो उसका कारण गुण है। और, एक और परस्पर अरुचि होती है, तो उसका कारण दोष-स्वभाव है। ऐसे गुण और दोषों की पहचान मनुष्यों की बाह्य प्रकृति से नहीं की जा सकती, क्योंकि कोई मनुष्य तो बिडाल की तरह नीची दृष्टि रखकर चलता है, परन्तु भीतर से वह अति कामी होता है। उसे देखकर कोई नासमझ आदमी ऐसा कहता है कि 'यह तो बहुत बड़ा साधु है।' यदि कोई मनुष्य आँखें फ़ाडकर नज़र डालता रहता हो, तो उसे देखकर वह नासमझ कहता है कि यह तो असाधु है, चाहे क्यों न वह भीतर से महानिष्कामी हो! इसलिए शरीर की ऊपरी प्रकृति देखकर मनुष्य के अच्छे या बुरे होने की परीक्षा नहीं हो सकती। उसकी परीक्षा तो साथ में

इनमें अजीव तत्त्व के अन्तर्गत पुद्गल का समावेश होता है। यह पुद्गल मूर्तिमान है। पुद्गलों की वर्गणा ही कर्मरूप बनकर जीवों को बंधन करती है। इस प्रकार पुद्गल मूर्तिमान होने के कारण कर्म को भी मूर्तिमान कहा है। (तत्त्वसमाससूत्र : 1/4; 5/1,4; 8/2)

रहने पर होती है। साथ में रहते समय बोलने-चालने, खाने-पीने, सोने और उठने-बैठने आदि क्रियाओं से ही उसके स्वभाव की सही जानकारी मिलती है। विशेषकर गुण-अवगुण युवावस्था में ही ज्ञात होते हैं, किन्तु बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था में ये मालूम नहीं पड़ते, क्योंकि कोई बाल्यावस्था में ठीक न हो और युवावस्था में अच्छा होता है, तथा कोई बाल्यावस्था में अच्छा रहता है और युवावस्था में बिगड़ जाता है।

और, जिस पुरुष को यह खटका लगा रहे कि मुझे यह जो संकल्प हुआ है, वह उचित नहीं है। फिर वह इस संकल्प को टालने का निरन्तर प्रयास करता रहे, और जब तक बुरा संकल्प न मिटे, तब तक वह अपनी सावधानी को बनाए रखे, तो ऐसे स्वभाववाले की युवावस्था में प्रगति होती रहती है, किन्तु जिसे जागृति न हो और प्रमादी बना रहे, वह नहीं बढ़ पाता। और, जो अच्छा हो, उसका परिचय तो बाल्यावस्था से ही होने लगता है।' इस सन्दर्भ में स्वयं अपने बचपन के त्यागी स्वभाव की बहुत-सी बातें कहीं। फिर बोले कि, 'जो अच्छा यानी उत्कृष्ट सद्गुणी होता है, उसे बचपन से ही लड़कों की सोहबत अच्छी नहीं लगती। वह चटोरा भी नहीं होता और देह का दमन किया करता है। देखिए न, मुझे अपनी बाल्यावस्था में ही स्वामी कार्तिकेय की तरह ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि 'मेरे शरीर में माता का भागरूपी जो रक्त एवं मांस है, उसे न रहने दिया जाए।' इसलिए अनेक प्रयत्न करके मैंने अपने शरीर को इतना सूखा दिया कि शरीर पर यदि चोट लग जाए, तो पानी की बूँद निकलती थी, पर रक्त नहीं निकलता था।' इस प्रकार, जो अच्छा होता है, वह तो बाल्यावस्था से ही पहचाना जाता है।'

तब भजनानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज! मानसिक रूप से ऐसा विचार रखना उचित है या शरीर का दमन करना ठीक है?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'कुछ दोष तो शरीर के हैं, और कुछ मन के दोष हैं, दोनों को जान लेना चाहिए। उनमें शरीर के कौन-से दोष हैं? तो शिश्न-इन्द्रिय में बार-बार उत्तेजना और खुजलाहट होना, शरीरबल के आधिक्य के कारण कूद-कूदकर चलना, घड़ीभर में सभी को देख लेना, क्षणभर में नाना प्रकार के गन्धों को सूँघ लेना, बीस-पच्चीस कोस तक चलकर मार्ग तय करना, बलपूर्वक किसी से भिड़कर उसकी हड्डियाँ तोड़

डालना तथा स्वप्न में वीर्यपात होना आदि दोष देह के दोष हैं। परन्तु ये दोष मन के नहीं हैं। इन शारीरिक दोषों के क्षीण हो जाने पर भी जब मन में काम, स्वाद, स्पर्श, गन्ध, शब्द, स्वाद के संकल्प तथा खाने-पीने या घूमने-फिरने के जो संकल्प बने रहते हैं, उन्हें मन के दोष जानना चाहिए। ऐसे मन और शरीर के दोषों को जानकर शारीरिक दोषों को शरीर का दमन करके टाल देना चाहिए। और, शरीर के क्षीण हो जाने के बाद मन के जो दोष रह जाएँ, उन्हें इस विचार द्वारा मिटा देना चाहिए कि मैं आत्मा हूँ; संकल्पों से भिन्न हूँ तथा आनंदरूप हूँ। **इस प्रकार देह का दमन तथा आत्मविचार, ये दो बातें जिसमें हों, वे बड़ा साधु है।** जिसे केवल शरीर का दमन ही है, किन्तु आत्म-विचार नहीं, तो वह ठीक नहीं, तथा जो केवल विचार ही रखता है, किन्तु देह का दमन नहीं करता तो वह भी ठीक नहीं है! इसलिए, ये दोनों गुण जिसमें हों, वही श्रेष्ठ है। ये दोनों साधन तो गृहस्थ सत्संगी को भी सुदृढ़ रखना चाहिए, तब त्यागी को तो इन दोनों को अवश्यमेव आत्मसात् करना चाहिए।

तब निष्कुलानंद स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज! इस प्रकार जो रहा जाता है वह विचार द्वारा रहा जाता है या वैराग्य द्वारा?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह तो बड़े सन्त की संगत द्वारा सिद्ध होता है। जिसको बड़े सन्त की संगत द्वारा भी ऐसी स्थिति सम्भव न हो सकी, वह महापापी है।' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'त्यागी होकर भी जो पुरुष गृहस्थों को भोगने योग्य भोगों की इच्छा रखता है, तो वह घास खाता है, क्योंकि उसे वे भोग प्राप्त तो होंगे नहीं, फिर भी वह ऐसे ही भोगों की इच्छा रखता है! अतएव, यही कहना पड़ेगा कि यह बात उसकी समझ में आई नहीं है। क्योंकि जिस गाँव में उसे जाना नहीं है, उसका नाम ही क्यों पूछा जाए? उसी प्रकार जिसने, जिस पदार्थ का त्याग किया हो, फिर यदि उन्हीं पदार्थों को पाने की अभिलाषा रखता है, तो क्या वह इसी देह द्वारा उपलब्ध हो सकता है? वह तो तभी संभव होगा, जब वह सत्संग से विमुख होगा। पर सत्संग में रहते हुए तो विषयभोगों की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः सत्संग में रहते हुए जो उन भोगों की इच्छा रखता है, वह मूर्ख है। क्योंकि जो सत्संग में रहेगा, उसे तो धर्म का पालन अवश्यमेव करना पड़ेगा।

जैसे कोई स्त्री सती होने के लिए निकली, फिर अग्नि को देखकर वह लौट रही हो, तो क्या उसके सम्बंधीजन उसको पीछे लौटने देंगे? वे तो उसको जबरन जला देंगे। तथा कोई ब्राह्मणी विधवा होने पर भी सौभाग्य-वती स्त्री के सदृश वेश रखती हो, तो उसके सम्बंधी लोग क्या उसे ऐसा परिधान धारण करने देंगे? कभी नहीं! वैसे ही, सत्संग में रहकर जो पुरुष अनुचित स्वभाव रखता है, वह इस प्रकार की बात नहीं समझ पाया है। यदि उसकी समझ में यह बात आ जाए, तो ऐसा अनुचित स्वभाव नहीं रह पाता।'

इसी प्रकार बात करके श्रीजीमहाराज 'जय स्वामिनारायण' कहकर शयन के लिए पधारे।

॥ इति वचनामृतम् ॥3॥ ॥99॥

वचनामृत 4 : जीव तथा साक्षी का ज्ञातृत्व

संवत् 1877 में आश्विन कृष्णा अष्टमी (29 अक्तूबर, 1820) को डेढ़ प्रहर दिन चढ़ने के बाद श्रीजीमहाराज श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष सभा में परमहंस तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

श्रीजीमहाराज बोले कि 'आपस में प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ कीजिए।' तब गोपालानन्द स्वामी ने भजनानन्द स्वामी से पूछा, 'इस देह में जीव का ज्ञातृत्व कितना है और साक्षी[14] का ज्ञातृत्व कितना है?' भजनानन्द स्वामी उत्तर देने लगे, किन्तु यथार्थ उत्तर न दे सके।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस देह में बुद्धि नख-शिखा-पर्यन्त व्याप्त होकर रहती है। वह बुद्धि समस्त इन्द्रियों की क्रिया को एककालावच्छिन्न रूप से जानती है तथा उस बुद्धि में जीव व्याप्त होकर रहता है। उस जीव का ज्ञातृत्व कहने से बुद्धि का ज्ञातृत्व कहा जाता है। और, उस जीव में परमात्मा साक्षीरूप में रहे हैं। अतएव, साक्षी के ज्ञातृत्व-कथन से जीव का ज्ञातृत्व भी कहा गया है।'[15]

14. जीव में अंतर्यामीरूप से रहनेवाले परमात्मा।
15. जीव अपनी ज्ञातृत्वशक्ति द्वारा संपूर्ण देह एवं बुद्धि में व्याप्त है। बुद्धि ➤

फिर श्रीजीमहाराज से नित्यानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज! इस जीव में जो साक्षी रहे हैं, वे तो मूर्तिमान होते हैं। और, जो मूर्तिमान होता है, वह व्यापक कैसे हो सकता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो मूर्तिमान हो, वह व्यापक भी हो सकता है। जैसे अग्निदेव अपने लोक में मूर्तिमान है तथा अपनी शक्ति द्वारा काष्ठ में रहा है, वैसे ही भगवान भी अपने अक्षरधाम में मूर्तिमान होकर अपनी अन्तर्यामी शक्ति के द्वारा जीवों में व्यापक होकर रहे हैं तथा मूर्तिमान की तरह क्रिया करते हैं, इसलिए इन्हें भी मूर्तिमान मानना चाहिए।'

॥ इति वचनामृतम् ॥4॥ ॥100॥

वचनामृत 5 : अवतार-धारण का प्रयोजन

संवत् 1877 में आश्विन कृष्णा चतुर्दशी (4 नवम्बर, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में छप्पर पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

फिर श्रीजीमहाराज बोले, 'हम एक प्रश्न पूछते हैं।' सभी मुनि बोले कि 'पूछिए महाराज!' तब श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'भगवान जीवों के कल्याण के लिए, पृथ्वी पर अवतार धारण करते हैं, तो क्या वे बिना अवतार धारण किए अपने धाम में रहकर ही जीवों का कल्याण करने में समर्थ नहीं हैं? और, जीवों का कल्याण तो भगवान अपनी इच्छा के अनुसार करते ही हैं तब अवतार धारण करने का प्रयोजन क्या है? और यदि अवतार धारण करके ही भगवान जीवों का कल्याण करने में समर्थ हों, तथा बिना अवतार धारण किए जीवों

मायाजन्य होने से जड होती है। उसमें स्वतः ज्ञातृत्व संभव नहीं है, वह तो जीव की ज्ञातृत्व शक्ति से ही कार्य करने के लिए समर्थ होती है। इसी कारण जीव का ज्ञातृत्व कहने से 'बुद्धि का ज्ञातृत्व' कहा जाता है। उसी प्रकार परमात्मा जीवात्मा में व्याप्त है, ऐसे साक्षीभाव से रहनेवाले परमात्मा की ही कार्यशक्ति के कारण जीवात्मा जानना, सुनना आदि बौद्धिक क्रिया करने में समर्थ होती है। अतः साक्षीरूप परमात्मा का ज्ञातृत्व कहने से जीवात्मा का ज्ञातृत्व कहा गया है। यही तात्पर्यार्थ है।

का कल्याण नहीं कर सकते, तो भगवान के सामर्थ्य में उतनी न्यूनता कही जा सकती है। अतः भगवान को अवतार धारण करने का क्या प्रयोजन है?'

फिर बड़े-बड़े साधुओं ने अपनी बुद्धि के अनुसार इसका उत्तर दिया, किन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का किसी से समाधान नहीं हो पाया। श्रीजी-महाराज ने शंकाएँ प्रकट कीं, अतः सबके उत्तर अयथार्थ सिद्ध हो गए। बाद में सभी मुनि हाथ जोड़कर बोले कि 'हे महाराज! इस प्रश्न का उत्तर तो आप ही दीजिए।'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'भगवान का अवतार-धारण करने का प्रयोजन यही है कि वे अपने से अत्यन्त प्रीति रखनेवाले भक्तजनों की भक्ति के अधीन होकर उन्हें सुख देने के लिए, उनकी इच्छा के अनुसार ही रूप धारण करते हैं और भक्तों के जो मनोरथ होते हैं, उन्हें पूर्ण करते हैं। और, भगवान के जो भक्त हैं, वे तो स्थूलभाव से युक्त हैं, तथा वे सब देहधारी होने के कारण भगवान भी स्थूलभाव को धारण करके देहधारी के समान हो जाते हैं, तथा वे अपने भक्तों से लाड़-दुलार करते हैं और अपने सामर्थ्य को छिपाकर उन भक्तों के साथ पुत्र-भाव से व्यवहार करते हैं अथवा सखाभाव से या मित्र-भाव से व्यवहार करते हैं। अथवा अपने सम्बंधीजन के समान व्यवहार करते हैं। इसी कारण, उस भक्त को भगवान की अधिक मर्यादा नहीं रहती। इसके पश्चात् भगवान अपने इन भक्तों की जैसी इच्छा होती है, तदनुसार इनसे लाड़-दुलार करते हैं। अतः भगवान के अवतार धारण करने का (प्रधान) उद्देश्य तो यही है कि अपने प्रेमी भक्तों के मनोरथ पूर्ण करना। इसके साथ-साथ ही वे असंख्य जीवों का कल्याण भी करते हैं। और, धर्म की स्थापना भी करते हैं। अब इसमें कोई शंका उठती हो, तो कहिए।' तब मुनियों ने कहा कि 'हे महाराज! आपने यथार्थ उत्तर दे दिया है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥5॥ ॥101॥

वचनामृत 6 : मत्सर समस्त विकारों का आधार

संवत् 1877 में आश्विन कृष्णा (5 नवम्बर, 1820) (उत्तर भारतीय कार्तिक कृष्ण) अमावस्या को दिवाली के दिन श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन के उत्तरी द्वार के कमरे के आगे दीपमाला जगमगा

रही थी। उस दीपमाला के बीच मंच सुशोभित किया गया था। उस मंच पर छप्पर पलंग बिछा हुआ था, जिस पर स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज विराजमान थे। उन्होंने सुनहरे बूटेदार लाल कीमखाब का चूड़ीदार पाजामा पहना था, 'नरनारायण, स्वामिनारायण' नामांकित काले कीमखाब की बगल-बंडी पहनी थी, सिर पर सुनहरे तार से गुथे चारों पल्लोंवाली कुसुम्बी पाग बाँधी थी और आसमानी रंग का फेंटा कमर में कसकर बाँधा था तथा कंठ में पीले पुष्पों के हार धारण किए थे। उनके समक्ष सभा में मुनिगण तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

इस अवसर पर दीव बंदरगाह के हरिभक्त आये थे। उन्होंने श्रीजी-महाराज की पूजा करने के लिए प्रार्थना की। तब श्रीजीमहाराज ने सिंहासन से उतरकर उस भक्त के सम्मुख जाकर उसकी पूजा अंगीकार की, तथा उस भक्त के द्वारा समर्पित वस्त्र, पीला छत्र तथा पादुकाएँ आदि को ग्रहण करके पुन: सिंहासन पर विराजमान हुए।

फिर श्रीजीमहाराज बोले, 'कितने ही वर्ष बीत गए, अनेक हरिभक्त हमारे लिए वस्त्र तथा हज़ारों रुपयों के अलंकार लाते हैं, परन्तु हम इस प्रकार किसी के भी सामने जाकर ऐसी वस्तुओं को स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार किसी के दिए गए मूल्यवान वस्त्र और आभूषण पहनकर भी इतने प्रसन्न नहीं हुए। आज तो हमें इस हरिभक्त पर अत्यन्त प्रसन्नता हुई।' तब मुनियों ने कहा, 'ऐसा ही यह प्रेमी हरिभक्त है।' इसी समय दीनानाथ भट्ट सभा में आकर श्रीजीमहाराज के चरणों में प्रणाम करके बैठे। तभी श्रीजीमहाराज ने वे सभी बहुमूल्य वस्त्र दीनानाथ भट्ट को दे दिए।

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! भगवान अपने भक्तों पर कौन-से गुणों से प्रसन्न होते होंगे?' श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो भक्तजन काम, क्रोध, लोभ, कपट, मान, ईर्ष्या तथा मत्सर से रहित होकर भगवान की भक्ति किया करते हैं, उन पर भगवान प्रसन्न होते हैं। इनमें भी मत्सर तो सभी विकारमात्र का आधार है। अत: श्रीव्यासजी ने श्रीमद्‌भागवत[16] में निर्मत्सर सन्त को ही भागवत धर्म का अधिकारी बताया है। इसलिए मत्सर तो समस्त विकारों से सूक्ष्म है, और उसे मिटाना भी

16. श्रीमद्‌भागवतम् : 1/1/2

अत्यन्त कठिन है।'

तब ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा, 'मत्सर को मिटाने का क्या उपाय है ?'

श्रीजीमहाराज बोले, 'जो सन्त के मार्ग पर चलता है तथा जो स्वयं सन्त होता है, उसका मत्सर मिट जाता है, किन्तु जिसे सन्त के मार्ग पर चलना ही नहीं है, उसका मत्सर नहीं टलता।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा, 'मत्सर के उत्पन्न होने का कौन-सा कारण है ?' तब श्रीजीमहाराज बोले, 'स्त्री, धन और स्वादिष्ट भोजन ये तीन मत्सर के हेतु बन जाते हैं। इन तीनों के उपरांत मान अर्थात् अहंकार भी मत्सर की उत्पत्ति का कारण बन जाता है। जिसका स्वभाव मत्सरपूर्ण होगा, उसे तो इस बात पर भी मत्सर उत्पन्न हो गया होगा कि हमने भट्टजी को ये वस्त्र दे दिए, परन्तु उस मत्सरवाले को यह विचार नहीं आता कि 'जो हरिभक्त वस्त्र लाए थे, उसे धन्य है कि उन्होंने ऐसे कीमती वस्त्र महाराज को अर्पण किया, तथा महाराज को भी धन्यवाद है कि उन्होंने ऐसे वस्त्र तुरन्त ब्राह्मण को दे दिए।' मत्सरवाले के हृदय में ऐसा विचार नहीं आता। लेकिन कोई लेता है और कोई देता है, फिर भी मत्सरवाला पुरुष व्यर्थ ही बीच में जलकर खाक होता रहता है।

और, हमें तो हृदय में लेशमात्र भी काम, क्रोध, लोभ, मान, मत्सर, ईर्ष्या आदि विकार उत्पन्न नहीं होते! तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध इन पंचविषयों का हृदय से अत्यन्त अभाव रहता है। परन्तु इन पंचविषयों में से हमें एक भी विषय में लेशमात्र भी भाव नहीं होता है। हम जो कुछ भी अन्न-वस्त्रादि ग्रहण करते हैं, उन्हें भक्त की भक्ति देखकर ही स्वीकार करते हैं; परन्तु अपने दैहिक सुख के लिए इन वस्तुओं को ग्रहण नहीं करते, और हम जो कुछ भी खाते-पीते, ओढ़ते और पहनते हैं, वह सन्त तथा सत्संगीजनों का मन रखने के लिए ही करते हैं। यदि ये पदार्थ भक्तों के लिए नहीं, बल्कि अपने लिए ज्ञात हों, तब हम उन पदार्थों का तत्काल त्याग कर देते हैं। तथा हम तो यह देह भी सत्संगियों के लिए ही रखते हैं, किन्तु इसका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है। सो हमारे इस स्वभाव को मूलजी ब्रह्मचारी तथा सोमला खाचर आदि हरिभक्त, जो कितने ही वर्षों से हमारे पास रहते हैं, वे अच्छी तरह जानते हैं कि 'महाराज को प्रभु के भक्तों के सिवा अन्य

किसी भी व्यक्ति के साथ स्नेह-सम्बंध नहीं है तथा महाराज तो आकाश के सदृश निर्लेप हैं।' इस प्रकार हमारे पास निरन्तर रहनेवाले भक्त, हमारे स्वभाव को जानते हैं। और, परमेश्वर से मन, कर्म एवं वचन से जुड़े हुए जो भगवद्भक्त हैं, उनके लिए यह हमारी देह भी श्रीकृष्णार्पण कर रखी है। इसलिए, समस्त प्रकार से हमारा सम्बंध केवल भगवान के भक्तों के साथ ही रहता है। और, भगवान के भक्तों के बिना तो हमारे मन में चौदह लोकों की सम्पत्ति भी तृणवत् प्रतीत होती है। तथा **जो भगवान के भक्त होंगे, और जिन्हें केवल भगवान के साथ ही दृढ़ प्रीति होगी, उन्हें भी रमणीय पंचविषयों में आनन्द होता ही नहीं है। और, वे देह को टिकाए रखने के लिए तो जैसे-तैसे साधारण शब्दादि विषयों के द्वारा गुज़ारा किया करें, परन्तु रमणीय विषयों से तो वे तत्काल उदासीन हो जाएँ। और, ऐसे हों, उन्हें ही भगवान का परिपूर्ण भक्त कहा जाता है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥6॥ ॥102॥

वचनामृत 7 : आत्यंतिक कल्याण

संवत् 1877 में कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा (6 नवम्बर, 1820) को रात्रि के समय श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के आगे दीपमाला जगमगा रही थी। उस दीपमाला के मध्यभाग में मंच बना हुआ था, जिस पर पलंग बिछा था। उस पलंग पर श्रीजीमहाराज विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे। उनके समक्ष सभा में परमहंस तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

उस समय बोचासण गाँव के काशीदास ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न किया कि 'हे महाराज! त्यागी पुरुष तो निवृत्तिमार्ग का अनुसरण करते हैं, अतः वे भगवान में निरंतर मनोवृत्ति बनाये रखते हैं, परन्तु जो गृहस्थाश्रमी हैं, वे प्रवृत्तिमार्ग पर चलते हैं, अतः उन्हें अनेक सांसारिक उलझनों ने घेर रखा है। अतएव, गृहस्थाश्रमियों के लिए कौन-सा उपाय है, जिससे भगवान के स्वरूप में उनकी भी निरंतर मनोवृत्ति बनी रहे?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'गृहस्थ को यह समझ रखनी चाहिए कि जिस प्रकार पूर्वजन्मों की चौरासी लाख योनियों में मेरे माँ-बाप और स्त्री-

पुत्र हुए थे, वैसे के वैसे इस देह के भी हैं। कितने ही जन्मों की कितनी ही माताएँ, बहनें और पुत्रियाँ आज न जाने कहाँ कहाँ घूमती-फिरती होंगी! जिस प्रकार मुझे उनकी ममता नहीं रही, वैसे ही इस देह के सम्बंधियों से भी मुझे ममता नहीं रखनी चाहिए। ऐसा विचार रखकर सबसे आसक्ति छोड़कर वे भगवान से ही दृढ़ प्रीति करें और साधुओं का संग करें। ऐसा करने से गृहस्थ को भी त्यागी की तरह भगवान में निरंतर वृत्ति रह सकती है।'

श्रीजीमहाराज की ऐसी बात सुनकर सभा में उपस्थित समस्त गृहस्थों ने हाथ जोड़कर पूछा 'हे महाराज! जिस गृहस्थ से इस तरह का आचरण न हो सके, उसका क्या हाल होगा?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह बात तो हमने उन लोगों के लिए कही है कि जो परमेश्वर के सिवा अन्य पदार्थों से समस्त वासनाओं को त्याग कर भगवान में ही निरंतर वृत्ति रखें। यदि वह ऐसा श्रद्धावान् न हो, तो उसे सत्संग की धर्ममर्यादा में रहकर सन्त और भगवान के आश्रय का संबल रखना चाहिए कि 'भगवान तो अधमोद्धारक और पतितपावन हैं, वे मुझे साक्षात् मिले हैं।' श्रीजीमहाराज के ऐसे वचनों को सुनकर समस्त हरिभक्त अत्यन्त प्रसन्न हुए।

फिर श्रीजीमहाराज ने साधुओं से प्रश्न पूछा कि 'हृदय में वैराग्य के उदय होने का क्या कारण है?' तब जिसे जैसा समझ में आया, उसने वैसा ही उत्तर दिया, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान नहीं हुआ। बाद में समस्त मुनि यह बोले कि 'हे महाराज! इसका उत्तर आप दीजिए।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'हृदय में वैराग्य के उदय होने का कारण यह है कि सद्ग्रन्थों एवं सत्पुरुषों के वचनों को सुनकर जिसे चोट लग जाए और वह चोट भी ऐसी हो, जो कभी भी न मिटे, तो वही वैराग्य का हेतु बन जाती है; इसके सिवा दूसरा कोई वैराग्य का कारण नहीं है। और, जिसे चोट लगती हो, फिर वह तामसी हो, या राजसी हो, या सात्त्विकी हो - उन सभी को वैराग्य उत्पन्न होता है। लेकिन जिसे ऐसी चोट नहीं लगती हो, उसे वैराग्य नहीं उत्पन्न हो सकता। और, जिसे चोट लगकर थोड़े दिनों के बाद ही वह मन्द हो जाती हो, तो उस चोट का वैराग्य उसके लिए महाविनाश का कारण बन जाता है। क्योंकि चोट लग जाने के कारण वेग ही वेग में जब

वह घर छोड़कर निकल पड़ता है और त्यागी होने के बाद वेग मन्द होता हुआ समाप्त हो जाता है। और, वह जब घर वापस लौटता है, तब घर तो मटियामेट ही हो गया होता है; फिर वह दोनों ओर से पथभ्रष्ट हो जाता है। जैसे 'धोबी का कुत्ता न घर का, न घाट का।' इस उक्ति अनुसार वह पुरुष भी उभयभ्रष्ट होता है। और, जो पुरुष दृढ़ वैराग्यवान होता है, वह परमपद को प्राप्त होता है।'

पश्चात् श्रीजीमहाराज ने अति प्रसन्न होकर परमहंसों से दूसरा प्रश्न पूछा कि 'आत्यन्तिक कल्याण किसे कहा जाए? तथा जो पुरुष आत्यन्तिक कल्याण को पाकर सिद्धदशा को प्राप्त हुआ हो, उसकी समस्त क्रियाओं में कैसी स्थिति रहती है?'

इस प्रश्न का उत्तर भी समस्त मुनियों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार दिया। परन्तु, श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान नहीं हुआ। तब समस्त मुनियों ने हाथ जोड़कर श्रीजीमहाराज से निवेदन किया कि 'हे महाराज! इसका उत्तर आप दीजिए।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब ब्रह्मांड का प्रलय होता है, तब प्रकृति के कार्यरूप चौबीस तत्त्व प्रकृति में लीन हो जाते हैं तथा प्रकृति-पुरुष भी अक्षरब्रह्म के तेज में अदृश्य हो जाते हैं। बाद में अकेला सच्चिदानन्द (चिद्घन) तेज रह जाता है। उस तेज में दिव्यमूर्ति पुरुषोत्तम भगवान वासुदेव निरंतररूप से विराजमान रहते हैं। वे ही स्वयं दिव्यमूर्ति होते हुए जीवों के कल्याण के लिए मनुष्याकृति द्वारा पृथ्वी पर सभी लोगों को दृष्टिगोचर होकर विचरण करते हैं। तब संसार के जो नासमझ-मूर्ख जीव हैं, वे उन भगवान को मायिक गुणों से युक्त कहते हैं परन्तु, भगवान मायिक गुणयुक्त नहीं हैं; वे सदैव गुणातीत दिव्यमूर्ति ही हैं। और, भगवान का उसी साकार दिव्यस्वरूप को वेदान्त शास्त्र 'निर्गुण, अछेद्य, अभेद्य तथा सर्वव्यापक' बताकर उसका प्रतिपादन करता है, वह जीव की बुद्धि में से भगवान के स्वरूप सम्बंधी मायिक भावों को मिटाने के लिए भगवान को निर्गुणरूप कहकर प्रतिपादन करता है, किन्तु भगवान तो उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय तीनों समय एकरूप से ही विराजमान रहते हैं, परन्तु मायिक पदार्थों की तरह विकार को प्राप्त नहीं होते; सदा दिव्यरूप से ही विराजमान रहते

हैं। इस प्रकार से **प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम में जो दृढ़ निष्ठा रहती है, उसी को आत्यन्तिक कल्याण कहते हैं। और, ऐसी निष्ठा को पाकर जो सिद्ध-दशा को प्राप्त हुआ हो, उसकी स्थिति इस प्रकार रहती है कि वह पिंड, ब्रह्मांड तथा प्रकृतिपुरुष का प्रलय होने के पश्चात् अक्षरधाम में अखंडरूप से विराजमान भगवान की मूर्ति को स्थावर-जंगम आदि सभी आकारों में जहाँ-जहाँ दृष्टि पहुँचे, वहाँ-वहाँ साक्षात् देखता है तथा उसे इस मूर्ति के सिवा अन्य कुछ भी अणुमात्र भी नहीं दिखायी पड़ता, यही सिद्धदशा का लक्षण है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥7॥ ॥103॥

वचनामृत 8 : सगुण-निर्गुण स्वरूप

संवत् 1877 में कार्तिक शुक्ला चतुर्थी (9 नवम्बर, 1820) को श्रीजीमहाराज श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे। उनके समक्ष सभा में मुनिगण तथा भिन्न-भिन्न स्थानों के हरिभक्त बैठे थे।

तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न किया 'हे महाराज! वेदों, शास्त्रों, पुराणों और इतिहास में भगवान के सगुण तथा निर्गुण दोनों ही स्वरूपों का निरूपण किया गया है। इसमें भगवान श्रीपुरुषोत्तम के निर्गुण स्वरूप को किस प्रकार समझना चाहिए, तथा उनके सगुण स्वरूप को किस प्रकार समझना चाहिए?[17] भगवान के निर्गुण स्वरूप समझने से कैसा लाभ होता है और भगवान के सगुण स्वरूप समझने से कैसा लाभ होता है?'

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान का निर्गुण स्वरूप तो सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म है, तथा पृथ्वी आदि समस्त तत्त्वों की वही आत्मा है। इसके उपरांत वह उनसे भी परे जो प्रधानपुरुष हैं, उनकी आत्मा है; और उन प्रधान-पुरुष से पर जो शुद्ध पुरुष तथा प्रकृति हैं, उनकी आत्मा है; और, उनसे भी

17. श्रीजीमहाराज यहाँ 'सगुण' और 'निर्गुण' इन दोनों शब्दों का 'गुणसहित' तथा 'गुणरहित' अर्थ से भिन्न निरूपण करते हैं, जिसे कठोपनिषद् (1/2/20) में **'अणोरणीयान्'** आदि श्रुतियों में अंशतः कहा गया है।

परे जो अक्षर, उसकी भी आत्मा हैं। ये सब भगवान के शरीर हैं। और जैसे जीवात्मा देह से सूक्ष्म, शुद्ध तथा अधिक प्रकाशमान है, वैसे ही भगवान इन सभी से अतिशय सूक्ष्म हैं, और अतिशय शुद्ध हैं, और अतिशय निर्लेप हैं, एवं अतिप्रकाशयुक्त हैं।

और जैसे आकाश, पृथ्वी आदि चार भूतों में व्यापक है, फिर भी उन चारों भूतों से असंगी है और उन चार भूतों की उपाधि का आकाश को स्पर्श तक नहीं होता, क्योंकि आकाश तो अत्यन्त निर्लिप्त रहकर इन चार भूतों में रहा है, वैसे ही पुरुषोत्तम भगवान सबकी आत्मारूप होकर उनमें रहे हैं, फिर भी वे नितान्त निर्विकार हैं, और असंगी हैं, और स्वयं अपने स्वभाव से युक्त हैं। और, उनके समान होने में कोई भी समर्थ नहीं होता। जैसे आकाश चार भूतों में रहा है, परन्तु ये चारों भूत आकाश के समान निर्लेप और असंगी होने में समर्थ नहीं होते, वैसे ही पुरुषोत्तम भगवान यद्यपि सबकी आत्मा हैं, फिर भी अक्षर पर्यन्त कोई भी उनके समान समर्थ होने के लिए समर्थ नहीं होता। इस प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्मता, अतिशय निर्लेपता, अतिशय शुद्धता, अतिशय असंगीभाव, अतिशय प्रकाशयुक्तता तथा अतिशय ऐश्वर्य से युक्तता ये सभी उन भगवान की मूर्ति में निर्गुणता के द्योतक हैं।

और, जैसे गिरनार पर्वत को लोकालोक पर्वत के पास रखा जाए, तो वह अत्यन्त छोटा दिखायी पड़ेगा, किन्तु इससे गिरनार पर्वत कोई छोटा नहीं हो गया। परन्तु, वह तो लोकालोक पर्वत की अतिशय महत्ता के आगे छोटा दिखायी पड़ता है, वैसे ही पुरुषोत्तम भगवान की महत्ता के आगे अष्ट आवरणयुक्त अनन्तकोटि ब्रह्मांड अणु सदृश, अतिसूक्ष्म दीख पड़ते हैं, परन्तु इससे ब्रह्मांड कहीं छोटे नहीं हो गए! वे तो भगवान की महत्ता के आगे छोटे दीख पड़ते हैं। इस प्रकार भगवान की मूर्ति की अतिशय महत्ता ही भगवान की सगुणता है।'

तब किसी को ऐसी आशंका हो सकती है कि 'भगवान निर्गुणरूप से अतिसूक्ष्म की अपेक्षा भी सूक्ष्म हैं, तथा सगुणरूप से वे अति स्थूल आकार की अपेक्षा भी स्थूल हैं, तब इन दोनों रूपों को धारण करनेवाले भगवान का मूल स्वरूप कैसा है ?' तो इसका उत्तर इस प्रकार है कि प्रकट प्रमाण भगवान मनुष्याकार में दिखाई पड़ते हैं, यही भगवान का सदा-सर्वदा के लिए मूल

स्वरूप है। और, भगवान की निर्गुणता तथा सगुणता तो उनकी मूर्ति का कोई एक अलौकिक ऐश्वर्य है। जैसे श्रीकृष्ण भगवान जब ब्राह्मण के खोए हुए पुत्र को लाने के लिए अर्जुन के साथ रथ में बैठकर चले, तब लोकालोक पर्वत को पार करने के बाद उनके समक्ष माया का जो तमस् (अन्धकार) उपस्थित हुआ, उसे उन्होंने सुदर्शन चक्र द्वारा काट दिया और उसके ऊपर विद्यमान ब्रह्मज्योति में रहनेवाले भूमापुरुष के पास जाकर ब्राह्मण के पुत्र को ले आये, तब रथ और घोड़े मायिक तथा स्थूलभाव से युक्त थे, परन्तु श्रीकृष्ण भगवान के योग से अतिसूक्ष्म और चैतन्यरूप होकर वे भगवान के निर्गुण ब्रह्मधाम को प्राप्त हुए। इस प्रकार स्थूल पदार्थ को सूक्ष्मभाव प्राप्त करा देना, वह श्रीकृष्ण भगवान की निर्गुणता है। वही श्रीकृष्ण भगवान ने अपनी माता यशोदाजी को अपने मुख में अष्टावरणयुक्त समग्र ब्रह्मांड को दिखाया तथा अर्जुन को अपनी मूर्ति में विश्वरूप का दर्शन कराया, किन्तु अर्जुन के सिवा दूसरे लोगों को तो भगवान की साढ़े तीन हाथ की मूर्ति ही दिखाई पड़ रही थी। जब भगवान ने वामनावतार धारण किया, तब पहले तो उन्होंने वामनरूप में दर्शन दिए और राजा बलि से तीन चरण पृथ्वी श्रीकृष्णार्पण करा लेने के पश्चात् अपना स्वरूप इतना बढ़ाया कि उनका एक चरण तो सात पातालों तक फैल गया और पूरे आकाश में उनका शरीर व्याप्त हो गया। दूसरा चरण उन्होंने इतना ऊँचा रखा, कि सात स्वर्गों को बेधकर अंडकटाह को फोड़ डाला। भगवान के ऐसे विराट स्वरूप को बलि राजा ने देखा। बलि राजा के सिवाय जो अन्य पुरुष थे, उन्हें भगवान का वामनस्वरूप ही दिखाई पड़ा। इस प्रकार, भगवान में अतिशय महत्ता से भी अधिक महत्ता दिखाई पड़े, वह भगवान की मूर्ति का सगुणभाव जानना।

जैसे शीतकाल तथा उष्णकाल के समय आकाश निरभ्र रहता है, किन्तु वर्षा-ॠतु के दिनों आकाश असंख्य मेघों की घटाओं से भर जाता है। आकाश में बादल समय-समय पर पैदा होते हैं, फिर विलीन हो जाते हैं, वैसे ही भगवान अपनी इच्छा द्वारा अपने स्वरूप में से निर्गुण तथा सगुणरूप ऐश्वर्यों को प्रकट करते हैं और फिर उन्हें अपने में ही विलीन कर लेते हैं। ऐसे भगवान भले ही मनुष्यसदृश दिखाई पड़ते हों, फिर भी उनकी महिमा का पार कोई भी नहीं पा सकता। जो भक्त इस प्रकार भगवान की मूर्ति में

निर्गुणभाव तथा सगुणभाव को समझ लेता है, उस भक्त को काल, कर्म तथा माया अपने बन्धन में लेने के लिए समर्थ नहीं होते तथा उसको आठों प्रहर अपने हृदय में आश्चर्य रहा करता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥8॥ ॥104॥

वचनामृत 9 : भक्तों से मलिन रीस

संवत् 1877 में कार्तिक शुक्ला पंचमी (10 नवम्बर, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। वे श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष सभा में मुनिगण तथा स्थान-स्थान से आए हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने नित्यानन्द स्वामी तथा ब्रह्मानन्द स्वामी से प्रश्न किया कि 'जिसके हृदय में ऐसी मलिन रीस रहती हो कि किसी के साथ गांठ पड़ जाए, तो उसके साथ गांठ बनाए रखे और भैंसे की भाँति रीस रखा करें, ऐसा जो हो, उसे साधु कहा जाए या नहीं?' तब दोनों मुनि बोले कि 'जो ऐसा हो, उसे साधु नहीं कहा जाना चाहिए।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न किया कि 'हे महाराज! भगवान के जिस भक्त के हृदय में किसी भगवदीय का अवगुण दिखाई देता हो तथा उसी कारण उस भगवद्भक्त पर रीस भी रहती हो, तो उस अवगुण को मिटा देने का कौन-सा उपाय है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, **'जिसके हृदय में भगवान की भक्ति हो एवं जो भगवान की महिमा जानता हो, उसे तो भगवान के भक्त में अवगुण दिखाई ही नहीं पड़ेगा, तथा भक्त के साथ रीस की ग्रन्थि बनेगी ही नहीं।** जैसे उद्धवजी यदि भगवान की महिमा को समझते थे, तो उन्होंने ऐसा वर माँगा कि 'इन गोपियों की चरणरज के अधिकारी इस वृन्दावन में लता, तृणों और गुच्छों में से मैं भी कोई हो जाऊँ।' और, श्रीकृष्ण भगवान ने बलदेवजी से कहा है कि वृन्दावन-स्थित वृक्ष, पक्षी तथा मृग आदि अत्यन्त महा भाग्यशाली हैं। तथा ब्रह्मा ने भी श्रीकृष्ण भगवान से यह

वर माँगा है कि 'हे प्रभो! इस जन्म में अथवा पशुपक्षी के जन्म में मैं आपके दासों के बीच रहकर आपके चरणारविन्दों की सेवा करता रहूँ, ऐसा मेरा महान भाग्य हो।'

अतः जब कोई पुरुष भगवान के भक्त की ऐसी महिमा समझ लेता है, तब उसके भीतर भगवद्भक्त के प्रति कभी भी अवगुण की ग्रंथि नहीं बनती, तथा अपने इष्टदेव जो प्रत्यक्ष भगवान हैं, उनके भक्त में कोई अल्प दोष होगा भी तो महिमा समझनेवाले की दृष्टि उस दोष पर जाती ही नहीं। और, जो भगवान की महिमा को जानता हो, वह तो भगवान के सम्बंध को प्राप्त हुए पशु-पक्षियों तथा वृक्षलता आदि तक को भी जब देवतुल्य माने, तब जो मनुष्य हो और भगवान की भक्ति करता हो तथा व्रत-नियम का पालन करता हो, एवं भगवान का वह नामस्मरण करता हो उसको तो देवसदृश ही मानेगा, तथा उसमें कोई दोष नहीं देखेगा, इसके लिए कहना ही क्या? अतः जो पुरुष भगवान की महिमा को समझता है, उसका भगवान के भक्त के साथ कभी वैर नहीं होता, परन्तु जो भगवान के माहात्म्य को नहीं जानता, उसका भगवद्भक्त के साथ वैर जरूर हो जाता है। अतः **जो पुरुष भगवान के तथा भगवान के भक्त के माहात्म्य को नहीं जानता हो, तो उसे सत्संगी होते हुए भी आधा विमुख समझना चाहिए, तथा भगवान एवं भगवान के भक्त की महिमा जो समझता है, उसी को पूर्ण सत्संगी मानना चाहिए।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥9॥ ॥105॥

वचनामृत 10 : तप से भगवान की प्रसन्नता

संवत् 1877 में कार्तिक शुक्ला दशमी (बुधवार, 15 नवम्बर, 1820) को रात्रि के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे में विराजमान थे। उनके मुखारविन्द के समक्ष दस-बारह बड़े सन्त तथा पाँच-छः हरिभक्त बैठे हुए थे। श्रीजीमहाराज को कुछ ज्वर था। वे अंगीठी रखकर ताप रहे थे। उस सयम श्रीजीमहाराज ने मुक्तानन्द स्वामी से कहा कि 'हमारी नाड़ी देखिए, देह में कुछ कसर मालूम होती है।' तब मुक्तानन्द स्वामी ने नाड़ी

देखकर कहा कि 'हे महाराज! कसर तो बहुत है।' फिर उन्होंने कहा कि 'हे महाराज! अभी सत्संगियों का कठिन काल उपस्थित हो गया है, क्योंकि आप तो समस्त सत्संगियों के जीवन-प्राण हैं। इसलिए, आपकी देह में जो कसर-जैसा कुछ प्रतीत होता है, यही सभी सत्संगियों के लिए कठिन काल है।'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान को प्रसन्न करने के लिए नारदजी ने कितने ही युगों तक शीत-धूप और भूख-प्यास को सहन करके महातप किया, उसी महातप द्वारा उन्होंने भगवान को प्रसन्न किया। इस प्रकार जो विवेकी पुरुष होते हैं, वे जान-बूझकर अपनी देह और इन्द्रियों का दमन करके तप करते हैं। इसलिए, विवेकी साधुओं को जान-बूझकर अपनी देह तथा इन्द्रियों को कष्ट हो, ऐसा आचरण करना चाहिए। तब फिर ईश्वरेच्छा से जो कष्ट आएँ, उन्हें मिटाने की इच्छा क्यों करनी चाहिए? त्यागी साधुओं को अपने मन में ऐसी दृढ़ इच्छा रखनी चाहिए कि 'मुझे देवलोक, ब्रह्मलोक तथा वैकुंठ आदि लोकों के पंचविषय सम्बंधी भोग तथा सुख नहीं चाहिए। मुझे अपनी देह के रहते हुए या फिर देहान्त होने के बाद बदरिकाश्रम तथा श्वेतद्वीप में जाकर तपस्या द्वारा भगवान को प्रसन्न करना है। भले ही, एक जन्म, दो जन्म तथा सहस्र जन्मों तक भी तप करके ही भगवान को प्रसन्न करना है।'

वास्तव में जीव का कल्याण इतनी ही बात में है कि 'प्रकटप्रमाण श्रीकृष्ण नारायण के द्वारा ही किया हुआ सब-कुछ होता है, किन्तु काल, कर्म और माया आदि का किया हुआ कुछ नहीं होता। इस प्रकार **भगवान में सर्व कर्तापन मानना यही एक मोक्ष का परम हेतु है।** तथा तप करना सो तो भगवान की प्रसन्नता के उद्देश्य से ही करना है। और, उस तप में भी राधिकाजी तथा लक्ष्मीजी जिस प्रकार भगवान में प्रेमलक्षणा भक्ति द्वारा भाव रखती हैं, वैसा ही भाव रखना चाहिए। और यदि कोई तप न कर सके, परन्तु भगवान को ही सर्वकर्ता समझे, तो भी वह जीव जन्म-मरण के दुःखों से मुक्त हो जाता है, फिर भी तप किए बिना उस जीव पर भगवान की प्रसन्नता नहीं होती।

और जो मनुष्य भगवान को ही सर्व-कर्ताहर्ता नहीं मानता, उससे बड़ा कोई दूसरा पापी नहीं है। उसे गौहत्या, ब्रह्महत्या, गुरुस्त्री-संग तथा ब्रह्मवेत्ता

सद्‌गुरु का द्रोह करनेवाले पुरुष की भी अपेक्षा घोर पापी समझना चाहिए। क्योंकि वह भगवान को कर्ता न मानकर काल-कर्मादि को कर्ता समझता है। अतः ऐसे नास्तिक-चांडाल की छाया तक में नहीं खड़ा रहना चाहिए और भूल से भी उसके मुख का वचन नहीं सुनना चाहिए। और, जो भगवान के भक्त हों, वे परमेश्वर के प्रताप से ब्रह्मा, शिव, शुकजी, नारद जैसे हो जाए, तथा प्रकृति-पुरुष[18] जैसे बन जाए, और ब्रह्म[19] एवं अक्षर के सदृश भी हो सकते हैं, परन्तु श्रीपुरुषोत्तम नारायण के समान होने में तो कोई भी समर्थ नहीं होता। **अतएव, जिसके संग से तथा जिन शास्त्रों के श्रवण से भगवान की उपासना का खंडन होता हो तथा स्वामी-सेवकभाव मिट जाता हो, वैसे संग तथा शास्त्रों का श्वपच (चांडाल) की भाँति तुरन्त त्याग कर देना।'**

तत्पश्चात् मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज! जो भक्त सुन्दर वस्त्रों, अलंकारों तथा नाना प्रकार के भोजन और अन्य वस्तुओं द्वारा भगवान की सेवा करता है, वह भी भगवान को प्रसन्न करना चाहता है, परन्तु आप तो ऐसा कहते हैं कि भगवान तप द्वारा ही प्रसन्न होते हैं। यदि वह बिना तप किए ही ऐसी सेवा द्वारा भगवान को प्रसन्न करने का प्रयास करता है, तो उसमें क्या बाध है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो भक्त अच्छे-अच्छे पदार्थों द्वारा भगवान की भक्ति करता है, वह यदि निष्कामभाव से केवल भगवान की प्रसन्नता के लिए ही ऐसा करता हो तब तो ठीक है, परन्तु यदि वह स्वयं भगवान की प्रसादी समझते हुए उन पदार्थों में लुब्ध हो जाए और भगवान को छोड़कर उन पदार्थों से प्रीति करने लगे, तो उन पदार्थों को भोगते हुए विषयासक्त होने के कारण वह भ्रष्ट हो जाता है, यही बाधा आती है। अतएव, त्यागी भक्त को तो भगवान को ही सर्वकर्ता समझकर तप द्वारा ही परमेश्वर को प्रसन्न करना तथा राधिकाजी और लक्ष्मीजी की तरह प्रेमलक्षणा भक्ति द्वारा भगवान का भजन करना चाहिए, यही हमारा सिद्धान्त है।'

---

18. यहाँ 'प्रकृति' शब्द से प्रधान-प्रकृति समझकर 'प्रधानपुरुष' का संदर्भ है।
19. यहाँ 'ब्रह्म' शब्द से अक्षरब्रह्मात्मक मुक्त अथवा 'प्रकृतिपुरुष' का संदर्भ समझना। वचनामृत गढडा मध्य प्रकरण 31 में उन्हीं को 'ब्रह्म' कहा गया है।

फिर ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज ! आप हमें वह उपाय बताइए, जिससे इस लोक तथा परलोक में हमारा कल्याण हो जाए।'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'यह जो हमारा सिद्धान्त है, वही इस लोक तथा परलोक में परमसुख का हेतु है।'

फिर गोपालानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज! त्याग तथा तप करने की मन में चाहत तो होती है, किन्तु त्याग या तप करते समय बीच में ही कोई विघ्न आ पड़े, तो उसके लिए क्या करना चाहिए?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे, जिस बात की सच्ची चाहत रहती है, उसके सामने यदि बीच में ही हजारों विघ्न उपस्थित हों, तो भी वह इन विघ्नों के रोकने से नहीं रुकता, वही उसकी सच्ची चाहत है, ऐसा समझें। देखिये न, हम पिछले इक्कीस वर्षों से श्रीरामानन्द स्वामी के सान्निध्य में आये हैं। यहाँ नाना प्रकार के वस्त्र, अलंकार और खान-पान इत्यादि द्वारा सेवा करनेवाले असंख्य भक्त मिले हैं, परन्तु हमारा मन किसी भी पदार्थ में आकृष्ट नहीं हुआ, ऐसा इसलिए कि हमें त्याग करने की चाहत बनी हुई है।

और, इस संसार में कितनी ही विधवा स्त्रियाँ हैं, जो अपने पतियों की मृत्यु पर फूट-फूट कर रुदन ही करती रहती हैं तथा कितनी ऐसी स्त्रियाँ भी हैं, जो अपने पति का भी त्याग करके भगवान का भजन करती रहती हैं। और, कितने मूर्ख लोग हैं, जो अपनी स्त्रियों के मर जाने पर रोते रहते हैं और दूसरी स्त्रियों को पाने के लिए दौड़-धूप किया करते हैं। किन्तु कितने ही ऐसे वैराग्यवान पुरुष हैं, जो अपनी पत्नी का भी परित्याग करके परमेश्वर का भजन करते रहते हैं। इस प्रकार, सबकी चाहत भिन्न-भिन्न प्रकार की है।

और, **हमारी तो यही चाहत है और यही सिद्धान्त है कि 'तप द्वारा भगवान को प्रसन्न करना, तथा भगवान को ही सबके कर्ता-हर्ता जानकर स्वामी-सेवक भाव से उन परमेश्वर की भक्ति करना तथा भगवान की उपासना को किसी भी प्रकार से खंडित नहीं होने देना।' अतः आप सब भी हमारे इन वचनों को परम सिद्धांत के रूप में मानिएगा।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥ 10 ॥ ॥ 106 ॥

वचनामृत 11 : प्रीति के लक्षण

संवत् 1877 में कार्तिक शुक्ला एकादशी (16 नवम्बर, 1820) को श्रीजीमहाराज श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में रात्रि के समय विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी। सफ़ेद छींट की बगलबंडी पहनी थी, श्वेत पाग बाँधी थी और गुलदावदी के पीले तथा लाल पुष्पों के हार पहने थे। पाग में पीले पुष्पों के तुर्रे लटक रहे थे। उनके दोनों तरफ दो नाई मशालें लेकर खड़े थे। उनके समक्ष सभा में मुनिगण तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज से सच्चिदानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'जिसे भगवान में प्रीति है, उसके कैसे लक्षण होते हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे अपने प्रियतम भगवान से प्रीति होती है, वह अपने प्रियतम की मरज़ी का उल्लंघन कभी नहीं करता, यही प्रीति का लक्षण है। जैसे गोपियों को श्रीकृष्ण भगवान से स्नेह था, तो जब श्रीकृष्ण भगवान मथुरा जाने के लिए तैयार हुए, तब समस्त गोपियों ने मिलजुलकर यह विचार किया कि 'हम कुटुम्ब तथा संसार की लज्जा का त्याग करके भगवान को हठपूर्वक रोक रखेंगे।' परन्तु, प्रस्थान के समय गोपियों ने जब श्रीकृष्ण भगवान के नेत्रों के सामने देखा, तब उन्हें भगवान की (गोकुल में) रहने की मरज़ी नहीं दिखायी दी। उस क्षण वे डर के मारे दूर ही खड़ी रहीं और अन्तःकरण में भय से सहम गयीं कि 'यदि हमने भगवान की इच्छा का अनुसरण नहीं किया, तो भगवान को हमसे प्रीति नहीं रहेगी।' ऐसा विचार करके वे कुछ भी नहीं कह सकीं। फिर भगवान मथुरा पधारे और वे केवल तीन कोस की दूरी पर ही थे, फिर भी गोपियाँ भगवान की इच्छा के विपरीत किसी भी दिन उनके दर्शनों के लिए नहीं गईं और गोपियो ने समझा कि 'भगवान की इच्छा के विरुद्ध यदि हम मथुरा जाएँगीं, तो हमसे भगवान की जो प्रीति है, वह मिट जाएगी।' अतः प्रीति का यही स्वरूप है, 'जिसे जिसके साथ स्नेह हो, वह उसकी मरज़ी के अनुसार ही रहे।' और, यदि अपने प्रियतम को, अपनी निकटता रहने पर प्रसन्न देखे, तो वह निकट रहे, तथा अपने प्रियतम की मरज़ी उसने दूर रखने की देखी,

तो वह दूर रहकर राजी रहेगा। परन्तु किसी भी प्रकार से अपने प्रियतम की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। प्रेम का यही लक्षण है। जैसे गोपियों को भगवान के साथ सच्चा प्रेम था, तो वे बिना आज्ञा के भगवान के दर्शन करने नहीं गईं। और, भगवान ने जब उन्हें कुरुक्षेत्र में बुलाया, तब उन्होंने वहाँ जाकर भगवान का दर्शन किया, किन्तु उनके वचनों का उल्लंघन किसी भी प्रकार नहीं किया। अत: **जिसे भगवान से प्रेम होता है, वह भगवान की आज्ञा का किसी भी परिस्थिति में उल्लंघन नहीं करता, और भगवान को जो प्रिय लगता हो, उसी प्रकार से वह आचरण करता है, वही प्रीति का लक्षण है।'**

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज ने कहा कि, 'अच्छा, अब हम एक प्रश्न पूछते हैं।' मुनियों ने कहा, 'हे महाराज ! पूछिए।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान का जो भक्त होता है, वह भगवान की मूर्ति के सम्बंध से रहित अन्य-सम्बंधी पंचविषयों को तुच्छ मानता हो और पाँचों प्रकार से एकमात्र भगवान का ही सम्बंध रखता हो, ऐसे भक्त को भगवान आज्ञा दें कि 'तुम हमसे दूर जाकर रहो।' तब वह यदि भगवान के दर्शन का लोभ रखेगा, तो आज्ञा का उल्लंघन होगा, यदि वह भगवान की आज्ञा का पालन नहीं करेगा, तो उस भक्त के साथ भगवान का स्नेह नहीं रहेगा। इसलिए, उस भक्त ने जिस प्रकार मायिक शब्दादि पंचविषयों का त्याग कर दिया है, वैसे ही क्या वह भगवान सम्बंधी शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध का भी परित्याग कर देता है या नहीं?'

फिर समस्त मुनियों ने मिलकर अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर दिया। परन्तु, इस प्रश्न का समाधान नहीं हुआ। तब उन्होंने श्रीजीमहाराज से निवेदन किया, 'हे महाराज! इसका उत्तर आप ही दीजिए।'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जिसे भगवान से दृढ़ प्रीति बनी हुई है और जिसने भगवान के अखंड सम्बंध से रहित मायिक पंचविषयों को तुच्छ समझा है तथा जो भगवान सम्बंधी शब्दादि पंचविषयों द्वारा भगवान के साथ दृढ़ता-पूर्वक जुड़ा है, वह भक्त भगवान की आज्ञा से जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ भगवान की मूर्ति भी उस भक्त के साथ ही जाती है। जैसे उस भक्त को भगवान के बिना कहीं मन नहीं लगता, वैसे ही भगवान को भी

उस भक्त के बिना नहीं रहा जाता! और ऐसे भक्त के हृदय से वे निमिषमात्र भी दूर नहीं रहते। इस प्रकार भगवान के साथ उस भक्त का पाँचों प्रकार से अखंड सम्बंध बना रहता है। क्योंकि जिन शब्दादि पंचविषयों के बिना जीवमात्र से रहा नहीं जाता, ऐसे विषयों को उसने तुच्छ मान लिया है तथा पाँचों प्रकार से वह भगवान में ही तन्मय बना हुआ है। इसलिए भगवान के साथ उस भक्त का अखंड सम्बंध बना रहता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥11॥ ॥107॥

वचनामृत 12 : इमली के चीयें का दृष्टांत; कारण शरीर का नाश

संवत् 1877 में कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा (20 नवम्बर, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीकारियाणी ग्राम-स्थित वस्ताखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सफ़ेद धोती धारण की थी, श्वेत छींट की बगलबंडी पहनी थी और सफ़ेद फेंटा बाँधा था और मुँह पर आकंठ दुपट्टा बाँधकर नकाब किया था। उनके समक्ष सभा में परमहंस तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय श्रीजीमहाराज कहने लगे कि 'प्रश्नोत्तर प्रारम्भ कीजिए।' तब मुनियों ने परस्पर पर्याप्त समय तक प्रश्नोत्तरी की। इस अवसर पर बातों ही बातों में स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण इन तीन शरीर तथा विराट, सूत्रात्मा एवं अव्याकृत इन तीन शरीरों पर विचार प्रकट हुए।

यह सुनकर श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'कारण शरीर तो जीव की माया है। वही कारण शरीर स्थूल एवं सूक्ष्मरूप होता है। अतएव, स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण ये तीन शरीर जीव की माया है। उसी तरह विराट, सूत्रात्मा और अव्याकृत ये तीन शरीर ईश्वर की माया है। जीव की कारणशरीररूप जो माया, वह वज्रसदृश है, जो किसी भी प्रकार जीव से अलग नहीं होती। अत: **जब उस जीव को सन्त का समागम मिले, और उन संत के वचनों से वह परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करे, और उन परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान करे, तथा उन परमेश्वर के वचनों को हृदय में आत्मसात् करे, तब उसका कारण शरीर जलकर खोखला-सा हो जाता है।** जैसे

चिएँ को आग में सेंका जाए, तब उसके साथ ज़बरन चिपकी हुई उसकी त्वचा जल जाने से खोखली-सी हो जाती है, और चिआं हाथ में मसलने पर उससे अलग हो जाता है, वैसे ही भगवान के ध्यान तथा वचनों द्वारा कारण शरीर दग्ध होकर चिएँ के छिलके की तरह अलग हो जाता है। उसके बिना अन्य कोटि उपाय करने पर भी कारण शरीररूपी अज्ञान का नाश नहीं होता।' श्रीजीमहाराज ने इस प्रकार वार्ता कही।

फिर श्रीजीमहाराज ने मुनियों से प्रश्न किया, 'मुमुक्षु के हृदय में जाग्रत अवस्था में सत्त्व गुण रहता है और समस्त पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है, फिर भी जाग्रत अवस्था में श्रवण की गयी बातों का जब सूक्ष्म देह में मनन किया जाए तभी वह पक्की हो जाती हैं। तथा सूक्ष्म देह में तो रजोगुण रहता है, उसमें अयथार्थ ज्ञान रहा है, फिर भी जाग्रत अवस्था में सुनी गयी बात का सूक्ष्म देह में मनन करने पर यथार्थ ज्ञान होता है, इसका क्या कारण है?' सब मुनियों ने मिलजुलकर अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर दिया, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान नहीं हुआ। तब समस्त मुनि हाथ जोड़कर बोले, 'हे महाराज! इस प्रश्न का उत्तर आप दीजिए।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस प्रश्न का उत्तर यह है कि हृदय में क्षेत्रज्ञ जीव का निवास है। वह क्षेत्रज्ञ जीव चौदह इन्द्रियों का प्रेरक है। उनमें अन्तःकरण क्षेत्रज्ञ के समीप रहता है। इसलिए, अन्तःकरण में मनन करने पर यह दृढ़ हो जाता है। क्योंकि क्षेत्रज्ञ समस्त इन्द्रियों और अन्तःकरण की अपेक्षा अधिक समर्थ रहता है। इसलिए क्षेत्रज्ञ द्वारा प्रमाणित की हुई बात अत्यन्त दृढ़ हो जाती है।' इस प्रकार, इस प्रश्न का उत्तर दिया। तब समस्त मुनियों ने कहा, 'हे महाराज! आपने यथार्थ उत्तर दिया है। ऐसा उत्तर कोई भी नहीं दे सकता है।'

फिर श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'चाहे कैसा ही कामी, क्रोधी, लोभी और लम्पट जीव हो, वह यदि इस प्रकार की बातों में विश्वास रखकर इसे प्रीतिपूर्वक सुनता है, तो उसके सभी विकार मिट जाते हैं। जैसे किसी पुरुष के दाँत पहले तो इतने मज़बूत होते हैं कि वह कच्चे चने चबा जाता है, परन्तु वह यदि कच्चा आम अच्छी तरह खा ले, तो भात भी चबाकर नहीं खा सकेगा। ठीक वैसे कामादि में आसक्त कैसा ही पुरुष क्यों न

हो, वह यदि आस्तिक होकर इस वार्ता को श्रद्धापूर्वक सुनता है, तो ऐसा पुरुष विषयों के सुख को भोगने में समर्थ नहीं होता। यदि वह तप्तकृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत द्वारा अपनी देह को कृश बना दे, तो भी उसका मन वैसा निर्विषयी नहीं हो पाता, जैसा कि ऐसी भगवद्वार्ता सुननेवाले मनुष्य का मन निर्विषयी हो जाया करता है। ऐसी बात सुनने के बाद आप सबका मन जिस प्रकार निर्विकल्प हो जाता होगा, वैसा तो ध्यान करते हुए अथवा माला फेरते हुए भी निर्विकल्प नहीं होता होगा। **इसीलिए, विश्वासपूर्वक, प्रीति सहित जो भगवान पुरुषोत्तम नारायण की वार्ता को सुनना, इससे बढ़कर मन को स्थिर रखने का तथा निर्विषयी बनाने का अन्य कोई बड़ा साधन नहीं है!'**

॥ इति वचनामृतम् ॥12॥ ॥108॥

॥ श्रीकारियाणी प्रकरणं समाप्तम् ॥

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ॥

श्रीलोया प्रकरण के वचनामृत

वचनामृत 1 : क्रोध अत्यंत दुःखदायी और संपूर्ण सत्संग

संवत् 1877 में कार्तिक कृष्णा दशमी (30 नवम्बर, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में परमहंसों के निवासस्थान में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने रुईभरा सफ़ेद चूड़ीदार पायजामा पहना था, सफ़ेद छींट की बगलबंडी पहनी थी और मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

तब श्रीजीमहाराज मुनियों से बोले कि 'शंकर शब्द का क्या अर्थ है?' मुनियों ने कहा कि 'सुख देनेवाले को शंकर कहते हैं।'

यह सुनकर श्रीजी-महाराज बोले कि 'आज जब चार घड़ी रात्रि शेष रह गई, तब शिवजी ने हमें स्वप्न में दर्शन दिए। वे बड़े नन्दीश्वर पर बैठे थे। उनका शरीर हृष्टपुष्ट था और चालीस वर्ष की उनकी आयु थी। उनके सिर पर बड़ी जटा थी। शिवजी के साथ पार्वती थीं। उन्होंने श्वेत वस्त्र पहने थे। शिवजी बड़े सन्त के सदृश शान्तमूर्ति थे। मुझ पर तो शिवजी का बहुत स्नेह दिखाई पड़ा, फिर भी मुझे शिवजी के प्रति इतना स्नेह नहीं हुआ। क्योंकि मैं ऐसा समझता हूँ कि शिव तमोगुण के देवता हैं और हम शान्तमूर्ति श्रीकृष्ण नारायण के उपासक हैं। अतएव, ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्रादि जैसे रजोगुणी-तमोगुणी देवताओं के प्रति उतना भाव नहीं रहता, और उनमें भी क्रोध के प्रति तो मुझे अत्यधिक वैर है। क्रोधी मनुष्य अथवा देवता मुझे बिल्कुल पसन्द ही नहीं! फिर भी, हम शिवजी का आदर करते हैं, उसका कारण यह है कि शिवजी त्यागी एवं योगी हैं तथा भगवान के महान भक्त हैं। इसलिए हम शिवजी को आदरपूर्वक मानते हैं।

और, क्रोध कैसा है? यह हड़काए कुत्ते के समान है। जैसे हड़काए कुत्ते की लार अगर पशु अथवा मनुष्य किसी को लग जाती है, तो वह पागल कुत्ते की तरह चीखते-चिल्लाते मर जाता है। वैसे ही क्रोध की लार जिसको छूती है, वह भी पागल कुत्ते की तरह चीख-चीखकर संत के मार्ग से गिर जाता है। जैसे कसाई, अरब, शिकारी, बाघ, चीता और काला सर्प सभी को डराते हैं और उनके प्राण हर लेते हैं, वैसे ही क्रोध भी सभी को भयभीत करता है और उनके प्राण हर लेता है। यदि साधु ऐसे क्रोध के वशीभूत होता है, तो वह अत्यन्त ही अनुचित दिखाई पड़ता है। क्योंकि साधु शान्त स्वभाववाला होता है, परन्तु जब वह क्रोधावेश में होता है, तब वह क्रूर प्रतीत होता है। उस साधु की आकृति भी बदल जाती है। वास्तव में क्रोध का नाम विरूप है। जिसके शरीर में क्रोध आता है, उसे वह विरूप कर देता है।'

तब शुकमुनि ने पूछा, 'हे महाराज! यदि कोई तनिक-सा भी क्रोध कर लेता हो और बाद में उसे मिटा दे, तो ऐसा अल्प क्रोध कुछ बाधा उपस्थित करता है या नहीं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि, 'जैसे यह सभा हो रही है, इसमें यदि अभी कोई साँप निकल आये, और भले ही वह किसी को नहीं काटे, तो भी सभी लोगों को उठकर भागना पड़ता है और सबके हृदय भय से आंतकित हो जाते हैं, तथा जैसे कोई बाघ गाँव के फाटक पर आकर गर्जना कर रहा हो, भले ही वह किसी को न मारे, फिर भी सबके अंत:करण भय से कांपने लगते हैं, और कोई अपने घर से बाहर नहीं निकल सकता। वैसे ही अगर थोड़ा-सा भी क्रोध उत्पन्न हो जाए, तो वह भी उत्यन्त दु:खदायी होता है।'

फिर छोटे निर्मानानन्द स्वामी ने पूछा, 'काम-दोष का मूलोच्छेद करने का कौन-सा साधन है?' तब श्रीजीमहाराज बोले, 'एक तो आत्मनिष्ठा अति दृढ़ हो; और आठ प्रकार के ब्रह्मचर्य व्रत को रखना इत्यादि पंचव्रतों का दृढ़ता के साथ पालन करें, तथा भगवान की अधिकाधिक महिमा समझे, तो काम की जड़ उखड़ जाती है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि काम का मूलोच्छेद हो जाने पर भी ब्रह्मचर्यादि नियमों का पालन करने से विचलित मत होना। और, काम की जड़ को उखाड़ने का अमोघ उपाय यही है कि भगवान की महिमा को अच्छी तरह समझ लिया जाए।'

फिर भजनानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! कनिष्ठ, मध्यम तथा उत्तम इन तीन प्रकार के वैराग्य का कैसा स्वरूप है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'कनिष्ठ वैराग्यवाला पुरुष धर्मशास्त्र में बताए गए स्त्री-त्याग सम्बंधी नियमों का पालन जब तक करता रहता है, तब तक उसका पतन नहीं होता, किन्तु यदि उसने किसी स्त्री का अंग देख लिया और उसमें उसका चित्त लग गया, तो उसका ठिकाना नहीं रहता! ऐसे पुरुष को कनिष्ठ वैराग्यवान कहते हैं। और, जो मध्यम वैराग्यवाला है, वह कदाचित् स्त्री को निर्वस्त्र भी देख लेता है, किन्तु नग्न पशु को देखने पर जैसे क्षोभ उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार उसे क्षोभ उत्पन्न नहीं होता, तथा उसका मन स्त्री के उस अंग में नहीं लगता, उसे मध्यम वैराग्यवान कहा जाता है। और, जो उत्तम वैराग्यवाला है, उसे कभी एकान्त में स्त्री आदि पदार्थों का योग हो जाए, फिर भी वह न डिगे, उसे उत्तम वैराग्यवान कहते हैं।'

फिर भजनानन्द स्वामी ने पूछा, 'कनिष्ठ, मध्यम तथा उत्तम इन तीन प्रकार के भगवान सम्बंधी ज्ञान का कैसा स्वरूप है ?'

श्रीजीमहाराज बोले, 'जो कनिष्ठ ज्ञानवाला है, वह तो पहले भगवान का प्रताप देखकर भगवान का निश्चय कर लेता है, परन्तु बाद में उसे वैसा ही प्रताप देखने में न आए, और कोई दुष्ट जीव भगवान का द्रोह करता हो, उसका कुछ भी अनिष्ट नहीं होता, तब उसको भगवान के स्वरूप में भ्रान्ति हो जाती है, उसे कनिष्ठ ज्ञानवाला कहते हैं। और, मध्यम ज्ञानवाला हो, वह तो भगवान के शुभ या अशुभ ऐसे मनुष्य-चरित्रों को देखे, तब उसमें मोहित हो जाए और उसका निश्चय भी न रहे, उसे मध्यम ज्ञानवाला कहते हैं। तथा जो उत्तम ज्ञानवाला है, उसे ऐसी स्थिति रहती है कि भगवान को चाहे जैसे शुभाशुभ मनुष्य चरित्र करते हुए देखकर भी उनसे मोहित नहीं होता और उसका निश्चय भी अटल रहता है; और जिसके द्वारा स्वयं को निश्चय हुआ हो, वही यदि यह कहता हो कि 'ये भगवान नहीं हैं' तब वह उसको भी ऐसा ही समझ लेता है कि 'यह विभ्रान्त हो गया है।' ऐसा जो हो, उसे उत्तम ज्ञानवाला कहते हैं। और इन तीनों में जो कनिष्ठ ज्ञानवाला है, वह अनेक जन्मों के बाद सिद्ध होता है, और मध्यम ज्ञानवाला दो-तीन जन्मों के बाद सिद्ध होता है, और उत्तम ज्ञानवाला इसी जन्म में सिद्ध हो जाता है।'

फिर बड़े शिवानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा, 'भगवान सम्बंधी निश्चय सम्पूर्ण होने पर भी अंतर में कृतार्थ भावना नहीं रहती, इसका क्या कारण है?' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'काम, क्रोध, लोभ, स्वाद, स्नेह तथा मान आदि शत्रुओं द्वारा जिसका अन्तःकरण दग्ध हो गया हो, उसे निश्चय होने पर भी 'मैं कृतार्थ हुआ हूँ' इस प्रकार स्वयं को कृतार्थ नहीं मानता।'

तब नित्यानन्द स्वामी ने प्रश्न किया, 'इन कामादि शत्रुओं को नष्ट करने का क्या उपाय है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'कामादि शत्रु तभी नष्ट हो सकते हैं, जब उनको निर्दयतापूर्वक दंड देने के लिए मुमुक्षु तत्पर रहे। जैसे पापी को मारने के लिये धर्मराजा रात-दिन दंड लेकर तैयार रहते हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ कुमार्ग-गामी हों तब इन्द्रियों को दण्ड दें तथा अन्तःकरण यदि कुमार्ग पर चले, तो उसे दंडित करें। उनमें इन्द्रियों को कृच्छ्रचान्द्रायण व्रत द्वारा दण्ड दे, तथा अन्तःकरण को विचार (आत्मा-अनात्मा का विवेक) द्वारा दंड दे, तब जाकर इन कामादि शत्रुओं का नाश हो जाता है तथा वह मुमुक्षु भी तब स्वयं को भगवान सम्बंधी निश्चय द्वारा सम्पूर्ण रूप से कृतार्थ मानने लगता है।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न किया, 'यह कैसे समझा जाए कि सम्पूर्ण सत्संग हो गया?' तब श्रीजीमहाराज बोले, 'सर्वप्रथम तो मुमुक्षु के हृदय में अतिशय दृढ़ आत्मनिष्ठा हो; तथा वह अपनी आत्मा को देह, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से बिल्कुल असंगी मानता हो; तथा देह, इन्द्रियादि की क्रियाओं से स्वयं को अलिप्त मानते हुए भी वह पंचव्रतों में लेशमात्र भी शिथिलता नहीं आने देता हो; और, ब्रह्मरूप रहते हुए भी वह परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान का दासत्व नहीं छोड़ता हो, स्वामीसेवक भाव से भगवान की दृढ़ उपासना करता हो; एवं प्रत्यक्षमूर्ति भगवान को आकाशवत् अत्यन्त असंगी समझता हो, जैसे कि आकाश चार भूतों में अनुस्यूत भाव से व्यापक होकर रहता है और आकाश में ही चार भूतों की क्रियाएँ होती हैं, फिर भी पृथ्वी आदि चार भूतों के विकार आकाश को नहीं छू पाते, वैसे ही प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण नारायण (स्वयं श्रीहरि) शुभ-अशुभ क्रिया के कर्ता होने पर भी आकाश की तरह निर्लेप हैं, ऐसा समझता हो; और, उन भगवान के असंख्य ऐश्वर्यों को भी यों समझता हो कि 'ये भगवान जीवों के कल्याण के लिए

मनुष्यसदृश दिखाई पड़ते हैं, तो भी वे अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के कर्ता-हर्ता हैं। तथा गोलोक, वैकुंठ, श्वेतद्वीप तथा ब्रह्मपुर आदि धामों के स्वामी हैं और अनन्तकोटि अक्षरमुक्तों के भी स्वामी हैं।' ऐसी भगवान की महिमा जानकर उन भगवान के प्रति श्रवणादि भक्ति को सुदृढ़ करके रखता हो तथा उन भगवान के भक्तों की सेवा-शुश्रूषा करता हो, ऐसा जिसका आचरण रहे, तब कहा जा सकता है कि उसे सम्पूर्ण सत्संग हो गया।'

फिर छोटे शिवानंद स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'कभी भगवान के भक्त की महिमा खूब समझ में आती है और कभी इस प्रकार की महिमा नहीं जान पड़ती, इसका क्या कारण है?'

इसका उत्तर देते हुए श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'सन्त तो धर्मवान हैं। अतः वे जब कभी किसी को अधर्म के मार्ग पर चलता देखते हैं, तब उसे टोकते हैं। ऐसे समय पर देहाभिमानी को सद्विचारपूर्वक शिक्षा ग्रहण करना नहीं आता बल्कि वह, उस सन्त के अवगुण देखने लगता है! अतः जब तक सन्त उसके स्वभाव के सम्बंध में दुःख लगाकर न कहें, तब तक तो उसे सन्त की महिमा रहती है, किन्तु वे सन्त हितकारी बातें भी उसको दुःख लगाकर करें, तब वह उन सन्त का भी अवगुण लेने लगता है, और उनका माहात्म्य नहीं जानता है। और, जिसने सन्त का अवगुण देखा, वह तो किसी प्रकार के प्रायश्चित्त द्वारा भी शुद्ध नहीं हो पाता। जैसे कामादि दोषों के पाप का निवारण है, वैसे सन्त के प्रति किये द्रोह के पाप का निवारण नहीं है। और जैसे किसी को क्षयरोग हुआ, तो उसे मिटाने की कोई औषधि नहीं है, वह तो निश्चित ही मरेगा, वैसे ही जिसने सन्त का अवगुण देखा हो, उसे तो क्षयरोग हो गया जान लें! वह तो पाँच दिनों के भीतर निश्चय ही विमुख हो जाएगा। और, जिस प्रकार मनुष्य के हाथ, पैर, नाक, आँख और उँगलियाँ आदि अंगों के कट जाने पर वह मरा नहीं कहा जाता, किन्तु धड़ से सर कट गया, तभी वह मरा कहलाता है; वैसे ही जिसके हृदय में हरिभक्त के प्रति दोष की भावना उत्पन्न हो गई, उसका तो सर ही कट गया समझो! यदि पंचव्रतों में किसी प्रकार का अन्तर पड़ जाए तो समझो कि उसका कोई एक अंग ही कट गया है, ऐसी स्थिति में वह जीवित जरूर रहेगा। अर्थात् वह सत्संग में अवश्य टिक जाता है, किन्तु **जिसने सन्त में अवगुण देखा, वह**

तो निश्चित रूप से सत्संग से कभी न कभी विमुख हो ही जाता है, वही उसका शिरच्छेद हुआ समझें।'

फिर भगवदानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'भगवद्भक्त का जिसे अवगुण दिखता हो, ऐसी मलिन दृष्टि मिटाने का कोई उपाय है या नहीं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'उपाय तो है, किन्तु वह अत्यन्त कठिन है, अत्यंत श्रद्धावान पुरुष ही यह उपाय कर सकता है। जब कभी सन्त के प्रति अवगुण देख लिया, तब वह ऐसा विचार करे कि 'मैंने घोर पाप किया है, कि ब्रह्मस्वरूप ऐसा जो भगवद्भक्त है, उसका मैंने अवगुण देखा!' फिर ऐसे विचारों से अपने हृदय में अत्यधिक अन्तर्दाह होने लगे, फिर जब वह भोजन लेने बैठे, तब उस अन्तर्दाह के कारण उसे भोजन के स्वाद-कुस्वाद की कोई खबर न रहे, तथा रात में नींद भी न आए। और, जब तक उसके हृदय से सन्त के प्रति अवगुण भावना न मिटे तब तक वह उसी प्रकार छटपटाता रहे, जिस तरह पानी के बिना मछली तड़फड़ाती है। और, जब उन संत का अतिशय गुण अपने हृदय में भर जाए, और वह सन्त कैसे भी दु:खी हो गए हों, उसे अत्यन्त दीनभाव से प्रसन्न करें। इस प्रकार का विचार जिसके हृदय में रहता हो, तो उसे सन्त सम्बंधी अवगुण-दृष्टि मिट जाती है तथा वह सत्संग से भी विमुख नहीं होता। इसके सिवा दोष-दृष्टि मिटाने का अन्य कोई भी उपाय नहीं है, एकमात्र यही उपाय है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥1॥ ॥109॥

वचनामृत 2 : विश्वासी, ज्ञानी, शूरवीर और प्रीतिमान

संवत् 1877 में कार्तिक कृष्णा एकादशी (1 दिसम्बर, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में दक्षिण की ओर मुखारविन्द करके पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने लाल कीमखाब का चूड़ीदार पायजामा पहना था, 'नरनारायण' नामांकित काले कीमखाब की बगलबंडी पहनी थी, सिर पर बुरहानपुरी आसमानी रंग का फेंटा बाँधा था, जिसके चारों छोर स्वर्ण-तार से मंडित थे, तथा कुसुंबी रंग का वस्त्र कमर पर कसकर रखा था। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे। मुक्तानन्द स्वामी आदि परमहंस मृदंग, सरोद, सितार

और मंजीरा आदि वाद्य बजाते हुए कीर्तनगान कर रहे थे।

जब कीर्तन समाप्त हो गया तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'समस्त परमहंसो! सुनिए, मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ।'

मुनि बोले, 'हे महाराज! पूछिए।'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'इस सत्संग में हरिभक्त को मृत्यु का भय कब मिट जाए और जीवित रहते हुए ही अपना कल्याण हो गया है, ऐसी प्रतीति कैसे आ जाए?' तब मुक्तानन्द स्वामी ने अपनी समझ के अनुसार उत्तर दिया, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान नहीं हुआ। तब अन्य परमहंस बोले, 'हे महाराज! इस प्रश्न का उत्तर तो आप ही दीजिए।'

फिर श्रीजीमहाराज ने उत्तर देते हुए कहा कि 'आप लोग जब कीर्तन कर रहे थे, तब हमने इस प्रश्न पर विचार किया है। हमारी दृष्टि में तो यह आया है कि चार प्रकार के हरिभक्तों को मृत्यु-भय का नाश हो जाता है तथा कृतार्थभाव प्रकट होता है। उन चार प्रकार के हरिभक्तों में प्रथम विश्वासी, दूसरा ज्ञानी, तीसरा शूरवीर और चौथा प्रीतिवाला है; इन चार प्रकार के भक्तों को मृत्यु का भय नहीं रहता तथा अपने जीवनकाल में ही उन्हें ऐसा भाव उत्पन्न हो जाता है कि 'मैं कृतार्थ हुआ हूँ!'

अब इन चारों प्रकार के भक्तों के लक्षण बताते हैं कि इनमें जो विश्वासी भक्त है, वह प्रत्यक्ष भगवान तथा उनके साधु के वचनों में अत्यन्त विश्वास रखता है। इसलिए वह भगवान सम्बंधी निश्चय के बल के कारण मृत्यु का भय नहीं रखता तथा वह यह मानता है कि 'मुझे प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम भगवान प्राप्त हुए हैं, इसलिए मैं कृतार्थ हूँ।' और, ज्ञानी को आत्मज्ञान का बल रहता है। वह ऐसा समझता है कि 'मैं भगवान का ब्रह्मस्वरूप भक्त हूँ।' अतः उसे भी मृत्यु का भय नहीं रहता। और, शूरवीर भक्त से इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण, सभी थरथर काँपते रहते हैं और वह किसी अन्य व्यक्ति से भी नहीं डरता। इस कारण उसके द्वारा परमेश्वर की आज्ञा का किसी भी प्रकार से उल्लंघन नहीं होता। अतः वह स्वयं को कृतार्थ मानता है और उसके मन में मृत्यु का लेशमात्र भी भय नहीं रहता।

और, चौथा जो प्रीतिवाला भक्त है, उसकी तो पतिव्रता-सी टेक है। जैसे पतिव्रता स्त्री का अपने पति के सिवा अन्य किसी भी पुरुष पर मन नहीं

जमता और वह केवल अपने पति से ही प्रीति रखती है, वैसे ही भगवान का भक्त अपने पति जो भगवान हैं, उन्हीं पर प्रीति रखता है और स्वयं को कृतार्थ समझता है। उसे मृत्यु का भय लेशमात्र भी नहीं रहता।

यदि इन चार अंगों[1] में से कोई एक अंग प्रधान हो और अन्य तीन अंग गौण हों, तो भी वह मनुष्य जन्म-मरण के भय से मुक्त हो जाता है। यदि इन चारों अंगों में से कोई एक अंग न हो, तो उसे मृत्यु का भय नहीं मिटता।'

इतनी वार्ता के बाद श्रीजीमहाराज समस्त परमहंसों तथा हरिभक्तों के प्रति बोले, 'इन चार अंगों में से जो अंग जिसमें प्रमुखरूप से रहता हो, वह बताइए।' परमहंसों में से जिसका जो-जो अंग था, वह उन्होंने बता दिया तथा हरिभक्तों ने भी बताया। उसे सुनकर श्रीजीमहाराज बहुत प्रसन्न हुए। बाद में उन्होंने कहा, 'इन चार अंगों में से जिन-जिनका शूरवीरता का अंग हो, वे सब आकर हमारा चरणस्पर्श करें।'

तत्पश्चात् जिस-जिसका शूरवीरता का अंग था, उन सबने आकर श्रीजीमहाराज के चरणारविन्दों को छाती से लगाकर प्रणाम किया।

फिर श्रीजीमहाराज बोले, 'जिन्हें जो प्रश्न पूछना हो, वे पूछें।' तब ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा, 'जो कारण हो, वह तो कार्य से बड़ा होना चाहिए। जबकि बड़ का बीज छोटा है, उस छोटे से बीज से विशाल वटवृक्ष कैसे बनता है?' इसका उत्तर श्रीजीमहाराज ने इस प्रकार दिया कि 'यद्यपि 'कारण' छोटा और सूक्ष्म होता है, तथापि वह महान कार्य की उत्पत्ति करने में समर्थ होता है, यही 'कारण' में महत्ता है। जैसे मूल प्रकृति के कार्यरूपी अनन्त प्रधानों का बड़ा विस्तार है, परन्तु उनके कारणरूपी मूल प्रकृति तो स्त्री के आकारवाली है,[2] तथा पृथ्वी का कारण गन्ध भी सूक्ष्म है, परन्तु उसका पृथ्वीरूप कार्य विशाल है, वैसे ही आकाश आदि अन्य चार भूतों का बड़ा विस्तार है, परन्तु उनके कारण शब्दादि तो सूक्ष्म हैं। और, 'कारण' छोटा

1. **अंग :** अध्यात्म की पुष्टि के लिए आवश्यक गुण, जिसके बिना रहा न जाए।
2. माया-प्रकृति जड तत्त्व है, जिसे वचनामृत गढडा प्रथम प्रकरण 12 में निर्विशेष कहा गया है अतः प्रलयावस्था में वह स्त्री-आकारवाली नहीं हो सकती, परंतु नारीजाति-वाचक शब्द होने से, तथा प्रजातुल्य प्रधानपुरुष के कारणरूप होने से उसे 'स्त्री-आकारवाली' कहा गया है।

होने पर भी बड़े कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होता है, उसमें ऐसी कला है। जैसे अग्निदेव मनुष्य के समान कदवाला और मूर्तिमान है, परन्तु उनकी कार्यरूप ज्वालाएँ बहुत बड़ी हैं। उसी प्रकार वरुण की मूर्ति मानवसदृश है और उनका कार्यरूप जल अत्यधिक है। सूर्य की मूर्ति मनुष्याकार की भाँति रथ में विराजमान है और उनका कार्यरूप प्रकाश समग्र ब्रह्मांड में व्याप्त हो रहा है; वैसे ही सबके कारण श्रीपुरुषोत्तम नारायण श्रीकृष्ण यद्यपि मनुष्यसदृश हैं, फिर भी अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के कारण हैं।

और, मूर्ख तो ऐसा समझता है, 'जिसका कार्य इतना बड़ा है, उसका कारण कितना बड़ा होगा!' यह तो मूर्ख की समझ है। यद्यपि सबके कारण-रूप भगवान मनुष्य सदृश हैं, तथापि वे अपने शरीर में से योगकला द्वारा अनन्तकोटि ब्रह्मांडों को उत्पन्न करने में समर्थ हैं तथा उन्हें अपने में विलीन करने में भी समर्थ हैं। जैसे अग्नि, वरुण तथा सूर्य अपने कार्यरूप में बड़े दीख पड़ते हैं, और कार्य को अपने में विलीन करके स्वयं अकेले ही रहते हैं, वैसे ही भगवान के एक-एक रोम में अनन्तकोटि ब्रह्मांड अणुवत् रहते हैं। वह अष्ट आवरण तथा चौदह लोक सहित सब कुछ उसमें रहा है। इस प्रकार कारण में अलौकिकता तथा महत्ता है। उसे केवल विवेकशील पुरुष ही समझता है, कि 'भगवान यद्यपि मनुष्यसदृश दिखाई पड़ते हैं तथापि वे सबके कारण हैं, कर्ता हैं तथा समर्थ हैं।' इतना कहकर श्रीजीमहाराज शयन करने के लिए पधारे।

॥ इति वचनामृतम् ॥2॥ ॥110॥

वचनामृत 3 : माहात्म्यज्ञान सहित निश्चय

संवत् 1877 में कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी (3 दिसम्बर, 1820) को श्रीजीमहाराज श्रीलोया ग्राम स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में रात्रि के समय पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सफ़ेद छींट की बगलबंडी पहनी थी, रुईभरा श्वेत चुड़ीदार पाजामा धारण किया था, मस्तक पर सफ़ेद फेंटा बाँधा था और श्वेत पिछौरी ओढ़ी थी। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा स्थान-स्थान के सत्संगी बैठे थे।

तब श्रीजीमहाराज से भगवदानन्द स्वामी तथा शिवानन्द स्वामी ने प्रश्न किया कि 'जिसे भगवान और संत का माहात्म्य सहित निश्चय हो गया हो,

उसके कैसे लक्षण होते हैं ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि **'जिसे भगवान एवं सन्त का माहात्म्य-ज्ञान सहित निश्चय हो गया हो, वह भगवान तथा सन्त के लिए क्या नहीं कर सकता ? उनके लिए वह कुटुम्ब का त्याग करे, लोकलज्जा का त्याग करे, राज्य का त्याग करे, सुख का त्याग करे, धन का त्याग करे, स्त्री का त्याग करे, और स्त्री हो तो वह पुरुष का त्याग करे।'** इतना बताने के बाद उन्होंने इन सभी हरिभक्तों की बातें एक-एक करके कहीं - डडुसर ग्रामवासी राजपूत गलुजी, धर्मपुर की कुशलकुंवरबाई, पर्वतभाई, राजबाई, जीवुबाई, लाडुबाई, बड़ी रामबाई, दादाखाचर, मांचाभक्त, मूलजी ब्रह्मचारी, भुजवासी लाधीबाई और माताजी, मुक्तानन्द स्वामी, वालाक प्रान्तवासी अहीर पटेल सामत, मानकुआँ ग्राम के मूलजी तथा कृष्णजी तथा वालाक प्रान्त-स्थित गुन्दाली ग्राम के दो काठी हरिभक्त आदि सत्संगियों ने भगवान और सन्त के निमित्त जो-जो कार्य किए, उनका उन्होंने विस्तार से वर्णन किया।

फिर श्रीजीमहाराज बोले, **'जिसको भगवान का माहात्म्यज्ञान सहित निश्चय हो जाता है, वह भगवान के वचन-पालन में किसी भी प्रकार की कमी नहीं रखता तथा वे जो कुछ कहें, वैसा ही करता है।'** इस पर उन्होंने अपनी बात बताई कि 'हमारा स्वभाव ऐसा था कि हम से गोदोहनमात्र (प्रातः से संध्या तक) ही एक स्थान में रहा जाता था, किन्तु इससे अधिक समय तक नहीं रहा जाता था, ऐसे त्यागी थे और वैराग्य भी अतिशय था, और श्रीरामानन्द स्वामी पर हमारा स्नेह भी असाधारण था, फिर भी स्वामी ने भुजनगर से यह संदेश भेजा कि यदि सत्संग में रहने की गरज़ हो, तो खंभे को बांहों में पकड़कर भी रहना पड़ेगा। इस तरह मयाराम भट्ट ने आकर हमें सूचना दी, तब हमने खंभे को बाँहों में पकड़ लिया। इसके पश्चात् इसका आशय स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि 'मुक्तानन्द स्वामी की आज्ञा में रहिए।' इसके बाद मैं रामानंद स्वामी के दर्शन होने के पूर्व नौ महीने तक मुक्तानन्द स्वामी की आज्ञा में रहा। ऐसे लक्षणों से भगवान तथा सन्त सम्बंधी निश्चय हुआ है, ऐसा समझें।'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने सुन्दरजी सुतार और डोसा बनिये की बात कही, 'जिसको भगवान तथा सन्त सम्बंधी निश्चय हो, उसको भगवान की

प्राप्ति के आनन्द का खुमार चढ़ जाता है।' इतना कहकर उन्होंने राणा राजगुरु तथा भक्त प्रह्लाद की बात कही कि प्रह्लादजी ने नृसिंहजी से निवेदन किया, 'हे महाराज! मैं आपके इस विकराल रूप से भयभीत नहीं हो रहा, और आपने मेरी जो रक्षा की है, उसे मैं रक्षा नहीं मानता। जब आप इन्द्रियरूपी शत्रुओं से मेरी रक्षा करेंगे तब मैं समझूँगा कि आपने मेरी रक्षा की।'[3]

अतः जो भगवान का भक्त हो वह भगवान द्वारा दैहिक रक्षा किए जाने पर न तो हर्षित होता है और अपनी रक्षा न किए जाने पर न ही शोक करता है। वह तो अलमस्त होकर भगवान का भजन ही करता रहता है और भगवान तथा सन्त का अत्यधिक माहात्म्य समझता है।' इस विषय पर श्रीजीमहाराज ने कठलाल ग्राम की वृद्ध महिला की बात कही।

फिर कहा कि 'इस प्रकार के हरिभक्त की देह भले ही दुर्बलता एवं कमज़ोरी के कारण गिरे, या उसे बाघ खा जाए या साँप काट ले अथवा शस्त्र से चोट लगे, इत्यादि किसी भी तरह से अपमृत्यु द्वारा देहोत्सर्ग हो जाए, तो भी वह यही समझता है कि 'भगवान के भक्त की दुर्गति होती ही नहीं है। वह तो भगवान के धाम को ही प्राप्त होता है।' और, भगवान से विमुख रहनेवाले मनुष्य के शरीर का भले ही अच्छी तरह से उत्सर्ग हो, और चन्दन की लकड़ी द्वारा संस्कारपूर्वक उसका शवदाह किया जाए, तो भी वह निश्चय ही यमपुरी में जाता है। इन दो बातों को अच्छी तरह समझें तथा इन बातों की जिसके अंतर में पक्की गाँठ लग गई हो, उसे भगवान तथा सन्त का माहात्म्यसहित निश्चय हो गया है, ऐसा जान लेना। और, ऐसा निश्चयवाला जो होता है, वह निश्चित रूप से ब्रह्मधाम में ही पहुँचता है, लेकिन अन्य किसी भी धाम में नहीं पहुँचता।'

॥ इति वचनामृतम् ॥3॥ ॥111॥

वचनामृत 4 : अनंतकोटि ब्रह्मांडों की उत्पत्ति

संवत् 1877 में कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी (4 दिसम्बर, 1820) को एक प्रहर दिन व्यतीत होने के पश्चात् स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत

3. श्रीमद्भागवतम् : 7/9/15 एवं 7/10/7-8

चूड़ीदार पायजामा पहना था, सफ़ेद छींट की बगलबंडी पहनी थी और मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी। उनके समक्ष सभा में परमहंस तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

उस समय अखंडानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न किया 'इस ब्रह्मांड में भगवान की मूर्ति वर्तमान समय में जैसी दीख पड़ती है, वैसी की वैसी मूर्ति अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में दिखाई देती है या नहीं ?'[4]

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान स्वयं अपने अक्षरधाम में सदैव विराजमान रहते हैं। मूल माया में से उत्पन्न अनन्तकोटि प्रधानपुरुषों से अनन्तकोटि ब्रह्मांडों की उत्पत्ति होती है। फिर भगवान अपने अक्षरधाम में एक ही स्थान में रहते हुए स्वेच्छापूर्वक उन अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में अपने भक्तों के लिए अनन्त रूपों में दिखाई देते हैं।'

अखंडानन्द स्वामी ने पुनः पूछा, 'श्रीकृष्ण नारायण तो सदैव मनुष्याकार हैं तथा उन भगवान का स्वरूप सर्वदा सत्य है, वे ही भगवान कभी मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंहादि अनेक रूपों द्वारा दृष्टिगोचर होते हैं, इस बात को कैसे समझना चाहिए ? तथा प्रत्येक ब्रह्मांड में कल्याण की रीति तथा भगवान की मूर्ति एकसमान होती है या उसमें भिन्नता होती है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'भगवान की मूर्ति यद्यपि सदैव एकसमान होती है, फिर भी भगवान अपनी मूर्ति को जहाँ जैसी दिखलाना चाहते हैं, वहाँ वैसी दिखलाते हैं और जहाँ जितना प्रकाश करना होता है, वहाँ उतना प्रकाश करते हैं। यद्यपि वे स्वयं सदैव द्विभुज रहते हैं, फिर भी अपनी इच्छा के अनुसार कहीं चतुर्भुज, कहीं अष्टभुज तो कहीं अनन्तभुजरूप दिखाई देते हैं। वे मत्स्य-कच्छपादि रूपों में भी दिखाई देते हैं। इस प्रकार, वे जहाँ जो भी उपयुक्त समझते हैं, वहाँ वैसा रूप दिखलाते हैं, परन्तु स्वयं तो वे सर्वदा एकरूप से ही विराजमान रहते हैं तथा वे एक स्थान में निवास करते हुए भी अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में अन्तर्यामी रूप से व्याप्त होकर रहते हैं।'

---

4. प्रश्नकर्ता का अभिप्राय यह है कि 'अन्य ब्रह्मांडों में भगवान मनुष्याकार में प्रकट होते हैं या नहीं ?' श्रीहरि अभिप्राय देते हैं कि अपने अनन्य भक्तों को दर्शनादिक का आनंद देने के लिए भगवान कृपा करके स्वेच्छापूर्वक अन्य ब्रह्मांडों में प्रकट होते हैं।

फिर श्रीजीमहाराज ने यह भी बताया कि व्यासजी एक ही थे और उन्होंने स्थावर-जंगम तथा समस्त जीवों में रहकर शुकजी को पुकारा, तब शुकजी ने भी स्थावर-जंगम आदि समस्त सृष्टि में रहकर उत्तर दिया। इस प्रकार, शुकजी जैसे महान सिद्ध भी समस्त जगत में व्याप्त होने में जो समर्थ होते हैं, वह तो भगवान के भजन के प्रताप से वे ऐसी योगकला को प्राप्त हुए हैं, तब स्वयं भगवान पुरुषोत्तम, जो योगेश्वर तथा सर्वयोगकला-निधि हैं, वे एक स्थान पर रहकर अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में स्वेच्छापूर्वक जहाँ जैसे उपयुक्त हो वहाँ अपनी वैसी मूर्ति दिखा सकते हैं, इसमें विस्मय की बात ही कहाँ है? जैसे कोई जादूगर तुच्छ माया को सीखा हो, उसमें भी लोग कितने आश्चर्यमुग्ध होते हैं, तथा उसकी विद्या के रहस्यों का यथार्थरूप से पता ही नहीं चलता, तो भगवान तो सर्वयोगकलाओं के स्वामी हैं और महा आश्चर्य-रूप हैं, उन्हें सामान्य जीव किस प्रकार जान सकता है? अतः भागवत में कहा गया है कि 'भगवान की माया के बल को इतने-इतने लोग पार कर चुके हैं।'[5] तथा यह भी कहा गया है कि, भगवान की माया का पार कोई भी नहीं पा सका है।[6] इन दोनों प्रकार के कथन से यह समझ लेना चाहिए कि भगवान के योगकलारूप ऐश्वर्य को देखकर यदि ब्रह्मादिक जैसों को भी कुतर्क उत्पन्न होता हो, तो वे माया के बल को पार नहीं पा सके, यही कहा जाएगा। कुतर्क भी यही है कि 'भगवान ऐसा क्यों करते हैं?' परन्तु **भगवान को इस प्रकार समझें कि 'ये समर्थ हैं, अतः वे जो कुछ करते हैं, ठीक ही करते होंगे।' इस प्रकार जो भगवान को निर्दोष समझता हो, वही माया को पार हो चुका कहलायेगा।** और, कल्याण की रीति एक ही है, फिर भी भगवद्भजन करनेवालों में उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ तीन प्रकार के भेद होते हैं। उनकी श्रद्धा भी अनेक प्रकार की है। उस श्रद्धा के भेदों के कारण कल्याण के मार्ग में भी अनन्त भेद उत्पन्न हो गए हैं। अन्यथा कल्याण का मार्ग तो वास्तव में एक ही है, और भगवान का स्वरूप भी एक ही है। और, वे भगवान अतिसमर्थ हैं और उनके जैसा होने के लिए अक्षरपर्यन्त कोई भी

5. श्रीमद्भागवतम् : 4/20/32, 4/7/44, 9/21/17
6. श्रीमद्भागवतम् : 4/7/30, 3/31/37, 6/19/11

समर्थ नहीं हो पाता, यह सिद्धान्त है।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से कहा कि 'झीणाभाई आज अत्यन्त खिन्न हुए और यह बोले कि जब महाराज हमारे घर नहीं आए तब हमें भी घर में रहने का क्या प्रयोजन है?'[7] यह बात सुनकर श्रीजीमहाराज बोले, 'जो पुरुष रुष्ट होकर प्रेम करता है, वह प्रेम अन्त तक निभता नहीं और रीसने-रूठनेवाली भक्ति तथा प्रीति आदि सभी अन्त में असत्य सिद्ध हो जाते हैं। अत: रूठकर मुँह लटकाकर रहना बहुत बड़ी खामी है।'

तब झीणाभाई ने कहा कि 'भगवान और उनके सन्त जब अपने घर आयें तब मुख प्रफुल्लित होना चाहिए। किन्तु वे न आएँ, तब मुख म्लान होना ही चाहिए तथा हृदय में दु:ख (शोक) भी होना चाहिए।'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले, 'यह ठीक है कि भगवान और सन्त जब हमारे घर पधारें, तब प्रसन्न होना, लेकिन शोक तो कभी भी नहीं करना चाहिए। और, यदि किसी का शोकग्रस्त बने रहने का स्वभाव हो गया, तो अन्तत: उसका अवश्य कुछ न कुछ अशुभ हुए बिना नहीं रहता। अत: अपने-अपने धर्म में रहकर जैसी भगवान की आज्ञा हो, उसका पालन प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिए, परन्तु अपनी रुचि के अनुसार करवाने के लिए किसी भी प्रकार से व्यग्र नहीं होना चाहिए। यदि भगवान कहीं जाने की आज्ञा दें, तब यदि उद्विग्न होकर व्यग्र हो जाए, तो भगवान ने पहले जो दर्शन दिये हों, प्रसाद दिया हो, तथा अनेक प्रकार की ज्ञान-वार्ता की हो इत्यादि से जो सुख प्राप्त हुआ हो, वह सब नष्ट हो जाता है। ऐसे उद्वेग के कारण बुद्धि पर केवल तमोगुण ही छा जाता है। ऐसी दशा में उसे जहाँ भेजा जाता है, वहाँ वह दु:खी होकर ही जाता है। फिर उद्वेग के कारण वहाँ भी उससे आज्ञा का पालन यथार्थरूप से नहीं हो सकता। अत: **भगवान के भक्त को सदैव अतिप्रसन्न रहना चाहिए, तथा प्रसन्न मन से भगवान का भजन करना चाहिए परन्तु चाहे कैसा भी अशुभ देश-काल हो,**

---

7. झीणाभाई जूनागढ राज्य के सभासद थे, एवं पंचाला गाँव के ठाकुर साहब थे। उनका प्रेमाग्रह था कि श्रीजीमहाराज उनके घर पधारे, परन्तु किसी कारणवशात् श्रीहरि उनके घर नहीं पधार सके; अत: झीणाभाई को लगा कि श्रीहरि ने मेरे आमंत्रण का अस्वीकार करके मेरा मानभंग किया है।

फिर भी हृदय में लेशमात्र भी उद्वेग नहीं आने देना चाहिए!'

॥ इति वचनामृतम् ॥4॥ ॥112॥

वचनामृत 5 : इन्द्रिय-अंतःकरण पर जीत

संवत् 1877 में कार्तिक कृष्णा अमावास्या (5 दिसम्बर, 1820) को रात के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत चूड़ीदार पायजामा पहना था, सफ़ेद छींट की बगलबंडी पहनी थी और मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने समस्त परमहंसों से प्रश्न किया कि 'कितने संकल्प कहने पर भक्त निष्कपट कहलाता है, और कितने संकल्प नहीं कहने पर उसे कपटी कहा जाता है?'

परमहंस इस प्रश्न का उत्तर न दे सके।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'स्वयं में पंचव्रत सम्बंधी जो शिथिलता हो, वह यदि अपने विचार द्वारा भी न मिटती हो, तो उसे ऐसे संत के पास जाकर बता देना चाहिए कि जिनके जीवन में कोई आचार-सम्बंधी शिथिलता न हो। तथा अपने मन में किसी सन्त के प्रति कोई दोषभाव उत्पन्न हो गया हो, तो उसे भी बता देना चाहिए; तथा भगवान सम्बंधी निश्चय में भी यदि कोई अनिश्चय का संकल्प हो गया हो, तो उसे भी प्रकट कर देना चाहिए; तभी उसे निष्कपट कहा जाएगा। यदि इनमें से कोई संकल्प हुआ हो और उसे सन्त के आगे नहीं कहा तो उसे कपटी समझना चाहिए।'

श्रीजीमहाराज ने पुनः पूछा 'यदि कोई ऐसा कपटी पुरुष हो और वह सयाना हो, तो उसे किस प्रकार की बुद्धि से पहचाना जा सकता है?'

जब परमहंस इस प्रश्न का भी उत्तर न दे सके, तब श्रीजीमहाराज ने बताया कि 'इसकी पहचान इस प्रकार हो सकती है कि उसका सहवास किसी कपटी से होता हो, तथा खाते-पीते, बैठते-उठते और चलते-फिरते समय स्वयं उसकी देखभाल करता हो, और जब वह अपने से अलग होता हो, तब भी किसी अन्य मनुष्य द्वारा गोपनीय रूप से उस पर निगरानी रखवाता हो,

तभी उसके कपट का पता लग सकता है।'

तब श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि 'जो दम्भपूर्वक पंचव्रतों का पालन करता हो, और दम्भपूर्वक ही भगवान सम्बंधी निश्चय रखता हो, और वह बुद्धिमान हो, तथा अभिमानी हो, तथा अन्य भक्तों के व्रतपालन एवं निश्चय की अपेक्षा अपने व्रतपालन और निश्चय की दृढ़ता को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रदर्शित करता हो, तब उसके बारे में कैसे जान सकते हैं कि यह तो दम्भपूर्वक ही व्रतपालन और निश्चय रखता है ?!'

जब परमहंस इस प्रश्न का भी उत्तर न दे सके, तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब उसकी प्रतिष्ठा को आघात पहुँचता है, तभी उसके दम्भ का पता लग जाता है, अन्यथा नहीं लगता।'

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'कैसा मनोभाव हो, जो भगवान सम्बंधी निश्चय तथा व्रतपालन, इन दोनों से भक्त को पतनोन्मुख करे, और कौन-सा संकल्प होने पर भी पतन नहीं होता? और किस अवधि तक उस संकल्प के रहने से भक्त धर्मच्युत हो जाता है तथा भगवान सम्बंधी निश्चय से भी उसका पतन हो जाता है?' परमहंस इस प्रश्न के भी उत्तर नहीं दे सके। तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'कोई संकल्प ऐसा होता है, जो मिटाने का यत्न करने पर भी नहीं मिट पाता, ऐसा कोई अनुचित संकल्प धर्मपालन करने में विघ्न कर रहा हो, जो पन्द्रह दिन या एक मास तक मन में नहीं आता, किन्तु न जाने कब वह उत्पन्न हो जाता है! ऐसा जो संकल्प होता है, वह व्यक्ति को धर्मच्युत कर डालता है। और, भगवान सम्बंधी निश्चय के विषय में भी यही समझना चाहिए। तथा बुरे संकल्प को उत्पन्न होने के बाद तुरन्त यदि विचार द्वारा ऐसे मिटाया जाए, जो पुनः उत्पन्न ही न होने पाए, तो ऐसा संकल्प न तो धर्म से और न ही निश्चय से उस पुरुष को पतन के गर्त में गिरा सकता है।'

पुनः श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'सत्संग में किसकी नींव सुदृढ़ रहती है और किसकी सुदृढ़ नहीं रहती?' इस प्रश्न का भी उत्तर परमहंस न दे सके। तब श्रीजीमहाराज ने उत्तर दिया कि 'जिस प्रकार दत्तात्रेय ने पंचभूत, चन्द्रमा, पशु, वेश्या, कुमारी तथा अपनी देह आदि में से भी गुण ग्रहण किये थे; ठीक उसी तरह, **सन्त में से गुण ग्रहण करने का जिसका स्वभाव**

बन गया हो, उसी की नींव सत्संग में सुदृढ़ होती है। जिसे सन्त से गुण ग्रहण करने का स्वभाव नहीं होता, वह तो सत्संग में रहा है फिर भी उसकी नींव सुदृढ़ नहीं है।'

आगे श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'क्या सन्त, शास्त्रों तथा अपना विचार – तीनों के होने पर ही इन्द्रियों और अन्त:करण को विजित किया जा सकता है या इनमें से कोई एक साधन रहने पर भी उन पर विजय प्राप्त की जा सकती है ? यदि आप ऐसा कहेंगे कि इन तीनों साधनों के द्वारा ही विजय मिल सकती है; तब सन्त से कैसी युक्ति सीखी जाए, शास्त्रों से क्या सीखा जाए तथा अपने विचार द्वारा कौन-सी युक्ति सीखी जाए? यह बताइए।' परमहंस इस प्रश्न का भी उत्तर नहीं दे पाये।

तब श्रीजीमहाराज ने उत्तर दिया कि 'शास्त्रों से भगवान तथा सन्त के माहात्म्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। सन्त से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि वे इन्द्रियों को जीतने की जो युक्ति बताएँ कि 'इस प्रकार नेत्र की दृष्टि नासिकाग्र रखनी चाहिए तथा सांसारिक ग्राम्यवार्ता नहीं सुननी चाहिए' आदि युक्तियाँ उनसे सीख लें। फिर सन्त द्वारा सिखाई गई युक्ति को अपने विचारों के द्वारा अपने कल्याण के लिए उपयोगी समझकर मानना और उसके अनुसार बरतना शुरू कर देना चाहिए। इस प्रकार तीनों उपायों द्वारा इन्द्रियों तथा अन्त:करण पर विजय प्राप्त की जा सकती है।'

पुन: श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि 'इन्द्रियों के जीतने पर अन्त:करण विजित हो जाता है? या अन्त:करण को जीत लेने पर इन्द्रियों पर विजय होती है?' परमहंस इस प्रश्न का भी उत्तर न दे सके।

तब श्रीजीमहाराज ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया कि 'बाह्य इन्द्रियों को देहदमन द्वारा जीत लिया हो, फिर भी (मुमुक्षु) पंचव्रतों का दृढ़तापूर्वक पालन करता रहे, तब बाह्य इन्द्रियों को जीत लेने पर अन्त:करण पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है। परन्तु, अकेले अन्त:करण पर जीत होने से बाह्य इन्द्रियों पर विजय नहीं मिल सकती। बाह्य इन्द्रियों को जीत लेने पर ही अन्त:करण पर विजय हो सकती है, क्योंकि जब पुरुष बाह्य इन्द्रियों को जीतकर उन्हें विषयोन्मुख होने का अवसर नहीं देता, तब अन्त:करण आन्तरिक रूप से निराश हो जाता है कि 'इस देह द्वारा यह बात नहीं बनेगी।'

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'बाह्य इन्द्रियाँ किस प्रकार जीती जा सकती हैं, तथा अन्तःकरण पर किस प्रकार विजय प्राप्त हो सकती है?' इस प्रश्न का भी उत्तर परमहंस न दे सके।

तब श्रीजीमहाराज ने बताया कि 'धर्मशास्त्र में त्यागियों के लिए जो नियम बताए गए हैं, उनका पालन करता रहे, आहार में संयम रखे, तप्तकृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रत करे, जानबूझकर शीत, धूप, क्षुधा एवं तृषा भी सहन करता रहे तथा भगवान का कथा-कीर्तन वार्ता करे एवं भजन-स्मरण के लिए स्थिरतापूर्वक आसन जीतकर बैठे इत्यादि साधनों द्वारा बाह्य इन्द्रियाँ जीती जा सकती हैं। एवं भगवान के माहात्म्य का विचार, भगवान का ध्यान तथा आत्मनिष्ठा - इन तीनों से अन्तःकरण जीता जा सकता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥5॥ ॥113॥

वचनामृत 6 : संग-शुद्धि

संवत् 1877 में मार्गशीर्ष शुक्ला प्रतिपदा (6 दिसम्बर, 1820) को श्रीजीमहाराज लोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में रात के समय विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी। सफ़ेद छींट की बगलबंडी पहनी थी, श्वेत फेंटा मस्तक पर बाँधा था और अन्य सफ़ेद फेंटा मस्तक से आकंठ बाँधा था। उस सफ़ेद फेंटे का छोर सिर पर लटक रहा था और उन्होंने सूती शाल ओढ़ी हुए थी। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने परमहंसों से प्रश्न किया, 'सत्संग होने के पश्चात् दुर्लभ से भी दुर्लभ साधन कौन-सा है?' परमहंस इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दे सके। तब श्रीजीमहाराज ने यह उत्तर दिया, 'सत्संग होने के बाद एकांतिकभाव सिद्ध करना वास्तव में अति दुर्लभ बात है। वह एकांतिक भाव क्या है? तो धर्म, ज्ञान एवं वैराग्य इन तीनों सहित भगवान की भक्ति करना एकान्तिकपन है।'

श्रीजीमहाराज ने पुनः पूछा कि 'धर्म सम्बंधी साधनों में ऐसा कौन-सा साधन है, जो रखने से समस्त धर्म रहते हैं तथा भगवान सम्बंधी भजन, स्मरण, कीर्तन और वार्ता आदि साधनों में ऐसा एक साधन कौन-सा है कि

आपत्काल में समस्त साधनों के चले जाने पर इस एक ही साधन के रहने पर सभी साधन अक्षुण्ण बने रहते हैं?' इस प्रश्न का उत्तर भी उन्होंने स्वयमेव दिया, **'धर्म सम्बंधी साधनों में यदि एक निष्काम वर्तमान (ब्रह्मचर्य) बना रहे, तो समस्त साधन स्वतः सुलभ हो जाते हैं। भगवान सम्बंधी साधन में यदि भगवान के स्वरूप का निश्चय रहे, तो सभी साधन अपने आप चले आते हैं।'**

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'कैसी मति को सुदृढ़ रखने से कल्याण होता है और उस मति में परिवर्तन करते हैं, तो बुरा होता है? तथा कैसी मति को बारंबार परिवर्तन करने पर हित होता है और उस मति को बारबार परिवर्तन न करने से बुरा होता है?' तब श्रीजीमहाराज ने इस प्रश्न का भी स्वयं उत्तर दिया कि 'भगवान के स्वरूप के निश्चय सम्बंधी मति को कभी भी विचलित नहीं होने देना चाहिए। भगवान के माहात्म्य को सुनकर बार-बार उसे पुष्ट करते रहने से ही कल्याण होता है। और भगवान के स्वरूप के निश्चय को बार-बार बदले जाने से भक्त का बुरा ही होता है। तथा, अपने मन से स्वयं निश्चय किया हो कि 'मुझे ऐसा करना है,' उस मति को सन्त के वचन से बार-बार बदल देना चाहिए तथा सन्त यह कहें कि 'यहाँ नहीं बैठना चाहिए और यह नहीं करना चाहिए, तो उस स्थान पर न तो बैठना चाहिए और न तो वैसा काम ही करना चाहिए। इस प्रकार मति को बदलते रहने से कल्याण होता है और मनमानी करने से बुरा होता है।'

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि 'किस प्रकार के सत्संगी अथवा परमहंस हों, जो पूर्णतः धर्माचरण करते हों, फिर भी उनके पास बैठने और उनकी बातें सुनने से दोष लगता है?'

इस प्रश्न का उत्तर भी उन्होंने स्वयं ही दिया, 'जिसको भगवान का निश्चय हो और जो धर्माचरण में तत्पर रहता हो, किन्तु यदि उसे संसार-व्यवहार में आसक्ति रहती हो, तथा वह देहाभिमानी हो, तथा अहंकार हो और भगवान तथा सन्त उसकी प्रकृति का खंडन करे, तो वह भगवान एवं संत के प्रति अवश्य अवगुण देखने लगेगा, तथा दूसरों को भी भगवान तथा सन्त के अवगुणों की बातें करके उसे भी भगवान से विमुख के समान कर देगा! यदि ऐसा व्यक्ति हो, तो उससे किसी प्रकार का सम्बंध नहीं रखना

चाहिए, यदि सम्बंध रखता है, तो उसका बुरा परिणाम मिलता है।'

पुन: श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'ऐसा कौन-सा साधु है, जो धर्माचरण भी संपूर्ण रखता हो तथा भगवान सम्बंधी निश्चय भी दृढ़ रखता हो, फिर भी उसके साथ न तो स्नान करने जाना चाहिए, न तो उसके पास अपना बिछौना बिछाना चाहिए और न ही उसकी बात सुननी चाहिए?' इस प्रश्न का उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया कि 'ऐसे सन्त का समस्त प्रकार से त्याग करना चाहिए, जो साधना-मार्ग से हतोत्साहित करने की बातें करता हो कि 'क्या एक ही जन्म में निष्कामादि गुण सिद्ध होते हैं? ये तो भगवान कृपा करे तभी सिद्ध होते हैं। अन्यथा इस एक जन्म में क्या, ऐसे कई जन्म लेने पड़ेंगे, इसे सिद्ध करने में...! और, इसी जन्म में कल्याण संभव है क्या? कभी नहीं! उसके लिए तो अनेक जन्म लेने पड़ते हैं।' इस प्रकार जो बिना हिम्मत की बातें करते हैं, उसका संग सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। लेकिन जो यह कहता हो कि 'इसी जीवन में हम कृतार्थ हो चुके हैं। काम, क्रोध, मद, मत्सर, मान आदि दोषों का क्या सामर्थ्य है? भगवान तथा सन्त के प्रताप से इन सबका नाश कर देंगे!' ऐसा कहता हो तथा कामादि दोषों के नाश करने के उपाय में तत्परतापूर्वक जुटा हुआ हो, ऐसे सन्त का संग सर्व प्रकार से करना।'

फिर श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'ऐसा कौन-सा साधु है, जो हिम्मत-पूर्वक बातें करता हो, फिर भी उसका त्याग कर डालना चाहिए?'

श्रीजीमहाराज ने स्वयं ही इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा, 'जो सन्त केवल अपने पुरुषार्थ को ही अधिकतर प्रस्तुत किया करता हो, तथा पुरुषार्थ से ही स्वयं को कृतार्थ मानता हो, परन्तु भगवान के कर्तृत्व का बल न रखता हो और यह न जानता हो कि 'इन साधनों द्वारा भगवान को प्रसन्न करना है,' उस सन्त का भी परित्याग कर देना।'

फिर श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'कैसे साधु का संग करना, तथा कैसे साधु का संग नहीं करना?' इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया कि 'जो सन्त सावधान होकर व्रतपालन करता हो, भगवान के स्वरूप का निश्चय भी सुदृढ़ हो, फिर भी जो अपने साथ रहनेवाले साधुओं को उनके दोषों के लिए टोकता न हो, बल्कि उन्हें सहेज-संभालकर रखा करता हो तथा शिथिलता रखता हो, ऐसा सन्त चाहे मुक्तानंद स्वामी के समान लौकिक दृष्टि से महान कहलाता

हो, परन्तु उसका भी संग नहीं करना चाहिए। परन्तु जो सन्त साथ में रहने पर अपने को टोका करे, तथा जो भी दोष देखे उस पर नियंत्रण रखता हो और जब तक यह दोष न मिट जाए तब तक उपदेश देता रहे, लेकिन लल्लोचप्पो न रखे। वह यदि लौकिक व्यवहार में भले ही बड़ा न कहलाता हो, फिर भी उसका संग करते रहना चाहिए।'

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'यदि किसी सन्त में भक्ति-ज्ञानादि समस्त महान गुण हों, परन्तु ऐसा कोई एक दोष कौन-सा होता है, जिसके कारण उस सन्त का संग नहीं करना चाहिए?' तब उन्होंने स्वयं प्रश्न का उत्तर दिया कि 'जिसमें घोर आलस्य हो तथा निद्रा भी बहुत हो और जब कोई उससे स्नान-ध्यानादि नियमों का पालन करने की बात करे, तो वह कहने लगता हो कि 'अभी कर लूँगा, शीघ्रता क्या है, धीरे-धीरे होगा!' ऐसा बोलनेवाला सन्त भले ही बहुत सज्जन क्यों न हो, फिर भी उसका संग नहीं करना चाहिए।'

श्रीजीमहाराज ने पुनः प्रश्न किया, 'संत की वाणी में ऐसा कौन-सा दोष होता है कि वह चाहे कितनी ही अच्छी बातें करता हो, फिर भी उसकी बातें नहीं सुननी चाहिए?' इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया कि 'जो सन्त बात करते समय अपने में विद्यमान भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म आदि गुणों की ही अहंकारपूर्वक डींग मारता रहे तथा अन्य सन्त के ज्ञान, भक्ति आदि गुणों को कुछ न्यून करके बताए, ऐसा दोष जिसकी वाणी में हो, उसकी बातें नहीं सुनें।'

फिर श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'जिसकी वाणी कठोर-कुत्सित लगे, फिर भी उस वाणी का अमृत के सदृश पान करें, ऐसी वाणी कौन-सी है?' इसका उत्तर भी उन्होंने दिया कि 'जो सन्त बातें करते समय अपने सम्बंधी, माता-पिता, बहन, भाई और अपनी जाति आदि की कठोर शब्दों में निन्दा करता हो, उसकी वाणी को अच्छी मानना चाहिए। वह इसलिए कि जो भी यह सुनेगा, उसे सन्त के प्रति यह शुभ धारणा बनेगी कि 'इस सन्त को अपने दैहिक सम्बंधियों के साथ किसी भी तरह से आसक्ति नहीं है' इसलिए इस वाणी का अमृतवत् पान करना चाहिए।'

फिर श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'किस स्थान पर मान रखना चाहिए और किस स्थान पर नहीं रखना चाहिए?' इस प्रश्न का उत्तर भी उन्होंने

स्वयं दिया कि 'भगवान का दृढ़ आश्रित हो और वह साधारण-सा दीन हरिभक्त हो, तो भी उसके समक्ष अहं-मान नहीं रखना चाहिए। किन्तु, जिसका मन सत्संग से कुछ मुकर गया हो, उसके सामने स्वाभिमान रखना चाहिए, लेकिन उसके आगे किसी भी प्रकार से झुकना नहीं चाहिए। इसके साथ ही सत्संग के सम्बंध में अनुचित चर्चा होने पर उसका दृढ़तापूर्वक प्रतिवाद करना चाहिए।'

फिर श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'भगवान के दर्शनादि तथा सन्त के प्रति कब स्नेह नहीं रखना चाहिए और कब स्नेह रखना चाहिए?' फिर उन्होंने स्वयं बताया कि 'यदि हम समस्त साधुओं से सामान्यतः यह बात कहें कि 'बुरहानपुर और काशी कौन जाएगा?' तब अगर कोई बोले नहीं, तो अन्य किसी भी साधु को उस सभा में उठकर हमसे यह निवेदन करना चाहिए कि 'हे महाराज! यदि आप आज्ञा करें, तो मैं चला जाऊँ?' ऐसा कहकर और हमारी आज्ञा लेकर वहाँ जाना चाहिए। ऐसे समय पर हमारी प्रसन्नता के लिए हमारे दर्शनादि तथा सन्त-समागम के प्रति स्नेह नहीं रखना चाहिए। यदि हमने अथवा वरिष्ठ संत ने किसी की उपेक्षा की हो, डाँट-फटकार करके उसे सत्संग से बाहर कर दिया हो, उस शोक से वह रुदन करता हो, तब कोई एकड़मल (सत्संग से बाहर होकर विचरण करनेवाला साधु) विमुख जैसा कोई उसके पास जाकर हमारे अथवा वरिष्ठ संत के विरुद्ध अवगुण की बातें करने लगे, तब वह (उपेक्षित) उस विमुख के पास सन्त तथा भगवान के प्रति अधिक प्रेम जताए एवं उसे इस प्रकार कहे कि 'मैं तो उनका बिका हुआ दास हूँ, इसलिए यदि वे मेरे टुकड़े-टुकड़े भी कर डालेंगे, तो भी मैं उनका अवगुण ग्रहण नहीं करूँगा। वे मेरे कल्याणदाता है।' इस प्रकार वहाँ अतिशय स्नेह प्रकट करना चाहिए।'

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि 'वह कौन-सा कार्य है, जो करने से भगवान प्रसन्न होते हैं, तो भी नहीं करना चाहिए और वह कौन-सा कार्य है, जो करने से भगवान अप्रसन्न होते हैं, तो भी उसे करना चाहिए?' फिर उन्होंने ही इस प्रश्न का उत्तर दिया कि 'यदि हम (भगवान) कुछ ऐसा वचन कहे, जिसमें कुछ अधर्म-सी बात प्रतीत होती हो, तो उसे मानने में अधिक विलम्ब कर देना चाहिए, परन्तु उसे तुरन्त नहीं मान लेना चाहिए।

जैसे श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन से कहा था कि 'अश्वत्थामा का सिर काट डालो', किन्तु अर्जुन ने उस बात को नहीं माना, वैसे ही ऐसे वचनों पर यदि हम प्रसन्न हों तो भी उनका पालन नहीं करना चाहिए। यदि किसी वचन के कारण पंचव्रतों सम्बंधी नियमों में से किसी का भी उल्लंघन होता हो, तो उसे नहीं मानना चाहिए। इस प्रकार इन दोनों प्रकार के वचनों का पालन न करने से भले ही भगवान का हृदय दुखाता हो, उसे अच्छी तरह दुखाना किन्तु उसमें भगवान को प्रसन्न नहीं करना चाहिए।'

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि 'भगवान का ध्यान करते समय यदि मन में समुद्र की विशाल तरंगों के समान अघटित कुसंकल्पों की तरंगें उठती हों, तो उन्हें किस प्रकार मिटाना चाहिए?'

इस प्रश्न का भी उन्होंने स्वयमेव उत्तर देते हुए बताया कि जब इस तरह के कुसंकल्प होने लगें, तब उस ध्यान को छोड़कर निर्लज्ज होकर जिह्वा द्वारा उच्चस्वर से ताली बजाते हुए 'स्वामिनारायण, स्वामिनारायण' भजन करना चाहिए, तथा 'हे दीनबन्धो! हे दयासिन्धो!' ऐसे शब्दों का उच्चारण करते हुए भगवान की प्रार्थना करनी चाहिए। फिर भगवान के मुक्तानन्द स्वामी जैसे बड़े सन्तों के नामोच्चार करते हुए उनकी प्रार्थना करें, तो समस्त कुसंकल्प मिट जाते हैं और शान्ति भी हो जाती है, परन्तु इसके बिना बुरे संकल्पों को टालने का कोई अन्य उपाय नहीं है।'

फिर श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'इस सत्संग में जो सभी को अति महान गुण प्रतीत होता हो और हर कोई उस गुण की प्रशंसा करते हों, फिर भी वह गुण त्याग करने योग्य हो, ऐसा वह कौन सा गुण है? और, ऐसा वह कौन-सा दोष है, जो दोष होने पर भी वह ग्रहण करने योग्य है?'

इसका उत्तर भी स्वयं दिया कि 'मुक्तानन्द स्वामी जैसे साधु जब अति दृढ़ व्रत-पालन करते हो, तब अन्य साधुओं को उद्वेग होता हो, क्योंकि वे उनके समान अति दृढ़ आचरण नहीं कर पाते, अतः यद्यपि वह गुण महान है, फिर भी उसका परित्याग कर समस्त साधुओं के समान वर्तन रखना चाहिए। भले ही समान-आचरण एक दोषसदृश है, फिर भी उसको ग्रहण कर लेना चाहिए।'

श्रीजीमहाराज ने पुनः प्रश्न पूछा कि 'साधु में ऐसा कौन-सा दोष है,

जिसका त्याग करने से दोषमात्र का त्याग हो जाता है तथा ऐसा कौन-सा गुण है, जिसके आने पर समस्त गुण आ जाते हैं?' इस प्रश्न का भी उत्तर उन्होंने स्वयं दिया कि **'देहाभिमानरूपी जो दोष है, उसमें समस्त दोषों का समावेश रहता है। इसलिए उसका त्याग करने से सभी दोषों का त्याग हो जाता है। और 'मैं तो देह से भिन्न आत्मा हूँ', ऐसा आत्मनिष्ठारूपी गुण आ जाए, तो समस्त गुण आ जाते हैं।'**

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'कैसे पंचविषयों के सेवन से बुद्धि में प्रकाश होता है और कैसे पंचविषयों के सेवन से बुद्धि में अंधकार हो जाता है?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने बताया कि 'भगवान सम्बंधी पंच-विषयों का सेवन करने से बुद्धि में प्रकाश होता है और जगत सम्बंधी पंच-विषयों के सेवन से बुद्धि में अंधकार छा जाता है।'

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'वह कैसा देश, कैसा काल, कैसा संग और कैसी क्रियाएँ हैं कि भगवान की आज्ञा होने पर भी उनके साथ सम्बंध नहीं करना चाहिए?'

इस प्रश्न का उत्तर भी उन्होंने इस प्रकार दिया कि 'जिस देश में (स्थान) निवास करने पर अपने शरीर के सम्बंधियों से बार-बार बैठने-उठने का योग होता हो, उस देश में भगवान की आज्ञा होने पर भी नहीं रहना चाहिए। और, जहाँ हमारे दर्शनों के साथ-साथ स्त्रियाँ भी दिखाई पड़ती हों, ऐसे संग तथा क्रिया की स्थिति में यदि हम किसी भक्त को बिठाकर निर्देश दें कि 'हमारे दर्शन करो', तो भी वहाँ नहीं बैठना चाहिए, और कोई भी बहाना निकालकर उस स्थान से उठकर चले जाना चाहिए। तथा जिस काल में विषमता रहती हो और मारपीट की घटनाएँ होती हों, उस स्थान पर ठहरने की यदि भगवान की आज्ञा हो, फिर भी वहाँ से हटकर चले जाना चाहिए, लेकिन उसी स्थान पर रहकर मार नहीं खानी चाहिए।'

फिर श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'किन शास्त्रों का श्रवण तथा अध्ययन करना चाहिए और कौन-से शास्त्रों को नहीं सुनना तथा नहीं पढ़ना चाहिए?'

इसका उत्तर भी उन्होंने दिया कि 'जिन शास्त्रों में भगवान के साकार-भाव का प्रतिपादन न किया गया हो तथा भगवान के अवतारों का निरूपण

भी न हो, वे ग्रन्थ यदि शुद्ध वेदान्त के हों तथा एक अद्वितीय निराकार स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले हों, ऐसे ग्रंथ चाहे कितने ही बुद्धिमान पुरुषों द्वारा रचित किए गए हो, तो भी उनका कभी अध्ययन एवं श्रवण नहीं करना चाहिए। यदि रणछोड़ भक्त[8] के रचित पदों के समान कीर्तन हों, जिनमें भगवान की मूर्ति का वर्णन किया गया हो, तो उनका गान और श्रवण करना चाहिए और वैसे ही ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए और श्रवण भी करना चाहिए।'

॥ इति वचनामृतम् ॥6॥ ॥114॥

वचनामृत 7 : ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः

संवत् 1877 में मार्गशीर्ष शुक्ला तृतीया (8 दिसम्बर, 1820) को श्रीजीमहाराज श्रीलोया ग्राम स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे। उनके मस्तक पर सफ़ेद पाग का छोर सुशोभित था। उन्होंने सफ़ेद छींट की बगलबंडी पहनी थी, रुईभरा श्वेत चूड़ीदार पायजामा पहना था और सफ़ेद पिछौरी ओढ़ी थी। उनके समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय नित्यानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज को वचनामृत पुस्तक लाकर दी। इस पुस्तक को देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए और परमहंसों से बोले कि आज तो कठिन-कठिन प्रश्न करें तो उन पर बातें करें। तब मुक्तानन्द स्वामी ने कहा, 'श्रुतियों में कहा गया है कि – **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'**[9] **'तमेव विदित्वातिऽमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥'**[10] इन श्रुतियों में कहा गया है कि 'भगवान के स्वरूप का साक्षात् ज्ञान होने पर ही जीव का कल्याण होता है।' तब तो शास्त्रों में कल्याण के लिए जो अन्य साधन बताए गए हैं, उनका क्या प्रयोजन है? क्योंकि कल्याण तो ज्ञान द्वारा ही होता है!' इस प्रश्न को सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'ज्ञान का अर्थ है, जानना।'

---

8. वैष्णव परंपरा के गुजराती भक्तकवि।
9. **अर्थ :** 'बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती।' (हिरण्यकेशीयशाखा)
10. **अर्थ :** 'परमात्मा के ज्ञान से ही संसार मृत्यु पर विजय हो सकती है, अतः मुक्ति के लिए ज्ञान के सिवा अन्य कोई मार्ग नहीं है।' (श्वेताश्वतरोपनिषद् : 3/8)

तब नित्यानंद स्वामी ने संदेह व्यक्त किया कि 'यदि 'जानना' ही ज्ञान है तो शास्त्र द्वारा पूरा जगत भगवान को जानता है, परंतु ऐसे जानने से उन सभी का कल्याण तो नहीं होता।'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'शास्त्रों द्वारा परोक्षभाव से किसी ने भले ही भगवान को जान लिया, परंतु उसका कल्याण नहीं होता, उसी प्रकार रामकृष्णादिक भगवान के अवतार पृथ्वी पर थे, उस समय सभी लोगों ने उनको प्रत्यक्ष देखा था, तो क्या उनका कल्याण भी हुआ था?'

तब मुक्तानंद स्वामी ने कहा कि 'जिन लोगों ने भगवान को प्रत्यक्ष देखा हो, उनका तो कल्याण जन्मान्तर के बाद होता है।'

इस पर श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि ऐसा ही है, तो जिन भक्तों ने शास्त्रों द्वारा भगवान को जान लिया है, उनका भी तो जन्मान्तर के बाद कल्याण हो सकता है! क्योंकि शास्त्रों द्वारा जिन भगवान के स्वरूप को जान लिया है, उसी भगवान को वे नेत्रों द्वारा देखते हैं तथा नेत्रों द्वारा जिन भगवान को देखते हैं, उसी भगवान को शास्त्रों द्वारा जानते हैं। अत: दोनों का बीजबल (संस्कार) एक समान होता है तथा दोनों का जन्मान्तर के बाद कल्याण भी समान रूप से ही होता है। क्योंकि श्रवणेन्द्रिय द्वारा भगवान को सुना, तो क्या उसमें ज्ञान अन्तर्निहित नहीं है? परंतु ऐसा नहीं है। क्योंकि वह मात्र कहने के लिए ही 'ज्ञान' होगा, परन्तु वास्तविक रूप से तो वह केवल 'श्रवण' ही है! तथा क्या त्वचा द्वारा किये गए भगवान के स्पर्श में ज्ञान नहीं है? परन्तु वह तो केवल स्पर्श ही है। क्या नेत्रों द्वारा भगवान को देखने में ज्ञान नहीं है? किन्तु वह तो केवल 'देखना' ही है। क्या नासिका द्वारा भगवान की सुगन्ध ली, तो सूँघने में ज्ञान नहीं है? किन्तु उसे तो केवल 'सूँघा हुआ' ही कहा जाएगा। और, क्या जिह्वा द्वारा किए गए भगवान के वर्णन में 'ज्ञान' नहीं है? परन्तु, उसे तो 'वर्णनमात्र' ही कहा जाएगा।

इसी प्रकार, बाह्य इन्द्रियों तथा अन्त:करण द्वारा जीव को जो सामान्यत: जानकारी होती है, एक तो वह ज्ञान है, तथा दूसरा 'अन्त:करण एवं इन्द्रियों से परे जो जीवसत्ता-तदाश्रित अनुभव-ज्ञान' है, इन दोनों में से किस प्रकार के ज्ञान के लिए आपका प्रश्न है? तथा भगवान ने जगत की

उत्पत्ति के लिए 'अनिरुद्ध' स्वरूप धारण किया है, जिसमें स्थावर-जंगमरूपी विश्व अवकाश सहित रहा है। वही भगवान संकर्षणरूप से जगत का संहार करते हैं, और प्रद्युम्नरूप द्वारा विश्व की स्थिति का निर्धारण करते हैं तथा मत्स्य-कच्छपादि अवतार स्वरूपों को धारण करते हैं। इस प्रकार जहाँ जैसा कार्य हो, वहाँ उस कार्य की सिद्धि के लिए वे वैसा ही स्वरूप ग्रहण करते हैं। उनमें कोई कार्य तो ऐसा होता है, जिसमें इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की पहुँच नहीं होती। वे कार्य तो केवल अनुभव ज्ञान के द्वारा ही जाने जा सकते हैं। ऐसा कार्य सिद्ध करने के लिए भगवान भी वैसा ही स्वरूप धारण करते हैं। और कोई कार्य ऐसे हैं कि वे इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से जान पाते हैं। ऐसे कार्यों को सिद्ध करने के लिए भगवान भी वैसा ही स्वरूप धारण करते हैं। अतः आप भगवान के किस स्वरूप के ज्ञान से कल्याण होने की बात पूछते हो?'

तब नित्यानन्द स्वामी ने यह मन्तव्य प्रकट किया कि 'भगवान के जिस स्वरूप में इन्द्रियों, अन्तःकरण तथा अनुभव ये तीनों पहुँच सकें, ऐसे भगवान के स्वरूप का 'ज्ञान' होने की बात पूछते हैं, कि जिस ज्ञान से मोक्ष होता है।' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'ऐसे भगवान तो श्रीकृष्णजी हैं। वे स्वयं अपने लिए इस प्रकार बताते हैं -

'यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥'[11]
'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।'[12]
'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चदस्ति धनञ्जय!
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥'[13]

---

11. **अर्थ :** 'पूर्वश्लोक में वर्णित स्वभाव से जीवों-ईश्वरों के लिए मैं अतीत हूँ। यानी उनके दोषों का स्पर्श मुझे नहीं होता तथा अक्षरब्रह्म से भी मैं उक्त कारणों से अतिशय उत्कृष्ट हूँ।' (गीता : 15/18)
12. **अर्थ :** 'मैं अपने सामर्थ्य के एक अंश से इस जड-चिदात्मक समग्र जगत को धारण किये हुए हूँ।' (गीता : 10/42)
13. **अर्थ :** 'हे अर्जुन! मुझसे अतिरिक्त कोई भी तत्त्व परतर नहीं है। जिस प्रकार डोरे में मणिमाला पिरोयी हुई रहती है, उसी प्रकार यह चिद्-अचिदात्मक समग्र जगत मुझमें समाया हुआ है, अर्थात् मेरा आश्रित है।' (गीता : 7/7)

'पश्य मे पार्थ ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥'[14]

इत्यादि वचनों द्वारा वे स्वयं को इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से अगोचर बताते हैं। इसलिए, भगवान को तत्त्वतः समझने का यही मार्ग है कि जो पुरुष इन्द्रियों, अन्तःकरण तथा अनुभव तीनों द्वारा प्रत्यक्ष भगवान को यथार्थ रूप से जान लेता है, वही पूर्ण ज्ञानी कहलाता है। यदि इन तीन प्रकारों में से एक भी प्रकार कम हो, तो वह आत्यन्तिक ज्ञान नहीं कहलाता है और वह जन्म-मृत्यु को भी पार नहीं कर सकता। यदि वह किसी साधन द्वारा ब्रह्मभाव को प्राप्त कर ले, किन्तु प्रत्यक्ष भगवान को इस प्रकार न जानता हो, तो भी पूरा ज्ञानी नहीं कहा जा सकता।

अतएव, श्रीमद्भागवत में कहा गया है :-

'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।'[15]

तथा गीता में कहा गया है :-

'कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥'[16]

अकर्मात्मक ज्ञान के सम्बंध में भी जानना शेष रहा है, अर्थात् जो ब्रह्मरूप हो चुका है, फिर भी उसे परब्रह्म पुरुषोत्तम को जानना शेष रहता है। और, **जो ब्रह्मरूप हुआ है, उसे ही पुरुषोत्तम की भक्ति करने का अधिकार है।** वह भक्ति क्या है? तो जिस प्रकार श्वेतद्वीपवासी निरन्नमुक्त

---

14. **अर्थ :** 'हे पार्थ! मेरे अनेक रूपों का तुम अवलोकन करो, जो नाना प्रकार के दिव्य एवं शुक्लादि विभिन्न वर्णवाले तथा नाना आकृतिवाले हैं।' (गीता : 11/5)
15. **अर्थ :** 'यद्यपि नैष्कर्म्य यानी आत्मा की यथार्थ उपासनारूप ज्ञान निरंजन अर्थात् रागद्वेषादिरूप मायारहित है, फिर भी जो भगवान की भक्ति से रहित है, वह तो बिलकुल शोभित नहीं लगता, अर्थात् भक्तियोग से रहित ज्ञानयोग शोभायमान नहीं होता।' (श्रीमद्भागवतम् : 1/5/12)
16. **अर्थ :** 'मुमुक्षुओं को कर्तव्यकर्म के सम्बंध में ज्ञान प्राप्त करना बाकी है तथा नाना प्रकार के विकर्मात्मक वैदिक काम्यकर्म के विषय में भी जानकारी शेष रही है। इसी प्रकार अकर्मात्मक ज्ञान के सम्बंध में भी ज्ञान प्राप्त करना शेष रहा है। इस रीति से कर्म की गति को गहन माना गया है, अर्थात् उसका स्वरूप ऐसा है कि वह बोधगम्य नहीं हो सकता।' (श्रीमद्भागवतगीता 4/17)

हैं, वह ब्रह्मरूप होकर चन्दन-पुष्पादि नानाप्रकार की पूजा-सामग्री द्वारा वासुदेव का पूजन करते हैं, वैसे ही उसे भी ब्रह्मरूप होकर चन्दन-पुष्पों तथा श्रवण-मननादि द्वारा प्रत्यक्ष भगवान की भक्ति करनी चाहिए।

सो गीता में भगवान ने कहा है :-

'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥'[17]

वस्तुतः जो भक्त ब्रह्मरूप होकर परब्रह्म की भक्ति नहीं करता, उसके सम्बंध में यही कहा जाएगा कि उसका भी आत्यन्तिक कल्याण नहीं हुआ। तथा[18]

'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥'[19]

यह व्याप्य जडप्रकृति है, और -

'अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्यते जगत ॥'[20]

- ऐसी व्यापक चैतन्य प्रकृति है और, प्रत्यक्ष भगवान कैसे हैं? वे आठ प्रकार की व्याप्य प्रकृति और उसमें व्यापक रहनेवाली चैतन्य प्रकृति,

---

17. **अर्थ :** 'जो ब्रह्मरूप हुआ है, और प्रसन्नमन है, अर्थात् क्लेश-कर्मादि दोषों से जिसका मन कलुषित नहीं हुआ है, और, जो किसी पर भी शोक नहीं करता, किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं करता तथा समस्त प्राणियों में समभाव रखता है, अर्थात् जिसको अपनी आत्मा का 'ब्रह्मरूप' से साक्षात् अनुभव हुआ हो, वही मेरी परा भक्ति में अधिकार प्राप्त करता है।' (गीता : 18/54)
18. जिनकी भक्ति करने की बात कही गयी है, ऐसे परब्रह्म प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम नारायण ही दोनों प्रकृतियों के आधार हैं, यही बात गीता में कही गयी है कि -
19. **अर्थ :** 'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन आदि इन्द्रियाँ, महत्तत्त्व तथा अहंकार इन आठ प्रकारों से जगत की प्रकृति परिणमित हुई है, वही प्रकृति मेरी है ऐसा तुम मानो। अर्थात् मैं अचेतन प्रकृति से विलक्षण हूँ।' (गीता : 7/4)
20. **अर्थ :** 'यह मेरी अपरा (अप्रधानभूता) प्रकृति है, इस अचेतन प्रकृति से विलक्षण आकारवाली परा (प्रधानभूता) एवं चेतनरूप यह प्रकृति मेरी है। ऐसा समझिये कि जो चेतन प्रकृति है, उसने समग्र अचेतन जगत को धारण कर रखा है, अर्थात् मैं चेतन प्रकृति से भी विलक्षण हूँ।' (गीता : 7/5)

इन दोनों के आधार (धारक) हैं, ठीक उसी तरह, जिस प्रकार आकाश पृथ्वी आदि चार तत्त्वों का आधार है। जब पृथ्वी की संकोचावस्था होती है, तब उसके साथ-साथ आकाश की भी संकोच अवस्था रहती है। इसी प्रकार जल, प्रकाश, वायु की संकोच-विकासावस्था के साथ ही आकाश की भी संकोच एवं विकास की अवस्था बनी रहती है तथा पृथ्वी आदि तत्त्वों की संकोच-विकासावस्था[21] आकाश में होती है। उसी प्रकार, इन दोनों प्रकृतियों की संकोच-विकास अवस्था के साथ ही भगवान की भी संकोच-विकासावस्था होती है और इन दोनों प्रकृतियों की संकोच-विकास अवस्था भगवान में है, ऐसे भगवान सबकी आत्मा हैं।

श्रुतियों में कहा गया है, **'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा'**,[22] **'यस्याक्षरं शरीरं... एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः'**,[23] **'यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः'**,[24] **'यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः'**, इत्यादि श्रुतियाँ हैं। तथा ब्रह्म को अन्न-मय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कहा गया है। इस प्रकार ब्रह्मविद्या अनेक प्रकार से कही गई है। उसका यह तात्पर्य है कि भगवान सबके कारण तथा आधार हैं। इसलिए, इन सबको ब्रह्म कहा गया है। परन्तु, ये सब शरीर हैं तथा इन

---

21. यद्यपि आकाश में संकोच-विकास की अवस्थाएँ वस्तुतः नहीं हैं तथापि वे स्वयं पृथिव्यादिभूतों में व्यापक रूप से रही हैं। उनसे उन भूतों में होनेवाली संकोच-विकास की प्रक्रियाएँ पारस्परिक रूप से आकाश में उपचारमात्र होती हैं। वैसे ही निर्विकारी परमात्मा के स्वरूप में साक्षात् संकोच-विकास नहीं हैं, परन्तु वे अपने शरीररूप जडाजड-संज्ञक दोनों प्रकृतियों में अन्तर्यामीरूप से स्वतः व्यापक होकर रहे हैं। इसीलिए, उन शरीरी परमात्मा में दोनों प्रकृतियों का संकोच-विकास उपचारमात्र होता है। यह भावार्थ समझना चाहिए।
22. **अर्थ :** 'समस्त मनुष्यों के आत्मारूप भगवान सबमें अन्तःप्रवेश करके सबके शिक्षण प्रदाता तथा नियमनकर्ता बने हुए हैं।' (तैत्तिरीय आरण्यक : 3/11)
23. **अर्थ :** 'जिस परमात्मा का 'अक्षर' शरीर है। वे समस्त भूतों के अन्तरात्मा हैं, निर्दोष हैं तथा दिव्य हैं। ऐसे एकमात्र देव नारायण हैं।' (सुबालोपनिषद् : 7)
24. **अर्थ :** 'जो परमात्मा जीवात्मा में अन्तःप्रवेश करके नियमन करते हैं, वे अन्तर्यामी तेरी अमृत आत्मा हैं, अर्थात् निरुपाधिक अमृतशाली परमात्मा हैं।' (बृहदारण्यक : 3/7/30)

सबके शरीरी भगवान श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम हैं। उन भगवान में यह जड-चैतन्यरूपी दोनों प्रकृतियाँ संकोच-विकासावस्था द्वारा अपने कार्य-सहित सुखपूर्वक रही हैं तथा इन सभी में भगवान अन्तर्यामीरूप तथा कारण-रूप होकर रहे हैं। और, वे ही भगवान यह प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इस प्रकार से महिमा सहित भगवान को जानना और देखना, उसे ही परिपूर्ण ज्ञान कहते हैं।'

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'यदि इस प्रकार (भगवान को) न देखें, परंतु अन्तःकरण में तो उपरोक्त अनुसार ज्ञान की दृढ़ समझ हो तो उसे परिपूर्ण ज्ञान कहा जा सकता है या नहीं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जैसे अन्धकारमय घर में कोठी और खम्भों को यद्यपि देखते हैं, फिर भी उन्हें यथार्थ रूप से देखा हुआ नहीं कहा जाएगा, वैसे ही पुरुषोत्तम भगवान में जड-चित् प्रकृति रहती है और उस प्रकृति में वे स्वयं रहते हैं, उन्हें अनुमान द्वारा जान लिया, परन्तु यदि वे दीखने में नहीं आते, तो देखने वाले को परिपूर्ण ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। यदि उसकी ज्ञान की समझ यथार्थ है, तो उसे कुछ अलौकिकता ज्ञात होनी चाहिए, नहीं तो आगे ज्ञात होगी। यद्यपि ऐसे ज्ञान की समझ असंदिग्ध रूप से है, फ़िर भी उसे 'दिखाई' नहीं पड़ता, तो वह यह समझता है कि 'भगवान में सब कुछ हैं, परन्तु वह मुझे नहीं दिखाते हैं, ऐसी ही उनकी इच्छा है।' यदि वह ऐसा समझकर भगवान की भक्ति करता हुआ स्वयं को कृतार्थ मानता है, तो वह परिपूर्ण ज्ञानी है। अतः जो पुरुष इन्द्रियों, अन्तःकरण तथा अनुभव द्वारा भगवान को यथार्थरूप से जान लेता है, उसे ज्ञानी कहते हैं और भगवान ने ऐसे ज्ञानी को गीता में श्रेष्ठ बताया है।

'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ!।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ॥'[25]

ऐसा **जो ज्ञानी है, वह तो सदैव साकारमूर्ति प्रत्यक्ष भगवान को प्रकृति, पुरुष एवं अक्षर से परे मानते हुए, सर्व के कारण तथा सर्व के आधार जानकर अनन्यभाव से उनकी सेवा करता रहता है। इस प्रकार**

---

25. **अर्थ :** आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी इन चारों भक्तों में हे अर्जुन! ज्ञानी को श्रेष्ठ कहा गया है; क्योंकि वह सदैव मेरे साथ ही सम्बद्ध रहता है तथा एकमात्र मेरी ही भक्ति करता है। (गीता : 7/16)

की समझ को 'ज्ञान' कहते हैं। इस ज्ञान के द्वारा आत्यन्तिक मोक्ष होता है। जो मनुष्य ऐसा नहीं समझते और केवल शास्त्र द्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि'[26] बनकर बैठते हैं तथा कहते रहते हैं कि 'मैं ब्रह्मरूप हूँ और रामकृष्णादि तो मेरी लहर हैं', ऐसे ब्रह्मकुदाल आधुनिक वेदान्ती अतिदुष्ट तथा महापापी हैं, जिन्हें मरने के बाद नरक में जाना पड़ता है, जिसमें से उनका कभी भी छुटकारा नहीं होता।'

॥ इति वचनामृतम् ॥7॥ ॥115॥

वचनामृत 8 : इन्द्रियों की चंचलता मिटाने के उपाय

संवत् 1877 में मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी (10 दिसम्बर, 1820) को रात्रि में श्रीजीमहाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था, सफ़ेद छींट की बगलबंडी पहनी थी तथा श्वेत धोती धारण की थी। उनके समक्ष सभा में परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न किया, 'कोई अबूझ-अज्ञानी मनुष्य हो उसे सन्त का कोई स्वभाव देखकर उसके प्रति दुर्भाव हो जाए, वह तो ठीक है, परन्तु जो पुरुष समझदार हो उसको सन्त के प्रति दोषभाव क्यों हो जाता है?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जो समझदार पुरुष होता है, वह अपने में किसी अनुचित स्वभाव को देखकर उसके साथ द्वेषभाव रखते हुए उसे टालने के लिए परिश्रम करता हो, तथा उस स्वभाव के प्रति उसे बहुत ही चिढ़ हो; फिर ऐसा ही स्वभाव किसी दूसरे सन्त में जब वह देखता है, तब उससे दुर्भाव हो जाता है। और जो अज्ञानी होता है, वह तो अपने स्वभाव को तो नहीं मिटाता, और किसी अन्य सन्त में कुछ अल्प स्वभाव देखकर उसकी घृणा करता है, वह मूर्ख कहा जाता है।'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज छोटे-छोटे परमहंसों को अपने पास बुलवाकर स्वयं उन्हें प्रश्न सिखलाने लगे और उनका उत्तर भी देने लगे। सबसे पहले उन्होंने यह पूछा कि 'काम, क्रोध एवं लोभादि शत्रुओं के वेग

26. मैं ब्रह्म हूँ। (बृहदारण्यक : 1/4/10)

की तीव्रता तथा मन्दता बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था के कारण होती है। जैसे कि बाल्यावस्था में मन्दवेग होता है, युवावस्था में तीव्रवेग होता है और वृद्धावस्था में मन्दवेग हो जाता है। इस प्रकार कामादि की तीव्रता तथा मन्दता तो प्रतीत होती है, परन्तु विचार द्वारा दोषों की मन्दता रहती है या नहीं?' उन्होंने इस प्रश्न का उत्तर स्वयमेव दिया कि 'विचार द्वारा भी कामादि की मन्दता, तीव्रता और शिथिलता रहती है, वह विचार कैसा होता है तो बाल्यावस्था में दोषों की मंदता होती है। यौवनअवस्था में दोषों की तीव्रता होती है तथा वृद्धावस्था में पुनः दोषों के वेग में मंदता आ जाती है। उसमें तो मनुष्य का आहार ही कारणभूत होता है। जैसे कि बाल्यावस्था में आहार कम होने के कारण कामभाव (विकार) मंद होता है। तथा वृद्धावस्था में भी आहार कम हो होने के कारण कामभावना भी कम रहती है। किन्तु युवावस्था में आहार बढ़ जाता है, जिससे कामुकता में भी वृद्धि हो जाती है। यदि वह युवावस्था में आहार को कम कर दे और देह द्वारा सर्दी, गर्मी, वर्षा और भूख आदि को जान-बूझकर सहन करता रहे तथा ऐसा ही (संयम का) विचार रखते हुए महान संत का सत्संग करता रहे तो युवावस्था में भी उसकी काम-भावना मन्द हो जाती है।'

पुनः श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा कि 'जीव नाना प्रकार के व्यसनों से ग्रस्त होता है। जैसे, किसी को भाँग का, किसी को अफ़ीम का, किसी को शराब का और किसी को गाँजे का व्यसन होता है, ऐसे अनेक प्रकार के व्यसन हैं, जो उन्हें करने से लगते हैं? अथवा प्रारब्धवशात् लग जाते हैं?'

फिर इस प्रश्न का उत्तर भी उन्होंने दिया कि 'ये व्यसन प्रारब्ध से नहीं, बल्कि वे तो 'करने' से होते हैं। यदि इन व्यसनों को दूर करने के लिए श्रद्धा सहित आग्रह रहे तथा शूरवीरता हो, तो ये व्यसन मिट जाते हैं। परन्तु बिना श्रद्धा के जो कायर होता है, उससे ऐसे स्वभाव मिटते ही नहीं।'

फिर श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'कितने ही बालक ऐसे होते हैं, जिनका स्वभाव वृद्धों जैसा होता है, जबकि कितने ही बच्चों की प्रकृति अति चंचल होती है। क्या ऐसी प्रकृति का कारण संग है या उसके जीव में ही ऐसी प्रकृति का अस्तित्व बना रहता है?' इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया कि 'प्रायः संग करने से ही अच्छी-बुरी प्रकृति बनी रहती है तथा कितने ही

पुरुषों का अच्छा-बुरा स्वभाव पूर्वकर्मों के कारण भी बना रहता है।'

तब कपिलेश्वरानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज! यह बात किस प्रकार मालूम हो कि अमुक स्वभाव पूर्वकर्मजन्य है और अमुक स्वभाव अभी का है?'

तब श्रीजीमहाराज ने बताया कि 'जो स्वभाव अभी का है, वह अच्छे सन्त के संग में रहकर उसे मिटाने का थोड़ा-सा उपाय करने पर मिट जाता है। जैसे मुंडेर पर तृण उग आया हो और वे पाँच-छः दिन भी वर्षा न होने पर सूख जाता है, वैसे ही अभी का स्वभाव थोड़े दिनों में ही टल जाता है, किन्तु पूर्वकर्मजन्य स्वभाव को मिटाने के लिए तो अत्यन्त कठोर परिश्रम करे, तब भी वह बड़ी कठिनाई से मिट पाता है। जिस प्रकार किसान धरती में स्थित दूर्वा या झड़बेरी को आग लगाकर जला देता है, फिर भी वे फिरसे अंकुरित हो जाते हैं, परन्तु वह कुदाली से उन्हें जड़ से ही खोद डाले, तब तो वे बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार पूर्व का स्वभाव अच्छे सन्त के सत्संग में रहकर अधिकाधिक प्रयास करने पर बड़ी कठिनाई से टलता है।'

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न पूछा, 'जिसकी इन्द्रियाँ चंचल होती हैं, उनकी चंचलता को टालने के लिए पृथक् पृथक् रूप से कौन से उपाय किए जाने चाहिए?' इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया, 'चक्षु-इन्द्रिय की चंचलता को टालने का उपाय यह है कि नासिकाग्र दृष्टि रखें और अपने चारों ओर इधर-उधर झांकते न रहें, अध्ययन करना हो तो वही करते रहें तथा भजन-स्मरण करते हों तो उसी में एकाग्र रहें। ऐसा करने पर भी अगर स्त्री आदि पर दृष्टि पड़ जाए और भले ही कोई अनुचित संकल्प न हुआ हो, पर नेत्रों को खुला रखकर अपलक आँखें रखकर आँखों में अच्छी तरह जलन होने तथा अश्रुधारा बहने तक घड़ी-दो घड़ी पर्यन्त यही क्रम जारी रखें, तब उसकी चंचल दृष्टि भी वश में हो जाती है। नासिका-इन्द्रिय द्वारा किसी के शरीर अथवा मुख या वस्त्र से आनेवाली दुर्गन्ध सह्य न हो, तो उस समय ऐसा विचार करना कि 'मेरी देह भी यद्यपि ऊपर से अच्छी है, फिर भी उसके भीतर रुधिर, मांस तथा हड्डियाँ भरी हुई हैं तथा पेट में मल, मूत्र और आँतें भरे पड़े हैं।' ऐसा विचार करने से नासिका की चंचलता मिट जाती है।

'कान की चंचलता को टालने का उपाय यह है कि जब कहीं हँसी-मज़ाक होता हो और 'नौटंकी' होती हो, तो उसमें मन लग जाए तथा भगवान की कथा और कीर्तन सुनने में निद्रा आने लगे, तब वहाँ से उठ जाना चाहिए, निद्रा एवं आलस्य को टालकर भगवान की कथा सुनने में श्रद्धा रखनी चाहिए और उसी में स्नेहभाव रखना चाहिए तभी कर्णेन्द्रिय पर विजय हो सकती है। त्वचा-इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करने का उपाय यह है कि जानबूझकर सर्दी, गर्मी और वर्षा को सहन करना, रजाई को सिरहाने रख देना, कदाचित् भारी ठंड लगे, तभी उसे ओढ़ लेना एवं जहाँ-तहाँ पड़े रहना। इस प्रकार से त्वग्इन्द्रिय को वश में कर लेना चाहिए।

'हाथ की चंचलता को मिटाने का तरीका यह है कि जब हाथ खाली हो तब हाथ में माला रखकर श्वासोच्छ्वास में भगवान का नाम जप करते हुए माला फेरनी चाहिए, परन्तु द्रुतगति से माला नहीं फेरनी चाहिए। कितने ही लोग ऐसा कहते हैं कि मन द्वारा अधिक संख्या में नामजप हो सकते हैं, परन्तु यह बात मिथ्या है। जितने नामजप जिह्वा द्वारा लिए जाते हैं, उतने ही नाम मन द्वारा लिए जाते हैं। इस प्रकार का आचरण करने से हाथ की चंचलता मिट जाती है। यदि पैर चंचल हों, तो स्थिर आसन से बैठना, तब पैर जीत लिए जाते हैं। शिश्न की चंचलता को दूर करने के लिए इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि जिस प्रकार खाज या लाल दाद को खुजलाने से खून निकलता रहता है, किन्तु खाज नहीं मिट पाती, लेकिन यदि उसे नहीं खुजलाया जाए, तो खाज अपने आप मिट जाती है, वैसे ही शिश्न-इन्द्रिय के चंचल होने पर भी हाथ से उसको बिल्कुल स्पर्श नहीं करना। यदि वायु के प्रकोप से शिश्न चंचल बनता हो, तो आहार को नियंत्रित कर देना, उपवास करते रहना, तथा देह को बलहीन कर डालना चाहिए, इस प्रकार शिश्न को जीत लिया जाता है।

'जिह्वा-इन्द्रिय को जीतने के लिए यही उपाय है कि जो वस्तु जीभ को स्वादिष्ट लगती हो, वह उसे नहीं देनी चाहिए तथा युक्त आहार करने से जिह्वा की चंचलता मिट जाती है। वाणी की चंचलता को मिटाने का उपाय यह है कि जब मुक्तानन्द स्वामी जैसे सन्त वार्ता करते हों तथा कथा बांचते हों, तब बीच में ही अपनी बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन करने के लिए नहीं बोलना

चाहिए। यदि बीच में बोला जाए, तो पच्चीस माला फेरनी चाहिए। ऐसा करने से वाणी की चंचलता मिट जाती है।'

फिर श्रीजीमहाराज ने पूछा, 'वह कौन-सी इन्द्रिय है, जिस पर परिपक्व रूप से विजय पा लेने पर समस्त इन्द्रियों को जीत लिया जाता है?' इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया कि 'एक जिह्वा को यदि परिपक्वतापूर्वक जीत लिया, तो अन्य समस्त इन्द्रियाँ भी विजित हो जाती हैं।'

फिर श्रीजीमहाराज ने पूछा, 'जिस पुरुष के हृदय में काम-वासना व्याप्त हो चुकी हो, उसे बाह्यरूप से किस प्रकार पहचाना जाए कि 'यह कामोन्मत्त हो रहा है' क्योंकि उसकी इन्द्रिय तो ढकी हुई रहती है?' इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया, 'जिसमें काम-वासना व्याप्त हो चुकी हो, उसकी नेत्रेन्द्रिय सहित समस्त इन्द्रियाँ चंचल हो जाती हैं। तब समझ लेना कि यह पुरुष कामाकुल हो गया है।'

फिर श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'जिसका चंचल स्वभाव हो, उसे शान्त होना तथा जिसका शान्त स्वभाव हो, उसे चंचल होना - यह किस विचार द्वारा संभव होता है?' इसका उत्तर भी उन्होंने स्वयं दिया कि 'जो चंचल होता है, वह यह विचार करे कि 'मैं आत्मा हूँ, ब्रह्मरूप हूँ तथा अलिंग हूँ और आकाश के समान स्थिर हूँ।' ऐसा विचार करने से वह उपशमावस्था को प्राप्त होता है और तभी उसकी चंचलता मिटकर शान्त होती है। यदि शान्त स्वभाव वाले को चंचल होना है, तो उसे भगवान तथा भगवद्भक्त का माहात्म्य जानना, माहात्म्य जानने के पश्चात् वह भगवान की नौ प्रकार से भक्ति करे, तथा भगवान के भक्त की सेवा-शुश्रूषा करे तब उसका शांत स्वभाव चंचल (क्रियात्मक) बनता है।'

फिर श्रीजीमहाराज ने पूछा, 'श्रीमद्भागवत आदि जो आठ सत्-शास्त्र हैं, उनमें से कोई-कोई शास्त्र त्याज्य हैं, या फिर समस्त शास्त्र ग्रहण करने योग्य हैं?' इसका उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया, 'समस्त ग्रन्थों में भी अनेक प्रकार के प्रकरण हैं, जिनमें भगवान (की शरण) को प्राप्त कर चुके अनेक भक्तों के अंग दिखाए गये हैं, अतः वैसे तो सभी प्रकरण ग्रहण करने योग्य हैं। फिर भी, इन समस्त प्रकरणों में से जो प्रकरण अपने अंग से मिलता-जुलता हो, उसे ग्रहण कर लेना, और अवशिष्ट प्रकरणों का त्याग कर देना

चाहिए तथा यह जान लेना चाहिए कि 'अन्य प्रकरण हैं तो सही, किन्तु वे मेरे लिए नहीं, बल्कि अन्य भक्तों के लिए हैं।'

फिर श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'यहाँ तुम सब छोटे युवा सन्त बैठे हों, जिनमें से किन्हीं की तो समस्त सन्त प्रशंसा करते हैं और किन्हीं की नहीं करते। सबकी अवस्था और संग एक समान हैं; भोजन, वस्त्र, उपासना, शास्त्र, उपदेश तथा मन्त्र भी सबके एकसमान हैं। फिर भी जो न्यूनता तथा अधिकता रह गई है, उसका क्या कारण है? क्योंकि सन्त तो समदृष्टि वाले, निष्पक्ष और धर्मात्मा हैं। अतः जो जैसा होता है, उसको वैसा ही कहते हैं, अतः इसका उत्तर दीजिए।' फिर उन्होंने स्वयमेव इसका उत्तर दिया कि 'सन्त जिसकी प्रशंसा करते हैं, उसी को श्रद्धा है तथा धर्म का पालन करने में वह आगे बढ़ा हुआ है। सन्त की सेवा करने में तथा भगवान की वार्ता सुनने में भी उसी को श्रद्धा है और उसको सन्त के प्रति विश्वास भी है। इसलिए, उसकी प्रगति हुई है। जो (सन्त अथवा सत्संगी) ऐसे सत्संग में रहने पर भी अपनी उन्नति नहीं कर सका, उसे श्रद्धारहित जानना चाहिए।'

॥ इति वचनामृतम् ॥8॥ ॥116॥

वचनामृत 9 : धर्मादि चार गुणों की उत्पत्ति

संवत् 1877 में मार्गशीर्ष शुक्ला षष्ठी (11 दिसम्बर, 1820) को श्रीजीमहाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत छींट की बगलबंडी पहनी थी, सफ़ेद चूड़ीदार पाजामा पहना था और मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'समस्त परमहंस परस्पर प्रश्नोत्तर करना प्रारम्भ करें।' तब आत्मानन्द स्वामी ने अखंडानन्द स्वामी से प्रश्न पूछा कि 'वैराग्य, ज्ञान, भक्ति तथा धर्म इन चार गुणों के उत्पन्न होने का हेतु क्या है?'

तब श्रीजीमहाराज ने इसका उत्तर दिया कि 'काल का स्वरूप जानने पर वैराग्य उत्पन्न होता है। उस काल का स्वरूप क्या है? तो नित्यप्रलय को जाने, नैमित्तिक प्रलय को जाने, प्राकृत प्रलय को जाने, एवं आत्यन्तिक प्रलय को जाने तथा ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त जीवों के आयुष्य को जाने,

और ऐसा जानकर पिंड-ब्रह्मांड के सभी पदार्थों को काल का भक्ष्य समझे, तब वैराग्य उत्पन्न होता है। और, जब बृहदारण्यक, छान्दोग्य तथा कठवल्ली आदि उपनिषदों और भगवद्गीता, वासुदेवमाहात्म्य एवं व्याससूत्र आदि ग्रन्थों का सद्गुरु द्वारा श्रवण करे तब ज्ञान उत्पन्न होता है। और, याज्ञवल्क्यस्मृति, मनुस्मृति, पाराशरस्मृति तथा शंखलिखित स्मृति आदि स्मृतियों का श्रवण करने से 'धर्म' उत्पन्न होता है और धर्म के प्रति निष्ठा रहती है। तथा भगवान की विभूतियों को जाने, जैसे कि खंड-खंड के प्रति भगवान की जो मूर्तियाँ रहती हैं, उनके सम्बंध में श्रवण करता रहे; तथा भगवान के गोलोक, वैकुंठ, ब्रह्मपुर तथा श्वेतद्वीपादि धामों की कथा सुने, और जगत की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयरूपी भगवान की लीला को माहात्म्यसहित सुने तथा भगवान के रामकृष्णादि अवतारों की कथाओं का स्नेहपूर्वक श्रवण करे तब भगवान की भक्ति उत्पन्न होती है।

इन चारों गुणों में जो धर्म है, उसकी उत्पत्ति अपरिपक्व बुद्धि के कारण पहले से ही कर्मकांडरूपी स्मृतियों का श्रवण करने से होती है। धर्म में दृढ़ता होने के पश्चात् उपासना ग्रन्थों का श्रवण करना, तभी उस पुरुष के हृदय में ज्ञान, भक्ति और वैराग्य तीनों गुण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार इन चारों गुणों के उत्पन्न होने के ये ही उपरोक्त हेतु हैं।'

॥ इति वचनामृतम् ॥9॥ ॥117॥

वचनामृत 10 : निर्विकारिता

संवत् 1877 में मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी (13 दिसम्बर, 1820) को श्रीजीमहाराज श्रीलोया ग्राम स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में प्रातःकाल पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत छींट की बगलबंडी पहनी थी, सफ़ेद चूड़ीदार पाजामा पहना था तथा मस्तक पर सफ़ेद फेंटा बाँधा था। उनके समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय नित्यानन्द स्वामी ने प्रश्न किया, 'इस जगत में कितने ही मनुष्यों को स्त्री आदि सम्बंधीजनों से ऐसा स्नेह होता है कि उनसे वियोग होने पर प्राणान्त हो जाए। कितने ही मनुष्य ऐसे हैं, जिन्हें स्त्री-आदि से साधारण प्रेम है, अतः उनके वियोग से उनका प्राणोत्सर्ग नहीं होता। इस

प्रकार दो तरह के जीव हैं। जैसे ये जीव संसार में ऐसा उत्कट प्रेम करते हैं, वैसे ही यदि इन लोगों को भगवान मिल जाए तो वे उनमें भी वैसे तन्मय हो जाते हैं कि भगवान का वियोग होने पर उनका प्रणान्त हो जाए। जिन्हें संसार में साधारण प्रेम होता है, उन्हें यदि भगवान मिल जाएँ, तो उनके साथ भी ऐसा ही साधारण प्रेम होता है। इन दो प्रकार के मनुष्यों में कर्म द्वारा भेद है? या वे जीव अनादि काल से ऐसे ही हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'यह भेद जीव में स्वाभाविकरूप से नहीं है। ये तो कर्म द्वारा ही भेद उत्पन्न हुए हैं। जब जीव कर्म करता है, तब उसकी वृत्ति का वेग तीन प्रकार से होता है। इनमें से पहला मन्द वेग, दूसरा मध्यम वेग तथा तीसरा तीव्र वेग है। इनमें से जिस वेग द्वारा उसकी वृत्ति पदार्थों में लग जाती है, उस पर उसी प्रकार का कर्म लागू हो जाता है। उस कर्म द्वारा स्नेह के भी तीन प्रकार हो जाते हैं।'

नित्यानन्द स्वामी ने पुनः पूछा, 'वृत्तिजन्य वेग के ये तीन प्रकार हुए, उनमें गुण ही कारणरूप हुए हैं या कोई अन्य भी कारण है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'तीन प्रकार के ये भेद गुण द्वारा नहीं, परन्तु इन्द्रियों की प्रवृत्ति के द्वारा होता है। जिस पदार्थ में केवल इन्द्रियाँ ही प्रवृत्त रहती हैं, वह मन्द वेग होता है। जब पदार्थ में मनसहित इन्द्रियाँ लग जाती हैं, तब मध्यम वेग होता है। जब इन्द्रियाँ, मन तथा जीव, ये तीनों एकत्र होकर पदार्थों में प्रवृत्त हो जाते हैं, तब उस वृत्ति का तीव व्रेग हो जाता है। यदि यह तीव्र वेग केवल चक्षु इन्द्रिय में लगा हो, तो अन्य इन्द्रियाँ भी उसी का अनुगमन करती हैं और तब समस्त इन्दियों में वेग की तीव्रता बढ़ जाती है। इस प्रकार, जिस-जिस इन्द्रिय में मुख्यतः तीव्र वेग लगा तब अन्य इन्द्रियाँ भी उसी की अनुवर्तिनी हो जाती हैं। यह तीव्र वेग रजोगुणी, सत्त्वगुणी तथा तमोगुणी तीनों प्रकार के मनुष्यों की इन्द्रियों पर लागू होता है। तथा एक-एक इन्द्रिय में तो सबको तीव्र वेग होता है, तथा तदनुसार पदार्थ के प्रति स्नेह-भाव भी बना रहता है।'

फिर नित्यानन्द स्वामी ने पूछा, 'जीव को भगवान से तीव्र वेग द्वारा स्नेह क्यों नहीं होता?' तब श्रीजीमहाराज बोले, 'देश, काल, क्रिया, ध्यान, शास्त्र, दीक्षा, मन्त्र तथा संग - इनके द्वारा शुभ अथवा अशुभ आचरण होता

है। यदि शुभ देश, शुभ काल तथा शुभ संगादि प्राप्त हुए हों, तो भगवान के प्रति भी तीव्र वेग से स्नेह हो जाता है। परन्तु यदि अशुभ देशादि का योग हुआ, तो भगवान को छोड़कर अन्य सभी पदार्थों से प्रीति हो जाती है।'

फिर चैतन्यानन्द स्वामी ने पूछा कि यदि 'काल' विषम हो, तब क्या किया जाए?' तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जब जिस स्थान में काल की विषमता रहे, तब उस स्थान से अन्य स्थान में चले जाना चाहिए, परन्तु विषमकाल में नहीं रहना चाहिए।' फिर श्रीजीमहाराज ने बताया कि 'सत्ययुग, त्रेता, द्वापर तथा कलि के रूप से काल बाहर तो व्याप्त रहता है, परन्तु अन्तःकरण में भी उसकी स्थिति वैसी ही बनी रहती है। अतः जब हृदय में कलि की व्यापकता बनी रहती हो, तब भगवान की मूर्ति को हृदय में धारण नहीं करना। उस समय तो उसे नेत्रों के आगे धारण कर लेना।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा, 'इस बात की जानकारी किस प्रकार मिलती है कि हृदय में मन्दवेग, मध्यमवेग अथवा तीव्रवेग बना हुआ है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब मन्दवेग रहता है तब छोटी बालिका, नवयुवती तथा वृद्ध स्त्री को देखकर उनके सम्बंध में समान भाव रहता है, क्योंकि वहाँ अकेली इन्द्रिय की ही वृत्ति पहुँच पाती है। यह स्थिति मन्दवेग की द्योतक है। और, जब मन भी इन्द्रियों से मिल जाता है, तब इन तीनों प्रकार की स्त्रियों में से बालिका तथा वृद्ध स्त्री को देखकर तो अशुभ संकल्प नहीं होता, किन्तु युवती को देखकर उसके प्रति अवश्य ही बुरा संकल्प हो जाता है और वह विकारग्रस्त हो जाता है, इसे मध्यमवेग कहते हैं। जब इन्द्रिय में मन तथा जीव एकसाथ मिलकर तीनों प्रकार की स्त्रियों को देखते हैं, तब उसके हृदय में उन तीनों के प्रति अशुभ संकल्प होते हैं और वह विकार-ग्रस्त हो जाता है। वैसी दशा में तो पुरुष अपनी माता तथा बहन तक को देखकर भी कामविकार से ग्रस्त हो जाता है। ऐसी स्थिति तीव्रवेग की द्योतक है।'

फिर ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'तीनों प्रकार की स्त्रियों को देखने पर तथा तीनों के भेद मालूम हो जाने पर उनके रूप-कुरूप तो ज्ञात होता है, परन्तु मन में विकार उत्पन्न नहीं होता, तो उसे कौन-सा वेग मानना चाहिए?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जिस पदार्थ को अत्यन्त दुःखदायी जानकर इसका मनन हुआ हो तो उस पदार्थ में भली भाँति दोषज्ञान हो जाता है, तथा

वही दोष जब मनन द्वारा जीव में प्रवेश करता है तब जीव से परे रहनेवाला 'साक्षी' भी उसके दोष को प्रमाणित करता है। यही कारण है कि सांसारिक पदार्थों के प्रति दोषभाव की अत्यंत दृढ़ता हुई है। अत: पदार्थ में जब इन्द्रिय की वृत्ति पहुँचती है, तब उस वृत्ति के साथ-साथ मन और जीव दोनों आ जाते हैं। परन्तु जीव में दोष विषयक जो अत्यंत दृढ़ता बनी हुई है, उसका प्रभाव मन तथा इन्द्रियों पर अत्यंत ही गहरा पड़ गया है। अतएव, उसको वह पदार्थ यथार्थ रूप से दृष्टिगोचर होने पर भी उसके प्रति अत्यंत अरुचि पैदा हो जाती है। जैसे शक्करमिश्रित दूधभरे पात्र में साँप ने अपनी लार डाल दी और उसको लार डालते हुए देख लिया, तो भले ही दूध पूर्ववत् दिखाई देता हो, परन्तु देखनेवाले के हृदय में उसके प्रति अत्यंत अरुचि हो जाएगी! क्योंकि उसके सम्बंध में यह ज्ञात हो गया है कि 'इस दूध को पीने से तुरन्त प्राणान्त हो जाएगा।' इसी तरह जिसकी ऐसी समझ है कि 'यह रूपवती स्त्री कल्याण के मार्ग में बाधक है, तथा इह लोक और परलोक में यह परम दु:खदायिनी है। और, स्त्री की प्राप्ति तो मुझे पशु आदि के रूप में जन्म लेने पर अनेक बार हो चुकी है, तथा अब भी यदि मैं परमेश्वर का भजन नहीं करूँगा, तो भी मुझे कई जन्म में अनेक स्त्रियों की प्राप्ति होती रहेगी! अत: वह दुर्लभ नहीं है। और **भगवान तथा उनके सन्त का संग महादुर्लभ है। ऐसी दुर्लभ प्राप्ति में स्त्री ही परम विघ्नरूप है।' ऐसा जानकर हृदय में उसके प्रति दोषभाव की दृढ़ता हुई हो, तब उसे चाहे कैसी ही रूपवती स्त्री दिखाई दे परन्तु उसे काम-विकार नहीं उत्पन्न होगा।'**

फिर आगे श्रीजीमहाराज बोले, 'ऐसे अविकारी बने रहने का दूसरा भी कारण है। जैसे विदेही जनक जैसे भगवान के जो महान भक्त राजा थे, जो राज्य में रहकर रमणीय पंचविषयों का उपभोग करते हुए भी ज्ञान की दृढ़ता रहने से निर्विकार बने रहे। वस्तुत: जनकसदृश जो ज्ञानी पुरुष हैं, वे यह विचार करते हैं कि 'मैं आत्मा हूँ, शुद्ध हूँ, चेतन हूँ, निर्विकार हूँ, आनन्दरूप हूँ तथा अविनाशी हूँ, परन्तु स्त्री आदि विषय तो दु:खरूप हैं, तुच्छ हैं, जड हैं तथा नाशवान भी हैं।' ऐसा विचार कर वह केवल अपने आत्मस्वरूप को ही आनन्दरूप मानता है। वह यह भी जानता है कि 'शब्दादि विषयों में जो सुखाभास होता है और सुंदरता मालूम होती

है, वह तो आत्मा के साथ सम्बंध के कारण ही है। जब देह से आत्मा निकल जाती है, तब सुखरूप वस्तु भी दुःखद हो जाती है।' इस प्रकार वह अपनी आत्मा के सम्बंध में विचार करता रहे। और, आत्मा से परे परमात्मा के सम्बंध में भी विचार करता रहे कि 'माया से परे शुद्ध आत्मज्ञान मुझे प्राप्त हुआ है, वह सन्त के प्रताप से ही प्राप्त हुआ है; और वे सन्त तो परमेश्वर के भक्त हैं। और वह परमेश्वर तो सर्वात्मा ब्रह्म[27] की भी आत्मा हैं, और अक्षर[28] की भी आत्मा है तथा अनन्तकोटि मुक्तों की भी आत्मा हैं। ऐसे परब्रह्म परमात्मा नारायण का मैं ब्रह्मरूप दास हूँ।' और उन भगवान की महिमा को इस प्रकार समझे कि **'द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया त्वमपि',**[29] इत्यादि श्रुतियों ने भगवान की महिमा का अधिकाधिक प्रतिपादन किया है। इस प्रकार जिसे अपने स्वरूप तथा परब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान है, उसे चाहे कैसे भी विषय प्राप्त हों, तो भी उसका मन लेशमात्र भी विकार-वान नहीं होता। वह अवश्य रूप से ग्रहण करने योग्य शब्दादि विषयों को ग्रहण करता है, परन्तु उन विषयों के अधीन नहीं हो जाता, तथा उन विषयों को स्वतन्त्ररूप से ग्रहण करता है। जैसे मकड़ी अपनी लार को फैलाकर पुनः स्वतन्त्र रूप से स्वेच्छापूर्वक निगल लेती है, वैसे ही ऐसा ज्ञानी भी अपनी इन्द्रियों की वृत्तियों को विषयों में फैलाकर पुनः स्वतन्त्रतापूर्वक समेट लेता है। ऐसा पुरुष भले ही राज्य में रहता हो, तो भी मानो वन में ही है! वन में रहता हो तो भी उसे राज्य में रहनेवालों से भी अधिक आनन्द है। ऐसा ज्ञानी पुरुष राज्य में रहता हो और हज़ारों मनुष्य उसकी आज्ञा में रहते हों तथा समृद्ध भी हो, फिर भी वह स्वयं को ऐसा नहीं मानता कि 'मैं बहुत बड़ा आदमी हो गया।' और, अपने पूरे राज्य का नाश हो जाए या हाथ में मृत्तिका-पात्र लेकर घर-घर जाकर भीख माँगकर अपनी क्षुधापूर्ति करनी पड़े, तो भी वह ऐसा नहीं समझता कि

27. चिदाकाश स्वरूप अक्षरब्रह्म
28. धाम स्वरूप अथवा मूर्तिमान अक्षरब्रह्म
29. **अर्थ :** 'ब्रह्मादि देव भी आपकी महिमा का पार नहीं पाते, क्योंकि आपकी महिमा अपार है। किंबहुना, आपने भी अपनी महिमा का अन्त नहीं पाया।' (श्रीमद्भागवतम् : 10/87/41)

'अब मैं गरीब हो गया।' क्योंकि वह निजानन्द में महा-अलमस्त रहता है और उसने अपने स्वरूप तथा भगवान के स्वरूप की महिमा को जान लिया है, इसलिए उसे सोना, कचरा, लोहा और पाषाण आदि में समबुद्धि रहती है। तथा मान-अपमान में भी उसकी समान बुद्धि रहती है। और ऐसे ज्ञानी को कोई भी पदार्थ बन्धन में रखने में समर्थ नहीं होता। इसका कारण यह है कि उसकी दृष्टि बहुत विशाल हो चुकी है तथा समस्त मायिक पदार्थों को उसने तुच्छ मान लिया है। जैसे कोई पुरुष पहले कंगाल रहा हो और बाद में उसे राज्य मिल जाए, तब उसकी दृष्टि विशाल हो जाती है। और, वह सब बातें भूल जाता है कि कभी वह लकड़ी के गट्ठर बेचा करता था अथवा अन्य तुच्छ काम किया करता था। अब वह राज्य सम्बंधी बड़े-बड़े कार्य करने लगता है। वैसे ही ऐसे ज्ञानी पुरुष को सभी पदार्थ तुच्छ प्रतीत होते हैं। ऐसे ज्ञान के सम्बंध में उसकी दृष्टि विशाल हो जाती है। जिसने ऐसा समझ लिया है, वही सुखी है। तथा जो विश्वासी हो, अर्थात् जो ऐसा समझता हो कि 'ऐसे महान सन्त तथा भगवान जो उपदेश देते हैं, वह यथार्थ है, लेकिन उसमें कोई संशय नहीं है।' ऐसा समझकर भगवान तथा सन्त उसे जिस प्रकार आदेश दें, उसी प्रकार कार्य करने लगता है। ये दो प्रकार के पुरुष ही सुखी हैं, उसके सिवा अन्य कोई सुखी नहीं है। इस प्रसंग में यह श्लोक है :-

'यश्च मूढ़तमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥'[30]

भगवद्गीता में भी कहा गया है :-

'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥'[31]

30. **अर्थ :** 'जिस भक्त को भले ही शास्त्रज्ञान न हो परंतु दृढ़ विश्वासपूर्वक (मूढ़ रूप से) भगवान एवं संत के उपदेशानुसार भगवद्भजन करता है तथा जिस भक्त ने बुद्धि से परे रहनेवाले आत्मा एवं परमात्मा के स्वरूप को जान लिया है वही ज्ञानी भगवान के सुख को प्राप्त करता है। परंतु जो विश्वासी भी नहीं है और ज्ञानी भी नहीं है ऐसा बीच में स्थित भक्त हमेशा क्लेश प्राप्त करता है।'

(श्रीमद्भागवतम् : 3-7/17)

31. **अर्थ :** 'कान, आँख आदि इन्द्रियों के आहार स्वरूप सुनना, देखना आदि ➤

इस प्रकार जिसकी दृष्टि अलौकिक हो जाती है, उसके लिए परमेश्वर के सिवा अन्य समस्त पदार्थ तुच्छ हो जाते हैं। इन दोनों श्लोकों का भी एकसमान भावार्थ हैं।

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से कहा कि 'हे महाराज! आप जो प्रश्न पूछ रहे थे, उसे अब पूछिए।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'माया में केवल दुःख ही है या कुछ सुख भी है? यह प्रश्न है।' मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'माया तो केवल दुःखदायिनी है।' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'माया से उत्पन्न सत्त्व, रज तथा तम – इन तीनों गुणों में सत्त्वगुण को तो सुखरूप बताया गया है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि **'सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम्।'**[32] सत्त्वगुण की सम्पत्ति ज्ञान, वैराग्य, विवेक तथा शमदमादि है। ऐसी जो माया है, वह किस प्रकार दुःखरूप है? तथा श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में भी कहा गया है :

'विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव! शरीरिणाम्।
बन्धमोक्षकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते॥'[33]

तो प्रश्न यह है कि मोक्ष देनेवाली माया किस प्रकार दुःखदायिनी होती है?' इस प्रश्न को सुनकर मुक्तानन्द स्वामी आदि समस्त परमहंस बोले कि 'हे महाराज! इस प्रश्न का उत्तर देने में हम असमर्थ रहेंगे। इसलिए, कृपया आप इसका उत्तर दीजिए।'

तब श्रीजीमहाराज उत्तर देने लगे कि 'जिस प्रकार पापी जीवों को यमराज का स्वरूप अति भयानक और विकराल दिखाई पड़ता है तथा उनके बड़े-बड़े दाँत और बड़ा मुख, काजल जैसा काला, पर्वत-सदृश बड़ा और काल जैसा भयानक एवं त्रासदायी दीख पड़ता है, किन्तु पुण्यात्मा जीवों को यमराज का स्वरूप अत्यन्त सुखदायी विष्णु के समान दृष्टिगोचर होता है,

क्रियाओं को बंद करने से शब्दादि विषय आत्मा तक नहीं पहुँच सकते, अर्थात् उस भक्त के लिए विषय निवृत्त हो जाते हैं। किन्तु विषयों की आसक्ति निवृत्त नहीं होती, वह तो परमात्मा के साक्षात्कार से ही मिटती है।' (गीता : 2/59)

32. **अर्थ :** 'सत्त्वगुण परब्रह्म का दर्शन करानेवाला है।' (श्रीमद्भागवतम् : 1/2/24)

33. **अर्थ :** 'हे उद्धव! विद्या तथा अविद्या मेरे शरीरभूत हैं, जो मेरी माया से निर्मित हुई हैं। उसमें विद्याशक्ति मोक्षदायिनी है तथा अविद्याशक्ति बन्धनकारिणी है।' (श्रीमद्भागवतम् : 11/11/3)

वैसे ही माया भी भगवान से विमुख रहनेवाले जीवों के लिए अतिबन्धन-कारिणी तथा अत्यन्त दुःखदायिनी है, जबकि भगवान के भक्तों के लिए वही माया अत्यन्त सुखदायिनी है। इसी प्रकार, माया के कार्यरूप जो इन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा देवता हैं, वे सभी भगवान की भक्ति को अतिपुष्ट करते हैं। इसलिए, भगवान के भक्तों के लिए तो माया दुःखदायिनी नहीं, वरन् परम सुखदायिनी है।' तत्पश्चात् मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न किया कि 'जब माया सुखदायी है, तब जो भगवान की मूर्ति को हृदय में धारण करके भजन करने बैठता है, ऐसे परमेश्वर के भक्त को अन्तःकरणरूपी माया संकल्प-विकल्प द्वारा दुःख क्यों देती है?'

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस भक्त ने भगवान के माहात्म्य को अच्छी तरह समझकर अतिशय दृढ़ता के साथ भगवान का आश्रय ग्रहण कर लिया है, उसको तो अन्तःकरणरूपी माया दुःख नहीं देती। किन्तु, जिसको ऐसे आश्रय में शिथिलता रहती है, उसी को यह माया दुःख देती है। जैसे कुसंगी पुरुष अपरिपक्व सत्संगी को पतनोन्मुख करने का आग्रह करता है, किन्तु परिपक्व सत्संगी को गिराने के लिए वह कोई भी लालच नहीं रखता और उसके सुनते कोई भी व्यक्ति सत्संग के बारे में हल्का शब्दोच्चार भी नहीं कर सकता; वैसे ही जिस भक्त ने परिपक्वरूप से परमेश्वर का आश्रय लिया है, उसे गिराने का लालच अन्तःकरणरूपी माया नहीं रखती। वह तो उसकी भक्ति की पुष्टि ही करने लगती है। जिसके जीव में वैसा आश्रय ग्रहण करने में कुछ अपरिपक्वता रह गई हो, उसी को वह माया पथभ्रष्ट कर डालती है और दुःख भी देती है। जब वही जीव इस प्रकार परिपक्वरूप से भगवान का आश्रय ग्रहण कर लेगा, तब माया उसे गिराने और पीड़ित करने में समर्थ नहीं हो पाएगी। इसलिए, इस प्रश्न का उत्तर यही है कि 'जिसे भगवान सम्बंधी ऐसा परिपक्व निश्चय हो चुका है, उसे माया किसी भी प्रकार से दुःख देने में समर्थ होती ही नहीं है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥10॥ ॥118॥

वचनामृत 11 : सत्पुरुष तथा असत्पुरुष की समझ

संवत् 1877 में मार्गशीर्ष कृष्णा अष्टमी (28 दिसम्बर, 1820) को

स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में प्रात:काल विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष सभा में साधु तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय शुकमुनि ने श्रीजीमहाराज से पूछा, 'श्रीमद्भागवत तथा भगवद्गीता आदि सत्-शास्त्रों से असत्पुरुष कैसा ज्ञान अर्थात् कैसी समझ ग्रहण करते हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर यह है कि असत्पुरुषों की ऐसी समझ है कि इस विश्व में स्थावरजंगमरूपी स्त्री-पुरुषों की समस्त आकृतियाँ विराटरूप आदिपुरुष नारायण की माया से उत्पन्न हुई हैं। इसलिए, ये सब आकृतियाँ नारायण की ही हैं। अत: जो मुमुक्षु कल्याण का इच्छुक हो, उसे सर्वप्रथम अपने मन को वश में करना चाहिए। वह मन स्त्री-पुरुष-रूपी उत्तम तथा नीच आकृतियों के प्रति जब आसक्त हो, तब उसे मन में उन्हीं आकृतियों का ध्यान करना, इससे उसे सद्य समाधि लग जाती है। यदि मन उन आकृतियों में दोषों की परिकल्पना करे, तो उसमें ब्रह्म की भावना लानी चाहिए कि 'समग्र जगत ब्रह्म है।' ऐसा विचार करके उस संकल्प को मिथ्या कर देना चाहिए! इस प्रकार सत्-शास्त्रों से अनुभव ग्रहण करना - यह असत्पुरुष की समझ है। इस प्रकार की समझ रखना, वह तो उनके मन का अतिदुष्ट भाव है, जिसका फल अन्तकाल में घोरतम नरक तथा संसृति है।'

फिर श्रीजीमहाराज से शुकमुनि ने पुन: पूछा कि 'यह बताइए कि उन सत्शास्त्रों से सत्पुरुष कैसी शिक्षा ग्रहण करते हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'सत्-शास्त्रों में ही इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि मोक्ष की इच्छा रखनेवाले को एकमात्र पुरुषोत्तम नारायण के सिवाय शिव, ब्रह्मा आदि अन्य देवताओं का ध्यान नहीं करना, तथा मनुष्य एवं देवतारूप में पुरुषोत्तम नारायण की जो रामकृष्णादि मूर्तियाँ हैं, उनका ध्यान करना। और उसमें भी जो बुद्धिमान हैं, वे जिस स्थान में भगवान की रामकृष्णादि मनुष्याकार मूर्तियाँ रही हैं, वहाँ वैकुंठ, गोलोक, श्वेतद्वीप तथा ब्रह्मपुर नामक लोकों की धारणा करते हैं। उन लोकों में रहनेवाले पार्षदों की भावना वे रामकृष्णादि के पार्षदों हनुमान, उद्धवादि में करते हैं। वे उन लोकों

में कोटि-कोटि सूर्य-चन्द्रमा एवं अग्नि के प्रकाश के समान प्रकाशमान पुरुषोत्तम नारायण की दिव्यमूर्तियों की भावना राम-कृष्णादि में करते हैं। इस प्रकार वे सत्-शास्त्रों से ज्ञान ग्रहण करके दिव्यभाव सहित भगवान की मनुष्याकार मूर्ति का ध्यान करते हैं। उन्हें भगवान के अवतारों की मूर्तियों तथा उनके अतिरिक्त अन्य आकारों में समभाव रहता ही नहीं। वस्तुतः भगवान के अवतारों की जो मूर्तियाँ हैं, वे द्विभुज हैं, फिर भी उनमें चार भुजाओं तथा अष्ट भुजाओं की भावना रखने की बात तो इसलिए कही गयी है कि भगवान की मूर्तियों तथा उनके अतिरिक्त अन्य आकारों में अविवेकी पुरुषों को जो समभाव रहता है, उसकी निवृत्ति हो।'

पुनः श्रीजीमहाराज ने बताया कि 'भगवान की जैसी मूर्ति हमें मिली है, उसी का ध्यान करना चाहिए। किन्तु भगवान के पूर्व अवतारों की मूर्तियों का ध्यान नहीं करना चाहिए। हमें भगवान की जो मूर्ति मिली हो, उसी में पतिव्रता स्त्री की तरह टेक रखना चाहिए। इस प्रसंग में पार्वती के ये वचन मननीय हैं:

'जन्म कोटि लगि रगर हमारी । बरउँ संभु नत रहउँ कुआरी ॥'[34]

पतिव्रता की ऐसी टेक भी इसलिए कही है कि अविवेकी लोगों को भगवान तथा अन्य जीव के रूप में जो समभाव हो जाता है, वह न हो पाए। क्योंकि स्वयं को प्राप्त हुई मूर्ति को छोड़कर यदि वह पहले हो चूके परोक्ष अवतारों का ध्यान करता है, तो देव-मनुष्यादि आकारों का भी ध्यान करने लग जाता है। इसी कारण पतिव्रता-जैसी टेक रखने की बात कही गई है। परन्तु, भगवान की मूर्तियों में भेद नहीं है, ऐसी सत्पुरुषों की समझ है। अतः **सत्-शास्त्रों का श्रवण सत्पुरुष से ही करना चाहिए, किन्तु असत्पुरुष द्वारा कभी भी सत्-शास्त्र नहीं सुनना चाहिए।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥11॥ ॥119॥

वचनामृत 12 : निश्चय के छः प्रकार

संवत् 1877 में मार्गशीर्ष कृष्णा नवमी (29 दिसम्बर, 1820) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में विराजमान थे। उन्होंने गरम पोश की लाल बगलबंडी पहनी थी

34. रामचरितमानस : बालकांड : 94/5

और श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष सभा में परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्त के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि 'भगवान सम्बंधी निश्चय दो प्रकार के हैं। एक सविकल्प तथा दूसरा निर्विकल्प। इन दो प्रकारों में भी उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ इस प्रकार तीन भेद हैं। इन दोनों को मिलाकर छः भेद हुए, उनके लक्षण पृथक्-पृथक् करके बताइए।' परन्तु परमहंस इस प्रश्न का उत्तर न दे सके।

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'सविकल्प[35] निश्चय में कनिष्ठ भेद यह है कि जब तक भगवान अन्य मनुष्यों के समान काम, क्रोध, लोभ, स्वाद तथा मान आदि दोषों की प्रवृत्ति में प्रवृत्त होते हैं, तब तक भगवान सम्बंधी निश्चय रहता है, परन्तु मनुष्यों से भी अधिक कामादि के भाव प्रकट करते हैं, तो उसे निश्चय नहीं रहता।

मध्यम भेद यह है कि जब भगवान मनुष्यों से दुगुने कामादि में स्वयं को प्रवृत्त दिखाएँ, तब तक भी उसे निश्चय की दृढ़ता रहती है। उत्तम भेद यह है कि भगवान नीच जाति की तरह चाहे कैसा भी आचरण करें, अर्थात् भले ही वे मद्य, मांस, परस्त्रीसंग, क्रोध तथा हिंसामूलक आचरण क्यों न करें, तो भी उनकी क्रियाओं में उसे संशय नहीं होता, क्योंकि वह भक्त समझता है कि 'भगवान तो सर्वकर्ता हैं, परमेश्वर हैं तथा सबके भोक्ता भी हैं। इसलिए, जो-जो क्रियाएँ होती हैं, वे अन्वयभाव से नियन्ता रूप द्वारा समस्त प्राणियों

---

35. यहाँ सविकल्प-निर्विकल्प शब्द लौकिक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ। किन्तु उपास्य स्वरूप परमात्मा के स्वरूप में मायिक बुद्धि रखनेवाले को 'सविकल्प निश्चयवाला' कहा है। और जिसे भगवत्स्वरूप में मायिक बुद्धि नहीं होती, वह निर्विकल्प निश्चयवाला है। निर्विकल्प निश्चय की उत्तरोत्तर अधिकता के अनुसार कनिष्ठ, मध्यम, उत्तम भेद इस तरह दर्शाये गये हैं - कनिष्ठ निर्विकल्प निश्चयवाले को दस लोकों का नाश न हो, तब तक निश्चिय बना रहता है, लेकिन नैमित्तिक प्रलय में निश्चय नहीं रहता। मध्यम निर्विकल्प निश्चयवाले को श्वेतद्वीपादि धाम की स्थिति तक निश्चय रहता है, अर्थात् प्राकृत प्रलय तक निश्चय में स्थिरता रहती है; निर्विकल्प निश्चयवाला आत्यंतिक प्रलय में भी निर्विकार रहता है, उसका निश्चय कभी डिगता नहीं है। ऐसा भेद 'सेतुमाला टीका' में दर्शाया गया है।

में रहनेवाले भगवान से प्रवर्तमान होती हैं। ऐसी स्थिति में यदि वे नीचजनों के जैसी थोड़ी-सी क्रिया करते हैं, तो इससे उन्हें कोई बाधा नहीं पहुँचती, क्योंकि वे तो सर्वकर्ता हैं।' इस प्रकार वह भगवान में सर्वेश्वर-भाव मानता है। अत: उसे उत्तम सविकल्प निश्चयवाला भगवद्भक्त कहते हैं।

अब निर्विकल्प कनिष्ठ भक्त की बात कहते हैं। ऐसे भक्त का लक्षण यह है कि वह भगवान को समस्त शुभाशुभ क्रियाएँ करते देखकर भी यह समझता है कि वे 'समस्त क्रियाएँ करने पर भी अकर्ता हैं, क्योंकि भगवान तो ब्रह्मरूप हैं। वास्तव में ब्रह्म तो आकाश के समान सबमें रहता है तथा सबकी क्रियाएँ उसमें ही होती हैं।' इस प्रकार वह भगवान में ब्रह्मभाव जानता है। जैसे कि रासपंचाध्यायी में बताया गया है कि परीक्षित राजा ने शुकजी से पूछा कि 'धर्मरक्षक भगवान ने अवतार ग्रहण करके परस्त्री का संग क्यों किया?' इसका उत्तर देते हुए शुकजी ने बताया कि श्रीकृष्ण तो अग्नि के समान हैं। वे जो कुछ शुभ-अशुभ क्रियाएँ करते हैं, वे सभी भस्म हो जाती हैं। इस प्रकार जो पुरुष भगवान को निर्लेपवत् ब्रह्मरूप जानता है, उसे कनिष्ठ निर्विकल्प निश्चयवाला भक्त कहते हैं। और जो भक्त श्वेतद्वीप में रहनेवाले षडूर्मिरहित निरन्नमुक्त के सदृश होकर वासुदेव की उपासना करता है, उसे मध्यम निर्विकल्प निश्चयवाला कहा जाता है।

और **अष्टावरणों से युक्त ऐसे कोटि-कोटि ब्रह्मांड जिस अक्षर में अणु की भाँति प्रतीत होते हैं, ऐसा जो पुरुषोत्तम नारायण का धामरूप अक्षर है, उस अक्षर के रूप में स्वयं रहता हुआ जो पुरुषोत्तम की उपासना करता है, उसे उत्तम निर्विकल्प निश्चयवाला कहते हैं।'**

तब चैतन्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! इस प्रकार निश्चय के भेद किस प्रयोजन से हुए हैं?' इसका उत्तर देते हुए श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जब कोई मुमुक्षु प्रारम्भ में गुरु के पास जाता है, तब उन वक्ता गुरु में उस मुमुक्षु को शुभ-अशुभ देश, काल, संग, दीक्षा, क्रिया, मन्त्र तथा शास्त्र आदि के कारण तथा अपनी श्रद्धा की मन्द-तीक्ष्ण भावना के कारण ऐसे भेद हो जाते हैं। इसलिए मुमुक्षु को हमेशा शुभदेशादि का सेवन करना चाहिए और वक्ता भी यदि शान्त तथा दोषरहित हो तभी उसी से ज्ञान-श्रवण करना चाहिए।'

चैतन्यानन्द स्वामी ने पुनः पूछा, 'कदाचित् किसी संयोग से यदि कनिष्ठ निश्चय हुआ हो, तो पुनः उसे उत्कृष्ट निश्चय होता है या नहीं?'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि श्रोता उत्कृष्ट श्रद्धावान हो, तथा उसे शुभदेशादि की प्राप्ति हो तथा उसे उत्कृष्ट ज्ञानी वक्ता मिल जाए, तो उसे सर्वोत्कृष्ट निश्चय हो जाता है, अन्यथा उसे जन्मान्तर के बाद उत्कृष्ट निश्चय होता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥12॥ ॥120॥

वचनामृत 13 : अचल सिद्धान्त

संवत् 1877 में मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी (30 दिसम्बर, 1820) को प्रात:काल श्रीजीमहाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था, दूसरे सफ़ेद फेंटे को मस्तक से आकंठ लपेटा था, गरम पोश की लाल बगलबंडी पहनी थी, श्वेत धोती धारण की थी और सूती शाल ओढ़ी थी। उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंसों तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'बड़े-बड़े परमहंस परस्पर प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ करें।' तब गोपालानन्द स्वामी ने ब्रह्मानन्द स्वामी से प्रश्न किया, 'कैसे पुरुष का देश, काल, क्रिया तथा संगादि द्वारा पराभव नहीं होता और कौन-सा पुरुष पराजित हो जाता है? तथा सुनने में तो ऐसा आता है कि सरस्वती को देखकर ब्रह्मा भी मोहित हो गए थे; तथा शिवजी को भी मोहिनी को देखकर मोह हो गया था। इसलिए, विचार करके उत्तर दीजिए। क्योंकि ऐसे बड़े-बड़े भी देशकालादि द्वारा पराभूत हुए।' तब ब्रह्मानन्द स्वामी इस प्रश्न का उत्तर देने लगे, परन्तु वे यथार्थ उत्तर न दे सके।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर यह है कि नाड़ियों और प्राणों को समेटकर निर्विकल्प स्थिति सिद्ध करके जो श्रीनारायण के चरणारविन्दों में स्थित हुआ हो, तो यदि वह तुच्छ जीव भी क्यों न हो, उसका भी देशकाल-संगादि द्वारा पराभव नहीं होता, और इसी प्रकार ब्रह्मादि रहे तो उनका भी पराभव नहीं होता। परन्तु यदि ऐसी स्थिति सिद्ध न हुई हो, और देहासक्त ही रहते हों, तो अन्य जीवों का भी पराभव होता है। तथा

ऐसे महान ब्रह्मादि देवों का भी पराभव हो जाता है। यदि ऐसा न हो तो –

'तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु को न्वखंडितधीः पुमान्।
ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया ॥'[36]

इस श्लोक का अर्थ उचित नहीं ठहरता। इसलिए, यह कहा गया है कि देशकालादि के कारण तो केवल नारायण ऋषि का पराभव नहीं होता, उनके सिवा अन्य कोई भी चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, वह यदि नारायण के चरणारविन्दों में निमग्न नहीं रहता, तो उसका पराभव हो जाता है, और यदि चरणारविन्दों में वह निमग्न रहता है, तो उसका देशकालादि के कारण पराभव नहीं हो सकता। इस तरह का यह सिद्धान्त हमने अपने अन्तःकरण में अचल करके रखा है। और, भागवत में कहा गया है कि –

'एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।
न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया ॥'[37]

भगवान ने भी कहा है –

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥'[38]

इस प्रकार, एकमात्र केवल नारायण ही इस माया से निर्लेप होते हैं

---

36. **अर्थ :** 'ब्रह्मा द्वारा सृजित मरीच्यादि तथा उनके द्वारा उद्‌भूत कश्यपादिक तथा उनके द्वारा सृजित देवमनुष्यादि के मध्य इस लोक में नारायण ऋषि के सिवा ऐसा कौन-सा पुरुष है, जिसका मन स्त्रीरूपी माया से आकर्षित नहीं होता? अन्य समस्त मनुष्यों का मन ऐसी माया से आकर्षित हो ही जाता है।' (श्रीमद्‌भागवतम् : 3/31/37)

37. **अर्थ :** 'जिस प्रकार भगवान के भक्त का भगवत्स्वरूप सम्बंधी ज्ञान देह में रहनेवाले दोषों तथा जीव में स्थित अविद्यादि दोषों से लिप्त नहीं होता, वैसे ही परमेश्वर भी प्रकृति तथा जीववर्ग में व्याप्त होकर रहने के बावजूद प्रकृति के सत्त्वादि गुणों तथा जीव के अविद्या, अस्मिता एवं रागद्वेषादि दोषों से लिप्त नहीं होते। यही परमेश्वर की परमेश्वरता है, अर्थात् जब भक्त का भगवत्स्वरूप सम्बंधी ज्ञान, देहात्मा के दोष से लिप्त नहीं होता, तब जड तथा चैतन्य में अन्यर्यामी रूप से रहनेवाले भगवान जड या चेतन प्रकृति के दोषों से लिप्त न हों, इस विषय में कहने की बात ही क्या है?' (श्रीमद्‌भागवतम् : 1/11/38)

38. **अर्थ :** 'जो मेरी ही शरण में आते हैं, वे मेरी गुणमयी तथा दुर्लंघ्य माया को पार कर लेते हैं।' (गीता : 7/14)

अथवा निर्विकल्प रूप से उन नारायण की शरण को प्राप्त हुआ पुरुष भी माया से पराभूत नहीं होता। परन्तु यदि कोई भक्त सविकल्प रूप से नारायण को प्राप्त हुआ तो वह चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, फिर भी उसका पराभव हो जाता है।'

तब नित्यानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज! जब तक इन मुक्तों का गुणों के साथ सम्बंध रहता है, तब तक इनमें देशकालादि द्वारा विपर्ययभाव होता है, तथा नारायण तो (मायिक) गुणों में रहते हुए भी देशकालादि द्वारा पराभव को प्राप्त नहीं होते, यह बात भी ठीक है, परन्तु जब मुक्तों का भी गुणों से सम्बंध न रहे तथा निर्गुणभाव से वे सब अक्षरधाम में रह रहे हों और नारायण भी वहाँ उसी रूप में रहे हों, तब वे सब चैतन्यमय एवं निर्गुण ही होते हैं। ऐसे समय में **'मम साधर्म्यमागताः'**[39] के अनुसार वे नारायण के साधर्म्यभाव को प्राप्त हो चुके हैं। ऐसे मुक्तों तथा नारायण के बीच किस प्रकार से भेद समझें?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'चन्द्रमा तथा तारागणों के बीच भेद है कि नहीं? देखिए न! प्रकाश की दृष्टि से भी वे एकसमान नहीं हैं तथा बिम्ब (आकार) में भी बड़ा भेद है। और समस्त औषधियों का पोषण चन्द्रमा द्वारा होता है, न कि तारागण से! तथा रात्रि का घना अंधकार भी चन्द्रमा से दूर होता है, जो तारागण से संभव नहीं है! उसी प्रकार नारायण तथा मुक्तों में भी भेद है। और जैसे राजा और उसके नौकर-चाकर मानवजाति से एकसमान हैं ! फिर भी राजा के सामर्थ्य, ऐश्वर्य, रूप एवं लावण्य सभी सर्वोपरि होते हैं। जो काम राजा कर सकता है, वह चाकरों से नहीं हो सकता, भले ही वे कितने ही बड़े क्यों न हों! उसी प्रकार पुरुषोत्तम नारायण तो सर्वकर्ता हैं, सर्वकारण हैं, सर्वनियन्ता हैं, अतिरूपवान हैं, महातेजस्वी हैं, अतिसमर्थ हैं, तथा 'कर्तुम्, अकर्तुम् और अन्यथा-कर्तुम्' शक्ति के धारक हैं। यदि वे चाहें, तो अक्षरधाम-स्थित समस्त मुक्तों को अपने तेज में विलीन करके स्वयं अकेले ही विराजमान रह सकते हैं। यदि वे इच्छा करें, तो मुक्तों द्वारा की गई उनकी परमात्मा के प्रति भक्ति को अंगीकार करके उनके सहित विराजमान हो सकते हैं, और जिस अक्षरधाम में वे स्वयं रहते हैं, उस अक्षर को भी

39. **अर्थ :** 'मेरे साधर्म्य यानी समान गुणयोग को प्राप्त किए हुए हैं।' (गीता : 14/2)

लीन करके स्वतः स्वराट् रूप से अकेले ही विराजमान रह सकते हैं। यदि वे चाहें तो अक्षरधाम के बिना ही अनन्तकोटि मुक्तों को अपने ऐश्वर्य द्वारा धारण करने में समर्थ होते हैं। जैसे पृथु भगवान ने पृथ्वी से कहा था कि 'मैं अपने धनुष से निकले हुए बाणों द्वारा तुझे मारकर अपनी शक्ति से इस समस्त जगत को धारण करने में समर्थ हूँ।' वैसे ही वे नारायण भी अपने ऐश्वर्य द्वारा सर्वोपरि हैं। जो पुरुष उन्हें तथा अन्य अक्षरादि मुक्तों को एक-समान बताते हैं, उन्हें दुष्टबुद्धिवाला तथा अतिपापी समझना चाहिए, और उनका दर्शन भी नहीं करना चाहिए। ऐसी विपरीत समझ रखनेवालों को देखनेमात्र से पंचमहापाप के सदृश पाप लगता है। तथा नारायण को लेकर तो किसी की भी महत्ता सम्भव हो जाती है। नारायण के कारण ही ब्रह्मा, शिव, नारद तथा सनकादि को भगवान कहा जाता है। नारायण को लेकर ही उद्धव को भगवान कहते हैं। और यह मुक्तानन्द स्वामी जैसे सन्त को भी नारायण को लेते हुए भगवान के समान कह सकते हैं, परन्तु बिना नारायण के सम्बंध के तो अक्षर को भी भगवान नहीं कहा जा सकता, तो दूसरों की तो बात ही क्या कहनी?

और **'अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव ! नेतरथा,'**[40] वेदस्तुति के इस गद्यांश का भी यही अर्थ है। यदि ऐसा न हो, तो हम सब देह से भिन्न आत्मा को ब्रह्मरूप मानते हैं तथा ज्ञान, वैराग्य आदि साधनों से युक्त हैं, फिर भी उन नारायण को प्रसन्न करने के लिए रात-दिन जागरण करते हैं, उंगलियाँ फट जाएँ ऐसे ज़ोर-जोश से तालियाँ बजाकर कीर्तन एवं नामस्मरण करते हैं तथा कथा-कीर्तन भी रात-दिन करते-करवाते रहते हैं। यदि उन नारायण के समान हुआ जा सकता हो, तो ऐसी साधना का मतलब क्या? **अतः उन नारायण के समान तो एक नारायण ही हैं। परन्तु, उनके जैसा दूसरा कोई भी नहीं हो सकता।**

और **'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म',**[41] इस श्रुति का भी यही अर्थ है कि 'इन

---

40. **अर्थ :** 'हे नित्य, हे भगवन्! आप अपरिमित एवं सर्वव्यापक हैं। यदि असंख्य जीव आपकी तरह अपरिमित एवं सर्वव्यापक हो जाएँगे, तब तो वे आपके समान ही कहलाएँगे! फिर तो कौन नियामक तथा कौन नियम्य? यह नियामक-नियम्य भाव तब ही स्थिर हो सकता है, जब आप ही नियामक हो। अन्यथा शाश्वत नियम का लोप हो जाए।' (श्रीमद्भागवतम् : 10/87/30)

41. छांदोग्योपनिषद् : 6/2/1

नारायण जैसे तो एक नारायण ही हैं।' यूं समस्त शास्त्रों का यही सिद्धान्त है।' इस प्रकार, भक्तजनों को शिक्षा देने के लिए श्रीजीमहाराज ने यह वार्ता की, वास्तव में वे तो स्वयं साक्षात् पुरुषोत्तम नारायण हैं।

॥ इति वचनामृतम् ॥13॥ ॥121॥

वचनामृत 14 : श्रीहरि की रुचि

संवत् 1877 में मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी (31 दिसम्बर, 1820) को श्रीजीमहाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर सफ़ेद फेंटा बाँधा था, श्वेत चादर ओढ़ी थी और सफ़ेद धोती धारण की थी। उनके समक्ष सभा में परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब श्रीजीमहाराज परमहंसों से बोले, 'प्राचीनकाल में जो आचार्य हो गए हैं, उनकी पृथक्-पृथक् रुचि रही है। उनमें शंकर स्वामी का अद्वैत ज्ञानांश[42] प्रधान प्रतीत होता है। रामानुजाचार्य का मन्तव्य तो यह है कि 'जीव, माया तथा पुरुषोत्तम' ये तीनों ही नित्य हैं। पुरुषोत्तम तो जीव तथा माया के नियन्ता और सबके कारण हैं। वे अपने अक्षरधाम में सदैव दिव्य आकार में विराजमान रहते हैं, और सभी अवतार उनके ही हैं, जीव को ऐसे पुरुषोत्तम नारायण की उपासना करनी चाहिए। रामानुजाचार्य का यह मत विदित होता है। तथा वल्लभाचार्य के मन्तव्य में भक्ति के प्रति ही अधिक निष्ठा रखने पर बल दिख रहा है। इन समस्त आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में प्रसंगानुसार अन्य वार्ताएँ भी लिखी हैं। परन्तु अन्ततः वे अपनी ही रुचि को प्रकट करते हैं। इस प्रकार उनके ग्रन्थों में उल्लिखित उनके वचनों द्वारा उनका अभिप्राय यथार्थ रूप से विदित होता है।

वैसे ही, हमारी वार्ता को भी सुनकर आप सबको इस बात का पता चल गया होगा कि हमारी कैसी रुचि है? और, जैसे सुई के पीछे डोरा चला जाता है तथा माला के मनकों में डोरा आरपार रहता है, वैसे ही हमारी समस्त वार्ताओं में कौन-सा अभिप्राय निरन्तर आद्यन्त बना रहता है, उसका जिसको जैसा ज्ञान हुआ हो वैसा बताओ।' तब समस्त बड़े परमहंसों ने अपने विवेक

42. जीवात्मा ही परमात्मा है, ऐसा ज्ञान।

के अनुसार अपनी बात बताई। फिर श्रीजीमहाराज कहने लगे कि 'अच्छा, अब हम अपना अभिप्राय तथा रुचि बताते हैं। हमें एक तो यह बात पसन्द है कि ऋषभदेव भगवान वासुदेव के साथ एकात्मता को प्राप्त हुए थे, फिर भी जब उन्हें सिद्धियाँ प्राप्त हुईं, तब उन्होंने भगवान होते हुए भी अन्य त्यागियों को शिक्षा देने के लिए उन सिद्धियों को ग्रहण नहीं किया। वह श्रीमद्भागवत में बताया गया है कि 'भले ही योगी सिद्ध हो चुका हो और उसने अपने मन को वश में कर लिया हो, परन्तु उसे मन पर विश्वास नहीं करना चाहिए।' इस प्रसंग में यह श्लोक विचारणीय है:

'न कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते।
यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम् ॥[43]
नित्यं ददाति कामस्य छिद्रं तमनु येऽरयः।
योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली ॥'[44]

इस प्रकार, **जो मन का विश्वास नहीं करता ऐसा त्यागाश्रम हमें प्रिय लगता है।**

और, हमारे मन में श्वेतद्वीप तथा बदरिकाश्रम जितने प्रिय लगते हैं, उतने अन्य लोक हमें पसन्द नहीं हैं। हमारे मन में यही भावना रहती है कि श्वेतद्वीप तथा बदरिकाश्रम में जाकर यदि हम निरन्नभाव से तप करें, यह हमें बहुत अच्छा लगता है। परन्तु, अन्य लोकों में हमें अनेक प्रकार के वैभवों

---

43. **अर्थ :** 'मन अतिचंचल होता है, इस कारण उसकी स्थिति सदैव एकसमान नहीं रहती। इसलिए कभी भी इस पर ऐसा विश्वास नहीं करना चाहिए कि 'यह मेरे वश में हो चुका है। इसलिए अनर्थ नहीं करेगा।' मन का विश्वास करने के कारण बड़े-बडे सौभरि आदि ऋषियों का भी तप क्षीण हो गया था, जिसे सम्पादित करने के लिए उन्होंने दीर्घकाल तक महाप्रयास किए थे।'

(श्रीमद्भागवतम् : 5/6/3)

44. **अर्थ :** 'मन का विश्वास करनेवाले योगी का मन काम की पकड़ को सुदृढ़ बनाने के लिए निरन्तर अवसर देता रहता है। योगी के मन में काम की पैठ को कोई अवसर मिलने के बाद क्रोध आदि अन्तःशत्रुओं को भी वहाँ अपना आसन जमाने का अवसर मिल जाता है। जैसे पुंश्चली स्त्री विश्वास करनेवाले अपने पति का घात करने के लिए जारपुरुष को अवसर देती है, वैसे ही मन भी कामादि द्वारा योगी को पथभ्रष्ट कर डालता है।' (श्रीमद्भागवतम् : 5/6/4)

का उपभोग करना रुचिकर नहीं लगता। और, हम यह जानते हैं कि भगवान के जो अनेक अवतार हो चुके हैं, वे सब नारायण के ही अवतार हैं, फिर भी इन अवतारों में हमें ऋषभदेवजी में अत्यधिक रुचि रहती है। उनसे कुछ न्यूनरूप से कपिलजी और दत्तात्रेय एकसमान मालूम होते हैं। इन तीनों ही अवतारों की अपेक्षा करोड़ों गुना प्रेम हमें श्रीकृष्ण से है। और हम मानते हैं कि 'अन्य समस्त अवतारों की अपेक्षा यह अवतार अत्यन्त महान हुआ है तथा अधिक समर्थ भी है। तथा इसमें अवतार-अवतारी का कोई भी भेद नहीं दिखता है।' और, भगवान के मत्स्य-कच्छपादि अन्य अवतार भी हैं, परन्तु उनमें हमारी अधिक रुचि नहीं है।

तथा इस प्रकार हमारी उपासना है कि सबसे परे एक विशाल तेज:पुंज है, जो नीचे-ऊपर और चारों ओर प्रमाण रहित तथा अनन्त है। उसी तेज:पुंज के मध्यभाग में एक बड़ा सिंहासन है, उसके ऊपर दिव्यमूर्ति श्रीनारायण पुरुषोत्तम भगवान विराजमान हैं। उस सिंहासन के चारों ओर अनन्तकोटि मुक्त बैठे हुए उन नारायण के दर्शन करते रहते हैं। इन मुक्तों सहित जो नारायण हैं, उन्हें हम निरन्तर देखते रहते हैं। और उन भगवान में अतिशय तेज है। इसके कारण जब उस मुक्त समुदाय की सभा सहित भगवान के दर्शन नहीं होते, तब हमें अत्यन्त कष्ट होता है। वह तेज:पुंज तो निरन्तर दिखाई पड़ता है, तो भी उसमें हमारी रुचि नहीं है। और भगवान की मूर्ति के दर्शन से ही अतिशय आनन्द मिलता है। हमारे मतानुसार यही उपासना है।

तथा गोपियों के हृदय में भगवान की जैसी भक्ति थी, वैसी भक्ति हमें पसन्द है। अत: हम सब मनुष्यों को देखते रहते हैं कि जैसे किसी कामी स्त्री को पुरुष में तथा किसी कामातुर पुरुष को स्त्री में जैसा प्रेम होता है, उसे देखकर हमें ऐसी भावना होती है कि 'यदि भगवान के प्रति हमारा ऐसा प्रेम रहे, तो कितना अच्छा!' तथा जब हम किसी को पुत्र तथा धन से अधिक प्रेम करते देखते हैं, तब हमें यह भावना होती है कि यदि 'ऐसा प्रेम हमें भगवान से हो जाए, तो बहुत अच्छा।' तथा यदि कोई पुरुष भजन गा रहा हो, तो उसे सुनकर और उसके पास किसी मनुष्य को भेजते हैं अथवा हम स्वयं उसके पास जाते हैं और ऐसा भाव होता है कि 'यह बहुत अच्छी भक्ति करता है।'

और, वास्तव में हमें स्नेह तो उस पुरुष के साथ होता है, 'जिसमें

काम, क्रोध, लोभ, स्वाद, स्नेह, मान, ईर्ष्या, दम्भ तथा कपट आदि दोष न हों, और जो धर्मशास्त्रानुसार धर्म का पालन करता हो तथा भगवान की भक्ति से युक्त हो। उसी के साथ बैठने-उठने में हमें अच्छा लगता है। यदि वह ऐसा न हो और हमारे साथ रहता हो, तो भी उसके साथ हमें सुमेल नहीं होता और मन में उसकी उपेक्षा ही रहती है। और, पहले तो हमें कामी पुरुष से बहुत ही घृणा रहती थी, परन्तु अब जिसमें क्रोध, मान तथा ईर्ष्या ये तीन भाव देखते हैं, उससे उपेक्षा रहती है। क्योंकि हम देखते हैं कि कामी पुरुष गृहस्थ की भाँति निर्मानी होकर सत्संग में पड़ा रहता है, किन्तु क्रोध, मान तथा ईर्ष्या रखनेवाले पुरुष सत्संग से अवश्य पिछड़ जाते दिखाई देते हैं। इसलिए, इन तीनों प्रकार के पुरुषों को देखकर हम उद्विग्न हो जाते हैं। वह मान क्या है? तो जो मानी होता है, उसको अपने से बड़ों के सामने भी स्तब्धभाव रहता है, किन्तु उन बड़ों के समक्ष नम्रभाव लाकर उनकी सेवा में वह नहीं रह सकता।

अब हम अपना अभिप्राय संक्षेप में कहते हैं और वह यह है कि शंकर स्वामी ने जिस प्रकार अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, उसमें हमारी रुचि नहीं है। तथा रामानुज स्वामी ने जिस प्रकार क्षर-अक्षर से परे पुरुषोत्तम भगवान का निरूपण किया है, उन पुरुषोत्तम भगवान में हमें उपासना है। तथा गोपियों के समान उन पुरुषोत्तम भगवान में हमारी भक्ति है, और हमें भी शुकजी तथा जड़भरत के सदृश वैराग्य और आत्मनिष्ठा है। यही हमारा अभिप्राय तथा यही रुचि है। सो हमारी इस वार्ता द्वारा तथा हमारे सम्प्रदाय के मान्य ग्रन्थों द्वारा बुद्धिमान पुरुष यदि पूर्वापर दृष्टि से विचार कर देखेगा, तो उसको यह सभी बातें समझ में आ जाएँगी।' इस प्रकार, श्रीजीमहाराज ने अपने भक्तजनों को शिक्षा देने के लिए यह वार्ता की। जबकि वे स्वयं साक्षात् पुरुषोत्तम नारायण हैं।

॥ इति वचनामृतम् ॥14॥ ॥122॥

वचनामृत 15 : काँच की प्रतिमा एवं गाय के दृष्टांत से आत्मदर्शन

संवत् 1877 में मार्गशीर्ष कृष्णा त्रयोदशी (2 जनवरी, 1821) को रात्रि के समय श्रीजीमहाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में

विराजमान थे। उन्होंने सिर पर श्वेत फेंटा बाँधा था, दूसरा सफ़ेद फेंटा सिर से लेकर आकंठ लपेटकर नकाब किया था, गरम पोश की लाल बगलबंडी पहनी थी, श्वेत धोती धारण की थी तथा सफ़ेद सूती मोटा चादरा और श्वेत पिछौरी एक साथ मिलाकर ओढ़े हुए थे। उनके समक्ष सभा में विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों तथा परमहंसों की सभा हो रही थी।

तब श्रीजीमहाराज कृपा करके बोले कि 'यह जीव अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदेव-भाव से समस्त देह में नखशिखापर्यन्त व्याप्त होकर रहा है। और, देवता तथा इन्द्रिय द्वारा जीव का भोक्ताभाव रहता है, परन्तु देवता तथा इन्द्रियों से पृथक् होकर वह भोक्ता नहीं है।'

इस पर नित्यानन्द स्वामी ने शंका प्रकट की कि 'हे महाराज! ऐसा कहा जाता है कि जीव सामान्यतः समस्त देह में व्याप्त होकर भी विशेषरूप से हृदयाकाश में रहता है, तब शरीर के सभी भागों में जीव की ज्ञातृत्व शक्ति समान रूप से अनुभूत नहीं होती, इसका क्या कारण है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जैसे सूर्य किरणों द्वारा समस्त पदार्थों में व्याप्त होकर रहा है। फिर भी सामने जैसा पदार्थ रहता है, वहाँ सूर्य का प्रकाश भी वैसा ही दिखायी पड़ता है। वह कैसे? तो जैसे काँच जडित भूमि तथा स्वच्छ निर्मल जल में सूर्य का शुद्ध प्रकाश दीख पड़ता है, किन्तु पथरीली और रेतीवाली जमीन तथा गंदे पानी में ऐसा स्पष्ट नहीं दिखाई देता, इस तरह सूर्य के प्रकाश में न्यूनता एवं अधिकता रहती है, वैसे ही यह जीव इन्द्रियों, अन्तःकरण तथा इन्द्रियों के गोलक में समानरूप से रहता है, किन्तु इन्द्रियों में अधिक स्वच्छता रहने के कारण वहाँ विशेष प्रकाश दिखाई पड़ता है। देखिए न! नेत्रों में जितना तेज ज्ञात होता है, उतना क्या नाक-कान में कभी दिखाई पड़ेगा? नहीं दिखेगा। और, चार अन्तःकरणों की अतिस्वच्छता होने से, वहाँ जीव का अधिक प्रकाश मालूम होता है तथा अन्य इन्द्रियों में वह न्यून प्रतीत होता है। परन्तु, जीव तो समस्त देह में समान भाव से रहता है।'

तब ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'इस जीव को कुछ लोग तो तारासदृश देखते हैं, कुछ दीपक की ज्योति जैसा देखते हैं। तथा कोई तीली के प्रकाश के समान प्रकाशवान देखते हैं, उसे किस प्रकार समझना चाहिए?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे अक्षिविद्या सिद्ध है, उसे नेत्र द्वारा

जीव का दर्शन होता है और उस जीव में वह भगवान की मूर्ति भी देखता है। वैसे ही जिसे इन्द्रिय द्वारा लक्ष्य हुआ हो, वह वैसी आत्मा को देखता है। जैसे काँच का कोई पुतला मनुष्याकार बनाया हो, उसके सब अवयव, रोम तथा नाड़ियाँ इत्यादि काँच के हों और पुतले के भीतर तेज भरा हो, तब वह सभी तेज रूप ही दीख पड़ेगा, वह भी नली का अवकाश अनुसार ही दिखता है, परन्तु वह समग्र रूप से नहीं दिखाई पड़ता। वैसे ही जिन्होंने उस जीव का जैसा स्वरूप देखा है, वैसा ही वे उसे बताते हैं। परन्तु, उनकी निरावरण-दृष्टि नहीं हुई है। इसलिए, उन्हें वह आत्मा यथावत् नहीं दिखाई पड़ती। और, जब उनकी निरावरण-दृष्टि होकर आत्माकार हो जाती है, तब इन्द्रियों के गोलक के विभाग उन्हें दृष्टिगोचर नहीं होते। तब जैसी आत्मा होती है वैसी यथार्थरूप से दिखाई पड़ती है।

जैसे, कोई आकाश की दृष्टि को प्राप्त हुआ हो, उसकी दृष्टि में अन्य चार भूत नहीं आते। वैसे ही जिसकी निरावरण-दृष्टि होती है, उसको गोलक, इन्द्रियों, देवता तथा अन्तःकरण द्वारा जीव के प्रकाश के जो भेद होते हैं, वे भेद दृष्टिगोचर नहीं होते। और जैसा जीव होता है, वैसा ही वह सम्यक् रूप से यथार्थ दिखाई पड़ता है, किन्तु भेद-दृष्टिवाले को वह यथार्थतः नहीं दिखाई पड़ता। जैसे किसी ने गाय की पूँछ देखी और किसी ने उसका मुख देखा, खुर देखा, पेट देखा, और स्तन देखा, इस तरह उसने जो-जो अंग देखे, वह सभी गाय के ही देखे, परन्तु जैसी गाय है, वैसी किसी के दृष्टि-गोचर नहीं हुई। फिर भी एक-एक अंग को देखने से गाय को देखा है, ऐसा भी कहा जाएगा। ठीक वैसे जिसको आत्मा के प्रकाश का जितना दर्शन इन्द्रियों अथवा अन्तःकरण द्वारा हुआ हो, उतना ही वह आत्मदर्शी कहलाता है, परन्तु उसे सम्यक् आत्मदर्शन नहीं कहा जा सकता। अतः हम तो उस जीव में इस प्रकार से सामान्यता या विशेषता मानते हैं।'

तब नित्यानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! आप जीव को निराकार बताते हैं, तब उस जीव में भगवान भी अलिंग भाव से रहते हैं या मूर्तिमान होकर रहते हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'भगवान तो इन्द्रियों, देवता, अन्तःकरण तथा जीव इन सभी के आश्रय-भाव से जीव में रहते हैं। जैसे श्रीकृष्ण भगवान

ने उद्धव द्वारा गोपियों से कहलाया था कि 'इन्द्रियों, अन्तःकरण, देवता तथा जीव के आश्रयभाव से मैं तुम सबके समीप रहा हूँ। जैसे ब्रह्मांड में रहनेवाले पंचमहाभूत सबकी देहों में रहे हैं, ठीक उसी तरह मैं जो इस मथुरा में रहा हूँ, वह तो जिस प्रकार महाभूत विशेषरूप से ब्रह्मांड में रहते हैं उसी प्रकार रहा हूँ। तथा जैसे ये पंचभूत जीवों के शरीरों में सामान्य रूप से रहते हैं, वैसे ही मैं तुम्हारे पास रहा हूँ। और जो मैं आपके दृष्टिगोचर नहीं होता, वह तो तुम सबकी चित्तवृत्ति का निरोध मेरे स्वरूप में हो जाए, इसलिए मैं नहीं दिखता हूँ, परन्तु रहता तो मैं मूर्तिमान ही हूँ।'

नित्यानन्द स्वामी ने पुनः पूछा कि 'हे महाराज! वे भगवान इन्द्रियादि के आश्रयभाव से रहे हैं, परन्तु क्या वे पुरुषरूप से रहे हैं, कि अक्षररूप से रहे हैं या स्वयं पुरुषोत्तमरूप में रहे हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जीव, पुरुष, अक्षर तथा पुरुषोत्तम चारों के तेज प्रकाशभाव से तो सजातीय हैं, अतः उनके प्रकाश के भेद करने में कोई भी समर्थ नहीं है। तथापि, भेद तो अतिशय है, फिर भी उस भेद को देखने के लिए कोई भी समर्थ नहीं हो पाता। और, जिस पर ये भगवान कृपा करते हैं, उसके फलस्वरूप उसकी ऐसी प्रकाशमय दिव्य देह तैयार होती है। तत्पश्चात् वह यह समझ लेता है कि 'यह मैं हूँ, यह पुरुष है तथा यह अक्षर है और इन सबसे विलक्षण ये पुरुषोत्तम हैं।' इस प्रकार यह जीव सबको पृथक् रूप से देखता है तथा इनके प्रकाश को भी विलक्षण रूप से देखता है। अन्य कोई भी उस प्रकाश को पृथक्‌रूप से देखने में समर्थ नहीं होता। अतएव, ये भगवान चाहे जिस रूप से रहते हैं, परन्तु वे स्वयमेव रहते हैं।

और, वेदान्त यानी उपनिषद् तथा योग तथा सांख्य ये तीनों शास्त्र सनातन हैं और ये श्रीकृष्ण परमात्मा का ही वर्णन करते हैं। इन तीनों शास्त्रों का मत हम आपके सामने पृथक् रूप से बताते हैं, उसे सुनिये।

उनमें सांख्यशास्त्र चौबीस तत्त्वों को कहकर उनसे परे पचीसवें तत्त्व को परमात्मा बताता है, परन्तु वह जीव तथा ईश्वर को पृथक् करके नहीं कहता। उसका यह अभिप्राय है कि इन तत्त्वों का अस्तित्व जीव के बिना संभव नहीं रहता, अतः तत्त्वों के साथ तदात्मकभाव से रहनेवाले जीव को तत्त्वरूप ही कहता है, किन्तु तत्त्वों से पृथक् नहीं कहता है। जैसे जीव को

चौबीस तत्त्वरूप माना जाता है, वैसे ही ब्रह्मांडाभिमानी ईश्वर को भी सांख्य-मतवाले चौबीस तत्त्वरूप मानते हैं। इस प्रकार जीव एवं ईश्वर दोनों को तत्त्वरूप मानकर तत्त्वों के अन्तर्गत ही उनकी गणना करते हैं, परन्तु उन्हें तत्त्वों से पृथक् नहीं गिनते तथा पचीसवें तत्त्व को परमात्मा कहते हैं। यह सांख्यशास्त्र का मत है, परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि जीव नहीं है, क्योंकि सांख्यशास्त्र षट्सम्पत्ति,[45] श्रवण, मनन तथा निदिध्यास आदि साधन बताता है, वे साधन जीव को ही करने हैं। उन साधनों द्वारा जीव विचार को प्राप्त हो, तब उस विचार द्वारा फिर स्वयं को तत्त्वों से अलग करना अपने को ब्रह्मरूप मानना, और परमात्मा का भजन करना - ऐसा सांख्यमत है। मोक्षधर्म में नारदजी ने शुकजी से कहा है :

'त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज॥'[46]

इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'जब मुमुक्षु आत्मविचार करने बैठे, तब उसके मार्ग में धर्मरूप अथवा अधर्मरूप तथा सत्यरूप, असत्यरूप जो-जो संकल्प-विकल्प हों, उनका त्याग करके, जिस विचार द्वारा उसका त्याग होता है उस विचार का भी परित्याग करके ब्रह्मरूप होकर रहना चाहिए, किन्तु देह से धर्मरूप नियम का त्याग करने का आदेश नहीं दिया गया है।'

योगशास्त्र चौबीस तत्त्वों की गणना के बाद जीव एवं ईश्वर को पचीसवाँ तत्त्व मानता है तथा परमात्मा को छब्बीसवाँ तत्त्व बताता है। योग-मतावलंबी इस प्रकार, विवेकज्ञान से पचीसवें तत्त्व को अन्य तत्त्वों से पृथक् समझकर और आत्मा के साथ एकात्मता की दृढ़ता मानकर चौबीस तत्त्वों की वृत्तियों का पिंडीभाव करके उन्हें बलपूर्वक छब्बीसवें तत्त्व-परमात्मा में रखते हैं, परन्तु विषयोन्मुख नहीं होने देते, और ऐसा समझते हैं कि यदि 'मेरी वृत्ति भगवान को छोड़कर अन्य स्थान पर जाएगी, तो मुझे संसृति प्राप्त होगी।' अतएव, अत्यन्त आग्रह करके वह इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की वृत्तियों को भगवान के श्रीचरणों में तन्मय कर देते हैं।

---

45. अद्वैत वेदान्त में प्रसिद्ध 'षट्संपत्ति' इस तरह है : शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान तथा श्रद्धा।

46. महाभारत, शांतिपर्व : 316/40, 318/44

सांख्यमतावलम्बी का तो यह मन्तव्य है कि 'मेरे इन्द्रियाँ - अन्तःकरण हैं ही नहीं! तो अन्यत्र जाने का प्रश्न ही कहाँ?' इसलिए, वह स्वयं को ब्रह्मरूप मानकर निर्भय रहता है। परंतु योगमतानुयायी तो डरता ही रहता है। जैसे किसी पुरुष के हाथ में तेलपूरित पात्र पूर्ण भरा हुआ हो और उसे सीढ़ियों द्वारा ऊँचा चढ़ना हो, उस समय यदि दोनों ओर से खुली तलवारवाले आदमी तेलपात्र में से तेल की एक भी बूँद के नीचे गिरने पर उसका शिरच्छेद करने के लिए साथ में रहें, तो वह इस डर के कारण सावधान रहता है तथा तेल को उस पात्र में से छलकने नहीं देता। इसी प्रकार योगमतानुयायी भी विषयों से डरकर भगवान में अपनी वृत्तियों को बनाये रखता है - यह योगशास्त्र का मत है। तथा वेदान्त यानी उपनिषद् का मत यह है कि वह पुरुषोत्तम नारायण ब्रह्म को ही सबका कारण मानता है और अन्य सभी को मिथ्या समझता है। जैसे आकाश की दृष्टि को प्राप्त पुरुष अन्य तत्त्वों को नहीं देखता, वैसे ही उस ब्रह्म को देखनेवाला भी अन्य किसी को नहीं देखता। वेदान्त का यही मत है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥15॥ ॥123॥

वचनामृत 16 : वासना का कुंठित और निर्मूल होना

संवत् 1877 में मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्दशी (3 जनवरी, 1821) को सन्ध्या-आरती होने के बाद श्रीजीमहाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी, गरम पोश की लाल बगलबंडी पहनी थी, मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था और दूसरे सफ़ेद फेंटे से सिर को आकंठ लपेटकर नकाब किया था। उनके समक्ष सभा में परमहंसों तथा स्थान-स्थान से आए हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'समस्त परमहंस प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ करें।' ऐसा कहकर उन्होंने स्वयमेव प्रश्न किया, 'जिसकी वासना कुंठित न हुई हो और जिसकी वासना कुंठित हो गई हो तथा जिसकी वासना निर्मूल हो चुकी हो, उन पुरुषों के क्या लक्षण हैं?' मुक्तानन्द स्वामी इस प्रश्न का उत्तर देने लगे, किन्तु वे यथार्थ उत्तर न दे सके।

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जिसकी वासना कुंठित नहीं है, उसकी

इन्द्रियों की वृत्तियाँ, विषयों में लगती हैं तो विचार करने पर भी विषय से नहीं हटतीं। तथा जिसकी वासना कुंठित है, उसकी वृत्ति विषयों में तत्काल प्रवेश नहीं करती। कदाचित् वृत्ति विषयों में प्रवेश कर भी जाए, तो उस वृत्ति को लौटाने के प्रयास किए जाने पर वह तुरन्त हट जाती है। किन्तु वह विषयों में आसक्त नहीं होती। तथा **जिसकी वासना निर्मूल हो गई है, उसे तो जाग्रत अवस्था में भी सुषुप्ति की भाँति विषयों से अरुचि बनी रहती है। उसे भले-बुरे विषयों के प्रति समान भाव रहता है और स्वयं गुणातीत रूप से रहता है।'**

इसके पश्चात् गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि 'यद्यपि वासना कुंठित हो, परन्तु वह जड़ से नहीं मिटती इसका क्या कारण है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर यह है कि आत्मनिष्ठारूप ज्ञान तथा प्रकृति के कार्यरूपी पदार्थमात्र में अनासक्तिरूप वैराग्य तथा ब्रह्मचर्यादिरूप धर्म तथा माहात्म्यसहित भगवान की भक्ति, ये चार गुण जिनमें सम्पूर्ण रूप से रहते हैं, उनकी वासना निर्मूल हो जाती है। इन गुणों में जितनी न्यूनता रहती है, उतनी हद तक वासना निर्मूल नहीं हो पाती।'

फिर श्रीजीमहाराज ने आगे कहा कि 'लीजिए एक और प्रश्न पूछते हैं कि मुमुक्षु को भगवान की प्राप्ति के लिए जो अनेक साधन बताए गए हैं, उनमें ऐसा महान साधन कौन-सा है, जिसका उपयोग करने से सभी दोष नष्ट हो जाते हैं और समस्त गुण आ जाते हैं?' परमहंस इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके। तब श्रीजीमहाराज ने इसका यह उत्तर दिया कि 'कपिलदेवजी ने देवहूती को भगवान का माहात्म्य इस प्रकार बताया है :

'मद्भयाद् वाति वातोऽयम्, सूर्यस्तपति मद्भयात् ।'[47]

इस तरह, जो अनन्त प्रकार के **माहात्म्य सहित भगवान की भक्ति करता है, उसके समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं। यदि उसमें ज्ञान, वैराग्य तथा धर्म नहीं हो, तो भी ये सब गुण आ जाते हैं। इसलिए, यह साधन अन्य सभी साधनों में बड़ा माना गया है।'**

श्रीजीमहाराज ने पुनः प्रश्न पूछा, 'जो पुरुष कपटी तथा बुद्धिमान होता

47 **अर्थ :** 'मेरे भय से वायु चलती है तथा मेरे भय से सूर्य प्रकाशित हो रहा है।'
(श्रीमद्भागवतम् : 3/25/42)

है, वह अपने कपट को मालूम नहीं होने देता। अब यह बताइए कि उसकी कपट–भावना किस प्रकार ज्ञात हो सकती है?'

तब ब्रह्मानन्द स्वामी ने इसका यह उत्तर दिया कि 'जिसका उठना-बैठना उस सत्संगद्वेषी तथा सन्त एवं भगवान के विरुद्ध आक्षेप करनेवाले के साथ होता हो, उससे उसके स्वभाव का पता लग जाता है, किन्तु अन्य प्रकार से उसका स्वभाव मालूम नहीं होता।'

तब श्रीजीमहाराज ने इस उत्तर को सुनकर सहमत होकर पुनः प्रश्न पूछा कि 'यदि उस सत्संगद्वेषी का वह संग न करता हो, तो उसे किस ढंग से पहचान सकते हैं?'

तब ब्रह्मानन्द स्वामी ने कहा कि 'देशकाल की कोई विषमता रहने पर उसका कपट ज्ञात हो जाता है।'

श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'यह ठीक उत्तर दिया।'

फिर श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया, 'यह बताइए कि ऐसा कौन–सा दोष है, जिसके कारण समस्त गुण दोषरूप हो जाते हैं?' तब श्रीपात् देवानन्द स्वामी बोले कि 'जो पुरुष भगवान के भक्त से द्रोह करता है, उसके समस्त गुण दोषरूप हो जाते हैं।' फिर श्रीजीमहाराज बोले कि यह उत्तर भी सत्य है, परन्तु हमने तो दूसरे ढंग से इस प्रश्न का यह उत्तर सोचा है कि **कोई सर्वगुणसम्पन्न पुरुष हो, और यदि वह भगवान को अलिंग समझता हो, परन्तु मूर्तिमान न मानता हो, तो यह एक बड़ा दोष है, जिसके कारण उसके समस्त गुण दोषरूप हो जाते हैं।'**

पुनः श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'यह बताइए कि सन्त के प्रति असद्-भाव किस कारण होता है?' परमहंस इसका यथार्थ उत्तर न दे सके। तब श्रीजीमहाराज ने हि इसका उत्तर इस प्रकार दिया कि 'जो अहंकारी होता है, उसे संत के प्रति असद्भाव हो जाता है। ऐसे अहंकारी का तो ऐसा स्वभाव होता है कि 'जो आदमी उसकी प्रशंसा करता है, उसके एक सौ दोषों की भी उपेक्षा करके वह उसके एक गुण को भी अत्यधिक महत्त्व प्रदान करता है। परन्तु, जो पुरुष उसकी प्रशंसा नहीं करता, उसमें यदि एक सौ गुण भी क्यों न हों, फिर भी वह उसको महत्त्व नहीं देता और उसके साधारण दोष को भी बड़ा दोष मान लेता है। इस प्रकार, पहले तो वह मन एवं वचन द्वारा द्रोह

करता है, तत्पश्चात् देह द्वारा भी द्रोह करता है। अतः मानरूप बड़ा दोष है। और, ऐसी बात नहीं है कि अहंकार की भावना भोले-अबूझ में नहीं होती, और बुद्धिमान में अधिक होती है। वस्तुतः, बुद्धिमान की अपेक्षा भोले में मान की भावना अधिक होती है।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! ऐसा अहंकार किस प्रकार मिट सकता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो भगवान का माहात्म्य अतिशय रूप से समझ लेता है, उसमें मान की भावना नहीं रहती। देखिये, उद्धवजी कितने चतुर तथा नीतिशास्त्र में कुशल थे। शारीरिक रूप से भी वे राजा जैसे लगते थे। फिर भी, वे भगवान के माहात्म्य को समझते थे। अतः जब उन्होंने भगवान के प्रति गोपियों का स्नेह देखा, तब उनके समक्ष अहंभाव नहीं रखा और वे इस प्रकार बोले कि मेरी यह इच्छा है कि 'इन गोपियों की चरणरज का जिन वृक्षों, लताओं, तृणों तथा गुच्छों से स्पर्श होता हो, उनमें से मैं भी कोई हो जाऊँ।' और तुलसीदास ने कहा है कि -

'तुलसी जाके मुखन से भूले निकसे राम।
ताके पग की पेहेनियाँ मेरे तनकी चाम॥'[48]

इस प्रकार जिस पुरुष के मुख से भगवान का नामोच्चार भूल से भी हो जाता है, उसके लिए वे अपने शरीर की चमड़ी का जूता बनवाने के लिए भी उद्यत हो जाते हैं। तब जो भगवान का भक्त हो, तथा जो भगवान का निरन्तर नामस्मरण एवं भजन-कीर्तन-वन्दन कर रहा हो, और भगवान का माहात्म्य जानता हो, तो उनके सामने क्या मान रहेगा? कभी नहीं रहेगा! अतः माहात्म्य को समझ लेने पर अहंभाव मिट जाता है, परन्तु उसको हृदयस्थ किए बिना मान का मूलोच्छेद नहीं हो पाता। अतएव, अपने मान को मिटाने के लिए भगवान तथा सन्त का माहात्म्य समझ लेना चाहिए।'

॥ इति वचनामृतम् ॥16॥ ॥124॥

---

48. **पाठांतर :** तुलसी जाके बदनते धोखेउ निकसत राम।
ताके पगकी पगतरी मेरे तनुके चाम॥
('कल्याण' वर्ष : 39, पृ. : 249)

वचनामृत 17 : स्तुति एवं निंदा

संवत् 1877 में मार्गशीर्ष कृष्णा अमावास्या (4 जनवरी, 1821) को श्रीजीमहाराज श्रीलोया ग्राम स्थित भक्त सुराखाचर के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था, दूसरे श्वेत फेंटे को सिर से आकंठ लपेटकर नकाब किया था, गरम पोश की लाल बगलबंडी अन्दर सफ़ेद अंगरखे के साथ पहनी थी, श्वेत धोती धारण की थी और सूती मोटा चादरा ओढ़कर उस पर पीली रजाई ओढ़ी थी। उनके समक्ष सभा में मुनि तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों बैठे थे। इस प्रकार श्रीजीमहाराज प्रसन्नतापूर्वक रात्रि के समय विराजमान थे।

पश्चात् श्रीजीमहाराज अपनी इच्छा से बोले कि 'देखिये न, भगवान की माया का बल कैसा है! जिससे अत्यन्त ही विपरीत परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। क्योंकि पहले तो कितना अच्छा दिखता हो, किन्तु बाद में वह बहुत बुरा हो जाता है।' इतना कहकर वे परमहंसों से पुनः बोले कि 'आज प्रश्न पूछिए तो वार्ता करें।'

तब नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! पहले कोई अच्छा प्रतीत होता हो, और स्तुति करता हो, किन्तु बाद में वही निन्दा करने लगता है। अतः देश, काल, क्रिया, संग आदि की चाहे कितनी ही विषमता उत्पन्न हो जाए, परन्तु वह अच्छा ही बना रहे तथा किसी भी प्रकार से उसमें विपरीत मति उत्पन्न न हो, इसका कौन-सा उपाय हो सकता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि **'जिसे अपनी देह के प्रति अनादर हो, दृढ़ आत्मनिष्ठा हो, पंचविषयों में वैराग्य हो तथा माहात्म्य सहित भगवान का यथार्थ निश्चय हो, तो देशकालादि की चाहे जितनी विषमता हो जाए, फिर भी उसकी मति विपरीत नहीं होती।** और, जो पुरुष देहाभिमानी हो, और पंचविषयों के प्रति उसे अतिशय अरुचि न हुई हो, तब यदि सन्त उन्हीं विषयों का खंडन करें, तो उसके मन में ऐसे बड़े संत के प्रति भी असद्भाव उत्पन्न हो जाता है। इतना ही नहीं, भगवान के प्रति भी असद्भाव उत्पन्न हो जाता है। यदि भगवान का निश्चय यथार्थ हो, फिर भी अगर उन्हें पंचविषयों का अत्यंत अभाव न हो गया हो, और

उनकी आसक्ति भी यथावत् हो, उस समय यदि मुक्तानंद स्वामी जैसे सन्त उन विषयों का खंडन करें, तो वह ऐसे बड़े सन्त का भी शस्त्र द्वारा शिरच्छेद करने-जैसा द्रोह करेगा।'

नित्यानन्द स्वामी ने पुनः पूछा, 'कोई पुरुष देहाभिमान तथा पंचविषयों में आसक्ति रहने पर भी यदि सत्संग में निभता जाता है, उसके विषय में क्या समझना चाहिए?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब तक उसे कोई धक्का नहीं लगा, तब तक तो वह निभता जाता है, किन्तु कोई बड़े सन्त अथवा भगवान जब उसके मान का खंडन करेंगे तथा स्वाद, देहाभिमान, लोभ, काम तथा क्रोधरूपी दोष का खंडन करेंगे, तब उसे सन्त के प्रति अवश्य असद्भाव हो जाएगा और बाद में वह निश्चय ही सन्त का द्रोह करने लगेगा और सत्संग से विमुख हो जाएगा। जैसे सर्प द्वारा डाली गयी लार से मिश्रित दूध-शक्कर को जिसने पी लिया, वह जीवित रहते हुए भी घड़ी-दो घड़ी, शाम-सबेरे, दो-एक दिन के भीतर ही मृत्यु के मुख में चला जाएगा, वैसे ही जो देहाभिमानी है, वह महीने-दो महीने, वर्ष-दो वर्ष व दस वर्ष में अथवा प्राणान्त के समय अथवा देहत्याग करके भी निश्चित रूप से सन्त के प्रति असद्भाव रहने के कारण सत्संग से गिर जाएगा! **जिसको देहाभिमान न हो और ऐसा समझता हो कि 'जो अन्तःकरण तथा इन्द्रियों का प्रकाशक है तथा जिससे देह चलती-फिरती है, ऐसी सत्तारूप आत्मा मैं हूँ। ऐसा मैं धन-स्त्री आदि पदार्थों द्वारा सुखी होनेवाला नहीं हूँ, और न मैं इन पदार्थों के न मिलने से दुःखी हो सकता हूँ।' इस प्रकार की दृढ़ समझ जिसे हो, उसके समक्ष सन्त द्वारा चाहे जिस किसी भी प्रकार से पंचविषयों तथा देहाभिमान का खंडन किया जाए, तो भी उसे किसी भी तरह से उन सन्त के प्रति असद्भाव नहीं होता, और तुच्छ पदार्थों के लिए सन्त के साथ क्लेश नहीं होता और उसके हृदय में अनबन की कोई गांठ नहीं पड़ती।'**

तब नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जिस पुरुष को पंचविषयों के प्रति अरुचि हुई हो उसकी पहचान किस प्रकार की जा सकती है?'

प्रश्न सुनकर श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जिसे विषयों के प्रति अरुचि हो, वह इस प्रकार पहचानी जाती है, कि जब कुछ उत्तम खाद्य पदार्थ मिले,

तो उसे वह स्वीकार करता है, परन्तु साधारण चीज़ को खाने में जैसा आनन्द होता है, वैसा आनन्द उसमें नहीं रहता और उद्विग्न हो जाता है, ऐसे ही साधारण वस्त्रों में उसे जितना आनन्द होता है, उतना आनन्द उत्तम वस्त्रों के पहनने से नहीं रहता और मन उद्विग्न हो जाता है। इसी तरह, उसे अच्छा बिछौना मिले अथवा किसी के द्वारा सम्मान मिले आदि उत्तम पदार्थों का योग उपस्थित हो तब उसका मन उद्विग्न हो जाता है, परन्तु उनसे उसे किसी प्रकार का आनन्द नहीं मिलता। तभी यह समझ लेना चाहिए कि उसे विषयों में अरुचि हो गई है।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! इन पंचविषयों में अरुचि किस प्रकार होती है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'विषयों में अरुचि होने का मुख्य साधन परमेश्वर का माहात्म्य है, इसके पश्चात् आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य का स्थान आता है। 'यह माहात्म्य कैसा है ? तो सुनिए, भगवान के भय से इन्द्र वर्षा करता है, सूर्य, अग्नि तथा चन्द्रमा प्रकाश प्रदान करते हैं, पृथ्वी सबको धारण कर रही है, समुद्र मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, औषधियाँ ऋतुओं को प्राप्त करके फलदायी बनती हैं। और, जो भगवान जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय करते हैं, उनकी शक्ति काल है, माया है, पुरुष है, अक्षर है।' इस प्रकार, जो पुरुष भगवान की महत्ता को समझता है, उसके लिए जगत में ऐसा कौन-सा पदार्थ है, जो उसे बन्धनकारी हो सके ? उसे तो काम, क्रोध, लोभ, मान, ईर्ष्या, स्वाद, उत्तम वस्त्र, धन, स्त्री तथा पंचविषय सम्बंधी जो अन्य पदार्थ हैं, उनमें से कुछ भी उसे बन्धनकारी नहीं बनता। क्योंकि उसने तो पहले से ही सबका परिमाण कर रखा है कि 'भगवान तो ऐसे हैं, तथा ऐसा उन भगवान के भजन, स्मरण एवं कथा-वार्ता में माल (सुख) है तथा अक्षर तो ऐसा है और उस अक्षर का सुख ऐसा है, और गोलोक, वैकुंठ तथा श्वेतद्वीप सम्बंधी सुख ऐसा है, तथा प्रकृति-पुरुष सम्बंधी सुख इस प्रकार का है, ब्रह्मलोक सम्बंधी सुख ऐसा है, स्वर्ग का सुख इस तरह का है तथा राज्यादि का सुख ऐसा है।'

इस प्रकार सभी सुखों का अनुमान लगाकर भगवान सम्बंधी आनन्द को ही सर्वाधिक मानता हुआ जो भगवान की सेवा में ही तत्पर रहता है, उसके लिए ऐसा कौन-सा पदार्थ शेष रह जाता है, जो उसे भगवान के

आश्रय से वियुक्त कर दे? कोई भी पदार्थ उसे पतनोन्मुख नहीं कर सकता। जैसे पारसमणि अपने स्पर्श से किसी लौहखंड को सोना बना देती है, उसे वह पुनः लोहा नहीं बना सकती, वैसे ही जिसने भगवान का ऐसा माहात्म्य जान लिया है, वह भगवान द्वारा गिराए जाने पर भी भगवान के चरणारविन्दों से पतनोन्मुख नहीं होता, तब क्या वह किसी अन्य पदार्थ से पतित हो सकता है? नहीं, उसका पतन नहीं हो सकता।

और, उन भगवान का भजन करनेवाले सन्त का माहात्म्य भी वह इस तरह समझता है कि 'ऐसे बड़े जो भगवान हैं, उनके साक्षात् उपासक यह संत हैं, इसीलिए यह भी बहुत महान हैं।' जैसे उद्धवजी स्वयं कितने महान थे! फिर भी वे भगवान के माहात्म्य को इस प्रकार समझते थे, तो अपने मन में अपनी दक्षता का कोई भी अहंकार नहीं रहा, और उन्होंने गोपियों की चरणरज को प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की, तथा अगले जन्म में वृन्दावन में वृक्ष तथा लता होने की याचना की, क्योंकि जिसके मार्ग का अन्वेषण वेदों और उपनिषदों की श्रुतियाँ करती हैं, ऐसे भगवान के प्रति गोपियों की अतिशय प्रीति उद्धवजी ने देख ली थी। ठीक उसी प्रकार ऐसे भगवान के संत की महिमा हो, तब उसे उन संत के समक्ष अहंकार कैसे रहेगा? तथा उनको वह नमन क्यों नहीं करेगा? उनके सामने तो वह दासानुदास होकर रहेगा और यदि वह संत पाँच-पाँच जूते भी मारें तो उसे सहन करता हुआ यही समझे कि 'मेरा यह अहोभाग्य है कि मैं ऐसे सन्त का तिरस्कार सहन करता हूँ, अन्यथा दुर्भाग्यवश मुझे स्त्री और पुत्रों के तिरस्कार सहन करने पड़ते, और माता-पिता या राजा के तिरस्कार सहन करने पड़ते। और, दुर्भाग्यवश कोई तुच्छ भाजी को अथवा अति साधारण कंदमूल को खाना पड़ता, उसकी अपेक्षा मेरे तो धन्यभाग्य हैं कि मैं इन सन्त के संग में रहते हुए निःस्वाद व्रत का पालन करता हूँ! तथा प्रारब्धवशात् मुझे मामूली वस्त्र और चिथड़े पहनने पड़ते, उसकी अपेक्षा आज मेरा सौभाग्य है कि मुझे इन सन्त के साथ रहकर गुदड़ी ओढ़ने मिलती है!'

ओर, कोई पुरुष यदि सन्त की सभा में जाता है और वहाँ उसका सत्कार नहीं होता, उस समय वह उस सन्त के अवगुण की आलोचना करने लगता है। क्योंकि उन सन्त की महानता उसकी समझ में आई ही नहीं है!

अन्यथा वह उन पर दोष नहीं मढ़ता। जैसे बम्बई के गवर्नर साहब कुर्सी पर बैठे हों और उनकी सभा में किसी गरीब आदमी के जाने पर यदि वे उसे कुर्सी पर नहीं बिठाते और उसका कुछ भी आदर नहीं करते, तो क्या उसे उस अंग्रेज के इस व्यवहार पर क्रोध होगा? तथा मन में उसको गाली देने की इच्छा होगी? लेशमात्र भी नहीं, क्योंकि उसने उस अंग्रेज के पद-गौरव को समझ लिया है कि 'यह तो मुल्क का हाकिम है और मैं तो कंगाल हूँ।' ऐसा समझकर उसे दुःख नहीं होगा। उसी प्रकार उसने **यदि सन्त की महत्ता को जान लिया हो, तो वे सन्त चाहे कितना ही तिरस्कार करें, फिर भी उसे दुःख नहीं होगा। वह सदैव अपने ही अवगुणों को देखेगा, परन्तु सन्त का अवगुण तो किसी भी प्रकार से देखेगा ही नहीं! अतः जिसको भगवान और सन्त का माहात्म्य समझ में आ गया है, उसकी स्थिति सत्संग में अचल बनी रहती है और, जिसको इनका माहात्म्य ज्ञात नहीं हुआ है, उसकी स्थिति का कोई भरोसा नहीं!'**

॥ इति वचनामृतम् ॥17॥ ॥125॥

वचनामृत 18 : भगवत्स्वरूप का निश्चय

संवत् 1877 में पौष शुक्ला प्रतिपदा (5 जनवरी, 1821) को रात्रि के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीलोया ग्राम-स्थित भक्त सुरा-खाचर के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था। दूसरे सफ़ेद फेंटे को सिर से आकंठ गले में लपेटा था। गरम पोश की लाल बगलबंडी पहनी थी, सूती शाल सहित रजाई ओढ़ी थी तथा सफ़ेद धोती धारण की थी। उनके समक्ष सभा में परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी। उस समय परमहंसों ने सायंकालीन आरती और स्तुतिगान पूर्ण किया, तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'कीर्तनगान करें।' तब मुक्तानन्द स्वामी आदि परमहंस वाद्ययंत्रों द्वारा कीर्तन करने लगे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'कीर्तन स्थगित कर दीजिए। अब हम वार्ता करेंगे। हम जो बात करेंगे, उसमें यदि किसी को शंका उत्पन्न हो जाए, तो वह पूछ लेना।' इतना कहकर वे बोले कि 'भगवान के स्वरूप को यथार्थरूप से समझकर निश्चय करना अत्यन्त कठिन है। उस निश्चय की बात

भी बड़ी अटपटी है। इसलिए यह वार्ता करने में संकोच होता है, क्योंकि वार्ता कहते ही न जाने कोई उसमें से गलत सार निकाले! तथा उसने अपने मन में भगवान के सम्बंध में जो-जो मान्यता की हो, वह मान्यता टूट पड़े तो वह जड़ से ही सत्संग में से निकल जाए! परन्तु क्या करें! निश्चय की बात ही ऐसी महत्त्वपूर्ण है, कि उस विषय पर कहे बिना रहा नहीं जाता!

इसके अतिरिक्त वह बात यदि समझ में न आए, तो दूषण भी बहुत बढ़ते हैं तथा उसके निश्चय में अपक्वता भी बहुत रहती है। इसी कारण बात कर रहे हैं कि - भगवान ने वराह अवतार धारण किया, तो वह शूकर का रूप तो वाकई अति कुरूप था। मत्स्यावतार के समय वे मच्छ के समान ही थे। कच्छपावतार के समय उनका रूप कछुवे की तरह ही था। नृसिंहावतार के समय वे सिंह के समान भयानक थे। वामनावतार में उनका रूप बौने आदमी की तरह था। उनके हाथ-पैर छोटे तथा कमर, तोंद और शरीर मोटा था। व्यासावतार में वे काले थे, शरीर में बहुत-से रोएँ थे और उनकी देह से दुर्गन्ध आ रही थी। इत्यादि आकृतियाँ भगवान ने धारण की थीं। तब उनको जो-जो मिले, उन्होंने उन अवतारों के जैसे-जैसे रूपों के दर्शन किए, वैसे-वैसे रूपों का ही ध्यान किया है। और, उस ध्यान द्वारा वे उन-उन भगवान के रूप को ही प्राप्त हुए हैं।

इसमें प्रश्न यह उठता है कि जिनको भगवान वराह रूप में मिले, वे क्या धाम में भगवान को वराह-रूप में ही देखते हैं? और जिन्हें भगवान मत्स्यरूप में मिले, तो धाम में क्या वे भगवान को मत्स्य-रूप में ही देखते हैं? और जिनको कच्छप-स्वरूप में भगवान मिले, वे क्या धाम में भगवान को कच्छप रूप में ही देखते हैं? और यहाँ जो नृसिंहजी से मिले, वे धाम में क्या नृसिंह-रूप ही देखते हैं? और, हयग्रीव को मिलनेवाले क्या धाम में उन्हें घोड़े के रूप में ही देखते हैं?

और, जिसने वराह का पति-भाव से भजन किया, वह क्या सुअरी हुई? और सखाभाव से भजनेवाला क्या सुअर हो गया? मत्स्य को पति-भाव से भजनेवाली स्त्री-भक्त क्या मछली हुई? और सखा-भाव से भजनेवाला पुरुष क्या मत्स्य हुआ? कछुवे को पति-भाव से भजनेवाली क्या कच्छपी हुई? और मित्र-भाव से भजनेवाला क्या कछुआ हुआ? नृसिंह को पति-भाव

से भजनेवाली क्या सिंहनी हुई? और सखा-भाव से भजनेवाला क्या सिंह हुआ? हयग्रीव को पति-भाव से भजनेवाली क्या घोड़ी हुई? और सखाभाव से भजनेवाला क्या घोड़ा हुआ? अतः भगवान का मूल रूप वराह आदि के समान ही हों, तब तो उन-उन अवतारकालीन भक्त उनका ध्यान करने से तदाकार हो जाने चाहिए, परन्तु यह बात ऐसी नहीं है।

आप यह पूछेंगे कि उन भगवान का स्वरूप कैसा है? तो वही बात बताते हैं कि भगवान सच्चिदानन्दरूप तेजोमयमूर्ति हैं। उनके एक-एक रोम में कोटि-कोटि सूर्यों जैसा प्रकाश रहता है। करोड़ों कामदेवों को लज्जित करे ऐसा भगवान का रूप है। ऐसे सौन्दर्यवान भगवान अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के अधिपति हैं, राजाधिराज हैं, सबके नियन्ता हैं, सबके अन्तर्यामी हैं तथा अतिशय सुख-स्वरूप हैं। और उनके सुख के आगे अनन्त रूपवती स्त्रियों को देखने का सुख भी तुच्छ हो जाया करता है। और, इहलोक तथा परलोक सम्बंधी जो पंचविषयों का सुख है, वह भगवान की मूर्ति के सुख के आगे तुच्छ हो जाते हैं, ऐसा भगवान का स्वरूप है।

यद्यपि वह स्वरूप सर्वदा द्विभुज ही रहता है, फिर भी वे स्वेच्छा से कभी चतुर्भुज, कभी अष्टभुज और कभी सहस्रभुज भी दिखाई देते हैं। और, वे ही भगवान किन्हीं कार्यों को सम्पन्न करने के लिए मत्स्य-कच्छप-वराहादि रूपों और रामकृष्णादि अवतारों को धारण करते हैं; परन्तु वे अपने मूल स्वरूप को छोड़कर अवतार को धारण नहीं किया करते। वे ही भगवान स्वयं अनन्त ऐश्वर्य तथा अनन्त शक्ति के सहित ही मत्स्य-कच्छपादि रूपों को धारण करते हैं। और जिस कार्य के निमित्त उन्होंने जिस शरीर को धारण किया हो, उसके पूर्ण हो जाने पर वे उस शरीर का त्याग भी कर डालते हैं। इसके बारे में भागवत में बताया गया है :-

'भूभारः क्षपितो येन तां तनूं विजहावजः।
कण्टकं कण्टकेनैव द्वयं चापीशितुः समम्॥'[49]

भगवान ने विविध शरीर धारण करके, उनके द्वारा पृथ्वी का भार उतारा तथा जीवों के चैतन्य में देहाभिमानरूपी काँटा गड़ा हुआ था, उसे निकालकर और उस काँटे को निकालनेवाली अपनी देह का भी परित्याग कर दिया।

49. श्रीमद्भागवतम् : 1/15/34-35

जब राक्षस को मारने के लिए भगवान ने नृसिंहरूप धारण किया, बाद में उस कार्य की समाप्ति होते ही उस देह का त्याग करने की इच्छा की। परन्तु उस सिंह को कौन मारे? अत: स्व-इच्छा से काल-रूप शिव ने शरभ का रूप धारण किया। तब नृसिंह तथा शरभ का भीषण युद्ध हुआ। बाद में दोनों ने देहोत्सर्ग कर दिया। इसके परिणामस्वरूप शिव शरभेश्वर महादेव स्थापित हुए और जहाँ नृसिंहजी ने देह-त्याग किया था वहाँ 'नारसिंही शिला' देखी जाती है। अत: चित्रों में जहाँ-जहाँ भगवान के मत्स्य-कच्छपादि अवतारों का चित्रण किया जाता है, वहाँ-वहाँ मत्स्यकच्छपादि के आकार अंकित करने के पश्चात् उन पर शंख, चक्र, गदा, पद्म, वैजयन्ती माला, पीताम्बर वस्त्र, किरीटमुकुट, श्रीवत्सचिह्न आदि सहित भगवान की मूर्ति को चित्रांकित किया जाता है, क्योंकि भगवान का अनादि स्वरूप ऐसा ही है।

और, श्रीकृष्ण भगवान ने अपने जन्म के समय वसुदेव-देवकी को चतुर्भुजरूप में दर्शन दिया था, तथा बाद में अक्रूर को जल में चतुर्भुजरूप का दर्शन दिया, एवं रुक्मिणी को मूर्च्छावस्था हुई, तब चतुर्भुजरूप से दर्शन दिया था, तथा अर्जुन ने भी ऐसा ही कहा है कि -

'तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन, सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते !'[50]

इस प्रकार अर्जुन भी चतुर्भुज-रूप को देखा करते थे; और यादवों के संहार के बाद जब श्रीकृष्ण भगवान पीपल वृक्ष के नीचे बैठे थे, उस समय उद्धवजी तथा मैत्रेय ऋषि ने शंख, चक्र, गदा, पद्मसहित पीताम्बरधारी भगवान का चतुर्भुज स्वरूप देखा था। यद्यपि श्रीकृष्ण भगवान श्यामवर्ण के थे, परन्तु उनका रूप तो 'करोडों कामदेवों तक को लज्जित करनेवाला' कहा गया है। इस प्रकार, वे मनुष्य-सदृश दिखाई पड़ते हैं, फिर भी उनमें ही पूर्वोक्त प्रकाश एवं दिव्य आनन्द पाया जाता है। जिस भक्त को ध्यान, धारणा और समाधि की स्थिति हो, उसको भगवान की मनुष्यमूर्ति कोटि-कोटि सूर्यों के प्रकाश से परिपूर्ण दिखाई पड़ती है, परन्तु उसे मशाल अथवा दीपक का काम नहीं पड़ता।

और, भगवान में ऐसा प्रकाश होने पर भी वह दिखाई नहीं पड़ता,

50. **अर्थ** : 'हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ते! आप उसी चतुर्भुजरूप में हमें दर्शन दें।' (गीता : 11/46)

यह तो भगवान की ही ऐसी इच्छा है। यदि भगवान की इच्छा हो कि 'मैं इस भक्त को ऐसा प्रकाशवान दिखाई पड़ूँ,' तब तो ऐसी प्रकाशयुक्त मूर्ति को वह भक्त देख पाता है। अतः जिसे भगवान के स्वरूप सम्बंधी निश्चय होता है, वह ऐसा मानता है कि ये भगवान गोलोक, वैकुंठ, श्वेतद्वीप, ब्रह्मपुर धामों के ऐश्वर्यों, समृद्धि तथा पार्षदों के सहित रहते हैं तथा राधिका, लक्ष्मी आदि इनकी सेवा करती हैं। इस प्रकार वह भगवान को परमभाव के साथ देखते हैं, किन्तु जो मूर्ख होता है, वह भगवान को मनुष्य सदृश ही देखता है।

श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में भी कहा है :

'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ।।'[51]

अतः मूढ़ पुरुष भगवान के परमभाव को बिना जाने ही भगवान में अपने समान मनुष्य-भाव की कल्पना किया करते हैं।

यह मनुष्य-भाव क्या है? तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा, तृष्णा आदि अन्तःकरण के भाव हैं और हाड़, चाम, मलमूत्रादि तथा जन्म, मरण, बाल्यकाल, यौवन और वृद्धावस्था आदि जो देहभावरूपी मनुष्यभाव हैं, उनकी कल्पना ऐसे पुरुष भगवान में भी किया करते हैं। ऐसे भावों की कल्पना करनेवालों को यदि भगवान के स्वरूप के सम्बंध में निश्चय-सा प्रतीत होता है, परन्तु उनका निश्चय अपरिपक्व है और उनका निश्चित रूप से सत्संग से पतन होगा।

और वे भगवान तो परम दिव्यमूर्ति हैं और उनमें लेशमात्र भी मनुष्य-भाव नहीं है। अतः उन भगवान में से मनुष्य-भाव को दूर करके देवभाव लाना, इसके पश्चात् ब्रह्मादि का भाव लाना, बाद में प्रधान-पुरुष का भाव, इसके पश्चात् प्रकृति-पुरुष का भाव और बाद में अक्षर का भाव लाना चाहिए। इसके पश्चात् भगवान में वे 'अक्षरातीत पुरुषोत्तम' है ऐसा भाव

---

51. **अर्थ :** 'अपने किए हुए पापकर्मों के कारण मूढ़ पुरुष मेरे परमभाव को नहीं जानकर समस्त भूतों के महेश्वर तथा परम करुणापूर्वक सबके समाश्रय के लिए मनुष्यशरीर में स्थित मुझ भगवान की अवज्ञा करते हैं, अर्थात् वे मुझे प्राकृत मनुष्य तथा सजातीय मानकर मेरा तिरस्कार किया करते हैं।' (गीता : 9/11)

आता है। जैसे ब्रज के ग्वालों को श्रीकृष्ण भगवान के आश्चर्यरूप चरित्रों को देखकर पहले तो देवभाव हुआ, तत्पश्चात् गर्गाचार्य के वचनों का स्मरण करके नारायणभाव उत्पन्न हुआ। तब उन्होंने यह कहा कि 'आप तो नारायण हैं, इसलिए आप हमें अपना धाम दिखलाइए।' तब भगवान ने उन्हें अक्षरधाम दिखाया। इस प्रकार, भगवान में जिसे दिव्यभाव रहता है, उसका निश्चय परिपक्व समझना चाहिए।

और, जो पुरुष यह कहता है कि 'उसे भगवान सम्बंधी निश्चय पहले नहीं था, अब हुआ है,' तो क्या इसका यह अर्थ है कि वह भगवान को पहले नहीं देखता था? वह उन्हें देखता तो था, किन्तु मनुष्यभाव के सहित देखता था। बाद में जब उसे निश्चय हो गया, तब उसने दिव्यभाव सहित भगवान के दर्शन किए। ऐसा होने पर ही यह जान लेना चाहिए कि उसे निश्चय हो चुका है।

और, जब तक वह भगवान में ऐसा दिव्यभाव नहीं मानता, तब तक उसको बात-बात में बुरा लगता है। वह भगवान में समय-समय पर गुण और दोष देखा करता है और यह समझता है कि 'भगवान इसका पक्ष लेते हैं और हमारा ध्यान नहीं रखते, इसको अधिकाधिक बुलाते हैं और हमें नहीं बुलाते, इस पर अधिक स्नेह रखते हैं, किन्तु हमसे स्नेह नहीं करते।' इस प्रकार वह गुण और दोष देखा करता है, इसी कारण उसका अन्तःकरण दिन-प्रतिदिन सत्संग से पिछड़ने लगता है और अन्त में वह विमुख हो जाता है। इसलिए, न तो भगवान में ही मनुष्यभाव देखना और न भगवान के भक्तों में ही मनुष्यभाव की कल्पना करनी चाहिए। क्योंकि भगवान के कोई भक्त दैहिक रूप से अन्ध, अपाहिज, कोढ़ी, वृद्ध या कोई कुरूप होता है, वे सभी देह-त्याग के बाद भगवान के धाम में क्या ऐसे ही अन्ध और अपाहिज रहते हैं? नहीं, ये सब मनुष्य शरीर के भाव हैं। वास्तव में इस शरीर को छोड़कर वह भक्त तो दिव्यरूप हो जाता है, ब्रह्मरूप हो जाता है।

अतः जब हरिभक्त तक में मनुष्यभाव की धारणा नहीं हो सकती, तब परमेश्वर में उसकी कल्पना किस तरह की जा सकती है? इस बात को चाहे आज समझें, तो भी इतना समझना है और चाहे सौ वर्षों में समझें, तो भी इतना ही समझना है। इस बात को

समझकर इसकी दृढ़ता की गांठ बांधे बिना छुटकारा नहीं है। इसलिए सभी हरिभक्त हमारी इस बात को याद रखकर परस्पर करते रहना और जब किसी को अज्ञानवश कुछ बुरा लग जाए, तब उसे यह बात कहकर सावधान कर देना। और, हमारी यह बात नित्य प्रति, दिन में एक बार करना, ऐसी हमारी आज्ञा है। इसे भूलना नहीं, कभी भूलना नहीं।' इतना कहकर श्रीजीमहाराज समस्त हरिभक्तों से 'जय स्वामिनारायण' कहकर हँसते हुए अपने निवासस्थान पर पधारे।

इस प्रकार श्रीजीमहाराज की वार्ता को सुनकर सभी साधुओं तथा हरिभक्तों ने श्रीजीमहाराज को समस्त अवतारों के कारण अवतारी जानकर उनके स्वरूप में दिव्यभाव को अत्यन्त सुदृढ़ बनाया।

॥ इति वचनामृतम् ॥18॥ ॥126॥

॥ श्रीलोया प्रकरणं समाप्तम् ॥

भक्तराज सुराखाचर का दरबार, लोया



यहीं पर बिराजमान होकर भगवान श्रीस्वामिनारायण ने वचनामृतों का उद्‌बोधन किया था।

भक्तराज झीणाभाई का दरबार, पंचाला (जिला : जूनागढ़, गुजरात)



यहीं पर बिराजमान होकर भगवान श्रीस्वामिनारायण ने वचनामृतों का उद्बोधन किया था।

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ॥

श्रीपंचाला प्रकरण के वचनामृत

वचनामृत 1 : सुख की मीमांसा

संवत् 1877 में फाल्गुन शुक्ला चतुर्थी (7 मार्च, 1821) को श्रीजीमहाराज श्रीपंचाला ग्रामस्थित झीणाभाई के राजभवन में चबूतरे पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर सफ़ेद फेंटा बाँधा था, श्वेत अंगरखा पहना था, सफ़ेद धोती धारण की थी, श्वेत पिछौरी ओढ़ी थी और मस्तक के फेंटे का पेच दायीं ओर लटक रहा था। उनके समक्ष परमहंस तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय सन्ध्याकालीन आरती हो चुकी थी। फिर श्रीजीमहाराज तकिया पर विराजमान होकर बोले कि 'हम इन सब बड़े परमहंसों तथा बड़े हरिभक्तों से प्रश्न पूछते हैं कि भगवान के प्रति प्रेम हो तथा धर्म में दृढ़ता हो, फिर भी यदि कोई भक्त विचारशील न हो, तो अति श्रेष्ठ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि पंचविषय, अत्यंत कनिष्ठ प्रकार के शब्दादिक पंच-विषयों के समान नहीं लगते अथवा उन कनिष्ठ पंचविषयों से भी अत्यन्त बदतर नहीं लगते। अतः वह कौन-सा विचार है कि जिससे अति श्रेष्ठ पंच-विषय भी अतिशय कनिष्ठ पंचविषयों के समान लगने लगे? अथवा कनिष्ठ से भी अति बदतर लगने लगे?' यह प्रश्न सभी बड़े-बड़े परमहंसों तथा बड़े-बड़े हरिभक्तों से हम पूछते हैं। अतः जिन्होंने अपने जिस विचार से श्रेष्ठ पंचविषयों को बुरे पंचविषयों के समान जाना हो अथवा उन्हें तुच्छ से भी अति तुच्छ जाना हो, ऐसे अपने विचार बताइए!'

तब समस्त परमहंसों तथा हरिभक्तों ने अपने-अपने विचार प्रकट किए। फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'आप सबके विचार तो हमने सुने, अब हमने जो विचार किया है, वह बताते हैं। जैसे विदेश से किसी का पत्र आया

है, तब वह पढ़कर उस पत्र लेखक की बुद्धि का पता चल जाता है। जैसे पाँच पाँडव, द्रौपदी, कुन्तीजी तथा रुक्मिणी, सत्यभामा एवं जाम्बुवती आदि भगवान की पटरानियाँ तथा भगवान का सांब नामक पुत्र आदि भक्तों के रूपों एवं वचनों का उल्लेख शास्त्रों में किया गया है, उनको सुनकर उनके रूपों का प्रमाण, हमें दर्शन के समान ही होता है और उनके वचनों से उनकी बुद्धि का प्रमाण मिलता है। वैसे ही पुराणों तथा महाभारत आदि ग्रन्थों द्वारा यह सुना जाता है कि भगवान ही इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कर्ता हैं तथा सदा साकार हैं। यदि वे साकार न हों, तो उनमें कर्तृत्व संभव नहीं होता। तथा जो अक्षरब्रह्म है, वह तो उन भगवान के निवास का धाम है। ऐसे दिव्य मूर्ति, प्रकाशमय और आनन्दरूप जो भगवान हैं, वह प्रलय-काल में जो जीव कारणशरीर सहित माया में लीन थे, उनको उत्पत्तिकाल में बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन तथा प्राण देते हैं। वह इसलिए देते हैं कि वह उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ विषयों को भोग सके, साथ ही अपना मोक्ष भी पा सके।

और भगवान ने जीवों के लिए ऐसे भोग एवं भोगप्रद स्थानों की रचना की है। उनमें जो उत्तम पंचविषयों का निर्माण किया है, वे बुरे पंचविषयजन्य दु:खों की निम्नता दर्शाने के लिए किया है। जैसे कोई बड़ा साहूकार गरीबों की भलाई के लिए सड़क के दोनों ओर छाया के लिए वृक्षारोपण कराता है, पानी पिलाने के लिए जगह-जगह प्याऊ की व्यवस्था कराता है, अन्नदान के लिए सदाव्रत खुलवाता है और ठहरने के लिए धर्मशाला बनवाता है, वैसे ही ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्रादि देव उन भगवान के सामने भीषण अकाल के समय के उन दीनजनों की तरह हैं, जो पीपल वृक्ष के बट्टे पकाकर खाते हैं! उन ब्रह्मादि देवों तथा मनुष्यों के सुख के लिए भगवान ने उत्तम पंचविषयों की रचना की है। परन्तु अनुमान से यही ज्ञात होता है कि जिस साहूकार ने गरीबों की सुविधा के लिए सदाव्रत तथा धर्मशाला आदि की ऐसी सुव्यवस्था कर रखी है, तो उसके अपने घर में कितनी उत्तम सुख-सुविधाएँ होंगी! वैसे ही बुद्धिमान पुरुष को यह ज्ञात हो जाता है कि जिन भगवान ने ब्रह्मादि देवों के लिए ऐसे-ऐसे सुखों की व्यवस्था की है, तब भगवान के धाम में इसकी अपेक्षा कितना सर्वोत्कृष्ट आनन्द होगा! इस प्रकार भगवान के धाम के सुख का आधिक्य बुद्धिमान को ज्ञात हो जाता है! जिसके कारण उसे अच्छे विषय

भी बुरे मालूम होने लगते हैं। और, संसार में पशु, मनुष्य, देवता तथा भूत आदि में जहाँ कहीं भी पंचविषय सम्बंधी जो सुख दिखाई पड़ता है, वह सुख धर्मसहित भगवान का किंचित् सम्बंध रहने से दिखाई पड़ता है, जब कि स्वयं भगवान से मिलनेवाला जो सुख है, वह कहीं और किसी में भी नहीं है। जैसे यह मशाल जलती है, उसके समीप जितना प्रकाश है, उतना प्रकाश उससे थोड़ी दूर जाने पर नहीं दिखता और उससे अधिक दूरवर्ती स्थान पर तो वह बिल्कुल नहीं दीख पड़ता। वैसे ही अन्य स्थल में किंचित् सुख तो मिलता है, परन्तु सम्पूर्ण सुख भगवान के सान्निध्य में ही उपलब्ध रहता है। और, भगवान से जितनी ही दूरी बढ़ती जाती है, उतनी ही सुख में कमी भी होती रहती है। इसलिए, मुमुक्षु अपने हृदय में यह विचार करे कि 'मैं भगवान से जितना दूरी बढ़ाता रहूँगा, उतना ही मुझे दुःख मिलेगा और मैं महादुःखी हो जाऊँगा। जबकि भगवान के साथ थोड़ा सम्बंध रहनेमात्र से ही ऐसा सुख मिलता रहता है, तो मुझे भगवान के साथ अधिकाधिक सम्बंध बनाए रखना है। और यदि मैं उनके साथ अतिशय सम्बंध बनाए रखूँगा, तो मुझे उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति होगी।' ऐसा विचार करके, और भगवान सम्बंधी सुख का लोभ रखकर जो भक्त भगवान के साथ अतिशय सम्बंध रखने का उपाय करता रहता है, उसे ही बुद्धिमान कहा जाता है। तथा **पशु के सुख से मनुष्य में अधिक सुख है, और उससे अधिक राजा का सुख है, और उससे अधिक देवता का सुख है, और उससे अधिक इन्द्र का सुख है, और उससे अधिक बृहस्पति का, तथा उससे अधिक ब्रह्मा का, उससे अधिक वैकुंठलोक का, और उससे अधिक गोलोक का सुख है और गोलोक से भी भगवान के अक्षरधाम का सुख अत्यन्त ही अधिक है!**

इस प्रकार बुद्धिमान पुरुष को भगवान सम्बंधी अतिशय सुख की प्रतीति होने के पश्चात् पंचविषयजन्य सुख में तुच्छता प्रतीत होने लगती है। वास्तव में भगवान सम्बंधी सुख के समक्ष ब्रह्मादि का सुख वैसा ही है जैसे कि सम्पन्न गृहस्थ के घर पर कोई रंक ठीकरा लेकर भीख माँगने आया हो!

और, उन भगवान के धाम के आनन्द पर जब हम विचार करते हैं, तब अन्य समस्त सुखों के प्रति हमें उदासीनता हो जाती है, और मन में ऐसा होने लगता है कि 'इस देह को छोड़कर उस आनन्द को कब प्राप्त करेंगे!'

यदि स्वाभाविक रूप से पंचविषयों को हम ग्रहण करते हैं, तो उन पर कोई अधिक विचार नहीं होता, परन्तु जब उन विषयों की कुछ श्रेष्ठता प्रतीत होती है, तब तुरन्त ही भगवान के आनन्द की ओर दृष्टि पहुँच जाती है और मन अत्यन्त उदास हो जाता है। बुद्धिमान पुरुष ही इन सब बातों को समझ पाता है। अतः बुद्धिमान पुरुष पर हमारा स्नेह बना रहता है, क्योंकि हम बुद्धिमान हैं, इसलिए इस आनन्द के विचार में हमारी दृष्टि पहुँची है। अतएव, बुद्धिमान की भी दृष्टि वहाँ अवश्य पहुँचती है। इस प्रकार हमारा यह विचार, आप सबके विचारों की अपेक्षा हमें अधिक श्रेष्ठ प्रतीत हुआ है। इसलिए हमारे इस विचार को आप सब अत्यन्त दृढ़ता के साथ हृदय में बनाए रखना।

और, इस विचार के बिना रमणीय पंचविषयों में लगी हुई अपनी मनोवृत्ति को अगर बलपूर्वक हटाया जाए, तो वह बड़ी कठिनाई से हट पाती है। किन्तु यदि मुमुक्षु ने उक्त विचार को प्राप्त कर लिया, तो उसे ऐसी निकृष्ट मनोवृत्ति को मिटाने में लेशमात्र भी प्रयास नहीं करना पड़ता और उसे सहज ही पंचविषयों की तुच्छता प्रतीत होने लगती है। यह हमारी बात, उसी को समझ में आती है, जिसे अधिक बुद्धि हो, तथा जो अधिकाधिक सुखप्राप्ति का लोभी हो। जैसे कि कौड़ी की अपेक्षा पैसे का अधिक महत्त्व है, उससे अधिक रुपये का, उससे विशेष स्वर्ण मोहरों का और उससे अधिक चिन्तामणि का महत्त्व बना रहता है, वैसे ही पंचविषयजन्य सुखों की अपेक्षा भगवान के धाम में भगवान का आनन्द अति अधिक है। अतः जो बुद्धिमान हो, और जिसकी दृष्टि भगवान के आनन्द में पहुँच गई हो, उसके हृदय में यह विचार दृढ़ होकर जमता है। और यह विचार जिसके हृदय में ऐसी दृढ़ता से गड़ गया हो, फिर वह यदि वन में बैठा हो, तो भी स्वयं को मानता है कि 'मैं असंख्य मनुष्यों तथा राज्य-समृद्धि से घिरा हुआ हूँ।' इस प्रकार वह स्वयं को सुखी समझता है, न कि दुःखी! और, वह यदि इन्द्रलोक में गया हो, फिर भी यह मानता है कि 'मैं वन-जंगल में बैठा हूँ।' लेकिन वह स्वयं को इन्द्रलोक के सुखों से सुखी नहीं समझता! वह ऐसे सुखों को तुच्छ समझता है। अतः इस विचार को हृदयस्थ करके सब ऐसा निश्चय कर लेना कि 'अब हमें सीधे भगवान के धाम में ही पहुँचना है, परन्तु बीच में कहीं भी तुच्छ पंचविषय सम्बंधी सुख के लोभ में नहीं फँसना है।' इस प्रकार सभी अपने

मन में दृढ़ निश्चय रखिएगा। यही हमारा सिद्धांत है, जिसे हमने आप सबको बताया है, अतः उसे दृढ़तापूर्वक अपनाये रखना।'

॥ इति वचनामृतम् ॥1॥ ॥127॥

वचनामृत 2 : सांख्य-योग

संवत् 1877 में फाल्गुन शुक्ला सप्तमी (10 मार्च, 1821) को श्रीपंचाला ग्राम-स्थित झीणाभाई के राजभवन में चबूतरे पर पलंग बिछा हुआ था, उस पर श्रीजीमहाराज विराजमान थे। उन्होंने सिर पर श्वेत फेंटा बाँधा था, सफ़ेद धोती धारण की थी तथा श्वेत पिछौरी ओढ़ी थी। उस समय श्रीजीमहाराज के समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'मोक्षधर्म का ग्रन्थ मँगवाइए, तो सांख्य के अध्याय तथा योग के अध्याय की कथा करवाएँ!' आज्ञा के अनुसार ग्रन्थ लाया गया। नित्यानन्द स्वामी ने कथा करना प्रारम्भ किया। उस समय श्रीजी-महाराज कहने लगे कि 'योगमत में जीव और ईश्वर तत्त्व को पच्चीसवां कहते हैं और परमात्मा को छब्बीसवाँ तत्त्व बताते हैं। सांख्यमत में चौबीस तत्त्वों में जीव और ईश्वर की गणना करते हैं और पच्चीसवाँ तत्त्व परमात्मा को कहते हैं। उनमें योगमतानुयायियों का ऐसा मत है कि आत्मा-अनात्मा के सम्बंध में चाहे कैसा ही विचार करें, साधना करें, परन्तु प्रत्यक्ष भगवान का आश्रय ग्रहण किए बिना मोक्ष नहीं होता। जबकि सांख्यमत का सिद्धान्त है कि जो पुरुष देव-मनुष्यादि की गतियों को जानकर और विषयों से वैराग्य पाकर तीन देहों से परे जो आत्मा है, उसको जाने तभी वह मुक्त हो सकता है। ये दो प्रकार के जो मत हैं, और इनमें जो अपनी त्रुटियाँ हैं, उसका निवारण करने के लिए युक्ति का ग्रहण करना चाहिए।

योगमत में दूषण यह है कि जीव और ईश्वर को पचीसवें स्थान पर बताया गया है तथा जीव एवं ईश्वर दोनों के शरीर भी चौबीस तत्त्वों के कहे गए हैं। अतः इन दोनों में तुल्यभाव आ जाता है। जैसे कि स्थूल और विराट तुल्य हैं, सूक्ष्म एवं सूत्रात्मा तुल्य हैं, कारण तथा अव्याकृत तुल्य हैं, जाग्रत तथा स्थिति अवस्था तुल्य हैं, स्वप्न तथा उत्पत्ति अवस्था तुल्य हैं, सुषुप्ति और प्रलय अवस्था तुल्य हैं, और विश्व, तैजस और प्राज्ञ एवं विष्णु, ब्रह्मा तथा

शिव तुल्य हैं। ऐसा समझकर योगमत वाले छब्बीसवें तत्त्व स्वरूप परमात्मा को भजते हैं। इस प्रकार जीव और ईश्वर में तुल्यभाव रूप दोष को टालने के लिए किसी अभिज्ञ से युक्ति सीखना कि 'ईश्वर के देह के जो पंचभूत हैं, उनकी महाभूत संज्ञा है। वही भूत समस्त जीवों के शरीरों को धारण कर रहे हैं; और, जीव की देह में जो पंचभूत हैं, वे अल्प हैं और अन्य को धारण करने में वे समर्थ नहीं हैं। तथा जीव अल्पज्ञ हैं और ईश्वर तो सर्वज्ञ हैं।' ऐसी युक्ति सीखकर जीव तथा ईश्वर में तुल्यभाव नहीं समझना चाहिए। यदि ऐसी युक्ति न सीखी हो और कोई प्रतिवादी प्रश्न पूछे, तो उसको उत्तर देने में कठिनाई हो सकती है तथा बुद्धि-विभ्रम हो जाता है। यदि उससे कोई प्रश्न-चर्चा करे, तो वह जीव और ईश्वर में समानता नहीं रहने देगा। इसलिए, ऐसी युक्ति सीखना तथा ऐसे ही वचन सुनना ताकि जीव और ईश्वर में समभाव[1] न आने पाये।

और, सांख्यमत में यह दोष है कि उसमें चौबीस तत्त्व कहे गए हैं तथा परमात्मा को पच्चीसवाँ तत्त्व बताया गया है; तथा उन चौबीस तत्त्वों को मिथ्या कहा गया है और परमात्मा को सत्य बताया गया है; जब ऐसा हो, तो उन परमात्मा को प्राप्त ही कौन कर सकता है? क्योंकि परमात्मा को प्राप्त करनेवाले जीव को तत्त्वों से भिन्न नहीं कहा गया है! अतः इस दोष को मिटाने के लिए किसी बड़े अनुभवी से इस प्रकार युक्ति सीखना कि 'जो ये चौबीस तत्त्व कहे गए हैं, वे जीव-विहीन नहीं हो सकते; अतः उन तत्त्वों के साथ ही जीव और ईश्वर को बताया गया है। यूँ जीव और ईश्वर उन तत्त्वों से पृथक् हैं तथा वे परमात्मा को पाते हैं।' यदि यह युक्ति न सीखी हो और कोई प्रतिपक्षी प्रश्न पूछ बैठे, तो यह संशय हो जाता है कि 'तत्त्व तो मिथ्या हैं। तब परमात्मा को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य आदि जो धर्म बताए गए हैं तथा श्रवण, मनन और निदिध्यास आदि जो साधन कहे गए हैं, उनका प्रयोजन ही क्या रह गया?' इसलिए, तत्त्वों के तादात्म्य को प्राप्त जीव एवं ईश्वर को तत्त्वरूप में भले ही बताया गया हो, परन्तु, वे इन तत्त्वों से अति विलक्षण हैं और वे परमात्मा को भी प्राप्त कर सकते हैं। सांख्यमतानुयायियों को ऐसी युक्तियाँ बड़े अभिज्ञ से सीखनी चाहिए।

---

1. पूर्वापर सन्दर्भों का समन्वय करने से यहाँ 'विषमभाव' शब्द होना चाहिए, परंतु प्राचीनतम प्रतों में भी 'समभाव' शब्द ही प्राप्य है।

और, योगमतानुयायी तो ऐसी युक्ति ग्रहण करते हैं कि 'भगवान के प्रत्यक्ष मूर्तिमान मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, राम तथा कृष्णादिक जो अवतार हैं, उनका ध्यान करने से मोक्ष हो जाता है।' जबकि सांख्यमतानुयायी यह युक्ति ग्रहण करते हैं कि **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** इत्यादि श्रुतिशास्त्रों द्वारा भगवान का जो स्वरूप बताया गया है, उस भगवान को पूर्ण अनुभव से यथार्थ रूप में जाने, तभी मोक्ष होता है। ऐसी युक्ति ग्रहण करते हैं। उपरोक्त दोनों मत अच्छे हैं और बड़े (व्यासादिक) ने भी मान्य किये हैं। और, इन दोनों मतों का यथार्थ रूप से जो कोई पालन करता है, वह परमगति को प्राप्त करता है। इन दोनों मतों में साधन समान बताये गये हैं, परन्तु, उपासना की रीति समान नहीं है, वे अत्यन्त पृथक् है।'

ऐसी वार्ता कहने के बाद श्रीजीमहाराज परमहंसों से बोले कि 'अब कीर्तनगान करिए।' इसके पश्चात् मुक्तानन्द स्वामी आदि परमहंस वाद्य-यंत्रों को बजाकर कीर्तन करने लगे। बाद में श्रीजीमहाराज पुनः बोले, 'अब कीर्तन-गान रोकिए। जब तक आप कीर्तन कर रहे थे, तब तक हमने सांख्य तथा योग के सिद्धान्तों पर विचार किया, उन्हें सुनिए। योगमतानुयायियों का मन्तव्य यह है कि आत्यन्तिक प्रलय के समय अक्षरधाम में भगवान की जो तेजोमय दिव्यरूप मूर्ति है, वह ध्यान करने योग्य है। उससे निम्न कक्षा पर रहे प्रकृति पुरुषरूप भगवान ध्यान करने योग्य हैं। उसके नीचे प्रकृति-पुरुष के कार्य-मूलक चौबीस तत्त्वरूपी भगवान ध्यान करने योग्य हैं। उसके नीचे हिरण्यगर्भ और उसके नीचे चौबीस तत्त्वों से उत्पन्न विराट ध्यान करने योग्य हैं। उसके नीचे ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा पृथ्वी पर अवतरित भगवान के मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, वराहादि अवतार एवं शालिग्राम आदि प्रतिमाएँ ध्यान करने योग्य हैं। ऐसा योगमत का तात्पर्य मालूम हुआ। और, सांख्यमत में झाँकने पर ऐसा ज्ञात हुआ कि उसमें आकारमात्र का खंडन कर दिया है। और ऐसा प्रतीत हुआ कि 'इस सबका विचार करनेवाला जो यह जीव है, उसके समान अन्य कोई शुद्ध नहीं है, इसलिए जीव का ध्यान करना ठीक है।' सांख्यमत का यह दोष दूर हटाने के लिए पुनः योगमत के बारे में सोचा कि ऐसे परात्पर पुरुषोत्तम भगवान का प्रकृतिपुरुषादि में अन्वय-भाव है। इसलिए, वे सब भगवान ही हैं और दिव्यरूप हैं, सत्य हैं एवं ध्येय हैं। इस बात को सुदृढ़ करने के लिए

श्रुति कहती है कि **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म',**[2] **'नेह नानास्ति किञ्चन'**[3] तथा **'इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः।'**[4] इस प्रकार के योगमार्ग का अनुसरण करनेवाले मुमुक्षु के मार्ग में कोई विघ्न उपस्थित नहीं होता, क्योंकि वह स्थूल मार्ग है और उसमें प्रत्यक्षमूर्ति भगवान का आलम्बन है। इसलिए, सामान्य प्रकार का मुमुक्षु भी उस मार्ग द्वारा निर्विघ्न होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

परन्तु, इस योगमार्ग में एक दोष यह है कि उन सबसे परे जो पुरुषोत्तम भगवान हैं, उनमें तथा प्रकृतिपुरुषादि में इस प्रकार अंश-अंशीभाव आ जाता है कि भगवान के अंश प्रकृति-पुरुष हैं तथा उनके अंश हिरण्यगर्भ और विराट आदि हैं। इस प्रकार समझने में बड़ा दोष होता है, क्योंकि भगवान अच्युत, निरंश, निर्विकार, अक्षर एवं अखंड हैं। उनके स्वरूप में च्युतभाव तथा अंशअंशी भाव का दोष आने देना नहीं चाहिए और ऐसा समझना चाहिए कि 'उन भगवानसदृश तो भगवान ही हैं तथा अन्य प्रकृतिपुरुष आदि उनके भक्त हैं और उनका ध्यान करते हैं। इसलिए, वे भी भगवानरूप हैं। जैसे कोई बड़े सन्त हों और वे भगवान का ध्यान करते हों, तो वह भगवानरूप माना जाता है, वैसे ही वे प्रकृतिपुरुषादि भी भगवानरूप हैं। उन सबसे परे पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्धरूप होते हैं तथा राम, कृष्ण आदि अवतारों को ग्रहण करते हैं। इसलिए वे ध्यान करने योग्य हैं।' यदि ऐसा समझा जाए, तो यह योगमार्ग अतिशय निर्विघ्न तथा श्रेष्ठ है।

और, सांख्यमत में यह दोष है कि वह ऐसा कहता है कि 'अन्तःकरण तथा इन्द्रियों द्वारा जो-जो पदार्थ ग्रहण किए जाते हैं, वे सब मिथ्या हैं, परन्तु अनुभव द्वारा जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सत्य है।' इस प्रकार, वह

---

2. **अर्थ :** 'यह समस्त जगत ब्रह्म यानी ब्रह्मात्मक है।' (छान्दोग्य : 3/14/1)
3. **अर्थ :** 'इस जगत में जो कुछ दृश्यमान है, सर्वत्र भगवान का निवास है, इसके बिना विविध पदार्थों का मानों अस्तित्व ही नहीं है!'
(बृहदारण्यकोपनिषद् : 4/4/19)
4. **अर्थ :** 'यह समग्र विश्व भगवानरूप है, स्वरूप तथा स्वभाव से भगवान विश्व-विलक्षण हैं, तथापि भगवान से ही जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है, इसलिए जगत भगवान है, ऐसा कहा जाता है। वस्तुतः भगवान विश्व से विलक्षण हैं।' (श्रीमद्भागवतम् : 1/5/20)

आकारमात्र को मिथ्या कर डालता है। उसके साथ जीव के कल्याण के लिए प्रकट हुए भगवान के रूप को और अनिरुद्ध, प्रद्युम्न एवं संकर्षण के रूपों को भी मिथ्या कर देता है, केवल निर्गुण वासुदेव का ही ग्रहण करता है; ऐसा यह बड़ा दोष है। इसलिए सांख्यमतानुयायी यदि ऐसा समझ लें तो ठीक रहेगा कि 'सांख्यविचार को ग्रहण करके प्रकृतिपुरुष से जो-जो उत्पन्न हुआ, उसे मिथ्या करके अपनी आत्मा को सबसे पृथक् शुद्ध ब्रह्मरूप मानकर जीव के कल्याण के लिए प्रकट हुए भगवान के रूप को सत्य जानकर उनका ध्यान करना चाहिए।' इस प्रकार ये दो विचार यदि कोई हमारे समान महान अभिज्ञ से सीखेगा, तो सीख पाएगा, अन्यथा शास्त्रों को पढ़ने और सुनने पर भी ये विचार समझ में नहीं आ पाते। यथार्थतः बात यह है कि प्रथम सांख्य-विचार द्वारा जो ब्रह्मरूप हुआ हो, उसके लिए योग का यह उपदेश बताया गया है कि -

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥[5]

तथा

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥[6]
परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे! आख्यानं यदधीतवान्॥[7]

---

5. **अर्थ :** 'जो ब्रह्मरूप हुआ है, और प्रसन्नमन है, अर्थात् क्लेश-कर्मादि दोषों से जिसका मन कलुषित नहीं हुआ है, और, जो किसी पर भी शोक नहीं करता, किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं करता तथा समस्त प्राणियों में समभाव रखता है, अर्थात् जिसको अपनी आत्मा का 'ब्रह्मरूप' से साक्षात् अनुभव हुआ हो, वही मेरी परा भक्ति में अधिकार प्राप्त करता है।' (गीता : 18/54)
6. **अर्थ :** 'आत्माराम तथा रागद्वेषादिरूप ग्रन्थियों से रहित मुनि भी भगवान की निष्काम भक्ति करते हैं। ऐसे भगवान में कारुण्य, सौशील्य एवं वात्सल्यादि गुण रहे हैं।' (श्रीमद्भागवतम् : 1/7/10)
7. **अर्थ :** 'हे राजर्षे! सत्त्वादि गुणों के कार्यभूत तीन देहों से विलक्षण आत्मस्वरूप में सम्यक् रूप से निष्ठा प्राप्त करके भी मैं (शुकदेव) उत्तमश्लोक भगवान की लीला से आकृष्ट होकर श्रीमद्भागवत को पढ़ चुका हूँ।' (भागवतम् : 2/1/9)

इस प्रकार सांख्यमत को योग की अपेक्षा रहती है, क्योंकि ये सांख्य-मतानुयायी विचार करके अपनी आत्मा से व्यतिरिक्त इन पाँच इन्द्रियों तथा चार अन्तःकरणों द्वारा भोग्य विषयभोगों को अतिशय तुच्छ जानते हैं। इसीलिए, वे किसी भी पदार्थ के असर से विस्मित नहीं होते, तथा उनके बन्धन में नहीं आते। जब कोई उनके पास आकर यह कहे कि 'यह पदार्थ बहुत अच्छा है,' तब वे ऐसा विचार करते हैं कि यह पदार्थ चाहे कितना ही अच्छा होगा, फिर भी यह इन्द्रियों तथा अन्तःकरण द्वारा ग्राह्य है। अतः इन्द्रिय-अन्तःकरण द्वारा ग्राह्य पदार्थ असत्य और नाशवान है।' ऐसी दृढ़ समझ सांख्यमतानुयायियों में रहा करती है और वे अपनी आत्मा को शुद्ध मानते हैं। ऐसे सांख्यमतानुयायियों को योगमार्ग द्वारा भगवान की उपासना, ध्यान तथा भक्ति करनी चाहिए। यदि वे ऐसा नहीं करते हैं, तो उनमें अति न्यूनता आती है।

इस प्रकार सांख्यशास्त्र तथा योगशास्त्र के जो सनातन सिद्धान्त हैं, उन पर हमने यथार्थरूप से विचार करके उन्हें बताया है। जो आधुनिक योग और सांख्यमतानुयायी हैं, उन्होंने इन दोनों मार्गों को दूषित कर दिया है। जो योगमतानुयायी हैं, वे जब भगवान को साकार समझते हैं, तब वे अन्य जीवों के आकार तथा ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं रामकृष्णादि अवतारों के आकार एक समान मानते हैं, और सांख्यमतानुयायी जब आकार को मिथ्या समझते हैं, तब वे तीर्थ, व्रत, प्रतिमा, यम-नियम, ब्रह्मचर्यादि धर्म तथा ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं रामकृष्णादि अवतारों का भी खंडन कर डालते हैं। इसलिए, ये आधुनिक सांख्य और योगमतानुयायी इन दोनों मार्गों को छोड़कर कुमार्गगामी हो जाते हैं, इस कारण वे नारकी होते हैं।'

॥ इति वचनामृतम् ॥2॥ ॥128॥

वचनामृत 3 : भगवान के प्रति स्नेह की रीति

संवत् 1877 में फाल्गुन शुक्ला अष्टमी (11 मार्च, 1821) को श्रीजीमहाराज श्रीपंचाला ग्राम में झीणाभाई के राजभवन में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत फेंटा बाँधा था, सफ़ेद धोती धारण की थी और श्वेत दोहर ओढ़ी थी। उनके मुखारविन्द के समक्ष परमहंस तथा विभिन्न

प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'सब परमहंस परस्पर पश्नोत्तर प्रारंभ करें।' तब मुनिबाबा ने ब्रह्मानन्द स्वामी से प्रश्न किया कि 'सत्संग तथा भगवान का ऐसा योग मिला है, तथा अन्य समस्त विकार भी नष्ट हो गए हैं, एवं सत्संग में रहने की गरज़ होने पर भी मान, ईर्ष्या के भाव क्यों रह जाते हैं?'

तब ब्रह्मानन्द स्वामी इसका उत्तर देने लगे, किन्तु यथार्थ उत्तर न दे सके। तब श्रीजीमहाराज बोले कि, 'जो ऐसा है, वह बुद्धिमान ही नहीं है। जो बुद्धिमान होता है, वह अपने में रहरहे सभी अवगुणों को जानता है और गुणों को भी जानता है। साथ ही साथ वह दूसरों के गुणों तथा अवगुणों को भी जानता है। तथा जो बुद्धिहीन है, वह केवल अपने गुणों को ही जानता है, लेकिन अपने अवगुणों को नहीं जानता। और, वह स्वयं को सनकादि सदृश महान मानता है और अन्य बड़ों को अपने से हीन समझता है। परन्तु जो बुद्धिमान है, वह अपने अवगुणों को जानता है कि 'मुझमें इतने अवगुण हैं।' इसके पश्चात् उसको मिटाने का आग्रह रखकर वह उन अवगुणों को मिटा देता है। और, जब अन्य सन्त, उसके उन अवगुणों को टालने के सम्बंध में कुछ बातें करें, तो वह उसे हितकारी मानता है। इसीलिए, उसमें मान, ईर्ष्या आदि अवगुण नहीं रहते। और, किसी में बड़ी बुद्धि मालूम होती हो, परन्तु यदि वह अपने अवगुणों पर ध्यान न देता हो, तो उसकी बुद्धि को व्यावहारिक मानना चाहिए। ऐसी बुद्धि बाहर से बहुत सूक्ष्म दीख पड़ती है, फिर भी उसको बुद्धिमान नहीं कहते; उसे अतिमूर्ख ही समझना चाहिए, क्योंकि उसकी ऐसी बुद्धि उसके मोक्ष के कार्य में उपयोगी नहीं होती! और, किसी में अल्प बुद्धि हो, परन्तु यदि वह अपने अवगुणों को जानकर उन्हें टालने के उपाय करता है, तो उसकी अल्पबुद्धि भी मोक्ष के लिए उपयोगी हो जाती है और वस्तुतः उसी को बुद्धिमान कहना चाहिए। और, जो कभी भी अपने अवगुणों को नहीं देखता और स्वयं के गुणों पर ही जिसकी दृष्टि रहती है, उसे मूर्ख कहते हैं। तथा जो अपने अवगुणों को देखता रहता है, उसे बुद्धिमान कहा जाता है।'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने आज्ञा देते हुए कहा कि 'कीर्तन करें।' तब परमहंस **'सखि, आज मोहन दीठा रे शेरिये आवता रे'** यह कीर्तन

करने लगे। तब श्रीजीमहाराज पुनः बोले कि 'अब कीर्तन बन्द करें। जो यह कीर्तन किया गया, उसमें भगवान के प्रति स्नेह का भाव अधिक दिखाई पड़ता है। उस स्नेह पर हमने विचार किया कि स्नेह करना वाकई एक बड़ी बात है। इस प्रकार के स्नेह द्वारा भगवान की आराधना करना वह ठीक है। परन्तु, भलीभाँति विचार करने पर ऐसा मालूम हुआ कि स्नेह ही भगवान की माया है, क्योंकि जब स्त्रियाँ परस्पर बोलती हों, देखती हों और स्पर्श करती हों, तब उसमें अन्य प्रकार का स्नेह रहता है, तथा पुरुष जब परस्पर बोले, देखे और स्पर्श करे, तो उसमें दूसरे प्रकार का स्नेह रहता है। और, पुरुष जब स्त्री को देखता हो, आलिंगन करता हो, उसकी वार्ता सुनता हो, उसके शरीर की सुगन्ध ग्रहण करता हो और उससे बात करता हो, तो उसके साथ उसका अन्य प्रकार का स्नेह रहता है। उसके फलस्वरूप स्त्री के प्रति पुरुष का मन आकर्षित हो जाता है, किन्तु वैसा स्नेह किसी पुरुष को अन्य पुरुष के प्रति नहीं होता। इसी प्रकार, जब कोई स्त्री किसी पुरुष को देखती हो या आलिंगन आदि करती हो, तब उस पुरुष के साथ ऐसे सम्बंध रहने से उस स्त्री को उस पुरुष से जैसा प्रेम हो जाता है और उसका मन उसके प्रति समग्ररूप से जितना अधिक आकृष्ट हो जाता है, वैसा आकर्षण उस स्त्री को अन्य स्त्री के प्रति नहीं होता। अतः **जिससे जगत का प्रवाह चलता रहता है और जो जीव को संसृति और बन्धन में डालती है, ऐसी भगवान की जो माया है, वही स्नेह स्वरूप दिखती है।**

बाद में ऐसा विचार हुआ कि 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक जो पंचविषय हैं, उन्हें यदि अन्य स्थान से मिथ्या करके एकमात्र भगवान में ही आत्यन्तिक सुख मानते हुए जोड़ दिया जाए, तो वे ठीक हैं और वह माया नहीं हैं।' इसके पश्चात् उसके सम्बंध में यह विचार भी हुआ कि यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि किसी दूसरे व्यक्ति में भगवान के रूप से अधिक रूप, अधिक स्पर्श, अधिक रस, अधिक गन्ध तथा अधिक शब्द दिखाई पड़े, तो भगवान को छोड़कर उसके प्रति स्नेह हो जाता है। उदाहरणार्थ - श्रीकृष्ण भगवान की सोलह हज़ार एक सौ स्त्रियाँ थीं। वे जन्मान्तर में अप्सराएँ थीं। उन्होंने ब्रह्मा से वर माँगा कि 'हे महाराज! हमने देवों, दैत्यों और मनुष्यों का तो स्पर्श किया है, परन्तु नारायण का पति-भाव से स्पर्श नहीं किया है।

अतएव, ऐसी कृपा कीजिए कि वे हमारे पति हो।' तब ब्रह्मा ने कहा कि 'तुम सब तप करो, उसके फलस्वरूप नारायण तुम्हारे पति होंगे।' इसके पश्चात् उन्होंने भारी तप किया। फलस्वरूप उन पर अष्टावक्र ऋषि तथा नारद मुनि प्रसन्न हुए और उन्होंने वरदान दिया कि नारायण तुम्हारे पति होंगे। इस प्रकार, जन्मान्तर में उन्होंने भारी तप करके श्रीकृष्ण भगवान को प्राप्त किया था। फिर भी, जब उन्होंने भगवान की अपेक्षा साम्ब, जो भगवान का पुत्र था, में अधिक रूप देखा, तो वे उसके प्रति मोहित हो गईं। इसीलिए, यह कहना पड़ेगा कि जिसकी स्थिर मति न रहती हो, उसे पंच इन्द्रियों के सुख-सम्बंधों द्वारा भगवान से प्रीति करना उचित नहीं है। जिसकी मति केवल निस्तर्क भाव से रहा करती हो, उसके लिए यह बात ठीक है।

और, जो बुद्धिमान हो, उसे भगवान से स्नेह कैसे करना चाहिए? तो चौबीस तत्त्वों से अपने जीव को पृथक् जानना चाहिए, और उस जीव में पनपी हुई पंच इन्द्रियों की वृत्तियों को मूलतः हटाकर, बिना इन्द्रियों की वृत्तियों के जीवसत्तारूप से रहते हुए निर्गुणभाव से भगवान से यथासम्भव स्नेह करते रहना चाहिए। यह निर्गुणभाव कैसा है? तो दस इन्द्रियाँ रजोगुण की सम्पत्ति हैं तथा अन्तःकरण एवं देवता सत्त्वगुण की सम्पत्ति हैं और पंचभूत तथा पंचविषय तमोगुण की सम्पत्ति हैं। उन तीन गुणों की इन सम्पत्तियों तथा तीनों गुणों को पृथक् मानकर केवल जीवसत्तारूप से जो रहता है, उसी को निर्गुण कहते हैं। इस प्रकार निर्गुण होकर भगवान से स्नेह करें।

कहा भी गया है कि **'नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः'**[8] तथा

'परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे! आख्यानं यदधीतवान्॥'[9]

इस प्रकार के ज्ञानीजन, क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के रूप को जानकर और स्वयं क्षेत्रज्ञरूप होकर भगवान से प्रीति करते हैं। वह क्षेत्र क्या है? तो स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक तीनों देह तथा जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्तिरूप तीनों

---

8. **अर्थ :** 'गुणातीत, ब्रह्मभावापन्न तथा स्वात्मस्वरूप में रहनेवाले मुनि भी भगवान के गुणानुवाद करते रहते हैं।' (श्रीमद्भागवतम् : 2/1/7)

9. अर्थ के लिए देखिए : वचनामृत पंचाला 2 की पादटीप-6

अवस्थाएँ, ये सभी क्षेत्र हैं। उन्हें ज्ञानीजन अपनी आत्मा से पृथक् मानते हैं कि 'उन अवस्थाओं तथा देहों के भाव मुझमें कभी नहीं हो सकते। मैं उनका ज्ञाता हूँ और अतिशुद्ध हूँ, अरूप हूँ, अलिंग हूँ, एवं चेतन हूँ, किन्तु क्षेत्र (देह तो) अतिमलिन है, जड है, और नाशवान् है।' यह बात दृढ़तापूर्वक समझकर और इन सबसे विरक्त होकर, स्वधर्मसहित भगवान की भक्ति करना ही एकान्तिकी भक्ति है और ऐसी भक्ति जो कोई करता है, उसी को ज्ञानी कहा जाता है। वह ज्ञानी सबसे श्रेष्ठ है। भगवान ने भी कहा है :

'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्॥'[10]

ऐसा समझकर जीव में से इन्द्रियों, अन्तःकरण के भाव और पंच-विषयों की जड़ों को उखाड़कर भगवान से स्नेह करना ही उचित है। जब तक इनकी जड़ों को नष्ट न कर दिया गया हो, तब तक इन इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से भगवान का दर्शन एवं स्पर्शादिरूपी काम लेते रहना चाहिए, परन्तु इन्हें अपना हितैषी नहीं किन्तु शत्रु समझना चाहिए। और, उनके प्रति सद्भाव नहीं रखना कि 'वे भगवान की भक्ति में सहायक होते हैं।' हालाँकि नेत्रों द्वारा भगवान के दर्शन होते हैं, श्रवणेन्द्रिय द्वारा भगवान की कथा सुनी जाती है, त्वचा द्वारा भगवान का स्पर्श होता है, नासिका द्वारा भगवान की माला तथा तुलसी की सुगन्ध ली जाती है, मुख द्वारा भगवान का कथा-कीर्तन किया जाता है और जिह्वा द्वारा भगवान की प्रसादी का रसास्वादन किया जाता है। इस रूप में वे भगवान की भक्ति में सहायक तो हैं, परन्तु ऐसा मानकर उनके प्रति गुण दृष्टि नहीं रखनी चाहिए, तथा उनका विश्वास भी नहीं करना चाहिए। उन्हें तो शत्रु ही समझना चाहिए। क्या जानें कि वे,

---

10. **अर्थ :** आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी इन चारों भक्तों में हे अर्जुन! ज्ञानी को श्रेष्ठ कहा गया है; क्योंकि वह सदैव मेरे साथ ही सम्बद्ध रहता है तथा एकमात्र मेरी ही भक्ति करता है। अवशिष्ट अन्य तीनों भक्त उसके सदृश नहीं हैं। तथा, ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय हैं और मैं उसे अत्यन्त प्रिय हूँ। यह तीन प्रकार के आर्तादि भक्त उदार (महान) हैं, परन्तु ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही हैं, इस कारण वे मेरे लिए आत्मवत् प्रिय हैं, मैं ऐसा मानता हूँ।' (गीता : 7/17-18)

भगवान के दर्शन एवं स्पर्शादिक से सुख मानते हुए स्त्री-आदिक के दर्शन-स्पर्शनादिक द्वारा सुख मनवा दें, तो उस जीव का अनिष्ट हो जाए! इसीलिए, उस पंच-इन्द्रियरूपी शत्रु को अपनी कैद में रखकर उससे भगवद्भक्तिरूपी काम लेते रहना चाहिए। जिस प्रकार किसी राजा ने अपने शत्रु को पकड़ लिया हो और वह उसके पैरों में बेड़ी लगाकर उसे बन्धन में डालकर उससे अपना काम लेता है, किन्तु उसे स्वतंत्र नहीं करता और न ही उसका विश्वास करता है। क्योंकि उसे छोड़ देने तथा उसका विश्वास करने पर वह शत्रु, उस राजा को निश्चित रूप से मार डालेगा। उसी प्रकार यदि इन्द्रियरूपी शत्रु का विश्वास कर लिया जाए, उसे छोड़ दिया जाए और नियन्त्रण में न रखा जाए, तो वह उस भक्त को भगवान के भक्तिमार्ग से निश्चित रूप से च्युत कर डालता है। इसलिए, उसका विश्वास नहीं करना चाहिए। जिस तरह अंग्रेज शासक अपराधी को पकड़कर उसे जेल में ड़ालकर उससे पूछताछ करता है, परन्तु उसको छोड़ता नहीं है और उसका विश्वास भी नहीं करता, उसी प्रकार **भक्त को उन इन्द्रियों तथा अन्तःकरण को पंचव्रतों के नियमरूपी जेल के कठघरे में बन्दकर बेड़ी डाल देनी चाहिए और उनसे भगवान की भक्ति करानी चाहिए, किन्तु उनके प्रति गुण नहीं मानना चाहिए, उन पर तो शत्रु-भाव ही रखना चाहिए। यदि उनको भगवान की भक्ति में उपयोगी मानकर अपना हितैषी समझा जाएगा और उनके गुण लिए जाएँगे, तो कदाचित् वे भगवान के दर्शन-स्पर्शादिजन्य सुख की आड़ लेकर स्त्री आदि के सुख की ओर अपना ध्यान आकृष्ट करा दें, तो अपना किया-कराया सबकुछ व्यर्थ हो जाएगा।** जैसे बारूद के बड़े ढेर में आग की एक चिनगारी गिरे, तो वह सब बारूद भस्म हो जाती है ठीक वैसे उसका कोई ठिकाना नहीं रहता।

अतः **केवल आत्मारूप होते हुए भगवान से स्नेह हो, वही ठीक है, यह हमारा सिद्धान्त है। इसी प्रकार जो भक्तजन भगवान से प्रेम करते हैं, वही हमें पसन्द आते हैं।**

और, यह विचार भी करना कि 'भगवान में जैसा रूप है, वैसा रूप अन्यत्र नहीं है, भगवान का जैसा स्पर्श है, वैसा स्पर्श अन्यत्र नहीं है, भगवान में जैसी सुगन्ध है, वैसी सुगन्ध अन्यत्र नहीं है; भगवान के श्रवण में जैसा

आनन्द है, वैसा आनन्द अन्यत्र नहीं है तथा भगवान में जैसा रस है, वैसा रस अन्यत्र नहीं है।' इस प्रकार इन्द्रियों तथा अन्तःकरण को भगवान के आनन्द का लोभ दिखाकर अन्य विषयों से पीछे हटाने की युक्ति भी ठीक है।'

फिर स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने पूछा, 'हे महाराज! इन सभी विचारों को किस स्थान में रहकर करना चाहिए?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'अपने हृदय में ऐसा विचार करते रहना चाहिए कि 'स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह तथा कारणदेह, मैं नहीं हूँ, और जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति नामक तीन अवस्थाएँ भी मैं नहीं हूँ और मैं पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ, चार अन्तःकरण तथा उनके देवता आदि नहीं हूँ; मैं तो इन सबसे पृथक् हूँ, चैतन्य हूँ तथा भगवान का भक्त हूँ।' यदि इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण किसी प्रकार कुचेष्टा करें, तो उनसे यह कहना कि 'क्या तुम्हें एकमात्र भगवान का ही रूप देखना है या किसी अन्य का भी रूप देखना है? क्या तुम्हें केवल भगवान का ही शब्द सुनना है तथा गन्ध लेनी है या दूसरों के भी शब्द सुनने हैं और गन्ध लेनी है? यदि तुम भगवान को छोड़कर अन्य विषयों में लिप्त हो जाओगे, तो मेरा तुमसे क्या सम्बंध है भाई? तुम कौन हो और मैं कौन हूँ? मुझे तुमसे कुछ भी लेना-देना नहीं है। तुम जैसा करोगे, वैसा तुम्हें भोगना पड़ेगा।' इस प्रकार इन्द्रियों तथा अन्तःकरणों को उपदेश देकर भगवान से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि 'हे महाराज! हे स्वामिन्! हे भक्तवत्सल! हे दयानिधे! इन्द्रियों तथा अन्तःकरणों का यह दोष है। मैं उनसे पृथक् हूँ। वे मेरे शत्रु हैं। इसलिए, उनसे रक्षा करिएगा।' इस प्रकार निरन्तर प्रार्थना करते रहना और स्वयं को क्षेत्रज्ञ चैतन्यरूप मानकर भगवान से प्रीति और भक्ति करना।'

॥ इति वचनामृतम् ॥3॥ ॥129॥

वचनामृत 4 : मनुष्यभाव में दिव्यभाव

संवत् 1877 में फाल्गुन कृष्णा तृतीया (21 मार्च, 1821) को श्रीजीमहाराज श्रीपंचाला ग्राम स्थित झीणाभाई के राजभवन में चबूतरे पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था, सफ़ेद धोती धारण की थी तथा श्वेत पतली पिछौरी ओढ़ी थी। अपने कर-

कमल में श्रीहरि तुलसी की माला फेर रहे थे। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'सभी परमहंस परस्पर प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ करें।' इसके बाद मुनिबाबा ने ब्रह्मानन्द स्वामी से प्रश्न पूछा कि 'एक भक्त को भगवान के सम्बंध में निश्चय भी हो, तथा वह भजन-स्मरण करता रहता हो, किन्तु भगवान के मनुष्य-चरित्रों को देखकर उसे भगवत्स्वरूप में संशय हो जाता है, इसका क्या कारण है?'

इस प्रश्न का उत्तर ब्रह्मानन्द स्वामी देने लगे, परन्तु वे यथार्थ रूप से उत्तर न दे सके। तब श्रीजीमहाराज काफ़ी देर तक विचार करने के पश्चात् बोले, 'इस प्रश्न का उत्तर हम देते हैं : वेद, पुराण, महाभारत तथा स्मृतियाँ आदि शास्त्रों में अक्षरधाम स्थित भगवान के सनातन, अनादि, दिव्य मूलरूप का वर्णन किया गया है कि वस्तुतः भगवान कैसे हैं! तो इस चक्षु-इन्द्रिय द्वारा दिखाई दे रहे जितने भी रूप हैं, उनके समान भगवान का रूप नहीं है; श्रवणेन्द्रिय द्वारा जितने शब्दमात्र सुने जाते हैं, वैसा भगवान का शब्द नहीं है; त्वचा द्वारा जो कुछ स्पर्श किया जाता है, वैसा उनका स्पर्श नहीं है; नासिका द्वारा जितने प्रकार की सुगन्ध सूँघी जाती है, वैसी उनकी सुगन्ध नहीं है; तथा जिह्वा द्वारा जो कुछ भी वर्णित किया जाता है, वैसे भी वे भगवान नहीं हैं। और, मन के संकल्प से भी भगवान ग्राह्य नहीं हो सकते, चित्त भी भगवान के स्वरूप का वैसा चिन्तन नहीं कर सकता, बुद्धि भगवान के स्वरूप का निश्चय नहीं कर सकती, अहंकार द्वारा भी कि 'मैं इन भगवान का हूँ और वे मेरे हैं,' वैसा अहंभाव नहीं हो सकता। इस प्रकार भगवान इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से अगोचर रहते हैं।

और, भगवान का जैसा रूप है, वैसा रूप इस ब्रह्मांड में ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्त किसी का भी नहीं है कि उनके रूप को किसी की उपमा दी जा सके! तथा उनके जैसे शब्द हैं, जैसी सुगन्ध है, जैसा स्पर्श है और जैसा रस है, वैसे इन पाँचों विषय ब्रह्मांड में अन्य किसी के भी नहीं हैं। वे वास्तव में अनुपमेय हैं। तथा उन भगवान का जैसा धाम है, वैसा स्थान इस ब्रह्मांड में अन्य किसी का भी नहीं है, जिससे उसकी उपमा दी जा सके। सप्तद्वीपों, नौ खंडों में जो-जो स्थान हैं तथा मेरु के ऊपर ब्रह्मादि के अत्यन्त शोभायुक्त जो

स्थान हैं, लोकालोक पर्वत पर जो अनेक स्थल हैं; इन्द्र, वरुण, कुबेर, शिव, ब्रह्मा के जो स्थान हैं और जो भी अन्य अनेक स्थान हैं, उन सबमें ऐसा एक भी स्थान नहीं है, जिसकी उपमा भगवान के धाम को दी जा सके।

और, उन भगवान के धाम में निवास करनेवाले भगवद्भक्तों को जैसा सुख उपलब्ध है, वैसा सुख इस ब्रह्मांड में अन्यत्र कहीं भी नहीं है, जिससे उसकी उपमा दी जा सके। उन भगवान का जैसा आकार है, वैसा आकार इस ब्रह्मांड में और किसी का नहीं है। वे अनुपमेय हैं, क्योंकि इस ब्रह्मांड में पुरुष-प्रकृति से उत्पन्न हुए जितने भी आकार हैं, वे सब मायिक हैं, किन्तु भगवान तो दिव्य एवं अमायिक हैं।

इसी कारण उन दोनों में अतिशय विलक्षणता है, तब मायिक और अमायिक में सादृश्य कैसे हो सकता है? जैसे किसी मनुष्य के सम्बंध में यह कहा जाए कि 'यह मनुष्य भैंस जैसा है, साँप जैसा है तथा चकवा, गधा, कुत्ता, कौवा और हाथी जैसा है,' तो ऐसी उपमा मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है, क्योंकि मनुष्य से भिन्न ये जितने भी जीव हैं, वे सभी विजातीय हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य-मनुष्य में भी अतिशय सदृशता नहीं होती कि जिससे ऐसी उपमा दी जा सके कि 'यह तो इसके समान ही है,' फिर भी यदि वह वैसा ही मनुष्य हो, तो उसकी अलग पहचान कैसे हो सकती है? अतः मनुष्य-मनुष्य में सजातीय होने पर भी विलक्षणता दिखाई देती है। देखिए न, ये दो भक्त भगा और मूला, दोनों ही एकसमान दिखते हैं, फिर भी यदि अधिक दिनों तक कोई उनके साथ में रहे, तो दोनों में से प्रत्येक को पहचाना जा सकता है कि 'यह भगा है और यह मूला है।' यदि विलक्षणता ही न हो, तो किसी को किस प्रकार पहचाना जा सकता है?

अतः जब मनुष्य-मनुष्य में भी सदृशता नहीं है, तो मायिक-अमायिक में सदृशता कैसे हो सकती है कि जिसकी उपमा भगवान से करें, अथवा भगवान के धाम के साथ करें! क्योंकि ये जो भगवान हैं, वे इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के लिए अगोचर हैं।' ऐसा समस्त शास्त्रों में कहा गया है।

वे भगवान जब जीव को अपना दर्शन न देने की इच्छा करते हैं, तब उक्त प्रकार से दिव्यरूप एवं अगोचर होकर अपने अक्षरधाम में रहते हैं। वे भगवान महाराजाधिराज हैं। वे दिव्यरूप असंख्य समृद्धि एवं अगण्य पार्षदों

से युक्त हैं तथा अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के स्वामी हैं।

जैसे कि इस लोक में कोई बड़ा चक्रवर्ती राजा हो, उसका सूर्योदय और सूर्यास्तपर्यन्त राज्य हो तथा वह राजा अपने तपोबल द्वारा देवताओं के सदृश ऐश्वर्यों को प्राप्त करके स्वर्ग-लोक, मृत्युलोक और पाताललोक - इन तीनों लोकों पर शासन करता हों, - जैसे अर्जुन स्वर्ग में सदेह जाकर इन्द्रासन पर कई वर्षों तक आसीन रहे थे। नहुषराजा भी इन्द्र हुआ था। ऐसे प्रतापी चक्रवर्ती राजा के आधीन इतने अधिक गाँव होते हैं कि उनकी गणना ही नहीं हो पाती, क्योंकि ये असंख्य हैं। इसी प्रकार ऐसे गाँव-गाँव के पटेलों की भी गिनती नहीं हो सकती, ऐसे गाँव-गाँव के असंख्य पटेल उनके राजभवन में उनका अभिवादन करने आते हैं और उस राजा के धन, माल, भोगों, स्थानों तथा समृद्धियों की भी जिस प्रकार गणना नहीं हो पाती, वैसे ही भगवान भी असंख्यकोटि ब्रह्मांडरूप गाँवों के राजाधिराज हैं।

ब्रह्मांडरूप गाँवों के मुख्य पटेल तो ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं। जैसे एक गाँव में एक बड़ा पटेल होता है, उसे उस गाँव के सभी लोग आकर नमस्कार करते हैं और उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। वह पटेल राजा को नमस्कार करता है। वैसे ही प्रत्येक ब्रह्मांड में ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीन अग्रणी हैं, तथा अन्य जो उस ब्रह्मांड के देव, दैत्य, मनुष्य, ऋषि और प्रजापति आदि ब्रह्मा, विष्णु और शिव का भजन-स्मरण करते हैं तथा उनकी आज्ञा का पालन करते हैं, लेकिन ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव तो भगवान पुरुषोत्तम को भजते हैं तथा उनकी आज्ञा का पालन करने में तत्पर रहते हैं। प्रत्येक ब्रह्मांड के ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव भगवान से प्रार्थना करते हैं कि 'हे महाराज! कृपा करके आप हमारे ब्रह्मांड में पधारिए।'

जिस प्रकार किसी गाँव का पटेल चक्रवर्ती राजा के समक्ष उपस्थित होकर प्रार्थना करता है कि 'हे महाराज ! मैं गरीब हूँ, आप मेरे घर पधारें, मुझसे आपकी जो कुछ सेवा-चाकरी बनेगी, वह मैं करूँगा।' उसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव भगवान से प्रार्थना करते हैं कि 'हे महाराज! आप दया करके हमें दर्शन दीजिए और हमारे ब्रह्मांड में पधारिए।' तब वे भगवान उस ब्रह्मांड में देह-धारण करते हैं। उन्हें जहाँ जैसा कार्य करना होता है, वहाँ वे वैसी देह धारण करते हैं और तदनुसार आचरण करते हैं। यदि वे देवाकृतिवाली

देह धारण करते हैं, तो देव-सदृश चेष्टा करते हैं तथा पशु-शरीर धारण करने पर पशु जैसा आचरण करते हैं। जब भगवान ने वराहरूप देह धारण की, तब उन्होंने सूँघकर पृथ्वी को खोज डाला था; हयग्रीवरूप धारण करने पर वे घोड़े की तरह हिनहिनाने लगे थे; जब उन्होंने मत्स्य-कच्छपादि जलजन्तुओं की देहों को धारण किया, तब वे जल में ही घूमते रहे, किन्तु उन्होंने पृथ्वी पर भ्रमण नहीं किया; नृसिंहरूप धारण करने पर उन्होंने सिंह की तरह आचरण किया, परन्तु मनुष्यसदृश चेष्टा नहीं की।

और वे भगवान जब मनुष्यदेह धारण करते हैं, तब मनुष्यसदृश ही क्रिया करते हैं। जैसे कि जब सत्‌युग आता है, तब मनुष्य की एक लाख वर्ष की आयु होती है, तब भगवान भी एक लाख वर्ष तक अपनी देह को रखते हैं। उस सत्‌युग के मनुष्य जब मनोवांछित भोगों का उपभोग करते हैं, तब भगवान भी उनके समान भोग भोगते हैं, किन्तु अधिक नहीं। त्रेतायुग में मनुष्य की आयु दस सहस्र वर्ष की होती है। भगवान भी उतने वर्षों तक ही देहकी आयु रखते हैं। द्वापरयुग में मनुष्य की आयु एक सहस्र वर्ष की होती है तथा तत्कालीन मनुष्य में दस सहस्र हाथियों का बल होता है। तब भगवान में भी उतना बल होता है और उतना आयुष्य भी होता है। और, कलियुग में जब भगवान देह धारण करते हैं, तब वे कलियुगी प्रमाण के अनुसार आयुष्य एवं बल धारण करते हैं।

जिस प्रकार बालक गर्भ में आता है और गर्भ के बढ़ने पर उसका जन्म होता है तथा उसके पश्चात् उसकी क्रमशः बाल्यावस्था, युवावस्था एवं वृद्धावस्था होती है और इसके बाद उसकी मृत्यु हो जाती है; उसी प्रकार भगवान भी वैसी ही मनुष्य सदृश चेष्टा करते हैं। जैसे मनुष्य में काम, क्रोध, लोभ, स्वाद, मान, स्नेह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, राग, मोह, सुख, दुःख, भय, निर्भयता, शूरता, कायरता, भूख, प्यास, आशा, तृष्णा, निद्रा, पक्षपात, पराया, अपना, त्याग एवं वैराग्य आदि सूचक स्वभाव होते हैं, वैसे ही ये सभी स्वभाव भगवान द्वारा मनुष्य-देह धारण करने पर उनमें भी दिखाई पड़ते हैं।

भगवान के उस मनुष्य-स्वरूप तथा उनके मूल दिव्यस्वरूप का भी वर्णन समस्त शास्त्रों में किया गया है। जिसने भगवान के इन दोनों स्वरूपों का यथार्थ रूप से श्रवण-मनन करके दृढ़ निश्चय कर लिया हो, उसको तो

भगवान के मनुष्य-स्वरूप में किसी भी प्रकार का संशय नहीं होता। किन्तु जिसकी इस प्रकार की समझ में कोई कसर रह गई हो, उसे भगवान में संशय उत्पन्न हो जाता है। और, वे दिव्यरूप भगवान मनुष्य-शरीर को धारण करते हैं, तब मनुष्य जैसा स्वभाव रखते हैं, किन्तु बुद्धिमान मनुष्य को इतना विवेक अवश्य रहता है कि 'उन भगवान में यद्यपि काम है, परन्तु वह अन्य मनुष्य जैसा नहीं है, तथा क्रोध, लोभ, स्वाद, मान आदि स्वभाव तो हैं, परन्तु वे अन्य मनुष्यों जैसे नहीं हैं,' उनमें जो कुछ दिव्यभाव है, वह बुद्धिमान को समझ में आ जाता है; अतः तदनुसार वह भगवान के स्वरूप का निश्चय करता है।

जैसे शंकराचार्य ने शृंगार-रस के विषय में जानकारी के लिए राजा के शरीर में प्रवेश किया था, तब ठीक उस राजा के समान ही शृंगारिक हावभाव प्रकट किया तथा दैहिक चेष्टा भी उसी के अनुसार की थी। किन्तु रानी बुद्धिमती थी, उसने भाँप लिया कि 'मेरे पति में ऐसा चमत्कार नहीं था। अतः यही प्रतीत हो रहा है कि इस देह में किसी अन्य जीव ने प्रवेश किया है।' वैसे ही मनुष्य देहधारी भगवान में दिव्यभाव प्रतीत होता है, उसी से भगवान का निश्चय हो जाता है।

तब आप यह कहेंगे कि 'भगवान ने किंचित् दिव्यभाव दिखाया और उससे मनुष्य को भगवान के स्वरूप का निश्चय हो गया, फिर यदि वे अधिकाधिक दिव्यभाव दिखाएं, तो अनेक मनुष्यों को ऐसा निश्चय हो जाए!' तो इसका तात्पर्य यह है कि सूर्य को समस्त शास्त्रों में नारायण बताया गया है और वह समग्र मानवजाति को दृष्टिगोचर भी होता है, सभी मनुष्य प्रतिदिन उसका दर्शन करते हैं; फिर भी, उसके दर्शन से मनुष्य को अपने आत्मकल्याण का निश्चय नहीं होता कि 'मेरा कल्याण हो गया।' जबकि मनुष्याकार राम-कृष्णादि अवतारों तथा नारद-शुकादि सन्तों के दर्शन करने से मनुष्य को ऐसा निश्चय हो जाता है कि 'मेरा कल्याण निश्चित रूप से हो गया और मैं कृतार्थ हुआ हूँ।' यद्यपि उन भगवान तथा सन्त में स्वयं का कोई प्रकाश नहीं है, दीप जलाने पर उनका दर्शन होता है, तो भी उसे कल्याण का निश्चय हो जाता है। तथा अग्नि भी साक्षात् भगवान हैं, क्योंकि भगवान कहते हैं :-

'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥'[11]

इसी प्रकार अग्नि के भी सबको दर्शन होते हैं, परन्तु मनुष्य को उससे आत्मकल्याण का निश्चय नहीं होता। जबकि भगवान तथा सन्त के दर्शन से उसे ऐसा निश्चय हो जाता है। इसका क्या कारण है? तो मनुष्य तथा सूर्य-अग्नि में पूरी तरह भिन्नता है। दोनों एक दूसरे से विजातीय हैं। इसलिए उनके दर्शन करने से कल्याण होने का निश्चय नहीं होता। क्योंकि मनुष्य यदि अग्नि का स्पर्श करे, तो वह जलकर मर जाए। जैसे कुन्तीजी ने दुर्वासा के दिए गए मन्त्र द्वारा जब सूर्य को बुलाया, तो सूर्य मनुष्यरूप से उनके पास आये, तभी उसे अंग-संयोग का सुख उपलब्ध हुआ और उसे कर्णरूप गर्भ रहा। परन्तु, यदि सूर्य अपने पूर्ण प्रकाशसहित वहाँ आए होते, तो कुन्तीजी जलकर मर जाती और उन्हें स्पर्शजन्य सुख भी नहीं मिल पाता।

सत्राजित यादव के पास भी सूर्य मनुष्यरूप धारण करके ही आते थे। जब सूर्य कुन्तीजी और सत्राजित के पास आए, तब क्या वे आकाश में नहीं थे? वे आकाश में भी थे तथा अन्य रूप द्वारा वही कुन्तीजी और सत्राजित के पास भी आए थे। यद्यपि उनके पास अपना पूर्ण प्रकाश था, परन्तु वे अपने उस प्रकाश का संकोचन करके मनुष्य की भाँति आए थे। वैसे ही भगवान यदि अपने पूर्ण दिव्यभावसहित जीव को दर्शन दें, तो मनुष्य दुविधा में पड़ जाएगा कि 'यह कोई भूत-प्रेत है? या कुछ और है?' इसलिए भगवान अपने ऐश्वर्यों का संकोचन करके मनुष्य-सदृश होकर ही भक्त को दर्शन देते हैं और वे अपने धाम में भी विराजमान होते हैं। यहाँ उनके मनुष्यरूप के कारण ही भक्त उनके दर्शन, स्पर्श आदि नौ प्रकार की भक्ति कर सकता है। यदि भगवान मनुष्य-सदृश न हों और दिव्यभाव सहित ही रहें, तो उनके प्रति मनुष्यों को स्नेह नहीं होगा तथा उनका सुख भी नहीं मिलेगा। जिस प्रकार मनुष्य-मनुष्य में स्वाभाविक स्नेह होता है और सुख भी मिलता है परन्तु, पशु और मनुष्य में परस्पर उस प्रकार का स्नेह नहीं होता और सुख भी नहीं मिलता। पशु-पशु में ही परस्पर स्नेह होता है और

---

11. **अर्थ :** 'मैं वैश्वानर (जठराग्नि) बनकर समस्त प्राणियों की देहों में रहता हूँ और प्राणियों द्वारा खाये गए चार प्रकार के अन्नों को प्राणापान वृत्ति से समायुक्त होकर पचाता हूँ।' (गीता : 15/14)

सुख भी मिलता है, क्योंकि सजातीय में ही स्नेह होता है, विजातीय में नहीं। वैसे ही, **भगवान भी अपने दिव्यभाव का संकोचन करके अपने भक्त को अपने प्रति स्नेह कराने के लिए मनुष्यरूप धारण करते हैं, किन्तु उसे दिव्यभाव नहीं दिखलाते।** यदि वे दिव्यभाव दिखलायें, तो विजातीय भाव उत्पन्न हो जाता है, जिससे भक्त को उनके प्रति स्नेह नहीं होता और सुख भी नहीं मिल पाता। इसलिए, भगवान जब मनुष्यरूप धारण करते हैं, तब वे अपने दिव्यभाव को छिपाये रखते हैं। अपनी दिव्यता को छिपाये हुए जब कभी वे अति शीघ्रता में कोई कार्य करने लगते हैं, तब उनका दिव्यभाव अचानक प्रकट हो जाता है। कभी-कभी वे अपनी इच्छा से भी अपने किसी भक्त को अपना दिव्यभाव दिखला देते हैं। जब श्रीकृष्ण भगवान भीष्म को मारने के लिए उतावले हुए, तब वे अपने मनुष्यभाव को भूल गए और दिव्यभाव प्रकट हो गया। जिससे पृथ्वी उनके भार को सहन करने में असमर्थ हो गई। तथा, अर्जुन को भी भगवान ने अपनी इच्छा से अपना दिव्यभाव दिखलाया था। किन्तु उस दिव्यभाव को देखकर अर्जुन को कोई आनन्द नहीं मिला और वे अत्यन्त व्याकुल हो गए। बाद में श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन को अपने मनुष्य-स्वरूप का दर्शन कराया, तब अर्जुन आश्वस्त हुए और उन्होंने यह उद्गार प्रकट किया :-

'दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन!
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥'[12]

इसका सारांश यह है कि भगवान का मनुष्यरूप ही जीव के लिए अनुकूल और सुखद रहता है। इसी कारण भगवान जब मनुष्यभाव से आचरण करने लगते हैं, तब जो मनुष्य इस प्रकार की समझ नहीं रखता, उसको भगवान का मनुष्यभाव देखकर भ्रान्ति हो जाती है। **यदि भगवान सदैव अपना दिव्यभाव ही प्रकट करते रहें, तो वे सहज ही मन-वाणी से अगोचर हैं, अतः जीव के लिए बोधगम्य नहीं हो सकते!** इसलिए, शास्त्रों में भगवान के स्वरूप का दो प्रकार से वर्णन किया गया है; उसके अनुसार जिसने भगवान को यथार्थ रूप से जान लिया है, उसको कोई संशय

---

12. **अर्थ :** 'हे जनार्दन! अब मैं आपके इस अतिसौम्य मनुष्यरूप के दर्शन करके स्वस्थ और प्रसन्नचित्त हुआ हूँ।' (गीता : 11/51)

नहीं होता है, किन्तु जो ऐसा नहीं समझता, उसे अवश्य संशय हो जाता है।

और, जो पुरुष यह कहता है, कि 'मैंने भगवान को जान लिया है और मुझे निश्चय भी हो चुका है,' फिर वह यदि इस बात को नहीं समझा, तो यही कहना पड़ेगा कि उसका निश्चय अपरिपक्व है। जैसे कोई श्लोक और भजन वह सीख चुका हो, उससे यह पूछा जाए, कि 'क्या तूने यह श्लोक तथा भजन सीख लिया?' तो वह कहेगा कि 'हाँ, सीख लिया है।' वह कंठस्थ किया गया पाठ बोलकर भी बता देता है। परन्तु, कुछ दिनों के बाद वह उस श्लोक तथा भजन को भूल जाता है। इसका अर्थ यह है कि उसने वह श्लोक और भजन, कंठस्थ तो किया था, पर यथार्थ रूप में नहीं किया था; क्योंकि श्रवण-मनन द्वारा दृढ़ अभ्यास करके उसने इस श्लोक और भजन को हृदयस्थ नहीं किया था; इसी कारण वह विस्मृत हो गया।

कुछ बात बाल्यावस्था में ही सुदृढ़ रूप से अंतःकरण में बैठ जाती है कि युवावस्था तथा वृद्धावस्था में भी उसका काम पड़ने पर उस बात की याद आ जाती है। वैसे ही उसने जब भगवान सम्बंधी निश्चय किया था, तभी उसके निश्चय में कमी रह गई थी। यदि उसमें कोई कमी नहीं रही होती, तथा इस प्रकार पहले से ही श्रवण करके, उसका मनन कर उसी का सुदृढ़ अभ्यास उसके अंदर आत्मसात् हो गया होता, तो उसे कभी भगवान के स्वरूप में संशय होता ही नहीं।'

॥ इति वचनामृतम् ॥4॥ ॥130॥

वचनामृत 5 : निर्मानी-भाव

संवत् 1877 में फाल्गुन कृष्णा अष्टमी (27 मार्च, 1821) को श्रीजीमहाराज श्रीपंचाला ग्राम स्थित झीणाभाई के राजभवन में चबूतरे पर बिछे हुए पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी, गरम पोश की लाल बगलबंडी पहनी थी, मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था और सफ़ेद चादर ओढ़ी थी। उनके समक्ष परमहंस तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

तब स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने प्रश्न किया कि 'किस स्थान पर मान रखना उचित है और किस स्थान पर वह उचित नहीं है तथा किस स्थान पर निर्मानी-भाव उचित है और किस स्थान पर वह उचित नहीं है?'

उत्तर में श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो मनुष्य सत्संग का द्रोही हो तथा परमेश्वर एवं बड़े सन्त के विरुद्ध बातें करता हो, उसके आगे तो मान रखना ही अच्छा है और उसके अभद्र व्यवहार पर उसके प्रति तीखे बाण जैसा वचन बोलना ही ठीक है, किन्तु विमुख के आगे निर्मानी-भाव नहीं रखना ही उचित है। परन्तु, भगवान एवं भगवान के सन्त के समक्ष मान रखना उचित नहीं है। उनके आगे तो मान छोड़कर और दासानुदास होकर निर्मानीभाव से आचरण करना, वही श्रेयस्कर है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥5॥ ॥131॥

वचनामृत 6 : उपासना की दृढ़ता

संवत् 1877 में फाल्गुन कृष्णा नवमी (28 मार्च, 1821) को रात्रि के समय श्रीजीमहाराज श्रीपंचाला ग्राम-स्थित झीणाभाई के राजभवन में चबूतरे पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने सिर पर श्वेत फेंटा बाँधा था, सफ़ेद अंगरखा सहित गरम पोश की लाल बगलबंडी पहनी थी, सफ़ेद धोती धारण की थी तथा श्वेत पिछौरी ओढ़ी थी। उनके समक्ष परमहंस तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'हमने बहुत देर तक विचार किया और समस्त शास्त्रों में दृष्टि की, तब हमें ऐसा ज्ञात हुआ कि 'श्रीकृष्ण जैसा सर्वशक्तिसम्पन्न कोई अन्य अवतार नहीं हुआ है।' क्योंकि अन्य जो अपनी अनन्त मूर्तियाँ भिन्न-भिन्न रूप से रही हैं, उन सबका भाव श्रीकृष्ण भगवान ने अपने स्वरूप में दिखलाया था।

वह किस प्रकार? तो सर्वप्रथम स्वयं श्रीकृष्ण भगवान ने जब देवकी की कोख से जन्म लिया, तब शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण कर उन्हें चतुर्भुज-रूप में दर्शन दिया। जिसके द्वारा उन्होंने लक्ष्मीपति वैकुंठनाथ का भाव अपने स्वरूप में दिखलाया। फिर उन्होंने माता यशोदा को अपने मुख में विश्वरूप का दर्शन करवाया; इससे सहस्रशीर्षरूप द्वारा अनिरुद्धभाव का दर्शन अपने स्वरूप में करवाया। तथा अक्रूर को उन्होंने यमुना के जलाशय में दर्शन दिया, उससे अपने स्वरूप में शेषशायीभाव दिखाया; एवं युद्धस्थल में अर्जुन को विश्वरूप दिखलाया और कहा कि -

'पश्य मे पार्थ ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ॥'[13]

इस प्रकार अनन्त ब्रह्मांडों के दर्शन करवाकर अपना पुरुषोत्तमभाव बताया। इसके उपरांत श्रीकृष्ण ने कहा भी है कि :

'यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥'[14]

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने स्वयं अपना पुरुषोत्तमभाव दिखाया। जबकि गोलोकवासी राधिकासहित श्रीकृष्ण तो वे स्वयं थे। जब वे मृत ब्राह्मण बालक को लेने के लिए भूमापुरुष के लोक में गए, तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को भूमापुरुषरूप में अपना दर्शन करवाया। तथा, श्वेतद्वीपवासी वासुदेव ने स्वयं ही यह अवतार धारण किया था। और, समग्र महाभारत तथा भागवत में उन्हीं श्रीकृष्ण को 'नरनारायण' बताया गया है। इसलिए, श्रीकृष्ण-अवतार में भिन्न-भिन्न रूप से रहीं उन भगवान की मूर्तियाँ, शक्तियाँ तथा ऐश्वर्य समग्र रूप से विद्यमान हैं। इसलिए, वह अवतार अति महान हुआ है। अन्य मूर्तियों में थोड़ा ऐश्वर्य है, परन्तु उसमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य है। अतः कृष्णावतार जैसा कोई अवतार नहीं है, यह अवतार सर्वोत्कृष्ट है। और, अन्य अवतार द्वारा थोड़ी ही शक्ति प्रकट की है, किन्तु इस अवतार द्वारा सम्पूर्ण ऐश्वर्यों तथा शक्तियों को प्रकट किया गया है। इसलिए, यह अवतार सर्वोत्कृष्ट है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण के स्वरूप में जिसकी अचल मति सदैव बनी रहती हो, वह मति कभी भी व्यभिचरित न होती हो, फिर उससे किसी कुसंगवश कभी कुछ अनुचित आचरण हो गया, तो भी उसका कल्याण-मार्ग से पतन नहीं होता, परन्तु उसका कल्याण ही होता है।

इसलिए, आप सब परमहंस हरिभक्त भी यदि इस प्रकार भगवान में उपासना की दृढ़ता बनाए रखेंगे, तो कदाचित् कोई अनुचित आचरण हो गया, फिर भी अन्त में तो कल्याण ही होगा।'

यह बात सुनकर समस्त साधुओं तथा हरिभक्तों ने श्रीजीमहाराज में सर्वकारण भाव जानकर उपासना की दृढ़ता की।

॥ इति वचनामृतम् ॥6॥ ॥132॥

13. अर्थ के लिए देखिए : वचनामृत लोया 7 की पादटीप-14
14. अर्थ के लिए देखिए : वचनामृत लोया 7 की पादटीप-11

वचनामृत 7 : भगवान की योगमाया

संवत् 1877 में फाल्गुन कृष्णा एकादशी (29 मार्च, 1821) को छः घड़ी दिन चढ़ने पर श्रीजीमहाराज श्रीपंचाला ग्राम-स्थित झीणाभाई के राजभवन में चबूतरे पर पलंग बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने सिर पर श्वेत फेंटा बाँधा था, गरम पोश की लाल बगलबंडी पहनी थी, श्वेत धोती धारण की थी और सफ़ेद पतली पिछौरी ओढ़ी थी। उनके समक्ष परमहंस तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज नित्यानन्द स्वामी से श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध की कथा करवा रहे थे। उसमें प्रथम **'जन्माद्यस्य यतः',**[15] यह श्लोक आया। उसका अर्थ किया। उसमें **'यत्र त्रिसर्गो मृषा'** पद का अर्थ स्वयं श्रीजीमहराज करने लगे कि **'भगवान के स्वरूप में माया के तीन गुणों का सर्ग जो पंचभूत, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा देवता आदि त्रिकाल में हैं ही नहीं।'** ऐसा समझना चाहिए। इस श्लोक के पद **'धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्'**[16] अर्थात् जिसने अपने स्वरूपतुल्य धाम के द्वारा माया के सर्गरूप कपट को मिटा दिया है, ऐसा भगवान का परम सत्यस्वरूप है। अतः आत्यन्तिक प्रलय के बाद भगवान का जैसा स्वरूप अक्षरधाम में अनन्त ऐश्वर्य तथा तेज से युक्त रहता है, वैसा का वैसा ही प्रत्यक्ष मनुष्यरूप भगवान का स्वरूप है, ऐसा जाननेवाला भगवान को तत्त्वतः जाननेवाला कहलाता है। उन्हीं प्रत्यक्ष भगवान को मूढ़ जीव मायिक दृष्टि से देखता है; अर्थात् वह उन्हें अपने सदृश मनुष्य मानता है और यह समझता है कि जिस प्रकार मेरा अपना जन्म होता है और जिस तरह मैं बालक, युवा तथा वृद्ध होकर मर जाता हूँ, वैसी ही स्थिति भगवान की भी होती है। और, **जब भगवान के एकान्तिक सन्त के वचन में विश्वास करके निष्कपटभाव से भगवान के चरणकमलों को भजता है, तब उसकी मायिक दृष्टि मिट जाती है। फिर वह भगवान की उसी मूर्ति**

15. **अर्थ :** 'इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय परब्रह्म परमात्मा से होती है।' (श्रीमद्भागवतम् : 1/1/1)
16. यहाँ 'धाम' शब्द भगवान के माहात्म्य-ज्ञानपरक कहा गया है। माया के अज्ञान को मिटाने का सामर्थ्य होने से 'धाम' शब्द से 'अक्षरब्रह्म' अर्थ भी अपेक्षित है।

को परमचैतन्य, सत्, चित् तथा आनन्दमय मानने लगता है। यह बात भी भागवत में कही गयी है :

'स वेद धातुः पदवीं परस्य, दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः।
योऽमायया संततयानुवृत्त्या, भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ॥'[17]

और, भगवान में जो बाल-युवा-वृद्धावस्था के भाव दिखाई देते हैं तथा जन्ममरण के भाव दिखायी पड़ते हैं, वह भगवान की योगमाया के कारण ही दिखाई देते हैं, परन्तु वास्तव में भगवान जैसे हैं, वैसे के वैसे ही हैं।

जैसे कोई नट शस्त्र धारण करके आकाश में इन्द्र के शत्रु असुर योद्धाओं से लड़ने जाता है, बाद में वह टुकड़े-टुकड़े होकर नीचे गिर पड़ता है, इसके पश्चात् उस जादूगर की स्त्री उन टुकड़ों को इकट्ठा करके जल मरती है। इसके बाद थोड़ी देर में ही वह नट आकाश में से पूर्ववत् हथियारों से लैस होकर नीचे आ जाता है और राजा से इनाम माँगकर कहता है कि 'मेरी स्त्री लाइए।' ऐसे नट की माया को भी जब कोई जान नहीं पाता, तो भगवान की योगमाया किस प्रकार समझ में आ सकती है? जो पुरुष नट की माया को जानता है, वह ऐसा मानता है कि 'वह नट न तो मरा है और न जला ही है। वास्तव में वह जैसा है, वैसा का वैसा ही है।' वैसे ही जो पुरुष भगवान के स्वरूप को तत्त्वतः समझता है, वह भगवान को अखंड, अविनाशी तथा वे जैसे परात्पर हैं, वैसा ही मानता है।

जैसे श्रीकृष्ण भगवान ने देहत्याग किया, तब रुक्मिणी आदि उनकी पत्नियाँ भगवान की देह को लेकर जल मरीं; यह देखकर अज्ञानी पुरुषों ने मान लिया कि 'अब उनका नाश हो गया।' किन्तु, जो ज्ञानी थे, उन्होंने जाना कि 'वे यहाँ से अन्तर्धान होकर अन्यत्र दिखाई दिए हैं।' इस प्रकार वे भगवान को अखंडरूप से समझते हैं। स्वयं श्रीकृष्ण ने भी कहा है :

'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥'[18]

---

17. **अर्थ :** 'जो भक्त निष्कपट, अविच्छिन्न अनुवृत्ति से भगवान के चरणकमलों को भजता है, वह भक्त सर्वाधार, अपरिमित ऐश्वर्यवाले चक्रपाणि परमात्मा की पदवी को जानता है, अर्थात् उसको प्राप्त करता है।' (श्रीमद्भागवतम् : 1/3/38)
18. अर्थ के लिए देखिए : वचनामृत लोया 18 की पादटीप-49

अतः मूर्ख पुरुष यदि भगवान को साकार समझता है, तो वह उन्हें केवल मनुष्यसदृश ही मानता है। और, यदि वह उन्हें निराकार समझता है, तो अन्य आकार को जिस तरह मायिक जानता है, वैसे ही भगवान के आकार को भी मायिक मान बैठता है तथा भगवान के स्वरूप में अरूपभाव की कल्पना करता है। अतः मूर्ख को दोनों तरीकों से बात उलटी ही दिखाई पड़ती है। और यदि भगवान का आकार ही न होता, तो आत्यन्तिक प्रलय के समय श्रुति के द्वारा यह क्यों कहा गया कि **'स ईक्षत',**[19] अर्थात् 'वे भगवान देखते थे।' जब भगवान ने देखा, तो उनका नेत्र-श्रोत्रादि अवयव-सहित साकार दिव्यस्वरूप ही था। यह भी कहा गया कि-

'पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् ।'[20]

इस प्रकार पुरुषरूप होकर पुरुषोत्तम ने माया में वीर्य धारण किया। अतः स्पष्ट है कि भगवान पहले से ही साकार थे। और वही पुरुषोत्तम नारायण जब किसी कार्य के लिए पुरुषरूप धारण करते हैं, तब वह पुरुष पुरुषोत्तम के प्रकाश में लीन हो जाता है, और केवल पुरुषोत्तम ही रहते हैं। वैसे ही, जब वे मायारूप होते हैं, तब माया भी पुरुषोत्तम के तेज में विलीन हो जाती है। तब भगवान ही उसी रूप में रहते हैं। इसके पश्चात् भगवान महत्तत्त्वरूप होते हैं, तथा महत्तत्त्व से प्रकट हुए अन्य तत्त्व उसके स्वरूप होते हैं। फिर उन तत्त्वों का कार्य जो विराट है, उसी रूप में होते हैं। फिर विराट पुरुष से प्रकट हुए ब्रह्मादि के रूप में हो जाते हैं तथा नारद-सनकादिरूप होते हैं। इस प्रकार अनेक कार्यों के लिए जिस-जिसमें उन पुरुषोत्तम भगवान का प्रवेश होता है, उन सभी को वे अपने प्रकाश द्वारा लीन करके उस रूप से स्वयमेव सर्वोत्कर्ष भाव के साथ विराजमान होकर रहते हैं। और, जिनमें वे स्वयं विराजमान रहते हैं, उनके प्रकाश को ढाँककर स्वतः अपना प्रकाश प्रकट करते हैं। जिस प्रकार लोहे में रहनेवाली अग्नि लोहे में विद्यमान

---

19. ऐतरेयोपनिषद् : 3/1

20 **अर्थ :** परमात्मा ने पुरुषरूप से माया में वीर्य धारण किया। यहाँ मैथुनीभाव का रूपक ही दिया गया है, वास्तव में महाउत्पत्ति के समय स्त्री-पुरुष के आकार प्रकट न होने के कारण संकल्परूप वीर्य समझना चाहिए। (श्रीमद्भागवतम् : 3/5/26)

शीतलता के गुण को और काले वर्ण को दूर करके स्वयं अपने गुण को प्रकट कर देती है; तथा जैसे सूर्योदय होता है, तब उसके प्रकाश में समस्त तारागणों एवं चन्द्रमादि का तेज विलीन हो जाता है, और एकमात्र सूर्य का ही प्रकाश रहता है, वैसे ही जिनमें भगवान का प्रवेश होता है, उन सभी के तेज को तिरोहित करके वे अपने प्रकाश को ही अधिक रूप से प्रस्तुत करते हैं। और, जिस कार्य के लिए जिसमें उन्होंने स्वयं प्रवेश किया था, उस कार्य को सम्पन्न करने के बाद वे उसमें से स्वतः निकलकर अलग हो जाते हैं। तब तो वह जैसे पूर्व में था, पुनः उसी स्थिति में हो जाता है। उसमें जो अधिक सामर्थ्य पहले दिखाई पड़ता था, वह पुरुषोत्तम नारायण का तेज था, ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार **सर्व के कारण, सदा दिव्य और साकार प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम नारायण की मूर्ति में किसी प्रकार का त्यागभाग नहीं समझना चाहिए, जिस प्रकार शक्कर की मूर्ति में किसी प्रकार का त्यागभाग नहीं करते। तथा जैसी मूर्ति देखी हो; उसी का ध्यान, उपासना, भक्ति आदि करना चाहिए; परन्तु उससे पृथक् अन्य कुछ भी नहीं समझना चाहिए। और उन भगवान में हमें जो देहभाव दिखाई देता है, उसे तो नट की माया की तरह समझना। और, जो इस प्रकार समझता है, उसको भगवान में किसी भी तरह का मोह नहीं होता।** यह वार्ता उसकी समझ में आती है, जिसे ऐसी दृढ़ प्रतीति हो कि 'आत्यन्तिक प्रलय के समय भी भगवान तथा भगवान के भक्त दिव्य साकार रूप से दिव्य भोगों को भोगते हुए अक्षरधाम में ही रहते हैं। वहाँ भगवान का रूप एवं भगवद्भक्तों का रूप अनन्त सूर्य-चन्द्रों के प्रकाश सदृश तेजोमय बना रहता है,' इस प्रकार की जिसकी दृढ़ मति हो, वही इस वार्ता को समझ सकता है।

ऐसे तेजोमय दिव्यमूर्ति भगवान जीवों के कल्याण के लिए तथा जीवों से अपनी नवधा भक्ति कराने के लिए कृपापूर्वक अपनी समस्त शक्तियों, ऐश्वर्यों तथा पार्षदों को साथ में लेकर ही मनुष्यरूप में प्रकट होते हैं। तब भी मर्मवेत्ता पुरुष यही समझते हैं कि अक्षरधाम में भगवान का जैसा स्वरूप रहता है, वैसा ही पृथ्वी पर भी भगवान का मनुष्यस्वरूप रहता है। वे उस

स्वरूप तथा इस स्वरूप में लेशमात्र भी अन्तर नहीं समझते। जिन्होंने इस प्रकार भगवान को जान लिया है, उन्हें ही भगवान के तत्त्वतः ज्ञाता कहा जाता है। और, उनकी ही माया की निवृत्ति हो चुकी, ऐसा कहा जाएगा। और, जो इस प्रकार जानता है, उसे ही ज्ञानी भक्त कहते हैं एवं एकान्तिक भक्त भी उसको कहते हैं।

इस प्रकार जिसको भगवान के प्रत्यक्ष स्वरूप की दृढ़ उपासना हो, और उसको भगवान के स्वरूप में कभी भी मायिकभाव का संशय न होता हो, और कदाचित् उससे कभी किसी कुसंगवश अथवा प्रारब्धकर्म के योग से कुछ अनुचित आचरण हो गया, तो भी उसका कल्याण होता है। इस प्रकार **भगवान को समझने में जिसको संशय बना रहता है, वह यदि ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो, तथा महात्यागी हो, तो भी उसका कल्याण होना अत्यन्त कठिन है।** और, जिसके हृदय में निश्चय की ऐसी दृढ़ ग्रन्थि पड़ गई हो कि 'आत्यन्तिक प्रलय की समाप्ति होने पर भी भगवान साकार रूप में ही विद्यमान रहते हैं,' ऐसी समझ की दृढ़ ग्रंथि जिसके हृदय में पड़ गई फिर उसे यदि शास्त्रोक्त तेजोमय अलिंगभाव का श्रवण हो जाए, या किसी के मुख से ऐसी वार्ता को सुना जाए फिर भी उसको संशय नहीं होता। क्योंकि उसने बात समझ ली है कि 'भगवान सदैव साकार ही हैं, परन्तु निराकार नहीं हैं और वे ही भगवान रामकृष्णादि मूर्तियों को धारण करते हैं।' इस प्रकार जिसकी दृढ़ समझ हो, उसके लिए मान लेना कि उसकी निष्ठा परिपक्व हो चुकी है।'

इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने अपने भक्तजनों की शिक्षा के लिए अपने स्वरूप की जो अनन्यनिष्ठा सम्बंधी वार्ता की, उसे सुनकर समस्त परमहंस तथा हरिभक्तों ने श्रीजीमहाराज के स्वरूप की उसी प्रकार विशेष दृढ़ता की।

॥ इति वचनामृतम् ॥7॥ ॥133॥

॥ श्रीपंचाला प्रकरणं समाप्तम् ॥

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ॥

श्रीगढ़डा मध्य प्रकरण के वचनामृत

वचनामृत 1 : मोह का स्वरूप

संवत् 1877 में ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमा (15 जून, 1821) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सफ़ेद धोती धारण की थी, श्वेत चादर ओढ़ी थी, सिर पर सफ़ेद पाग बाँधी थी तथा श्वेत पुष्पों का हार धारण किया था। उनके समक्ष मुनिमंडल तथा स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे। उस समय परमहंस झाँझ, मृदंग द्वारा भक्तिगान कर रहे थे।

श्रीजीमहाराज ने भजन करनेवालों से कहा कि 'अब भजन स्थगित रखिए तथा प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ कीजिए।' तब मुक्तानन्द स्वामी ने करबद्ध प्रणाम करके श्रीजीमहाराज से पूछा कि 'हे महाराज! मोह का कैसा स्वरूप है तथा मोह निवारण करने का कौन-सा उपाय है?' फिर श्रीजीमहाराज थोड़ी देर तक विचारमग्न रहने के बाद बोले, 'ऐसा प्रतीत होता है कि मन में कुछ भ्रान्ति की - सी स्थिति बनी रहे, वही मोह का रूप है। व्यक्ति के हृदय में जब मोह की वृद्धि होती है, तब मन में विशेष विभ्रान्ति हो जाती है; फिर कर्तव्याकर्तव्य का विवेक नहीं रहता। ऐसे मोह की उत्पत्ति होने के कारणों पर हमने आज ही विचार किया है। आज अर्धरात्रि के समय जब हमारी नींद (योगनिद्रा) उचट गई, तब हम (नक्षत्रों के आधार रूप शिशुमार चक्र देखने के बाद) उत्तर दिशा की ओर मुख करके लेटे हुए थे। उस समय ध्रुवतारा दिखाई दिया। उस पर हमने विचार किया कि 'यह तो उत्तरी ध्रुव है, परन्तु शास्त्रों[1] में

1. सूर्यसिद्धान्त-12/43,74, तथा सिद्धान्तशिरोमणि मध्यमाधिकार, कालमान - अध्याय : 13/14 में दो ध्रुवों का वर्णन किया गया है।

दक्षिणी ध्रुव का भी वर्णन किया गया है, किन्तु प्रश्न यह है कि वह कहाँ होगा?' इतने में हमें दक्षिणी ध्रुव भी दिखाई दिया। जिस प्रकार कुएँ पर पानी खींचने का रहँट होता है, वैसे ही दोनों ध्रुवों के बीच एक विराट रहँट देखा। उस रहँट के मेरु के दो सिरे दोनों ओर ध्रुव की भाँति लगे हुए हैं। जैसे लकड़ी के खम्भों में लोहे की कीलें लगी हुई हों, उसी प्रकार वह रहे हैं। उस रहँट पर जैसे सूत की रस्सी लिपटी रहती है और उस रहँट के साथ पीतल की जैसी फुल्लियाँ जड़ी होती हैं, वैसे ही समस्त तारागण, देवता तथा नवग्रह आदि अपने स्थानरूपी रहँट का आश्रय लेकर रहते हैं, उन सबको देखा।

इसके पश्चात् सूर्य और चन्द्र के उदय एवं अस्त को भी, जो एक ही (मुख्य) स्थान से होता है, देखा। बाद में अन्तर्दृष्टि द्वारा यह भी देखा कि जितने ध्रुव आदि स्थान ब्रह्मांड में हैं, वे सब पिंड में भी हैं। फिर इस देह में स्थित क्षेत्रज्ञ को भी देखा, उस क्षेत्रज्ञ में स्थित पुरुषोत्तम भगवान को भी देखा। उस भगवान के दर्शन करके हमारा मन उनके स्वरूप में पूर्णतः तन्मय हो गया। यह समाधि किसी भी प्रकार से भंग नहीं हुई। इसके पश्चात् कोई भक्त ने हमारी बहुत स्तुति की, तभी उस पर दया करके हमें पुनः शरीर में स्थित होना पड़ा। इसके बाद में हमारे अन्तःकरण में यह विचार हुआ कि 'समाधि में से हम दयावश बाहर निकल कर आए हैं, परन्तु जिन अन्य पुरुषों को समाधि में से बाहर निकलना पड़ता है, उसका क्या कारण होगा?'

तब हमें ऐसा प्रतीत हुआ कि किसी विषय में इसकी आसक्ति है, जो उसको समाधि में से पुनः बाहर खींच लाती है। और, मोह का कारण भी पंचविषय ही हैं। ये विषय भी तीन प्रकार के हैं, जो उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ के रूप में हैं। इनमें से उत्तम विषय की प्राप्ति होने पर उसमें जब कोई अन्तराय (विघ्न) करता है, तब उस पर क्रोध होता है और क्रोध से मोह उत्पन्न होता है। तथा सामान्यतः श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द का तथा त्वचा और स्पर्श का जैसा सदैव सम्बंध बना रहता है; उसी प्रकार पंचविषयों का पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के साथ सम्बंध बना हुआ है। अतः जिस पदार्थ को सामान्य रूप से देखा हो, उसमें से अपनी वृत्ति को तोड़कर यदि उसे भगवान के स्वरूप में रखना हो, तो उसके लिए कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। सहज ही उस विषय से वृत्ति टूट कर भगवान के स्वरूप में तल्लीन हो जाती

है। और, यदि स्त्री आदि का अतिशय रमणीय रूप दिखाई दिया और उसमें चित्तवृत्ति तन्मय हो गई, तो भगवान के स्वरूप में ध्यान लगाने पर भी उसका मन नहीं लग पाता और चित्त भी ठिकाने पर नहीं रहता। अत: जब तक चित्त रमणीय पंचविषयों में आकृष्ट होता है, तब तक मोह नहीं मिट सकता। और, **जब उसे अपना रुचिकर विषय मिले और उसमें चित्त आकृष्ट हो जाए, तब यदि सन्त, गुरु एवं अपने इष्टदेव भगवान उस विषयभोग का निषेध करें, तो वह उन पर भी कुपित हो जाता है; और उनका द्रोह करने लग जाता है, किन्तु उनके वचन को मान्य नहीं रखता। जिसके अन्त:करण में ऐसी वृत्ति बनी हुई हो, उसे मोह कहा जाता है।** भगवान ने गीता में कहा है :

'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥'[2]

श्रीकृष्ण भगवान द्वारा कहे गए ये वचन परम सिद्धान्त के द्योतक हैं।

जब शब्दादि विषयों में से किसी भी विषय में चित्त आसक्त हुआ, तब चाहे कैसा ही बुद्धिमान पुरुष क्यों न हो, उसकी बुद्धि का ठिकाना नहीं रह पाता और वह पशु के समान हो जाता है। अत: मोह की उत्पत्ति होने का कारण उन विषयों में आसक्ति रहती है, वही है।

और जो पुरुष इन विषयों में से अपने मन को हटाने का इच्छुक हो, उसे सर्वप्रथम आत्मनिष्ठा को अत्यन्त सुदृढ़ कर लेना चाहिए कि 'मैं आत्मा हूँ, परन्तु देह नहीं हूँ।' एक तो इस विचार को दृढ़ कर लेना तथा दूसरा - इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय की बात को भी अच्छी तरह समझ

2. **अर्थ :** 'विषयों के ध्याता पुरुष को विषयों में आसक्ति बढ़ती है, तब उसमें काम की उत्पत्ति हो जाती है। काम से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह पैदा हो जाता है। मोह से, इन्द्रिय-विजय के लिए प्रारम्भ किए गए प्रयत्नों में सहायक स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है। स्मृतिभ्रंश होने पर बुद्धि का नाश हो जाता है, अर्थात् आत्मज्ञान के लिए किए गए प्रयासों का नाश हो जाता है। बुद्धि के नष्ट होने से उसका विनाश हो जाता है, अर्थात् वह पुनः संसारचक्र में फँस जाता है।' (गीता : 2/62-63)

लेना चाहिए। तीसरा – भगवान के स्वरूप के माहात्म्य को भी खूब अच्छी तरह जान लेना चाहिए। माहात्म्य का विचार इस प्रकार करना कि 'पंचविषयों की रचना ही भगवान के द्वारा हुई है, अतः भगवान में उनसे भी अधिक सुख समाया हुआ है। उदाहरणार्थ, शब्द में केवल शब्द सम्बंधी सुख ही समाविष्ट है, किन्तु शेष चारों विषयों का सुख शब्द से नहीं मिलता। वैसे ही स्पर्श में स्पर्श का ही सुख प्राप्त होता है, लेकिन दूसरा प्राप्त नहीं होता, रूप में रूप सम्बंधी सुख प्राप्त होता है, दूसरा प्राप्त नहीं होता, ठीक वैसे रस एवं गन्ध में अपने-अपने सम्बंधी सुख ही प्राप्त होता है; परन्तु एक ही विषय में पांचों विषयों का सुख एकसाथ प्राप्त नहीं होता। और, **भगवान के स्वरूप में तो समस्त सुख एकत्र होकर रहते हैं। जैसे कोई केवल भगवान का दर्शन ही कर ले, तो भी वह भक्त पूर्णकाम हो जाता है।** इसी तरह भगवान का स्पर्श आदि भी भक्त को पूर्णकाम करता है। और, विषय सम्बंधी जो मायिक सुख है, वह नाशवान् है किन्तु भगवान सम्बंधी सुख अखंड है। इस प्रकार भगवान के स्वरूप के माहात्म्य का विचार अत्यन्त सुदृढ़ रूप से करें। ये जो तीन विचार हैं, उनके माध्यम से विषयों में से आसक्ति मिट जाती है। जब विषयों से आसक्ति मिटती है, तब विषयों के अच्छे या बुरे होने का कोई भेद ही नहीं रह जाता। उस समय रूपवती या बदसूरत स्त्री दोनों एकसमान प्रतीत होती हैं। ऐसी स्थिति में पशु, पक्षी, लकड़ी, कंडे, पत्थर और स्वर्ण को वह समान भाव से देखने लगता है परन्तु अच्छा पदार्थ देखकर उससे मोह नहीं होता। इस प्रकार जिसे पंचविषयों को भोगते हुए भी उनमें अच्छे या बुरे का बुद्धिभेद नहीं रहता, ऐसा आचरण करनेवाले पुरुष को निर्मोही कहा जाता है। श्रीकृष्ण भगवान ने यही बात गीता में कही है, **'समलोष्टाश्मकाञ्चनः।'**[3]

जिनके ऐसे लक्षण हों, उनके सम्बंध में यह मान लेना कि उन्होंने भगवान के स्वरूप को तत्त्वतः जान लिया है। ऐसा साधक ही अनन्य भक्त है। और, पतिव्रता-रूपी भक्ति का अंग भी उन्हीं का है तथा ज्ञानी भी उन्हीं को जानना चाहिए। भगवान भी उन्हीं के ऊपर प्रसन्न होते हैं। ऐसे भक्त भगवान को अतिशय प्यारे लगते हैं। भगवान ने गीता में कहा है –

---

3. **अर्थ :** 'जसको मिट्टी का पिंड, पत्थर और सुवर्ण तीनों समान हैं।' (गीता : 14/24)

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।'[4]

अतः ऐसे पतिव्रता रूप भक्ति के गुणवाले जो भगवद्भक्त हैं, वे ही भगवान को अत्यन्त प्रिय हैं। ऐसी बात नहीं है कि पतिव्रता रूपी भक्ति के गुण कोई चतुर व्यक्ति ही सिद्ध कर पाता है। वस्तुतः जिसके हृदय में कल्याण की गरज़ हो, उन सभी को ऐसी भक्ति सिद्ध हो जाती है। इस संसार में भोली स्त्रियाँ पतिव्रता होती हैं और कुछ स्त्रियाँ चतुर होने पर भी व्यभिचारिणी होती हैं। अतः कोई चतुर हो या भोला – इसका कोई तालमेल भक्ति के मार्ग में नहीं होता। वह तो जिसे कल्याण की गरज़ हो, वही पतिव्रता रूपी भक्ति का गुण धारण करके भगवान की भक्ति करता है। जहाँ तक अच्छे और बुरे विषयों में समानबुद्धि होने का प्रश्न है, कोई भी व्यक्ति यह समझे कि एक ही दिन में 'मैं ऐसा कर लूँ और निर्मोही हो जाऊँ' परन्तु यह काम इतनी शीघ्रता से होना संभव नहीं है। वह तो धीरे-धीरे प्रयत्न करते रहने से ही हो सकता है। जैसे कुएँ का पानी खींचते हुए उसके किनारे पर लगे हुए पत्थर को भी रस्सी के नियमित घर्षण से काटने के निशान हो जाते हैं। ऐसे निशान यद्यपि लोहे की जंजीरों से भी एक ही दिन के घर्षण में कभी नहीं बनता! अतः कल्याण के लिए प्रयत्न करनेवाले को विषयों के प्रति रहनेवाली आसक्ति को मिटाने में व्याकुल और उद्विग्न मत होना। गीता में इसी बात का प्रतिपादन किया गया है कि **'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।'**[5]

इसलिए, यह चिन्तन करते रहना कि 'इस जन्म में विषयों में जितनी आसक्ति मिट सकती है, मुझे उतनी मिटा देनी है। ऐसी साधना करते हुए भी यदि थोड़ी-बहुत आसक्ति रह गई, तो उसे दूसरे जन्म में मिटाना ही है; परन्तु हम तो भगवान के भक्त हैं, अतः हमें चौरासी लाख योनियों में नहीं जाना है।' इस प्रकार भगवान के भक्त को हिम्मत के साथ धीरे-धीरे मोह की जड़ को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। और, **जब तक अच्छे-बुरे विषयों में समता का भाव उत्पन्न न हो, तब तक भगवान का भक्त साधनदशावाला कहा जाता है। तथा जब श्रेष्ठ-कनिष्ठ विषयों में समता प्रतीत होती हो, तब वह भक्त सिद्धदशा को प्राप्त**

4. अर्थ के लिए देखिए : वचनामृत पंचाला 3 की पादटीप-10
5. अर्थ के लिए देखिए : वचनामृत ग.प्र. 15 की पादटीप-25

हो चुका है, ऐसा समझ लेना चाहिए। जब कोई भक्त विषयों के प्रति रहनेवाली आसक्ति का परित्याग करके सिद्धदशा को प्राप्त कर लेता है, तब उसे कृतार्थ हुआ मान लेना। और वेदों, शास्त्रों, पुराणों तथा इतिहास आदि ग्रथों का यही निष्कर्ष है। हमने जो यह बात कही है, वह समस्त शास्त्रों का रहस्य है। अतः सभी हरिभक्त इस सिद्धांत को अपने हृदय में सुदृढ़ करके रखना।'

॥ इति वचनामृतम् ॥1॥ ॥134॥

वचनामृत 2 : विषयों की उत्पत्ति तथा उनकी निवृत्ति का उपाय

संवत् 1878 में श्रावण शुक्ला तृतीया (1 अगस्त, 1821) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे रेशम की गद्दी पर विराजमान थे। वे श्वेत वस्त्र धारण किए थे और उनके समक्ष स्थान-स्थान के हरिभक्त बैठे थे। उस समय मुनि झाँझ और मृदंग लेकर कीर्तन कर रहे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'अब भजनगान को स्थगित करें। हम कुछ बातें करना चाहते हैं।' फिर श्रीजीमहाराज ने बताया कि 'जिसे आत्यन्तिक कल्याण प्राप्त करना हो तथा नारद-सनकादि के समान साधु बनना हो, उसे यह सोचना चाहिए कि - इस देह में जीव स्थित है। जीव के साथ इन्द्रियाँ और अन्तःकरण हैं तथा इन्द्रियाँ और अन्तःकरण भी भौतिक पंचविषयों से जकड़े हुए हैं। किन्तु जीव ने अज्ञानवश इन्द्रियों एवं अन्तःकरण को ही अपना स्वरूप मान लिया है। वास्तविकता यह है कि जीव, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से भिन्न है। पंचविषय भी अन्तःकरण से अलग हैं, परन्तु पंचविषयों के अभ्यास के कारण अन्तःकरण में पंचविषयों की एकता दिखाई पड़ती है। और, विषयों की उत्पत्ति अन्तःकरण से नहीं, बल्कि इन्द्रियों से होती है। जैसे बहुत तेज़ धूप हो या कड़ाके की ठंड हो तो सबसे पहला असर बाह्य रूप से इन्द्रियों पर होता है। फिर इन्द्रियों द्वारा ही शरीर में उसका प्रभाव पड़ता है; परन्तु दोनों प्रकार की स्थिति का उद्भव शरीर के अन्दर से नहीं होता, उसी प्रकार पंचविषय प्रारंभ में अंतःकरण से नहीं उत्पन्न होते। सर्वप्रथम इन्द्रियों को बाह्यरूप से विषयों का सम्बंध होता है, इसके पश्चात्

ही पंचविषयों का प्रवेश अन्तःकरण में होता है। जैसे शरीर के फोड़े पर दवा लगाने से ही आराम होता है, केवल बातचीत सुनने से आराम नहीं होता। जैसे भूख और प्यास भोजन तथा पानी से ही मिटती है, किन्तु अन्न एवं जल की चर्चा करने मात्र से कुछ नहीं होता। वैसे ही पंच-विषयरूपी रोगों का शमन उसकी औषधि द्वारा ही हो सकता है।

उस रोगोपचार की रीति इस प्रकार है कि जिस समय त्वचा का स्त्री आदि विषयों से स्पर्श होता है, उस समय विषयों का त्वचा द्वारा अन्तःकरण में और अन्तःकरण द्वारा जीव में प्रवेश होता है। जबकि विषयों की उत्पत्ति का मूल स्थान जीव तथा अन्तःकरण भी नहीं है। जिन-जिन विषयों की स्फूरणा अंतःकरण से होती है, वे भी पूर्वजन्म में इन्द्रियों द्वारा बाहर से ही आए हैं। इसलिए विषयों को मिटाने का एकमात्र उपाय यही है कि त्वचा द्वारा स्त्री आदि का स्पर्श नहीं करना चाहिए; नेत्रों से उनका रूप नहीं देखना चाहिए; जिह्वा द्वारा उनकी बात नहीं करनी चाहिए तथा कानों द्वारा उनकी बात भी नहीं सुननी चाहिए। नासिका से उनकी गन्ध भी नहीं लेनी चाहिए। इस प्रकार, पंचइन्द्रियों द्वारा दृढ़तापूर्वक विषयों का परित्याग करें, तो बाहर से विषयों का प्रवाह अंतःकरण में प्रविष्ट नहीं हो पाएगा। जैसे, कुएँ में आनेवाली जलधारा गुदड़ी जैसे मोटे कपड़े की डाट लगाने से बन्द हो जाती है, तभी कुएँ को स्वच्छ किया जाता है; उसी प्रकार से बाह्य इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने से, अन्तःकरण में बाहर से विषयों का प्रवेश नहीं हो पाता। जैसे उदर की बीमारी उदर में औषधि जाने पर ही मिट सकती है, उसी प्रकार से अन्तःकरण में इन्द्रियों द्वारा पहले से ही प्रविष्ट हुए विषयों को आत्मविचार द्वारा मिटा देना चाहिए। वह आत्मविचार इस प्रकार करें कि 'मैं आत्मा हूँ तथा मेरा इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से कोई भी सम्बंध नहीं है।' इस प्रकार दृढ़ विचार रखकर उस चैतन्य में भगवान की मूर्ति को धारण करके, आत्मा के आनन्द से परिपूर्ण रहना चाहिए। जैसे पानी से लबालब भरे हुए कुएँ का जल बाहर से आनेवाली पानी की धाराओं को रोके रखता है, किन्तु जब वह कुआँ खाली हो, तभी बाहर की धाराएँ भीतर आ पाती हैं। उसी प्रकार **आत्मा के आनन्द से भीतर परिपूर्ण रहना तथा पंच इन्द्रियरूपी विषयों के बाह्य मार्ग को बंद रखना; वही कामादि को जीतने का**

सुदृढ़ उपाय है; किन्तु बिना ऐसा किए केवल उपवास द्वारा कामादि को पराजित करना संभव नहीं है। अतः इस विचार को सुदृढ़ करके आत्मसात् करें।'

॥ इति वचनामृतम् ॥2॥ ॥135॥

वचनामृत 3 : रसिक भक्ति एवं आत्मज्ञान

संवत् 1878 में श्रावण शुक्ला चतुर्थी (2 अगस्त, 1821) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे गादी पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंस तथा विभिन्न प्रान्त के हरिभक्त उपस्थित थे, तथा परमहंस झाँझ-मृदंग लेकर कीर्तन कर रहे थे।

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने अपने नेत्रकमलों से संकेत करके कीर्तन समाप्त करवाया; फिर कहा कि 'जो बड़े-बड़े परमहंस हों, वे आगे आकर स्थान लें, हमें बात करनी है।' इतना कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो मुमुक्षु भगवान की साधना करते हों, उन्हें बड़ा पद प्राप्त करने के लिए दो उपाय हैं और उनके पतन के भी दो उपाय हैं। उसे कहते हैं - एक तो रसिक मार्ग से भगवान की भक्ति करना तथा दूसरा आत्मज्ञान। ये दोनों महान पद (मोक्षपद) प्राप्त करने के उपाय भी हैं, तो मुमुक्षु के पतन के कारण भी होते हैं।

इन दोनों में रसिक मार्ग से सहस्रों-लाखों लोग गिर चुके हैं और उस पर चलकर कोई एकाध ही भगवान को पा सका होगा। बड़े आचार्यों ने रसिक मार्ग द्वारा भक्ति कराई है, लेकिन उससे बहुत-से लोगों का अहित हुआ है और भला तो किसी का ही हुआ है। क्योंकि, रसिकमार्ग पर चलते हुए जब कोई भगवान के स्वरूप का वर्णन करता है, तब भगवान के साथ-साथ राधिकाजी, लक्ष्मीजी तथा उनकी सखियों के सौन्दर्य का भी वर्णन किया जाता है; तब तो उनके अंग-अंग का वर्णन होता है, उस वर्णन करनेवाले का मन निर्विकार कैसे रह सकता है? और इन्द्रियों का तो स्वभाव ही है कि वे अच्छे विषयों की ओर आकृष्ट हो ही जाती हैं।

यह कौन नहीं जानता कि तीनों लोकों में राधिकाजी तथा लक्ष्मीजी

जैसा सौन्दर्य किसी स्त्री का नहीं होता! उनकी जैसी मधुर वाणी भी किसी की नहीं होती और उनकी देहों की सुगन्ध भी अत्यन्त चित्ताकर्षक होती है। तब ऐसे लावण्य को देखकर अथवा सुनकर मोह क्यों नहीं उत्पन्न होगा? यह तो होता ही है। ऐसे समय व्यक्ति के मन में यदि लेशमात्र भी विकार उत्पन्न हो गया, तो कल्याण मार्ग से उसका पतन निश्चित है। अतः रसिकमार्ग द्वारा भगवान की उपासना करना अत्यन्त विघ्नकारी सिद्ध होता है।

दूसरा मार्ग है ब्रह्मज्ञान का। ब्रह्मज्ञान के मार्ग पर चलते हुए मुमुक्षु की जो विपरीत मति होती है, वह इस प्रकार होती है कि 'जो ब्रह्म है, वही प्रकृति-पुरुषरूप होता है और बाद में वही ब्रह्म - ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूप हो जाता है। आगे चलकर वही ब्रह्म स्थावर-जंगम का रूप धारण कर लेता है और वही ब्रह्म स्थावरजंगम-रूप आकारों में रहनेवाले जीवों का रूप लेता है।' इस प्रकार ब्रह्मज्ञान को उलटा समझकर वह स्वयं को भी भगवान समझने लगता है। इस समझ के कारण उसकी उपासना-निष्ठा भंग हो जाती है। अतः वह भी भगवान के मार्ग से भटक जाता है। इस तरह ब्रह्मज्ञान में उपासना का खंडित हो जाना, वह सबसे बड़ा विघ्न है। क्योंकि अंततोगत्वा सर्व के कारण तथा समस्त जीवों के स्वामी ऐसे भगवान का ही खंडन हो जाता है। अतः ऐसी समझ रखनेवाले भी कल्याण मार्ग से गिर जाते हैं।

वैसे तो ये दोनों मार्ग कल्याणकारी हैं, परन्तु इन दोनों में विघ्न भी बहुत बड़े हैं। ऐसी स्थिति में कल्याण की इच्छा रखनेवाले को क्या करना चाहिए? यह प्रश्न है। उसका उत्तर दीजिए।'

फिर समस्त परमहंस इस प्रश्न पर विचार करने लगे, किन्तु उत्तर नहीं दे सके। तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर यह है कि जिस तरह अपनी माता, बहन अथवा पुत्री के परम रूपवती होने पर भी उन्हें देखकर, उनसे बातचीत करने पर अथवा उनका स्पर्श करने पर भी मन में लेशमात्र विकार उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही भगवान की भक्त स्त्रियों में माँ, बहन और पुत्री की भावना रहने पर किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हो सकता। रसिक मार्ग द्वारा वह भगवान का भजन करके अभयपद प्राप्त करता है। परन्तु, जिसकी ऐसी समझ नहीं होती, वह भगवान की महान भक्त स्त्रियों को देखकर यदि विकार की दृष्टि से देखने लगता है, तब उसे भारी दोष लग

जाता है। अन्य स्त्री को देखने से जो दोष लगता है, वह भगवान के भक्त का दर्शन करने से टल जाता है, किन्तु भगवान के भक्त को विकार की दृष्टि से देखने से जो दोष लगता है, उसे मिटाने का उपाय शास्त्रों में कहीं भी नहीं बताया गया है। उसी प्रकार भगवान के भक्त पुरुष को देखकर यदि कोई भी स्त्री अनुचित भावना रखने लगती है, तो वह उस पाप से कभी भी मुक्त नहीं हो पाती। इस विषय पर यह श्लोक उल्लेखनीय है :

'अन्यक्षेत्रे कृतं पापं तीर्थक्षेत्रे विनश्यति।
तीर्थक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥'[6]

इस श्लोक का अर्थ यह है कि अन्य स्थान में किया गया पाप भगवान अथवा भगवद्भक्त के सान्निध्य में जाने से मिट जाता है, परन्तु भगवान या उनके भक्त के पास जाकर किया गया पाप तीर्थक्षेत्र में किया गया पाप माना जाता है और वह वज्रलेप हो जाता है।' अतः जिसको रसिकमार्ग द्वारा भगवान की भक्ति करनी हो, उसे हमारी बताई गई बात के अनुसार निर्दोष-बुद्धि रखनी चाहिए।

और, ब्रह्मज्ञान के मार्ग को इस प्रकार समझें कि जो ब्रह्म, निर्विकार तथा निरंश (अखण्डित) है, वह विकार को प्राप्त नहीं होता और उसके अंश भी नहीं बनते। उस ब्रह्म को जो 'सर्वरूप' कहा गया है वह इस प्रकार है कि **'यह ब्रह्म प्रकृति-पुरुष आदि सबका कारण है तथा आधार है और अन्तर्यामी शक्ति द्वारा सबमें व्यापक है।** अतः जो कारण, आधार और व्यापक हो, वह कार्य से पृथक् हो ही नहीं सकता। ऐसी समझ से शास्त्रों में ब्रह्म को 'सर्व-रूप' बताया गया है, किन्तु ऐसा नहीं मानना चाहिए कि वह ब्रह्म ही विकार को प्राप्त कर चराचर जीवरूप हो गया। तथा **उस ब्रह्म से परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण सर्वथा भिन्न हैं और उस ब्रह्म के भी कारण हैं, आधार हैं तथा प्रेरक हैं। ऐसा समझकर उस ब्रह्म के साथ अपनी जीवात्मा का तादात्म्य स्थापित करके परब्रह्म की स्वामी-सेवक भाव से उपासना करें।** इस प्रकार समझने से यही ब्रह्मज्ञान परमपद को प्राप्त करने का निर्विघ्न मार्ग बन जाता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥3॥ ॥136॥

6. अर्थ के लिए देखिए : वचनामृत ग.प्र. 1 की पादटीप-4

वचनामृत 4 : माहात्म्य और श्रद्धा से भगवान का अखंड चिन्तन

संवत् 1878 में श्रावण शुक्ला पंचमी (3 अगस्त, 1821) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे तथा उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्त के हरिभक्तों की सभा हो रही थी। परमहंस तबला, सरोद और सितार बजाकर मल्हार राग में कीर्तन कर रहे थे।

ऐसे समय पर श्रीजीमहाराज बोले कि 'भजन-गान के बदले, चलें, हम परमेश्वर की वार्ता करें।' तब परमहंसों ने कहा, 'अच्छा महाराज!'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि 'यदि कोई मुमुक्षु शास्त्रकथित धर्म का पालन करता हो तथा भगवान की भक्ति भी करता हो; उसके समक्ष आपत्काल उपस्थित हो जाए कि भक्ति की दृढ़ता रखने पर धर्म से विचलित होना पड़े और धर्म की दृढ़ता रखने पर तो भक्ति से विचलित होना पड़े, ऐसे समय में उन दोनों में से वह किसे रखे और किसका त्याग करे?'

तब ब्रह्मानन्द स्वामी बोले कि 'यदि भगवान भक्ति रखने से प्रसन्न रहते हैं, तो उसे भक्ति रखनी चाहिए और वे यदि धर्म का पालन करने से प्रसन्न रहते हैं, तो उसे धर्म का पालन करते रहना चाहिए।'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जिसे भगवान प्रकट मिले हों, उसके लिए तो वही ठीक है कि जिससे भगवान प्रसन्न रहें, उसी तरह का आचरण करे; परन्तु जब भगवान प्रत्यक्ष उपस्थित न हो, तब क्या करना चाहिए?' इस प्रश्न का उत्तर मुक्तानन्द स्वामी देने लगे, परन्तु वे यथार्थ उत्तर नहीं दे पाए।

तब श्रीजीमहाराज ने कहा, 'जब भगवान प्रत्यक्ष उपस्थित न हों, तब यदि आपत्काल आ गया, और कोई न बचा, तब तो भगवान का अखंड रूप से चिन्तन करना। ऐसा करने से वह मुमुक्षु भगवत्पथ से गिरता नहीं है।'

श्रीजीमहाराज ने पुनः प्रश्न किया कि 'भगवान की महिमा जो अतिशय समझता हो और यह मानता हो कि चाहे कितने ही पाप किए हों, परन्तु यदि भगवान का एकबार भी नामस्मरण कर ले, तो उसके सभी पाप जलकर भस्म

हो जाते हैं, ऐसी महिमा समझनेवाले को किस प्रकार दृढ़ता रखनी चाहिए, ताकि वह धर्म-पालन से विचलित न हो जाए?' मुक्तानन्द स्वामी इस प्रश्न का उत्तर देने लगे, परन्तु वे यथार्थ उत्तर न दे सके।

तब श्रीजीमहाराज बोले, 'जो मुमुक्षु भगवान की महिमा को अधिकाधिक समझता हो, वह इस प्रकार समझेगा, तब जाकर वह धर्मपालन की दृढ़ता रख पाएगा। वह समझ इस प्रकार है कि 'मुझे निरन्तर भगवान का चिन्तन करके एकान्तिक भक्त होना है। यदि मेरी वृत्ति काम-क्रोध-लोभादि विकारों में जितनी अधिक बनी रहेगी, उतना ही अधिक मुझे भगवान के चिन्तन में विक्षेप बना रहेगा।' ऐसा समझकर वह कुमार्ग से अत्यन्त भयभीत रहे, और अधर्माचरण में कभी भी प्रवृत्त न रहे, इस प्रकार की समझ रखनेवाला चाहे भगवान का कितना ही माहात्म्य क्यों न समझे, परन्तु वह धर्ममार्ग से कभी भी च्युत नहीं हो सकता। और, भगवान का अखंड चिन्तन होना भी कोई साधारण बात नहीं है। यदि कोई भगवान का चिन्तन करते हुए देह का त्याग करता है, तो वह अति महान पद को प्राप्त कर लेता है।'

फिर ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा, 'कुमार्ग से भयभीत रहकर ऐसी समझ ही रखते हैं, फिर भी भगवान का निरन्तर चिन्तन नहीं रह पाता, इसका क्या कारण है?'

तब श्रीजीमहाराज ने उत्तर देते हुए कहा कि 'भगवान का निरन्तर चिन्तन होता रहे, ऐसी श्रद्धा भी तो चाहिए। यदि ऐसी श्रद्धा नहीं रही तो समझ लें कि उतनी माहात्म्य जानने में भी न्यूनता ही है, और जब माहात्म्य जानने में कमी है, तो भगवान के स्वरूप सम्बंधी निश्चय में भी उतनी ही न्यूनता है। अतः भगवान के स्वरूप का यथार्थ माहात्म्य एवं श्रद्धा जिसके भीतर बनी रही, तो भगवान का निरन्तर चिन्तन भी रहेगा। वह माहात्म्य इस प्रकार जानना चाहिए कि 'भगवान जिस प्रकार प्रकृति-पुरुष से परे हैं, वैसे ही परभाव के साथ प्रकृति पुरुष में आए हैं, फिर भी पूर्ववत् प्रताप से युक्त हैं, तथा प्रकृति पुरुष के कार्यरूप ब्रह्माण्ड में आने पर भी वे भगवान वैसे ही प्रताप से युक्त हैं, परन्तु भगवान की मूर्ति को माया लेशमात्र भी स्पर्श नहीं कर सकती। जैसे अन्य धातुओं के साथ स्वर्ण रखकर पृथ्वी में गाड़ दिया जाए, तो बहुत समय के बाद स्वर्ण के सिवा अन्य सभी धातुएँ मिट्टी के साथ

मिट्टी हो जाती हैं। परन्तु स्वर्ण और भी विशुद्ध होता रहेगा, घटेगा नहीं। वैसे ही भगवान तथा अन्य ब्रह्मादिक देवता एवं मुनि कभी एक समान नहीं हैं। क्योंकि जब विषयरूपी मिट्टी का योग उपस्थित होता है, तब भगवान के सिवा अन्य देवादिक, भले ही कितने ही बड़े क्यों न हों, विषय में एकरस हो जाते हैं। परन्तु, भगवान यद्यपि मनुष्य-जैसे दिखाई पड़ते हैं, फिर भी उनके समक्ष कोई भी मायिक पदार्थ बाधा डालने में समर्थ नहीं हो पाता तथा वे किसी भी प्रकार के विषयों में कभी भी लिप्त नहीं होते।' ऐसा भगवान का अलौकिक सामर्थ्य है। इस प्रकार भगवान का माहात्म्य जानने पर भगवान के भक्त को भगवान का अखंड चिन्तन होता रहता है। और, **जब तक विषय में बद्ध जाता है, तब तक यही मानना चाहिए कि वह भक्त भगवान की अलौकिक महिमा को समझ ही नहीं पाया है।** और, भगवान ने उद्धवजी से कहा था कि 'हे उद्धव! मुझसे तुम अणुमात्र भी न्यून नहीं हो।' इसका कारण क्या है? तो उद्धवजी ने भगवान का अलौकिक माहात्म्य जान लिया था और वे पंचविषयों के प्रति आसक्त नहीं होते थे। इस प्रकार जो भगवान की महिमा को समझ लेता है, उसे यदि राज्य-वैभव मिल जाए या दीनतापूर्वक भिक्षा माँगनी पड़े, दोनों स्थितियों में उसे समान भाव रहता है। तथा, बालिका, युवती अथवा अस्सी वर्ष की आयुवाली वृद्धा - सभी में उसका समभाव हो जाता है; और संसार में जो भी अच्छे-बुरे पदार्थ हैं, उन सबके सम्बंध में उसकी समतापूर्ण भावना रहती है; किन्तु वह अच्छे पदार्थों को देखकर पतंगे की भाँति आकृष्ट नहीं हो जाता और वह भगवान के सिवा अन्य किसी भी पदार्थ में आसक्त नहीं होता। वह तो एकमात्र भगवान की मूर्ति में ही तन्मय रहता है। जो भक्त इस प्रकार का आचरण करता है, वह किसी भी प्रकार के बड़े विषयों में बद्ध नहीं होता। यदि यह मर्म समझ में नहीं आया, तो फटी हुई लंगोटी या टूटी हुई तुम्बी से भी मन को हटाना अत्यंत कठिन हो जाता है। अतः भगवान की मूर्ति का माहात्म्य जाने बिना कोई अन्य कोटि उपाय करता है, परन्तु भगवान की मूर्ति का अखंड चिन्तन नहीं हो पाता। वस्तुतः जो भी भगवान के स्वरूप की ऐसी महिमा जानता है, उसी को भगवान का अखंड चिन्तन हुआ करता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥4॥ ॥137॥

वचनामृत 5 : पतिव्रता का धर्म

संवत् 1878 में श्रावण शुक्ला सप्तमी (5 अगस्त, 1821) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के सामने चबूतरे पर गद्दी बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष हो रही सभा में मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्त बैठे हुए थे। उस समय साधुवृंद ताल-मृदंग द्वारा कीर्तनों का गायन कर रहा था।

श्रीजीमहाराज ने अपने नेत्रकमलों के संकेत से भजन बन्द करवा कर कहा कि 'सुनिए, एक बात करते हैं – जो भगवान के भक्त हों उन्हें एक तो पतिव्रता के धर्म का पालन करना चाहिए और दूसरा उसे शूरवीरता भी रखनी चाहिए। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति के सिवा, भले ही वह वृद्ध, रोगी, निर्धन तथा कुरूप क्यों न हो, किसी अन्य पुरुष के अच्छे गुणों को देखकर अपना मन विचलित नहीं करती। यदि गरीब परिवार की स्त्री पतिव्रता होती है, तो वह चाहे क्यों न बड़े राजा को देखे, परन्तु उसका मन चलायमान नहीं होता, उसी प्रकार भगवान के भक्त को भी भगवान के प्रति पतिव्रता-धर्म रखना चाहिए। अपने पति के सम्बंध में कहे गए किसी निन्दा वचनों को कायर की तरह सुन नहीं लेना चाहिए; बल्कि शूरवीरतापूर्वक उसका उत्तर दे देना चाहिए, ऐसे निम्न प्रकार के लोगों के प्रभाव में किसी भी प्रकार भगवान के भक्त को उससे दबना नहीं चाहिए। इस प्रकार शूरवीरता बनाए रखें।

और, संसार में लोग कहते हैं कि 'साधु को समदृष्टि रखनी चाहिए।' परन्तु, यह शास्त्रों का मत नहीं है। क्योंकि नारद-सनकादिक तथा ध्रुव, प्रह्लादजी आदि ने भी भगवान एवं उनके भक्तों के पक्ष का ही समर्थन किया है, किन्तु भगवान से विमुख लोगों का पक्ष नहीं लिया। और जो पुरुष विमुखों का पक्षधर बनेगा, वह इस जन्म में अथवा दूसरे जन्म में अवश्य ही विमुख हो जाएगा। इसलिए, भगवान के भक्तों को निश्चित रूप से भगवद्-भक्त का ही पक्ष लेना चाहिए, तथा विमुख का पक्ष छोड़ देना चाहिए। हमारी इस बात को सभी अपने मन में सुदृढ़ करके रखना।'

॥ इति वचनामृतम् ॥5॥ ॥138॥

वचनामृत 6 : हूंडी; चित्त का स्वभाव

संवत् 1878 में श्रावण शुक्ला अष्टमी (6 अगस्त, 1821) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के सामने वेदी पर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंस तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी। परमहंस ताल-मृदंग के साथ कीर्तन कर रहे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'कीर्तन समाप्त कीजिए। अब भगवद्वार्ता करते हैं।' तत्पश्चात् समस्त मुनिगण हाथ जोड़ कर बैठ गए।

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस संसार में यवन-प्रकृतिवाले कितने ही जीव हैं, जो कहते हैं कि 'गंगाजी का जल और दूसरा पानी, दोनों ही एकसमान हैं, तथा शालिग्राम एवं दूसरे पत्थर एक ही तरह के हैं, तुलसी और अन्य वृक्ष एक ही प्रकार के हैं, ब्राह्मण तथा शूद्र भी एक-सरीखे हैं, ठाकुरजी का प्रसादी-अन्न तथा अन्य खाद्य वस्तुएँ एकसमान हैं; एकादशी के दिन भूखे रहने और किसी अन्य दिन भूखे रहने में समानता ही है तथा साधु और दुर्जन एक समान ही हैं। अतः महापुरुष कहे जानेवाले लोगों ने शास्त्रों[7] में यह विधिनिषेध किस कारण किया होगा?' दुर्मतिवाले लोग ऐसा ही कहते हैं। इसीलिए, हम समस्त सन्तों से प्रश्न पूछते हैं कि महापुरुषों ने शास्त्रों में विधिनिषेध का जो प्रावधान रखा है, वह सत्य है या कल्पित? इस प्रश्न का उत्तर छोटे-छोटे परमहंस उपस्थित हो, वही करें।''

तत्पश्चात् छोटे-छोटे परमहंस कहने लगे कि 'विधिनिषेध का भेद सत्य है। यदि ऐसा न होता, तो स्वर्ग-नरक का वर्गीकरण किसके लिए किया गया होता?'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'यद्यपि छोटी उम्र के हैं, पर सही दिशा में सोच रहे हैं।' इतना कहकर श्रीजीमहाराज ने उस प्रश्न का उत्तर देना प्रारम्भ किया कि 'महापुरुषों ने शास्त्रों में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, वह पूर्णतः सत्य है। इस प्रसंग में एक दृष्टान्त विचार करने लायक है, कि जब कोई बड़ा साहूकार किसी को हुंडी लिखकर देता है, तब उस कागज़ में

---

7. स्मृतिग्रंथ, गृह्यसूत्र तथा अन्य सदाचार प्रेरक ग्रंथ।

एक रुपया भी नज़र नहीं आता, परन्तु उल्लिखित रकम बिलकुल सच्ची है। क्योंकि वह हुंडी जिस धनाढ्य पुरुष के नाम पर लिखी गयी है, उसे जब वह कागज मिलेगा, तो वह रुपये की भुगतान अवश्य करेगा, और रुपयों का ढेर लग जाएगा। वैसे ही **महापुरुष की आज्ञा से जो धर्म का पालन किया करता है, उसे पहले-पहल तो उन विधिनिषेधों में कोई विशेषता नहीं दिखाई पड़ेगी, परन्तु सत्पुरुष की आज्ञा के पालन करनेवाले का अन्त में कल्याण ही होता है। जैसे हुंडी के भुगतान से रुपये प्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार।**

और, जिस समर्थ धनवान व्यक्ति ने हुंडी लिखी है, उस पर जिसे विश्वास नहीं होता, उसे मूर्ख ही समझना चाहिए, क्योंकि उसे उस धनवान पुरुष के प्रताप की जानकारी ही नहीं है। इसी प्रकार जिसको नारद-सनकादिक एवं व्यास, वाल्मीकि आदि महापुरुषों के वचनों में विश्वास नहीं है, उसे नास्तिक और घोर पापी मानना चाहिए। ऐसी नास्तिक बुद्धिवाले यह समझते हैं कि 'अन्य पत्थर और भगवान की मूर्ति में क्या अन्तर है? सभी पत्थर एक ही तरह के होते हैं। इसी प्रकार विवाहित स्त्री और अविवाहित स्त्री में क्या फर्क है? सभी स्त्रियाँ एकसमान हैं। पत्नी हो या माता अथवा बहन हो, तीनों में क्या अन्तर है? इन सभी का एक-जैसा ही आकार है। और, रामकृष्णादि भगवान की मूर्तियाँ भी मनुष्याकार हैं, अतः यह उच्च अथवा निम्न का भाव मनुष्य ने अपनी कल्पना द्वारा प्रस्तुत किया है। किन्तु क्या करें? लोगों के साथ रहना है, अतः सबकी 'हाँ' में 'हाँ' मिलानी ही पड़ती है, परन्तु विधिनिषेध का मार्ग तो झूठा ही है।' पापी जो नास्तिक हैं, वे अपने मन में इस प्रकार ही समझते हैं। इसलिए जिसकी ऐसी विपरीत बोली है, उसे पापी जानना, तथा नास्तिक समझना और उसे चांडाल जानकर उसका किसी भी तरह से संग नहीं करना।'

इसके बाद श्रीजीमहाराज ने पुनः अन्य वार्ता कही कि 'मनुष्यमात्र का चित्त कैसा होता है? जैसे शहद, गुड़, शक्कर और चीनी मिला हुआ पानी हो, उसी प्रकार का मनुष्य का चित्त होता है। ऐसे मीठे-चिकने पानी में अगर मक्खी, चींटी, चींटा गिर गया तो वे वहीं चिपक जाते हैं। कोई मनुष्य वहाँ हाथ लगाये, तो उसकी उँगली में भी वह पानी चिपक जाता है। उसी तरह,

चित्त का भी ऐसा स्वभाव है कि जिस-जिस पदार्थ के सम्बंध में वह जो कुछ सुनता है, उस-उस पदार्थ में वह लग जाता है। यदि वह पत्थर, कूड़ा-कचरा अथवा कुत्ते का मल आदि जो निकम्मी चीज़ें हैं, वे यद्यपि लेशमात्र भी सुखदायी नहीं हैं, फिर भी उनमें चित्त लग जाता है, तो कभी ऐसी चीज़ों की याद आ गई, तो वह उनका ही चिन्तन करने लगता है। ऐसा उसका चिपकने का स्वभाव है। जिस प्रकार बड़े दर्पण के सामने बड़े सन्त आ गए, तो उनका प्रतिबिम्ब भी दिखाई पड़ता है, और कुत्ता, गधा, चांडाल आदि आ गए तो उनका भी प्रतिबिम्ब उसी प्रकार दिखाई देता है। वैसे ही चित्त में अतिनिर्मलता रहती है। इसलिए उसमें जिस पदार्थ की स्मृति आ जाती है, वही दिखाई पड़ने लगता है। उसमें अच्छे-बुरे का कोई मेल नहीं रहता। अतएव, किसी भी मुमुक्षुजन को ऐसा विचार नहीं करना चाहिए कि 'मुझे वैराग्य नहीं है, इसी कारण मेरे चित्त में स्त्री आदि पदार्थों की स्फुरणा होती रहती है।' वस्तुतः बात यह है कि वैराग्यवान पुरुष के चित्त में भी जब जिस पदार्थ की स्मृति जाग उठती है, तो सहज ही उसका स्वरूप सामने उभर आता है। इसलिए राग या वैराग्य का कोई कारण नहीं है। वास्तव में चित्त का स्वभाव ही ऐसा है कि वह सुनी हुई भली-बुरी बात का चिन्तन करता रहता है। जब वह जिस पदार्थ का चिन्तन करता है, तब वही पदार्थ दर्पण के समान उसके सामने उभर आता है। इसलिए यह समझ लेना चाहिए कि **'मैं इस चित्त से भिन्न हूँ तथा मैं इसको देखनेवाली आत्मा हूँ।' यह जानते हुए अच्छे-बुरे संकल्पों से ग्लानि नहीं करनी चाहिए। और, स्वयं को चित्त से पृथक् जानकर भगवान का भजन करते हुए सदैव आनन्द-मग्न रहना चाहिए।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥6॥ ॥139॥

वचनामृत 7 : दरिद्र के दृष्टांत से विकारों का उन्मूलन

संवत् 1878 में श्रावण शुक्ला एकादशी (9 अगस्त, 1821) को रात्रि में स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के सामने विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए हुए थे। उनके समक्ष परमहंस तथा विभिन्न प्रान्त के

हरिभक्त सभा में उपस्थित थे।

ऐसे समय में मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'भगवान के भक्त के मन में ऐसा विचार रहता है, कि भगवान के भजन में विघ्न डालनेवाला ऐसा कोई भी स्वभाव मुझे नहीं रखना है, फिर भी अनुचित स्वभाव रह जाते हैं, इसका क्या कारण है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसके हृदय में वैराग्य की दुर्बलता होती है, उसे स्वभावों को टालने की भावना रहते हुए भी वह स्वभाव को नहीं मिटा पाता। जैसे दरिद्र मनुष्य स्वादिष्ट भोजन को तथा अच्छे-अच्छे वस्त्रों की चाह रखे, तो क्या ऐसी वस्तुएँ उसे मिलेंगी? वैसे ही वैराग्यहीन व्यक्ति के हृदय में इच्छा भले ही रहे, परन्तु साधुता के गुण सिद्ध होना तो बहुत ही दुर्लभ है।'

तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'जिसे वैराग्य की दृढ़ता न हो, उसे ऐसा कौन-सा उपाय करना चाहिए, जिससे कि उसके विकार मिट जाएँ?'

श्रीजीमहाराज बोले कि **'वैराग्यहीन पुरुष यदि किसी बड़े सन्त की अत्यंत सेवा करे तथा परमेश्वर की आज्ञा में यथार्थरूप से प्रयास-रत रहे, तो परमेश्वर भी उस पर कृपादृष्टि से देखने लगते हैं कि 'यह बेचारा वैराग्यरहित है और उसे काम-क्रोधादि विकार अत्यन्त पीड़ा दे रहे हैं, अतः उसके समस्त विकार मिट जाएँ!' तब परमेश्वर की कृपा से उसके विकार तत्काल मिट जाते हैं।** अन्यथा, अनेक साधनों के द्वारा दीर्घकाल तक साधना करते रहने पर भी इस जन्म में अथवा दूसरे जन्म में मिटते हैं। तत्काल समस्त विकारों का उन्मूलन तो केवल परमेश्वर की कृपा से ही सम्भव हो सकता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥7॥ ॥140॥

वचनामृत 8 : एकादशी व्रत, ज्ञानयज्ञ, अंतर्दृष्टि

संवत् 1878 में श्रावण शुक्ला द्वादशी (10 अगस्त, 1821) को प्रात:काल स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे गद्दी पर विराजमान थे। वे श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंस तथा विभिन्न प्रान्तों के

हरिभक्तों की सभा हो रही थी। परमहंस मृदंग और ताल लेकर कीर्तन गा रहे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज सन्तों के प्रति कहने लगे कि 'एकादशी व्रत की कथा यह है कि एक बार भगवान दस इन्द्रियों और ग्यारहवें मन को अन्तर्मुख करके सो रहे थे, तभी नाड़ीजंघ का पुत्र मुरदानव युद्ध करने के लिए आया। उसी समय भगवान की एकादश इन्द्रियों के तेज से एक कन्या उत्पन्न हुई। उसे देखकर मुर-दानव ने कन्या से कहा कि तू मुझसे विवाह कर ले।' तब कन्या ने कहा कि मेरी ऐसी प्रतिज्ञा है कि जो कोई मुझे युद्ध में जीत लेगा, उसी के साथ विवाह करूँगी। इसके पश्चात् दोनों में युद्ध छिड़ गया और कन्या ने मुरदानव का मस्तक खड्ग से काट डाला।

इस पर भगवान ने प्रसन्न होकर कन्या से कहा कि तू वरदान माँग ले। कन्या ने उस समय माँगा कि 'मेरे व्रत के दिन कोई भी मनुष्य अन्नाहार न करे तथा मैं आपकी एकादश इन्द्रियों के तेज से प्रकट हुई हूँ, अतः मेरा नाम एकादशी हो। मैं तपस्विनी हूँ, अतएव मेरे व्रत के दिन मन आदि एकादश इन्द्रियों का आहार कोई न करे।' एकादशी के ऐसे वचन को सुनकर भगवान ने उसे 'तथास्तु' कहा। ऐसी पौराणिक[8] कथा है।

धर्मशास्त्रों में भी कहा गया है कि 'एकादशी के व्रत के दिन काम, क्रोध, लोभादि विषय सम्बंधी बुरे संकल्प मन में बिलकुल नहीं करने चाहिए और देह की क्रियाओं द्वारा भी कोई अनुचित आचरण नहीं करना चाहिए।' शास्त्रों के उन वचनानुसार हम भी यह बात कहते हैं कि एकादशी के दिन ढोरलंघन[9] नहीं करना चाहिए तथा एकादश इन्द्रियों के आहार का त्याग करें, वही वास्तविक एकादशी व्रत है, अन्यथा तो वह 'ढोरलंघन' ही कहलायेगा।'

और, जिस प्रकार प्राणों का आहार अन्न है, श्रोत्रेन्द्रिय का आहार शब्द है, त्वचा का आहार स्पर्श है, नेत्रों का आहार रूप है, जिह्वा का आहार रस है, नासिका का आहार सुगन्ध है, तथा मन का आहार संकल्प-विकल्प है; इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न आहार हैं। इन समस्त आहारों

8. पद्मपुराण : उत्तर खण्ड : 39/67-105
9. ढोरलंघन यानी बिना अन्य नियमों का पालन किए, केवल उपवास करना।

के त्याग को ही 'एकादशी व्रत' कहा जाता है। किन्तु ग्यारह इन्द्रियाँ कुमार्ग पर चलकर अपना-अपना आहार ग्रहण करने लगें, तो वह शास्त्र-सम्मत एकादशी व्रत नहीं कहा जा सकता। अतः जिस दिन एकादशी व्रत करना हो, तब ग्यारह इन्द्रियों को अपना आहार करने का अवसर नहीं दिया जाना चाहिए। यह व्रत पन्द्रह दिनों में एक बार आता है, तो इसे सावधान होकर करना चाहिए। तभी भगवान व्रत करनेवाले पर प्रसन्न होते हैं, किन्तु बिना संयम के जो 'ढोरलंघन' करता है, उन पर भगवान की प्रसन्नता नहीं होती।

और, श्वेतद्वीप में जो निरन्नमुक्त कहलाते हैं, वे सदैव यह व्रत किया करते हैं, कभी भी इस व्रत का भंग नहीं होने देते; इसीलिए, उन्हें निरन्न कहा जाता है। अतः हमें भी ऐसी ही इच्छा रखनी चाहिए कि 'श्वेतद्वीप में जैसे निरन्नमुक्त हैं, उनके समान ही हमें भी होना है।' किन्तु, इस बात के बारे में हतोत्साह नहीं होना चाहिए। हिम्मत से दृढ़तापूर्वक जैसा कहा है, उसी प्रकार एकादशी व्रत करना चाहिए और भगवान की कथा एवं भजनादि करना, उन्हें सुनना एवं रात्रि के समय जागरण करना, तभी व्रत सच्चा कहा जाएगा। शास्त्रों में भी उसी का नाम 'एकादशी' है।' इतना कहकर श्रीजीमहाराज मौन हो गये और सन्त भजन गाने लगे।

कुछ देर के बाद श्रीजीमहाराज पुनः बोले कि 'ब्रह्मा ने जब सर्वप्रथम सृष्टि-रचना की, तब उन्होंने समस्त प्रजाजनों से कहा कि 'आप सब यज्ञ करना। उस यज्ञ द्वारा आपके लिए समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि होगी तथा सृष्टि की भी वृद्धि होगी। अतः यज्ञ अवश्य करना।' तत्पश्चात् ब्रह्मा ने वेदों में कहे गए अनेक प्रकार के यज्ञों की विधिवत् जानकारी दी। उनमें जो प्रवृत्तिमार्गी लोग थे, उनको राजसी, तामसी आदि प्रकार के यज्ञ दिखाए और जो निवृत्तिमार्गी लोग थे, उनको ब्रह्माजी ने सात्त्विक यज्ञों का विधान बताया। उन्हीं यज्ञों का विवरण श्रीकृष्ण भगवान ने भगवद्गीता में भी किया है। हम तो निवृत्तिमार्गी हैं, अतः हमें सात्त्विक यज्ञ करना चाहिए। परन्तु, जिनमें पशुओं का वध किया जाता हो, ऐसे राजसिक-तामसिक यज्ञ हमें नहीं करना चाहिए।

सात्त्विक यज्ञ की विधि इस प्रकार है कि **'दस इन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन जिन-जिन पंचविषयों में आसक्त हों, वहाँ से वापस लौटाकर**

ब्रह्माग्नि में उनकी आहुति कर देनी चाहिए। इसी का नाम योगयज्ञ है।[10] इस प्रकार होम करते रहने पर जैसे यज्ञकर्ता को भगवान दर्शन देते हैं, वैसे ही उस योगयज्ञ के करनेवाले के हृदय में अपना स्वरूप जो ब्रह्म है, उसमें परब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम प्रकट हो जाते हैं; यह योगयज्ञ का फल है। और, अन्तर्दृष्टिपूर्वक आचरण हो, वह ज्ञानयज्ञ कहा जाता है। यदि कोई पूछे कि 'अन्तर्दृष्टि क्या है?' तो इसका उत्तर यह है कि बाहर अथवा भीतर भगवान की मूर्ति के समक्ष चित्तवृत्ति को स्थिर रखना ही अन्तर्दृष्टि है, और इसके बिना यदि अन्तर्दृष्टि करके भी बैठ गया, तो बाह्यदृष्टि ही है। अतः **बाहर भगवान का दर्शन तथा पूजन तथा भगवान की कथा-कीर्तन इत्यादिक जो-जो भगवान सम्बंधी क्रियाएँ हैं, वह सभी अन्तर्दृष्टि है; और वही सभी क्रियाएँ ज्ञानयज्ञ कहा जाता है। और, उसी भगवान की मूर्ति को अन्तःकरण में धारण करके उसका पूजन एवं वन्दन आदि करना वह भी अन्तर्दृष्टि तथा ज्ञानयज्ञ कहा गया है।** अतः प्रत्येक सत्संगी को ऐसा ज्ञानयज्ञ अखंड होता रहता है। और समाधि तो किसी को लगती है, और किसी को नहीं लगती है, वह तो परमेश्वर की इच्छा से ऐसा होता है अथवा कहीं-कहीं भक्त की अपरिपक्वता के कारण भी ऐसा होता है।

और, कुछ मूर्ख लोग कहते हैं कि 'गोपिकाओं की रसिकता सम्बंधी भक्तिमय भजन मत गाइए, केवल 'निर्गुण'मार्गी भजन-गान ही करिए।' तथा जो मनुष्य निर्वस्त्र घूमते-फिरते हैं, उन्हें मूर्ख लोग निर्गुण कहते हैं। परन्तु यदि निर्वस्त्र होकर भ्रमण करनेवालों को निर्गुण कहा जाए, तो कुत्ते, गधे आदि सभी 'निर्गुण' ही कहे जाएँगे। अतः यह मूर्खों की अपनी समझ है। जबकि ज्ञानी भक्त यह मानता है कि 'भगवान का स्वरूप ही निर्गुण है तथा जिस-जिसका सम्बंध भगवान के साथ हुआ है, वे सब निर्गुणमार्गी हैं। तथा जिन-जिन कथा-कीर्तन में भगवान के स्वरूप का सम्बंध है, वे सभी निर्गुण कहलाते हैं; और जिन कथा-कीर्तन में भगवान का सम्बंध नहीं है, तो समझ लीजिए कि वह मायिक गुणों से युक्त है, अतः वे सगुण ही कहलाते हैं। और जिसको भगवान की प्राप्ति नहीं हुई है, फिर भले ही वह क्यों न निर्वस्त्र

10. जहाँ अन्य टीकाकारों ने इसका अर्थ योगसाधना या व्रत-उपवास किया है, वहाँ भगवान स्वामिनारायण ने इसका अर्थ ब्रह्मरूप हो, परब्रह्म की उपासना कहा है।

ही घूमते रहे, उन्हें निर्गुण नहीं कहा जा सकता। और, जिसको भगवान की प्राप्ति हुई हो, वह चाहे गृहस्थाश्रमी हो अथवा त्यागी, परन्तु वह निर्गुण ही कहलाता है।' इसलिए, भगवान को प्राप्त करने का मार्ग ही निर्गुणमार्ग है। ऐसे लोग जो कुछ भी क्रिया करें, परन्तु वे निर्गुण क्रिया ही है। और, जिसका भगवान के साथ सम्बंध हो गया है, उस मनुष्य के भाग्य का पार ही नहीं रहता। क्योंकि भगवान का सम्बंध एक ही जन्म के पुण्यों से सम्भव नहीं होता। श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में कहा है :

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।'

इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'अनेक जन्मों के संचित पुण्यों से जो संसिद्ध हुआ है, ऐसा पुरुष ही परमपद को प्राप्त कर लेता है।' वह **परमपद क्या है ? तो प्रत्यक्ष भगवान की प्राप्ति ही परमपद है।** श्रीकृष्ण भगवान ने यूं भी कहा है :

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥'[11]

इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'इस संसार में भगवान के अंशरूपी जो जीव हैं, वे मन सहित पंच ज्ञानेन्द्रियों को पंचविषयों से खींचकर अपने वश में रखते हैं। और जो जीव भगवान के अंश नहीं हैं, उन्हें इन्द्रियाँ विषयों की ओर आकृष्ट करके अपनी इच्छा के अनुसार नचाती हैं।' जब कि हम सब इन्द्रियों के द्वारा खींचे जाने से विषयों के प्रति आकृष्ट नहीं होते, अतः हम भगवान के अंश हैं, ऐसा मानकर हमें अत्यंत आनन्दमग्न रहते हुए भगवान का भजन करते रहना तथा भगवान के स्वरूप में सभी इन्द्रियों की वृत्तियों का होम कर देना तथा सदैव ज्ञानयज्ञ करते रहना।

और यज्ञरहित का कभी कल्याण नहीं होता। चारों वेद, सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र, धर्मशास्त्र, अठारह पुराण, महाभारत, रामायण तथा नारद पंचरात्र आदि समस्त शास्त्रों का यही सिद्धान्त है कि 'यज्ञरहित मनुष्य का कल्याण नहीं होता।' इसलिए, **हमारी भी यही आज्ञा है कि समस्त परमहंस तथा**

11. गीता (15/7) तथा ब्रह्मसूत्र (2/3/43) में जीवात्मा को अंशरूप कहा गया है, परंतु इस वचनामृत का निरूपण अन्य आचार्यों की अपेक्षा अत्यधिक तर्कशुद्ध एवं प्रेरक है।

सभी सत्संगी ज्ञानयज्ञ करते रहना।'[12] **इस प्रकार ज्ञानयज्ञ करते-करते अपना स्वरूप जो ब्रह्म है, उसमें जब परब्रह्म भगवान का साक्षात्कार हो जाए, तो वही ज्ञानयज्ञ का फल है।** ऐसा ज्ञानयज्ञ करते-करते जब श्वेतद्वीप-स्थित निरन्नमुक्तों के सदृश हो गए, तब ज्ञानयज्ञ की विधि समाप्त हो जाती है। परन्तु जब तक ऐसे न हो गए, तब तक समझ लेना चाहिए कि वह कार्य अधूरा रह गया। फिर भी, निरन्नमुक्त तुल्य होने की इच्छा अवश्य रखें।[13] कभी श्रद्धारहित न हों एवं स्वयं को अपूर्ण भी न समझें। और भगवान की प्राप्ति हुई है, इससे स्वयं को कृतार्थ मानकर, सावधान होकर ज्ञानयज्ञ करते ही रहना।'

॥ इति वचनामृतम् ॥8॥ ॥141॥

वचनामृत 9 : स्वरूपनिष्ठा, भगवत्स्वरूप का द्रोह

संवत् 1878 में श्रावण शुक्ला चतुर्दशी (12 अगस्त, 1821) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे मशरू की गद्दी पर विराजमान थे। उस समय आनन्दानन्द स्वामी ने पूजा की थी, इसलिए, लाल किमखाब का चूड़ीदार पायजामा पहना था, लाल किमखाब की बगलबंडी पहनी थी, मस्तक पर सुनहरे पल्ले का कुसुम्भी फेंटा रखा था, कमर पर जरीदार शेला कस रखा था, गाढ़े आसमानी रंग का खेस कन्धे पर रखा था और हाथों में

---

12. 'ज्ञानयज्ञ' का अर्थ अंतर्दृष्टि है तथा योगयज्ञ का अर्थ 'अपनी इन्द्रियों तथा अंत:करण को ब्रह्म-अग्नि में आहुति देना' है। इस प्रकार दो अर्थ निकालने के बाद यहाँ दोनों को एक ही बताते हैं। इसका अर्थ यह है कि वस्तुत: योगयज्ञ रूप इन्द्रियों तथा अंत:करण की ब्रह्म-अग्नि में आहुति देना भी एक प्रकार से 'अंतर्दृष्टि' ही है, तथा अंतर्दृष्टिरूप 'ज्ञानयज्ञ' भी इन्द्रियों तथा अंत:करण को सत्पुरुष में जुड़ जाने का योगयज्ञ ही है। दोनों एक ही होने से यहाँ फलदर्शन के लिए 'ज्ञानयज्ञ' ही कहा जाएगा।
13. वस्तुत: ब्रह्मस्वरूप सत्पुरुष में इन्द्रियों-अंत:करण का होम करके अक्षरब्रह्म के साधर्म्य को प्राप्त कर भगवान की भक्ति-सेवा करना - यही वचनामृत गढडा प्रथम प्रकरण 40, वचनामृत लोया प्रकरण 12 आदि में उत्तम लक्ष्य मानकर स्वीकार किया है, उसी को यहाँ भी प्रधान ध्येय समझना चाहिए।

राखियाँ बाँधी थीं। उनके समक्ष मुनि तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'कीर्तनगान करते हैं।' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'सुनिए, परमेश्वर की वार्ता करते हैं।' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि 'ज्ञानमार्ग को इस प्रकार समझना चाहिए कि 'किसी भी तरह भगवान के स्वरूप का द्रोह न हो जाए। हाँ, कभी भगवान की आज्ञा का लोप हो गया, तो उसकी इतनी चिन्ता नहीं है, परन्तु भगवान के स्वरूप का द्रोह कभी नहीं होने देना चाहिए।' यदि भगवान की आज्ञा का कुछ उल्लंघन हो गया, तो भगवान की प्रार्थना द्वारा भी उस (पाप) से छुटकारा मिल सकता है। परन्तु यदि भगवान के स्वरूप का द्रोह किया गया, तो उससे छुटकारा कभी नहीं हो सकता। इसलिए, विवेकशील पुरुष भगवान की आज्ञा का पालन, जितना सामर्थ्य हो, उतना अवश्य करें, परन्तु भगवान की मूर्ति का अतिशय बल रखना कि सर्वोपरि, सदा दिव्य, साकार मूर्ति एवं समस्त अवतारों के अवतारी ऐसे भगवान का जो स्वरूप है, वही मुझे प्राप्त हुआ है।

और जो ऐसा समझता हो, उसे कदाचित् किसी कारणवश सत्संग से निकल जाना पड़े, फिर भी भगवान की मूर्ति से उसका अनुराग नहीं मिटता। हाल में भले ही वह सत्संग से बाहर है, किन्तु उसका देहान्त होने के पश्चात् अन्ततः वह अक्षरधाम में भगवान के सान्निध्य में पहुँचेगा। और, जो सत्संग में रहता होगा, तथा शास्त्रों के वचनों का भी पालन करता होगा, परन्तु उसे यदि भगवत्स्वरूप में निष्ठा सुदृढ़ नहीं है, तो वह देहत्याग करने के पश्चात् ब्रह्मा के लोक में जाएगा या किसी अन्य देवता के लोक में जाएगा; परन्तु पुरुषोत्तम भगवान के धाम में नहीं जाएगा! इसलिए, **स्वयं को प्राप्त साक्षात् भगवान का जो स्वरूप है, उसे सदा दिव्य साकार मूर्ति तथा सर्व अवतारों के कारण और अवतारी समझना। ऐसा यदि उसको नहीं जाना, और उस स्वरूप को निराकार तथा अन्य अवतार के सदृश जाना, तो उसका द्रोह किया कहा जाएगा।**[14]

14. इन वचनों से श्रीहरि की सर्वोपरिता को अर्थात् श्रीहरि दूसरे अवतारों से अलग एवं परे हैं, यह अत्यंत स्पष्ट समझा जाता है। अक्षरब्रह्म गुणातीतानंद स्वामी इस वचनामृत को पढ़कर अनेक बार 'सर्वोपरिता' का निरूपण करते थे। ➤

जैसे अर्जुन को भगवत्स्वरूप का बल था, परन्तु राजा युधिष्ठिर को शास्त्रों के वचनों का बल अधिक था। अतः जब महाभारत का युद्ध हुआ, तब श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन को कहा कि –

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥'[15]

इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'हे अर्जुन! तुम समस्त धर्मों को छोड़कर केवल मेरी ही शरण में आ जाओ, मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा। तुम किसी भी प्रकार की चिन्ता मत करो।' अर्जुन ने इस वचन को मान लिया। यद्यपि अर्जुन द्वारा युद्ध में अनेक पापयुक्त कर्म हुए, फिर भी वे मन में लेशमात्र भी क्षुब्ध नहीं हुए, और भगवान के आश्रय का बल रखकर डटे रहे। जबकि युधिष्ठिर ने कोई पाप नहीं किया था, फिर भी उन्हें भगवान की आज्ञा की अपेक्षा शास्त्रों के वचनों में अधिक विश्वास था, इसलिए उन्होंने मान लिया था कि 'अब कभी भी मेरा कल्याण नहीं होगा।' बाद में सभी ऋषियों, व्यासजी तथा स्वयं श्रीकृष्ण भगवान ने उनको समझाया, फिर भी क्षुब्धता नहीं छूटी। इसके पश्चात् श्रीकृष्ण भगवान युधिष्ठिर को भीष्म के पास ले गए, जहाँ उन्हें शास्त्र सम्बंधी कथा सुनवाई, तब उन्हें कुछ विश्वास हुआ, फिर भी वे अर्जुन के समान निःसंशय नहीं हुए। अतः बुद्धिमान को भगवत्स्वरूप का ही अतिशय बल रखना चाहिए। यदि भगवत्स्वरूप का वह बल लेशमात्र भी है तो उसके फलस्वरूप भीषण भय से भी रक्षा हो जाती है। श्रीकृष्ण भगवान ने भी गीता में कहा है :

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।'[16]

स्वामी कहते थे कि 'सर्व अक्षरादिक से 'पर' तथा अद्वैतमूर्ति, ऐसे जो प्रकटपुरुषोत्तम हैं उनमें तथा अन्य विभूतियों अथवा अवतारों में कैसा भेद है? जैसा तीर और तीर के चलानेवाले में भेद है तथा चक्रवर्ती राजा एवं उसके अधीनस्थ रहनेवाले राजा में भेद है, जैसे सूर्य तथा सूर्य मण्डल में भेद है तथा चन्द्रमा और तारागण में भेद है, वैसे ही इस प्रकट पुरुषोत्तम एवं अन्य श्रीरामकृष्णादिक अवतारों में भेद है। इस प्रकार से इस प्रकट पुरुषोत्तम को सर्वोपरि जानना।' (स्वामी की बातें : 7/15 एवं 3/12) यही निरूपण नित्यानंद स्वामी ने बात-14 तथा विधात्रानन्द स्वामी ने बात-14 में किया है।

15. गीता : 18/66, अर्थ के लिए देखें, वचनामृत ग.म. प्रकरण 17 की पादटीप-20

16. गीता : 2/40

इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'भगवत्स्वरूप का थोड़ा-सा भी बल हो, तो वह भी भीषण भय से रक्षा करता है।' जैसे अर्जुन को महाभारत के युद्ध में अनेक प्रकार के अधर्मों के बड़े-बड़े भय उपस्थित हुए, किन्तु उनसे अर्जुन की जो रक्षा हुई है, वह केवल भगवत्स्वरूप के बल के प्रताप से ही हुई है। **इसलिए जिसे सबसे अधिक भगवत्स्वरूप का बल हो, वही एकांतिक भक्त कहलाता है और उसे ही दृढ़ सत्संगी भी कहते हैं।**

और, श्रीमद्भागवत में भी यही बात प्रधानरूप से मिलती है कि भले ही 'श्रुतिस्मृतियों की धर्म सम्बंधी आज्ञा को थोड़ा-बहुत छोड़ना पड़े, तो भी उसकी चिन्ता नहीं है, किन्तु भगवान का आश्रय बिलकुल नहीं छोड़ना चाहिए।' और किसी को ऐसा लगे कि 'इस प्रकार की बातों से (सदाचाररूप) धर्म का खंडन हो जाएगा, परन्तु यह वार्ता धर्म के खंडन के लिए नहीं है; बल्कि इसलिए है कि देश, काल, क्रिया, संग, मन्त्र, शास्त्र, उपदेश तथा देवता सभी शुभ और अशुभ दो प्रकार के होते हैं। उनमें से यदि अशुभ का योग हो गया और भक्त को कुछ विघ्न पड़ गया, तो भी यदि उसकी निष्ठा भगवान के स्वरूप में दृढ़ हो, तो वह मोक्षमार्ग से कभी भी नहीं गिरता। यदि भगवत्स्वरूप के प्रति उसकी निष्ठा में अपरिपक्वता रह गई, तो जिस दिन से वह धर्मच्युत होता है, तबसे वह यह मानने लगता है कि 'मैं नरक में गिर चुका हूँ।' अत: जिसे भगवत्स्वरूप का बल रहता है, वही पक्का सत्संगी कहलाता है। अन्य सभी केवल गुणबुद्धिवाले ही हैं, और जिसे भगवत्स्वरूप में निष्ठा सुदृढ़ बनी हुई है, उन्हीं को शास्त्रों में भी एकान्तिक भक्त कहा गया है।

और, इस समय तो सत्संग में जैसी वार्ता होती है, उसे यदि नारद सनकादि तथा ब्रह्मादि देवता सुनें, तो सुनकर वे यही कहेंगे कि 'ऐसी वार्ता कभी सुनी भी नहीं है और आगे सुन भी नहीं पाएंगे। ऐसी बातें तो **'न भूतो न भविष्यति'** की उक्ति को ही सार्थक करती हैं।'

यद्यपि यह अतिशय सूक्ष्म वार्ता है, किन्तु ऐसी मूर्तिमान वार्ता होती है कि अत्यन्त जड़ बुद्धिवालों को भी समझ में आ जाती है। इसलिए इस समय जिन्हें सत्संग में प्रतीति हुई है, उनके पुण्य का पार ही नहीं लगता! ऐसा समझकर सत्संगी को अपने सम्बंध में कृतार्थपन मान लेना चाहिए। जिसकी भगवान में अतिशय प्रीति रही है, भले ही उसे यह वार्ता समझ

में आए या न आए, वह कृतार्थ हो चुका है और उसे कुछ साधन करने शेष नहीं रहे। परन्तु जिसकी परमेश्वर में अतिशय प्रीति नहीं हुई, उसे तो भगवान के स्वरूप की महिमा को अवश्य समझ लेना चाहिए। अतः बुद्धिमान मनुष्य को यह वार्ता सोच-समझकर भगवान का आश्रय अति दृढ़ करना चाहिए यही मत सार का भी सार है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥9॥ ॥142॥

वचनामृत 10 : निश्चयरूप गर्भ का जतन

संवत् 1878 में श्रावण कृष्णा तृतीया (16 अगस्त, 1821) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन से घोड़ी पर सवार होकर श्रीलक्ष्मीवाड़ी में पधारे थे। उस फूलवाडी में वे आम्र-वृक्ष के नीचे की वेदी पर उत्तर की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। श्रीजीमहाराज ने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंस तथा विभिन्न स्थानों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'श्रीमद्भागवत में साकार ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है, फिर भी श्रीमद्भागवत का पाठ करनेवाले यदि परमेश्वर की भक्ति से रहित हों, तो उन्हें श्रीमद्भागवत से भी भगवान का स्वरूप निराकार ही लगता है तथा द्वितीय स्कन्ध में जहाँ आश्रय का रूप प्रतिपादित किया है, वहाँ भी भगवान का स्वरूप भक्तिरहित पुरुष को निराकार प्रतीत होता है। परन्तु भगवान का स्वरूप निराकार नहीं है, क्योंकि भगवान से ही समस्त स्थावर-जंगम सृष्टि होती है। यदि भगवान निराकार होते, तो उनसे साकार सृष्टि कैसे संभव हुई होती? जैसे आकाश निराकार है, तो उससे पृथ्वी द्वारा जैसे घटादिक आकार होते हैं, वैसे नहीं होते, उसी प्रकार ब्रह्मादि सृष्टि साकार है, तो उसके कर्ता परमेश्वर भी साकार ही हैं।

और, श्रीमद्भागवत में अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदेव तीनों का आधार भगवान का स्वरूप ही बताया गया है। उस बात को सुनिये, अध्यात्म अर्थात् विराट पुरुष की इन्द्रियाँ, अधिभूत अर्थात् विराट पुरुष के पंच महाभूत तथा अधिदेव अर्थात् विराट पुरुष के इन्द्रियों के देवता – ये सभी विराट में प्रविष्ट हुए फिर भी विराट जाग्रत नहीं हुए, परन्तु जब वासुदेव भगवान ने

पुरुषरूप द्वारा विराट पुरुष में प्रवेश किया, तब विराट पुरुष अपनी प्रवृत्ति करने में समर्थ हो गए। ऐसे भगवान विराट पुरुष के अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदेव तीनों में तादात्म्य से (अंतर्यामीरूप से) निवास करते हैं, किन्तु स्वरूप (दिव्यरूप) से वे विराट पुरुष से भिन्न हैं। वही आश्रय करने योग्य स्वरूप है। जैसे अग्नि प्रकाशस्वरूप की दृष्टि से अरूप है, तथापि वह स्वयं मूर्तिमान है। इस विषय में एक कथा भी है कि जब अग्नि को अजीर्ण हुआ था, तब मूर्तिमान अग्नि श्रीकृष्ण भगवान तथा अर्जुन के पास आया था। वह जब खांडव वन जलाने गया, तब वही अग्निदेव ज्वालारूप होकर समग्र वन में व्याप्त हो गया। उसी प्रकार पुरुषोत्तम भगवान अपनी ब्रह्मरूप अन्तर्यामी शक्ति द्वारा समस्त प्राणियों में व्याप्त हैं तथा मूर्तिमान होकर सबसे भिन्न भी हैं। और, जो ब्रह्म है, वह पुरुषोत्तम भगवान की किरण है[17] किन्तु स्वयं भगवान सदैव साकार मूर्ति ही हैं। अतएव, जो कल्याण का इच्छुक है, उसे भगवान को मूर्तिमान समझकर उनका आश्रय दृढ़ करके रखना चाहिए; तथा बात भी ऐसी करनी चाहिए कि किसी को भगवान का आश्रय हो, तो वह उन बातों से मिट न जाए। और, जिस प्रकार उदरस्थ गर्भ से स्त्री को पुत्ररूप फल का उदय होता है, वैसे ही जिसे भगवान के स्वरूप का निश्चयरूप गर्भ रहा हो, उसे भगवान के अक्षरधामरूपी फल की प्राप्ति होती है। अतः ऐसा उपाय करें कि जिससे उस निश्चयरूपी गर्भ को विघ्न उपस्थित न हो जाए और दूसरों से भी ऐसी बात करनी चाहिए, जिससे भगवान सम्बंधी निश्चयरूपी गर्भ का पात न हो जाए।'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज वाड़ी से दादाखाचर के राजभवन में पधारे और पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान हुए। उनके समक्ष परमहंस तथा विभिन्न स्थानों के हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने छोटे-छोटे परमहंसों को बुलाकर परस्पर चर्चा करने की आज्ञा दी। तब अचिन्त्यानन्द स्वामी ने प्रश्न किया कि 'ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति तीनों में से विशेष कौन है कि जिसके कारण भगवान के स्वरूप में प्रीति उत्पन्न होती जाती है?' तब परमहंसों में से कोई भी इस

17. यहाँ ब्रह्म शब्द वचनामृत गढडा प्रथम प्रकरण 45 की तरह भगवान की अंतर्यामी शक्ति को निरूपित करता है, परंतु वह अक्षरधामवाचक शब्द नहीं है।

प्रश्न का उत्तर न दे सके। इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि 'चलो, इस प्रश्न का उत्तर हम देते हैं और ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति के रूपों का पृथक्-पृथक् विवेचन करते हैं।

'जीवमात्र का ऐसा स्वभाव है कि जब वह उत्कृष्ट पदार्थ को देखता है, तब उससे निम्न प्रकार के पदार्थ से उसकी प्रीति हट जाती है। उसी प्रकार भगवान के अक्षरधाम में जो सुख है, उसके आगे यह मायिक सुख तो कृत्रिम सा है। अचल सुख तो भगवान के धाम में ही है। इसलिए, परमेश्वर की बात सुनते-सुनते यदि भगवान सम्बंधी सुख ज्ञात हो जाए, तो जितना माया से उत्पन्न सुख है, वह सब तुच्छ प्रतीत हो जाता है। जैसे किसी के पास तांबे का सिक्का हो, और उसके बदले में उसे कोई सोने की मोहर दे दे, तब तांबे के सिक्के से उसका मोह नष्ट हो जाएगा; वैसे ही भगवान सम्बंधी सुख में दृष्टि पहुँचने पर जितने मायिक सुख हैं, उन सभी से वैराग्य हो जाता है और एकमात्र भगवान की मूर्ति से ही प्रेम हो जाता है। इसे ही वैराग्य का स्वरूप बताया गया है।

अब ज्ञान का स्वरूप बताते हैं। ज्ञान-निरूपण में दो शास्त्र हैं। एक है, सांख्यशास्त्र तथा दूसरा, योगशास्त्र। उनमें सांख्यशास्त्र का मत है कि जिस प्रकार आकाश स्वयं पृथ्वी, जल, प्रकाश तथा वायु में व्याप्त है और बिना आकाश के एक अणु भी कहीं खाली नहीं है, फिर भी पृथ्वी आदि के विकार आकाश को स्पर्श नहीं करते, उसी प्रकार पुरुषोत्तम भगवान को आकाश की तरह कोई भी मायिक विकार स्पर्श नहीं करता। कृष्णतापनीयोपनिषद् में इस सिद्धान्त का वर्णन किया गया है, कि जब दुर्वासा ऋषि वृन्दावन में आए, तब श्रीकृष्ण भगवान ने गोपियों से कहा कि दुर्वासा भूखे हैं, इसलिए तुम सब उनके लिए थाल लेकर जाओ।' गोपियों ने पूछा कि यमुनाजी बीच में हैं, तो हम उस पार कैसे लगेंगे?' तब श्रीकृष्ण भगवान ने कहा कि यमुनाजी से तुम ऐसा कहना कि 'श्रीकृष्ण यदि सदैव ब्रह्मचारी रहे हों, तो मार्ग दे देना।' यह वचन सुनकर गोपियाँ हँसती हुई यमुना-तट पर जा पहुँचीं और उन्होंने इस बात को दोहराया। तब यमुनाजी ने तत्काल मार्ग दे दिया और वे ऋषि के पास पहुँच गईं। उन्होंने ऋषि को भोजन कराया। ऋषि उनके थालों के सभी खाद्यपदार्थ खा गए। बाद में गोपियों ने उनसे कहा कि 'हम अपने घर वापस

कैसे जाएं? बीच में यमुनाजी हैं!' ऋषि ने पूछा कि 'वहाँ से यहाँ किस प्रकार आई थीं?' गोपियों ने बताया कि श्रीकृष्ण ने हमसे यह कहा था कि 'यमुनाजी से कहना कि यदि श्रीकृष्ण सर्वदा बालब्रह्मचारी रहे हों, तो वे मार्ग दे दें।' बाद में यमुनाजी ने मार्ग दे दिया, जिससे हम सब आपके पास आ गईं।' यह सुनकर ऋषि बोले कि अब यमुनाजी से यह कहना कि 'यदि दुर्वासा सदैव उपवासी रहे हों, तो मार्ग दे देना।' गोपियाँ हँसती–हँसती वहाँ गईं और उन्होंने यही बात कह दी, तब यमुनाजी ने उन्हें तत्काल मार्ग दे दिया। इन दोनों घटनाओं को देखकर गोपियों को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। अत: भगवान का स्वरूप आकाश के समान निर्लेप है तथा समस्त क्रियाओं को करते हुए भी भगवान अकर्ता हैं। वे सबके संगी होते हुए भी अत्यंत असंगी हैं। इस प्रकार, सांख्यशास्त्र भगवान के स्वरूप को निर्लेप बताता है, यह सांख्य मतानुसार 'ज्ञान' है।

अब योगशास्त्र का मत बताते हैं, उसे सुनिए। योगशास्त्र का मत यह है कि जिसे भगवान का ध्यान करना हो, वह सर्वप्रथम अपनी दृष्टि स्थिर करें। दृष्टि को स्थिर करने के लिए भगवान की प्रतिमा अथवा किसी अन्य पदार्थ में दृष्टि को एकाग्र रखना। इस प्रकार एक ही आकार को देखते रहने पर दृष्टि स्थिर हो जाती है और उसके साथ–साथ अन्त:करण भी स्थिर हो जाता है। जब अन्त:करण स्थिर हो जाए, तो बाद में भगवान की मूर्ति को हृदय में धारण करें। इस प्रक्रिया में योगी बिना प्रयास के सहजतापूर्वक मूर्ति को हृदय में धारण कर सकता है। यदि योगी पहले से ही अभ्यास द्वारा अंत:करण को स्थिर नहीं करता, तो भगवान के ध्यान के समय अन्य कितनी ही उलझनें विघ्न डालने के लिए खड़ी हो जाती हैं। अत: योगशास्त्र का सिद्धांत यह है कि सबसे पहले अभ्यास द्वारा चित्त–वृत्ति को स्थिर कर लेना चाहिए, इसके पश्चात् उसे भगवान के साथ सम्बद्ध कर देना चाहिए। इस बात को समझ लेना ही योगशास्त्र सम्बंधी ज्ञान है। इस प्रकार, इन दो शास्त्रों के मतानुसार अपनी समझ को सुदृढ़ बनाना, वही ज्ञान है।

अब भक्ति की रीति बताते हैं। जब समुद्र–मन्थन किया गया, तब समुद्र में से लक्ष्मीजी प्रकट हुईं। बाद में लक्ष्मीजी ने हाथ में वरमाला लेकर यह विचार किया कि 'वरण करने योग्य कौन है, जिसका वरण मैं कर सकूँ।' बाद में लक्ष्मीजी ने इस बात का पता लगा लिया कि जिसमें रूप है, उसमें गुण

नहीं है और जिसमें कुछ गुण है, उसमें रूप नहीं है। इस प्रकार उन्होंने अनेक में बड़े-बड़े कलंक देखे। समस्त देवताओं एवं दैत्यों को उन्होंने कलंक से भरे हुए देखा और केवल भगवान को ही उन्होंने सर्वगुण-सम्पन्न, सर्वदोषों से रहित तथा सर्व-सुखनिधान पाया। तब लक्ष्मीजी की भक्ति भगवान में सुदृढ़ हो गई। बाद में उन्होंने अत्यन्त प्रेमपूर्वक भगवान को वरमाला पहनाकर उनसे विवाह कर लिया। इस प्रकार, कल्याणकारी गुणों को जानना और परमेश्वर का दृढ़ आश्रय ग्रहण करना, उसी का नाम भक्ति है।'

यह सुनकर मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से पूछा कि 'हे महाराज! परमेश्वर से प्रीति होने के सम्बंध में ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति में से किसका अधिक प्रधान बल रहता है, यह बात हमें समझ में नहीं आई।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'भक्ति में अधिक सामर्थ्य है। ज्ञान-वैराग्य यद्यपि समर्थ तो हैं, परन्तु भक्ति जितने समर्थ नहीं हैं। भक्ति तो अतिदुर्लभ है। भक्तिमान पुरुषों के लक्षण ये हैं कि जब जीवों के कल्याण के लिए भगवान मनुष्याकार मूर्ति धारण करके पृथ्वी पर विचरण करते हैं, तब भगवान के कितने ही चरित्र दिव्य तथा कितने ही चरित्र मायिक जैसे लगते हैं। जैसे कि जब भगवान ने कृष्णावतार धारण किया, तब उन्होंने देवकी तथा वसुदेव को चतुर्भुज-रूप में दर्शन दिया, गोवर्धनपर्वत उठाया और कालीय नाग को निकालकर यमुनाजी का जल निर्विष कर दिया, ब्रह्मा का मोह निवारण किया, अक्रूरजी को यमुना-जल में दर्शन दिया, तथा मल्ल, हस्ति और कंसादि दुष्टों को मारकर समस्त यादवों का कष्ट दूर किया;उसी प्रकार, रामावतार के समय उन्होंने धनुष तोड़ा तथा रावणादि दुष्टों का संहार कर समस्त देवताओं का कष्ट-निवारण किया इत्यादि पराक्रम भगवान के दिव्य चरित्र कहलाते हैं। परन्तु सीताहरण के समय रघुनाथजी रोते-रोते पागल जैसे हो गए तथा कृष्णावतार के अवसर पर वे कालयवन के भय से भाग निकले तथा जरासंध के समक्ष पराजित हो गए और अपनी राजधानी मथुरा को छोड़कर समुद्री द्वीप में जाकर बस गए इत्यादि भगवान के चरित्र मायिक जैसे लगते हैं।

अत: दिव्य चरित्रों में तो पापीजनों तक को दिव्यता प्रतीत होती है, परन्तु जब भगवान प्राकृत चरित्र करें, तब भी जिसको दिव्यता दिखाई पड़े, वही परमेश्वर का सच्चा भक्त है। और, भगवान ने गीता में कहा है कि -

'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥'[18]

इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'हे अर्जुन! मेरे जन्म एवं कर्म दिव्य हैं। जो पुरुष उनकी दिव्यता को समझ लेता है, देहत्याग के पश्चात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता, बल्कि वह मुझे ही प्राप्त कर लेता है। अतः **भगवान जो दिव्य चरित्र दिखाते हैं, वे भक्त तथा अभक्त-दोनों को दिव्य प्रतीत होते हैं, परन्तु जब भगवान मनुष्यों के समान प्राकृत चरित्र करते हैं, तब भी उनमें जिसे दिव्यता दिखाई पड़े और भगवान के उन चरित्रों में किसी प्रकार का दुर्भाव न रहे, ऐसी जिसकी निर्दोषबुद्धि हो, उसे ही परमेश्वर की भक्ति कहा जाता है। जो ऐसी भक्ति करे, वही भक्त कहलाता है।** और, उक्त श्लोक में प्रतिपादित फल भी ऐसे भक्त को ही मिलता है।

और, जैसे गोपियाँ भगवान की भक्त थीं, तो उन्होंने भगवान का किसी भी प्रकार से अवगुण नहीं सोचा। जबकि राजा परीक्षित ने गोपियों की बात सुननेमात्र से ही भगवान के चरित्र में संशय कर लिया। बाद में शुकजी ने उन्हें भगवान का सामर्थ्य दिखाकर उस संशय को नष्ट कर दिया। अतएव, भगवान जो भी चरित्र करें, उन्हें गोपियों के समान दिव्य मान लेना चाहिए, परन्तु उन्हें किसी प्रकार से प्राकृतभाव-युक्त समझकर दुर्भाव नहीं रखना चाहिए। ऐसी भक्ति महादुर्लभ है और एक दो जन्मों के पुण्यों से ऐसी भक्ति प्रकट नहीं होती, किन्तु अनेक जन्मों के संचित शुभ संस्कारों से ही गोपियों की जैसी भक्ति का उदय होता है। **ऐसी भक्ति ही परमपद है।** इसलिए, इस प्रकार की भक्ति ज्ञान तथा वैराग्य से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। जिसके हृदय में ऐसी भक्ति हो, उसे भगवान से प्रीति होने में क्या शेष रह गया है? कुछ भी नहीं!'

॥ इति वचनामृतम् ॥10॥ ॥143॥

वचनामृत 11 : सभी कर्म भक्तिरूप कैसे हों?

संवत् 1878 में श्रावण कृष्णा पंचमी (18 अगस्त, 1821) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में

18. गीता : 4/9, अर्थ के लिए देखें वच. वरताल प्रकरण-18 पादटीप-20

श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के सामने नीमवृक्ष के नीचे पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनि तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'जितने ग्रन्थ हैं उन सबको सुनकर कितने ही जीव अपनी यह धारणा बना लेते हैं कि ये ग्रन्थ धर्म, अर्थ तथा काम के निमित्त ही हैं। ऐसा समझकर ये जीव स्वयं भी धर्म, अर्थ और काम की उद्देश्यपूर्ति के लिए यज्ञ-व्रतादि शुभकर्म करते हैं। बाद में वे उन कर्मों का फल देवलोक अथवा ब्रह्मलोक या मृत्युलोक में भोग कर वहाँ से गिरते हैं और चौरासी लाख योनियों में जाते हैं। इसलिए, जो जीव धर्म, अर्थ और काम से प्रीति रखकर जो-जो सुकृत करते हैं, वे सब सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक होते हैं और उन कर्मों का फल उन्हें स्वर्गलोक, मृत्युलोक तथा पाताललोक में रहकर भोगना पड़ता है। परन्तु वे भगवान के गुणातीत धाम को नहीं पाते। और, जब मोक्ष ही नहीं होता, तब जन्म, मरण एवं नरकजन्य दु:ख भी नहीं मिटते। इसलिए **धर्म, अर्थ तथा काम सम्बंधी फल की इच्छा का परित्याग कर, यदि उन्हीं शुभ कर्मों को भगवान की प्रसन्नता के लिए किया जाए, तो वे ही शुभ कर्म भक्तिरूप होकर केवल मोक्ष के लिए फलदायी हो जाते हैं।** इस विषय में यह श्लोक है :

'आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत!
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम्॥
एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे॥'[19]

इस श्लोक का भी पूर्वोक्त भाव ही है। अतः यह वार्ता बड़ी अटपटी है, वह यदि पूर्णरूप से समझ में न आयी, तो भगवान के भक्त का व्यवहार

19. **अर्थ** : 'हे सुव्रत! जिस प्रकार घृतादि वस्तुओं के अतिभक्षण से मनुष्यों में रोग उत्पन्न हो जाता है, उसका निवारण घृत द्वारा नहीं होता, बल्कि घृतादि वस्तुओं में औषधों को मिश्रित किया जाए, तो वे रोग का पूर्णतः मूलोच्छेद कर डालते हैं। वैसे ही मनुष्यों की समस्त क्रियाएँ (व्रत, यज्ञ, दानादि) अन्त में संसृति का कारण होती हैं। फिर भी, यदि वे ही क्रियाएँ परमेश्वर की भक्ति के रूप में की गई तो वे अनादि अज्ञान की निवृत्ति के साथ-साथ मोक्ष को भी सुलभ बना देती हैं।' (श्रीमद्भागवतम् : 1/5/33-34)

भी अज्ञानी जीवों के समान ही देखकर उस पर भी उसे दुर्भाव हो जाता है; फिर ऐसे अवगुण ग्रहण करनेवाला नारकी होता है। और, भगवान के भक्त एवं विमुख जीवों की क्रिया में बड़ा अन्तर रहता है, क्योंकि विमुख जीव जो-जो क्रिया करता है, वह अपनी इन्द्रियों के पोषण के लिए करता है; जबकि भगवान का भक्त मात्र भगवान तथा भगवद्भक्त की सेवा के लिए समस्त क्रियाएँ करता है। अतः हरिभक्त की जो क्रियाएँ होती हैं, वे भक्तिरूप होती हैं। तथा जो भक्ति है, वह तो नैष्कर्म्य ज्ञान का रूप है। इस कारण, हरिभक्त की समस्त क्रियाएँ नैष्कर्म्यरूप (अबन्धक) हैं। इस सन्दर्भ में भगवद्गीता का यह श्लोक है :

'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥'[20]

इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'भगवान का भक्त भगवान की प्रसन्नता के लिए जो-जो कर्म करता है, उसमें जो अकर्मात्मक ज्ञान को देखता है और विमुख व्यक्ति निवृत्तिमार्ग को अपनाकर अकर्मभाव से रहता हो, फिर भी उसे कर्मों में ही डूबा हुआ जो देखता है, वही सभी मनुष्यों में बुद्धिमान एवं ज्ञानी है और वही युक्त अर्थात् मोक्ष के लिए योग्य है। तथा **'कृत्स्नकर्मकृत्'** अर्थात् 'सर्व कर्मों को करनेवाला है।' इसलिए, भगवान की आज्ञा के अनुसार उनकी प्रसन्नता के लिए भगवान के भक्त जो-जो कर्म करते हैं, उनको देखकर यदि कोई उनके विषय में अवगुण ग्रहण करता है, तो उसके हृदय में अधर्म अपने परिवार के साथ आकर निवास कर लेता है!'

॥ इति वचनामृतम् ॥11॥ ॥144॥

वचनामृत 12 : आध्यात्मिक मार्ग की राजनीति

संवत् 1878 में श्रावण कृष्णा षष्ठी (19 अगस्त, 1821) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के सामने विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंस तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

20. गीता : 4/18

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'एक बात कहता हूँ, उसे ध्यान से सुनिये और इस वार्ता में कल्याण के लिए केवल एक ही साधन बताते हैं। उस एक साधन में समस्त साधन आ जाते हैं। कल्याण के ऐसे एक प्रबल साधन के विषय में सुनिए। शरीर में जो आत्मा है, वह जानता है कि 'काम-क्रोधादि बुरी प्रकृतियाँ मेरे साथ जड़ चुकी हैं।' इस प्रकार, जो काम-क्रोध आदि विकृतियाँ जिसमें मुख्य रूप से रहती हैं, उन विकारों के योग से वह अपने आपको 'मैं कामी, क्रोधी तथा लोभी हूँ,' इस प्रकार कुलक्षणों से युक्त मानता है। परन्तु, जीवात्मा में तो उनमें से एक भी कुलक्षण नहीं है। वास्तव में साधक ने मूर्खता के कारण उन दोषों को अपने में समाया हुआ मान लिया है।

इसलिए, जिसको परमपद प्राप्त करने की इच्छा हो, उसे अपने भीतर कुछ पौरुष एवं शौर्य रखना चाहिए, परन्तु बिलकुल कायर होकर नहीं बैठना चाहिए। यह विचार भी करते रहना चाहिए कि जिस प्रकार इस देह में चार अन्तःकरण, दस इन्द्रियाँ तथा पाँच प्राण हैं, उसी तरह मैं जीवात्मा हूँ, फिर भी इस देह में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हूँ और सब (इन्द्रियों-अन्तःकरण) का नियन्ता हूँ।' उसे ऐसा कभी नहीं मानना चाहिए कि 'मैं तुच्छ हूँ तथा अन्तःकरण एवं इन्द्रियाँ बलवान हैं।'

जिस प्रकार से किसी बुद्धिहीन राजा की आज्ञा का पालन उसके परिवार के लोग भी न करते हों, तो इस बात की खबर गाँव के लोगों में भी पहुँच जाती है। फिर तो गाँव के लोग भी उसकी आज्ञा नहीं मानते और देशभर के मनुष्य भी इस बात को सुनते ही उस राजा की आज्ञा को नहीं मानते। बाद में वह राजा ग्लानिवश असमर्थ हो जाता है और किसी पर भी अपना आदेश नहीं चलाता। वैसे ही राजा के स्थान पर जीवात्मा है, तथा उसके कुटुम्ब के स्थान पर अन्तःकरण है। गाँव और देश के लोगों के स्थान पर इन्द्रियाँ हैं, और जब यह जीवात्मा पौरुषहीन होकर बैठ जाती है, तो अन्तःकरण पर आदेश चलाकर उसे परमेश्वर के सम्मुख करना भले ही चाहे, परन्तु अन्तःकरण उसका कहना नहीं मानेगा। और, इन्द्रियों को वश में रखना भी चाहे, परन्तु इन्द्रियाँ भी उसके वश में नहीं रहेंगी। फिर तो यह जीव भले ही कायानगर का राजा है, परन्तु वह रंक की तरह दीन-हीन होकर रहता है। जब राजा पौरुषहीन हो जाता है, तब उसके नगर के लोग साँड की तरह उस

पर जमकर बैठ जाते हैं और राजा के प्रत्येक आदेश की अवहेलना करने लगते हैं। उसी प्रकार से जीव के कायानगर में जो कामादिक दोष राजा नहीं हैं, वे भी राजा होकर बैठ जाते हैं और उस जीव की सत्ता लेशमात्र भी चलने नहीं देते।

अतः जिसे कल्याण की चाहना हो, उसे इस प्रकार कायरता नहीं रखनी चाहिए और वही उपाय करना चाहिए जिससे उसका अपना अन्तःकरण एवं अपनी इन्द्रियाँ अपनी आज्ञा का पालन किया करें। जिस प्रकार राजा राजनीति की शिक्षा लेकर, फिर अपने राज्य में अपना शासन चलाता है, वह प्रजा द्वारा दबाव डाले जाने से दबता नहीं है। परन्तु, यदि उसे राजनीति का ज्ञान न हो, तो प्रजा उसकी आज्ञा नहीं मानती; ऐसी स्थिति में प्रजा को वह मारने लगे तो उसका पूरा राज्य ही उजड़ जाता है, और प्रजा उसकी आज्ञा की अवहेलना करने लगती है, तो वह दुःखी रहा करता है। इस तरह बिना राजनीति को जाने दोनों प्रकार से हानि होती है। उसी प्रकार से जीव भी 'राजनीति' की शिक्षा लिए बिना काया-नगर में अपना शासन चलाने जाएगा, तो उससे उसे सुख नहीं मिलेगा।'

तब मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से पूछा कि 'कल्याण की इच्छा रखनेवाले पुरुष को राजनीति की शिक्षा किस प्रकार ग्रहण करें?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस राजनीति की शिक्षा तो इस तरह ग्रहण करें कि सबसे पहले भगवान का माहात्म्य अच्छी तरह समझना। बाद में भगवान की मूर्ति का ध्यान करके मन को वश में कर लेना। इसके पश्चात् भगवान की कथा सुनकर अपनी श्रोत्रेन्द्रिय को वश में कर लेना। परन्तु, लौकिक बातें श्रोत्र को कभी सुनने ही देना नहीं चाहिए! इसी प्रकार त्वचा केवल भगवान तथा उनके भक्तजनों का ही स्पर्श करे तथा नेत्र केवल परमेश्वर तथा उनके सेवकों का ही दर्शन करे और जीभ निरन्तर भगवद्गुणों का ही गान करे एवं भगवान के प्रसाद का ही रसास्वादन करे। इसके उपरांत नासिका केवल भगवान के प्रसादी-पुष्पादि की ही सुगन्ध ले। परन्तु किसी भी इन्द्रिय को कुमार्गगामी नहीं होने दे। इस प्रकार जो आचरण करता है, उसके देहरूपी नगर में कोई भी आज्ञालोप नहीं कर सकता। जो पुरुष इस प्रकार पुरुषार्थ-पूर्वक आचरण रखता है तथा कायरता का अच्छी तरह त्याग कर

देता है, वही कल्याण पथ पर अग्रगामी हुआ है, और उसके लिए स्वभावों पर जीत पाने का भी सबसे बड़ा यही उपाय है। और यदि पुरुष-प्रयत्नरूपी इस उपाय को सावधान होकर करे तो जितने कल्याण के लिए साधन हैं, सभी पुरुषप्रयत्नरूपी साधन में समाविष्ट हो जाते हैं। इसलिए, पुरुषप्रयत्न ही कल्याण के लिए सबसे बड़ा साधन माना गया है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥12॥ ॥145॥

वचनामृत 13 : श्रीहरि के स्वरूप का ज्ञान; यथार्थ निश्चय

संवत् 1878 में श्रावण कृष्णा अमावास्या (27 अगस्त, 1821) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के बरामदे में गद्दी पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी तथा मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी। उनके समक्ष मुनि तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने अपनी दोनों भुजाओं को ऊँचा उठाकर सबको शांत होने का संकेत किया, फिर अपने मुखारविन्द के समक्ष स्तुति करके बैठे हुए सन्तों को सम्बोधित करते हुए श्रीजीमहाराज कहने लगे कि 'हे सन्तो! आप लोगों में जो बड़े-बड़े सन्त हों और बात को समझते हों, वे आगे आकर बैठें और मैं जो एक बात कहता हूँ उसे सब ध्यान देकर सुनें। मुझे यह बात जो करनी है, वह किसी प्रकार का दम्भ पोसने के लिए नहीं करनी है। और मान या अपने बड़प्पन को बढ़ाने के लिए भी नहीं करनी है। वास्तव में हम यह जानते हैं कि 'यदि यह बात इन समस्त साधुओं तथा हरिभक्तों में से किसी की भी समझ में आ जाए, तो उसकी आत्मा का अतिशय कल्याण हो जाए।' इसी प्रयोजन से हम यह बात करते हैं। यह जो बात है, उसे मैं देखता हूँ तथा अपने अनुभव से भी मैंने उसे सिद्ध किया है और वह समस्त शास्त्रों द्वारा भी प्रामाणित है। यद्यपि यह बात सभा में चर्चा करने योग्य नहीं है, फिर भी सभा में इसका उल्लेख कर रहा हूँ। जैसे कि –

मुझे सहज स्वाभाविक रूप से ऐसा सिद्ध है कि इस संसार में जो अति सुन्दर शब्द, अति सुन्दर स्पर्श, अति सुन्दर गन्ध, अति सुन्दर रस एवं अति

सुन्दर रूप आदि पंचविषय हैं, उनमें यदि मैं अपने मन को आसक्त करना चाहूँ, तो भी वह उनमें आसक्त नहीं होता, बल्कि उनसे अत्यन्त उदासीन रहता है। मुझे तो अच्छे पंचविषय हों अथवा बुरे पंचविषय, दोनों में समान भाव ही रहता है और मेरे लिए राजा और रंक भी समान लगते हैं। तथा त्रिलोकी का राज्य-शासन करना और भिक्षा माँगकर खाना दोनों समान लगते हैं। और, हाथी के ओहदे पर बैठना तथा पैदल चलना वह भी समान लगता है। और, कोई चन्दन अथवा पुष्प या अच्छे वस्त्र एवं आभूषण अर्पित करे अथवा कोई धूल की वर्षा करे, दोनों में समान भाव है। और, कोई मान-सम्मान करे अथवा अपमान करे, दोनों भी समान लगते हैं। तथा सोना, चाँदी, हीरा हो अथवा कुड़ा या कचरा हो, दोनों में मेरा सामान भाव ही रहता है। और मुझे ऐसा भी नहीं लगता कि यह हरिभक्त बहुत बड़ा है और वह हरिभक्त छोटा है, मुझे तो सभी हरिभक्त समान ही लगते हैं।

और, मेरे अन्त:करण में अति तीव्र वैराग्य है, फिर भी मुझे उसका भार नहीं लगता। जैसे किसी ने सिर पर पत्थर उठाया हो अथवा रुपयों, एवं स्वर्णमुद्राओं की थैली कमर में लटकायी हो, तो उसे इनका बोझ महसूस होता है; परन्तु मुझे किसी प्रकार के गुणों का बोझ महसूस नहीं होता। और, मुझमें जो सद्धर्म है और मैं ब्रह्म हूँ – ऐसा जो ब्रह्मज्ञान है उसका अहं भी मुझे किसी तरह महसूस नहीं होता। और, बाह्यरूप से मैं किसी पदार्थ की प्रशंसा करता हूँ या उनकी आलोचना भी करता हूँ, वह तो मैं जानबूझकर करता हूँ। और, जिस-जिस पदार्थ में इन्द्रियों की वृत्तियों को बलपूर्वक जोड़ता हूँ, तो अत्यंत ही कठिनाई से उन पदार्थों तक मेरी वृत्तियाँ जाती हैं; जब मैं इन्हें शिथिल करता हूँ, तो तुरन्त वे लौटकर अन्तर सम्मुख हो जाती हैं। उदाहरण रूप आकाश में फेंका गया पत्थर उतना ही दूर जाता है, जितना फेंकनेवाले की कलाई में जोर होता है, फिर वह पत्थर पृथ्वी पर गिर जाता है; और, जैसे बहुत कमज़ोर पशु को मनुष्य जब तक बलपूर्वक ऊँचा उठाकर रखता है, तब तक वह उसी दशा में रहता है, फिर हाथ हटा लेने पर नीचे गिर पड़ता है; और, कोई बलवान पुरुष दाँतों से पूरी सुपारी को तोड़ डालता हो, परन्तु जब वह दस-बीस नीबू चूस लेता है तब वह भूने हुए चने को भी बहुत मुश्किल से चबा सकता है; वैसे ही विषयों के सन्मुख वृत्तियों को

बलपूर्वक जोड़ते हैं, तब वह कठिनाई से जुड़ पाती हैं।

यह जो मुझे स्वाभाविक सिद्ध है, उसका क्या कारण है? तो मेरी इन्द्रियों की वृत्ति प्रतिलोम होकर हृदयाकाश में सदैव स्थित रहती है। और, उस हृदयाकाश में अतिशय तेज दिखाई पड़ता है। जैसे वर्षाकाल में आकाश में सर्वत्र बादल छाये रहते हैं, वैसे ही मेरे हृदय में सर्वत्र तेज ही तेज व्याप्त रहा करता है। उस तेज में एकमात्र भगवान की मूर्ति ही दिखाई पड़ती है, जो अत्यन्त प्रकाशमय है; यद्यपि वह मूर्ति घनश्याम है, परन्तु वह अतिशय तेज के कारण श्याम नहीं, बल्कि अत्यन्त श्वेत दिखाई पड़ती है। और वह मूर्ति द्विभुज है। उस मूर्ति के दो चरण हैं। वह अतिशय मनोहर है। वह मूर्ति चतुर्भुज अथवा अष्टभुज या सहस्त्रभुज नहीं है। वह मूर्ति अतिसौम्य है, और मनुष्य के जैसी उसकी आकृति है, तथा किशोरस्वरूप है। वह मूर्ति उस तेज में कभी खड़ी, तो कभी बैठी हुई और कभी घूमती-फिरती दिखाई पड़ती है। और, उस मूर्ति के चारों ओर मुक्तों के मंडल बैठे हुए हैं; वे सभी मुक्त एकदृष्टि से उन भगवान की मूर्ति की ओर देख रहे हैं। उस मूर्ति को हम प्रकट प्रमाणरूप में अभी भी देखते हैं, तथा जब सत्संग में नहीं आए थे, तब भी देखते थे और माता के गर्भ में रहने पर भी देखते थे, और गर्भ में आने के पहले भी उसे देखा करते थे। तथा हम बोलते हैं, यह भी वहाँ बैठे हुए ही बोलते हैं, और आप सब भी वहाँ ही बैठे हैं, ऐसा मैं देखता हूँ, परन्तु यह गढ़डा शहर या यह बरामदा आदि बिल्कुल नहीं दिखाई पड़ता। और, जब इस स्वरूप का ज्ञान जिसे हो जाता है, उसको हमारे समान किसी भी विषय-सुख में आसक्ति रहती ही नहीं है। और, **उस स्वरूप को आप भी देखते हैं, परन्तु वह पूर्णतः आपकी समझ में नहीं आता है, इसीलिए जब इस स्वरूप की उपरोक्त वार्ता यथार्थ रूप से समझ में आ जाएगी, तब पंचविषयों या काम-क्रोधादि स्वभावों पर विजय प्राप्त करने में प्रयास करना नहीं पड़ेगा, बल्कि वे सहज ही रूप से जीते जाएँगे।**

वह जो एकरस तेज है, उसे आत्मा कहें या ब्रह्म कहें अथवा अक्षरधाम कहें; तथा उस प्रकाश में भगवान की जो मूर्ति है, उसे आत्मा का तत्त्व कहें अथवा परब्रह्म एवं पुरुषोत्तम कहें। वे ही भगवान अपनी इच्छा से जीवों का कल्याण करने के लिए रामकृष्णादि रूप को धारण करके युग-युग में प्रकट

होते रहते हैं। यद्यपि वे भगवान इस लोक में मनुष्य–सदृश दिखाई पड़ते हैं तथापि वे मनुष्य जैसे नहीं हैं, वे तो अक्षरधाम के स्वामी हैं।

श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में कहा है :–

'न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥'[21]

अतः श्रीकृष्ण भगवान यद्यपि मनुष्य–सदृश दिखाई पड़ते थे, तथापि वे अक्षरातीत कैवल्यमूर्ति ही हैं। और, भगवान जो मनुष्यदेह धारण करते हैं, उनकी उस मूर्ति का जब कोई पुरुष ध्यान करता है, तब उस ध्यान करनेवाले को वह मूर्ति अक्षरधाम में तेजोमय एवं कैवल्यस्वरूप प्रतीत होती है। तथा ध्यान के करनेवाले का जीव माया को पार कर परमपद को प्राप्त कर लेता है। इसीलिए, भगवान मनुष्यदेह धारण करने पर भी कैवल्यरूप ही हैं। और, वह भगवान जिस स्थान पर विराजमान हों, वह स्थान भी निर्गुण है, तथा उन भगवान के वस्त्र, अलंकार, वाहन, परिचर्या करनेवाले सेवक तथा खान–पान आदि जो–जो पदार्थ भगवान से सम्बंध रखते हैं, वे सभी निर्गुण हैं। इस प्रकार जिसने भगवान के स्वरूप को पहचान लिया, उसको हमारी तरह पंचविषयों में कहीं भी आसक्ति नहीं रहती है और वह स्वतन्त्र हो जाता है।

और, **ये अक्षरातीत जो पुरुषोत्तम भगवान हैं, वे ही समस्त अवतारों के कारण हैं; और ये सभी अवतार पुरुषोत्तम में से प्रकट होते हैं और पुरुषोत्तम में ही पुनः लीन हो जाते हैं।**[22] वे भगवान जब मूर्ति धारण करके पुनः अन्तर्धान हो जाते हैं, तब भगवान की वह मूर्ति कभी तो मनुष्य की तरह इस पृथ्वी पर पड़ी रहती है, जैसे रुक्मिणीजी श्रीकृष्ण की मूर्ति को गोदी में लेकर जल मरी तथा ऋषभदेव की देह दावानल में जल गई,

---

21. **अर्थ :** 'जिस ब्रह्मधाम को प्राप्त करके पुनः जन्म–मरण को भोगना नहीं होता तथा जिस धाम को सूर्य–चंद्र तथा अग्नि भी प्रकाशित नहीं कर सकते हैं, वही मेरा परम धाम है।' (गीता : 15/6)

22. भगवान स्वामिनारायण अक्षरातीत सर्वोपरि पुरुषोत्तम हैं, उन्हीं से सभी अवतार प्रकट होते हैं, तथा पुनः उन्हीं में लीन होते हैं। जैसे तारे चन्द्र में लीन होते हैं, चन्द्र सूर्य में लीन होता है, उसी प्रकार लीनता समझना; परंतु जैसे जल में जल या अग्नि में अग्नि मिलती है, वैसे लीनता मत समझना।

(गोपालानंद स्वामी की बातें : 1/172)

ऐसा भी होता है; और कभी वह मूर्ति अस्थि-मांस सहित दिव्यभाव को प्राप्त करके अन्तर्धान हो जाती है। तथा भगवान जब प्रकट होते हैं, तब वे कभी तो स्त्री के उदर से जन्म लेते हैं और कभी स्वेच्छानुसार अपने इच्छित स्थान से प्रकट होते हैं। इस प्रकार भगवान की जन्म लेने एवं देहोत्सर्ग करने की रीति अलौकिक है। जब भगवान के ऐसे स्वरूप को दृढ़तापूर्वक समझेंगे तो आपको किसी भी प्रकार का विघ्न कल्याण के मार्ग में नहीं आएगा; परन्तु यदि उन भगवान के स्वरूप की ऐसी दृढ़ता नहीं होगी, तो आप चाहे जितने उपवास ही क्यों न करें, फिर भी आपकी कमी किसी भी प्रकार से दूर नहीं हो पाएगी। और, आप कहेंगे कि 'हमें तो आपके कथन-अनुसार ही भगवान के स्वरूप की दृढ़ता बनी हुई है, फिर भी हमारे प्राण और इन्द्रियाँ उनके स्वरूप में लीन क्यों नहीं होते?' तो इस विषय में आपको यह समझना चाहिए कि आपकी स्थिति परमेश्वर की इच्छा से ही रही है, लेकिन उसे कुछ करना शेष नहीं है! वह कृतार्थ हो चुका है तथा वह समस्त साधनों को समाप्त कर चुका है। यदि भगवान के स्वरूप की ऐसी दृढ़ता हो, तथा निर्मान, निर्लोभ, निष्काम, निःस्वाद और निःस्नेह आदि वर्तमानों के पालन में से कदाचित् कुछ शिथिलता रह गयी तो उसकी तो कोई चिन्ता नहीं, परन्तु भगवान के स्वरूप के ज्ञान को समझने में यदि किसी प्रकार की कसर रह गई, तो किसी भी प्रकार आपकी कमी दूर नहीं हो पाएगी। इसलिए, अपने जीवनकाल में ही जैसे भी बने वैसे इस रहस्य को समझ लेने का उपाय कर लें।

और, यह वार्ता यथार्थरूप में जिसने समझ ली हो, फिर प्रारब्ध कर्मवश किसी नीच-उच्च देह की प्राप्ति हो गई, तो भी जीव में से वृत्रासुर की तरह इस भगवत्स्वरूप के ज्ञान का लोप नहीं होगा। जैसे भरतजी को मृग का शरीर प्राप्त हुआ, परन्तु उनका पूर्वजन्म का ज्ञान नहीं मिट सका; ऐसा ही इस ज्ञान का अतिशय माहात्म्य है। और, नारद-सनकादिक तथा ब्रह्मादि देवों की सभा में भी निरन्तर यही वार्ता होती रहती है। और, **भगवत्स्वरूप सम्बंधी ऐसी वार्ता तो शास्त्रों से भी अपने-आप समझ में नहीं आती। और, सद्ग्रन्थों में ऐसी वार्ता तो होती है, परन्तु जब सत्पुरुष प्रकट होते हैं तभी उनके मुख द्वारा यह बात समझ में आती है। लेकिन अपनी बुद्धि के आधार पर तो सद्ग्रन्थों में से भी यह बात समझ में**

नहीं आती। और, जिसको इसी प्रकार भगवान का यथार्थ स्वरूप समझ में आ गया है, उसकी दृष्टि भूत, भविष्य तथा वर्तमानसूचक तीनों कालों में भी यदि पहुँचती हो, तो भी उसको उस बात का कुछ भी अहंकार नहीं होता; और ऐसे ज्ञानी कभी किसी को वरदान या शाप देते भी है अथवा नहीं भी देते! वे कहीं पर निर्भय रहते हैं, तो कहीं पर भयभीत भी दिखते हैं! परंतु ऐसे कारणों से वे अपने मन में किसी प्रकार का हर्ष या शोक तो नहीं लाते! भगवान का इस प्रकार का जिसको दृढ़ आश्रय होता है, वह जानबूझकर अशुभ कर्म करता ही नहीं है, परन्तु कदाचित् विषम देशकालादि के संयोग से यदि उससे कोई अशुभ कर्म हो भी गया, तो कल्याण-मार्ग से ऐसे दृढ़ आश्रयवाले भक्त का पतन कभी नहीं होता। अतः भगवान के दृढ़ आश्रय के समान अन्य कोई निर्विघ्न मार्ग है ही नहीं! और, जिसको यह बात समझ में आ चुकी हो, उसका महान आशय होता है। देखिए न, यद्यपि हमें परमहंसों तथा सत्संगिजनों से कोई स्वार्थ नहीं सिद्ध करना है, तो भी हम किसी को बुलाते हैं, किसी को डाँटते हैं और किसी को निकाल भी देते हैं, इसका एकमात्र यही प्रयोजन है कि 'किसी भी प्रकार से उसे यह बात समझ में आ जाए, तो उसका कल्याण हो जाए।' इसलिए, आप सब इस स्वरूप-ज्ञान की वार्ता को दृढ़तापूर्वक अपनी स्मृति में रखियेगा।

और, **यह बात अवश्य समझ लें कि 'तेजःपुंज (अक्षरधाम) में जो मूर्ति है, वे ही ये प्रत्यक्ष महाराज हैं।' इस बात को दृढ़ करना। यदि यह बात मानने में संशय हो, तो इतना अवश्य मानना कि 'अक्षर-रूप तेज में जो मूर्ति है, उसे महाराज देखते हैं।' यदि इतना भी जान लिया, तो भी हमारे प्रति आपका स्नेह बना रहेगा तथा उससे आपका परमकल्याण होगा। और, इस बात को प्रतिदिन ताज़ा बनाये रखना, लेकिन लापरवाह होकर इसका विस्मरण मत करना। जैसी तुम्हें इस बात की स्मृति आज हो, वैसी की वैसी कल भी रखना और जीवन के अन्त तक इसे दिन-प्रतिदिन बिल्कुल नूतन ही नूतन रखिएगा। और, आप भगवान की जो-जो बातें करें, उस प्रत्येक बात में इस बात का बीज बताते रहना, ऐसी मेरी आज्ञा है।** और, यह वार्ता इतनी जानदार है कि देह रहने तक भी इसे प्रतिदिन करते रहना तथा देहत्याग के बाद भागवती

तन द्वारा भी इसी बात को करना है। और यह जो बात हमने आपको बतायी है, वह समस्त शास्त्रों का सिद्धान्त है और, अनुभव में भी यही बात हमें सुदृढ़ है, तथा हमने प्रत्यक्षरूप से देखकर ही आपको यह बात बतायी है। यदि हमने इसे प्रत्यक्षरूप से नहीं देखा हो, तो हमें समस्त परमहंसों की कसम है।'

इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने अपने भक्तजनों को शिक्षा देने के लिए अपने पुरुषोत्तम होने की वार्ता परोक्षरूप से कही। यह बात सुनकर समस्त साधुओं तथा हरिभक्तों ने यही दृढ़ता की कि 'अक्षररूप तेजपुंज में जिस मूर्ति के रहने की बात कही गई है, वही मूर्ति ये प्रत्यक्ष प्रमाण श्रीजीमहाराज ही हैं।'

॥ इति वचनामृतम् ॥13॥ ॥146॥

वचनामृत 14 : निरुत्थान निश्चय ही निर्विकल्प समाधि

संवत् 1878 में भाद्रपद शुक्ला प्रतिपदा (28 अगस्त, 1821) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के समीप उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी, मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था, उस फेंटे के ऊपर लाल कर्णिकार पुष्प का तुर्रा सुशोभित लग रहा था। उनके भाल में कुंकुम का सुन्दर टीका लगा हुआ था। उनके समक्ष मुनिमंडल तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान के स्वरूप में जो सन्त तदात्मक भाव को प्राप्त हो जाते हैं, वे समाधि द्वारा होते हैं या उसका कोई अन्य उपाय भी है?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'कल हमने जैसी भगवान के स्वरूप की बातें कही थीं, उस प्रकार उस भगवत्स्वरूप को यथार्थरूप में जान लिया हो और उनके निश्चय में किसी तरह का संशय न रह गया हो, वही भगवान के स्वरूप में तदात्मक भाव है। जैसे नीमवृक्ष के सम्बंध में एक बार जान लिया, तो मन में किसी प्रकार का संशय ही नहीं होता, कि यह पेड़ 'नीम का है या नहीं?' इसी प्रकार, चाहे किसी का भी संग हो जाए और चाहे कैसे ही शास्त्रों का श्रवण किया जाए, किन्तु फिर भी जिसका मन भगवान के स्वरूप के सम्बंध में किए गए निश्चय से विचलित नहीं होता, ऐसे भगवत्सम्बंधी

निरुत्थान निश्चय को ही हम तदात्मकता कहते हैं। ऐसी तदात्मकता केवल एकान्तिक भक्त के प्रसंग से ही सिद्ध होती है; किन्तु केवल समाधि से सिद्ध नहीं होती। ऐसी तदात्मकता को ही निर्विकल्प समाधि कहते हैं। जिसे इस प्रकार की निर्विकल्प समाधि हो गई हो, ऐसे सन्त भी निर्गुण ब्रह्म ही हैं। ऐसे अडिग निश्चयवाले सन्त भले ही निवृत्ति-मार्ग पर चलें अथवा प्रवृत्ति मार्ग पर, परन्तु वे सर्वदा निर्गुण ही हैं। जैसे नारद एवं सनकादिक ऋषि निवृत्ति-मार्ग की ओर प्रवृत्त हुए तथा सप्त ऋषि और जनकादि राजा प्रवृत्तिमार्ग पर चले, फिर भी भगवान सम्बंधी निश्चय की दृढ़ता के कारण उन्हें भी निर्गुण जानना चाहिए। यदि कोई निवृत्ति-मार्गी हो, परन्तु उसे भगवान सम्बंधी निश्चय नहीं है, तो उसे मायिक गुणयुक्त होने के कारण सगुण ही समझना चाहिए। और, उसके बारे में यह समझना कि यद्यपि वह अतिशय त्यागी दिखता है, फिर भी उसे भगवान सम्बंधी निश्चय नहीं है, अतः वह अज्ञानी है और वह निश्चित ही नरक में जाएगा।' और, जिसको भगवान के स्वरूप का ऐसा अविचल निश्चय है, फिर यदि उसमें कोई कमी रह गई होगी, तो भी उसकी असद्गति कभी नहीं होगी, वह तो अवश्य ही निर्गुणभाव को प्राप्त कर लेगा। और, **जिसे भगवान के स्वरूप का तो ऐसा निश्चय नहीं है, फिर वह चाहे कितना ही उच्च त्यागी हो और काम, क्रोध-लोभादि को टालने में पूरी सावधानी भी बरतता हो, परन्तु उसके मिटाए वे कामादिक विकार नहीं मिटेंगे, किन्तु अन्त में वह दुर्दशाग्रस्त होकर नरक में ही जाएगा। और, जिसको भगवान के स्वरूप का ऐसा ज्ञान हो चुका है, उसकी बुद्धि अल्प होने पर भी उसे महाबुद्धिमान समझना चाहिए; किन्तु, जिसे भगवान के स्वरूप का ऐसा ज्ञान नहीं हो पाया, उसे अधिक बुद्धि होने पर भी बुद्धिहीन ही समझना चाहिए।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥14॥ ॥147॥

वचनामृत 15 : स्वभाव पर शत्रुभाव

संवत् 1878 में भाद्रपद शुक्ला द्वितीया (29 अगस्त, 1821) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के बरामदे में गद्दी बिछवाकर विराजमान थे।

उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनि तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब श्रीजीमहाराज ने समस्त परमहंसों से प्रश्न पूछा कि 'चाहे कैसा ही जड़ स्वभाव हो, किन्तु मात्र एक विचार करने से उस स्वभाव का नाश हो जाए तथा उस विचार को छोड़कर दूसरे सहस्रों विचार करें, फिर भी वह बुरा स्वभाव नहीं मिटे, ऐसा एक कौन-सा विचार है ? इस बात पर आप जो समझ रहे हैं, वैसा कहें।' तत्पश्चात् परमहंसों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर दिया, परन्तु यथार्थ उत्तर किसी से भी संभव नहीं हुआ। तब श्रीजीमहाराज ने कहा, 'चलिये, मैं ही इसका उत्तर देता हूँ।' इतना कहकर उन्होंने बताया कि 'जैसे कोई शत्रु हमारा बनता हुआ काम बिगाड़ दे अथवा हमारी माता और बहन को गालियाँ दे, तब उस पर हमें अत्यधिक क्रोध आता है। प्रतिकार स्वरूप हम जिस उपाय द्वारा उसका अनिष्ट हो, वैसा ही उपाय करने लगते हैं अथवा कोई अन्य व्यक्ति उस शत्रु का कुछ भी बुरा करे, तो हमें अत्यन्त ही प्रसन्नता होती है। वैसे ही **जो मोक्ष के लिए यत्न कर रहा हो, ऐसे समय में यदि काम-क्रोधादि आन्तरिक शत्रु विघ्न डालें, तो उन दोषों के प्रति भी उसे वैसी ही वैर-बुद्धि हो जाए तथा उनको मिटा देने की खटक मन से कभी मिटे ही नहीं, ऐसा विचार जिसको प्राप्त हो जाए, उसी विचार द्वारा स्वभावरूपी शत्रु को वह मिटा सकता है।** और, जब कोई सन्त उन कामादि शत्रुओं की निन्दा और भर्त्सना करे, ऐसे समय में जिसे पूर्वोक्त विचार सुदृढ हो, उसे उस सन्त के प्रति कोई दुर्भाव नहीं होता। बल्कि वह, उस साधु का अधिक से अधिक गुण-ग्रहण करता रहता है कि 'ये साधु मेरे शत्रुओं को मिटाने का उपाय करते हैं, इसलिए, ये मेरे परम हितैषी हैं।' इस प्रकार का विचार जिसके हृदय में रहा करता हो, तो वह शत्रुमात्र का नाश कर डालता है तथा कोई बुरा स्वभाव उसके हृदय में रह नहीं सकता। इसके अतिरिक्त चाहे जितने भी प्रकार के विचार किये जाएँ, किन्तु उनसे उसके कामादिक स्वभावरूपी शत्रु नहीं नष्ट होते। इसलिए, ऐसे स्वभाव के प्रति शत्रुभाव रखना ही समस्त विचारों में श्रेष्ठ विचार है।'

इस वार्ता के पश्चात् श्रीजीमहाराज ने पुनः प्रश्न किया कि 'जो भक्त धर्म, वैराग्य, आत्मज्ञान तथा माहात्म्यसहित परमेश्वर की भक्ति की साधना

से कभी भी च्युत न हो, ऐसे दृढ़ भक्त की पहचान किन लक्षणों से संभव होती है?'

फिर सभी सन्तों में से जिसे जैसा समझ में आया, उसने वैसा बताया, किन्तु कोई भी इसका यथार्थ उत्तर न दे सका। तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जिसका बाल्यावस्था से ही ऐसा स्वभाव हो कि वह किसी के भी प्रभाव में आकर दबे नहीं और जहाँ वह बैठा हो, वहाँ कोई भी व्यक्ति हँसी-मज़ाक न कर सके तथा उसे कोई तुच्छ वचन भी न कह सके, ऐसे लक्षण जिसके भी हों, वह धर्म, वैराग्य, ज्ञान एवं भगवान की भक्ति से कभी भी च्युत नहीं हो सकता। यदि कदाचित् अहंकारियों के समान ही उसका स्वभाव दीखता हो, परन्तु उसे कल्याण की गरज़ होती है, अतः वह सत्संग से कभी भी भ्रष्ट नहीं हो सकता!'

॥ इति वचनामृतम् ॥15॥ ॥148॥

वचनामृत 16 : स्वरूपनिष्ठा एवं धर्मनिष्ठा

संवत् 1878 में भाद्रपद शुक्ला दशमी (7 सितम्बर, 1821) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के समीप चौकी पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनिमंडल तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न किया कि 'एक ओर अर्जुन की तरह स्वरूपनिष्ठा है, तो दूसरी ओर राजा युधिष्ठिर की तरह धर्मनिष्ठा है। इन दोनों प्रकार की निष्ठाओं में से यदि कोई स्वरूपनिष्ठा का बल रखता है, तो उसकी धर्मनिष्ठा शिथिल हो जाती है और यदि धर्मनिष्ठा का बल रखता है, तो उसकी स्वरूपनिष्ठा मन्द पड़ जाती है। इसलिए, ऐसा कौन-सा उपाय किया जाना चाहिए, जिससे कि इन दोनों निष्ठाओं में से कोई भी निष्ठा शिथिल न पड़ सके?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में पृथ्वी और धर्म का जो संवाद है, उसमें यह बताया गया है कि भगवान का स्वरूप सत्य, शुचिता आदि उनचालीस गुणों से युक्त है। अतः समस्त धर्म भगवान

की मूर्ति का आश्रय लेकर रहते हैं। इसलिए ही भगवान को धर्मधुरन्धर कहा गया है और श्रीमद्भागवत के उसी स्कन्ध में शौनकादि ऋषियों ने सूत पुराणी से पूछा है कि 'धर्म के कवचस्वरूप श्रीकृष्ण भगवान के अन्तर्धान होने के पश्चात् धर्म किसकी शरण में रहा था?' उसका तात्पर्य यही है कि धर्म भगवान के आश्रय में ही रहता है। इसलिए, जो मुमुक्षु भगवान की निष्ठा रखता है, उसके हृदय में भगवान का स्वरूप भी बना रहता है। इस प्रकार, उसके हृदय में धर्म भी निवास करके रहता है। अत: जो भक्त स्वरूपनिष्ठा रखता है, उसकी धर्मनिष्ठा भी सहजभाव से बनी रहती है। परन्तु यदि उसने एकमात्र धर्मनिष्ठा ही रखी, तो स्वरूपनिष्ठा अवश्य शिथिल पड़ जाएगी। इस कारण **बुद्धिमान मुमुक्षु स्वरूपनिष्ठा ही दृढ़ करके रखें, ताकि उसके साथ-साथ धर्मनिष्ठा भी सुदृढ़ बनी रहे।'**

इसके पश्चात् मुक्तानन्द स्वामी ने दूसरा प्रश्न पूछा कि 'पंचविषयों की आसक्ति को वैराग्य द्वारा जीता जाता है या कोई अन्य उपाय भी है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'वैराग्य हो अथवा न हो, परन्तु परमेश्वर द्वारा बताए गए नियमों का यदि सावधानी से पालन किया जाए, तो पंचविषयों की आसक्ति पर विजय प्राप्त की जा सकती है। यदि शब्द से वैराग्य द्वारा वृत्ति को लौटाया जाए, तो भारी प्रयास करने पर भी शब्द सुनाई देता है, लेकिन कानों को ही बन्द कर लिया जाए, तो सहज ढंग से शब्द नहीं सुना जा सकता। उसी प्रकार, यदि अनुचित पदार्थ या व्यक्ति का त्वचा से स्पर्श न किया जाए, तो सहज ही स्पर्श को जीता जा सकता है। वैसे ही अनुचित वस्तु या व्यक्ति को नेत्रों से न देखा जाए, तो सहज ही रूप को जीत लिया जा सकता है। इसी प्रकार, स्वादिष्ट खाद्य पदार्थों में पानी मिलाकर खाया जाए तथा उपयुक्त आहार किया जाए, तो सहजभाव से रसना पर विजय प्राप्त कर ली जाती है। वैसे ही अनुचित गन्ध को न सूँघने अथवा नासिका को बन्द कर लेने से सहज ही गन्ध को जीत लिया जाता है। इस प्रकार इन्द्रियों पर नियमों की लगाम कसने से पंचविषयों की आसक्ति को जीत लिया जाता है। यदि नियमों का पालन न करे, तो चाहे वह उत्कृष्ट वैराग्यवान एवं ज्ञानी मुमुक्षु ही क्यों न हो, वह अवश्य पथभ्रष्ट हो जाएगा। अत: विषयों की आसक्ति पर विजय पाने के लिए तो परमेश्वर द्वारा प्रतिपादित नियम ही एकमात्र उपाय है।

उसमें भी मन्द वैराग्यवालों के लिए तो नियमबद्ध रहना ही उबरने का श्रेष्ठ मार्ग है, ठीक उसी प्रकार, जैसे कि बीमार व्यक्ति परहेज़ करते हुए औषध-सेवन करने से रोगमुक्त हो जाता है।'

यह सुनकर अखंडानन्द स्वामी ने पूछा कि 'रोगी मनुष्य को परहेज रखने के लिए नियम होता है कि इतने दिन तक परहेज़ रखा जाए, वैसे ही कल्याण की साधना का भी कोई नियम (कोई समयमर्यादा) है या नहीं?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जिसकी श्रद्धा मन्द होती है, उसकी साधना की समाप्ति अनेक जन्मों के बाद होती है। जैसे भगवद्गीता में कहा भी है :

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।'[23]

अर्थात् 'अनेक जन्मों द्वारा संसिद्ध हुआ योगी परमपद को प्राप्त करता है।' यह पक्ष मन्द श्रद्धावानों का बताया गया है, किन्तु जिसकी श्रद्धा बलवती होती है, वह तो तत्काल सिद्ध हो जाता है। यह बात भी गीता में कही गयी है :

'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥'[24]

अर्थात् 'जिसकी इन्द्रियाँ नियमानुकूल हैं, ऐसे श्रद्धावान पुरुष को ही ज्ञान प्राप्त होता है तथा ज्ञान प्राप्त करके वह तुरन्त ही परमपद को प्राप्त कर लेता है।' अतः जो अतिशय श्रद्धावान होता है, उसकी साधना की समाप्ति शीघ्र ही हो जाती है। किन्तु मन्द श्रद्धावान की साधना की समाप्ति तो अनेक जन्मों के बाद ही होती है। जैसे कोई पुरुष काशी जा रहा हो और वह पूरे दिन में केवल दो कदम ही चल पाता हो, तो उसे काशी पहुँचने में बहुत दिन लग जाएँगे! जबकि कोई दिनभर में बीस-बीस कोस चलने लगता है, वह तो कुछ ही दिनों में काशी पहुँच जाएगा। वैसे ही जिसकी श्रद्धा बलवती होती है, वह चाहे क्यों न अभी-अभी तुरन्त सत्संगी हुआ हो, परन्तु वह अतिशय श्रेष्ठ हो जाता है और मन्द श्रद्धावाला तो दीर्घकाल से सत्संगी होने पर भी शिथिल ही रह जाता है।'

इसके पश्चात् श्रीगुरुचरणरतानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जब मन्द

23. अर्थ के लिए देखिए : वचनामृत गढडा प्रथम प्रकरण 15 की पादटीप-25
24. गीता : 4/39

श्रद्धावान भक्त का अनेक जन्मों के पश्चात् कल्याण होता है, तब देहत्याग के बाद वह कहाँ रहता होगा?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'ऐसा साधक सुन्दर देवलोक में जाकर रहता है। जब वह भक्त भगवान का ध्यान करते समय भगवान के सामने देखता था, उस समय भगवान भी उसके सामने देखते थे। वह भक्त भगवान का ध्यान करते समय जिन-जिन विषयों का चिन्तन किया करता था तथा जिन-जिन विषयों में उसे अनुराग था, उन सबको भगवान ने दृष्टिगत रखा था, अतः उसके देहत्याग के बाद भगवान उस भक्त को उसके प्रिय भोग भोगने के लिए, जहाँ ऐसे भोग हैं उस लोक में पहुँचाते हैं और काल को भी आज्ञा करते हैं कि 'तुम इस भक्त के भोगों में रुकावट मत डालना।' इसीलिए, वह भक्त निरन्तर देवलोक में रहता हुआ, भोगों को भोगता रहता है और इसके पश्चात् मृत्युलोक में आकर अनेक जन्मों के बाद मोक्ष को प्राप्त करता है।'

इसके पश्चात् अखंडानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि, 'तीव्र श्रद्धावान् पुरुष के लक्षण कैसे होते हैं?'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे तीव्र श्रद्धा होती है, वह भगवान के दर्शन के लिए अथवा भगवत्कथावार्ता सुनने के लिए एवं भगवान की मानसी पूजा आदि भगवान सम्बंधी समस्त क्रियाओं को सम्पन्न करने के लिए अपनी स्नानादि दैहिक क्रिया को बड़ी शीघ्रता से निपटा लेता है। और, यदि हमने पत्र लिखकर कोई नवीन व्रत-नियम के पालन का आदेश दिया हो, तो उसी प्रकार नियम-पालन करने के लिए वह बड़ा होते हुए भी बालक की तरह व्याकुल हो उठता है। जिसमें ऐसे लक्षण हों, उसे तीव्र श्रद्धावान समझना चाहिए। ऐसा श्रद्धावान् मुमुक्षु अपनी समस्त इन्द्रियों को तत्काल वश में कर लेता है। और, भगवान के प्रति मन्द श्रद्धावान् की इन्द्रियाँ अत्यन्त तीक्ष्ण रूप से विषयोन्मुख होकर उनमें संलग्न हो जाती हैं। ऐसा व्यक्ति अपनी विषयासक्ति को चाहे कितना ही गोपनीय रखने का प्रयास करे, फिर भी सबको उसकी जानकारी हो जाती है कि 'इसकी इन्द्रियों का वेग तीक्ष्ण रूप से विषयोन्मुख ही है।' इन्द्रियों का स्वरूप तो वायु के वेग जैसा है। भले ही वायु दिखाई नहीं पड़ता, परन्तु वृक्षों के कम्पन से पता चलता है कि हवा चल रही है, वैसे ही इन्द्रियों की वृत्तियाँ यद्यपि दिखाई नहीं पड़तीं, किन्तु वे विषयोन्मुख दौड़ती हैं,

उनकी जानकारी सभी को हो जाती है। उस समय यदि कोई पुरुष कपटपूर्वक इस बात को छिपाने की कोशिश करता है, तो लोगों की दृष्टि में वह घृणित हो जाता है। इसलिए, यह स्पष्ट है कि जिसकी इन्द्रियों में विषयभोग की तीक्ष्णता होगी, वह किसी प्रकार से गुप्त नहीं रह सकती।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'विषयों की ओर इन्द्रियों के तीक्ष्ण वेग को मिटाने का क्या उपाय है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इन्द्रियों की तीक्ष्ण विषयोन्मुखता को मिटाने का यही उपाय है कि परमेश्वर ने त्यागी तथा गृहस्थों के लिए जिन नियमों का प्रतिपादन किया है, उनके अनुसार यदि सभी इन्द्रियों पर बलपूर्वक अंकुश रखा जाए, तो सहज ही इन्द्रियों की तीक्ष्णता मिट सकती है। जब श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना तथा घ्राणेन्द्रियों (पाँच ज्ञानेन्द्रियों) को यदि कुमार्ग पर नहीं जाने दिया जाए, तो इन्द्रियों के आहार शुद्ध हो जाते हैं और बाद में अन्तःकरण भी शुद्ध हो जाता है। **अतः वैराग्य का बल हो या न हो, तो भी यदि इन्द्रियों को वश में करके परमेश्वर के बताए गए नियमों में रखा जाए, तो जैसे तीव्र वैराग्य द्वारा विषय जीते जाते हैं, उससे भी नियम-पालन करनेवाला विशेष रूप से विषयों पर विजय प्राप्त कर सकता है। अतः परमेश्वर द्वारा प्रतिपादित नियमों को ही अत्यन्त दृढ़ करके रखें।'**

अखंडानन्द स्वामी ने पुनः पूछा कि 'जिस पुरुष को मन्द श्रद्धा हो, उसकी श्रद्धा तीव्र कैसे बन सकती है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि भगवान का माहात्म्य जान लिया जाए, तो मन्द श्रद्धा भी तीव्र हो सकती है। जैसे पानी पीने का मिट्टी का पात्र हो, तो उसमें स्वाभाविक ही आसक्ति नहीं होती, लेकिन वही पात्र यदि स्वर्ण का हो, तो उसमें सहजरूप से प्रीति होती है! वैसे ही भगवान की तथा भगवत्कथा-कीर्तनादि की महिमा समझ ली, तो भगवान तथा उनके कथा-कीर्तनादि में सहज ही श्रद्धा में वृद्धि होगी। इसलिए, वही उपाय करना चाहिए, जिससे भगवान का माहात्म्य समझ में आ जाए। यदि ऐसा उपाय किया जाए, तो श्रद्धा नहीं होने पर भी श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है और मन्द श्रद्धा भी तीव्र श्रद्धा में बदल जाती है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥16॥ ॥149॥

वचनामृत 17 : भगवत्स्वरूप में तत्त्व मीमांसा; स्थितप्रज्ञ

संवत् 1878 में आश्विन कृष्णा एकादशी (21 अक्तूबर, 1821) को रात के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के समीप कमरे के बरामदे में सिंहासन पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके सामने दो मशालें जल रही थीं। उनके समक्ष परमहंस तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा में संतगण कीर्तन गान कर रहे थे।

इसी बीच श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'कीर्तन समाप्त करें। अब प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ करते हैं।' फिर समस्त मुनिजन बोले कि 'बहुत अच्छा महाराज!' तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि 'कोई भक्त तो भगवान के स्वरूप को माया के चौबीस तत्त्वों सहित समझता है, तथा कोई भक्त भगवान के स्वरूप को माया के तत्त्वों से रहित केवल चैतन्यमय ही मानता है; इन दोनों प्रकार के भक्तों में किसकी समझ ठीक है और किसकी समझ ठीक नहीं है ?'

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'जो भक्त भगवान के स्वरूप में मायिक चौबीस तत्त्वों को समझता है, उसकी समझ ठीक नहीं है। और, जो भक्त भगवान को माया के तत्त्वों से रहित केवल चैतन्यमय समझता है, उसकी समझ ठीक है।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'सांख्यमत के अनुसार चौबीस तत्त्व हैं, उनमें तेईस तत्त्व तथा चौबीसवाँ क्षेत्रज्ञ, जो जीव-ईश्वररूप चैतन्य है। इस प्रकार चौबीस तत्त्व कहे गए हैं, क्योंकि क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ का अन्योन्याश्रय-भाव है और क्षेत्रज्ञ को क्षेत्र के बिना बतलाया ही नहीं जा सकता और क्षेत्र के बिना क्षेत्रज्ञ नहीं कहा जा सकता। इसीलिए जीव-ईश्वर को तत्त्वों के साथ ही बताया गया है। और, भगवान तो क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ दोनों के ही आश्रयदाता हैं, अतः मायिक तत्त्वों को भगवान से भिन्न कैसे कहा जा सकता है ? जिस प्रकार आकाश में चारों तत्त्व के रहते हुए भी वह इन तत्त्वों से निर्लिप्त है, वैसे ही परमेश्वर भी मायिक तत्त्वों से पूर्णतः निर्लिप्त है। ऐसे उस भगवान के स्वरूप को यदि चौबीस तत्त्वों सहित कहेंगे, तो उसमें क्या बाध आता

है? और यदि भगवान को तत्त्वरहित कहेंगे तो उसमें क्या निर्बाधता आ जाती है?' हमें तो ऐसा प्रतीत होता है।' यह सुनकर दीनानाथ भट्ट ने पूछा कि 'जिसे भगवान की मूर्ति का ध्यान करना हो, उसे भगवान का स्वरूप तत्त्व-सहित समझना चाहिए अथवा तत्त्वरहित?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जो भक्त भगवान के स्वरूप को तत्त्व सहित समझता है, वह भी पापी है और जो भगवान के स्वरूप को तत्त्व रहित जानता है, वह भी पापी है। भगवान के भक्त को भगवान के स्वरूप में तत्त्व होने या न होने के प्रश्न पर वाद-विवाद करना बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। जो भक्त होता है, वह तो यही जानता है कि भगवान तो भगवान ही हैं। उनके स्वरूप में मायिक-अमायिक भाव के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं है। वे भगवान तो समग्र रूप से दिव्य हैं तथा अनन्त ब्रह्मांडों की आत्मा हैं।' और जिस भक्त को भगवान के स्वरूप में किसी प्रकार का तर्क-वितर्क नहीं होता, उसे निर्विकल्प स्थितिवाला जानना चाहिए तथा जिसकी ऐसी एक एवं स्थिर मति हो, उसे स्थितप्रज्ञ समझना चाहिए। और, जिसे भगवान के स्वरूप में ऐसी दृढ़ मति रहती है, उसे भगवान समस्त पापों से मुक्त करते हैं।

भगवद्गीता में भगवान ने अर्जुन से कहा है कि :

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥'[25]

इस संसार में ऐसी भी रीति है कि जिससे अपना बड़ा स्वार्थ सिद्ध होता हो, उसके दोषों पर बुद्धिमान पुरुष ध्यान नहीं देता। जिस प्रकार स्त्री अपने स्वार्थ के कारण पति के दोषों की उपेक्षा कर देती है तथा यदि अतिशय स्वार्थ हो तो अन्य गृहस्थ भी अपने भाइयों, भतीजों और लड़कों आदि सम्बंधीजनों के दोषों पर ध्यान नहीं देते, वैसे ही जिसने भगवान के साथ अपना बड़ा स्वार्थ सिद्ध होना जान लिया हो कि 'भगवान अपने भक्त को पाप तथा अज्ञान से मुक्त करके अभयपद प्रदान करते हैं, तो उसे भगवान के स्वरूप में कोई दोष दिखाई ही नहीं पड़ता। जिस प्रकार शुकजी ने रास-

25. **अर्थ :** 'हे अर्जुन! तुम समस्त धर्मों को छोड़कर केवल मेरी ही शरण में आ जाओ, मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा। तुम किसी भी प्रकार की चिन्ता मत करो।' (गीता : 18/66)

पंचाध्यायी का वर्णन किया, तब राजा परीक्षित को संशय हुआ कि 'भगवान ने परस्त्री का संग क्यों किया?' परन्तु शुकजी को लेशमात्र भी संशय नहीं हुआ। तथा गोपियों के साथ भगवान ने जो विहार किया, उसके सम्बंध में गोपियों को भी संशय नहीं हुआ कि 'भगवान होकर ऐसा आचरण क्यों करते हैं?' ऐसा संशय किसी भी प्रकार से नहीं हुआ। और, जब भगवान कुब्जा के घर गए, तब वे उद्धवजी को भी अपने साथ ले गए थे। परन्तु उद्धवजी को किसी भी प्रकार का संशय नहीं हुआ। और, जब उद्धवजी को व्रज में भेजा गया, तब गोपियों की वाणी सुनकर भी उन्हें किसी प्रकार का संशय नहीं हुआ, वरन् उन्होंने गोपियों का माहात्म्य और अच्छी तरह समझ लिया। अतः जिसको भगवान का अचल आश्रय प्राप्त हो चुका हो, वह चाहे अतिशय शास्त्रवेत्ता हो अथवा भोला ही क्यों न हो, परन्तु उसकी मति भ्रमित नहीं होती। और, भगवान के जो दृढ़ भक्त हैं, उनका माहात्म्य भी भगवान के भक्त ही जान सकते हैं। फिर वह चाहे शास्त्रवेत्ता हो या न हो, परन्तु भगवान में जिसकी दृढ़ मति होती है, वही भगवान के भक्त का माहात्म्य जान सकता है तथा दृढ़मतिवाले भक्तों को पहचान भी लेता है। परन्तु, उसके बिना जगत के विमुख जीव, भले ही पंडित हों या मूर्ख, भगवान में दृढ़मति नहीं रख सकते तथा ऐसे दृढ़मतिवाले भक्तों को भी नहीं पहचान सकते और न तो उनके माहात्म्य को ही जान सकते हैं। अतः जो भगवान का भक्त होता है, वही भगवद्भक्त को पहचान सकता है और वही उसका माहात्म्य भी जान सकता है। जिस प्रकार उद्धवजी ने गोपियों का अतिशय माहात्म्य समझा था, वैसे ही गोपियों ने भी उद्धवजी का माहात्म्य समझ लिया था।

और पुरुषोत्तम भगवान समस्त क्षेत्रज्ञों के भी क्षेत्रज्ञ हैं, फिर भी वे निर्विकार हैं। माया आदि विकारवान पदार्थों का विकार पुरुषोत्तम भगवान को स्पर्श नहीं करता। **यदि स्थूल, सूक्ष्म और कारणजन्य विकार आत्मनिष्ठ पुरुष का भी स्पर्श नहीं करते, तब वे पुरुषोत्तम भगवान का स्पर्श न करें, इसके सम्बंध में क्या कहा जाए? यह तो स्वाभाविक ही है। भगवान निर्विकार तथा निर्लेप ही हैं। जो भक्त इस रीति से भगवान के स्वरूप को समझते हैं, उन्हीं को भगवान का स्थितप्रज्ञ भक्त समझना चाहिए।** जैसे आत्म-स्थितिवाला भक्त स्थितप्रज्ञ कहलाता है, उसी प्रकार

जिसे भगवान के स्वरूप में किसी भी प्रकार का कुतर्क नहीं होता, और जो भगवान के सामर्थ्य अथवा असमर्थता का भी गुणानुवाद करता हो, एवं भगवान के उचित या अनुचित दिखनेवाले चरित्रों का भी महिमापूर्वक गान करता हो, लेकिन भगवान के कैसे भी चरित्रों में 'उचित एवं अनुचित' का कोई संशय न करता हो, ऐसे भगवद्भक्त को पुरुषोत्तम भगवान के स्वरूप में स्थितप्रज्ञ समझना चाहिए।[26] तथा जिसको पुरुषोत्तम भगवान के स्वरूप में ऐसी दृढ़ निष्ठा हो चुकी तो उसको इससे आगे और कुछ समझना ही शेष नहीं रह जाता।'

॥ इति वचनामृतम् ॥17॥ ॥150॥

वचनामृत 18 : नास्तिक तथा शुष्क वेदान्ती

संवत् 1878 में मार्गशीर्ष कृष्णा षष्ठी (14 दिसम्बर, 1821) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान में गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे तथा सफ़ेद चादर ओढ़कर उसपर बूटादार रजाई ओढ़ी थी। उनके मस्तक पर श्वेत फेंटा सुशोभित हो रहा था। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी, उस समय प्रागजी दवे कथा कर रहे थे।

इसी बीच श्रीजीमहाराज बोले कि 'हमने तो हर प्रकार से सोचकर देखा कि इस संसार में जितने भी कुसंग कहलाते हैं, उन सभी कुसंगों में सर्वाधिक हीन कुसंग कौन-सा है? तो जिस पुरुष को परमेश्वर की भक्ति नहीं है तथा भगवान सर्व के स्वामी हैं, भक्तवत्सल हैं, पतितपावन हैं, अधमोद्धारक हैं, ऐसा जिसके हृदय में विश्वास नहीं है; ऐसे लोगों का संग ही अत्यन्त निन्दनीय कुसंग है। ऐसे तो संसार में दो मतों को माननेवाले लोग होते हैं। जिनमें से एक तो नास्तिकों का मत तथा दूसरा शुष्क

26. यहाँ उल्लिखित स्थितप्रज्ञता और गीताकथित 'स्थितप्रज्ञता' में अंतर है। गीता के दूसरे अध्याय में 'आत्मनिष्ठा' एवं 'सुख-दुःख में समत्वभाव' आदि को स्थित-प्रज्ञता कहा गया है, जबकि यहाँ भगवत्स्वरूप के चरित्रों में मन की निश्चलता को स्थितप्रज्ञता कहते हैं।

वेदान्तियों का मत है। इन दोनों का ही संग घोर निंदनीय कुसंग है। और, पंचमहापाप से युक्त पापी को भी यदि भगवान का विश्वास हो, तो कभी न कभी उसका कल्याण हो सकता है तथा बालहत्या, गौहत्या एवं स्त्रीहत्या आदि घोर पाप करनेवालों की भी किसी समय उस पाप से मुक्ति हो सकती है, परन्तु जिसको उक्त दोनों मतों में विश्वास हो गया हो, उसका छुटकारा तो कभी भी नहीं होता। क्योंकि उसकी समझ वेदों, शास्त्रों और पुराणों से विपरीत होती है।

ऐसे लोगों में नास्तिक मतानुयायी ऐसा समझते हैं कि 'रामचंद्रजी तथा श्रीकृष्ण भगवान तो राजा थे, और श्रीकृष्ण ने दैत्यों को मार डाला तथा पर-स्त्रियों का संग किया, इसलिए वे तीसरे नरक में पड़े हैं।' इस प्रकार इन नास्तिकों में ऐसी बुद्धि ही नहीं है कि वे अधमोद्धारक, पतितपावन श्रीकृष्ण भगवान को परमेश्वर समझ सकें। इन नास्तिकों ने कर्म द्वारा ही अपना आत्मकल्याण मान लिया है। वे मानते हैं कि कर्म करते-करते जब 'केवल ज्ञान' प्रकट होता है, तब कोई भी व्यक्ति भगवान बन जाता है। इस तरह उन्होंने अनन्त भगवान माने हैं, किन्तु उनके मतानुसार कोई अनादि परमेश्वर है ही नहीं कि जिनका भजन करने से जीव भवबन्धन से मुक्त हो जाता है। इस कारण, उनका यह मत वेदों के विरुद्ध है।

और, शुष्कवेदान्तियों के मतानुसार जो ब्रह्म है, वही जीवरूप हुआ है। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब होता है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म का ही रूप है। इसलिए वे ऐसा 'ज्ञान' प्राप्त करते हैं कि 'मैं ब्रह्म हूँ,' इसलिए मुझे किसी भी प्रकार की साधना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसे मिथ्याज्ञानी जब स्वयमेव परमेश्वर हो गए, तब वे किसका भजन करें? ऐसे मतानुयायी पाप करने से भी नहीं डरते और अपने मन में समझने लगते हैं कि 'हम निर्गुणमार्ग को प्राप्त हो चुके हैं, अतः हमें फिर से जन्म नहीं लेना पड़ेगा।' परन्तु, वे शुष्कवेदान्ती इस बात की खोज नहीं करते कि माया पर जो निर्गुण ब्रह्म है, उसका भी वे लोग अपनी बुद्धि के अनुसार जन्म-मरण निश्चित कर लिए! क्योंकि वे कहते हैं कि 'ब्रह्म स्वयं स्थावर-जंगमरूप हुआ है!' इस प्रकार से जीव के जन्म-मरण का चक्र इनके 'ज्ञान' के परिणाम स्वरूप ब्रह्म के सिर पर मंडराने लगा! इतना होते हुए भी वे तो ऐसा ही मानते हैं

कि 'हम जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाएँगे।' परन्तु, वे यह विचार नहीं करते कि हमारे ही मतानुसार ब्रह्म के सिर पर जन्म-मरण का चक्र आ गया! तब वे स्वयं को कितना ही ब्रह्मरूप मानें; फिर भी जन्म-मरण तो नहीं मिटेगा, इसलिए उनके अपने ही मतानुसार जो मोक्ष माना था, वह मिथ्या हो जाता है! परन्तु वे आत्मनिरीक्षण करके यह नहीं देख सकते; बल्कि जिह्वा से केवल बकवास करते रहते हैं कि 'हम तो ब्रह्मरूप हैं, तो फिर हम किसका भजन करें और किसको नमस्कार करें?' ऐसा मानकर वे अत्यंत ही अहंकारी हो जाते हैं। कोई भी बात उनकी समझ में आयी नहीं, और ज्ञानी होने का मिथ्या अहंकार लेकर बैठ गए! किन्तु यह विचार नहीं करते कि 'उनके मतानुसार उनकी ही मोक्ष-धारणा ही मिथ्या हो चुकी है।' और, जो कोई ऐसे शुष्कवेदान्ती का संग करता है, उसको भी वे अपने समान ही मूर्ख बना देते हैं।

तथा नारद-सनकादिक एवं शुकजी आदि सच्चे ज्ञानी हैं, जो निरन्तर भगवान का ध्यान, नमोच्चारण और कीर्तन करते रहते हैं; और, श्वेतद्वीप में स्थित निरन्नमुक्त तो ब्रह्मस्वरूप हैं और काल के भी काल हैं, वे भी परमेश्वर का ध्यान, नामरटन, कीर्तन, पूजन और अर्चन-वन्दन करते रहते हैं। वे स्वयं अक्षरस्वरूप हैं, फिर भी अक्षरातीत पुरुषोत्तम भगवान के दास होकर रहते हैं; और बदरिकाश्रमवासी उद्धव एवं तनु ऋषि आदि मुनि भी तप करते हैं तथा निरन्तर भगवान की भक्ति करते रहते हैं। परन्तु शुष्कवेदान्ती केवल देहाभिमानी जीव हैं, जो भगवान का ध्यान, स्मरण या वन्दन नहीं करते। नारद, सनकादिक तथा शुकजी, श्वेतद्वीपवासी निरन्नमुक्तों तथा बदरिकाश्रमवासी ऋषियों में जैसा सामर्थ्य और जैसा ज्ञान है, उनके करोड़वें भाग का सामर्थ्य तथा ज्ञान भी उनमें नहीं है, तो भी परमेश्वर के प्रतिद्वन्द्वी होकर बैठे हैं। इसलिए, वे पक्के अज्ञानी हैं और जीतने भी अज्ञानी हैं, उनके भी सरदार हैं। ऐसे लोग तो करोड़ों कल्पों तक नरककुंड में पड़े रहेंगे और उन्हें यम-यातना भोगनी पड़ेगी, तो भी उनका छुटकारा नहीं होगा। ऐसे लोगों का संग ही कुसंग है। जिस प्रकार सत्पुरुष के संग से बढ़कर कोई अधिक पुण्य नहीं है, वैसे ही अज्ञानी शुष्कवेदान्तियों के संग से बढ़कर अधिक कोई पाप नहीं है। इसलिए, आत्मकल्याण के इच्छुक पुरुषों को नास्तिकों तथा शुष्क-

वेदान्तियों का संग कभी नहीं करना चाहिए।'

॥ इति वचनामृतम् ॥18॥ ॥151॥

वचनामृत 19 : शुष्क वेदांत के ग्रंथ के श्रवण से उदासीन होकर किया गया पत्रलेखन

संवत् 1878 में मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्दशी (23 दिसम्बर, 1821) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में परमहंसों के ठहरने के स्थान में सूर्योदय के समय पधारे थे। वहाँ आकर वे गद्दी-तकिया पर उदास होकर बैठ गए। उन्होंने न तो किसी को बुलाया और न किसी के सामने देखा ही। उन्होंने मस्तक पर श्वेत फेंटा बाँधा था, जो खुलकर शिथिल पड़ गया था, उसे भी संभाला नहीं। इस प्रकार वे एक घड़ी तक अत्यन्त उदास होकर बैठे रहे। उसी स्थिति में उनके नेत्रों से आँसू गिरने लगे।

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज परमहंसों से बोले कि 'हमने शुष्कज्ञानियों का मत जानने के लिए उनके शास्त्र का श्रवण किया। उसके श्रवणमात्र से हमारे अन्त:करण में अति उद्वेग हो आया। क्योंकि शुष्कवेदान्त शास्त्र के श्रवण से जीव की बुद्धि से भगवान की उपासना की भावना नष्ट हो जाती है और अन्त:करण में समभाव आ जाता है; इसी कारण से अन्य देवों की भी उपासना हो जाती है। ऐसे शुष्कवेदान्तियों के वचनों को जो भी सुनते हैं, उनकी बुद्धि बिल्कुल भ्रष्ट हो जाती है। और, हमने तो किसी प्रयोजन से शुष्कवेदान्त की बात सुनी होगी, परन्तु अब तो हमें उसका गहरा शोक हुआ है।' इतना कहकर श्रीजीमहाराज बहुत उदास हो गए।

इस प्रकार वे बहुत देर तक खिन्न रहे और अपने हाथों से नेत्रों के आँसू पोंछकर ऐसा बोले कि 'भगवद्गीता पर हुए रामानुज भाष्य की कथा सुनकर हम आज रात्रि में जब सो रहे थे, तब हमने एक स्वप्न देखा कि हम गोलोक में गए, जहाँ भगवान के अनन्त पार्षदों को देखा। उनमें से कितने ही पार्षद भगवान की सेवा में थे। वे स्थिर-से दिखाई पड़े तथा कितने ही पार्षद परमेश्वर का कीर्तन कर रहे थे। वे कीर्तन भी मुक्तानन्द स्वामी तथा ब्रह्मानन्द स्वामी रचित कीर्तन ही गा रहे थे। वे गाते हुए झूम रहे थे, मानो भजन की मस्ती में पागल-से हो गए हों! फिर हम भी कीर्तनगान करनेवालों के साथ

जाकर मिल गए और कीर्तन करने लगे। गाते हुए हमें लगा कि परमेश्वर की ऐसी प्रेमभक्ति तथा परमेश्वर की ऐसी उपासना का परित्याग करके जो मिथ्याज्ञानी ऐसा मानता है कि 'हम ही भगवान हैं', वह महादुष्ट है।'

इतना कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'कोई भी मुमुक्षु किसी भी प्रकार धर्म तथा भगवान की भक्ति से विचलित न हों तथा अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण नारायण से उसकी बुद्धि किसी प्रकार विचलित न हो, ऐसे उद्देश्य से, लाइए एक पत्र लिखकर देशभर के सत्संगियों को भेज दें!'

फिर उन्होंने स्वयं एक पत्र तैयार किया, जिसमें लिखा कि 'समस्त परमहंसों तथा सभी सत्संगी स्त्री-पुरुषों को स्वामीश्री सहजानन्दजी महाराज का नारायण-स्मरण। विशेष, हमारी आज्ञा है कि, धर्म के स्थापन के लिए एवं ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि धर्म, आत्मनिष्ठा, वैराग्य और माहात्म्य सहित भक्ति से सम्पन्न अपने एकान्तिक भक्तों को दर्शन देने के लिए, उनकी रक्षा करने के लिए तथा अधर्म का मूलोच्छेद करने के लिए देवों और मनुष्यों आदि में श्रीकृष्ण नारायण, पुरुषोत्तम भगवान के अवतार होते हैं। आप सभी इन अवतारों के प्रति अनन्य भाव से पतिव्रता जैसी निष्ठा रखें। जैसे सीताजी ने निर्दोषभाव से श्रीरामचन्द्रजी के प्रति निष्ठा रखी थी, वैसी ही निष्ठा रखें, और ऐसे भगवान की अतिशय प्रेमपूर्वक मानसी पूजा भी करें तथा देह द्वारा भी नव प्रकार से भक्ति करते रहें। तथा श्रीकृष्ण नारायण के अवतार पृथ्वी पर प्रकट न हों तो, उनकी प्रतिमा की पूजा मन द्वारा तथा देह द्वारा चंदन, पुष्प, तुलसी आदि सामग्री से करनी चाहिए। परंतु **बिना भगवान के किसी अन्य देव की उपासना नहीं करनी चाहिए। यदि अन्य देवों की उपासना की गई तो उससे बड़ा दोष लगता है और पतिव्रता भाव भी नष्ट हो जाता है, और ऐसी भक्ति, वेश्या-जैसी हो जाती है।** इसलिए, भगवान की भक्ति तो सीता तथा रुक्मिणी के समान करें तथा उस भगवान का ही ध्यान करें। उनके सिवा, अन्य किसी भी देवता का ध्यान मत करें। यदि कोई साधु सिद्धगति को प्राप्त हुआ हो तथा वह समाधिनिष्ठ भी हो, तो उसका भी ध्यान न करें। तथा सभी अपने-अपने वर्णाश्रमधर्म का पालन दृढ़तापूर्वक करते रहें।

और, हमारी इस आज्ञा का जो दृढ़तापूर्वक पालन करेगा, उसको

श्रीकृष्ण नारायण में नारद जैसी दृढ़ भक्ति सिद्ध हो जाएगी। जो भी स्त्री हमारी इस आज्ञा को मानेगी, उसको श्रीकृष्ण नारायण में लक्ष्मीजी तथा राधिकाजी आदि गोपियों के सदृश भक्ति सुदृढ़ हो जाएगी। जो हमारे इन वचनों का उल्लंघन करेंगे, उनकी भक्ति वेश्या के समान (व्यभिचारिणी) हो जाएगी। संवत् 1878, मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्दशी को यह पत्र लिखा है।' श्रीजीमहाराज ने ऐसा पत्र लिखकर देशभर के सत्संगियों के प्रति भिजवाया।

॥ इति वचनामृतम् ॥19॥ ॥152॥

वचनामृत 20 : समाधिनिष्ठ की ज्ञानशक्ति

संवत् 1878 में पौष कृष्णा चतुर्दशी (22 जनवरी, 1822) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के सामने विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी, उस पर छींट की रजाई ओढ़कर मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी। उनके समक्ष मुनि तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी। उस समय परमहंस मृदंग ताल के साथ कीर्तन गा रहे थे।

कुछ क्षणों बाद श्रीजीमहाराज ने परमहंसों से कहा कि 'आज हमने अपने निवास स्थान पर अपने पास रहनेवाले सोमला खाचर आदि हरिभक्तों से एक प्रश्न पूछा है, उसका उत्तर सब परमहंस मिलकर दें।'

परमहंसों ने कहा कि 'हे महाराज ! वह प्रश्न हमें सुनाइए।'

इस पर श्रीजीमहाराज बोले कि 'समाधिनिष्ठ पुरुष की स्थिति माया से परे हो जाती है तथा उसे भगवान के स्वरूप का भी दृढ़ सम्बंध रहता है। अतः इस समाधिनिष्ठ की ज्ञानशक्ति तथा देहेन्द्रियों की शक्ति में वृद्धि होनी चाहिए, क्योंकि माया के द्वारा जिन चौबीस तत्त्वों की उत्पत्ति हुई है, वे जड-चैतन्यरूप हैं, उन्हें अकेले जड भी नहीं कह सकते और केवल चैतन्य भी नहीं कह सकते। और, उन तत्त्वों में शक्ति भी एकसमान नहीं होती। जैसे इन्द्रियों की अपेक्षा अन्तःकरण में विशेष ज्ञान रहता है और अन्तःकरण की अपेक्षा इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के द्रष्टा जीव में विशेष ज्ञातृत्व रहता है। तथा जीव को जब समाधि लग जाती है, तब वह इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के द्रष्टाभाव

का परित्याग करके माया से परे ब्रह्म के सदृश चैतन्य हो जाता है और उसे भगवान के स्वरूप का सम्बंध भी रहता है। कितने ही लोग समाधिवाले के सम्बंध में यह धारणा बना लेते हैं कि 'जिसको समाधि लग जाती है, उसको पहले-जैसी समझ नहीं रहती।' तो अब हमारा प्रश्न यह है कि ऐसे समाधिवालों की ज्ञान तथा देहेन्द्रियों की शक्ति में वृद्धि होती है या नहीं ?'

तब परमहंसों में से जिसकी जैसी बुद्धि थी, उसने वैसा उत्तर दिया, परन्तु कोई भी परमहंस श्रीजीमहाराज के इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर न दे सका। उस समय श्रीजीमहाराज बोले, 'चलें, हम इस प्रश्न का उत्तर देते हैं। इस प्रश्न का उत्तर यह है, साक्षी स्वयं ब्रह्म हैं, वह माया से उत्पन्न चौबीस तत्त्वात्मक ब्रह्मांड में प्रवेश करता है और उसको चैतन्यमय बना देता है। ब्रह्मांड को समस्त क्रियाएँ करने का सामर्थ्य प्रदान करता है। उस ब्रह्म का स्वभाव ही है कि काष्ठ हो या पाषाण-सा जड तत्त्व - परन्तु उनमें वह प्रवेश करता है, ऐसे समय जड चीज़ भी सजीव-सी हो जाती है। ऐसे ब्रह्म के साथ जीव समाधि द्वारा तुल्यभाव को प्राप्त कर लेता है, तभी वह जीव ब्रह्मरूप कहलाता है और उसके ज्ञान की वृद्धि होती है। तप, निवृत्ति धर्म तथा वैराग्ययुक्त योगाभ्यास जब उस मुमुक्षु को होता है, तब उसे शुकजी के समान सिद्धदशा प्राप्त हो जाती है। परन्तु जो साधक तप, निवृत्ति-धर्म और वैराग्य-भाव में सामान्य है तथा धर्म, अर्थ एवं कामरूपी प्रवृत्तिमार्ग में आबद्ध है, उसे तो समाधि लगने पर भी एकमात्र ज्ञान की ही वृद्धि होती है, लेकिन इन्द्रियों की शक्ति के विकास को प्राप्त कर वह सिद्धदशा को प्राप्त नहीं कर सकता।

जिस प्रकार राजा जनक ज्ञानी थे, वह भी वैसा ही ज्ञानी होता है; परन्तु प्रवृत्तिमार्गवाला नारद-सनकादिक तथा शुकजी के समान सिद्धदशा प्राप्त नहीं कर सकता। और, जो सिद्ध होता है, वह भगवान के श्वेतद्वीप आदि धामों में इसी शरीर द्वारा पहुँच जाता है तथा लोक-अलोक जैसे सभी स्थानों में उसकी गति होने लगती है। जबकि प्रवृत्ति मार्गवाले को जनक के समान केवल ज्ञान की ही वृद्धि होती है, परन्तु ज्ञान कम नहीं होता। जैसे श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में जो कहा है, उसी उपदेश के अनुसार होता है। वहाँ श्लोक है :

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥'

अर्थात् 'जिन प्रवृत्तियों में जीव-प्राणीमात्र सोये रहते हैं, उन प्रवृत्तियों में संयमी पुरुष जाग्रत रहते हैं और जिन प्रवृत्तियों में जीव-प्राणी जागते रहते हैं, उन प्रवृत्तियों में संयमी पुरुष सोये रहते हैं।' इसलिए, जिसकी दृष्टि अन्तरात्मा के सन्मुख रहती हो, उसे देह, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के प्रति शून्यभाव रहा करता है। उसे देखकर अज्ञानी पुरुष समझ बैठता है कि 'समाधिवाले का ज्ञान कम हो जाता है।' बाद में रजोगुण, तमोगुण तथा मलिन सत्त्वगुण के भाव से यदि इस प्रश्न का उत्तर देने लगे, उसे तो यही दिखाई देगा कि 'समाधिवालों को ज्ञान कम हो जाता है।' परन्तु, वह यह नहीं जानता कि 'मैं देहाभिमानी हूँ, इसीलिए मूर्खतावश ऐसी बात कह रहा हूँ।' वास्तव में समाधिवाला देह, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से परे रहकर आचरण करता है, फिर भी उसके ज्ञान की वृद्धि होती है तथा इन्द्रियों एवं अन्तःकरण के भावों के अनुसार आचरण करता है, तब भी समाधि अवस्था में जो ज्ञान उसे प्राप्त हुआ है, वह नष्ट नहीं होता। और, जब वह तप, निवृत्तिधर्म एवं वैराग्य को ग्रहण करके सांसारिक प्रवृत्तिमार्ग का त्याग कर देता है, तो जैसे उसके ज्ञान की वृद्धि हुई थी, उसी प्रकार उसकी इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की शक्तियों में भी वृद्धि हो जाती है और वह नारद-सनकादिक एवं शुकजी के समान सिद्ध गति को भी प्राप्त होता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥20॥ ॥153॥

वचनामृत 21 : मोक्ष का रहस्य; प्रत्यक्ष भगवान और सन्त ही कल्याणकर्ता

संवत् 1878 में फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा (7 मार्च, 1822) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे। सफ़ेद चादर ओढ़ी थी और श्वेत पाग मस्तक पर बाँधी थी। श्रीजीमहाराज के समक्ष प्रेमानन्द स्वामी आदि समस्त परमहंस विष्णुपद[27] बोल रहे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब कीर्तनगान समाप्त करें! हम

27. देखिए परिशिष्ट : 6

एक वार्ता करते हैं, उसे सब सावधान होकर सुनें – व्यासजी ने लोगों के आत्मकल्याण के लिए जितने भी ग्रन्थों की रचना की है, उन सभी ग्रन्थों को हमने ध्यानपूर्वक सुना है। उन सभी शास्त्रों में एकमात्र यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है तथा जीव के कल्याण के लिए भी इतनी ही बात है कि इस समस्त जगत के कर्ता-हर्ता एकमात्र भगवान हैं। और, इन समस्त शास्त्रों में या तो भगवान के चरित्र हैं या भगवान के सन्त के चरित्र हैं। इनमें वर्णाश्रम धर्म की जो वार्ता है, उसका फल धर्म, अर्थ एवं काम हैं किन्तु इन तीनों से कोई कल्याण नहीं होता। हाँ, केवल वर्णाश्रम धर्म के द्वारा संसार में कीर्ति अवश्य मिलती है तथा दैहिक रूप से वह सुखी रहता है। परन्तु **कल्याण के लिए तो भगवान को सर्व-कर्ताहर्ता समझना ही पर्याप्त है। और, जीव जैसे परोक्ष रूप भगवान के रामकृष्णादिक अवतारों की महिमा जानता है, तथा परोक्षरूप नारद-सनकादि, शिवजी, जडभरत, हनुमान और उद्धव आदि साधुओं का माहात्म्य समझता है, वैसा ही माहात्म्य यदि प्रत्यक्ष भगवान और उन भगवान के भक्त साधु का समझ लिया तो उसे कल्याण के मार्ग में कुछ भी समझना शेष नहीं रह जाता। भले ही यह वार्ता एक बार कहने से समझें अथवा लाख बार कहने से समझें, आज समझें या एक लाख वर्षों के बाद समझें, परन्तु इस बात को समझना ही पड़ेगा।** और, नारद-सनकादि, शुकजी, ब्रह्मा तथा शिव आदि से पूछिए, तो वे भी बुद्धिमान हैं, अतः अनेक युक्तियों के द्वारा प्रत्यक्ष भगवान तथा प्रत्यक्ष सन्त को ही वे कल्याण के दाता बताएँगे तथा परोक्ष भगवान और परोक्ष सन्त का जैसा माहात्म्य होता है, वैसा ही माहात्म्य वे प्रत्यक्ष भगवान और सन्त का बताएँगे। और, जिसको इस सिद्धांत का दृढ़ निश्चय हो चुका तो उसे सभी रहस्य हस्तगत हो चुके हैं। कल्याण के मार्ग से उसका कभी भी पतन नहीं होता। जैसे ब्रह्मा, शिव, बृहस्पति तथा पराशरादि कामादि विकारों द्वारा भले ही धर्मच्युत हुए, परन्तु उन्हें यदि प्रत्यक्ष भगवान एवं प्रत्यक्ष सन्त का परोक्ष अवतारादिक के समान ही माहात्म्ययुक्त निश्चय था, तो उनका कल्याणमार्ग से पतन नहीं हुआ। अतः यह वार्ता समस्त शास्त्रों की रहस्यद्योतक है।'

और उसी दिन सायंकाल, स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-

स्थित दादाखाचर के राजभवन से घोड़ी पर सवार होकर श्रीलक्ष्मीवाड़ी में पधारे। वहाँ आम्रवृक्ष के नीचे चबूतरे पर बिछाए गये पलंग पर विराजमान हुए। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये थे, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी, सिर पर श्वेत पाग बाँधी थी। उस पाग में पीले पुष्पों का तुर्रा लगा हुआ था, तथा कानों पर मोगरा के पुष्पगुच्छ सुशोभित हो रहे थे। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि, 'सुनिए, एक प्रश्न पूछते हैं कि जीव को स्वप्नावस्था में जो-जो स्वप्नसृष्टि दिखायी पड़ती है तथा जीव उस स्वप्न-सृष्टि के जो भोग भोगता है, उस समय क्या जीव स्वयं ही उस सृष्टि स्वरूप होता है या वह आत्मसंकल्प द्वारा स्वप्न में उस सृष्टि का सृजन करता है? तथा जीव की तरह ब्रह्मादि ईश्वरों की भी स्वप्न-सृष्टि है, तो क्या वे स्वयं उस सृष्टि-स्वरूप होते हैं कि वे स्वयं अपने संकल्प द्वारा सृष्टि का सृजन करते हैं या जीव-ईश्वर से परे रहनेवाले परमेश्वर ही उस स्वप्न-सृष्टि का सृजन करते हैं? इन प्रश्नों का उत्तर दीजिए।' तब सभी सन्तों ने अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर दिया, परन्तु कोई यथार्थ उत्तर न दे सका।

अतः श्रीजीमहाराज स्वयं कहने लगे कि 'जीव तथा ईश्वर में से कोई भी स्वतः स्वप्न-सृष्टि का सृजन नहीं करता। स्वयं भी स्वप्न-सृष्टिरूप नहीं होते। वास्तविक बात तो यह है कि जीव-ईश्वर से परे जो परमेश्वर हैं, वे ही सबके कर्म-फलप्रदाता हैं। अतः वे जीव एवं ईश्वर के कर्मानुसार उस स्वप्नसृष्टि का सृजन करते हैं। उस स्वप्न-सृष्टि में जो अस्थिरता है तथा भ्रान्तभाव है, वह देश (स्थान) के योग से बना रहता है, क्योंकि कंठ प्रदेश ऐसा स्थल है, जहाँ अनन्त प्रकार की ऐसी सृष्टि दिखाई पड़ती है। जिस प्रकार दर्पण लगे हुए मन्दिर में एक दिशा में रखे हुए दीपक से अनेक दीपक दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही कंठ प्रदेश के योग से एक ही संकल्प अनन्त प्रकार से दिखाई पड़ता है।'

और, जो मनुष्य ज्ञानी होता है, वह जहाँ जिस देश की जो प्रधानता हो, वहाँ उस देश की वही विशेषता समझता है। और, काल की प्रधानता हो, वहाँ काल की ही समझता है तथा कर्म की प्रधानता हो, वहाँ कर्म की ही समझता है। उसी प्रकार परमेश्वर की प्रधानता हो, वहाँ परमेश्वर की ही प्रधानता

समझता है; परन्तु जो मूर्ख है, वह जिस एक बात को समझा हो, उसी बात पर अड़ा रहेगा। यदि वह काल की प्रधानता समझा हो, तो वह उसी को मुख्य समझ लेगा! यदि कर्म को प्रधानभाव से समझा हो, तो वह कर्म को ही सब कुछ मान बैठेगा! यदि माया को अधिक मान लिया तो उसी मान्यता पर डटे रहेगा! परन्तु मूर्ख को पृथक्-पृथक् रूप से पृथक्-पृथक् तत्त्व की प्रधानता समझ में ही नहीं आती। और, जो ज्ञानी होता है, वह जिस स्थान पर जिसकी प्रधानता रहती है, वहाँ उसी की प्रधानता समझता है। इस विषय में यह बात समझनी चाहिए कि परमेश्वर देश, काल, कर्म तथा माया के प्रेरक हैं और अपनी इच्छा से ही देशकालादि की प्रधानता रहने देते हैं, अन्यथा वे इन सबके आधार हैं। जैसे शिशुमारचक्र ध्रुवमंडल पर आधारित है और जैसे समस्त प्रजा राजा पर आधारित है, भले ही वहाँ दीवान और मंत्री क्यों न हो, परन्तु सत्ता तो राजा की इच्छा से ही चलती है। राजा की इच्छा बिना किसी की सत्ता लेशमात्र भी नहीं चल सकती। वैसे ही **परमेश्वर देश, काल, कर्म और माया की सत्ता को जितना चलने देते हैं, उतनी हद तक ही उनकी गतिविधि रहती है, किन्तु परमेश्वर की इच्छा के प्रतिकूल किसी का लेशमात्र भी नहीं चल पाता। इसलिए सर्वकर्ता तो एक परमेश्वर ही हैं।'** इतनी वार्ता के बाद श्रीजीमहाराज पुनः राजभवन में पधारे।

॥ इति वचनामृतम् ॥21॥ ॥154॥

वचनामृत 22 : शूरवीरता और अंतर्दृष्टि

संवत् 1878 में फाल्गुन कृष्णा दशमी (18 मार्च, 1822) को श्रीजीमहाराज अर्धरात्रि के समय जागे और गढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे दक्षिण की ओर मुखारविन्द करके पलंग पर विराजमान हुए। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उस समय उन्होंने समस्त साधुओं तथा हरिभक्तों को बुलाया। वे सब उनके समक्ष सभा के रूप में बैठ गए।

उस समय श्रीजीमहाराज साधुओं से बोले कि 'एक वार्ता कहते हैं, उसे सुनिए। जब दो सेनाएँ युद्ध के लिए तैयार खड़ी हुई हों तथा दोनों के निशान आमने-सामने लगे हों, तब दोनों पक्षों में से प्रत्येक को यही लक्ष्य

रहता है कि 'हमें अपना निशान दूसरे पक्ष के निशान के स्थान में लगा देना है और उसका निशान मिटा देना है। परन्तु, कोई पक्ष ऐसा विचार नहीं करता कि जब उसका निशान लेने के लिए जाएँगे, तब तक कितने ही सिर धड़ से अलग हो जाएँगे और खून की नदी बहने लगेगी।' इस प्रकार का भय नहीं रहता, क्योंकि वे शूरवीर हैं, अतः उन्हें मरने का डर होता ही नहीं। और, जो कायर होते हैं वे भागने के हज़ारों उपाय करते रहते हैं; तथा यह भी सोचते हैं कि यदि 'अपनी सेना जीत गई तो सभी के धन और हथियारों को लूट लेंगे।' जबकि दोनों पक्षों के राजाओं के शूरवीरों को न तो मरने का ही डर रहता है और न माल लूटने का ही लोभ होता है। उनका तो एक ही लक्ष्य रहता है कि किसी भी कीमत पर दूसरी सेना का निशान हथिया लेना है और हमें ही विजय को पाना है।'

इस दृष्टान्त का सिद्धान्त यह है कि **निशान के स्थान पर भगवान का धाम है और राजा के शूरवीरों के स्थान पर भगवान के दृढ़ भक्त हैं। उन्हें तो इस संसार में मान मिले या अपमान मिले, अपनी देह को सुख मिले या दुःख मिले, अपना शरीर रोगग्रस्त रहे या निरोगी रहे, अपनी देह जिन्दा रहे या किसी कारण उसकी मोत हो जाए - किसी भी स्थिति में उन भक्तों के हृदय में संकल्प नहीं होता कि 'हमें इतना दुःख झेलना होगा या इतना सुख प्राप्त होगा!' इन दोनों में से किसी भी तरह का विचार या संकल्प उनके मन में नहीं होता। ऐसे भक्त-जनों के हृदय में यही एक दृढ़ निश्चय होता है कि 'इस देह के द्वारा भगवान के धाम में ही निवास करना है, परन्तु बीच में कहीं भी आसक्त नहीं होना है।'** जबकि कायर और देहाभिमानी जो भगवद्भक्त हैं, उन्हें भगवान के भजन में हज़ारों तरह के संकल्प-विकल्प होते रहते हैं कि 'यदि कठोर व्रत-नियमों का पालन करना होगा, तो हम सत्संग में नहीं रह पाएँगे, तथा पालन करने में सह्य, आसान नियम होंगे तो टिक जाएँगे!' ऐसे लोग यह भी सोचने लगते हैं कि अगर ऐसा उपाय करेंगे, तो संसार में भी सुखी होंगे और यदि सत्संग में टिक गए, तो धीरे-धीरे सत्संग में भी निभते चलेंगे।' ऐसे भक्तों को कायर ही समझना चाहिए। जो भगवान के दृढ़ और शूरवीर भक्त हैं उन्हें तो पिंड-ब्रह्मांड सम्बंधी किसी प्रकार के सुख का कोई

संकल्प होता ही नहीं!'

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज ने (दृष्टांत देने के लिए) अपने वृत्तान्त की वार्ता कहनी प्रारम्भ की कि 'जब हम अहमदाबाद में श्रीनरनारायणदेव की प्राणप्रतिष्ठा करने गए थे, तब वहाँ हज़ारों मनुष्यों का मेला लगा था। फिर जब श्रीनरनारायणदेव की प्रतिष्ठा हो चुकी और अहमदाबाद के ब्राह्मण भोजन कर चुके, तब हम तैयारी करके वहाँ से निकल पड़े और रात जेतलपुर में जाकर रुके। वहाँ हम ऐसा विचार करने लगे कि हमने 'जितने मनुष्य देखे हैं, तथा जितनी प्रवृत्तियाँ देखीं हैं, उनके संस्मरणों को मिटा देना है।' फिर उन्हें भुलाते हुए हमें हृदय में अत्यन्त कष्ट हुआ और हमारा शरीर भी अस्वस्थ हो गया। हम वहाँ से रवाना होकर रात में धोलका जाकर ठहरे। उसी विचार में धोलका से चल पड़े, और गाँव कोठ के निकट गणेश धोलका के पास खिरनी के जंगल में जाकर रात-बसेरा लिया। वहाँ हम ऐसा विचार करने लगे कि देह की स्मृति ही नहीं रही। बाद में विचार करते-करते हमने समस्त प्रवृत्तियों को विस्मृत कर दिया। जैसे कि हमने कांकरिया तालाब के तट पर निवास नहीं किया था, और वहाँ मेला भी नहीं लगा था, उस समय हमें किसी भी प्रकार का संकल्प नहीं था, वैसे ही हम समस्त संकल्पों के जंजाल से मुक्त हो गए! फिर लौकिक संकल्प-विकल्प मिट गए और अन्तर्दृष्टि रहने लगी। इसके पश्चात् हमें अलौकिक आश्चर्य तथा देवताओं के उपयुक्त भोग आदि दिखाई देने लगे। अनेक प्रकार के विमान, अनेक प्रकार की अप्सराएँ, अनेक तरह के वस्त्र एवं अलंकार हमें उसी तरह दिखाई पड़े जिस तरह मृत्युलोक में हैं! परन्तु हमारे मन में एक भगवान के बिना कहीं भी रुचि नहीं हुई। जिस प्रकार से इहलोक के पंचविषय हमें तुच्छ लगे और उनमें हमारा मन आसक्त नहीं हुआ, ठीक उसी प्रकार देवलोक तथा ब्रह्मलोक के भोग देखकर भी हमारा मन आसक्त नहीं हुआ! यह देखकर सभी देवता हमारी प्रशंसा करने लगे कि 'आप भगवान के सच्चे एकान्तिक भक्त हैं, क्योंकि आपका मन भगवान के सिवा कहीं भी आकृष्ट नहीं होता।' उनके ऐसे वचनों को सुनकर हमारे हृदय में बड़ा साहस पैदा हो गया। बाद में हमने अपने मन को संबोधित करके कहा कि 'तेरा जैसा रूप है, वह मैं जानता हूँ। यदि तूने भगवान के सिवा किसी अन्य पदार्थ का संकल्प किया तो तेरी धज्जियाँ उड़ा

दूँगा।' वैसे ही बुद्धि से भी कहा कि 'अगर तूने भगवान के सिवा कोई अन्य निश्चय किया, तो तेरी शामत आ जाएगी।' उसी प्रकार चित्त से भी कहा कि 'यदि तूने भगवान के सिवा किसी अन्य का चिन्तन किया, तो तुझे भी चूर-चूर कर डालूँगा।' उसी प्रकार अहंकार से भी कहा कि 'अगर तूने भगवान के दासत्व के सिवा किसी प्रकार से अभिमान किया, तो तेरा नाश कर डालूँगा।'

फिर हमें जैसे इस लोक के पदार्थों की अत्यन्त विस्मृति हो गई थी, उसी भाँति देवलोक एवं ब्रह्मलोक के पदार्थों का भी अत्यन्त विस्मरण हो गया। और, जब वे सब संकल्प मिट गए, तब संकल्पों की बीमारी भी मिट गई। भगवान के भक्तों को भी इसी प्रकार आचरण करना चाहिए!' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने अपना वृत्तान्त भक्तजनों के कल्याण के लिए कहा, लेकिन स्वयं तो साक्षात् श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम नारायण हैं।

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि 'वासुदेव-माहात्म्य में एकान्तिक भक्त के धर्म बताए गये हैं कि एकान्तिक भक्त देह को अपना स्वरूप नहीं मानता है। वह स्वयं को चैतन्यरूप समझता है। स्वधर्म, ज्ञान एवं वैराग्य सहित भगवान की भक्ति करता है और एकमात्र भगवान के सिवा अन्य किसी भी पदार्थ की वासना नहीं रखता।' और, जब वह भगवान का भजन करके इस प्रकार का (उत्तम) साधु हुआ, तब ऐसे **साधु से बड़ी कोई अन्य पदवी नहीं है! जैसे कोई राजा तथा उसकी रानी हो, तब जितनी परिधि में राजा का राज्य है, उतनी ही परिधि में रानी का राज्य भी कहलाता है और राजा का जैसा हुक्म चलता है, वैसा ही रानी का भी हुक्म चलता है। ठीक उसी प्रकार भगवान का जैसा प्रताप है, वैसा ही उस साधु का भी प्रताप है।** इसीलिए, संसार के तुच्छ सुखों की इच्छा साधु कभी न करें! क्योंकि वह साधु जब भगवान के धाम को प्राप्त करता है, तब अनन्त कोटि ब्रह्मांडों के अधिपति ब्रह्मादिक ईश्वर भगवान के लिए जिस प्रकार अनेक प्रकार की भेंट-सामग्रियाँ लाते हैं, उसी तरह वैसी ही वस्तुएँ साधु के लिए भी लाया करते हैं। और, भगवान के प्रताप से वह साधु अलौकिक ऐश्वर्य एवं सामर्थ्य को प्राप्त कर लेता है। ऐसा महान विचार हृदय में रखकर एकमात्र भगवान के सिवा मन में किसी भी अन्य वस्तु की इच्छा वह न करें। जब हाथ में चिन्तामणि आ चुकी हो तब उसको संभालपूर्वक रखना। क्योंकि

जब हाथ में चिन्तामणि रही तो जिस पदार्थ की इच्छा होगी, वह पदार्थ तुरन्त मिलेगा, वैसे ही भगवान के भक्त को भी भगवान की मूर्ति-रूपी चिन्तामणि को संभालकर रखना, परन्तु उसे तो छोड़ना नहीं! तब उस मुमुक्षु को हर बात सिद्ध हो जाएगी।'

॥ इति वचनामृतम् ॥22॥ ॥155॥

वचनामृत 23 : विषयासक्ति की लू तथा शीत

संवत् 1878 में जयेष्ठ शुक्ला एकादशी (31 मई, 1822) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी, सफ़ेद धोती धारण की थी और श्वेत चादर ओढ़ी थी। उनके समक्ष मुनि तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उसी समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'आज हमने मन के स्वरूप पर विचार करके देखा, तो वह मन जीव से भिन्न नहीं दीख पड़ा। मन तो जीव की ही कोई एक किरण है, परन्तु वह जीव से भिन्न नहीं है। और, जिस प्रकार ग्रीष्मकाल में लू रहती है और शीतकाल में हिम रहता है, उसी तरह मन का स्वरूप दिखायी पड़ा। जैसे मनुष्य के शरीर पर जब लू या हिम का असर होता है, तब वह मनुष्य मर जाता है, वैसे ही वह मन इन्द्रियों द्वारा विषयों के निकट जाता है, तब वे विषय यदि दुःखदायी हों, तो मन तप्त होकर ग्रीष्मकाल की लू के समान हो जाता है तथा वही विषय यदि सुख-दायक हों, तो मन शीतकाल के हिमसदृश हो जाता है। जब मन दुःखद विषय को भोगकर और लू की भाँति तप्त होकर जीव के हृदय में बैठता है, तब वह जीव को अत्यन्त दुःखी करके कल्याण के मार्ग से गिरा देता है। तब यह समझना चाहिए कि वह लू लगने से ही मरा है, परंतु जब वह मन सुख-दायक विषयजन्य सुख को भोगता है, तब वह हिमसदृश ठंडा होकर जीव के हृदय में बैठ जाता है और जीव को विषयसुख से सुखी बनाकर कल्याण-मार्ग से गिरा देता है। तब, यह समझ लेना कि जैसे कोई हिमानी झंझावायु के प्रहार से मरता है, उसी प्रकार विषयीजन को भी परिणाम मिल गया, और उसकी मृत्यु हो गयी।

अतः जिनका मन बुरे विषयों को देखकर तप्त नहीं होता और अच्छे विषयों को देखकर हिम–जैसा नहीं होता, इस प्रकार जिनका मन अविकारी रहता हो, उन्हीं को परम भागवत सन्त समझना चाहिए। ऐसे निर्विकार मन का होना कोई छोटी बात नहीं है। और, मन का स्वभाव तो कैसा है? तो जैसे कोई बालक सर्प, अग्नि और खुली तलवार को पकड़ना चाहता हो, तब यदि उसे उन्हें पकड़ने न दिया जाए, तो भी वह दुःखी होगा और अगर उसे पकड़ने दिया जाए तो भी रोएगा! वैसे ही यदि मन को विषयों को भोगने का मौका न दिया जाए, तो भी वह दुःखी होगा और यदि उसे उन्हें भोगने दिया जाए, तो भी वह भगवान से विमुख होकर अतिशय दुःखी हो जाएगा। अतः **जिसका मन भगवान में आसक्त हुआ हो, किन्तु विषयों के सम्बंध से वह ठंडा और गरम नहीं होता, उसी को साधु जानना चाहिए।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥23॥ ॥156॥

वचनामृत 24 : सांख्यनिष्ठा एवं योगनिष्ठा

संवत् 1879 में श्रावण शुक्ला अष्टमी (26 जुलाई, 1822) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा–स्थित दादाखाचर के राजभवन से घोड़ी पर चढ़कर श्रीलक्ष्मीवाड़ी में पधारे थे। वहाँ चबूतरे पर वे उत्तर की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे, कंठ में मोगरा के पुष्पों का हार पहना था और पाग में मोगरा के पुष्पों का तुर्रा धारण किया था। उनके समक्ष परमहंस तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! भगवान की अविचल निष्ठावाले भक्तों को कोई विक्षेप बाधक बनता है या नहीं?' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'एक तो योगनिष्ठा है तथा दूसरी सांख्य–निष्ठा है। उनमें योगनिष्ठावाला भगवान का भक्त, भगवान के स्वरूप में अपनी अखंडवृत्ति रखता है तथा सांख्यनिष्ठावाला भगवान का भक्त, मनुष्यों के सुख और सिद्धों, चारणों, विद्याधरों, गन्धर्वों तथा देवताओं के सुख - सभी को ठीक तरह से समझ लेता है। तथा चौदह लोकों के भीतर जो भी सुख सुलभ हैं, उन सबका मूल्यांकन करके परख लेता है कि

'इस लोक का सुख तो इतना ही है!' और उन सुखभोगों के फलस्वरूप उनमें जो दुःख अन्तर्निहित हैं, उनका भी परिमाण करके उन दुःखों को भी जान लेता है। वह बाद में उन दुःखमूलक सुखों से वैराग्य प्राप्त कर केवल एक परमेश्वर में ही दृढ़ प्रीति रखता है। इस प्रकार सांख्यनिष्ठावाले को तो समझ अर्थात् ज्ञान का बल रहता है।

और, योगनिष्ठावाले को भगवान के स्वरूप में अखंड वृत्ति रहे, वही एक बल रहता है। परन्तु, कभी किसी विषम देशकालादि के योग द्वारा उसे कुछ विक्षेप हो जाए, तो भगवान के स्वरूप में रहनेवाली वृत्ति कहीं अन्यत्र भी लग सकती है, क्योंकि योगनिष्ठावाले के पास समझ अर्थात् ज्ञान का बल थोड़ा रहने से कोई न कोई विघ्न अवश्य उपस्थित हो सकता है। यदि एक ही भक्त में सांख्यनिष्ठा तथा योगनिष्ठा दोनों निष्ठाएँ बनी रहें, तो उसमें कोई भी कसर नहीं रहती! और, भगवान का जो ऐसा भक्त होता है, वह भगवान की मूर्ति के सिवा अन्य किसी भी पदार्थ में आसक्त नहीं होता! वह यही समझता रहता है कि **'भगवान का अक्षरधाम तथा उस धाम में स्थित भगवान की मूर्ति और उस धाम में रहनेवाले भगवान के भक्त, उनके सिवा जो अन्य लोक हैं और उन लोकों में निवास करनेवाले जो देव हैं और उन देवों के जो वैभव हैं, वे सब के सब नाशवंत हैं।' ऐसा समझकर वह एकमात्र भगवान में ही दृढ़ प्रीति रखता है। अतः ऐसे भक्त को किसी भी प्रकार का विक्षेप नहीं आता है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥24॥ ॥157॥

वचनामृत 25 : वासनिक त्यागी, और निर्वासनिक गृहस्थ

संवत् 1879 में श्रावण कृष्णा षष्ठी (8 अगस्त, 1822) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में दक्षिणमुख द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनि तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने समस्त परमहंसों से कहा कि 'सुनिए, हम एक प्रश्न पूछते हैं कि 'एक तो भगवान का त्यागी भक्त है, जो देह से समस्त

व्रत-नियमों को सुदृढ़ रखता है, और उसके अन्तःकरण में विषय-भोगों की वासना अतिशय तीव्र बनी रहती है, फिर भी दैहिक रूप से वह भ्रष्ट नहीं होता, ऐसा त्यागी है। तथा दूसरा भक्त गृहस्थाश्रमी है जो भौतिकरूप से धन एवं स्त्री का प्रसंग रखता है परन्तु वह अन्तर में तो सर्व प्रकार से निर्वासनिक है। अब बताइए कि ये दोनों भक्त जब देहत्याग करेंगे, तब इन दोनों को कैसी गति प्राप्त होगी? वे दोनों समान गति को प्राप्त होंगे या अधिक-न्यून गति को प्राप्त होंगे? इन दोनों के सम्बंध में विस्तृत रूप से अलग-अलग उत्तर दीजिए।'

तब गोपालानन्द स्वामी बोले कि 'उन दोनों में जो त्यागी भक्त है, वह जब देहत्याग करेगा, तब भगवान उसकी विषयोपभोग की तीव्र वासना के कारण मृत्युलोक अथवा देवलोक में उसे बड़ा गृहस्थ बनाएँगे और उसे प्रचुर विषयभोगों की प्राप्ति होगी। जैसे कि भगवद्गीता में योगभ्रष्ट पुरुष के लिए जिन भोगों का उल्लेख किया गया है, उन भोगों को वह देवलोक में भोगेगा। परन्तु, वह गृहस्थ हरिभक्त निर्वासनिक होने के कारण देहत्याग करने पर भगवान के ब्रह्मपुर धाम को प्राप्त कर लेगा, तथा भगवान के चरणारविन्दों में निवास करेगा। और, पूर्वोक्त त्यागी भक्त जब विषयोपभोग से तृप्त होगा, तब विषयभोगों से विरक्त होकर मन में पश्चात्ताप करते हुए भगवान का भजन करेगा; फिर निर्वासनिक होकर भगवान के धाम में पहुँचेगा।' यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'आपने ठीक बताया। इस प्रश्न का यही उत्तर है।'

तत्पश्चात् मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'ऐसी दृढ़ वासना को टालने की जिसकी इच्छा हो, तो उसे कौन-सा उपाय करना चाहिए?' तब श्रीजी-महाराज बोले कि **'जैसे उकाखाचर को सन्त की सेवा करने का व्यसन पड़ चुका है, वैसा ही भगवान तथा भगवान के सन्त की सेवा करने का जिसे व्यसन हो जाए और उसके बिना एक क्षण भी न रहा जाए, तो उसके अन्तःकरण की मलिन वासना पूर्णतः नष्ट हो जाती है।'**

फिर स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! ऐसा कौन-सा साधन है कि जिससे भगवान अतिशय प्रसन्न हो जाएँ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'घर में केवल एकाध मन अन्न मिलता हो, और उस समय सन्त के प्रति जैसी प्रीति तथा दीनता हो, वैसी ही दीनता और

अधीनता, जब उसे एक गाँव का राज्य मिले या पाँच गाँव का राज्य मिले अथवा पचास गाँव का राज्य मिले या सौ गाँव का राज्य मिले अथवा समस्त पृथ्वी का भी राज्य मिल जाए; फिर भी पूर्वकाल में जैसे सन्त के समक्ष अतिशय प्रीतिपूर्वक दीन-अधीन था, वैसा ही दीन-अधीन बना रहे; वैसे ही इन्द्रलोक एवं ब्रह्मलोक का राज्य प्राप्त होने पर भी सन्त के प्रति अपनी दीनता एवं अधीनता की भावना बनाए रखे। ऐसे गृहस्थ पर भगवान की अतिशय प्रसन्नता होती है। और, त्यागी भक्त भी यदि पहले गरीब अवस्था में सभी सन्तों की सेवा-चाकरी करता हो, वैसी ही सेवा-चाकरी स्वयं को भगवान सदृश ऐश्वर्य प्राप्त होने पर भी करता रहे, किन्तु साधुओं के साथ पैतृक दावा पेश न करे और किसी के साथ प्रतिस्पर्धी का भाव न रखे। ऐसे लक्षणवाले साधु पर भगवान अतिशय प्रसन्न हो जाते हैं।'

॥ इति वचनामृतम् ॥25॥ ॥158॥

वचनामृत 26 : आत्मज्ञानादि गुणों से अधिक भक्ति का प्राधान्य

संवत् 1879 में भाद्रपद शुक्ला एकादशी (28 अगस्त, 1822) को रात्रि के समय श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंस तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो भगवान का भक्त होता है, उसे तो भगवान को अथवा भगवान के भक्त को जो पसंद नहीं होता, वह कभी नहीं करना चाहिए, तथा परमेश्वर के भजन में अवरोध खड़े करनेवाले, चाहे अपने सगे-सम्बंधी ही क्यों न हो, उनका भी त्याग कर देना चाहिए। और, अपना किसी भी प्रकार का ऐसा स्वभाव हो, जो भगवान को अच्छा न लगता हो, तो उसका भी शत्रु की तरह त्याग कर डालना चाहिए, परन्तु भगवान से विमुख रहनेवालों का पक्ष कभी नहीं लेना चाहिए। जैसा कि भरतजी ने अपनी माता का पक्ष नहीं लिया था।

और, भगवान के भक्त को सबसे बढ़कर अपने में ही दोष दिखाई दिया करते हैं। **जो अन्य में दोष देखता है और अपने में गुण देखता**

है, वह सत्संगी होने पर भी आधा विमुख ही है। और, भगवान के भक्तों को चाहिए कि वे भगवान की भक्ति करने के मार्ग में बाधक बननेवाले चाहे आत्मज्ञान, वैराग्य तथा धर्म ही क्यों न हों, उन्हें भी गौण करके भगवान की भक्ति को ही प्रधानता दें। यदि वे सब गुण भक्ति में सहायक होते हों, तब तो ठीक है, ऐसी समझ रखनेवाला ही भगवान का पूरा भक्त कहलाता है। और, जो साधक दूसरों में दोष और अपने में गुण देखता रहता है, वह चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, फिर भी उसके कल्याण के मार्ग में विघ्न आ जाते हैं। जैसे राधिकाजी बहुत बड़ी थीं और भगवान में उनका अत्यधिक प्रेम भी था, परन्तु जब उन्होंने अपने में गुण तथा श्रीकृष्ण भगवान में दोष मान लिया, तब उनके प्रेम में तमोगुण का अंश आ गया। बाद में उन्होंने श्रीकृष्ण भगवान तथा श्रीदामा से झगड़ा किया। इस कारण श्रीदामा ने उन्हें शाप दिया, जिसके फलस्वरूप उन्हें गोलोक में से गिरकर गूजर के घर में अवतार लेना पड़ा। भगवान को छोड़कर उन्हें परपुरुष को अपना पति बनाना पड़ा और भारी कलंक भी लगा। उधर श्रीदामा ने भी अपने में गुण माना तथा राधिकाजी में दोष देखा तो राधिका के शाप के कारण उसे दैत्य होना पड़ा। यद्यपि उस धाम में से गिरने की यह रीति नहीं है; फिर भी जो उनका पतन हुआ, वह तो भगवान की इच्छा ही वैसी थी। उसमें भी भगवान ने ऐसा दिखलाया कि राधिकाजी के समान महान होने पर भी यदि अपने में गुण मानकर वह भगवान के भक्त में दोष देखती हैं, तो उनका भी पतन होता है, तो दूसरे की तो बात ही क्या करें! अत: भगवान के भक्त को सभी सत्संगियों में गुण ही देखना चाहिए, और अपने में दोष ही देखना चाहिए। जो इस प्रकार समझता हो, उसकी थोड़ी बुद्धि होने पर भी उसके सत्संग में दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती जाती है। परन्तु इसके बिना किसी की बुद्धि अधिक होने पर भी वह सत्संग से दिन-प्रतिदिन पीछे ही हटता जाता है और अन्त में निश्चित ही विमुख हो जाता है। यह रीति सभी स्थानों पर अपनाई जाती है कि कोई सेवक या शिष्य को राजा अथवा गुरु की ओर से कदाचित् डाँट मिले, उस समय यदि वह उस फटकार को अपने हित के लिए समझेगा, तो उस पर राजा या गुरु का अतिशय स्नेह स्वाभाविक ही बढ़ जाएगा, परन्तु यदि कोई अच्छी शिक्षा

को उलटा समझे तो उस पर स्नेह नहीं होता। इसी प्रकार, भगवान की भी यही रीति है कि जिसको सीख की बात कही जाए, उसे यदि वह अपने हित के लिए समझे तो उस भक्त पर उनका अतिशय स्नेह हो जाता है, परन्तु उसे उलटा समझनेवालों पर उनका स्नेह नहीं होता।'

॥ इति वचनामृतम् ॥26॥ ॥159॥

वचनामृत 27 : बड़े सन्त की प्रसन्नता का कारण
मलिन वासना का त्याग

संवत् 1879 में कार्तिक शुक्ला एकादशी (25 नवम्बर, 1822) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में दक्षिणी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे, कंठ में गुलदावदी के सफ़ेद और पीले पुष्पों के हार पहने थे तथा पाग में दोनों ओर तुर्रे लटक रहे थे। उनके समक्ष परमहंस तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने मुक्तानन्द स्वामी से प्रश्न किया, 'आपको जब क्रोध होता है, तो किस कारण होता है और कब क्रोध होता है? और हमें तो यदि कोई एक रुपये से लेकर लाख रुपये तक का नुक़सान कर डाले, तो भी उस पर अपने लिए क्रोध नहीं आता, परन्तु धर्मलोप करे, या कोई बलवान पुरुष किसी गरीब को पीडा पहुँचाये अथवा कोई अन्याय का पक्ष ले, तब हमें उन लोगों पर दूसरों के लिए हल्का सा क्रोध आता है, किन्तु निजी स्वार्थ के लिए लेशमात्र भी क्रोध नहीं आता। किसी अन्य व्यक्ति के निमित्त आया हुआ क्रोध भी क्षणमात्र नहीं टिकता तथा उससे किसी के साथ ग्रन्थि भी नहीं पड़ती! अब आप बताइए कि आपको क्रोध क्यों आता है और किस प्रकार मिट जाता है?'

यह सुनकर मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'किसी भौतिक पदार्थ का योग होता है तब, और किसी की धृष्टता दिखाई देती है, तब मुझे थोड़ा क्रोध आता है, परन्तु तत्काल ही उसका शमन हो जाता है।'

तब श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'आपको इस प्रकार विचार का जो बल रहता है, वह किस कारण से बना रहता है?'

मुक्तानन्द स्वामी ने बताया कि 'सबसे पहले तो भगवान के माहात्म्य पर विचार करने पर यह बात समझ में आ जाती है कि 'कोई ऐसा स्वभाव नहीं रखना है कि जिससे भगवान अप्रसन्न हो जाएँ!' इसके उपरांत शुकजी तथा जड़भरत जैसे सन्तों का मार्ग देखकर ऐसा विचार रहता है कि 'साधु में इस प्रकार का अनुचित स्वभाव नहीं रहना चाहिए।'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'काम-क्रोधादि के जोर को हटाने वाला विचार तो गुणों से परे है और वह आपके जीव में रहता है। इस प्रकार काम-क्रोधादिक गुणों को जो हटाए, ऐसा बल भी पूर्वजन्म का संस्कार है। और, आपके सम्बंध में हमें इतना तो ज्ञात होता है कि आपको जिन-जिन मायिक पदार्थों का योग प्राप्त हो, तो उनके चक्कर में आप पहले तो आ जाते हैं, परन्तु अन्त में उस बन्धन में आप रह नहीं सकते और ऐसे बन्धनों को तोड़कर आप निकल भी जाते हैं।'

यह सुनकर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'प्रथम बन्धन हो जाता है, ऐसी जो अपरिपक्वता रहती है, वह किस योग से रहती है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जैसा बल पूर्वसंस्कारों में है, वैसा ही बल आठ देश-कालादि एक-एक में रहता है। अतः जब उनका योग होता है, तब बन्धन अवश्य हो जाता है। वे पूर्वसंस्कारों का बल रहने नहीं देते। और यदि हमसे केवल पूर्वसंस्कारों में उल्लिखित सुकृत-दुष्कृत ही होते हों, तो वेदों, शास्त्रों और पुराणों में बताये गए विधि-निषेध के सभी भेद कि 'यह करना, और यह नहीं करना' आदि मिथ्या हो जाएँगे। लेकिन, उन बड़े-बड़े ऋषियों ने जो शास्त्र रचे हैं, वे मिथ्या होते ही नहीं। और, अनुचित क्रिया के कारण, जहाँ काल, कर्म एवं माया ही नहीं हो, ऐसे भगवान के धाम से जय-विजय का पतन हुआ। तो दूसरी ओर प्रह्लाद के लिए देश-कालादि अशुभ होने पर भी वे नारदजी को प्रसन्न करने के कारण बाधा नहीं डाल सके। परन्तु सनकादिक को कोपायमान करने के कारण देश-कालादि के शुभ होने पर भी जय-विजय का पतन हो गया था। इसलिए जो कल्याण की इच्छा रखता है, उसे वही करना चाहिए, जिससे सत्पुरुष प्रसन्न हो जाएँ तथा वह महान सत्पुरुष भी तभी प्रसन्न होते हैं, जब मुमुक्षु के अन्तःकरण में किसी भी प्रकार की मलिन वासना न रहे!

यह बात भी समझनी चाहिए कि जिसको गरीब पर क्रोधादि का संकल्प हो जाता हो, उसे बड़े (सन्त-भक्त) पर भी हो सकता है। इतना ही नहीं, उसे अपने इष्टदेव पर भी क्रोधादि का मलिन संकल्प हो जाता है। इसलिए जिसे कल्याण की इच्छा हो, वह किसी के प्रति मलिन संकल्प न करें। यदि उसने किसी के प्रति मलिन संकल्प किया, तो उसे भगवान के भक्त तथा भगवान पर भी बुरा संकल्प हो जाता है। और, मुझे अपने द्वारा एक गरीब भी दु:खी होता है, तो अन्तर में ऐसा विचार आता है कि भगवान सर्वान्तर्यामी हैं और वे एक स्थान पर रहकर भी सबके अन्त:करण को जानते हैं, अत: मैंने जिसको दु:खित किया, उसी के अन्त:करण में भगवान विराजमान होंगे, तब हमने भगवान का ही अपराध किया!' ऐसा सोचकर हम उसको वंदन करते हैं और उसे वह देते हैं, जो कुछ वह चाहता हो! और जिस प्रकार वह प्रसन्न होता है, वैसा करते हैं।

हमने और भी विचार कर देखा है कि जो अतिशय त्यागमय जीवन रखता है अथवा दया रखता है, उससे भी भगवान की भक्ति नहीं हो सकती। ऐसी दशा में उपासना का भी भंग होता है। पूर्वकाल में जो अतिशय त्यागी पुरुष हुए हैं, उनके मार्ग में उपासना का नाश हो गया है। इसलिए, हमने यह विचार करके **परमेश्वर की उपासना रखने के लिए त्याग के पक्ष को गौण करके भगवान के मन्दिर बनवाए हैं। उनमें यदि त्याग थोड़ा रहेगा, तो भी उपासना तो बनी रहेगी, और उपासना से अधिकाधिक जीवों का कल्याण होगा।** और, जिसको भगवान की भक्ति करनी हो, उसको जैनों की तरह दया रखने से भी कैसे ठीक पड़ेगा? उसको तो परमेश्वर के लिए पुष्प लाने चाहिए, तुलसी लानी चाहिए, भाजी-तरकारी लानी चाहिए, ठाकुरजी के वास्ते बाग-बगीचे बनवाने चाहिए और मन्दिरों का निर्माण कराना चाहिए। अत: जो अत्यन्त त्याग तथा अतिशय दया की भावना रखते हुए मुट्ठी बाँधकर बैठा रहेगा, उससे भगवान की भक्ति नहीं हो सकती। यदि भक्तिरहित होगा, तो उपासना का भी नाश हो जाएगा और तब अन्ध परम्परा चल पड़ती है। इसलिए, हमने मन्दिर बनवाए हैं, वह भगवान की अखंड उपासना रखने के लिए निर्मित किए गए हैं। और, जो उपासक होता है, वह अपने धर्म से भ्रष्ट होता ही नहीं। अत: अपने-अपने धर्म में

रहकर भगवान की भक्ति और उपासना करते रहना यह हमारा सिद्धान्त है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥27॥ ॥160॥

वचनामृत 28 : जीवन-डोर और दयालुता

संवत् 1879 में फाल्गुन शुक्ला द्वितीया (13 फरवरी, 1823) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास स्थान पर निर्मित वेदी पर पश्चिम की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी तथा सफ़ेद चादर ओढ़ी थी एवं मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी। उनके समक्ष मुनि तथा विभिन्न प्रान्त के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब दवे प्रागजी ने कहा कि 'श्रीमद्भागवत के समान अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है।' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'श्रीमद्भागवत तो अच्छा ही है, परन्तु स्कन्दपुराण में जो श्रीवासुदेवमाहात्म्य है, उसके समान कोई ग्रन्थ ही नहीं है, क्योंकि उस ग्रन्थ में धर्म, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति तथा अहिंसा का अतिशय प्रतिपादन किया गया है।' ऐसा कहने के पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि 'वाल्मीकि रामायण तथा हरिवंश में हिंसा का अतिशय प्रतिपादन किया गया है तथा रघुनाथजी ने भी क्षत्रिय की प्रकृति को अपनाया है। यद्यपि रघुनाथजी शरणागतवत्सल तो थे तथापि शरणागत का थोड़ा-सा भी अपराध दिखाई दे, तो वे उसका परित्याग कर दिया करते थे। जैसे सीताजी पर तनिक-सा लोकापवाद आया, तो उनके अतिप्रिय होने पर भी उन्होंने सीताजी का तत्काल परित्याग कर दिया था।'

तब मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'ऐसी तो रामानन्द स्वामी की प्रकृति थी।' यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'हमारी प्रकृति तो ऐसी नहीं है। हमें तो परमेश्वर के भक्त पर अतिशय दया रहती है। और, पांडवों में भी अर्जुन की प्रकृति बड़ी दयालु थी। तथा पुरुषमात्र में रामचन्द्रजी तथा अर्जुन जैसे पुरुष नहीं हैं, और स्त्रियों में सीताजी एवं द्रौपदी-जैसी कोई स्त्री नहीं हैं। अब हम अपनी प्रकृति बताते हैं कि हमारा स्वभाव दयालु है, तो भी हरिभक्त के द्रोही के प्रति हमें अभाव रहता है। और, यदि किसी ने हरिभक्त की निन्दा की हो, उसे यदि मैं सुन लूँ, तो उसके साथ बोलने की मैं चाहे

कितनी ही इच्छा करूँ, परन्तु उसके साथ बोलने का मन ही नहीं होता। तथा जो भी भगवान के भक्त की सेवा-चाकरी करता है, उस पर हमें अतिशय प्रसन्नता हो जाती है।

हमारा स्वभाव ऐसा है कि न तो हम किसी बात में जल्दी अप्रसन्न होते हैं और न तो शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं।' किन्तु जब किसी में, मुझे प्रसन्न करने या अप्रसन्न करने का स्वभाव दीर्घकाल तक देखता हूँ, तब उस पर प्रसन्नता या अप्रसन्नता होती है। परन्तु, किसी के कहने-सुनने से किसी पर प्रसन्नता या अप्रसन्नता नहीं होती। और, जिसका जितना गुण मेरे मन में ज्ञात हो जाता है, उसके प्रति उतनी ही कृपा रहती है। वास्तव में मेरा यही स्वभाव है कि भगवान का जो यथार्थ भक्त हो, तो मैं भगवान के उस भक्त का भी भक्त हूँ और मैं भगवान के भक्त की भक्ति करता हूँ, यही मुझमें बड़ा गुण है। जिसमें इतना गुण न हो, उसमें किसी भी प्रकार की पद-प्रतिष्ठा शोभा नहीं देती।

और, जिस-जिसको भगवान के भक्त के प्रति दुर्भाव हुआ है, वे बहुत बड़े होने पर भी अपने स्थान से गिर गए हैं। तथा जिसका भला होता है, वह भी भगवान के भक्त की सेवा से ही सम्भव होता है और जिसका बुरा होता है वह भी भगवद्भक्त का द्रोह करने के कारण ही होता है। **यदि जीव भगवान को प्रसन्न करना चाहता है, तो उसका उपाय यही है कि उसे मन, कर्म और वचन द्वारा भगवान के भक्त की सेवा करनी चाहिए, और भगवान के भक्त का द्रोह करना ही भगवान को अप्रसन्न करने का कारण बनता है।**

इसलिए, हमारा यही सिद्धांत है कि भगवान की प्रसन्नता हो, तथा भगवान के भक्त का संग हो, तो भगवान से चाहे अनन्त वर्षों तक दूर क्यों न रहना पड़े, पर मन में किसी भी प्रकार का दुःख नहीं होता। परन्तु भगवान के पास रहते हुए भी यदि भगवान की प्रसन्नता न रही, तो मैं उसे अच्छा नहीं समझता।

और, समस्त शास्त्रों का भी सार यही है कि 'भगवान की जिस प्रकार प्रसन्नता बनी रहे, वैसा ही आचरण करना चाहिए।' और, जिसमें भगवान की प्रसन्नता हो ऐसा जो न करे, तो भगवान के मार्ग से उसका

पतन ही समझ लेना चाहिए। और, जिसको भगवान तथा भगवान के भक्त का संग उपलब्ध है और जिस पर भगवान की प्रसन्नता बनी हुई है, तो वह मृत्युलोक में रहता हुआ भी भगवान के धाम में ही बैठा है। क्योंकि जो पुरुष सन्त की सेवा करता है और भगवान का कृपापात्र बना है, वह भगवान के समीप ही निवास करेगा। यदि कोई भगवान के धाम में रहता हो, लेकिन उस पर भगवान की प्रसन्नता नहीं है तथा उसे भगवान के भक्त से ईर्ष्या है, तो वह भक्त भगवान के धाम से भी अवश्य ही गिर जाएगा। इसलिए, **हमें तो भगवान की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए जन्म-जन्मान्तर तक भगवान के भक्त की ही सेवा करनी है, इस प्रकार जैसा हमारा निश्चय है, वैसा ही निश्चय आपको भी करना चाहिए।'**

इसके पश्चात् मुक्तानन्द स्वामी आदि समस्त हरिभक्तों ने हाथ जोड़कर कहा, 'हे महाराज! हमें भी यही निश्चय रखना है।' इतना कहकर सभी हरिभक्तों ने विनयपूर्वक श्रीजीमहाराज का चरणस्पर्श किया।

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज पुनः बोले कि **'हमने यह जो बात कही है, वह कैसी है? तो वेद, शास्त्र, पुराण आदि पृथ्वी पर जीवात्मा के कल्याण के लिए जितने भी शब्दमात्र हैं, उन सभी का श्रवण करके और उनका सारांश निकालकर हमने यह वार्ता कही है। जो कि परम रहस्य है और सार का भी सार है। और, पूर्वकाल में जो-जो भक्त मोक्ष को प्राप्त कर गए हैं, तथा अब जो-जो भक्त मोक्ष को प्राप्त करेंगे और आज जो भक्त मोक्ष-मार्ग पर चल रहे हैं, उन सबके लिए यह वार्ता जीवन डोर के समान है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥28॥ ॥161॥

वचनामृत 29 : भगवान में दृढ़ आसक्ति

संवत् 1879 में फाल्गुन शुक्ला अष्टमी (18 फरवरी, 1823) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनि तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा

हो रही थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'श्रीकृष्ण भगवान के स्वरूप में जिस भक्त का चित्त अत्यन्त आसक्त हुआ हो, उसके ऐसे लक्षण होते हैं कि वह स्वयं लम्बा रास्ता तय करके अत्यधिक थक गया हो और शरीर में बैठने तक की भी शक्ति नहीं रह गई हो, उस समय भी यदि भगवान की वार्ता का कोई प्रसंग छिड़ गया, तो वह उस प्रकार सावधान होकर उस वार्ता को करने और सुनने में तत्पर हो जाता है कि मानो उसने कोई लम्बा सफ़र तय ही नहीं किया था! चाहे कैसे भी रोगादि से पीड़ित हो रहा हो, या चाहे जैसा उसका अपमान हुआ हो, फिर भी वह उस समय यदि भगवान की वार्ता सुनने लगे, तो तुरन्त ही समस्त दुःखों से रहित हो जाता है। और, चाहे वह कैसी भी राज्य-समृद्धि को प्राप्त करके उसमें आसक्त हुआ दिखाई देता हो, परन्तु जिस क्षण वह भगवान की वार्ता को सुने, तो उसी क्षण उसकी ऐसी ही स्थिति बन जाएगी कि मानो उसे किसी का संग ही नहीं हुआ था! इस प्रकार वह भगवद्वार्ता सुनने में सावधान हो जाता है। जिस भक्त में ऐसे लक्षण हों, उसके सम्बंध में जान लेना चाहिए कि भगवान में उसकी दृढ़ आसक्ति हो गई है।'

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान में इस प्रकार की दृढ़ आसक्ति किस प्रकार होती है?'

इसका उत्तर देते हुए श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'या तो पूर्वजन्म का अतिबलवान संस्कार हो अथवा जिस सन्त को भगवान में ऐसी दृढ़ आसक्ति रही हो, उनकी सेवा करके उन्हें प्रसन्न कर लें, तो भगवान में ऐसी दृढ़ आसक्ति हो सकती है। इन दोनों उपायों के सिवा भगवान में आसक्ति करने का अन्य कोई उपाय नहीं है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥29॥ ॥162॥

वचनामृत 30 : स्वर्ण तथा स्त्री बन्धनकारी

संवत् 1879 में चैत्र शुक्ला नवमी (19 अप्रैल, 1823) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के बरामदे में गद्दी-तकिया पर विराजमान थे।

उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी, काले पल्लेवाली धोती मस्तक पर बाँधी थी, श्वेत पुष्पों का हार पहना था और सफ़ेद फूलों का तुर्रा पाग में लटक रहा था। उनके समक्ष साधु तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'श्रीमद्भागवत आदि जो सत्शास्त्र हैं, वे सत्य हैं और उन शास्त्रों में जो कुछ कहा गया है, वैसा ही होता है, परन्तु उसके विपरीत कुछ भी नहीं होता। देखिए न, श्रीमद्भागवत में स्वर्ण में कलि का निवास बताया गया है, इसलिए स्वर्ण को देखते ही हमें अरुचि हो जाती है। जैसा बन्धनकारी सोना है, वैसा ही बन्धनकारी रूप भी है। क्योंकि जब कोई रूपवती स्त्री सभा में आती है, तब चाहे जितने धैर्यवान क्यों न हो, उसकी दृष्टि भी उसके रूप में आकृष्ट हुए बिना नहीं रहती। **अतः सोना और स्त्री, दोनों बन्धनकारी हैं। इन दोनों में बन्धन तो उसी को नहीं होता, जो प्रकृतिपुरुष से पर, शुद्ध चैतन्य ब्रह्म है, उसी एकमात्र ब्रह्म को सत्य समझता है, तथा उस ब्रह्म को ही अपना स्वरूप मान लेता है और ब्रह्मरूप होकर परब्रह्म ऐसे श्रीकृष्ण भगवान का भजन करता है और ब्रह्म से नीचे जो प्रकृति और प्रकृति का कार्यमात्र है, उनको असत्य, नाशवंत और तुच्छ समझता है, मायिक नाम-रूप में अतिशय दोषदृष्टि रखता है और उन सभी नाम-रूपों में जो अतिशय वैराग्य रखता है, उसी भक्त को स्वर्ण तथा स्त्री बन्धनकारी नहीं होंगे। अन्य सभी को तो इनसे अवश्यरूप से बन्धन होकर ही रहेगा।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥30॥ ॥163॥

वचनामृत 31 : मनन द्वारा ब्रह्म का संग

संवत् 1880 में श्रावण शुक्ला चतुर्थी (10 अगस्त, 1823) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने ठहरने के स्थान पर निर्मित वेदिका पर गद्दी-तकिया लगवाकर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे और काले पल्लेवाली धोती मस्तक पर बाँधी थी। उनके समक्ष परमहंस तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज प्रागजी दवे से श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत

कपिल गीता की कथा का पाठ करवा रहे थे। कथा समाप्त होने पर श्रीजी-महाराज परमहंसों को कहने लगे कि 'सर्व कारणों के भी कारण, अक्षरातीत पुरुषोत्तम जो वासुदेव भगवान हैं, वे ही महापुरुषरूप द्वारा महा-माया में वीर्य को धरते हैं। वह पुरुष अक्षरात्मक तथा मुक्त है। उसी को ब्रह्म कहते हैं। उस पुरुष ने माया में वीर्य धरा, तब उस माया से प्रधानपुरुष हुए तथा उसके द्वारा वैराजपुरुष उत्पन्न हुए।

इस प्रकार वैराजपुरुष उस प्रधानपुरुष का पुत्र कहा जाता है। जैसे संसार में किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि प्राकृत मनुष्य के घर उसकी स्त्री से पुत्र होता है, वैसे ही वैराजपुरुष होते हैं। अत: वैराजपुरुष इस जीव के सदृश ही हैं तथा उनकी क्रिया भी जीव की क्रिया की भाँति ही होती है। उन वैराजपुरुष की आयु द्विपरार्ध काल तक होती है। जैसे जीव की तीन अवस्थाएँ जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति हैं, उसी तरह इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयरूपी उन वैराजपुरुष की तीन अवस्थाएँ हैं तथा विराट, सूत्रात्मा एवं अव्याकृत उन वैराजपुरुष के ये तीन शरीर होते हैं। वे शरीर अष्टावरणयुक्त हैं। तीनों शरीर महत्तत्त्वादि चौबीस तत्त्वों द्वारा हुए हैं।

उस विराट में इन्द्रियों, अन्त:करण तथा देवताओं ने प्रवेश तो किया और वे उसे जगाने भी लगे, किन्तु विराट में जीव होते हुए भी वह उठा नहीं। जब क्षेत्रज्ञ वासुदेव भगवान पुरुषरूप द्वारा उसमें प्रविष्ट हुए, तब वह विराट शरीर उठ गया। इस प्रकार वे वैराजपुरुष अपनी क्रिया करने के लिए समर्थ हुए।

वे ही भगवान इस जीव को प्रकाशित करने के लिए सुषुप्तिरूप माया से परे रहते हुए भी जीव में साक्षीरूप होकर रहते हैं। फिर भी, जीव को देह, इन्द्रियों तथा विषयों का अधिक संग हुआ है। अत: **संगदोष के कारण यह जीव देहादिरूप हो गया है। जब यह जीव उनके संग को छोड़कर यह समझने लगता है कि 'माया से मुक्त तथा माया से परे रहनेवाला ब्रह्म ही मेरा स्वरूप है और इसी प्रकार निरंतर मनन करते हुए यदि वह ब्रह्म का संग करता है, तो ब्रह्म का गुण उस जीव में आ जाता है।** यद्यपि उसने वह वार्ता सुनी तो है, फिर भी इस बात की निरंतर स्मृति नहीं रहती, यह उसका एक बड़ा दोष है। इस प्रकार, ईश्वररूपी वैराजपुरुष तथा

इस जीव इन सब के प्रकाशक पुरुषरूप में पुरुषोत्तम वासुदेव ही हैं।

वे वैराजपुरुष भी जीव के समान माया से बद्ध हैं। वे द्विपरार्ध कालपर्यन्त आयुष्य भोगते हुए बद्ध ही रहते हैं। जब उनका प्रलय होगा, तब उन्हें उन पुरुष का साक्षात् सम्बंध हो जाएगा। क्योंकि वे उसके पिता हैं, जो कि समर्थ हैं, अतः वे उनकी उतनी रक्षा किया करते हैं। और वैराजपुरुष का माया के साथ सम्बंध है, इसलिए प्रलय के अन्त में वह पुनः माया से उत्पन्न होता है। और, इस जीव की भाँति ही वैराजपुरुष भी माया से बद्ध तथा असमर्थ रहता है, क्योंकि उसका पिता भी बन्धन युक्त और असमर्थ ही है। इसलिए, ऐसा असमर्थ पिता अपने पुत्र की क्या सहायता कर सकता है? अतएव, उन दोनों को सुषुप्तिरूप माया का सम्बंध निरंतर बना रहता है, वह सम्बंध मिटता नहीं। वह तो पूर्वोक्त रीति से मनन द्वारा, अपने प्रकाशदाता ब्रह्म का संग करे तभी मिटता है।

तथा यह भी समझें कि वैराजपुरुष भी संकर्षण, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न की उपासना करते हैं, वह कैसे? तो अपनी प्रलयरूपी अवस्था में वे संकर्षण की उपासना करते हैं। स्थितिरूप अवस्था में प्रद्युम्न की उपासना करते हैं तथा उत्पत्तिरूपी अवस्था में अनिरुद्ध की उपासना करते हैं। ये संकर्षणादि तीनों वासुदेव भगवान के सगुण स्वरूप हैं। वासुदेव की उपासना के बल से वह वैराजपुरुष उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयरूपी क्रिया में सामर्थ्य प्राप्त करते हैं। और, जब तक वैराजपुरुष तीनों सगुण स्वरूपों की उपासना करते हैं, तब तक उनका सम्बंध उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयरूपी माया के साथ निरन्तर जुड़ा रहता है। परन्तु जब वह निर्गुण वासुदेव भगवान की उपासना करता है, तब वह वैराजपुरुष माया का त्याग करके ब्रह्मरूप हो जाता है।

जैसे यह जीव जब ब्रह्मादि देवतारूप भगवान की उपासना करता है, तो वह धर्म, अर्थ एवं कामरूपी फल को ही प्राप्त करता है, परन्तु यदि वह भगवान के राम, कृष्ण आदि अवतारों की उपासना करे, तो वह ब्रह्मरूप हो जाए और उसकी मुक्ति हो जाए। उसी प्रकार विराटपुरुष भी वासुदेव की उपासना से ब्रह्मरूप होते हैं।

तथा शास्त्रों में जो कहा गया है कि वैराजपुरुष द्वारा अवतारों की उत्पत्ति होती है, इस विषय में तो हमें यह समझना चाहिए कि 'स्वयं वासुदेव

नारायण ही अक्षरात्मक पुरुष द्वारा वैराजपुरुष में प्रविष्ट होकर विराजमान होते हैं, तब अवतार कहा जाता है। इसलिए, सभी अवतार तो वासुदेव भगवान के ही हैं। वे वासुदेव भगवान जब प्रतिलोम भाव के द्वारा उन वैराजपुरुष से पृथक् हो जाते हैं, तब केवल वैराजपुरुष से अवतार होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। अत: वैराजपुरुष में वासुदेव का प्रवेश होने से ही उनके द्वारा अवतार होने की बात कही गई है। परन्तु जब तक क्षेत्रज्ञ वासुदेव ने वैराज-पुरुष में प्रवेश नहीं किया था, तब तक वैराजपुरुष अपनी क्रिया सम्पन्न करने में भी समर्थ नहीं हुए थे। अत: पहले जिन अक्षरात्मक पुरुष की बात कही, वे जब माया में गर्भ धारण करते हैं, तब प्रधानपुरुष द्वारा वैराजपुरुष रूप पुत्र उत्पन्न होता है। इसी प्रकार उसी माया में से अनेक प्रधानपुरुषों द्वारा दूसरे भी अनेक वैराजपुरुष रूपी ब्रह्मांड उत्पन्न होते हैं। वे पुरुष तो निरन्न हैं, मुक्त हैं तथा ब्रह्म हैं और माया के कारण हैं। यद्यपि वे माया में लोमरूप से रहते हैं, फिर भी उन्हें माया का बंधन नहीं है। माया में उन्हें भोग की इच्छा भी नहीं होती। वे स्वयं ब्रह्मसुख से सुखी एवं पूर्णकाम हैं। और जो वैराज-पुरुष ईश्वर हैं, वे माया के भोगों को भोगकर प्रलयकाल में माया का परित्याग करते हैं। उसी समय जो जीव हैं, वे तो माया के भोगों को भोगने के पश्चात् दु:खी होकर माया में ही विलीन हो जाते हैं।'

इन बातों को सुनकर शुकमुनि ने पूछा कि, 'पुरुषोत्तम वासुदेव पुरुषरूप द्वारा अनेक ब्रह्मांडों की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के कर्ता हैं। इसीलिए, शास्त्रों में प्राय: उस पुरुष को ही पुरुषोत्तम कहा गया है। अत: यह बताइए कि उस पुरुष में तथा स्वयं पुरुषोत्तम में कितना अन्तर है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जितना इस जीव तथा वैराजपुरुषरूपी ईश्वर में अन्तर है, तथा जितना ईश्वर तथा अक्षरात्मक पुरुष में अन्तर है, वैसे ही उस पुरुष एवं पुरुषोत्तम वासुदेव भगवान में उतना ही भारी अन्तर रहता है। पुरुषोत्तम वासुदेव तो सर्व के स्वामी हैं। जबकि ऐसे अक्षरात्मक ब्रह्मरूप पुरुष अनेक हैं; जो वासुदेव के चरणारविंदों की उपासना करते हैं तथा स्तुति करते हैं। इस प्रकार पुरुषोत्तम, पुरुष,[28] ईश्वर, जीव और माया ये पाँच भेद

28. यहाँ 'पुरुष' विषयक विचार-विमर्श होने के कारण 'पुरुष' का उल्लेख किया गया है, वास्तव में यह चौथा अनादि तत्त्व 'अक्षरब्रह्म' ही है। (वच. ग.प्र. 7), ➤

अनादि हैं। इस प्रकार की वार्ता हमने कईबार की है, परन्तु उसका मनन करके अपने अन्तःकरण में उस पर दृढ़तापूर्वक निश्चय नहीं करते, अतः शास्त्रों के विभिन्न प्रकार के शब्द सुनकर समझ में स्थिरता नहीं रहती। यदि दृढ़ता पूर्वक इस बात की स्पष्टता अन्तःकरण में की हो, तो उसकी समझ किसी अन्य शब्दों को सुनने से भी विचलित नहीं हो सकती। इसलिए इस वार्ता को बड़े ही व्यवस्थित रूप से सोचना तथा लिखना चाहिए!' इस प्रकार, श्रीजीमहाराज ने जो वार्ता कही, वह लिखी गई है।

॥ इति वचनामृतम् ॥31॥ ॥164॥

वचनामृत 32 : कुटुम्बीजनों का सम्बंध

संवत् 1880 में श्रावण शुक्ला पंचमी (11 अगस्त, 1823) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास स्थान पर विराजमान थे। श्रीजीमहाराज ने श्वेत वस्त्र धारण किए थे, उनके मस्तक पर काले पल्ले की सफ़ेद धोती बाँधी थी, कंठ में पुष्पों के हार पहने थे, कानों पर पुष्पगुच्छ लगे हुए थे और मस्तक पर फूलों के तुर्रे लटक रहे थे। श्रीजीमहाराज के समक्ष परमहंस तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज सब हरिभक्तों को संकेत करके बोले कि 'इस संसार में अपने कुटुम्बीजनों के साथ जो सम्बंध है, वह तो थूहर के वृक्ष अथवा बरगद या पीपल की शाखा की तरह है। जो एक स्थान से काटकर दूसरे स्थान पर रोप दिया, तो उगकर वृक्ष हो जाता है। अगर आम और नीम को एक बार काट दिया, तो वह फिर नहीं उगता। वैसे ही कुटुम्बीजनों के सिवा अन्य व्यक्ति का जो सम्बंध है, वह आम्रवृक्ष के समान है, जिसे एक बार काट दिया, तो दूसरी बार उगने की संभावना नहीं है। किन्तु, कुटुम्बियों का सम्बंध थूहर और बड़ के पेड़ की भाँति है, जो काट दिए जाने पर भी

सत्संगिजीवन इत्यादि ग्रंथों में 'पुरुष' का कोई अनादि भेद नहीं कहा है। क्योंकि 'पुरुष' तो जीव तथा ईश्वर कोटि से आया हुआ मुक्तात्मा है; अतः वह अनादि भेद नहीं हो सकता। भगवान स्वामिनारायण सम्मत अनादि भेद पाँच ही हैं : जीव, ईश्वर, माया, ब्रह्म एवं परब्रह्म। (वचनामृत : ग.प्र. 7, ग.अं. 10)

धरती पर पड़े-पड़े पल्लवित हुए बिना नहीं रहता। वह कौटुंबिक सम्बंध तब मिटता है, जब स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक तीन शरीरों से भिन्न जीवात्मा को अपना स्वरूप समझकर और उस जीवात्मा में भगवान की मूर्ति को धारण करके तथा जाति, वर्ण एवं आश्रम के मान को छोड़कर केवल भगवान के स्मरण में तल्लीन हो जाए, तो कुटुम्बीजनों का सम्बंध भली भाँति मिट सकता है। इसके सिवा इस सम्बंध की समाप्ति के लिए अन्य कोई भी उपाय नहीं है।

और, **जीव का कल्याण हो जाए तथा जीव माया को पार करके ब्रह्मरूप हो जाए, इसका कारण पुरुषोत्तम वासुदेव भगवान के प्रत्यक्ष स्वरूप का ज्ञान, ध्यान, कीर्तन तथा कथा आदि ही हैं। इन उपायों के द्वारा ही जीव माया को पार करके अति महत्ता को प्राप्त कर लेता है तथा भगवान के अक्षरधाम को प्राप्त कर लेता है।** और, आत्मनिष्ठा, वैराग्य तथा धर्म तो भगवान की भक्ति में सहायता करनेवाले उपकरण मात्र हैं। किन्तु बिना भगवान की भक्ति के, अकेले वैराग्य, आत्मनिष्ठा तथा धर्म-रूपी साधन जीव को माया से पार लगाने में समर्थ नहीं हो सकते। और, कदाचित् किसी में अतिशय धर्म, आत्मनिष्ठा तथा वैराग्य न भी हो, परन्तु उसमें यदि अकेली भगवान की भक्ति का गुण होगा, तो उस जीव का कल्याण हो जाएगा और वह माया से पार लग जाएगा; इतना धर्मादि की अपेक्षा भक्ति में महत्त्व है। फिर भी, यदि धर्मादि अंगों की सहायता मिल जाए, तो भगवान की भक्ति में किसी भी प्रकार का विघ्न उपस्थित नहीं हो सकता। और, यदि धर्मादि अंगों की सहायता न मिली, तो विषम देशकालादि रहने पर भक्ति के मार्ग में विघ्न अवश्य होता है। इसलिए, धर्मादि अंगों के सहित भगवान की भक्ति करनी चाहिए। यदि ऐसी भक्ति करनेवाले भक्त को अशुभ देश, काल, क्रिया और संग में प्रवृत्ति हो गई, तो भगवान का भक्त होने पर भी उसका अन्त:करण मलिन हो जाता है और उसके स्वभाव का कोई ठिकाना ही नहीं रहता। इसलिए, अशुभ देश, अशुभ काल, अशुभ क्रिया और तथा बुरे संग का परित्याग करके शुभ देश, शुभ काल, अच्छी संगति, अच्छी क्रिया इत्यादि में प्रवृत्त रहना चाहिए; परंतु अशुभ देशकालादि का संग ही नहीं करना चाहिए!'

॥ इति वचनामृतम् ॥32॥ ॥165॥

वचनामृत 33 : निष्काम व्रत

संवत् 1880 में श्रावण कृष्णा त्रयोदशी (3 सितम्बर, 1823) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान में पलंग पर गद्दी-तकिया लगवाकर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनि तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज समस्त सन्तों तथा हरिभक्तों से कहने लगे कि 'सबसे पहले हम अपनी मान्यता एवं गुणों की बात कहेंगे, उसके बाद आप सब भी अपना-अपना मोक्ष किस प्रकार माना है, उसकी बात करना और यह भी बताना कि हम इस प्रकार आचरण करेंगे, तो इस लोक और परलोक में भगवान हम पर प्रसन्न रहेंगे। इस प्रकार आपने जो भी मान्यता बनाए रखी हो, उसे बताना।' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज अपनी रुचि की बात बताने लगे कि 'हमें तो जिस पदार्थ में कुछ प्रीति मालूम हो जाए, फिर उसका परित्याग कर दें, तभी सुख होता है। और, भगवान के भक्त के सिवा जो भी मनुष्यमात्र हैं या पदार्थमात्र हैं, उनकी स्मृति हो आई हो, तो उससे हम अतिशय दूरी बना लें, तब ही सुख होता है। भगवान के भक्त के प्रति हमारे हृदय में किसी भी तरह का दुर्भाव नहीं होता। और, हमें तो बिना कोई इच्छा किए भी पंचविषयों का संयोग बरबस रहा करता हो, किन्तु फिर भी हम उन्हें नहीं चाहते हैं और उन्हें पैरों से ठुकरा देते हैं।

और, जिस दिन से हमने जन्म लिया है, उस दिन से लेकर आज तक हमें किसी भी दिन जाग्रत अथवा स्वप्नावस्था में द्रव्य या स्त्री के सम्बंध में किसी भी प्रकार का अशुभ संकल्प हुआ हो, तो इन समस्त परमहंसों की सौगंध है! इस प्रकार हम सदैव निर्दोष रहे हैं। अत: जो हमारे प्रति दोषबुद्धि रखेगा, उसे जाग्रत तथा स्वप्नावस्था में अशुभ संकल्प होंगे और देहत्याग के समय अत्यंत कष्ट होगा। और, हमारे अन्त:करण में एकमात्र भगवान के स्वरूप का ही चिंतन होता रहता है। ऊपर-ऊपर से हम सबसे इसलिए घुल-मिलकर रहते हैं कि भगवान के भक्त जीवात्माओं की भलाई हो। फिर भी, जिस दिन हमारे हृदय में भगवान या भगवान के भक्तों के सिवा और कहीं

भी स्नेह दिखाई देगा, तो हम मानेंगे कि 'हम अपनी स्थिति से विचलित हुए!' परन्तु हमें ऐसा निश्चय है कि हम इस स्थिति से कभी भी विचलित होते ही नहीं!' इस प्रकार, हमने अपनी मान्यता एवं गुणों की बात बताई। अब आप सब अपनी-अपनी मान्यता एवं गुणों की बात बताइए।'

तब सभी सन्तों तथा हरिभक्तों ने अपनी रुचि की बातें बताईं कि 'हम इस लोक में या परलोक में इस प्रकार की मान्यता में रहेंगे, या इस प्रकार के गुण आत्मसात् करेंगे तब भगवान हम पर कृपा करेंगे।' इस प्रकार उन्होंने जो भी दृढ़ता की थी, सब कुछ बतला दिया। उनमें से किसी ने कहा कि हमारा गुण है भगवान के बिना अन्य प्रत्येक स्थान से वैराग्य रखना, तो किसी ने प्रसन्नता के साधन में आत्मनिष्ठा को बताया, तो किसी ने भगवान में प्रीति रखना एवं किसी ने धर्माचरण करते रहना आदि विभिन्न बातें कहीं। परन्तु श्रीजीमहाराज ने अपने मन में जो धारणा बना रखी थी, उसे किसी ने नहीं बताया। अतः श्रीजीमहाराज बोले कि 'किसी को यदि मात्र निष्काम व्रत में दृढ़ता हो, तो उसे इस लोक तथा परलोक में कभी-कहीं पर भी भगवान से पृथकता नहीं रहेगी तथा उस पर हमारे स्नेह में भी कभी कमी नहीं होगी। और, यहाँ के हरिभक्तों में निष्काम व्रत के प्रति अतिशय दृढ़ता बनी हुई देखकर ही हम यहाँ टिके हुए हैं। **जिसे निष्काम व्रत के प्रति अतिशय दृढ़ता बनी हुई है, वह चाहे हज़ार कोस दूर क्यों न हो, हम उसके पास ही हैं। परन्तु जिसे इस व्रत में शिथिलता है, वह हमारे पास रहते हुए भी हमसे एक लाख कोस दूर है! वास्तव में हमें निष्कामी भक्त के हाथ की गई सेवा ही प्रिय लगती है।** जैसे कि ये मूलजी ब्रह्मचारी अतिशय दृढ़ निष्कामी हैं, अतः उनके द्वारा की गई सेवा हमें अत्यंत प्रिय लगती है। यदि कोई अन्य पुरुष सेवा-चाकरी करता है, तो वह हमें उतनी रास नहीं आती, जितनी मूलजी ब्रह्मचारी की सेवा रास आती है!

और, हम जो-जो वार्ता करते हैं, उसमें भी निष्काम व्रत की बात का ही अतिशय प्रतिपादन होता है। तथा जिस दिन से हम प्रकट हुए हैं, उस दिन से हम निष्काम व्रत की ही दृढ़ता करते आ रहे हैं। और, सभा हो रही हो, तब यदि किसी स्त्री अथवा पुरुष को आपस में देखने में कुछ फ़र्क हो जाए और वह उसको छिपाने के लिए चाहे जितनी युक्ति करे, परन्तु हमें जानकारी

हुए बिना नहीं रहती। तब उस मनुष्य पर हमारी अत्यंत अप्रसन्नता हो जाती है। हमारे मुख पर भी कालिमा छा जाती है और उसका घोर दुःख होता है, किन्तु मर्यादावश कुछ अधिक नहीं कह सकते। इसके अतिरिक्त हमारी रीति साधुता की है। अतः मन ही मन समझकर मौन रह जाते हैं। परन्तु, यदि राजा जैसे तौर-तरीके अपनाएँ, तो उसको कठोर दंड मिल सकता है। इसलिए, हमने पहले से ही बड़े-बड़े सभी परमहंसों और सभी बड़ी स्त्री-भक्तों से यह बात कह रखी है कि यदि सत्संग में किसी पुरुष तथा स्त्री को कभी निष्काम व्रत के पालन में कोई चूक हो गई, तो ऐसी बात हमें सुनाना मत! क्योंकि ऐसी बात सुनने पर हमें उतना ही शोक होता है, जितना कि किसी वन्ध्य को वर्षों बाद पुत्रजन्म हुआ हो, और उस नवजात पुत्र की मृत्यु हो गई हो! ऐसी हालत में हमारे मन में यह विचार तक उत्पन्न हो जाता है कि हमें समूचे सत्संग को छोड़कर चले जाना है! अतः जो निष्काम व्रत का पालन करता है, वही हमें प्रिय है और इस लोक तथा परलोक में उसका और हमारा सुदृढ़ मिलाप रहता है।'

तब हरजी ठक्कर ने प्रश्न किया कि 'निष्काम व्रत (ब्रह्मचर्य) कौन-से उपाय से अतिशय सुदृढ़ हो सकता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'उसके लिए एक ही उपाय नहीं है। उसके लिए तो तीन उपाय हैं। जैसे हाँकनेवाला, बैल, पहिये, धुर, जुआ आदि सब कुछ मिलकर एक गाड़ी बनती है, वैसे ही **निष्काम व्रत को सुदृढ़ बनाने के लिए भी कुछेक सामग्री की आवश्यकता रहती है। उसमें भी तीन उपाय अत्यन्त मुख्य हैं। उनमें से सबसे पहला उपाय है, मन को वश में करना। मन में निरन्तर ऐसा मनन करें कि 'मैं आत्मा हूँ, देह नहीं' तथा उसको भगवान की कथा-श्रवणादि नवधा भक्ति में निरन्तर जोड़े रखना! किन्तु क्षणमात्र के लिए भी उसे बेकार न रहने देना!** जैसे किसी मनुष्य ने भूत को वश में कर लिया था, किन्तु जब वह भूत को कोई काम नहीं बताता, तब भूत उसे खाने को तैयार हो जाता था! वैसे ही यह मन भी भूत के समान ही है। जब उसे भगवद्भक्ति में नहीं लगाया जाएगा, तब वह अधर्म के संकल्प करेगा और वही है, भूत की तरह जीव को खाने की मन की तत्परता! इसलिए, मन को निरन्तर भगवान के कथा-कीर्तनादि में

जोड़े रखना, तभी जानना कि मन वश में हो गया है।

इस व्रत की दृढ़ता के लिए **दूसरा उपाय है कि प्राण को नियम-बद्ध रखना! जैसे गीता में भगवान ने बताया है कि 'आहार-विहार में संयम बरतना। खाने की अतिशय लोलुपता मत रखना!' इस प्रकार बरतेगा तभी जानना कि उसके प्राण नियमबद्ध हैं।** प्राणों को बिना नियमबद्ध किए तो मन से खाने की तृष्णा मिटती ही नहीं और उसकी रसनेन्द्रिय अनेक प्रकार के रसों की ओर दौड़ती ही रहेगी! ऐसे मौके पर उसने जो भी इन्द्रियाँ वश में की हैं, वे भी स्वच्छंद हो जाएँगी! अतः आहार को नियमबद्ध रखते हुए प्राण को नियमानुकूल बनाना चाहिए।

इस व्रत की दृढ़ता का **तीसरा उपाय यह है कि इस सत्संग में जिस-जिसको जो-जो नियम बताए गए हैं, उनके अनुसार अपनी देह को बनाए रखना। इस प्रकार जो पुरुष इन तीन नियमों को सुदृढ़ बनाए रखता है, उसको निष्काम व्रत की अतिशय दृढ़ता रहती है।** इस विषय में कभी ऐसी धारणा न रखें कि 'इस प्रकार निष्कामव्रत रखना अत्यंत कठिन है।' क्योंकि वस्तुतः जो साधु होता है, उसे ऐसे नियमों का पालन करना कोई दुष्कर साधना नहीं है। जो वास्तव में साधु होता है, वह तो काम क्रोध, लोभादि शत्रुओं का बल होने पर भी भगवान को प्रसन्न करने के लिए उन दोषों का परित्याग कर दे, तभी वह पक्का साधु कहलाता है। और, मनुष्यदेह द्वारा न हो सके, ऐसा क्या है? जिसका भी हम नित्य अभ्यास करें, तो वह अवश्य सिद्ध हो जाता है। जैसे कुएँ के किनारे पर लगे कठिन पत्थर पर भी नित्य पानी खींचते रहने से नरम डोरी भी उस पत्थर को काट देती है, वैसे ही जो साधु है, वह यदि जिस स्वभाव को टालने के लिए सदैव अभ्यास करता रहता है तो वह स्वभाव कब तक टिक सकेगा? उसका तो निश्चय रूप से नाश हो जाएगा। इसलिए, जिसको निष्काम व्रत रखना हो उसे इन तीन उपायों को दृढ़तापूर्वक अपना लेना चाहिए।'

॥ इति वचनामृतम् ॥33॥ ॥166॥

वचनामृत 34 : चौबीस तत्त्व जड या चैतन्य ?

संवत् 1880 में भाद्रपद शुक्ला प्रतिपदा (5 सितम्बर, 1823) को

स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत धोती पहनी थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी और काले पल्ले की धोती मस्तक पर बाँधी थी। उनके समक्ष परमहंस तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी। परमहंस दुक्कड़-सरोद लेकर कीर्तन-गान कर रहे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब कीर्तन रोककर प्रश्नोत्तर का प्रारम्भ करें, जिससे कि आलस्य मिट जाए!' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज कहने लगे कि 'सबसे पहले मैं एक प्रश्न पूछता हूँ कि इस जीव के साथ रहे इन्द्रियाँ और अन्तःकरण आदि चौबीस तत्त्व माया का ही कार्य है। वे चौबीसों तत्त्व जड हैं या चैतन्य?' तब परमहंसों ने कहा कि 'वास्तव में ये तत्त्व तो चैतन्य हैं।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'ये तत्त्व यदि चैतन्य ठहरे, तब शरीरस्थ जीव के साथ चौबीस तत्त्वों के भी चौबीस जीव हुए। ऐसी स्थिति में जीवात्मा का कल्याण होगा, वह कल्याण प्रत्येक तत्त्व के लिए समान हिस्से के अनुसार विभाजित हो जाएगा, अथवा यदि जीवात्मा ने कुछ पाप किया हो, वह पाप के परिणाम भी चौबीस हिस्सों में विभाजित होकर सभी को भोगना पड़ेगा! उस समय यह नहीं कहा जाएगा कि सुख-दुःख का भोक्ता केवल एक जीव ही है। और, संचित, प्रारब्ध एवं क्रियमाण, ये तीन प्रकार के कर्म भी अकेले जीव से ही सम्बंधित नहीं होंगे। पूर्वकाल में नारद-सनकादि जो मुक्त हो चुके हैं, उनका एकमात्र अपना-अपना जीव ही मुक्त हुआ है, परन्तु उस जीवात्मा के साथ-साथ चौबीस तत्त्वों ने भी मुक्तस्थिति प्राप्त नहीं की थी!' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने तो इन तर्कों से सभी तत्त्वों को निर्जीव प्रमाणित कर दिखाया और परमहंसों के उत्तर को असत्य प्रमाणित कर दिया। अतः किसी परमहंस से उत्तर नहीं हो पाया।

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज स्वयं कहने लगे कि 'लीजिए, इसका उत्तर हम देते हैं कि ये तत्त्व कार्य-कारण भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें कारणरूप जो तत्त्व है, वह चैतन्य है, किन्तु कार्यरूप तत्त्व जड है। और, जीवात्मा स्वयं अपनी विशेष सत्ता द्वारा हृदय में निवास करके रहता है तथा अपनी सामान्य सत्ता से वह देह, इन्द्रियों और अन्तःकरण में तादात्म्य रूप से मिल

गया है। अतः देहादि सब कुछ चैतन्य जैसे ही दिखते हैं। जबकि वह तो केवल जड ही हैं! और, जब यह जीव भगवान का भक्त होकर भगवान के धाम में जाता है, तब जड तत्त्व धरे ही रह जाते हैं। वे चौबीस तत्त्व माया में से हुए हैं, इसीलिए वे मायारूप हैं और जड हैं। और, वह देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण रूप से पृथक्-पृथक् दिखाई पड़ते हैं, वह तो जैसे एक पृथ्वी ही त्वचा, मांस, मज्जा, अस्थियों एवं स्नायुओं के पाँच रूपों से बनी हुई है, वैसे ही वह माया परमेश्वर की इच्छा से देह-इन्द्रिय आदि अलग अलग रूप से दिखायी पड़ती है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥34॥ ॥167॥

वचनामृत 35 : ज्वार की खौं और कल्याण का सरल उपाय

संवत् 1880 में भाद्रपद शुक्ला एकादशी (16 सितम्बर, 1823) को रात्रि की पिछली छः घड़ी शेष रही तब श्रीजीमहाराज नींद से उठकर श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में ज्वार की खौं पर पलंग बिछवाकर विराजमान हुए। उस समय उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी और श्याम पल्ले की धोती मस्तक पर बाँधी थी।

उस समय श्रीजीमहाराज परमहंसों तथा हरिभक्तों को बुलवाकर उनसे कहने लगे कि 'आज तो हमें बहुत नींद आई और हमने उठने की बहुत कोशिश की लेकिन उठा नहीं गया। उस निद्रावस्था में हमने बहुत विचार किया, फिर उस पर जो निश्चय किया है, वह बताता हूँ कि मैं रामानन्द स्वामी के सान्निध्य में आने के पहले से ही आत्मा को साक्षात् देखता था और अब भी देखता हूँ। वह आत्मा सूर्य के समान प्रकाशयुक्त है। और, मुझे अपनी समस्त इन्द्रियों की क्रिया करते हुए भी आत्मा का क्षणमात्र विस्मरण नहीं होता। हालाँकि ऐसा आत्मदर्शन होना अत्यन्त कठिन है, वह तो पूर्व के अनेक जन्मों के सत्संस्कारवाले किसी बिरले को ही होता है। अन्य मनुष्य एक सौ वर्षों तक भी आत्मा पर विचार करता रहे, फिर भी आत्मा का दर्शन नहीं होता। वह तभी संभव है, जब मुमुक्षु श्रीकृष्ण भगवान की मूर्ति का ध्यान करे! तब उसे आत्मा को देखने में कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु भगवान के ध्यान के बिना केवल आत्मा के विचार द्वारा आत्मा ज्ञात हो, या

उसके दर्शन हो, ऐसी आशा किसी को नहीं रखनी चाहिए।

और, भगवान की उपासना करना, भगवान के चरित्रों का गान करना, उन्हें सुनना, भगवान का नामस्मरण करना तथा अपने-अपने धर्म में रहना, इन साधनों के द्वारा जीव का कल्याण अवश्य होता है! उसमें कोई कठिनाई नहीं होगी और यह तो ऐसा है कि जैसे जहाज में बैठकर समुद्र को पार किया जाए, ऐसा सुगम मार्ग है। किन्तु, आत्मदर्शन द्वारा कल्याण करने का प्रयास तो तुम्बे बाँधकर समुद्र को पार करने जैसा कठिन है।

और, हम आत्मज्ञान की जो वार्ता करते हैं, उससे मात्र इतना ही प्रयोजन है कि यदि कोई अपनी आत्मा को देह से पृथक् माने, तो उसे देह से प्रीति न रहे, तथा देह के सम्बंधीजनों से भी स्नेह न रहे, तथा भगवान की भक्ति में कोई विघ्न भी उपस्थित न हो।' इतना ही आत्मज्ञान की वार्ता करने का हमारा प्रयोजन है, परन्तु केवल आत्मज्ञान से ही कल्याण हो जाएगा, ऐसा तो कभी भी नहीं मानना।

और, जगत में एक बात होती है कि 'मन होय चंगा तो कठौती में गंगा।' परन्तु यह बात मिथ्या है। क्योंकि **चाहे कैसा भी समाधिनिष्ठ अथवा विचारवान पुरुष हो, फिर भी वह स्त्रियों का सहवास करने लगे, तो उसका धर्म किसी भी प्रकार से नहीं रह सकता। तथा चाहे कैसी ही धर्माचरणवाली स्त्री हो, उसका यदि परपुरुष के साथ सहवास हो जाए, तो उसका भी धर्म नहीं ही रहता। इस तरह स्त्री-पुरुष का परस्पर सहवास होने पर भी उनका धर्म रहे, ऐसी तो आशा ही नहीं रखनी चाहिए! यह बात सौ प्रतिशत सत्य ही है, इसमें किसी भी तरह का संशय नहीं रखना चाहिए।**

अतः धर्मपालन में कब सुदृढ़ रह सकते हैं? तो परमहंस तथा ब्रह्मचारी शास्त्रकथित ब्रह्मचर्यादि नियमों का पालन करते रहें, तभी वे धर्म में सुदृढ़ रह सकते हैं। स्त्रियाँ भी शास्त्रकथित अपने नियमों का पालन करती रहें, तो वे भी धर्मनिष्ठा में सुदृढ़ रह सकती हैं। अन्य सत्संगी गृहस्थ भी शास्त्रकथित अपने-अपने नियमों का पालन करते रहें और युवावस्थावाली अपनी माता, बहन और पुत्री के साथ भी एकान्तवास न करें तथा उनके सामने भी दृष्टि जमा कर न देंखे, तो वे धर्ममर्यादा में सुदृढ़ रह सकते हैं। इस प्रकार धर्मनिष्ठा

रखना, भगवान के स्वरूप की उपासना करना, भगवान के अवतार-चरित्रों का श्रवण कीर्तन करना, तथा भगवान का नाम स्मरण करते रहना - ये चार बातें ही जीव के अतिशय कल्याण के लिए हैं।

आप सब मुझे भगवान मानते हों, तो हमने जहाँ-जहाँ उत्सव किए हों, तथा जिस स्थान पर परमहंस, ब्रह्मचारी तथा हरिभक्त सत्संगी स्त्री-पुरुष इकट्ठे हुए हों, वहाँ हमने कीर्तन गान कराया हो, वार्ता कही हो और हमारी पूजा हुई हो आदि हमारी जो लीलाएँ हैं, उनका वर्णन करना, श्रवण करना तथा मन में उन्हीं चरित्रों का चिन्तन करते रहना। जिसको ऐसा चिन्तन अन्त समय पर हो गया, तो उसका जीव भगवान के धाम को अवश्य प्राप्त होगा। इसलिए हमारे ये सभी चरित्र, क्रिया एवं नामस्मरण कल्याणकारी हैं। इसी प्रकार, हमने स्वरूपानन्द स्वामी को बात कही थी। उन्होंने जब इस वार्ता को हृदयस्थ किया, तब देहजन्य रोग का उनका भारी दु:ख मिट गया और उन्हें परम शान्ति प्राप्त हुई। न कि वे आत्मा को देखते थे, उससे उनको शान्ति हुई। केवल आत्मज्ञान से तो उन्हें कोई सिद्धि नहीं प्राप्त हुई।

अत: भगवान के श्रीकृष्ण एवं रामचन्द्रादि परोक्ष अवतारों के भी जिन चरित्रों का जहाँ-जहाँ वर्णन किया हो, उनका भी श्रवण तथा गान करते रहें। इस प्रकार पूर्वोक्त बातों की दृढ़ता बनाए रखने के लिए, हमने श्रीमद्भागवत आदि आठ ग्रन्थों का अतिशय प्रतिपादन किया है। इसलिए, इन ग्रन्थों का श्रवण तथा अध्ययन करना और उन चार बातों की पुष्टि के लिए दूसरों से वार्ता करते रहना।

और, भगवान की मूर्ति की उपासना, भगवान के चरित्र-गान तथा भगवान के नामस्मरण के बिना केवल धर्म द्वारा कल्याण होने की बात, तो तुम्बे को बाँधकर समुद्र को पार करने के समान कठिन है। **जिसे भगवान की मूर्ति का आश्रय हो तथा जो भगवान के चरित्रों को गाता व सुनता हो और भगवान का नाम-स्मरण करता हो, फिर भी यदि उसमें धर्म-निष्ठा न हो, तो उसे सिर पर पत्थर उठाकर समुद्र को तैरने की इच्छा रखनेवाला समझना, और उसे चांडाल-सा मानना।** इसलिए, उन चार बातों द्वारा ही जीव का कल्याण अवश्य हो जाता है। परन्तु उनके सिवाय ऐसा कोई अन्य साधन नहीं है, जिसके द्वारा जीवात्मा का कल्याण हो।

हमें मुक्तानन्द स्वामी आदि साधुओं के काव्य एवं भजनों का गान एवं श्रवण करना चाहिए। अन्य (भक्त) कवियों द्वारा विरचित भगवान के चरित्र-युक्त भजन-कीर्तन तथा उनके सदृश जिस-जिसके भजन कीर्तन हों, उनका भी भजन-कीर्तन करें किन्तु कबीर और अखा जैसे कवियों की रचनाओं का न तो गान ही करना चाहिए और न उन्हें सुनना ही चाहिए।

और, आप सबका मुझ पर विश्वास है, फिर भी यदि मैं सबको इधर-उधर के उलटे रास्ते पर चढ़ा दूँ, तो ऐसा ही होगा जैसे सबको कुएँ में ढकेलकर उसके ऊपर विशाल शिला को ढक देना! ऐसे समय में किसी के बाहर निकलने की आशा ही नहीं रह जाती! वैसे ही यदि आप भी मेरे वचनों का विश्वास करके उलटे मार्ग पर भटक जाएँ, तो इससे मेरा क्या भला होगा? अतः यह वार्ता आपके कल्याण के लिए मैंने आपको स्नेहपूर्वक बताई है, इसलिए आप सब अब इसी प्रकार समझकर अपने वर्तन की दृढ़ता बनाए रखना।' इतनी बात कहकर श्रीजीमहाराज पुनः बोले कि 'यदि आप सबने हमारी इस बात के अनुसार आचरण करने का निश्चय कर लिया हो, तो एक-एक करके मेरा चरणस्पर्श करते हुए शपथ लेकर यह प्रतिज्ञा करो कि हमें दृढ़ता के साथ ऐसा ही आचरण करना है।'

इसके पश्चात् समस्त परमहंस तथा सत्संगी प्रसन्नतापूर्वक उठे और श्रीजीमहाराज के चरणकमलों का स्पर्श तथा प्रणाम करके पुनः अपने-अपने स्थान पर बैठ गए। इसी तरह श्रीजीमहाराज ने सभी स्त्रियों से कहा तो उन्होंने दूर खड़े रहकर, इसी प्रकार आचरण करने का निश्चय करके शपथ ली। बाद में श्रीजीमहाराज प्रसन्नतापूर्वक अपने निवास स्थान पर पधारे।

॥ इति वचनामृतम् ॥35॥ ॥168॥

वचनामृत 36 : अखंड वृत्ति के चार उपाय

संवत् 1880 में भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा (20 सितम्बर, 1823) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंस तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ करें।' तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न किया कि 'भगवान के स्वरूप में अखंड वृत्ति बनाये रखने का क्या उपाय है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'उसके चार उपाय हैं। पहला तो यह उपाय है कि चित्त का आसक्त होने का स्वभाव है, उसे जहाँ लगाया जाए, वहाँ वह लग जाता है। जिस प्रकार चित्त पुत्र-कलत्रादि में लगा रहता है, वैसे ही परमेश्वर में भी उसे लगाना चाहिए। दूसरा उपाय है : अतिशय शूरवीरता। जिसके हृदय में शूरवीरता हो, उसको यदि भगवान के सिवा कोई अन्य संकल्प हो जाता है, तो उसके हृदय में तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है। उस विचारमात्र से ही अपने सभी संकल्पों को मिटाकर वह अपनी वृत्ति को निरन्तर भगवान के स्वरूप में रखता है। तीसरा उपाय भय है। जिसके हृदय में जन्म, मृत्यु तथा नरक-चौरासी में भटकने का भीषण भय बना रहता है, वह उस डर के कारण भगवान के स्वरूप में अखंड वृत्ति रखता है। चौथा उपाय वैराग्य है। जो पुरुष वैराग्यवान होता है, वह सांख्यशास्त्र के ज्ञान द्वारा अपनी आत्मा को देह से भिन्न समझता है और उस आत्मा के सिवा अन्य समस्त मायिक पदार्थों को असत्य समझकर उस आत्मा में परमात्मा को धारण करके उनका अखंड चिन्तन करता है। इन चार उपायों के सिवा जिस पर भगवान की कृपा हो जाए, उसकी तो बात ही क्या कहें? परन्तु, इन चार के सिवा यदि कितने ही अन्य उपाय किए जाएँ, परन्तु भगवान में अखंड वृत्ति नहीं लगती!

और, भगवान में अखंड वृत्ति रहे, यह बड़ा भारी काम है। जिसके भीतर अनेक जन्मों के सुकृतों (पुण्यों) का उदय हो चुका हो, उसी को भगवान के स्वरूप में अखंड वृत्ति बनी रहती है। अन्यथा दूसरे लोगों को तो ऐसी अखंड वृत्ति रखना महा दुर्लभ है।'

इस प्रकार भगवत्स्वरूप में वृत्ति बनाए रखने के उपाय बताकर श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'इस संसार में जिसे माया कहते हैं, उस माया का स्वरूप हमने देख लिया है कि 'भगवान के सिवा अन्य स्थान पर जो स्नेह रहता है, वही माया है।' इस जीव को अपने शरीर, शरीर के सगे-सम्बंधी जनों तथा शरीर के भरण-पोषण करनेवालों के प्रति जो स्नेह है, वह पंच-

विषयों में जीव का जैसा अपार स्नेह रहता है, उससे भी बढ़कर है। इसलिए देह, देह के सगे-सम्बंधियों और देह का भरण-पोषण करनेवाले में से जिसका स्नेह टूट गया, वह पुरुष भगवान की माया को पार कर चुका है। जिस पुरुष का भगवान के सिवा अन्य जनों से स्नेह टूट जाता है, उसको भगवान से स्नेह हो जाता है। भगवान में स्नेह रहने पर उस पुरुष की भगवान में अखंड वृत्ति रहती है। और, जब भगवान में अखंड वृत्ति रहने लगती है, तब उसके लिए अन्य कोई भी काम करना बाक़ी नहीं रहता, वह कृतार्थ हो चुका होता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥36॥ ॥169॥

वचनामृत 37 : स्वाभाविक प्रकृति

संवत् 1880 में भाद्रपद कृष्णा प्रतिपदा (21 सितम्बर, 1823) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि गीता में कहा गया है कि ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार आचरण करता है तथा शास्त्रों के द्वारा कहा हुआ निग्रह शिथिल हो जाता है। अतः निग्रह का ज़ोर नहीं चल पाता। ऐसी जो स्वाभाविक प्रकृति है, वह कौन-से उपाय द्वारा टल सकती है?' इस प्रश्न पर समस्त मुनिमंडल ने विचार किया, परन्तु उन्हें श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान करना संभव नहीं लगा। तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'इसका उत्तर इस प्रकार है कि उस **स्वभाव से छुटकारा दिलाने के लिए सत्पुरुष जो उपदेश देते हों, उनके वचन में अतिशय विश्वास हो, उपदेशकर्ता पर श्रोताजनों की अत्यंत प्रीति हो, तथा उपदेश करनेवाले (सत्पुरुष) चाहे जितना दुःख पहुँचाकर कितने ही कटु वचन कहे, तो भी उनको हितकारी ही मानता रहता हो तो मुमुक्षु की स्वाभाविक प्रकृति का भी नाश हो जाता है। परन्तु, इसके अलावा अन्य कोई उपाय नहीं है।**

इसलिए, जिसे अपनी प्रकृति को टालने की इच्छा हो, उसे परमेश्वर

तथा सत्पुरुष, उसके स्वभाव को टालने के लिए चाहे कितना ही तिरस्कार करें और चाहे कितने ही कटु वचन कहें, तो भी किसी प्रकार का दु:ख नहीं मानना चाहिए, परन्तु उपदेश देनेवाले के गुणों का ही ग्रहण करना। यदि कोई इस प्रकार रहे, तो टालने में असंभव-सी प्रकृति का भी नाश हो जाता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥37॥ ॥170॥

वचनामृत 38 : मांचा भक्त की समझ

संवत् 1880 में भाद्रपद कृष्णा षष्ठी (26 सितम्बर, 1823) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया लगवाकर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'संसारी जीव को कोई धन देनेवाला या पुत्र देनेवाला मिल जाए, तो उसमें तुरन्त प्रतीति आ जाती है, किन्तु भगवान के भक्त को जन्त्र-मन्त्र, नाटक-नौटंकी आदि किसी के भी प्रति रुचि नहीं होती। यदि हरिभक्त हो और वह जन्त्र-मन्त्र में प्रतीति रखता हो, तो उसे सत्संगी होने पर भी अर्ध विमुख ही समझना चाहिए।

और, भगवान के जो सच्चे भक्त होते हैं, उनकी संख्या अधिक नहीं होती। भगवान के यथार्थ भक्त तो कारियाणी गाँव के मांचा भक्त थे। वे सत्संगी होने से पहले वामपंथी थे, फिर भी निष्काम व्रत (ब्रह्मचर्यपालन) में उनकी किसी भी प्रकार की चूक नहीं पड़ी थी। स्वयं बाल-ब्रह्मचारी रहे! एकबार एक कीमियागर उनके घर जाकर ठहरा था। उसने ताँबे से चाँदी बनाकर दिखाई। बाद में उसने माँचा भक्त से कहा कि आप सदाव्रती हैं, इसीलिए आपको यह जड़ी-बूटी दिखाकर चाँदी बनाना सिखा दूँ! तब माँचा भक्त ने लाठी लेकर उस किमियागर को गाँव के बाहर भगा दिया तथा उससे कहा कि हमें भगवान के सिवा किसी भी अन्य पदार्थ की इच्छा नहीं है। बाद में उन भक्त को जब सत्संग का अवसर प्राप्त हुआ, तब वे भगवान के एकांतिक भक्त बने।

अत: जो एकान्तिक भक्त होता है, उसमें एक तो आत्मनिष्ठा होती है,

दूसरा वैराग्य होता है, तीसरा स्व-धर्म पालन में दृढ़ता होती है तथा श्रीकृष्ण भगवान में अत्यन्त भक्ति होती है। ऐसे एकांतिक भक्त जब देह-त्याग करते हैं, तब श्रीकृष्ण भगवान में उनका प्रवेश हो जाता है, परन्तु एकांतिक भक्त हुए बिना श्रीकृष्ण वासुदेव में भक्त का प्रवेश नहीं होता।

तथा जो एकांतकि भक्त नहीं होता उसका तो ब्रह्मादिक में प्रवेश होता है अथवा संकर्षणादिक में प्रवेश होता है परंतु बिना एकांतिक हुए श्रीकृष्ण वासुदेव में प्रवेश नहीं हो सकता। अब प्रवेश के सम्बंध में हमें इस प्रकार समझना है कि जैसे अतिशय लोभी का धन में प्रवेश होता है, अतिकामी पुरुष का अपनी चहेती स्त्री में प्रवेश होता है, तथा कोई अधिक संपत्तिवान हो परंतु पुत्रहीन हो, उसे यदि पुत्र प्राप्ति होगी तो उसका अपने पुत्र में प्रवेश होता है, उसी प्रकार जिसके साथ जीव का लगाव रहता है, उसी में उसका प्रवेश हो जाता है। इस प्रकार प्रवेश होने की बात को समझना चाहिए। परन्तु जैसे जल में जल और अग्नि में अग्नि मिल जाती है, उसी तरह परमात्मा में जीवों का प्रवेश नहीं होता। वस्तुतः जिसका, जिसमें प्रवेश होता है, उसको, उसके बिना अन्यत्र कहीं प्रीति नहीं रहती। उसी प्रकार जिसका अपने इष्टदेव में प्रवेश हो गया, उसको अपने इष्टदेव के सिवा अन्य किसी भी पदार्थ में स्नेह उत्पन्न नहीं होता। उसको तो एकमात्र उसी की रटना लगी रहती है। यदि वह उसके बिना जीवित रहता भी है, तो भी वह घोर दुःख की अनुभूति करते हुए जीवन बिताता है, उसे कहीं सुख की अनुभूति नहीं होती।'

॥ इति वचनामृतम् ॥38॥ ॥171॥

वचनामृत 39 : श्रीहरि के स्वाभाविक गुण

संवत् 1880 में भाद्रपद कृष्णा दशमी (29 सितम्बर, 1823) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन से घोड़ी पर सवार होकर श्रीलक्ष्मीवाड़ी में पधारे थे। वहाँ वे वेदिका पर पलंग बिछवाकर उस पर विराजमान हुए। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि 'देश, काल, क्रिया और संगादि के कुप्रभाव से भी जो गुण कभी मिट न जाए, ऐसे स्वाभाविक गुण जिसमें

भी हों, वह कहिए।'

इतना कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'पहले हम अपने ही ऐसे स्वाभाविक गुणों की बात कहते हैं। एक तो हम उस प्रकार बर्ताव रखते हैं कि पाँच प्रकार के विषयों से सम्बंधित जो-जो पदार्थ हैं, उनका देह से चाहे कितना ही संसर्ग हो, फिर भी हमारे मन में उनका संकल्प तक नहीं उठता तथा वे पदार्थ स्वप्न में भी दिखाई नहीं पड़ते। दूसरी बात यह है कि बाह्यरूप से हम चाहे कितनी ही प्रवृत्तियों में क्यों न रहें, परन्तु, जब अन्तर्दृष्टि द्वारा हम अपनी आत्मा की ओर देखते हैं, तब कछुवे के अंगों की तरह समस्त वृत्तियाँ संकुचित होकर आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेती हैं, जिससे परम आनन्द होता रहता है। तीसरी बात यह है कि भगवान का अक्षरधाम चैतन्यरूप और तेजोमय है, उस अक्षरधाम में सदा साकारमूर्ति श्रीकृष्ण वासुदेव विराजमान रहते हैं और साकाररूप से ही वे सबके कर्ता हैं, परन्तु निराकार से कुछ नहीं होता, इस प्रकार भगवान के साकार स्वरूप की हमें दृढ़ प्रतीति रहती है। हालाँकि हमने (शुष्क) वेदान्त के कितने ही ग्रन्थ पढ़े और सुने हैं, परन्तु भगवान के साकार स्वरूप की प्रतीति कभी नहीं नष्ट हुई! चौथी बात यह है कि जिस किसी स्त्री तथा पुरुष के सम्बंध में हमें यह ज्ञात हो जाए कि 'यह तो ऊपर-ऊपर से, केवल दम्भ से भगवान की भक्ति करता है, परन्तु वह भगवान का सच्चा भक्त नहीं है,' तो उसे देखकर न तो हमारा मन प्रसन्न होता है, न उसके साथ हमारी जमती है! परन्तु जो भगवान का सच्चा भक्त होता है, उसे देखकर तो मन प्रसन्न होता है और उसी के साथ हमें आनन्द भी मिलता है। ये चार गुण हम में स्वाभाविक रूप से रहते हैं, जिनकी बात हमने आपको बताई। अब आप सब अपने-अपने स्वाभाविक गुण बताइए।' तब बड़े-बड़े परमहंसों तथा महान हरिभक्तों ने अपने हृदय में जैसे-जैसे गुण विद्यमान थे, उनकी जानकारी दी।

बाद में श्रीजीमहाराज बोले कि 'साधुओं में जो अग्रणी हैं, उनमें निष्काम रूप धर्म की दृढ़ता अवश्य रहनी चाहिए। कदाचित् दूसरी बातों में कोई शिथिलता रह जाए, तो वह निभ सकता है, किन्तु निष्काम व्रत - ब्रह्मचर्य व्रत की तो पूर्णतः दृढ़ता रहनी चाहिए, क्योंकि वे बड़े सन्त हैं। उनकी महत्ता से ही सबकी महत्ता पहचानी जाती है।'

इस प्रकार वार्ता करने के पश्चात् श्रीजीमहाराज पुनः दादाखाचर के राजभवन में पधारे। वहाँ संध्या–आरती, नारायणधुन और स्तुति के बाद समस्त साधुओं तथा हरिभक्तों की सभा हुई। उस समय श्रीजीमहाराज ने बड़े–बड़े परमहंसों से पूछा कि 'हमने श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध तथा दशम स्कन्ध का अतिशय प्रतिपादन किया है। आपको इन दोनों स्कन्धों का रहस्य जिस प्रकार समझ में आया हो उसे बताइए।' तब सभी बड़े परमहंसों ने अपनी–अपनी समझ के अनुसार कह सुनाया। तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब मैं, आपको वह बतलाता हूँ, जिसे सुनकर चाहे कैसा भी शास्त्री, पुराणी, अथवा बुद्धिमान हो, निश्चित रूप से सत्य मानकर अपनी सहमति प्रकट करेगा। तथा उसे किसी प्रकार का संशय नहीं रहेगा कि 'यह वार्ता ऐसी नहीं होगी।' इस प्रकार बात को स्पष्ट बताना, उसी का नाम रहस्य कहलाता है।

इन दोनों स्कन्धों में दशम स्कन्ध का रहस्य यह है कि उपनिषद्, वेदान्त, श्रुतियों और स्मृतियों में जिनको ब्रह्म कहा है, ज्योतिःस्वरूप कहा है, ज्ञानरूप कहा है, तत्त्व कहा है, सूक्ष्म कहा है तथा निरंजन, क्षेत्रज्ञ, सर्वकारण, परब्रह्म, पुरुषोत्तम, वासुदेव, विष्णु, नारायण और निर्गुण इत्यादि नामों से जिन्हें परोक्षभाव से बताया गया है, वे ही प्रत्यक्ष वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण वासुदेव हैं। इस प्रकार जहाँ–जहाँ स्तुति–भाग है, वहाँ–वहाँ ऐसे ही स्तुति–शब्दों को लेकर प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण भगवान का ही वर्णन किया गया है, परन्तु श्रीकृष्ण भगवान से अधिक और कुछ भी नहीं कहा गया; तथा समस्त जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कर्ता भी श्रीकृष्ण भगवान ही हैं, यह भी कहा गया है। और, पंचम स्कन्ध में श्रीकृष्ण भगवान का माहात्म्य कहा गया है और बताया है कि श्रीकृष्ण भगवान ही इस जगत की स्थिति के लिए तथा अपने भक्तजनों को आनन्द देने के लिए अनेक प्रकार के रूपों को धारण करके खंड–खंड में रहते हैं। जो भक्त भगवान श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित मर्यादा का पालन करते हैं, वे अतिशय महत्ता को प्राप्त कर लेते हैं; किन्तु जो मनुष्य उन मर्यादाओं का पालन नहीं करते, वे बड़े होने पर भी अपनी स्थिति से गिर जाते हैं। और जो साधारण जीव हो, वह यदि उस मर्यादा का लोप कर दे, तो उसकी अधोगति होती है, ऐसा कहा गया है। वे ही श्रीकृष्ण वासुदेव ने

वसुदेव तथा देवकी को प्रत्यक्ष चतुर्भुज रूप में अद्भुत बालक बनकर दर्शन दिए थे। वह अनादि वासुदेवरूप श्रीकृष्ण भगवान ने धर्म, अर्थ और काम में प्रवृत्त होकर जो-जो चरित्र किए, उन चरित्रों का गान अथवा श्रवण करनेवाले सभी जीव समस्त पापों से मुक्त होकर परमपद को प्राप्त कर लेते हैं। उन वासुदेव भगवान के जन्म, कर्म और मूर्ति सब कुछ दिव्यस्वरूप हैं, और वे वासुदेव श्रीकृष्ण ही सर्वोपरि भगवान हैं। इस प्रकार इन दोनों स्कन्धों का रहस्य बताया।

जो शुकजी जैसी ब्रह्मस्थिति को प्राप्त हुए हों, उन्हें भी उन श्रीकृष्ण परब्रह्म की उपासना तथा भक्ति करनी चाहिए और दशम स्कन्ध में वर्णित श्रीकृष्ण भगवान के चरित्रों का गान और श्रवण शुकजी जैसे महर्षि को भी करना चाहिए। शुकजी ने ही यह बात कही है :

'परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥'

ऐसे वासुदेव भगवान के आकार में दृढ़ विश्वास रखना चाहिए। यदि भगवान के साकार रूप में दृढ़ विश्वास होगा तो मनुष्य ने कदाचित् कुछ पाप भी कर लिया हो, परन्तु उसका उद्धार ही होगा। क्योंकि **अन्य पापों का प्रायश्चित्त तो बताया गया है, किन्तु भगवान को निराकार समझेगा, तो वह पाप तो पंचमहापापों की अपेक्षा भी बहुत बड़ा पाप है। इस पाप का तो कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है।** और, यदि भगवान को साकार मानकर निष्ठा रखी हो, तो कदाचित् साधक से कुछ पाप हो भी गया, तो उसमें डरने की क्या बात है? वह पाप भगवान के प्रताप से भस्मीभूत हो जाएगा और मुमुक्षु भगवान को प्राप्त करेगा। अतः हमारी आप सबको आज्ञा है कि भगवान सर्वदा साकार है, ऐसी दृढ़ प्रतीति रखकर दृढ़तापूर्वक उनकी उपासना करें और इस वार्ता को सुदृढ़ बनाए रखें।' इस प्रकार श्रीजीमहाराज सबसे उपदेशवचन कहकर भोजन के लिए पधारे।

॥ इति वचनामृतम् ॥39॥ ॥172॥

वचनामृत 40 : एक दंडवत् प्रणाम अधिक

संवत् 1880 में आश्विन कृष्णा तृतीया (22 अक्तूबर, 1823) को

श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास स्थान में थे। फिर स्नान करके श्वेत वस्त्र धारण करके अपने आसन पर विराजमान हुए। फिर देव-अर्चनादि अपने नित्यकर्म को सम्पन्न करके उन्होंने उत्तराभिमुख होकर श्रीकृष्ण भगवान को साष्टांग दंडवत् प्रणाम किया। परन्तु वे प्रतिदिन जितने दंडवत् प्रणाम किया करते थे उसकी अपेक्षा उस दिन उन्होंने एक दंडवत् प्रणाम अधिक किया। यह देखकर शुकमुनि ने पूछा कि 'हे महाराज! आज आपने एक दंडवत् प्रणाम अधिक क्यों किया?'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि प्रतिदिन तो हम श्रीकृष्ण भगवान को प्रणाम करके यह निवेदन करते थे कि 'हे महाराज! इस देहादि में यदि अहं-ममत्व-भाव रहे हों, तो आप उसे मिटा देना।' किन्तु, आज हमें ऐसा विचार हुआ कि यदि भगवान के भक्त के प्रति, मन, वचन तथा देह द्वारा जाने-अनजाने में कोई द्रोह हो जाए, इससे जीव को जैसा दु:ख होता है, वैसा दु:ख किसी अन्य पाप से नहीं होता। इसलिए, जाने-अनजाने मन, वचन एवं देह द्वारा भगवान के भक्त के प्रति यदि कोई द्रोह हो गया हो, तो उसके दोष का निवारण करने के लिए ही हमने एक दंडवत् प्रणाम अधिक किया।

और, वास्तव में हम ऐसा मानते हैं कि **भगवान के भक्त का द्रोह करने से इस मनुष्य का जैसा बुरा होता है और उसे जितना कष्ट सहन करना पड़ता है, वैसा सन्ताप किसी अन्य पाप द्वारा नहीं होता; और मन, वचन तथा शरीर द्वारा भगवान के भक्त की कोई सेवा हो गई, तो इस जीवात्मा का जैसा भला होता है और उसे जितना सुख मिलता है, वैसी सुखानुभूति उसे अन्य किसी साधन द्वारा नहीं होती।'** और, भगवान के उस भक्त का द्रोह तो वस्तुत: लोभ, मान, ईर्ष्या और क्रोध इन चार दोषों के कारण हुआ करता है। और भगवद्भक्त का सम्मान होता है, उसमें इन चार दोषों के नहीं रहने से ही होता है! अत: जिसे इस शरीर के रहते हुए या अपनी मृत्यु के बाद भी परम सुखी होना है, उसे मन, वचन और देह से भगवान के भक्त का द्रोह नहीं करना चाहिए। यदि भगवान के भक्त का कुछ द्रोह हो गया, तो वाणी द्वारा उसकी प्रार्थना करना तथा भूमिसात् होकर पूरे मन से उसे दंडवत् प्रणाम करना तथा पुन: उसका द्रोह

न हो जाए, इस बात का सदैव ध्यान रखना। परन्तु द्रोह करके फिर दंडवत् प्रणाम करे और फिर द्रोह करने लगे तथा दंडवत् प्रणाम भी करता रहे, ऐसा कभी मत बरतना! यह बात सभी को प्रतिदिन स्मरण में आती रहे, इसलिए सभी संत तथा हरिभक्त यह नियम अवश्य रखें कि भगवान की पूजा के बाद अपने नित्य नियम में जितने दण्डवत् प्रणाम करते हों, उसे अवश्य करना, परन्तु दिनभर में जाने-अनजाने मन, वचन और देह द्वारा भगवान के भक्त का द्रोह हुआ हो, उसका निवारण करने के लिए प्रतिदिन एक दंडवत् प्रणाम अधिक करना। यह हमारी आज्ञा है, सभी उसका पालन अवश्य करें।'

॥ इति वचनामृतम् ॥40॥ ॥173॥

वचनामृत 41 : अहंकार-रहित सेवा

संवत् 1880 में कार्तिक कृष्णा एकादशी (28 नवम्बर, 1823) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंगपर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे, कंठ में पीले पुष्पों के हार पहने थे और पाग में पीले पुष्पों के तुर्रे लगाये थे। उनके समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज अपने भक्तजनों को उपदेश देते हुए बोले कि '**जिसे परमेश्वर को भजना हो, उसे यदि भगवान अथवा भगवान के भक्त की सेवा-चाकरी करने का अवसर मिले, तो अपना बड़ा भाग्य मानकर सेवा करनी चाहिए। वह सेवा भी भगवान की प्रसन्नता के हेतु एवं अपने आत्मकल्याण के लिए भक्तिपूर्वक करनी चाहिए, किन्तु कोई अपनी प्रशंसा करे, ऐसी आशा से सेवा नहीं करनी चाहिए।** और, मनुष्य का ऐसा स्वभाव है कि जिसमें स्वयं को मान मिले, वही करना अच्छा लगता है। बिना मान (अहंकार) के भगवान की अकेली भक्ति करना भी अच्छा नहीं लगता। जैसे श्वान सूखी हड्डी को एकान्त में ले जाकर उसे दाँतों से चबाता है। उससे उसका मुँह छिल जाता है और उस खून से सनी हुई हड्डी को चाटकर वह प्रसन्न होता है, परन्तु वह मूर्ख यह नहीं जानता कि 'यह तो मेरे ही मुँह का खून है, जिसमें मैं स्वाद मानता हूँ।' वैसे

ही भगवान का भक्त हो, फिर भी वह मानरूपी हड्डी को छोड़ नहीं पाता। वास्तव में वह जो भी साधनाएँ करता है, वह मान के वश में होकर ही करता है। केवल भगवान की भक्ति मानकर भगवान की प्रसन्नता के लिए वह कोई साधना नहीं करता। यदि वह भगवान की भक्ति करता है, और उसमें भी जब उसे मान का स्वाद आता है तभी करता है, परन्तु केवल भगवान की प्रसन्नता के लिए नहीं करता। वास्तव में निर्मानभाव से एकमात्र भगवान की प्रसन्नता के लिए भगवान की भक्ति तो रतनजी और मियांजी जैसे कोई विरले पुरुष ही करते होंगे; लेकिन, दूसरों से मानरूपी स्वाद का त्याग हो ही नहीं सकता।' इस पर मुक्तानंद स्वामी ने तुलसीदास की यह साखी कही :

'कनक तज्यो कामिनी तज्यो, तज्यो धातु को संग।
तुलसी लघु भोजन करे, जिए मान के रंग॥'

यह साखी सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'जीवात्मा को मान में से जैसा स्वाद आता है, वैसा तो उसे अन्य किसी पदार्थ से नहीं आता। इसलिए, जो मनुष्य मान का परित्याग करके भगवान का भजन करता है, उसे समस्त हरिभक्तों में अतिशय महान हरिभक्त समझना चाहिए।'

॥ इति वचनामृतम् ॥41॥ ॥174॥

वचनामृत 42 : अक्षरधाम; मोक्ष की कुंजी

संवत् 1880 में मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी (29 दिसम्बर, 1823) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनि तथा विभिन्न-प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय भगवदानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज, भगवान के एक-एक रोम में अनन्तकोटि ब्रह्मांड किस प्रकार रहते हैं तथा ब्रह्मांड के कौन-कौन से स्थान में भगवान के अवतार होते हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'पुरुषोत्तम भगवान के अक्षरधाम के दो भेद हैं। इनमें एक सगुणभाव तथा दूसरा निर्गुणभाव! और पुरुषोत्तम नारायण को न तो सगुण ही कहा जा सकता है और न निर्गुण ही। वास्तव में सगुण-

निर्गुण भेद तो अक्षर में है। **वह अक्षर निर्गुण स्वरूप द्वारा अणु से भी अति सूक्ष्म है तथा सगुण स्वरूप से वह जितने भी बड़े पदार्थ हैं, उनसे भी अतिशय विराट है। उस अक्षर के एक-एक रोम में अणु की तरह अनन्त कोटि ब्रह्मांड रहते हैं।** ऐसी स्थिति में ब्रह्मांड छोटे-छोटे नहीं हो जाते, वे तो अष्टावरण सहित ही हैं; परन्तु अक्षर की अतिशय महत्ता के आगे ऐसे ब्रह्मांड भी एकदम छोटे दिखाई पड़ते हैं। जैसे गिरनार पर्वत मेरु के आगे अत्यन्त लघु दिखता है, तथा लोकालोक पर्वत के आगे मेरु पर्वत बिल्कुल छोटा दिखाई पड़ता है, वैसे ही ब्रह्मांड उतने ही बड़े रहते हैं परन्तु अक्षर की अतिशय महत्ता के आगे वे बिल्कुल छोटे दिखाई पड़ते हैं; इसी कारण उन्हें 'अणु-सदृश' कहा जाता है। और, अक्षरब्रह्म सूर्यमंडल के समान है। जैसे सूर्य जब क्षितिज के ऊपर आता है, तब सूर्य के योग से दसों दिशाओं की पहचान हो जाती है। वैसे ही अक्षरधाम है। उस अक्षर के ऊपर-नीचे चारों ओर सभी दिशाओं में ब्रह्मांडों की शृंखलाएँ लगी हैं।

और, उस अक्षरधाम में भगवान पुरुषोत्तम सदैव विराजमान रहते हैं। वे सत्यसंकल्प हैं तथा अक्षरधाम में रहते हुए ही जिस ब्रह्मांड में जिन-जिन रूपों से प्रकट होने की आवश्यकता रहती है, वे उन-उन रूपों को प्रकट करते हैं। जैसे श्रीकृष्ण भगवान ने रासक्रीड़ा की, तब यद्यपि वे स्वयं एक ही थे, फिर भी उस समय जितनी गोपांगनाएँ उपस्थित थीं, उनके सामने उनके उतने ही रूप हो गए थे। उसी प्रकार, **पुरुषोत्तम भगवान को ब्रह्मांड-ब्रह्मांड में जहाँ-जहाँ जैसा रूप प्रकट करना होता है, वहाँ-वहाँ वे वैसे ही रूप को प्रकट करते हैं। वे स्वयं सदैव अक्षरधाम में रहते हैं और जहाँ उन पुरुषोत्तम की मूर्ति है, वहीं अक्षरधाम का मध्यभाग है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥42॥ ॥175॥

वचनामृत 43 : ब्रह्मस्वरूपिणी प्रीति

संवत् 1880 में पौष शुक्ला चतुर्थी (5 जनवरी, 1824) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अयोध्यावासियों के घर पर गद्दी-तकिये पर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों

की सभा हो रही थी और प्रेमानन्द स्वामी सरोद लेकर कीर्तन कर रहे थे। कीर्तन होने के बाद श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ करें।'

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'भगवान का जो गुणातीत भक्त हो और केवल आत्मसत्तारूप में ही रहता हो, उसमें वैराग्यरूप सत्त्वगुण, विषयों में प्रीतिरूप रजोगुण तथा मूढ़तारूप तमोगुण के भाव नहीं रहते। वास्तव में वह केवल संकल्परहित शून्य-समता को धारण कर सुषुप्ति जैसी अवस्था में रहे, इस प्रकार सत्तारूप में रहनेवाले निर्गुण भक्त को भगवान में प्रीति होती है या नहीं?' तब मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'जो सत्तारूप रहता है, उसको भगवान में प्रीति तो होती है।'

फिर श्रीजीमहाराज ने पूछा, 'सत्तारूप में रहनेवाले भक्त को भगवान में जो प्रीति रहती है, वह आत्मा से सजातीय है अथवा विजातीय है?'

तब मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'वह प्रीति आत्मा की सजातीय है।'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'मध्वाचार्य, निम्बार्क तथा वल्लभाचार्य ने यह बताया है कि आत्मरूप रहकर भगवान में जो प्रीति की जाती है, वह प्रीति ब्रह्मस्वरूपिणी प्रीति कही गई है। इसलिए, **जो भक्त गुणातीत होकर भगवान में प्रीति रखता है, वही ब्रह्मस्वरूप है,** बड़े-बड़े आचार्यों का यही सिद्धान्त है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥43॥ ॥176॥

वचनामृत 44 : दैवी-आसुरी जीव

संवत् 1880 में पौष शुक्ला अष्टमी (9 जनवरी, 1824) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। तथा उनके समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने मुक्तानन्द स्वामी से पूछा कि 'जब किसी को हरिभक्त पर दुर्भाव हो जाता है, तब उसे, उसमें पहले जितने दोष दिखाई पड़ते थे, उतने ही दिखाई पड़ते हैं या उनसे अधिक दिखाई पड़ते हैं?' तब मुक्तानन्द स्वामी ने बताया कि 'अनुमान से यही प्रतीत होता है कि पहले जितने दोष दिखाई पड़ते थे, उतने ही दोष बाद में भी दिखाई पड़ते हैं।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस बात पर आपकी दृष्टि नहीं पहुँच पाई। यदि उतने के उतने ही दोष दिखते हों, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि उसे किसी का 'अवगुण आ गया?' वास्तव में अशुभ देश, काल, क्रिया तथा संग आदि के योग द्वारा बुद्धि विकृत हो जाती है, इसी कारण अवगुण अधिक दिखाई पड़ते हैं। ऐसे समय पर इस प्रकार समझना चाहिए कि 'बुद्धि में अशुभ देशकालादि का दूषण लगा है।'

और, हम तो ऐसा मानते हैं कि जिस पुरुष को पहले सत्पुरुष का संग रहा होगा अथवा भगवान का दर्शन हुआ होगा, उसको अन्य हरिभक्त का दोष दिखता ही नहीं, बल्कि अपना ही अवगुण प्रतीत होता है।' जिसके ऐसे लक्षण हों, उसे दैवी जीव समझना। और जो आसुरी जीव होता है, उसको अपने में एक भी अवगुण नहीं दिखाई पड़ता, वह अन्य हरिभक्तों में केवल अवगुण ही देखता रहता है। जिसकी ऐसी बुद्धि हो, उसको आसुरी जीव समझना चाहिए। ऐसा आसुरी जीव भले ही सत्संग में रहता हो या सन्तों के मंडल में रहता हो, परन्तु वह कालनेमि एवं रावण तथा राहु के सदृश रहता है, किन्तु उसे सन्त की संगति छूती तक नहीं! इसलिए, जो परिपक्व हरिभक्त होते हैं, उनको तो अपने में ही अवगुण दिखाई पड़ते हैं। वह दूसरों के दोष कभी नहीं देखते।'

॥ इति वचनामृतम् ॥44॥ ॥177॥

वचनामृत 45 : एकावन प्रकार के मायिक बन्धनों से रहित होना

संवत् 1880 में पौष कृष्णा प्रतिपदा (17 जनवरी, 1824) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'समस्त मुनिमंडल, ब्रह्मचारी, गृहस्थ सत्संगी, पार्षद तथा अयोध्यावासी, आप सभी मेरे आश्रित कहलाते हों, इसलिए, यदि मैं सावधानी रखकर आपको सन्मार्ग पर न चला सकूँ और आप भी अपने आचरण में कुछ लापरवाह रहें तो वह हमसे देखा नहीं जाएगा। इसलिए, जो-जो मेरे आश्रित कहलाते हैं, उनमें मैं एक तिलमात्र

तक कसर नहीं रहने दूँगा। अतः आप भी अत्यंत सावधान रहना। यदि आपने तनिक भी असावधानी रखी, तो सत्संग में आपका पाँव नहीं जमेगा। और, मेरी तो ऐसी भावना है कि मुझे तो आप जैसे भगवान के भक्तों के हृदय में किसी भी प्रकार की वासना और किसी भी तरह का अनुचित स्वभाव नहीं रहने देना है। तथा माया के तीन गुण, दस इन्द्रियाँ, दस प्राण, चार अन्तःकरण, पंचभूत, पंचविषय तथा चौदह इन्द्रियों के देवता आदि में से किसी का भी संग नहीं रहने देना है। इन **सभी मायिक उपाधि से रहित, एवं सत्तामात्र जो आत्मा है, उस आत्मस्वरूप बनकर आप भगवद्भक्ति करें, ऐसे विशुद्ध आप सभी को बनाना है, परन्तु किसी प्रकार माया का कोई दोष आपमें नहीं रहने देना है।** और, यदि इस जन्म में हर कमी दूर नहीं हुई, तो बदरिकाश्रम में जाकर तप करके समग्र वासना को जलाकर भस्म करना है अथवा श्वेतद्वीप में जाकर निरन्नमुक्तों के साथ तपस्या करके समूची वासना को जलाकर भस्म कर डालना है। परन्तु, भगवान के सिवा किसी भी अन्य पदार्थों में प्रीति बनी रहे, ऐसा आपको नहीं रहने देना है। इसीलिए, समस्त हरिभक्त तथा मुनिमंडल सावधान रहें।' इतनी वार्ता कहने के पश्चात् श्रीजीमहाराज अपने निवास स्थान में पधारे।

फिर उसी दिन सायंकाल को श्रीजीमहाराज पुनः सभा में विराजमान हुए। जब आरती हो चुकी तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जीव सात्त्विक कर्म करके देवलोक में जाते हैं। राजस कर्म करके मनुष्य लोक की प्राप्ति होती है तथा तामस कर्म करनेवाले को अधोगति प्राप्त होती है। इस सम्बंध में यदि कोई शंका करे कि 'राजस कर्म करने से जब मनुष्यलोक की प्राप्ति होती है, तब तो समस्त मनुष्यों को एकसमान सुख-दुःख होने चाहिए।' इस शंका का उत्तर यह है कि केवल एक रजोगुण के ही विभिन्न देश-कालादि के कारण अनेक प्रकार के भेद होते हैं, अतः राजस कर्म की एकसमान निश्चितता नहीं रह पाती; क्योंकि जैसे देश, काल, संग और क्रिया का योग होता है, उसी के अनुसार उसके कर्म हुआ करते हैं। उनमें भी यदि कुछ ऐसा कर्म हो जाए, जिससे भगवान के भक्त, सन्त तथा भगवान के अवतार अप्रसन्न हो जाएँ, तो वह इसी देह से मृत्युलोक में ही यमपुरी जैसे दुःख को भोगता है। परन्तु यदि जीव ऐसा कर्म करे कि जिससे भगवान तथा भगवान के भक्त प्रसन्न

हों, तो वह इसी देह से परमपद को प्राप्त होने जैसा आनन्द भोगता है। और, **यदि उसने भगवान तथा भगवान के सन्त को अप्रसन्न किया, तो वह चाहे स्वर्ग में जाने योग्य कर्म क्यों न किया हो, किन्तु उसका नाश हो जाता है और उसे नरक में गिरना पड़ता है; यदि उसने भगवान तथा भगवान के सन्त प्रसन्न हों, ऐसा कुछ कर्म कर दिया, तो उसका नरक में जाने योग्य प्रारब्ध हो, फिर भी उसके अशुभ कर्मों का नाश हो जाता है, और वह परमपद को प्राप्त कर लेता है।**

इसलिए, ज्ञानी पुरुष वैसा ही आचरण करें, जिससे भगवान और भगवान के भक्त प्रसन्न हो जाएँ। और, अपने सम्बंधी जनों को भी यही उपदेश देना कि 'हमें वही आचरण करना है कि जिससे भगवान तथा भगवान के भक्त हम पर प्रसन्न हों और हम पर उनकी कृपा बनी रहे।' जब अग्नि ने भगवान तथा भगवान के सन्त को प्रसन्न किया होगा, तभी अग्नि को ऐसा प्रकाश प्राप्त हुआ है; और, सूर्य-चन्द्रादि भी इतने प्रकाशमान हैं, उन्होंने भी शुभ कर्म द्वारा भगवान तथा भगवान के सन्त को प्रसन्न किया होगा, तभी उन्हें ऐसा प्रकाश प्राप्त हुआ है। तथा देवलोक एवं मृत्युलोक में जो भी सुखी जीव हैं, उन सभी ने निश्चय ही भगवान तथा भगवान के सन्त को प्रसन्न किया होगा, तभी वे उस प्रताप से सुखी बने हुए हैं। अतः जो पुरुष अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहता हो, उसको सद्ग्रन्थों में बताए गए स्वधर्म में रत रहकर भगवान तथा भगवान के सन्त प्रसन्न हों, ऐसे ही उपाय करने चाहिए।'

॥ इति वचनामृतम् ॥45॥ ॥178॥

वचनामृत 46 : मृत्युडोर; एकान्तिक धर्म से पतन

संवत् 1880 में पौष कृष्णा एकादशी (26 जनवरी, 1824) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे और पीली छींट की रजाई ओढ़ी थी। उनके समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी। सन्त झाँझ-मृदंग लेकर कीर्तन कर रहे थे।

जब कीर्तन हो चुका तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस संसार में जो सत्पुरुष हैं, उन्हें किसी जीव को लौकिक पदार्थ की हानि अथवा वृद्धि

देखकर किसी प्रकार हर्ष या शोक नहीं होता। किन्तु, जब किसी का मन भगवान के मार्ग से च्युत होता है, तब उन्हें बहुत दुःख होता है, क्योंकि यह जीवन तो अल्प समयावधि में समाप्त होगा, इतने समय में उसका मोक्ष का कार्य ही बिगड़ जाएगा और उस जीव की बड़ी हानि होगी।

और, पृथ्वी पर भगवान के जो अवतार होते हैं, वे धर्म की स्थापना के लिए होते हैं। वे केवल वर्णाश्रमधर्म की स्थापना के लिए नहीं होते, क्योंकि वर्णाश्रम धर्म की स्थापना तो सप्तर्षि आदि प्रवृत्ति–धर्म के आचार्य भी करते हैं। परन्तु भगवान के अवतार अपने एकान्तिक भक्त के जो धर्म है, उनका प्रवर्तन करने के लिए होता है। **जो एकान्तिक भक्त हैं, उनका दैहिक मरण होना, वस्तुतः मरण नहीं है। उनका तो एकान्तिक धर्म से च्युत होना ही मृत्यु है! जब ऐसे भक्त के हृदय में भगवान अथवा भगवान के सन्त के सम्बंध में दुर्भाव उत्पन्न हो जाता है, तब समझ लेना कि वह भक्त एकान्तिक धर्म से च्युत हो गया।** यदि वह क्रोध द्वारा इस मार्ग से च्युत हुआ हो, तो उसको सर्प की देह मिलेगी। यदि काम द्वारा उसका पतन हुआ है, तो उसे यक्ष राक्षस की योनि में जन्म मिलेगा। अतः एकान्तिक धर्म से च्युत होकर जिनको ऐसे शरीरों की प्राप्ति हुई है, वे यदि धर्मात्मा हों अथवा तपस्वी हों, तो उनकी धर्म तथा तप द्वारा देवलोक में गति होती है, किन्तु जिस पुरुष ने भगवान तथा भगवान के सन्त के साथ दुर्भाव रखा है, उसे तो भगवान के धाम की कभी भी प्राप्ति नहीं होती। और, यदि कोई पंचमहापापों से युक्त भी क्यों न हो, फिर भी उसने भगवान और भगवान के सन्त के प्रति दुर्भाव नहीं रखा, तो उसके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं तथा भगवान के धाम में उसका निवास होता है। अतः **भगवान तथा भगवान के भक्त में अवगुण देखना, वह पंचमहापापों से भी अधिक बड़ा पाप है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥46॥ ॥179॥

वचनामृत 47 : पंचविषयों में आसक्ति

संवत् 1880 में माघ कृष्णा दशमी (24 फरवरी, 1824) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा–स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए

थे और पीली छींट की रजाई ओढ़ी थी। उनके समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जिस सन्त के पास चार साधु रहते हों, उसे यदि मन देकर उन्हें मानवतापूर्वक रखना आता हो, तो उसके पास साधु प्रसन्नतापूर्वक रह सकते हैं। किन्तु, जिसे साधुओं को रखना नहीं आता, उसके पास साधु नहीं रहते और जिस साधु को मोक्ष की ग़रज़ हो उसको तो चाहे कितना ही कष्ट दें अथवा कितना ही उसकी विषयासक्ति का खंडन किया जाए, तो भी वह अत्यन्त प्रसन्न रहेगा। जैसे इन मुक्तानंद स्वामी को क्षयरोग हुआ है, वह उन्हें दही, दूध, मिठाई अथवा घी-तेल आदि कोई भी अच्छा पदार्थ खाने नहीं देता। ठीक उसी तरह ज्ञानी पुरुष यही समझता है कि 'इस रोग ने तो अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट पदार्थ खाने से बिल्कुल वंचित कर दिया है। इसलिए मानो क्षयरोग के रूप में किसी बड़े सन्त का सत्संग प्राप्त हुआ है! इस प्रकार उसे ऐसे विचार होते हैं! क्योंकि वास्तव में शिश्न और उदर के सम्बंध में जीव को जो आसक्ति होती है, वही असत्पुरुषत्व है! यह क्षयरोग इन दोनों प्रकार के दोषों को दूर कर देता है। इस रोग की भाँति यदि सत्पुरुष भी विषयों की आसक्ति का खंडन करते हों, उससे मुमुक्षु को दु:खी नहीं होना चाहिए। और, जो खाने-पीने की चीजों की लालसा अथवा अच्छे वस्त्र पाने की लालसा या अपने मनचाहे पदार्थों को प्राप्त करने के लालच से किसी बड़े सन्त के साथ रहता हो, उसे तो साधु ही नहीं मानना, उसे तो लम्पट मानना और श्वान-सदृश समझना। ऐसे मलिन आशयवाला अन्ततोगत्वा भगवान से विमुख हो जाता है।

और, यदि कोई पुरुष सन्त को अच्छा-सा पदार्थ देता है, उसको देख जो उससे ईर्ष्या करता है, वह तथा जो पंचविषयों का लालची है, ये दोनों तो पंचमहापापियों से भी अत्यंत दुष्ट हैं। इसलिए, विवेकशील पुरुष को सन्त की संगति में रहकर अन्त:करण में ऐसा मलिन आशय नहीं रखना चाहिए। क्योंकि यह सभा तो बदरिकाश्रम तथा श्वेतद्वीप में आयोजित सभा जैसी है। वहाँ बैठकर जब मलिन वासना नहीं टली, तब उसको मिटाने के लिए दूसरा स्थान कहाँ मिलेगा? और पंचविषयों को अपनी जीवात्मा ने देव-मनुष्यादिक अनेक देहों में ठीक तरह से भोगा है, फिर भी उसे अभी तक उन विषयों

से तृप्ति नहीं हुई, तो अब भगवान का भक्त होकर एक वर्ष, दो वर्ष या पाँच वर्षों तक विषयों को भोगकर भी विषयेच्छा पूर्ण नहीं हो पाएगी। **जैसे पाताल तक पृथ्वी फट चुकी हो, उसे यदि पानी से भरा जाए, तो वह कभी भी नहीं भरेगी, उसी प्रकार इन्द्रियों को भी विषयों से कभी भी तृप्ति नहीं हुई है, और आगे तृप्ति होगी भी नहीं। इसलिए, अब विषयों के प्रति आसक्ति का परित्याग करके साधु यदि डाँटकर ही क्यों न कहें, उनका गुण ग्रहण करना, परन्तु उनमें अवगुण मत देखना।** जैसे मुक्तानंद स्वामी ने अपने कीर्तन में भी कहा है कि –

'सूली ऊपर शयन करावे, तो भी साधु के संग रहिये रे।'

अर्थात् यदि सूली पर चढ़ना पड़े, ऐसी स्थिति में भी हमें संत की संगत नहीं छोड़नी चाहिए। अतः ऐसा अवसर प्राप्त हुआ है, तो अशुभ वासना को मिटाकर ही मरना, किन्तु अशुभ वासना के साथ नहीं मरना है। और, भक्त को ऐसी ही वासना रखनी चाहिए कि 'इस देह से निकलकर नारद-सनकादि और शुकजी के सदृश ब्रह्मरूप होकर भगवान की भक्ति करनी है।' फिर भी यदि ब्रह्मलोक अथवा इन्द्रलोक में निवास हो गया तो भी कोई चिन्ता नहीं! जैसे शौचालय में शौच के लिए गए और उस गड्ढ़े में यदि मस्तक पर्यंत गिर गए तो पुनः उठकर स्नान करके पवित्र होते हैं, परन्तु उसमें पड़े नहीं रहते। ठीक उसी प्रकार शुभ वासना रखते-रखते यदि ब्रह्मलोक अथवा इन्द्रलोक में जाना पड़ा, तो ऐसा मानना कि आ-मस्तक नरक के गड्ढ़े में गिरे हैं, परन्तु शुभ वासना के बल पर ब्रह्मलोक तथा इन्द्रलोक के भोगों का परित्याग करके भगवान के धाम में पहुँचना है, परन्तु बीच में कहीं भी ठहरना नहीं है, ऐसा निश्चय रखना।

जिस प्रकार गृहस्थ और त्यागी आप सब (सन्तों की) सेवा करते हैं, वैसे ही हमें भी हरिभक्त का माहात्म्य जानना चाहिए। जैसे मूलजी ब्रह्मचारी माहात्म्य जानकर हमारी सेवा करते हैं, वैसे ही हम भी ब्रह्मचारी का माहात्म्य जानते हैं। गृहस्थ सब अन्न-वस्त्र द्वारा हम त्यागियों की सेवा करते हैं, वैसे ही हमें भी उनका माहात्म्य समझकर बातचीत द्वारा उनकी सेवा करनी चाहिए। इस प्रकार परस्पर माहात्म्य समझकर हरिभक्तों की संगति रखना!'

॥ इति वचनामृतम् ॥47॥ ॥180॥

वचनामृत 48 : भगवान का अखंड चिंतन

संवत् 1880 में माघ कृष्णा चतुर्दशी (28 फरवरी, 1824) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे, कंठ में तुलसी की नवीन श्वेत कंठियाँ पहनी थीं और पाग में पीले पुष्पों का तुर्रा लगा हुआ था। उन्होंने कंठ में पीले पुष्पों के हार धारण किए थे। उनके समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय साधु प्रेमानन्द स्वामी भगवान के ध्यान-साधना की गरबी **'वंदुं सहजानन्द रसरूप अनुपम सारने रे लोल'** गा रहे थे। जब वे गा चुके, तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'बहुत अच्छा कीर्तन-गान किया। इन कीर्तनों को सुनकर हमारे मन में ऐसा विचार हुआ कि इन्हें भगवान की मूर्ति का इस प्रकार का चिन्तन बना हुआ है, इसलिए, इन साधु को उठकर साष्टांग दंडवत् प्रणाम करें! जिसके अन्त:करण में भगवान का ऐसा चिन्तन होता हो और यदि वह ऐसी वासना रखकर देह-त्याग करे, तो उसे पुन: गर्भवास भोगना ही नहीं पड़ेगा। और, जो पुरुष भगवान का ऐसा चिन्तन करते हुए जीता हो, तो भी उसने परमपद को प्राप्त कर लिया है। जैसे श्वेतद्वीप में निरन्नमुक्त हैं, वैसे ही वह भी निरन्नमुक्त हो चुका है। और, उसकी देहक्रियाएँ तो जितनी उचित होती हैं, उतनी सहजभाव से होती रहती हैं। जिसको भगवान के स्वरूप का इस प्रकार चिन्तन होता है, वह तो कृतार्थ हो चुका है और उसे तो कुछ भी करना शेष नहीं बचा है। यदि किसी का देहत्याग भगवान के सिवा अन्य पदार्थों का चिन्तन करते हुए होगा, उसके दु:खों का अन्त कोटि कल्पों में भी नहीं हो सकेगा। अत: यह जो अवसर मिला है, उसमें सभी पदार्थों का चिन्तन छोड़कर केवल भगवान के स्वरूप का ही चिन्तन करना चाहिए।

और, यदि भगवान के स्वरूप का चिन्तन न हो सके, तो भी धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति से युक्त जो साधु हैं, उनके बीच पड़े रहना! हमारे अन्त:करण में भी यही वासना है कि इस देह के त्याग के बाद पुन: जन्म होने का तो किसी प्रकार का निमित्त नहीं है, फिर भी हम अपने हृदय में ऐसा विचार करते हैं कि 'जन्म लेने का कोई कारण उत्पन्न करके भी सन्त के

मध्य में जन्म लेना है !' यही हमारी इच्छा है।

और, जिसे इन कीर्तनों के अनुसार भगवत्स्वरूप का चिंतन होता रहता है, वह काल, कर्म तथा माया के पाश से मुक्त हो चुका है। जिनके घर में ऐसे पुरुष ने जन्म लिया हो, तो समझना कि उसके माँ-बाप भी कृतार्थ हुए हैं। परन्तु जो भी भगवान के सिवा अन्य विषयों का चिन्तन करता है, उसे अत्यंत ही पथभ्रमित समझना। और, जीव जिस-जिस योनि में जाता है, वहाँ स्त्री, पुत्र और धनादि पदार्थ मिलते ही रहते हैं, परन्तु ऐसे ब्रह्मवेत्ता सन्त का संग तथा श्रीवासुदेव भगवान का साक्षात् दर्शन एवं उनका चिन्तन तो अत्यंत दुर्लभ है। अतः जिस प्रकार विषयी जनों के अन्तःकरण में पंचविषयों का चिन्तन हुआ करता है, वैसे ही **जिसके हृदय में भगवान का अखंड रूप से चिंतन होता रहे, तो इससे बढ़कर मनुष्य-देह का अन्य कोई लाभ नहीं है! वह तो समस्त हरिभक्तों में मुखिया है।** और, उन भक्त का संपर्क शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध नामक पंचविषयों से होता है, तो भी सभी विषय भगवान सम्बंधी ही होते हैं। उसके कान अखंडरूप से भगवान की कथा सुनने के लिए तत्पर रहते हैं। उसकी त्वचा भगवान का स्पर्श करने की इच्छा रखती है, उसके नेत्र भगवान और भगवान के सन्त का दर्शन करने के लिए लालायित रहते हैं, उसकी रसना भगवान के महाप्रसाद का रसास्वादन करने के लिए उत्सुक रहती है और उसकी नासिका भगवान को समर्पित पुष्पों तथा तुलसी की सुगन्ध ग्रहण करने की इच्छुक रहती है। परन्तु वह परमेश्वर के सिवा अन्य किसी भी वस्तु को सुखदायी जानता ही नहीं है। जो भी साधक इस प्रकार का आचरण करता है, वह भगवान का एकान्तिक भक्त कहलाता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥48॥ ॥181॥

वचनामृत 49 : भगवान और मायिक आकार में भिन्नता

संवत् 1880 में फाल्गुन शुक्ला द्वितीया (3 मार्च, 1824) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार के बड़े कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी तक्रिया बिछवाकर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र

धारण किए थे और पाग में श्वेत पुष्पों का हार लटकता हुआ रखा था। उनके समक्ष मुनिमंडल तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'प्रत्यक्ष भगवान की मूर्ति तथा अन्य मायिक आकार में बहुत अन्तर है। परन्तु जो अज्ञानी तथा अतिशय मूर्ख हैं, वे भगवान तथा मायिक आकार को एकसमान समझते हैं। क्योंकि मायिक आकारों को जो भी देखनेवाले हैं, तथा उन्हीं का चिन्तन करनेवाले हैं, वे तो अनन्त कोटि कल्पपर्यन्त चौरासी लाख योनियों में भटकते फिरते हैं। और, जो भगवान के स्वरूप का दर्शन करते हैं तथा उसका चिन्तन करते रहते हैं, वे काल, कर्म और माया के बन्धन से छूटकर अभयपद प्राप्त कर लेते हैं और भगवान के पार्षद होते हैं। इसलिए, **हमारे मन को तो भगवान की कथा, कीर्तन या वार्ता अथवा भगवान के ध्यान से कभी भी तृप्ति नहीं होती। आप सबको भी इसी प्रकार जीवन बिताते रहना चाहिए।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥49॥ ॥182॥

वचनामृत 50 : रहस्य; जगत वासना से मुक्ति

संवत् 1880 में चैत्र कृष्णा द्वितीया (15 अप्रैल, 1824) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के आगे पश्चिमी द्वार की ऊपरी मंजिल के बरामदे में रात्रि के समय विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। तथा उनके समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'आज हम अपना रहस्य आप सबको अपना समझकर बताते हैं। जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में विलीन हो जाती हैं, सती और पतंगे अग्नि में भस्म हो जाते हैं और शूरवीर संग्राम में अपने प्राण न्यौछावर कर देते हैं, वैसे ही हमने भी अपनी आत्मा को एकरस परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप में विलीन कर रखा है।[29] हमने उस तेजोमय अक्षरब्रह्म में

29. श्रीहरि ने अक्षरब्रह्म के साथ इस प्रकार से अपनी आत्मा को विलीन करके रखा है, वह अन्य जीवों, ईश्वरों तथा अक्षरमुक्तों से भी उनका अक्षरब्रह्म के प्रति अनन्य प्रेम एवं एकता का सूचक है। अक्षरब्रह्म गुणातीतानंद स्वामी के जीवन-चरित्र में इस प्रकार की एकता की अनेक घटनाएँ उल्लिखित हैं।

रहनेवाले मूर्तिमान पुरुषोत्तम भगवान तथा उनके भक्त के साथ अखंड प्रीति जोड़ रखी है। उनके सिवा अन्य किसी भी पदार्थ में हमारी प्रीति नहीं है। हमारी ऐसी स्थिति निरन्तर रहती है। यद्यपि बाह्यरूप से हम अपने अतिशय त्याग का दिखावा नहीं करते, परन्तु अपने अन्तर-सम्मुख देखकर जब हम अन्य हरिभक्तों के अन्तर-सम्मुख देखते हैं, तो हमें ऐसा लगता है कि बड़े-बड़े परमहंस और बड़ी-बड़ी सांख्ययोगिनी स्त्रियों के हृदय में जगत के प्रति थोड़ी-बहुत आसक्ति तो दिखती है किन्तु हमारे अन्तःकरण में कभी स्वप्न में भी जगत के प्रति आसक्ति का संकल्प नहीं होता तथा कोई भी हमें भगवान तथा भगवान के भक्त की भक्ति से च्युत करने में समर्थ नहीं है, ऐसी हम में दृढ़ता है।

जब (आत्मा को) भगवान की प्राप्ति नहीं हुई थी, तब भी भगवान की शक्ति, काल और कर्म भी इस जीव का नाश नहीं कर पाए, तथा माया भी उसको अपने में विलीन नहीं कर सकी, तो अब तो भगवान की प्राप्ति हुई है, तो फिर काल, कर्म और माया की क्या मजाल है? ऐसा समझकर ही अब हमने साहस बटोरकर रखा है कि 'अब भगवान और भगवान के भक्त के सिवा अन्य किसी से भी प्रीति नहीं रखनी है।' तथा जो भक्तजन हमारी संगत में रहेंगे, उनके हृदय में भी कोई सांसारिक आसक्ति नहीं रहने देनी है। क्योंकि जिसकी हमारे जैसी आन्तरिक दृढ़ता हो, उसी के साथ हमारी पटती है। और, जिसके हृदय में सांसारिक सुख की वासना बनी रहती हो, उसके साथ हम स्नेह करने का प्रयास करें, फिर भी हमारा स्नेह उससे नहीं जुड़ सकता। **अतः हमें तो भगवान के निर्वासनिक भक्त ही प्रिय हैं, यह जो हमारे अन्तःकरण का रहस्य है, आप सभी को बता दिया।'** इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने अपने भक्तजनों की शिक्षा के लिए यह वार्ता की।

॥ इति वचनामृतम् ॥50॥ ॥183॥

वचनामृत 51 : आत्मसत्तारूप रहने के लक्षण

संवत् 1880 में चैत्र कृष्णा नवमी (22 अप्रैल, 1824) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में दक्षिणी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया लगवाकर विराजमान थे।

उनके समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने परमहंसों से प्रश्न पूछा कि 'जीव जब कभी सुषुप्ति-अवस्था में रहता है, तब उसे अतिशय सुख की अनुभूति होती है, किन्तु कभी सुषुप्ति अवस्था में रहने पर भी उसका उद्वेग नहीं मिटता, इसका क्या कारण है?' प्रश्न सुनकर बड़े-बड़े सन्तों ने इसका उत्तर देने का प्रयास किया, परन्तु वे यथार्थरूप से संतुष्ट न कर सके।

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब रजोगुण का बल बढ़ जाता है, तब सुषुप्ति-अवस्था में भी तमोगुण के साथ रजोगुण का विक्षेप रहता है, इस कारण सुषुप्ति में भी सुख नहीं रहता। **अतः जब तक गुणों का संग रहता है, तब तक कोई भी जीव सुखी नहीं रह सकता। और जब आत्मसत्तारूप रहता है, तभी सुखी रहता है।'**

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा, 'आत्मसत्तारूप रहनेवाले भक्त के कौन से लक्षण हैं?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'शिव, ब्रह्मा जैसे कोई अन्य समर्थ देव नहीं हैं। वे तो नारद जैसे महर्षियों के भी गुरु हैं, तथा वे जिस प्रकार ब्रह्मस्वरूप रहकर आचरण करते हैं, वैसा रहना दूसरों के लिए कठिन होता है। फिर भी देश, काल, क्रिया, संग, मंत्र, शास्त्र, दीक्षा और ध्यान ये आठ अशुभ हुए तो उनके योग से शिव-ब्रह्मा जैसे बड़े देवों तक को भी अन्त में अत्यन्त दुःख हुआ। अतः कोई चाहे जितना निर्गुण हो और आत्मसत्तारूप से रहता हो, उसे यदि अशुभ देशकालादि का योग उपस्थित हो गया, तो उसके अन्तःकरण में दुःख अवश्य होगा।

अतः सत्पुरुष द्वारा निर्धारित मर्यादाओं का लोप करके कोई भी सुखी नहीं हो सकता। इसलिए, जितने भी त्यागी हैं उन्हें त्यागियों के धर्मानुसार आचरण करना, गृहस्थ हरिभक्तों को गृहस्थ धर्म के अनुसार बरतना और हरिभक्त स्त्रियों को नारियों के धर्मानुसार आचरण करना चाहिए। यदि निर्धारित मर्यादाओं से न्यून आचरण किया तो भी सुख नहीं होता, और उन मर्यादाओं से अधिक आचरण किया गया, तो भी सुख नहीं मिलता। क्योंकि परमेश्वर द्वारा प्रतिपादित धर्मानुसार ही ग्रन्थ में लिखा गया होता है, तथा मर्यादापूर्ण आचरण ऐसा होता है कि पालन करनेवालों को किसी प्रकार की

बाधा उपस्थित नहीं होती एवं उस धर्म का आसानी से पालन भी किया जा सकता है। अतः कोई इसमें न्यूनाधिक आचरण करने का प्रयास करेगा, तो वह अवश्य दुःखी होगा। इसलिए, **जो सत्पुरुष की आज्ञा के अनुसार रहता हो, वही शुभ देशकालादि में रहा है। परंतु जिसने सत्पुरुष की आज्ञा के विपरीत आचरण किया, वही उसको बुरे देश-कालादि का संग लग चुका है। अतः सत्पुरुष की आज्ञा के अनुसार आचरण करनेवाला ही आत्मसत्तारूप में रहा है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥51॥ ॥184॥

वचनामृत 52 : त्यागी और गृहस्थ

संवत् 1880 में चैत्र कृष्णा एकादशी (25 अप्रैल, 1824) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन से घोड़ी पर सवार होकर श्रीलक्ष्मीवाड़ी में पधारे थे और वहाँ वेदी पर विराजमान हुए थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे, कंठ में पुष्पों का हार पहना था और पाग में फूलों का तुर्रा लगा हुआ था। उनके समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी। तथा मुनिमंडल झाँझ-मृदंग लेकर कीर्तन-गान कर रहे थे।

जब सभी मुनि कीर्तन कर चुके, तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'लीजिए, अब वार्ता करते हैं और उसे सुनिए। इस संसार में गृहस्थाश्रमी तथा त्यागी - ये दोनों के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। जो वस्तु गृहस्थ को शोभारूप होती है, वही त्यागी के लिए दूषणरूप हो जाती है; और जो त्यागी को शोभारूप होती है, वही गृहस्थ के लिए दूषणरूप हो जाती है। जो बुद्धिमान होता है वह इस रहस्य को जान पाता है, अन्य मनुष्य को इसका ज्ञान नहीं होता। अब इस बात को विस्तारपूर्वक बताते हैं।

जो गृहस्थाश्रमी है, उसके लिए तो धन, दौलत, हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस, कोठी, हवेली, स्त्री, पुत्र, मूल्यवान वस्त्र तथा आभूषण ये सभी वस्तुएँ शोभारूप होती हैं, जबकि ये सभी वस्तुएँ त्यागी के लिए दोषरूप बन जाती हैं। त्यागी को वन में रहना, बिना वस्त्र के एक कौपीनमात्र पहनकर खुले शरीर रहना, या सिर पर पाघ धारण करना, दाढ़ी-मूँछ मुँड़वाना, भगवे वस्त्र

पहनना और किसीके भी द्वारा दी गई गालियों और डाली गई धूल जैसे अपमान को सहन करना, ये ही त्यागी के लिए परम शोभारूप हैं। त्यागी की यही शोभा गृहस्थ के लिए परम दोषरूप बन जाती है। इसलिए, संसार से विरक्त होकर निकले हुए त्यागी पुरुष को यह विचार करना चाहिए कि 'मैं कौन-से आश्रम में हूँ?' इस प्रकार बुद्धिमान को विचार करना चाहिए, किन्तु मूर्ख की तरह बिना विचार किए किसी का हीन अनुकरण करने के रास्ते पर ढलते नहीं जाना।

और, जो विवेकशील है, उसे यदि कोई डाँट-फटकारकर भी उसके हित की सलाह देता है, तो वह उसका गुण ही ग्रहण करता है, किन्तु मूर्ख को अगर कोई हितकारी बात भी करता है, तो वह परेशान हो जाता है। देखिए, ये मुकुन्द ब्रह्मचारी तथा रतनजी कभी उलझन में नहीं पड़ते। अतः उनके साथ हमारी खूब पटती है। जो भक्त श्रद्धापूर्वक सेवा-चाकरी करता है, वह हमें प्रिय लगता है। यदि कोई भक्त बिना श्रद्धा के कोई भोजन लाए, तो वह हमें प्रिय नहीं लगता; और कोई वस्त्र लाए, तो ऐसे वस्त्र को धारण करना हमें प्रिय नहीं लगता; और यदि कोई बिना श्रद्धा के पूजा सामग्री लाता है, तो वह भी हमें प्रिय नहीं लगता। परन्तु श्रद्धापूर्वक जो सेवा किया करता है, वह हमें अतिशय प्रिय लगता है। और, यदि कोई भक्त श्रद्धापूर्वक भक्ति करता हो और इस बीच अगर कोई अन्य भक्त भक्ति करने आये, उस पर यदि वह ईर्ष्या करे, तो वह हमें प्रिय नहीं लगता। अतः **जो श्रद्धा सहित एवं ईर्ष्या रहित होकर भक्ति करता है, वह हमें अतिशय प्रिय लगता है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥52॥ ॥185॥

वचनामृत 53 : अपना दोष नहीं दीख पाना ही मोह

संवत् 1880 में वैशाख शुक्ला पंचमी (3 मई, 1824) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास स्थान में गद्दी-तकिया लगवाकर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'शास्त्रों में वर्णित मोह का रूप यह

है कि हृदय में जब मोह व्याप्त होता है, तब जीव को अपना अवगुण सूझता ही नहीं। अतः अपना अवगुण न सूझे, वही मोह का रूप है। और, जीवमात्र को अपने सयानेपन का अत्यंत अहंकार रहता है, परन्तु वह यह विचार नहीं करता कि मुझे अपनी आत्मा का ही पता नहीं है, कि इस शरीर में जो आत्मा है, वह काली है कि गोरी? या लम्बी है कि ठिगनी? फिर भी, मनुष्य बड़े सत्पुरुष अथवा भगवान में भी दोष देखता है तथा यह समझता है कि 'अवश्य ही ये सत्पुरुष अथवा भगवान हैं, परन्तु वे इतना ठीक नहीं करते।' किन्तु, वह मूर्ख ऐसा नहीं जानता कि 'ये भगवान तो अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में रहनेवाले सभी जीवों और ईश्वरों को हथेली में जल की बूँद के समान देखते हैं। वे अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के आधार हैं, लक्ष्मी के पति हैं, अनन्तकोटि ब्रह्मांड के कर्ता-हर्ता हैं; शेष, शारदा एवं ब्रह्मादि देव भी जिनकी महिमा का पार नहीं पाते, और निगम भी जिनकी महिमा को 'नेति-नेति' बताता है। ऐसे परमेश्वर के चरित्रों तथा भगवान की समझ में जो दोष देखता है, उसे विमुख और अधर्मी जानना तथा मूर्ख का राजा (घोर मूर्ख) समझना चाहिए।

वास्तव में भगवान तथा भगवान के भक्त की अलौकिक समझ होती है। उसे देहाभिमानी जीव कैसे समझ सकेगा? इसलिए, वह अपनी मूर्खता के कारण भगवान तथा उनके भक्तों में अवगुण देखकर विमुख हो जाता है। दूसरी ओर उन भगवान के सच्चे भक्त जो सत्पुरुष हैं, वे अलौकिक दृष्टि से युक्त आचरण करते रहते हैं।'

॥ इति वचनामृतम् ॥53॥ ॥186॥

वचनामृत 54 : सत्संग की महिमा; सत्पुरुष में आत्मबुद्धि

संवत् 1880 में जयेष्ठ शुक्ला सप्तमी (3 जून, 1824) को तृतीय प्रहर के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन से घोड़ी पर सवार होकर श्रीलक्ष्मीवाड़ी में पधारे थे। वहाँ बहुत देर तक तो घोड़ी घुमाते रहे। इसके बाद वे वाड़ी में स्थित वेदी पर विराजमान हुए। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे, मस्तक पर काले पल्ले की धोती बाँधी थी और कंठ में मोगरे के पुष्पों का हार पहना था तथा पाघ पर तुर्रा सुशोभित हो रहा था। उनके समक्ष मुनिमंडल तथा विभिन्न प्रान्तों के

हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने मुनियों से प्रश्न किया कि 'श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के बारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण भगवान ने उद्धवजी से कहा है कि 'अष्टांगयोग, सांख्य, तप, त्याग, तीर्थ, व्रत, यज्ञ और दानादि साधनों से मैं इतना वश में नहीं होता, जितना कि सत्संग द्वारा वश में हो जाता हूँ।' भगवान ने ऐसा बताया है। अतः स्पष्ट है कि समस्त साधनों की अपेक्षा सत्संग का महत्त्व अधिक है। सो समस्त साधनों की अपेक्षा सत्संग की महत्ता जिसे अधिक प्रतीत होती हो, उसके कैसे लक्षण होते हैं?'

इस प्रश्न के उत्तर में जिसको जैसा समझ में आया, उसने वैसा बताया, किन्तु कोई भी यथार्थ उत्तर न दे पाया। तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे भगवान के सन्त के साथ ही आत्मबुद्धि (गाढ़ प्रीति) है। उसी ने सत्संग को सबसे अधिक कल्याणकारी जान लिया है। जैसे कोई निःसंतान राजा को अपनी वृद्धावस्था में पुत्र प्राप्ति हुई, तो वह बड़ा होने पर उसी राजा को गालियाँ दे अथवा मूँछ ताने, फिर भी उसको, उसके प्रति दुर्भाव नहीं होता! और उसका वह पुत्र किसी लड़के को मारे-पीटे अथवा गाँव में जाकर कुछ अनीति का कर्म करे, फिर भी राजा को उसमें किसी भी प्रकार का अवगुण दिखाई नहीं पड़ता। इसका कारण यही है कि उस राजा को अपने लड़के में आत्मबुद्धि हो गई है। इस प्रकार **जिसको भगवान के भक्त में आत्मबुद्धि हुई, तो जानना चाहिए कि उसी ने समस्त साधनों की अपेक्षा सत्संग को अधिक कल्याणकारी समझ लिया है।** यह वार्ता भागवत में कही गई है -

'यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥'[30]

इस श्लोक में पूर्वोक्त वार्ता को यथार्थ रूप से बताया गया है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥54॥ ॥187॥

30. जिस पुरुष को वात, पित्त तथा श्लेष्मरूप त्रिधातुमय शरीर में आत्मबुद्धि है, स्त्रीपुत्रादि में ममत्व-बुद्धि है तथा भूमि के विकारभूत प्रतिमादिक में पूजनीय देवताबुद्धि है और जल में तीर्थबुद्धि है, वैसी ही उस पुरुष की आत्म-बुद्धि आदिक चारों बुद्धियाँ भगवान के एकान्तिक ज्ञानी भक्त में न हों तो उसे पशुओं में भी कनिष्ठ खर जानना चाहिए। (श्रीमद्भागवतम् : 10/84/13)

वचनामृत 55 : स्वर्णरूप चैतन्य में चांदीरूप मायिक गुणों की मिलावट

संवत् 1880 में ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी (7 जून, 1824) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर नवानगर की सुनहरे पल्ले की श्वेत पाग बाँधी थी, सफ़ेद पिछौरी ओढ़ी थी तथा श्वेत धोती धारण की थी। श्रीजीमहाराज के समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी। उस समय मुनिगण झाँझ-मृदंग बजाकर कीर्तन कर रहे थे।

जब मुनिगण भजन-कीर्तन कर चुके तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जैसा जिसका अंग[31] हो, वैसा ही सत्संग होने के पहले भी कुछ थोड़ा-बहुत अवश्य रहा होगा। इसलिए, आज जिनका जैसा अंग रहा हो, वे सब सभा में बतायें। सबसे पहले हम अपने अंग की बात बताते हैं, उसे सुनिए।

जब हमारी बाल्यावस्था थी, तब भी हमें देव-मन्दिर में दर्शन के लिए जाना, कथा-वार्ता सुनना, साधुओं का सत्संग करना, तीर्थयात्रा करने जाना आदि बहुत प्रिय लगता था। जब हम गृह-त्याग करके निकले उस समय तो हमें वस्त्र रखना भी पसन्द नहीं था और वन में ही रहना अच्छा लगता था। उस समय भय तो लेशमात्र लगता ही नहीं था। वन में भी बड़े-बड़े सर्प, सिंह, हाथी आदि अनेक प्रकार के प्राणी दिखाई पड़े, परन्तु हमारे हृदय में मृत्यु का डर तनिक भी नहीं लगता था। इस प्रकार हम महावन में सदैव निर्भय रहा करते थे। इसके पश्चात् तीर्थों में घूमते हुए हम श्रीरामानन्द स्वामी के पास आए। जब श्रीरामानन्द स्वामी अन्तर्धान हुए, तब सत्संग का हित करने की दृष्टि से हम सबसे हिलमिलकर रहने लगे। परन्तु अन्तःकरण में हमें अखंडरूप से यह विचार बना रहता है कि जब किसी मनुष्य को मृत्यु के समय भूमि पर लिटा दिया गया हो, तब उस मनुष्य से सभी को निजी स्वार्थ की कामनाएँ टल जाती हैं और उस मरणोन्मुख मनुष्य का भी मन संसार से उदास हो जाता है; वैसे ही हमें हमारी ओर से तथा दूसरों की ओर से ऐसी

31 **अंग :** अध्यात्म की पुष्टि के लिए आवश्यक गुण, जिनके बिना रहा न जाए।

ही उदासीनता सदैव रहा करती है, जैसी किसी को अपनी अन्त अवस्था में रहती है। तथा जितने भी मायिक पदार्थमात्र हैं, वे सभी नाशवान तथा तुच्छ दिखाई देते हैं, परन्तु हमें ऐसा भेद नहीं दिखाई देता कि 'अमुक पदार्थ अच्छा है और अमुक पदार्थ खराब है।' जितने भी मायिक पदार्थ हैं, वे सब एक-समान ही दिखाई पड़ते हैं। जैसे कांख के रोएँ में कौन अच्छा और कौन बुरा कहा जाएगा? वे तो सभी एकसमान ही हैं! वैसे ही हमारे मन में सभी मायिक पदार्थ एकसमान ही प्रतीत होते हैं। हालाँकि हम पदार्थों के विषय में कभी-कभी 'यह अच्छा, यह बुरा' आदि अभिप्राय व्यक्त करते हैं, किन्तु वह भगवान के भक्त को अच्छा लगे, इसी कारण कहते हैं। यह अच्छा भोजन है, अच्छा वस्त्र है, अच्छा गहना है, अच्छा घर है, अच्छा घोड़ा है, ये सुन्दर पुष्प हैं इत्यादि वचन भक्त का मन रखने की दृष्टि से ही कहते हैं।

हमारी समस्त क्रियाएँ भगवान के भक्त के लिए हैं, परन्तु अपने सुख के लिए हम एक भी क्रिया नहीं करते। और, भगवान के एकान्तिक भक्त का मन भगवान के स्वरूप का ही चिन्तन किया करता है। उसकी वाणी भगवान के यश का ही गान किया करती है, उसके हाथ भगवान तथा भगवान के भक्त की सेवा-परिचर्या में लगे रहते हैं और उसके कान भगवान के यश को निरन्तर सुनते रहते हैं। ठीक उसी प्रकार हम जिन क्रियाओं को भगवान की भक्ति जानकर करते हैं, वे क्रिया ही हुआ करती हैं। अतः सिवा भगवान की भक्ति के, हमें अन्य सभी पदार्थों में उदासीनता ही बनी रहती है। जैसे कोई बड़ा राजा हो और उसका एक ही पुत्र हो, और राजा की उम्र साठ-सत्तर वर्ष की हो चुकी हो, उन्हीं दिनों में यदि उस राजा का पुत्र मर जाए, तो राजा का मन समस्त पदार्थों से पूर्णतः उदास हो जाएगा। उसी तरह हमें भी खाते हुए, पीते हुए, घोड़े पर चढ़ते हुए और प्रसन्न-अप्रसन्न अवस्था में हर समय मायिक पदार्थों से सदैव उदासीनता ही बनी रहती है और अन्तःकरण में ऐसा विचार रहता है कि 'हम तो देह से पृथक् आत्मा हैं, परन्तु देहरूप नहीं हैं।'

इसके साथ ही हमें यह विचार भी बना रहता है कि आत्मा में कभी मायाजन्य रजोगुण एवं तमोगुण आदि का कुछ मायिक अंश शामिल न हो जाए; इसीलिए हर घड़ी इस बात से सावधान रहते हैं। जैसे कोई साढ़े सोलह

अंशवाला शुद्ध स्वर्ण लेकर सुनार की दुकान पर जाए, वहाँ उसकी नज़र तनिक-सी भी चूक गई तो सुनार उसमें से कुछ सोना निकालकर चाँदी मिला देता है। वैसे ही, हृदयरूपी सुनार की दुकान है और उसमें मायारूपी सुनार स्वयं बैठा हुआ संकल्परूपी हथौड़ा लगातार चलाता रहता है। और, जैसे उस सुनार की स्त्री और लड़के को भी थोड़ा-सा भी मौका मिल जाय, तो वे भी जिस तरह छल-प्रपंच करके उस सोने में से कुछ सोना चुरा लेते हैं, वैसे ही अन्तःकरण तथा इन्द्रियाँ ये सब मायारूपी सुनार के स्त्री-पुत्रादि हैं, जो स्वर्णरूप चैतन्य में तीन गुणों, पंचविषयों में आसक्ति, देहाभिमान तथा काम-क्रोध-लोभादिरूपी चाँदी को मिलाकर ज्ञान-वैराग्यादि गुणरूप सोने को निकाल लेते हैं। इस प्रकार वह सोना केवल बारह अंश का ही रह जाता है। उसे पुनः तपा-तपा करके पुनः सोलह अंश करना पड़ता है।

ठीक उसी तरह इस जीव में रजोगुण एवं तमोगुणरूपी जो चाँदी मिली हुई है, उसे पिघलाकर निकाल देना, फिर एक स्वर्णरूपी आत्मा ही रहे, लेकिन उसमें अन्य किसी प्रकार के मायिक गुणों की मिलावट कुछ न रह पाए; इस प्रकार के विचार में हम रात-दिन लगे रहते हैं। यह हमने अपना अंग आपको बता दिया, अब जिस-जिसकी जो भी अंग हो, हमें बताएँ।' तब सन्तमंडल ने कहा कि, 'हे महाराज! आपमें मायिक गुणों की मिलावट हो ही नहीं सकती। आप तो कैवल्यमूर्ति हैं। किन्तु यह जो आपने आपके अंग की बातें कही हैं और आपने जो विचार प्रकट किया है, वह हमारी प्रेरणा के लिए ही है। अतः ऐसा विचार तो हमें रखना चाहिए।' इसके पश्चात् श्रीजी-महाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने निवास स्थान में पधारे।

॥ इति वचनामृतम् ॥55॥ ॥188॥

वचनामृत 56 : कुसुंभी वस्त्र के दृष्टांत से विषयासक्ति का त्याग

संवत् 1881 में आषाढ़ शुक्ला पंचमी (1 जुलाई, 1824) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया लगवाकर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनिमंडल तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

साधुवृंद दुक्कड़-सरोद लेकर भजन-कीर्तन कर रहा था। कीर्तन के बाद श्रीजीमहाराज इस प्रकार बोले कि 'इस भजन को सुनने से हमारी आत्मा विचारों में तल्लीन हो गई और उससे ऐसा प्रतीत हुआ कि भगवान में अतिशय प्रीति रखना बहुत बड़ी बात है। बाद में भगवान में प्रीति रखनेवाले गोपालानन्द स्वामी आदि हरिभक्तों का स्मरण हो आया और उन सबके अन्तःकरण, आत्मा तथा भगवान में उनकी प्रीति आदि दिखाई दिए। फिर हमने हमारी आत्मा का भी निरीक्षण किया, तो हमें लगा कि भगवान के प्रति जितनी हमारी प्रीति बनी हुई है, वैसी प्रीति दूसरों की नहीं दीख पड़ी। वह इसलिए कि जब कुछ अशुभ देश-कालादि का योग उपस्थित होता है, तब उन सभी के बड़े होने के बावजूद, उनकी बुद्धि भ्रमित हो जाती है। उस समय ऐसा मालूम होता है कि आखिर तो उनकी नींव ही कच्ची है! अतः उनको यदि अशुभ देश-कालादि का योग पूरी तरह बन गया, तो भगवान में लगी हुई उनकी प्रीति का कोई ठिकाना नहीं रह जाता। इसलिए उन सभी को दृष्टिगत रखते हुए हमें अपनी तरफ़ का जो कुछ है, अच्छा लगता है कि 'चाहे कैसा भी अशुभ देशकालादि का योग उपस्थित हो, परन्तु हमारा अन्तःकरण किसी भी प्रकार से बदल नहीं सकता।'

वास्तव में भगवान के प्रति उसी पुरुष की प्रीति सच्ची है, जिसको भगवान के सिवा अन्य किसी भी पदार्थ से लगाव ही न रहे! और, समस्त सद्ग्रन्थों का भी यही रहस्य है कि भगवान ही परम आनन्ददायक हैं और वे ही परम सार भी हैं। तथा उन परमात्मा के सिवाय जो-जो अन्य पदार्थ हैं वे अत्यंत तुच्छ हैं तथा अत्यंत सारहीन हैं।

और, जिसे भगवान के बिना अन्यत्र लगाव बना रहता है, उसका आधार बहुत ही कच्चा है। जैसे कुसुम्भी वस्त्र देखने में तो अति सुन्दर दिखाई पड़ता है, परन्तु जब उस पर पानी पड़ जाता है और उसे धूप में सुखाने के लिए रखते हैं, तब वह बिल्कुल निरुपयोगी हो जाता है और सफ़ेद कपड़े जैसा भी नहीं रह पाता। वैसे ही जिसे पंचविषयों में आसक्ति हो, फिर जब उसे कुसंग का योग होता है, तब उसका कोई ठिकाना नहीं रह पाता। अतः भगवान के भक्त को भगवान को प्रसन्न करने हेतु पंचविषयों की आसक्ति का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए और भगवान के प्रति विद्यमान प्रीति में बाधक ऐसे

किसी भी पदार्थ से लगाव नहीं रखना चाहिए।'

॥ इति वचनामृतम् ॥56॥ ॥189॥

वचनामृत 57 : आत्मनिष्ठा का प्रयोजन और सच्चा त्याग

संवत् 1881 में आषाढ़ शुक्ला षष्ठी (2 जुलाई, 1824) को सन्ध्या-आरती के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उनके मस्तक पर श्वेत पाग पुष्पों के तुर्रों सहित सुशोभित लग रही थी। उन्होंने श्वेत चादर ओढ़ी थी और सफ़ेद धोती धारण की थी। श्रीजीमहाराज के समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी। उस समय मशाल का प्रकाश हो रहा था। तथा मुनिमंडल दुक्कड़-सरोद लेकर भगवान के कीर्तन का गान कर रहा था।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'सुनिए, एक बात कहते हैं। जब आप लोग भजन कर रहे थे, तब उन्हें सुनते समय हमने जो विचार किया है, उसे बताते हैं। वह यह है कि भगवान में प्रीति करें, तो आत्मसत्तारूप रहकर ही करें। वह सत्तारूप आत्मा कैसी है ? तो जिसमें माया एवं मायाजन्य तीन गुण-रूप कार्य और देह, इन्द्रियाँ एवं अन्तःकरण आदि का कोई आवरण नहीं है। और, कदाचित् कभी-कभी उस आत्मा में कुछ आवरण-सा दिखाई पड़ता है, किन्तु वह तो अज्ञानता के कारण है। परन्तु जिसने ज्ञान-वैराग्य द्वारा उस आवरण को सर्वथा हटा दिया है, उसे तो अपनी आत्मा में किसी भी प्रकार का आवरण नहीं दिखता। वस्तुतः आत्मारूप रहना, वह केवल ब्रह्म होकर मस्त होने के लिए नहीं है; स्वयं आत्मारूप आचरण करना उसका प्रयोजन यह है कि 'यदि मैं आत्मारूप रहता हूँ, तो मुझमें किसी मायिक आवरण का विक्षेप नहीं है, तो फिर आत्मा से परे परमात्मा नारायण वासुदेव में माया का लेशमात्र भी अंश किस प्रकार हो सकता है ?' इस प्रकार भगवान के प्रति किसी भी प्रकार की दोषभावना न रहे, इस प्रयोजन से भक्त को आत्मनिष्ठा सुदृढ़ करके रखनी चाहिए।

और, उस आत्मा के प्रकाश में विचार को स्थापित करके जो कोई भी आत्मा को दूषित करने के लिए आये, तो उसका विनाश कर डालना।

जैसे दीपक के प्रकाश में छिपकली अपने सामने आनेवाले प्रत्येक जन्तु का नाश कर डालती है, वैसे ही आत्मा के प्रकाश में रहनेवाला ज्ञानरूपी विचार आत्मेतर अन्य पदार्थों का नाश कर डालता है।

और, परमेश्वर से जिसको प्रगाढ़ स्नेह हो, उसे तो परमेश्वर के सिवा अन्य किसी भी पदार्थ से लगाव नहीं होता। तथा परमेश्वर के सिवा अन्य जो भी पदार्थ अधिक रुचिकर लगे, उसका अतिशय त्याग करना, वही सच्चा त्याग है; फिर वह पदार्थ छोटा हो या बड़ा भी क्यों न हो? परन्तु उस पदार्थ का त्याग करना ही त्याग कहलाता है। तथा भगवान के भजन में जो पदार्थ बाधक बनता हो, उसको न छोड़कर यदि ऊपर से किसी ने चाहे कितना ही अधिक त्याग कर दिया, तो उसका वह त्याग वृथा ही है। ऐसा कभी मत समझना कि 'अच्छा पदार्थ ही भगवान के भजन में बाधक बन सकता है, और तुच्छ पदार्थ बाधा नहीं डाल सकता।' वह तो जीव का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि किसी को मीठा अच्छा लगता है, किसी को नमकीन पसंद है, किसी को खट्टा और किसी को कड़ुआ स्वाद पसंद होता है; वैसे जीव की तो ऐसी तुच्छ बुद्धि है, सो वह तुच्छ पदार्थ को भी भगवान की अपेक्षा अधिक प्रिय समझता है। और जब भगवान की महत्ता को देखते हैं, तब तो यह बात अच्छी तरह समझ में आ जाती है कि ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो भगवान की महत्ता के कोटि वें भाग का भी पासंग हो सके। यदि ऐसे भगवान को यथार्थरूप से जानकर उनसे स्नेह किया गया, तो पिंड-ब्रह्मांडादि मायिक पदार्थों में कहीं भी प्रीति रहेगी ही नहीं, और समस्त मायिक पदार्थ तुच्छ होकर रह जाएँगे।

और, जब चित्रकेतु राजा को उन भगवान की ऐसी महिमा का यथार्थरूप से ज्ञान हो गया, तब उसने एक करोड़ स्त्रियों तथा समस्त पृथ्वी के चक्रवर्ती राज्य का भी परित्याग कर दिया। उसे यह भी अन्तर्ज्ञान हुआ कि 'उन भगवान के आनन्द के आगे एक सौ लाख स्त्रियों से मिलनेवाले सुख की क्या गणना हो सकती है? तथा चक्रवर्ती राज्य के सुख की भी क्या गणना हो सकती है? भगवद् भक्तिजन्य आनन्द के आगे इन्द्रलोक तथा ब्रह्मलोक से मिलनेवाले सुख की भी क्या तुलना हो सकती है?'

ऐसे भगवान को छोड़कर जो अन्य पदार्थों से प्रीति करता है, वह तो अतिशय तुच्छ बुद्धिवाला है। जैसे कुत्ता सूखी हड्डी को एकान्त में ले जाकर

उसे चबाता है और उसमें सुख मानता है, वैसे ही मूर्ख जीव दुःख में सुख मानकर तुच्छ पदार्थों में आसक्त रहता है।

और, यदि कोई भगवान का भक्त कहा जाता हो, परन्तु वह यदि भगवान की अपेक्षा अन्य पदार्थों से अधिक लगाव रखता हो, तो वह केवल बिल्ली भगत ही है। तथा जो भगवान का यथार्थ भक्त होता है, उसे तो भगवान के सिवा अन्य कोई भी पदार्थ प्रिय ही नहीं लगता। भगवान का जो भक्त ज्ञान, वैराग्य, भक्ति एवं धर्म से युक्त है, वह यह समझता है कि जो शूरवीर है, वह युद्ध के समय शत्रु के सम्मुख जाकर चुनौती देता है, लेकिन शत्रु से भयभीत नहीं होता। और, वही तो सच्चा शूरवीर कहा जाता है। यदि शूरवीर हो, परन्तु युद्ध के समय काम नहीं आया, अथवा अपने पास अत्यधिक धन हो, परन्तु वह समयपर खर्च करने पर उपयोग में नहीं आया, तो दोनों ही व्यर्थ एवं निरर्थक हैं। उसी प्रकार मुझे भगवान मिले हैं और जो कोई जीव मेरा संग करता है, उसके आगे मैं यदि कल्याण की बातें न करूँ, तो मेरे ज्ञान का क्या प्रयोजन?' ऐसा विचार करके, उपदेश करते समय यदि कोई मुश्किलें खड़ी हो गईं तो भी परमेश्वर की बात करने में कभी कायरता नहीं रखनी चाहिए।'

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज ने तुलसीदास के तीन पदों का गान कराया। एक तो **'जाकी लगन राम सों नाहीं,'** दूसरा, **'एही कह्यो सुनूँ वेद चहूँ'** तथा तीसरा **'जाके प्रिय न राम-वैदेही।'** इन तीनों पदों[32] का गान कराने के पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो बातें इन पदों में बताई गई हैं, उन्हीं के अनुसार हमें रहना है। उस प्रकार साधना करते हुए कदाचित् कोई अपूर्णता रह गयी और यदि देहत्याग का समय आ गया, तो भी कौन सा डर है? हमें तो मरकर नरक में या चौरासी लाख योनियों में नहीं जाना पड़ेगा अथवा भूत-प्रेत की योनियों में भी नहीं रहना पड़ेगा। यदि हमें खराब से खराब शरीर भी मिला, तो वह भी इन्द्र या ब्रह्मा के सदृश तो होगा ही, किन्तु उससे निम्न देह तो हमें नहीं मिलेगी। इसलिए, निर्भय होकर भगवद्भजन करते रहना चाहिए।' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज मुकुन्द ब्रह्मचारी के साथ भोजन के लिए पधारे, जो उन्हें बुलाने के लिए आए थे।

॥ इति वचनामृतम् ॥57॥ ॥190॥

---

32. देखिए परिशिष्ट : 6

वचनामृत 58 : सम्प्रदाय की पुष्टि

संवत् 1881 में श्रावण शुक्ला चतुर्थी (29 जुलाई, 1824) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया लगवाकर विराजमान थे। श्रीजीमहाराज ने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनिमंडल तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि 'जो-जो आचार्य हुए हैं, उनके सम्प्रदायों की पुष्टि दीर्घकाल तक किन उपायों द्वारा होती रही है?'

उत्तर में मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'एक तो सम्प्रदाय सम्बंधी ग्रन्थ, दूसरा शास्त्रोक्त वर्णाश्रम धर्म तथा तीसरी अपने इष्टदेव के प्रति अतिशय दृढ़ता, इन तीन उपायों के द्वारा अपने सम्प्रदाय की पुष्टि होती रहती है।' यही प्रश्न श्रीजीमहाराज ने ब्रह्मानन्द स्वामी तथा नित्यानन्द स्वामी से भी पूछा, तो उन्होंने भी यही उत्तर दिया।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'लीजिए, इस प्रश्न का उत्तर हम देते हैं। सम्प्रदाय की पुष्टि इस प्रकार से होती है कि जिस सम्प्रदाय के जो इष्टदेव हों, उनका जिस प्रयोजन से पृथ्वी पर जन्म हुआ हो तथा जन्म-धारण करके उन्होंने जो-जो चरित्र किए हों और जो-जो आचरण किए हों, उन चरित्रों में धर्म भी सहजभाव से आ जाता है और उन इष्टदेव की महिमा भी आ जाती है। इसलिए, अपने इष्टदेव के जन्म से लेकर देहोत्सर्ग पर्यन्त के चरित्रों के शास्त्र द्वारा सम्प्रदाय की पुष्टि होती है। वह शास्त्र संस्कृत में हो या किसी अन्य प्राकृत भाषा में, परन्तु वही ग्रन्थ सम्प्रदाय की पुष्टि करता है। उसके सिवा कोई अन्य ग्रन्थ अपने सम्प्रदाय की पुष्टि नहीं करता। जैसे, श्रीरामचन्द्रजी के उपासकों के लिए वाल्मीकि रामायण द्वारा ही अपने सम्प्रदाय की पुष्टि होती है तथा श्रीकृष्ण भगवान के उपासकों के लिए भागवत के दशम स्कन्ध द्वारा ही स्व-सम्प्रदाय की पुष्टि होती है, परन्तु श्रीरामचन्द्रजी के उपासकों तथा श्रीकृष्ण के उपासकों के लिए अपने-अपने सम्प्रदायों की पुष्टि वेदों द्वारा संभव नहीं होती। अतः अपने-अपने सम्प्रदायों की रीति सम्बंधी जो शास्त्र होता है, भविष्य में वही अपने-अपने सम्प्रदायों की पुष्टि करता रहता है।'

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज ने मुक्तानन्द स्वामी को सम्बोधित करके कहा कि 'आप भी स्व-सम्प्रदाय तथा अपने इष्टदेव सम्बंधी वाणी तथा शास्त्र की ही जीवन पर्यन्त रचना करते रहना। जब तक आपका शरीर बना रहे, तब तक आपके लिए यही आज्ञा है।' श्रीजीमहाराज के इस वचन को मुक्तानन्द स्वामी ने अत्यन्त आदरपूर्वक शिरोधार्य किया तथा दोनों हाथ जोड़कर श्रीजीमहाराज को प्रणाम किया।

॥ इति वचनामृतम् ॥58॥ ॥191॥

वचनामृत 59 : परम कल्याण

संवत् 1881 में श्रावण शुक्ला द्वादशी (6 अगस्त, 1824) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के बरामदे में पलंग पर पूर्वाभिमुख होकर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'चारों वेद, पुराण, तथा इतिहास आदि सभी ग्रंथों में यही बात कही गई है कि भगवान तथा भगवान के संत ही कल्याणकारी हैं।' और, भगवान के जो संत हैं, वह तो भव-ब्रह्मादि देवों से भी अधिक हैं। अत: **भगवान तथा भगवान के सन्त की जब प्राप्ति हुई, तब उस जीव के लिए उससे बढ़कर दूसरा कोई कल्याण ही नहीं है, यही परम कल्याण है। और, भगवान के सन्त की सेवा तो अत्यधिक पुण्यवान आत्मा को ही प्राप्त होती है, किन्तु अल्प पुण्यवाले को यह सेवा नहीं मिलती। इसलिए, भगवान के सन्त के प्रति ऐसा स्नेह-भाव रखना चाहिए, जैसा स्नेह अपनी स्त्री से है, या पुत्र से है, अथवा माता-पिता और भाई से है। ऐसे स्नेह से जीव कृतार्थ हो जाता है।** और, संसार में अपने स्त्री-पुत्रादि चाहे कुपात्र और कुलक्षण वाले ही क्यों न हों, फिर भी उनके दुर्गुणों पर किसी प्रकार ध्यान नहीं देते; जबकि भगवान के भक्त समस्त शुभगुणों से युक्त होते हैं; फिर भी यदि उन्होंने कुछ तनिक-सा भी कटु वचन बोल दिया, तो उसकी चुभन जिसे जीवन की अन्तिम साँस तक खटकती रहे; ऐसी वृत्ति जिसकी है, उसे अपने सम्बंधीजनों के जैसा स्नेह भगवान के उन

भक्त पर भी है, ऐसा कहा ही नहीं जा सकता। इसलिए, उसका कल्याण भी नहीं होता। और, सन्त की महिमा तो हमने आगे बताई, ऐसी अपार है। ऐसे सन्त तथा भगवान की प्राप्ति हुई है फिर भी कुछेक ऐसे भी हैं जिनका मन विचलित सा रहता है कि 'मेरा कल्याण होगा या नहीं होगा?' इस दुविधा का कारण क्या है? तो उस जीव को पूर्वजन्म में भगवान या भगवान के सन्त की प्राप्ति हुई ही नहीं थी तथा उनकी सेवा भी उसने नहीं की थी। उसे तो इस जन्म में ही सत्संग का प्रारम्भ हुआ है, जो आनेवाले जन्म में फलीभूत होगा। और, जिसे पूर्वजन्म में भगवान या भगवान के भक्त की प्राप्ति हुई होगी और उसने उनकी सेवा की होगी, उसे इस जन्म में भगवान या भगवान के भक्त से स्नेह मिटता ही नहीं, तथा उसे भगवान के निश्चय में भी अस्थिरता नहीं होती। कदाचित् उसमें काम, क्रोध तथा लोभ सम्बंधी संकल्प का विक्षेप होता रहे, किन्तु भगवान सम्बंधी निश्चय उसके हृदय से कभी नहीं मिटता। सो किसी के बुरे वचनों से निश्चय नहीं मिटे, तो उसमें कहना ही क्या है? अरे! उसे तो यदि अपना मन भी निश्चय में डगमगाहट कराए, फिर भी वह निश्चय से विचलित नहीं होगा। उसकी दृढ़ता कैसी है? तो जैसी नाथभक्त[33] की है या जैसी विष्णुदास[34] की थी, या जैसी हिमराज शाह[35] की थी या जैसी काशीदास[36] की है या जैसी भालचन्द्र[37] सेठ की थी या जैसी दामोदर[38] की है, वैसी दृढ़ता यदि उसमें रहे तो समझना चाहिए कि यह भगवान का पूर्वजन्म का भक्त है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥59॥ ॥192॥

वचनामृत 60 : विक्षेप मिटाना तथा पक्ष रखना

संवत् 1881 में श्रावण कृष्णा चतुर्थी (14 अगस्त, 1824) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत पाग बाँधी

33. कणभा गाँव के वैश्य भक्त।
34. डभाण के वैश्य भक्त।
35. सुन्दरियाणा के वणिक भक्त।
36. बोचासण के वैश्य भक्त।
37. सूरत के वणिक भक्त।
38. अहमदाबाद के वैश्य भक्त।

थी, सफ़ेद पिछौरी ओढ़ी थी तथा श्वेत धोती धारण की थी। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ कीजिए।' तब मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न किया कि 'हे महाराज! इस संसार में कितने ही प्रकार के विक्षेप उपस्थित होते हैं। उस विक्षेप के समय भगवान के भक्त को किस प्रकार की समझ रखनी चाहिए, ताकि उसके अंतर में सुख बना रहे ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसके उत्तर में तो हमें जैसी अनुभूति है, वैसा कहते हैं कि, **अपनी आत्मा इस देह से पृथक् रही है, ऐसा आत्मा का निरन्तर आलोच रखे, तथा मायिक पदार्थमात्र के नश्वर होने का अनुस्मरण रखे, तथा भगवान के माहात्म्यज्ञान का अभिसंधान रखे, तो इन तीनों साधनों से उसे कोई भी विक्षेप बाधक नहीं बन पाता।** और, जब कभी किसी प्रकार के विक्षेप के कारण चित्त की प्रवृत्ति के अनुसार बाह्यरूप से विक्षेप-सा दिखाई पड़े, किन्तु उस विक्षेप का अपनी चैतन्यरूप आत्मा में कोई दाग नहीं लगता। यह कैसे मालूम होता है ? तो नींद के समय बाह्य विक्षेप कभी स्वप्न में दिखाई ही नहीं देता। और, जो भी कुछ विक्षेप भीतर प्रवेश कर गया हो, वह तो तीनों अवस्थाओं में प्रतीत होता है। इसलिए, हम समझते हैं कि यदि विक्षेप का प्रभाव स्वप्न अवस्था तक नहीं पहुँचा, तो मान लो कि संसार का विक्षेप चैतन्यावस्था में किसी भी प्रकार से लागू नहीं हुआ है!

और, भगवान के किसी भी भक्त को किसी भी प्रकार के दुःख का विक्षेप हुआ हो, तो उस विक्षेप का प्रभाव हमें अन्तःकरण में अच्छी तरह प्रतीत होता है। किन्तु ऐसा नहीं कि वह प्रतीत नहीं होता। हाँ, यदि कोई रघुनाथदास जैसा विमुख पुरुष हो, तो उसे भक्त के दुःख से दुःख नहीं पहुँचता। जैसे कि जब रामानन्द स्वामी ने देहोत्सर्ग किया तब समस्त सत्संगीजन शोकमग्न हुए किन्तु रघुनाथदास को लेशमात्र भी शोक नहीं हुआ। बल्कि उस समय तो वह हँसता हुआ दूसरों के साथ बातें कर रहा था! अतः जब भगवान का भक्त विपत्तिग्रस्त हो जाए, तो उस समय जो चांडाल और विमुख होगा, उसे दुःख नहीं होता, परन्तु भगवान के भक्त को किसी भी हरिभक्त के दुःख से अवश्य ही व्याकुलता होती है।

और, यदि कोई भगवान के भक्त की हत्या कर रहा हो, या उसे कोई

दुःख देता हो, ऐसी स्थिति में यदि कोई पुरुष उस भगवान के भक्त को बचाने के लिए बीच में आकर मर भी जाता है, या घायल भी हो जाता है तो उसके सम्बंध में शास्त्रों में कहा गया है कि इस प्रकार प्राणाहुति देने तथा आहत होने से उसके ब्रह्महत्यादि पंचमहापाप मिट जाते हैं। भगवान के भक्त का पक्ष रखने का ऐसा प्रताप है।

और, जिसे भगवान के भक्त का हितकारी वचन भी बाण की तरह हृदय में चुभता हो तथा वैर-भाव की ऐसी ग्रंथि पड़ जाए, जो उसके जीवित रहने तक वह नष्ट न हो पाए; ऐसा जो चांडाल-सदृश जीव हो, वह यदि धर्मयुक्त, त्यागयुक्त तथा तपस्वी भी क्यों न हो, उसका सब कुछ वृथा है। इसके अतिरिक्त अन्य भी कोटि उपाय क्यों न करे, पर उसकी आत्मा का कभी भी कल्याण नहीं होगा।

और, इस संसार में जैसे कोई स्त्री अपने पति तथा अन्य पुरुष के प्रति समान रूप से स्नेह-भाव रखती हो, तो उसे वेश्या की भाँति दुष्ट स्त्री कहा जाता है; वैसे ही इस संसार में जो पुरुष ऐसा कहता है कि 'अपने लिए तो सभी साधु एक समान हैं, इनमें से किसको अच्छा और किसको बुरा कहें?' जो ऐसी समझ रखता हो, वह यदि सत्संगी कहलाता है, तो भी उसे विमुख ही समझना चाहिए। कोई पुरुष ऐसा मानता है कि 'यदि हम कुछ उलटा-सुलटा बोलेंगे, तो लोग हमें गलत समझेंगे। इस प्रकार यदि कोई मनुष्य अपनी सज्जनता जताने के लिए भगवान या भगवान के भक्त के विरुद्ध किसी के अनुचित वचनों को सुनता रहता है, तो सत्संगी कहलाने पर भी उसे विमुख समझना चाहिए। और, जिस प्रकार अपने सम्बंधियों, स्नेहीजनों अथवा माता-पिता के प्रति पक्षपात की भावना रहती है, वैसे ही भगवान के भक्त का भी पक्ष दृढ़तापूर्वक रखना चाहिए। और, **यदि भगवान के भक्त के साथ किसी प्रकार का विक्षेप हो जाए, तो जल में लकीर की तरह उसको समाप्त करके, उसके साथ पुनः एकताबद्ध हो जाए किन्तु वैरभाव न रखे, वही भगवान का यथार्थ भक्त कहलाता है।'**

इतनी वार्ता करने के पश्चात् श्रीजीमहाराज इस प्रकार बोले कि 'मैं तो दत्तात्रेय, जड़भरत, नारद तथा शुकजी के सदृश दयावान हूँ। एक समय जब मैं पूर्वदेश (जगन्नाथपुरी) में नागा बाबाओं और वैरागियों की जमात के

साथ रहा था, तब सभी वैरागियों ने मुझसे कहा कि 'चौलाई की हरी भाजी तोड़ो।' मैंने कहा कि 'इसमें तो जीव है, उसे हम नहीं तोड़ेंगे।' इस पर एक वैरागी ने म्यान से तलवार निकालकर डाँट-डपट की। फिर भी, हमने हरी भाजी नहीं तोड़ी। ऐसा हमारा दयामय स्वभाव है। फिर भी यदि कोई पुरुष भगवान के भक्त को क्रूरदृष्टि से देखता हो और वह अपना स्वजन तथा स्नेही व्यक्ति ही क्यों न हो, तो भी हमें ऐसा मनोभाव हो आता है कि उस दुःख देनेवाले की आँखें फोड़ डालें और यदि वह हाथ द्वारा भगवान के भक्त को दुःखित करे, तो उसके हाथ काट डालें।' ऐसा उसके प्रति दुर्भाव हो जाता है। उस समय तो हमें कोई दयाभाव नहीं रहता। और **जिसके हृदय में भगवान तथा भगवान के भक्त के प्रति इस प्रकार की पक्ष की भावना रहती हो, वही भगवान का पूर्ण भक्त कहलाता है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥60॥ ॥193॥

वचनामृत 61 : पक्का सत्संगी

संवत् 1881 में श्रावण कृष्णा सप्तमी (17 अगस्त, 1824) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर सुनहरा पल्लेदार श्वेत शेला बाँधा था, दूसरा सफ़ेद शेला ओढ़ा था, श्वेत धोती धारण की थी और मोगरे के फूलों के हार पहने थे। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसमें तीन गुण हों वह पक्का सत्संगी कहलाता है। वे तीन गुण कौन-से हैं? तो पहली बात यह है कि अपने इष्टदेव ने जो नियम धारण करवाये हों, उन्हें अत्यंत दृढ़तापूर्वक अपना सिर देकर के भी पालन करता रहे, परन्तु उस धर्मनिष्ठा का कभी भी परित्याग न करे। दूसरी बात यह है कि उसे भगवान के स्वरूप का निश्चय अत्यंत दृढ़तापूर्वक हो; उसमें यदि कोई संशय उत्पन्न करना चाहे, तो भी उसे सन्देह उत्पन्न न हो, तथा अपना मन भी संशय उत्पन्न करना चाहे, तो भी कोई संशय न हो, ऐसा अडिग निश्चय हो। एवं तीसरा अपने इष्टदेव का भजन करनेवाले सत्संगी वैष्णवजनों का जो पक्ष ग्रहण करें; जैसे माता-पिता

अपने पुत्र-पुत्री का पक्ष रखते हैं, तथा जैसे पुत्र अपने पिता का पक्ष रखता है, और स्त्री जैसे अपने पति का पक्ष रखती है, वैसे ही भगवान के भक्त का पक्ष रखना चाहिए। जिसमें ये तीन गुण परिपूर्ण रूप से हों, वही पक्का सत्संगी कहलाता है।

और, यदि हरिभक्तों की सभा में आकर कोई अग्रस्थान में आसीन होता हो, तब दूसरों को यह मालूम पड़ता है कि, 'यह बड़ा सत्संगी है।' परन्तु, बहुत बड़े की कसौटी यह है कि **जो गृहस्थ हो, वह अपना सर्वस्व केवल भगवान तथा भगवान के भक्त के लिए ही समर्पित करके रखे, और यदि सत्संग के लिए अपने प्राणों को न्यौछावर करने की आवश्यकता पड़ जाए, तो वह अपने प्राण भी अर्पण कर दे। और, अपने इष्टदेव जिस क्षण यह आज्ञा दें कि 'तू परमहंस बन जा,' तो वह तुरन्त परमहंस बन जाए! जिसके ऐसे लक्षण हों, वह हरिभक्तों की सभा में अग्रस्थान ग्रहण करे या पीछे बैठे, परन्तु उसी को समस्त हरिभक्तों में अग्रगण्य समझना चाहिए। और, जो त्यागी हो, वह देश-परदेश में जाए और वहाँ उसे यदि कनक-कामिनी का संयोग हो जाए, तब भी किसी प्रकार से जो विचलित नहीं होता तथा अपने त्यागी के जो-जो नियम हैं, उन सभी को दृढ़तापूर्वक बनाए रखे, वही समस्त त्यागीजनों में बड़ा कहलाता है।**

और, इस संसार में जो कोई रजोगुणी बड़ा मनुष्य कहलाता हो, वह जब सत्संग-सभा में आये, उस समय उसे आदरपूर्वक सभा के अग्रस्थान में बैठाना चाहिए; वह तो एक सद्व्यवहार है, जो ज्ञानी और त्यागी सभी को रखना चाहिए; यदि ऐसा व्यवहार न किया जाए तो अवश्य ही अनिष्ट होकर रहता है। जैसे कि एकबार राजा परीक्षित शमिक ऋषि के आश्रम में जा पहुँचे। उस समय ऋषि समाधि में मग्न थे, अतः राजा का स्वागत-सत्कार न हो सका। तब राजा ने क्रोधित होकर ऋषि के गले में एक मरा हुआ साँप डाल दिया। इसे देखकर ऋषि के पुत्र ने राजा को शाप दे दिया। जिसके फलस्वरूप सात दिन में ही राजा की मृत्यु हो गई। और, जब ब्रह्मा की सभा में दक्षप्रजापति पधारे, तब शिवजी उनके सम्मान में न तो खड़े हुए, न तो उन्होंने वचन द्वारा ही उनका कोई सम्मान किया। अतः दक्ष ने क्रोधित होकर

शिवजी को यज्ञ में से मिलनेवाले उनके भाग से वंचित कर दिया। बाद में नन्दीश्वर तथा भृगु ऋषि में भी परस्पर कलह हुआ और परस्पर दोनों ने शाप दिए, फलस्वरूप सती ने दक्ष के यज्ञ में स्वयं को भस्म कर दिया। इस कारण शिव के मुख्य गण वीरभद्र ने दक्ष का मस्तक काटकर यज्ञाग्नि में झोंक दिया। फिर दक्ष को बकरे का मुँह लगाकार रहना पड़ा।

अतः गृहस्थों तथा त्यागीजनों को सदैव इसी रीति के अनुसार व्यवहार करना चाहिए कि 'संसार के व्यावहारिक जीवन में जो मनुष्य बड़ा आदमी कहलाता हो, उसका सभा में किसी भी तरह से अपमान नहीं करना चाहिए; और यदि कोई मनुष्य ऐसे पुरुष का अपमान करेगा, तो उसे अवश्य ही दुःख प्राप्त होगा, तथा भगवान के भजन एवं नाम-स्मरण में भी उसे विक्षेप पड़ेगा। इसीलिए यह वार्ता समस्त सत्संगी गृहस्थों तथा सभी त्यागियों को मन में दृढ़ करके रखनी चाहिए।'

॥ इति वचनामृतम् ॥61॥ ॥194॥

वचनामृत 62 : आत्मनिष्ठा, पतिव्रता-भक्ति एवं दासत्व

संवत् 1881 में मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीया (22 नवम्बर, 1824) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर श्वेत पाग बाँधी थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी और श्वेत धोती धारण की थी। श्रीजीमहाराज के समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने अपने भतीजों अयोध्याप्रसादजी तथा रघुवीरजी को बुलवाया और उनसे कहा कि 'आप हमसे प्रश्न पूछिये।'

सबसे पहले अयोध्याप्रसादजी ने प्रश्न पूछा कि इस संसार में ऐसा कोई पुरुष हो, जो आठों प्रहर संसार की समस्याओं से घिरा रहता हो तथा उससे यदा-कदा उचित-अनुचित कर्म भी हो जाते हों, फिर भी वह एक घड़ी या दो घड़ी तक भगवान का भजन करे, तो क्या उस भजन के फलस्वरूप उसके सारे दिन के किए हुए पाप नष्ट होते हैं या नहीं होते?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'सारे दिन प्रवृत्ति-मार्ग में रहकर चाहे

कैसी भी क्रिया क्यों न की हो, फिर भी यदि वह पुरुष भगवान का भजन करने बैठ जाए, तब यदि भजन करते हुए उस भक्त की इन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा जीव, ये सब एकाग्र होकर भजन में जुड़ जाए, और यदि इस प्रकार एक घड़ी या आधी घड़ी भी इन्द्रियाँ भगवान के भजन में जुड़ी रहें, तो उसके समग्र पाप जलकर भस्मीभूत हो जाते हैं। परन्तु यदि इन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा जीव एकाग्रतापूर्वक भगवान के भजन में नहीं जुड़े, तो एक घड़ी या आधी घड़ी के ऐसे भजन से उसके पाप नष्ट नहीं हो सकते। हाँ, उस पुरुष का कल्याण भगवान के प्रताप से हो सकता है। इस प्रश्न का यही उत्तर है।'

इसके पश्चात् रघुवीरजी ने पूछा कि 'हे महाराज! जीव के मोक्ष के लिए क्या करना चाहिए?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे आत्मकल्याण की इच्छा हो, उसको अपनी देह, धन, धाम तथा कुटुम्ब-परिवार सब कुछ भगवान की सेवा में जोड़ देना चाहिए, तथा भगवान की सेवा में जो भी पदार्थ काम में न आए उनका परित्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार जो पुरुष भगवत्परायण आचरण करता है, वह गृहस्थाश्रमी होने पर भी मृत्यु के बाद भगवान के धाम में नारद-सनकादि की पंक्ति में स्थान प्राप्त करता है और वह परम मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। यही इस प्रश्न का उत्तर है।'

इस प्रकार वार्ता करने के पश्चात् श्रीजीमहाराज पुनः स्वेच्छा से कहने लगे कि 'जिस दिन से हम विचार कर रहे हैं, उसी समय से हमारी दृष्टि में यही बात आती रही है कि जीव के कल्याण के लिए मुमुक्षु को तीन अंग (स्वाभाविक गुण) अत्यन्त सुखदायी हैं।

पहला अंग यह है कि अतिशय आत्मनिष्ठा हो। जैसे शुकजी आचरण करते थे, उस प्रकार आत्मारूप होकर परमेश्वर का भजन करना। और, दूसरा पतिव्रता का अंग है। जैसे कि गोपियों की तरह पतिभाव से भगवान का भजन करना। तीसरा दासत्व का अंग है। जैसे कि हनुमानजी और उद्धवजी की भाँति दासभाव से भगवान का भजन करना। बिना इन तीन अंगों के, अन्य किसी भी रीति से मुमुक्षु का कल्याण नहीं हो पाता। और, हम तो इन तीनों अंगों को सुदृढ़ करके रखते हैं। जो भी मुमुक्षु इनमें से एक भी अंग सुदृढ़ बना लेता है, तो वह कृतार्थ हो जाता है। अब इन तीनों अंगों

को सिद्ध किए हुए भक्तों के लक्षण पृथक्-पृथक् करके बताते हैं।

इनमें से आत्मनिष्ठावाले के लक्षण ये हैं कि एक ओर तो आत्मा है और दूसरी ओर देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, तीन गुण तथा पंचविषय आदि माया की टोली है। इन दोनों के बीच जो विचार रहता है, वह विचार ज्ञान-स्वरूपी है। जैसे वायुरहित स्थान में दीपशिखा बिल्कुल स्थिर रहती है, वैसे ही वह विचार भी अतिशय स्थिर होकर रहता है। वह विचार देह, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण को आत्मा के साथ एकात्मभाव स्थापित नहीं करने देता और वह विचार भी आत्मा के साथ एक नहीं होता। जब मुमुक्षु उस विचार को प्राप्त करता है, तब उसकी वृत्ति, जो काशी जितनी दूरी तक रहती थी, वह पास में वरताल तक आ जाती है। और फिर जब वह विचार दृढ़ होता जाता है, तब यह वृत्ति वरताल से इस गढ़डा तक आ जाती है। फिर गढ़डाव्यापी लम्बी वृत्ति हो, वह सिमटकर अपने देहव्यापी स्थान में बनी रहती है। इसके बाद यही वृत्ति देह में से भी और संकुचित होकर इन्द्रियों के गोलक में रहती है। इसके पश्चात् इन्द्रियों के गोलक से इन्द्रियों की वृत्तियाँ अन्तःकरण के सम्मुख हो जाती हैं। इसके बाद इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की वृत्तियाँ आत्मा में विलीन हो जाती हैं। जब ऐसा होता है, तब जीवात्मा के वासनामय शरीर का विनाश हो गया, कहा जाता है। और, वही विचार जब आत्मा के साथ मिल जाता है, तब उस जीवात्मा में प्रकाश होता है तथा उसे अपनी आत्मा का ब्रह्मरूप में दर्शन होता है तथा उस ब्रह्म में परब्रह्म नारायण का भी दर्शन होता है। फिर उस दर्शन करनेवाले को अनुभव होता है कि 'मैं आत्मा हूँ तथा मुझमें परमात्मा अखंडरूप से रह रहे हैं।' ऐसी अखंड स्थिति बनी रहे वही आत्मनिष्ठा की अत्युत्तम दशा है।

और, पतिव्रता भक्ति का अंग व्रज की गोपियों जैसा होना चाहिए। जिस प्रकार गोपियों ने श्रीकृष्ण भगवान के चरणारविंदों का स्पर्श जिस दिन से किया, उस दिन से संसार सम्बंधी सभी सुख उनके लिए विष-तुल्य हो गए। जैसे पतिव्रता स्त्री के हृदय में अपने पति के प्रति भक्ति होती है, वैसी ही अनन्य भक्ति जिसे भगवान के प्रति हो, वह तो चाहे इन्द्र के समान रूपवान पुरुष को देखने पर तथा देवता अथवा राजा को देखने पर ऐसा ही माने कि जैसे मैंने किसी सड़े हुए कुत्ते को देख लिया! अथवा विष्टा को

देख लिया! यूं घृणित होकर वह अपनी दृष्टि को वापस खींच लेती है। ठीक उसी प्रकार भगवान रहित अन्य सभी मायिक पदार्थों से अनासक्ति पूर्वक दृष्टि समेट लेना ही उत्तम पतिव्रता के अंगवाले भक्त की रीति है। अतः जिस भक्त की वृत्ति एकमात्र भगवान में ही इस प्रकार पतिभाव से जुड़ गई है, उसका मन भगवान को छोड़कर अन्य किसी को देखने से राजी होता ही नहीं है।

तीसरा अंग दासत्व भक्ति का है। ऐसी दासत्वभक्तिवालों को भी अपने इष्टदेव के दर्शन ही प्रिय लगते हैं, और उन्हीं की वार्ता को सुनना प्रिय लगता है, और अपने इष्टदेव का ही स्वभाव प्रिय लगता है और उन्हीं के पास रहना उसे रुचिकर लगता है। ऐसी प्रीति होने पर भी वह अपने इष्टदेव की सेवा तथा प्रसन्नता के लिए रात-दिन यही इच्छा करता रहता है कि 'मेरे इष्टदेव यदि मेरे लिए कोई आज्ञा करें, तो अत्यन्त ही हर्षपूर्वक उसका मैं पालन करूँ।' फिर इष्टदेव की आज्ञा से वह भक्त चाहे दूर रहना हो, वह अति प्रसन्नतापूर्वक दूर जाकर रहता है, किन्तु उसका मन खिन्न नहीं हो जाता। और, आज्ञापालन में ही परम आनन्द अनुभव करता है। ऐसी स्थिति ही दासत्वभक्ति की उत्तम स्थिति है। ऐसी दासत्वभक्तिवाले तो आज गोपालानन्द स्वामी और मुक्तानन्द स्वामी हैं।

उपरोक्त तीनों अंगवाले भगवान के भक्तों में उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ स्तर देखे जाते हैं। जो भक्त इन अंगों से बाह्य है, वे केवल पामर कहलाते हैं। इसलिए, यही उचित है कि इन तीनों अंगों में से किसी भी एक अंग के परिपूर्ण होने पर ही देह का त्याग करना उचित है। परन्तु जिसे इन तीनों में से एक भी सिद्ध नहीं हुआ और देहत्याग का समय आ गया, वह उचित नहीं है। भले ही उसे पाँच दिन और अधिक जीना हो, जीकर भी अपने अज्ञान को मिटाकर इन तीनों अंगों में से किसी भी एक की दृढ़ता करके प्राणोत्सर्ग करे, यही उचित है।

और, इस जीव का तो स्वभाव ही विपरीत दिखता है कि जब वह गृहस्थाश्रम में रहता है, तब उसे संसारत्याग करना अच्छा लगता है और संसार को छोड़कर त्यागी हो जाता है, तब उसकी सांसारिक सुख की इच्छाएँ बलवती होने लगती हैं! इसलिए, भगवान के दृढ़ आश्रित को ऐसे

उलटे स्वभाव का परित्याग करके, अपनी समूची मनमानी छोड़कर भगवान का भजन करते रहना चाहिए। भगवान के सिवा अन्य समस्त वासनाओं को नष्ट करके ही प्राणत्याग करना उचित है। और, जिसको भगवान में अतिशय प्रीति न हो, उसे आत्मविचार द्वारा आत्मनिष्ठा को ही सुदृढ़ करते रहना चाहिए। क्योंकि जो भगवान का भक्त हो, उसे या तो आत्मनिष्ठा सुदृढ़ होनी चाहिए, या भगवान में अतिशय दृढ़ प्रीति बनाए रखनी चाहिए। इन दोनों अंगों में से जिसका एक भी अंग अतिशय सुदृढ़ नहीं है, उसे सत्संग के नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करते रहना चाहिए तभी वह 'सत्संगी' रह सकेगा; अन्यथा सत्संग से विमुख होकर वह पथभ्रष्ट हो जाएगा।

और, एक बात यह भी है कि भगवान के भक्त को जिस-जिस प्रकार के दुःखों का सामना करना पड़ता है, उन दुःखों को देनेवाला काल, कर्म और माया में से कोई भी नहीं है, किन्तु स्वयं भगवान ही अपने भक्त का धैर्य देखने के लिए इन दुःखों को प्रेरित करते हैं। जैसे कोई पुरुष पर्दे के पीछे रहकर आगे की ओर देखता है, वैसे ही भगवान भी भक्त के हृदय में रहकर उसके धैर्य को देखते रहते हैं। लेकिन काल, कर्म और माया की क्या मजाल है कि वे भगवान के भक्त को पीड़ित कर सकें? वह तो भगवान की ही ऐसी इच्छा है, ऐसा समझकर भगवान के भक्त को आनंदमग्न रहना।

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न किया, 'हे महाराज! आपने जो तीनों अंगों की बात कही, वह तो अति सूक्ष्म है और दुर्बोध भी है, जो किसी को ही समझ में आ सकती है और कुछ लोग ही इसके अनुसार आचरण कर सकते हैं। लेकिन सभी इसके अनुसार वर्तन नहीं कर सकते। और, इस सत्संग में तो लाखों मनुष्य हैं, उन सभी के लिए यह बात समझना कठिन है। अतः उन सभी का श्रेय किस प्रकार हो सकता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि कोई इस बात को समझ नहीं पाया, तो उसे यह करना चाहिए कि ये तीनों गुण जिसने सिद्ध किए हों, ऐसे हरिभक्त का दासानुदास होकर वह उसकी आज्ञा में रहे। ऐसा करने पर वह कुछ भी नहीं समझने पर भी मृत्यु से पूर्व जीते जी भगवान का पार्षद बन चुका है! और कृतार्थ भी हो चुका होता है। और, इस संसार में भगवान तथा भगवान के भक्त की महिमा अति अपार है, सो चाहे कैसा ही पामर और

पतित जीव क्यों न हो, फिर भी भगवान या भगवान के भक्त का आश्रित हुआ, तो वह जीव कृतार्थ हो जाता है; ऐसी भगवान तथा भगवान के भक्त की महिमा है। अतः जिसको भगवान के भक्त की सेवा प्राप्त हुई है, उसे निर्भय होकर रहना चाहिए।

हमने जो इन तीनों गुणों की वार्ता कही है, वह बहुधा ये मुक्तानन्द स्वामी के लिए कही है। मुक्तानन्द स्वामी पर हमें बहुत स्नेह है। उनके शरीर में (क्षय) रोग है, अतः हम समझते हैं कि उनमें किसी प्रकार का कोई दोष न रह जाए! इसी कारण हमने यह वार्ता कही है।'

यह सुनकर मुक्तानन्द स्वामी ने भी कहा कि 'हे महाराज! मैंने भी यही जाना है कि आपने मेरे लिए ही यह वार्ता कही है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥62॥ ॥195॥

वचनामृत 63 : आत्मा को बलवान करने का उपाय

संवत् 1881 में मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया (8 दिसम्बर, 1824) को श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास स्थान पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष भजनानन्द स्वामी श्रीमद्भागवत का पाठ कर रहे थे। तथा परमहंसों एवं विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न किया कि 'हे महाराज ! द्रष्टा (आत्मा) तथा दृश्य (देह और इन्द्रियों) के मध्य में जो विचार रहता है, वह द्रष्टा तथा दृश्य को अलग-अलग रखता है। इस प्रक्रिया में हमें जीव का ज्ञातृत्व कौन-सा समझना चाहिए, तथा इन्द्रियों एवं अन्तःकरण का ज्ञातृत्व कौनसा समझना चाहिए ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जिसकी आत्मा अतिशय बलवान हुई हो, उसके लिए अन्तःकरण की वृत्तियाँ जीव की ही वृत्तियाँ हैं। चार क्रियाओं द्वारा अन्तःकरण के चार विभाग (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) प्रतीत होते हैं। उन अन्तःकरण तथा इन्द्रियों में जो ज्ञातृत्व है, वह जीव का ही ज्ञातृत्व है; जो इन्द्रियों एवं अन्तःकरण को जहाँ घटित हों, वहाँ प्रवृत्त होने देता है तथा जहाँ उचित न हो वहाँ उन्हें प्रवृत्त नहीं होने

देता। यहाँ वास्तविकता यह है कि जिसकी आत्मा ने अतिशय बल प्राप्त कर लिया हो, उसे तो बुरा स्वप्न तक नहीं आता। और, जिसकी आत्मा निर्बल हो, उसे तो सांख्य मतानुसार द्रष्टा जो अपनी आत्मा है, उस आत्मभाव से ही रहना चाहिए, किन्तु इन्द्रियों तथा अन्त:करण के भावों में तद्रूप नहीं होना चाहिए। इस प्रकार आत्मसत्तारूप रहने से उसकी आत्मा बलवान होती है।

इससे भी अधिक आत्मा में बल प्राप्त करने का एक बहुत बड़ा उपाय यह है कि **भगवान तथा भगवान के सन्त से जिन्हें प्रीति बंध गई हो, और उनकी सेवा में जिनको प्रगाढ़ श्रद्धा रहती हो एवं जो भगवान की नवधा भक्ति से युक्त हो, उसकी आत्मा तत्काल अतिशय बल प्राप्त कर लेती है। अतः जीवात्मा को बल प्राप्त करने के लिए भगवान तथा भगवान के भक्त की सेवा के बराबर अन्य कोई उपाय नहीं है।**

अब हम अपने अंतर की बात कहते हैं कि जब हम आषाढ़ी संवत् 1869 में बीमार पड़ गए थे, तब हमें कैलास तथा वैकुंठ दृष्टिगोचर हुए थे। उस समय हमें दिखाई दिया कि हमने नन्दीश्वर और गरुड़ की सवारी भी की। परन्तु हमें उस सामर्थ्य में कुछ भी अच्छा नहीं लगा। इसके पश्चात् हम केवल आत्मसत्तारूप रहने लगे, तब सभी झंझटों का अन्त हो गया। फिर भी, हमें ऐसा विचार हुआ कि आत्मसत्तारूप रहने से भी बढ़कर तो यही श्रेष्ठ है कि देह-धारण करके भगवान तथा भगवान के भक्त के साथ रहना। लेकिन इसमें भी हमें ऐसा भय हुआ कि कहीं आत्मसत्तारूप रहने से देह धारण करना असंभव न हो जाए। अत: देह-धारण करके भगवान तथा भगवान के भक्त की संगति में रहें और उनकी जो कुछ भी सेवा हो जाए वही अत्यन्त श्रेष्ठ साधन है।

यह बात भी है कि जब मनुष्य का अन्त समय आ जाता है तब अनेक प्रकार की आधि-व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। बाद में जब भगवान तथा भगवान के सन्त के दर्शन होते हैं, तब समस्त दु:खों का नाश हो जाता है। इस प्रकार भगवान तथा भगवान के भक्त की बड़ी महिमा है। और, **भगवान के भक्त तो वास्तव में ब्रह्म की ही मूर्तियाँ हैं। उनके सम्बंध में मनुष्य-भाव रखना ही नहीं चाहिए।** जिस प्रकार हम अपने दैहिक कुटुम्बीजनों के हित के लिए उन्हें डाँटते हैं और वे हमें डाँटते हैं, फिर भी मन में किसी भी तरह का मनमुटाव नहीं रहता, वैसा ही सम्बंध भगवान के

भक्तों के साथ होना चाहिए।

जिसे भगवान तथा भगवान के भक्त के साथ मनमुटाव हो जाता है, उसके प्रति हमें देखना भी पसंद नहीं है। उस पर से हमारा रोष भी कभी शान्त नहीं होता। और, **इस संसार में पंचमहापाप करनेवालों का कभी छुटकारा हो सकता है, किन्तु भगवान के भक्त का द्रोह करनेवालों का कभी भी छुटकारा नहीं हो सकता। इसलिए, भगवान के भक्त की सेवा करनी इससे बढ़कर कोई अन्य पुण्य नहीं है, और भगवान के भक्त का द्रोह करना इससे बढ़कर कोई अन्य पाप भी नहीं है। अतः जिसे अपनी जीवात्मा को बलवान बनाना हो, वह भगवान तथा भगवान के भक्त की मन, कर्म और वचन द्वारा शुद्धभाव से सेवा करता रहे, यही उपाय है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥63॥ ॥196॥

वचनामृत 64 : भगवान के स्वरूप की महिमा

संवत् 1881 में पौष शुक्ला सप्तमी (27 दिसम्बर, 1824) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के बरामदे में गद्दी-तकिया रखवाकर अपने मुखारविन्द को उत्तराभिमुख करके विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी ने प्रश्न किया, 'हे महाराज ! भगवान के जो अवतार हैं, वे सब एक समान हैं या फिर उनमें न्यूनाधिक भाव हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'हमने व्यासजी द्वारा रचित समस्त ग्रन्थों को सुना, फिर उन पर पूर्वापर विचार करने से हमें ऐसा प्रतीत हुआ कि भगवान के जो मत्स्य, कच्छ, वराह, नसिंहादि अवतार हैं, उन समस्त अवतारों के अवतारी श्रीकृष्ण भगवान हैं। परन्तु, अन्य अवतारों के समान श्रीकृष्ण भगवान अवतार नहीं, बल्कि अवतारी ही हैं। ऐसे जो श्रीकृष्ण भगवान हैं, वे हमारे इष्टदेव हैं। उन श्रीकृष्ण भगवान के चरित्रों का सम्पूर्ण वर्णन श्रीमद्-भागवत पुराण के दशम स्कन्ध में किया गया है। इसलिए, हमने अपने उद्धव-सम्प्रदाय में दशम स्कन्ध को अत्यन्त ही प्रमाणित माना

है। अन्य सभी अवतार भी भगवान श्रीकृष्ण के ही हैं। इसीलिए, हमें इन अवतारों तथा अवतारों का प्रतिपादन करनेवाले सभी ग्रन्थों को मानना चाहिए, किन्तु विशेषत: श्रीकृष्ण भगवान तथा उनको प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थों को ही मानना चाहिए।'

फिर पुरुषोत्तम भट्ट ने पूछा कि 'भगवान जीवों के कल्याण के लिए इस जगत का सृजन करते हैं। यदि विश्व की रचना न की गई हो, और सभी जीव माया के उदर में निवास करके रहे हों, उस समय भगवान जीवों का कल्याण करें तो क्या नहीं हो सकता? कि भगवान विश्व की रचना करने का इतना बड़ा कष्ट उठाते हैं? यही प्रश्न है।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम राजाधिराज तथा अखंड मूर्ति हैं। वे अपने अक्षरधामरूपी सिंहासन पर सदैव विराजमान रहते हैं। उस अक्षरधाम के आश्रय में अनन्तकोटि ब्रह्मांड रहते हैं। जैसे किसी चक्रवर्ती राजा के असंख्य गाँव हों और उनमें एक-दो गाँव उजड़ गये हो अथवा नये निर्माण हुए हों, वह तो राजा की कोई गिनती में ही नहीं आता। वैसे ही श्रीकृष्ण भगवान अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के स्वामी हैं। उन ब्रह्माडों का एकसाथ कभी प्रलय नहीं होता। यदि उनमें से किसी एक ब्रह्मांड का प्रलय हो भी जाए, तो वह भगवान की दृष्टि में नगण्य ही रहता है। उन श्रीकृष्ण भगवान का देवकीजी से जन्म तो कथनमात्र है। वे श्रीकृष्ण सदा अजन्मा हैं। उन श्रीकृष्ण भगवान का जो अक्षरधाम है, वह व्यतिरेकभाव से प्रकृतिपुरुष से परे है तथा अन्वयभाव से वह सर्वत्र है। जिस प्रकार आकाश अन्वयभाव से सर्वत्र विद्यमान रहता है तथा व्यतिरेकभाव से वह चार भूतों से परे है, उसी तरह श्रीकृष्ण भगवान का अक्षरधाम है। उस अक्षरधाम में भगवान अखंड रूप से विराजमान रहते हैं। उस धाम में रहते हुए ही वे अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में जहाँ जिसको जैसा दर्शन देना उचित लगे, वहाँ वे उसको वैसा ही दर्शन देते हैं; और जिसके साथ बोलना उचित लगें, उससे बोलते हैं और जिसका स्पर्श करना उचित लगता है, उसका स्पर्श करते हैं। जैसे कोई सिद्ध पुरुष किसी एक ही स्थान पर बैठे रहकर भी हज़ारों कोस दूर तक देखता रहता है और सहस्रों कोस दूर की बात सुन सकता है, वैसे ही भगवान अपने अक्षरधाम में रहते हुए अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में जहाँ जैसी आवश्यकता

होती है, वहाँ वैसा स्वरूप धारण करते हैं। परन्तु वे स्वयं तो सदा अक्षरधाम में ही निवास करते हैं।

वे एक स्थान पर रहते हुए भी अनेक स्थानों में दिखाई देते हैं। यह उनकी योगकला है। जैसे रासमंडल में जितनी गोपियाँ थीं, उनके साथ उन्होंने उतने ही स्वरूप धारण किए थे। अतः एक ही स्थान में रहते हुए अनेक स्थानों में दिखना, वही भगवान की योगकलात्मक व्यापकता है। परन्तु वे आकाश की तरह अरूपभाव से व्यापक नहीं है।

और, भगवान की योगमाया द्वारा पचास करोड़ योजन का पृथ्वीमंडल प्रलयकाल में परमाणुरूप हो जाता है। वह पृथ्वी फिर से सृष्टिकाल में परमाणु में से पचास करोड़ योजन हो जाती है। और, वर्षाकाल आने पर गड़गड़ाहट होती है तथा आकाश में मेघ की घटाएँ छा जाती हैं, इत्यादिक आश्चर्यजनक सभी घटनाएँ भगवान की योगमाया द्वारा घटित होती हैं।

ऐसे जो श्रीकृष्ण भगवान हैं, वे मुमुक्षुओं के लिए सभी प्रकार से भजन करने योग्य हैं। वह इसलिए कि अन्य अवतारों में तो एक या दो कलाएँ प्रकाशित रहती हैं, जबकि श्रीकृष्ण भगवान में सभी कलाएँ विद्यमान रहती हैं। वे श्रीकृष्ण भगवान रसिक भी हैं और त्यागी भी हैं, ज्ञानी भी हैं और राजाधिराज भी हैं, कायर भी हैं और शूरवीर भी हैं, अतिशय कृपालु भी हैं और योगकला में प्रवीण भी हैं, अतिशय बलिया भी हैं और अत्यन्त छलिया भी हैं। इस प्रकार समस्त कलाओं से सम्पन्न एकमात्र श्रीकृष्ण भगवान ही हैं। उन श्रीकृष्ण भगवान के अक्षरधामाश्रित अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में से जिसकी एक सौ वर्ष की आयु पूरी हो जाती है, उस ब्रह्मांड का नाश हो जाता है, परन्तु एक ही काल समस्त ब्रह्मांडों का कभी भी नाश नहीं होता। अतएव, प्रलयकाल में ही क्यों कल्याण करेंगे? क्योंकि ब्रह्मांडों का अस्तित्व तो सर्वदा के लिए कहीं न कहीं तो रहता ही है! इस प्रकार, इस प्रश्न का यह समाधान है।'

इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने परोक्षभाव से अपने पुरुषोत्तमभाव की ही वार्ता कही। जिसे सुनकर समस्त हरिभक्तों ने इस प्रकार जान लिया कि वे जो श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम हैं, वे ही भक्ति-धर्म के पुत्र ये श्रीजीमहाराज हैं।

॥ इति वचनामृतम् ॥64॥ ॥197॥

वचनामृत 65 : भक्तिरहित ब्रह्मज्ञान निरर्थक

संवत् 1881 में पौष शुक्ला एकादशी (1 जनवरी, 1825) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के समीप पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'सुनिये, भगवान की वार्ता करते हैं।' इस पर ताल-पखावज लेकर कीर्तन कर रहे साधुओं ने कीर्तनगान बन्द किया तथा वे सब हाथ जोड़कर वार्ता सुनने कि लिए तत्पर हुए।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'जीव के कल्याण के लिए भगवान के जो रामकृष्णादि अवतार होते हैं, उन्हें मायाजन्य इस संसार के किसी भी कार्य से मोह नहीं होता है। वे अपने अलौकिक प्रताप द्वारा निःशंकरूप से कार्यरत रहते हैं। वे अपने भक्तजनों की भक्ति को स्वीकार करने के लिए पंचविषयों को भी अच्छी तरह भोगते हैं। यह देखकर लाल-बुझक्कड़ लोग परमेश्वर में दोष देखते हैं और ऐसा जानते हैं कि 'ये तो परमेश्वर कहलाते हैं, तो भी इनको हमारी अपेक्षा संसार में विशेष आसक्ति बनी हुई है।' ऐसा जानकर वे भगवान को भी अपने जैसा मनुष्य समझने लगते हैं। परन्तु, वे भगवान की अलौकिक महिमा को नहीं जानते। यही भगवान की माया है।

और, ब्रह्मस्थिति को प्राप्त हुए आत्मदर्शी साधुओं को भी इस संसार में किसी भी पदार्थ से मोह नहीं रहता, तब ब्रह्म से भी परे परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान यदि माया तथा मायाजन्य कार्य से निर्लिप्त रहें, तो इसके सम्बंध में कहने की क्या बात है? वे तो निर्लिप्त ही रहते हैं। और, आत्मनिष्ठा वाले सन्त में आत्मनिष्ठा एवं तीव्र वैराग्य, दोनों गुण रहते हैं, जिनके कारण उन्हें किसी भी प्रकार का बन्धन नहीं होता, फिर भी यदि उनमें भगवान की भक्ति नहीं होती तो उनका यह आचरण ठीक उसी प्रकार निरर्थक होता है, जिस तरह विविध भोजन तथा अनेक प्रकार के व्यंजनों में यदि नमक न डाला जाए, तो वह स्वादरहित लगते हैं, वैसे ही, भगवान की भक्ति से

रहित अकेला ब्रह्मज्ञान एवं वैराग्य दोनों निरर्थक हो जाते हैं और दोनों सदैव अकल्याणकारी ही होते हैं। ऐसा जानकर ही शुकदेवजी ने ब्रह्मस्वरूप होने पर भी श्रीमद्भागवत का अध्ययन किया था तथा वे श्रीकृष्ण भगवान में दृढ़ भक्तिभाव से जुड़े थे। अतः आत्मनिष्ठा रखनेवाले को भगवान की भक्ति न हो, तो उनमें यह एक बड़ा दूषण है।

और जिसे भगवान में भक्ति हो, फिर भी यदि उसमें आत्मनिष्ठा एवं वैराग्य न हों, तो उसे जैसी प्रीति भगवान से होती है, वैसी ही प्रीति किसी अन्य पदार्थ में भी हो जाती है, जो भक्तिमार्गी के लिए भी एक बड़ा दूषण है। और, जो ऐसा परिपक्व भगवद्भक्त होता है, उसने तो भगवान की यथार्थ महिमा को जान लिया है, इसलिए परमेश्वर के बिना सभी पदार्थ उसे तुच्छ लगते हैं, तथा वह परमेश्वर के सिवा अन्यत्र किसी भी पदार्थ पर मोहित नहीं होता। अतएव, जब आत्मनिष्ठा, वैराग्य तथा भगवान में भक्ति ये तीनों की जिसे दृढ़ता हो, उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं होगी। जो इन गुणों से युक्त होता है, उसको ही भगवान का ज्ञानी भक्त कहा जाता है, एकांतिक भक्त कहा जाता है तथा अनन्य भक्त कहा जाता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥65॥ ॥198॥

वचनामृत 66 : सद्गुरुओं के प्रश्न

संवत् 1881 में पौष कृष्णा प्रतिपदा (5 जनवरी, 1825) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे, पीले पुष्पों और लाल गुलदावदी के फूलों के हार कंठ में पहने थे और उनकी पाग में पीले पुष्पों का तुर्रा लगा हुआ था। उनके समक्ष मुनिमंडल तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

सन्तमंडल सरोद और तबला बजाकर विष्णुपद गा रहा था। भजन के पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि 'आज हमें अपने बड़े-बड़े सन्तों से प्रश्न पूछने हैं।' ऐसा कहकर उन्होंने सर्व प्रथम आनन्द स्वामी से यह प्रश्न पूछा कि 'दो प्रकार के पुरुष देखे जाते हैं; एक ऐसा है जो अल्पबुद्धिवाला होने

पर भी अपने में दोष देखता रहता है और अन्य हरिभक्तों में दोष रहने पर भी उन्हें नहीं देखता, बल्कि उनके गुणों को ही देखा करता है तथा अन्य पुरुष ऐसा है, जो अधिक बुद्धिमान होने पर भी अपने अवगुणों को नहीं देखता है तथा अन्य हरिभक्तों के गुणों की उपेक्षा करके केवल उनके दोषों को ही देखा करता है। इसका क्या कारण हो सकता है कि एक पुरुष तो अल्पबुद्धि होने पर भी अपने दोषों को देखता है, जबकि दूसरा अधिक बुद्धिमान होने पर भी अपने दोषों को नहीं देखता?'

तब आनन्द स्वामी ने इस पर समाधान देने का प्रयास किया, किन्तु प्रश्न का यथेष्ट समाधान न हो सका। तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर यह है कि अधिक बुद्धिवाले पुरुष ने इस जन्म में अथवा किसी जन्मान्तर में भगवान के भक्त का कोई बड़ा अपराध किया है, जिसके पाप के कारण उसकी बुद्धि दोषयुक्त है। इसलिए उसे हरिभक्तों के दोष दिखाई पड़ते हैं, किन्तु अपने दोष नहीं दिखाई देते।'

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज ने नित्यानन्द स्वामी से पूछा कि 'भगवान को प्राप्त करने का एक ही साधन है अथवा अनेक साधनों द्वारा भी भगवान प्राप्त किए जा सकते हैं?' तब आप यह कहेंगे कि ज्ञान, वैराग्य, भक्ति तथा धर्म - इन साधनों द्वारा भगवान प्राप्त किए जाते हैं। जब इन चार साधनों द्वारा भगवान की प्राप्ति होती है, तब 'भगवान का एकमात्र आश्रय ग्रहण करने से ही कल्याण हो जाए, ऐसे अनन्यभाव का निर्धार ही कहाँ रहा?' इस प्रश्न पर नित्यानन्द स्वामी ने अनेक प्रकार से उत्तर देकर समाधान का प्रयास किया, किन्तु प्रश्न का समाधान नहीं हुआ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'कल्याण तो भगवान के एकमात्र आश्रय से ही होता है। क्योंकि वे अति समर्थ हैं तथा समग्र ब्रह्मादिदेव भी उनकी आज्ञा का पालन करते हैं। एवं समस्त ब्रह्मांडों के कारण काल-मायादि भी भगवान के भय से सावधान होकर भगवान की आज्ञा में रहते हैं। इसलिए, भगवान के भक्त को भगवान की आज्ञा का दृढ़तापूर्वक पालन करना, वही भगवान के भक्त का लक्षण है। इसलिए, सभी साधन सुदृढ़ करके रखें, परन्तु कल्याण तो एकमात्र भगवान द्वारा ही होता है। जबकि अन्य जो साधन हैं, वे भगवान की प्रसन्नता के लिए हैं।'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने ब्रह्मानंद स्वामी से पूछा कि 'इस देह में स्थित जीव साकार है या निराकार?'

तब ब्रह्मानंद स्वामी ने कहा कि जीव तो साकार है।'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'यदि जीव साकार है, तो वह कर-चरणादि-युक्त हुआ, परन्तु श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में वेदस्तुति के अध्याय में ऐसा कहा गया है कि भगवान ने मनुष्य के कल्याण के लिए उसकी बुद्धि, इन्द्रियों, मन एवं प्राणों का सृजन किया है। यदि वह जीव साकार ही हो, तो उसके लिए बुद्धि, इन्द्रियों, मन तथा प्राणों का सृजन करने की क्या आवश्यकता हो सकती है? इसलिए, ऐसे शास्त्र-वचनों को देखने से यही निष्कर्ष निकलता है कि जीव स्वरूप-स्वभाव से तो सत्तामात्र, चैतन्य तत्त्व है[39] और अनादि-अज्ञानरूप कारणशरीर से युक्त है। जैसे चुम्बक लोहे को खींचकर उसके साथ चिपक जाता है, वैसे ही उस जीव का भी चिपकने का स्वभाव है। इसलिए, मायिक स्थूल तथा सूक्ष्म - ये दोनों शरीर उसके साथ चिपक जाते हैं और वह जीव अज्ञानवश उन शरीरों में अपनापन मान बैठता है, परन्तु, वास्तव में यह जीव शरीर जैसा नहीं है।'

इस पर ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जब भगवान की भक्ति द्वारा इस जीव के अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, तब इस जीव को स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण इन तीनों मायिक देहों का सम्बंध नहीं रहता। उस समय यह जीव भगवान के धाम में जाकर कैसे आकार से युक्त होकर निवास करता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब इस जीव के अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, तब इन तीनों मायिक देहों के साथ इसका संग छूट जाता है। बाद में यह जीव केवल चैतन्य सत्तामात्र रहता है, इसके पश्चात् भगवान की इच्छा से ही इस जीव के लिए भगवान की भूमि आदि आठ प्रकार की प्रकृतियों से भिन्न चैतन्य प्रकृतिजन्य देह का निर्माण होता है। उस देह से युक्त होकर ही वह भगवान के अक्षरधाम में रहता है।'

फिर श्रीजीमहाराज ने गोपालानन्द स्वामी से पूछा कि 'जो अष्टांगयोग सिद्ध होता है अथवा आत्मदर्शन होता है, वह तो भगवान तथा भगवान

39. तथा करचरणादि अवयव रहित है तथा अणु के समान सूक्ष्म है, यही तात्पर्य है।

के सन्त की कृपा से होता है। ऐसे योग अथवा आत्मदर्शन की सिद्धि के कारण-रूप भगवान तथा भगवान के सन्त के प्रति उसे गौणता आ जाती है, तथा अष्टांगयोग एवं आत्मदर्शन में ही अधिकाधिक लगन लगी रहती है, उसका क्या कारण होगा?'

तब गोपालानन्द स्वामी ने कहा कि 'उसको योगाभ्यास करते हुए योगसिद्धि प्राप्त होती है, फिर उसका कुछ अभिमान आ जाता है, इसी कारण भगवान के प्रति उसकी वृत्ति कुछ गौण हो जाती है।' तब श्रीजी-महाराज ने प्रतिप्रश्न किया कि 'जब उसकी सिद्धदशा हुई तब वह योगी ब्रह्मरूप हो जाता है, और ब्रह्म में किसी प्रकार का अभिमान होना संभव नहीं है। इसलिए यह उत्तर यथार्थ नहीं हुआ।' तत्पश्चात् गोपालानन्द स्वामी ने कहा कि 'हे महाराज! यह बात तो कुछ समझ में नहीं आती। अतः आप कृपा करके बताइए।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसमें यह समझ है कि ऐसे भक्त को अपनी अपूर्णता को दूर करने के लिए बड़ों के वचनों की साक्षी लेनी चाहिए। जैसे किसी व्यावहारिक कार्य को पूर्णरूप से सिद्ध करने के लिए भद्र पुरुषों की साक्षी लेनी पड़ती है, वैसे ही यहाँ भी उस भक्त को साक्षी लेनी चाहिए जैसे कि शुकदेवजी स्वयं ब्रह्मस्वरूप थे, फिर भी वे श्रीमद्भागवत का अत्यन्त प्रीतिपूर्वक पाठ करते थे और आज तक वे भगवान की भक्ति ही करते रहे हैं।[40] दूसरा दृष्टांत है कि शौनकादि अठासी हज़ार ऋषि स्वयं ब्रह्मस्वरूप हैं, फिर भी वे सूत पुराणी के मुख से भगवान की कथा सुनते हैं। इस प्रकार के वृत्तांतों की साक्षी भक्ति को सुदृढ़ बनाने के लिए लेनी चाहिए। और, अपनी जो भी कुछ न्यूनता है, वह स्वयं को समझ में न आती हो, तो उसके लिए भगवान के समक्ष प्रार्थना करनी चाहिए कि 'हे महाराज! मुझमें जो भी कुछ अपूर्णता हो, वह कृपा करके आप मिटा

---

40. अर्थात् शुकदेवजी आदि योगी ब्रह्मस्वरूप होने पर भी ब्रह्म में ही स्थिति पाकर संतुष्ट नहीं थे, परंतु भगवान की भक्ति ही किया करते थे। ऐसे वृत्तांत नहीं जानने के कारण ही योगियों को भगवान एवं संत के प्रति गौणभाव रहता है और आत्मदर्शन में अधिक रुचि रहती है। अतः योगियों को अपने पुरातन सन्तपुरुषों के जीवन से प्रेरणा लेनी चाहिए!

दीजिएगा।'

जैसे किसी पुरुष के सिर पर कलंक लगा हो और उसको मिटाने के लिए कोई साक्षी न हो, तब वह लोहे के तपे हुए लाल गोले को उठाकर अपने पर लगे आक्षेप को मिटाने के लिए कसौटी में से पार उतरता है; वैसे ही अपना जो दोष नहीं दीख पड़ता हो, तब उस दोष को दूर करने के लिए भगवान की स्तुति करना, वह तो लोहे का तपा हुआ गोला हाथ में रखने-जैसा कठिन साधन है। परन्तु उसी प्रकार अपना दोष दूर करना चाहिए। '

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने मुक्तानन्द स्वामी से पूछा, 'यद्यपि भगवान को यथार्थ रूप से जान लिया हो और भगवान यदि कोई चमत्कार न दिखाते हों, किन्तु जन्त्र-मन्त्र करनेवाले अन्य पुरुष अगर चमत्कार दिखलाते हों तो उन्हें देखकर भगवान के भक्त का मन भगवान से कुछ विचलित हो जाता है या नहीं?'

तब मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'हे महाराज! जिस पुरुष को भगवान में यथार्थ निश्चय हो गया है, उसको भगवान के सिवा अन्यत्र कहीं भी प्रतीति ही नहीं होती। यदि कहीं अन्यत्र उसका मन भटक गया, तो उसको भगवान का सुदृढ़ निश्चय ही नहीं हुआ है। वह तो गुणबुद्धिवाला हरिभक्त कहलाता है, किन्तु वह भगवान का यथार्थ भक्त नहीं कहलाता।' तब इस उत्तर को मान्य करते हुए श्रीजीमहाराज बोले कि 'वही उसका उत्तर है।'

फिर श्रीजीमहाराज ने शुकमुनि से पूछा कि 'भगवान के जिस भक्त ने भगवान तथा भगवान के सन्त को प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त कर लिया हो उसको जीवित रहते हुए क्या लाभ होता है तथा मृत्यु के बाद उसे क्या उपलब्धि होती है?' तब शुकमुनि बोले कि 'हे महाराज! इसका उत्तर तो आप ही दें, तभी सम्भव होगा।'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज ने कहा कि **'जिसे भगवान तथा भगवान के सन्त की प्राप्ति हुई है, उसके तो जब तक साँस थमती नहीं, तब तक दिवस और रात्रि आजीवन भगवान की कथा तथा कीर्तन करते-करते ही व्यतीत हो जाते हैं। और, तीनों अवस्थाओं से परे जो अपनी जीवात्मा है, उसका ब्रह्मरूप भाव में साक्षात् दर्शन हो जाता है। और,**

उसे भगवान के सिवा अन्य सभी पदार्थमात्र से वैराग्य हो जाता है। और वह अधर्म का परित्याग करके धर्माचरण में ही प्रवृत्त रहता है। तथा ऐसा भक्त देहत्याग करता है, तब भगवान उसे स्वयं अपने समान ही बना देते हैं। जैसे भगवान ने ब्रह्माजी से कहा है कि 'हे ब्रह्मा! जैसा मैं हूँ तथा जैसी मेरी महिमा है तथा जैसे मेरे गुण एवं कर्म हैं, वैसे ही आपको मेरे अनुग्रह से विज्ञान प्राप्त हो!' यह जो भगवान ने ब्रह्मा से कहा, वैसे ही भगवान अपने समस्त अनन्य भक्तों को भी ऐसी प्राप्ति कराते हैं। और, जिस प्रकार भगवान काल, कर्म तथा माया से रहित हैं वैसे ही भगवान के भक्त भी काल, कर्म और माया से रहित हो जाते हैं, तथा भगवान की निरन्तर सेवा करने में लगे रहते हैं। ऐसी प्राप्ति उसे देहान्त होने के पश्चात् होती है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥66॥ ॥199॥

वचनामृत 67 : स्वामी-सेवकभाव

संवत् 1881 में माघ कृष्णा तृतीया (6 फरवरी, 1825) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान पर गंगाजलिए कुएँ के पास चबूतरे पर रखे हुए पलंग पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज के समक्ष साधु तबला-सरोद बजाकर विष्णुपद गा रहे थे। कीर्तन-भक्ति की समाप्ति के पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि सभी सन्तों से हम यह प्रश्न पूछते हैं कि जब भगवान का भक्त देहोत्सर्ग करने के पश्चात् ब्रह्मरूप होकर भगवान के धाम में जाता है, तब उसमें तथा भगवान में ऐसा कौन-सा अन्तर रहता है, जिसके कारण स्वामी-सेवकभाव का नाता बना रहता है? क्योंकि जिस प्रकार भगवान स्वतंत्र हैं तथा काल, कर्म एवं माया के आवरणों से रहित हैं, ठीक उसी तरह ही भगवान का यह ब्रह्मरूप भक्त भी वैसा ही हो जाता है। इसलिए, भक्त-भगवान के बीच ऐसा कौन-सा भेद रहता है, जिसके द्वारा स्वामी-सेवकभाव

बना रहता है!' यह सुनकर परमहंसों में जैसा जिसकी समझ में आया, वैसा उसने उत्तर दिया, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान न हो सका। तब सभी सन्तों ने यह निवेदन किया कि 'हे महाराज! कृपया आप ही अपने इस प्रश्न का उत्तर दीजिए।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस प्रश्न का उत्तर यह है कि भगवान के जिस भक्त ने भगवान को ऐसा जान लिया हो कि भगवान इतने सामर्थ्य एवं शोभा से युक्त हैं तथा ऐसे आनन्दरूप हैं, इस प्रकार उनका जितना माहात्म्य जान लिया हो तथा भगवान को जितने प्रताप से युक्त समझा हो, वही भक्त जब देहत्याग करके भगवान के धाम में जाता है, तब भक्त का रूप एवं सामर्थ्य भी भगवान सदृश ही हो जाते हैं। फिर भी, भगवान का सामर्थ्य एवं भगवान की सुन्दरता इत्यादि जो भी प्रताप है, वह उस भक्त को भगवान में अतिशय अधिक ही प्रतीत होता है। तब वह भक्त यह समझने लगता है कि मैंने स्वयं भगवान का जितना प्रताप जान लिया था तथा उनकी जितनी सुन्दरता जानी थी, उतना ऐश्वर्य तथा उतनी सुन्दरता तो भगवान ने मुझे प्रदान की है! फिर भी भगवान का ऐश्वर्य तथा भगवान की सुन्दरता तो अतिशय अपार दिखाई पड़ते हैं। इसलिए, मेरे जैसे अनेक पुरुष भगवान के साधर्म्य को प्राप्त हो चुके हैं, तथापि कोई भी भक्त भगवान सदृश होने में समर्थ नहीं हो पाता, वह इसलिए कि भगवान की जो महिमा है और भगवान में जैसे गुण, कर्म, जन्म, सामर्थ्य, सौन्दर्य तथा सुखदायीपन आदि अनेक कल्याणकारी गुण विद्यमान हैं, उनका पार पाने में तो शेष, शारदा, ब्रह्मादि देवता तथा चारों वेद भी समर्थ नहीं हो पाते। भगवान स्वयं भी अपनी महिमा का पार नहीं पाते हैं, क्योंकि वे अनन्त हैं। इसलिए वे सभी सामर्थियों में सबसे अपार है। और, उन भगवान की भक्ति करके अनन्त कोटि वैष्णवजन भगवान-सदृश हो गए हैं, फिर भी भगवान में से अपना किसी भी प्रकार का प्रताप अणुमात्र भी कम नहीं हुआ है। जैसे मीठे जल का सागर लबालब भरा हुआ हो, उसमें से मनुष्य, पशु, पक्षी सभी अपनी इच्छा के अनुसार पानी पी लेते हैं तथा जल से पात्र भी भर लिए जाते हैं, तो भी उसका पानी कम नहीं होता, क्योंकि समुद्र तो अगाध है, वैसे ही भगवान की महिमा भी अतिशय अपार है, जो किसी भी प्रकार से न्यूनाधिक

नहीं होती। इसीलिए, भगवान के जो-जो भक्त ब्रह्मस्वरूप हो चुके हैं, वे भी भगवान के दृढ़ सेवक होकर भगवान का भजन करते रहते हैं। इस प्रकार भगवान का वह भक्त भगवान का साधर्म्य प्राप्त करता है, फिर भी उसका स्वामी-सेवकभाव बना ही रहता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥67 ॥ ॥200 ॥

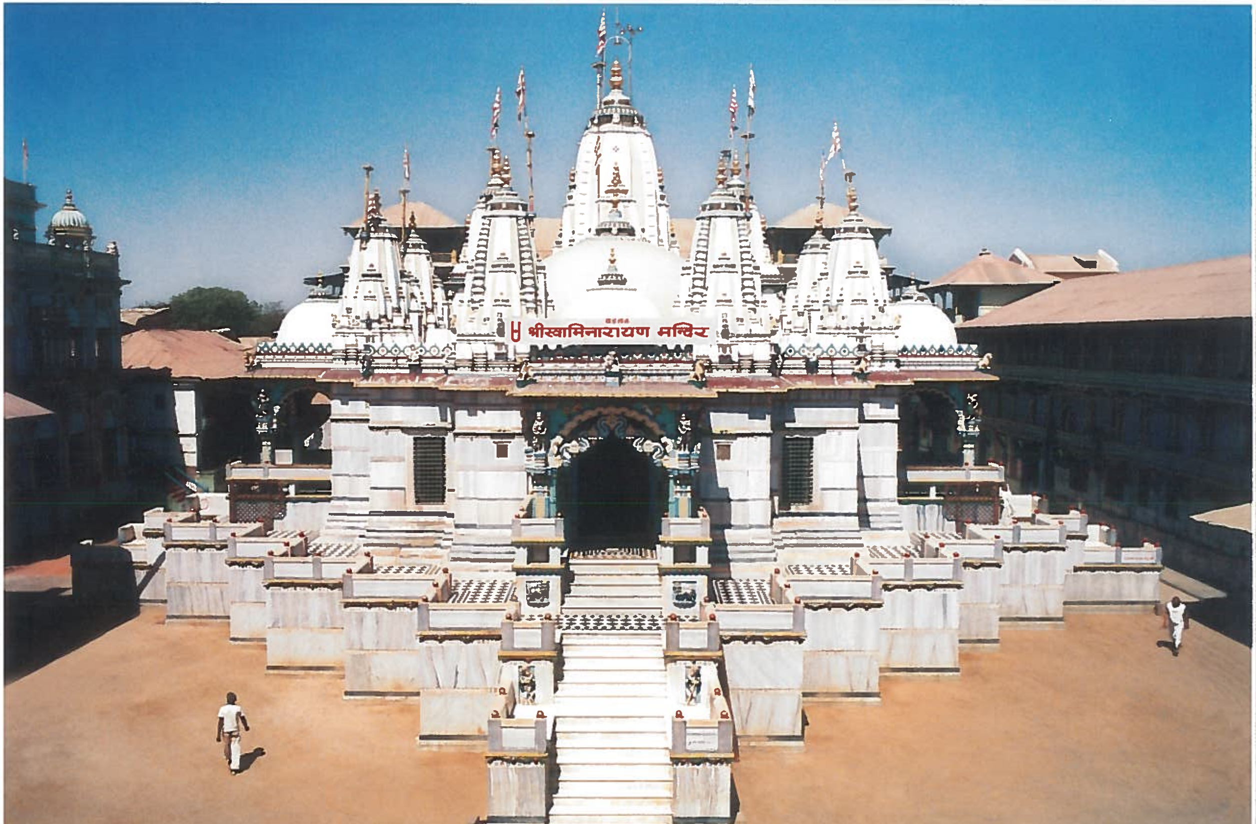
॥ श्रीगढ़डा मध्य प्रकरणं समाप्तम् ॥

अक्षर ओरड़ी, गढ़डा (जिला : भावनगर, गुजरात)



भगवान श्रीस्वामिनारायण ने यहाँ 29 वर्ष तक निवास किया था।
उन्होंने अनेक बार यहाँ बिराजमान होकर वचनामृतों का उद्‌बोधन किया है।

श्री स्वामिनारायण मंदिर, वरताल (जिला : खेडा, गुजरात)



यहीं पर विराजमान होकर भगवान श्रीस्वामिनारायण ने वचनामृतों का उद्बोधन किया था।

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ॥

श्रीवरताल प्रकरण के वचनामृत

वचनामृत 1 : निर्विकल्प समाधि

संवत् 1882 में कार्तिक शुक्ला एकादशी (21 नवम्बर, 1825) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर से उत्तर की ओर गोमतीजी के तट पर आम्रकुंज में सिंहासन पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत चूड़ीदार पायजामा और सफ़ेद अंगरखा पहना था, गाढ़े रंग का दुपट्टा कमर में बाँधा हुआ था और मस्तक पर सुनहरे तारों के पल्लेवाला कुसुम्भी दुपट्टा बाँधा था। उनके कन्धे पर जरी के पल्लेवाला कुसुम्भी दुपट्टा सुशोभित हो रहा था। कंठ में गुलाब के पुष्पों के हार थे, मस्तक पर गुलाब के फूलों के तुर्रे सुशोभित थे और भुजाओं में गुलाब के गजरे और बाजूबन्द लगाये थे। ऐसी शोभा को धारण किए हुए वे उत्तर की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उनके समक्ष साधुओं तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय वड़ोदरा निवासी शोभाराम शास्त्री ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न किया कि 'हे महाराज! जब मुमुक्षु निर्विकल्प समाधि को प्राप्त होता है, तब वह गुणातीत स्थिति को पाता है, एवं भगवान का एकान्तिक भक्त हो जाता है, किन्तु जिसे निर्विकल्प समाधि न लगी, उसकी कैसी गति होती है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'ऐसा नहीं मानना कि प्राण का निरोध होने पर ही निर्विकल्प समाधि लगती है! वास्तव में निर्विकल्प समाधि की रीति दूसरी है, उसे सुनिये। श्रीमद्भागवत में कहा गया है:

'अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥'[1]

---

1. **सर्गः** = महदादि पृथ्वीपर्यंत तत्त्वों की उत्पत्ति, अर्थात् वैराजपुरुष तक की ➤

इसका अर्थ यह है कि विश्व के सर्गविसर्गादि नौ लक्षणों द्वारा जो ज्ञातव्य है, ऐसे आश्रयस्वरूप श्रीकृष्ण भगवान में जिस मुमुक्षु की अचल मति हो गई हो, (वही भक्त की निर्विकल्प स्थिति है)। जैसे आम के वृक्ष की एकबार अच्छी तरह पहचान हो गई, फिर शरीर में कामावेश हो जाए, या क्रोध या लोभ व्याप्त हो जाए, फिर भी आमवृक्ष के सम्बंध में किसी भी प्रकार की भ्रान्ति नहीं होती कि 'यह आम का वृक्ष होगा या नहीं?' उसी प्रकार जिसे प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण भगवान के स्वरूप का दृढ़ निश्चय हो गया हो और उसमें किसी भी प्रकार का कुतर्क न हो, तो उस पुरुष के प्राण लीन न होने पर भी उसे निर्विकल्प समाधि ही है और प्राणों के लीन होने पर भी निर्विकल्प समाधि ही है।

और, जिसे भगवान के स्वरूप में संकल्प-विकल्प रहता हो कि 'ब्रह्मपुर में भगवान का स्वरूप कैसा होगा? और श्वेतद्वीप तथा वैकुंठ में भगवान का स्वरूप कैसा होगा? तथा उस स्वरूप का दर्शन कब होगा?' ऐसे संकल्प-विकल्पों में उलझा रहे, और उसे जो प्रकट भगवान प्राप्त हुए हैं, उन्हीं को सर्व के कारण जानकर उनकी प्राप्ति के आनन्द से ही स्वयं को कृतार्थ न माने, ऐसे पुरुष को यदि दैवच्छा से समाधि लग भी गई, फिर भी उसके संकल्प-विकल्प नहीं मिटते, तथा समाधि में हुए दर्शन के उपरांत उसे और भी नया-नया देखने की इच्छा रहा करे, लेकिन उसके मन के संकल्प-विकल्प शान्त न हों, उसे अगर समाधि लग गई तो भी वह सविकल्प ही है तथा समाधि न लगी तो भी उसकी सविकल्प स्थिति ही है! अतः जो ऐसा

सृष्टि। **विसर्गः** = ब्रह्मा द्वारा की हुई सृष्टि। **स्थानम्** = भगवान की सर्वोत्कृष्ट शत्रुविजयादिरूप स्थिति। **पोषणम्** = जगत का रक्षणरूप भगवान का अनुग्रह। **ऊतयः** = कर्मवासनाएँ। **मन्वन्तरकथाः** = सद्धर्म, भगवान द्वारा अनुगृहीत मन्वन्तराधिपों का धर्म। **ईशानुकथाः** = भगवान के अवतारचरित्रों की कथा तथा उनके एकान्तिक भक्तों के नानाविध आख्यानों की सत्कथा। **निरोधः** = जीव-समुदाय का अपनी-अपनी कर्मशक्तियों के साथ सूक्ष्मावस्थारूप प्रकृति में रहना। **मुक्तिः** = तीन देह एवं तीन गुणों का त्याग करके अक्षरब्रह्म के साथ ऐक्यभाव प्राप्त करके परब्रह्म की सेवा करना। **आश्रयः** = जिनसे जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय होता है, श्रुति-स्मृतियाँ 'परब्रह्म परमात्मा' इत्यादि शब्दों से जिनकी महिमा-गान करती हैं, उनकी शरणागति। (श्रीमद्भागवतम् : 2/10/1)

हो, उसे गुणातीत-एकांतिक भक्त नहीं कहा जा सकता। और, जिसे भगवान के स्वरूप का दृढ़ निश्चय हो, तो उसे समाधि लगे अथवा न लगे, फिर भी उसे तो सदा-सर्वदा निर्विकल्प समाधि ही है!'

इसके पश्चात् दीनानाथ भट्ट ने प्रश्न पूछा कि 'यदि कोई मन के संकल्प-विकल्पों को मिटाने का उपाय करे, परन्तु यदि उससे मन को नहीं जीता गया, तो उसकी कैसी गति होती है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जब कौरवों और पांडवों में युद्ध प्रारम्भ हुआ, तब कौरवों तथा पांडवों ने यह विचार किया कि हमें ऐसे स्थान पर युद्ध करना चाहिए, जहाँ किसी के भी मरने पर उसकी आत्मा का कल्याण हो। ऐसा विचार करके दोनों पक्षों ने कुरुक्षेत्र में युद्ध किया। उसमें जिनकी जीत हुई उनका भी भला हुआ और संग्राम में जो मारे गए, उनको भी देव-लोक की प्राप्ति हुई तथा राज्य से अधिक सुख-समृद्धि की प्राप्ति हुई।

इसी प्रकार जो कोई पुरुष मन के साथ युद्ध करता है और उसे जीत लेता है, तो उसकी निर्विकल्प स्थिति हो जाती है तथा वह भगवान का एकान्तिक भक्त हो जाता है। यदि मन के आगे उसकी हार हो गई, तो वह योगभ्रष्ट होता है तथा एक या दो जन्मों के बाद अथवा अनेक जन्मों के बाद भी अंततोगत्वा वह एकान्तिक भक्त होता है। वास्तव में उसने जो प्रयास किया है, वह निष्फल नहीं होता। इसलिए, बुद्धिमान पुरुष को अपने कल्याण के लिए मन के साथ अवश्य वैर करना चाहिए। ऐसा होने पर यदि वह मन को जीत लेगा, तो भी अच्छा है, और यदि मन से उसकी हार हो गई, तो भी वह योगभ्रष्ट होगा। उसमें अन्ततः कल्याण ही होगा। अतएव **जो कल्याण का इच्छुक है, उसे तो मन के साथ अवश्य वैर रखना चाहिए।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥1॥ ॥201॥

वचनामृत 2 : चार शास्त्रों द्वारा भगवत्स्वरूप का ज्ञान

संवत् 1882 में कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी (23 नवम्बर, 1825) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल गाँव में श्रीलक्ष्मीनारायण मन्दिर से उत्तर दिशा की ओर गोमती तालाब के तट पर आम्रवृक्ष के नीचे पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने पीले रेशमी कपड़े का चूड़ीदार पायजामा पहना

था, लाल किमखाब की बगलबंडी पहनी थी, मस्तक पर जरीदार पल्ले की कुसुम्भी पाग बाँधी थी और जरीदार पल्ले का कुसुम्भी शेला कन्धे पर डाला था। पाग में ऊपर चम्पा के पुष्पों के हार लगे हुए थे। कंठ में श्वेत पुष्पों के हार पहने हुए थे। उनके समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'परस्पर कुछ प्रश्नोत्तरी प्रारंभ करें।' तब बुवा गाँव के पटेल कानदासजी ने हाथ जोड़कर प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! भगवान किस प्रकार प्रसन्न होते हैं?' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि भगवान के स्वरूप का द्रोह न किया जाए, तो वे प्रसन्न हो जाते हैं। तब आप कहेंगे कि द्रोह क्या है? तो वस्तुतः समस्त जगत के कर्ता-हर्ता भगवान हैं। उन्हें इस प्रकार न समझकर काल, माया, कर्म अथवा स्वभाव को विश्व का कर्ता-हर्ता समझना वही भगवान का द्रोह कहा जाता है, क्योंकि भगवान ही सबके कर्ता-हर्ता हैं। उनका त्याग करके केवल इन सबको - काल, कर्म, स्वभाव और माया को - ही कर्ता मानना भगवान का अतिद्रोह है।

जैसे आप गाँव के पटेल हैं और यदि कोई आदमी आपकी मुखियागिरी नहीं रहने दे, तो उसे आपका द्रोही कहा जाएगा। अथवा कोई चक्रवर्ती राजा हो, उसकी आज्ञा का उल्लंघन करके ऐसी व्यक्ति का, आदेश माना जाए, जो राजा न हो, तो वह पुरुष राजा का द्रोही कहलाता है। और, कोई पुरुष यदि ऐसा पत्र लिख-लिखकर लोगों को भेजे कि 'हमारा राजा बिना नाक-कान का अथवा बिना हाथ-पैर का है।' इस प्रकार राजा का रूप सर्वांग पूर्ण होने पर भी उस रूप को खंडित करके बतानेवाला भी राजा का द्रोही कहा जाएगा, वैसे ही **भगवान करचरणादि समग्र अंगों से परिपूर्ण हैं, और उनका कोई अंग लेशमात्र भी खंडित नहीं है, वे सदैव मूर्तिमान ही रहते हैं। यदि उन्हें अकर्ता तथा अरूप कहा जाए और उनकी अवहेलना करके अन्य काल-आदि को कर्ता बताया जाए, तो वही भगवान के विरुद्ध द्रोह है।** जिसने भगवान का ऐसा द्रोह नहीं किया है, उसके सम्बंध में यही कहा जाएगा कि उसने वास्तव में भगवान की सम्पूर्णरूप से पूजा कर ली है। इसके बिना उसने चन्दन-पुष्पादि द्वारा ही पूजा क्यों न की हो, परन्तु वह भगवान का द्रोही ही है। अतः भगवान

को ही जगत का कर्ता-हर्ता समझे तथा उनको मूर्तिमान माने, उसी के ऊपर भगवान की प्रसन्नता होती है।

और, वेदों में तो नारायण ने अपने श्रीमुख से स्वयमेव भगवान के स्वरूप का विभिन्न प्रकार से वर्णन किया है, परन्तु यह बात किसी की समझ में नहीं आई। अतः सांख्यशास्त्र के आचार्य कपिलजी ने कुल मिलाकर चौबीस तत्त्वों को स्थापित करके पच्चीसवें क्रम पर परमात्मा को कहा है, और यह विचार दिया कि स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण तीनों देह में जीवात्मा एकरस होकर रहती है, किन्तु पृथक् नहीं रह सकती। एवं ईश्वर भी अपनी उपाधि जो तीन अवस्थाएँ विराट, सूत्रात्मा तथा अव्याकृत हैं - इनमें एकरस रहते हैं, वे भी इन तीनों से पृथक् नहीं रह सकते। अतः सांख्यशास्त्र के अनुसार जीव और ईश्वर को चौबीस तत्त्वों में ही गिने हैं और पच्चीसवें क्रम पर परमात्मा को कहा है।

जबकि योगशास्त्र के आचार्य हिरण्यगर्भ ऋषि ने कुल मिलाकर चौबीस तत्त्व कहे, इसके उपरांत पच्चीसवें क्रम पर जीव तथा ईश्वर को बताया, तथा छब्बीसवें क्रम पर परमात्मा को कहा है। इस प्रकार दोनों शास्त्रों ने भगवान के स्वरूप का वर्णन तो किया, परन्तु भगवान के साक्षात्कार स्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ। परंतु केवल अनुमान से तो सिद्ध कर दिया कि 'सांख्यशास्त्र के मतानुसार जो तत्त्व चौबीस तत्त्वों से परे हैं, वह सत्य है तथा योगशास्त्र के मतानुसार चौबीस तत्त्वों से परे जीव एवं ईश्वर हैं और उनसे परे परमात्मा हैं, वह सत्य हैं।' इस प्रकार इन दोनों शास्त्रों द्वारा परमात्मा के स्वरूप का अनुमान-ज्ञान हुआ, परन्तु वे भगवान काले हैं या पीले हैं? लम्बे हैं या ठिगने हैं? साकार है या निराकार हैं? इन प्रश्नों के विषय में कोई ज्ञान नहीं हुआ।

तत्पश्चात् स्वयं वासुदेव भगवान ने पंचरात्र नामक तन्त्र का निर्माण किया, जिसमें यह प्रतिपादन किया कि 'श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम भगवान अपने अक्षरधाम में सदा दिव्य साकार मूर्ति निवास करते हैं।[2] वही भगवान

2. यहाँ अक्षरधाम शब्द से वैकुंठधाम अथवा गोलोकधाम समझना चाहिए। क्योंकि पंचरात्र तंत्र की किसी संहिताओं में परमात्मा के उन धामों का उल्लेख 'अक्षरधाम' कहकर कहीं नहीं हुआ है।

श्वेतद्वीपवासी अनन्त निरन्नमुक्तों को पाँच बार अपने दर्शन देते हैं; और, वैकुंठलोक में वही भगवान चतुर्भुज मूर्ति द्वारा लक्ष्मीजी सहित निवास करते हैं तथा शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण करके रहते हैं। वहाँ विष्वक्सेन आदि पार्षद भगवान की सेवा करते रहते हैं। वे ही भगवान पूजनीय, भजनीय तथा प्राप्त करने योग्य हैं। वे ही भगवान रामकृष्णादि अवतारों को धारण करते हैं तथा वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध नामक चतुर्व्यूहरूप से रहते हैं।' इस प्रकार पंचरात्र में भगवान की साकार मूर्ति का प्रतिपादन किया गया है। तत्पश्चात् नारदजी ने उसी पंचरात्र तन्त्र की पुनः रचना की। तब, वह 'नारद पंचरात्र' कहलाया। उसमें नारदजी ने भगवान के स्वरूप का इस प्रकार प्रतिपादन किया कि किसी भी तरह के संशय को अवकाश नहीं रहा।'[3] इसीलिए श्रीमद्भागवत में कहा गया है :

'नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः।
नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः॥
नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः।
नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः॥'[4]

तथा

'वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः॥
वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः।
वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः॥'[5]

इस प्रकार इन चार शास्त्रों द्वारा श्रीकृष्ण नारायण वासुदेव के स्वरूप का ही प्रतिपादन किया गया है। इन चार शास्त्रों द्वारा जो भगवान के स्वरूप को समझ लेता है, वही पूर्ण ज्ञानी कहलाता है। जैसे दूध नेत्रों से देखने पर

---

3. तथा वेदादि शास्त्रों का तात्पर्य साकार वासुदेव भगवान में ही है, इसीलिए।
4. वेदों में मुख्यतः नारायण ही प्रतिपादन है, अर्थात् वेद नारायणपरक हैं, स्वार्गादि लोक के अधिपति इन्द्रादि देवता भी नारायण के आधीन हैं। यज्ञों द्वारा आराधना करने योग्य नारायण हैं, योग, तप, ज्ञान आदि साधनों द्वारा प्राप्य तत्त्व भी नारायण ही हैं, अतः इन सभी को नारायणपरक ही समझना चाहिए। (श्रीमद्भागवतम् : 2/5/15-16)
5. श्रीमद्भागवतम् : 1/2/28-29

श्वेत दिखाई पड़ता है, नाक से सूँघने पर सुगन्धमय लगता है, उंगली से छूने पर ठंडा या गरम मालूम होता है और जिह्वा से चखने पर स्वादिष्ट प्रतीत होता है, परन्तु केवल एक ही इन्द्रिय द्वारा दूध के स्वरूप का सम्पूर्ण रूप से बोध नहीं होता, वरन् सर्व इन्द्रियों के द्वारा पता लगाने पर ही उसकी पूरी जानकारी मिलती है।

वैसे ही कोई पुरुष जब वेदादि चार शास्त्रों द्वारा भगवान के स्वरूप को समझ लेता है, तभी उसे भगवान के सम्पूर्ण स्वरूप का ज्ञान होता है। ऐसे ज्ञान को ही सम्पूर्ण ज्ञान कहते हैं। और, भगवान भी इस प्रकार के ज्ञान से ही प्रसन्न होते हैं। इसके सिवा परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए अन्य कोई उपाय नहीं है। अतएव, ऐसा विवेकशील पुरुष ही पूर्ण ज्ञानी कहलाता है तथा भगवान भी उसी पर अतिशय प्रसन्न होते हैं।'

॥ इति वचनामृतम् ॥2॥ ॥202॥

वचनामृत 3 : सत्पुरुष के चार प्रकार

संवत् 1882 में कार्तिक कृष्णा एकादशी (6 दिसम्बर, 1825) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर में सिंहासन पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे, कंठ में गुलाब-पुष्पों के हार पहने थे तथा मस्तक पर पाग में तुर्रे लगे हुए थे। उनके समक्ष समस्त मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज कहने लगे कि **'जिस भक्त में ज्ञान, वैराग्य, धर्म तथा भक्ति ये चारों गुण रहते हों, उसको हमारे उद्धव सम्प्रदाय में एकांतिक भक्त कहते हैं तथा वही भक्त हमारे सत्संग में अग्रगण्य बनाने योग्य होता है।** ये चार गुण जिसमें सम्पूर्णरूप से न हों, परंतु कोई एक ही गुण मुख्यतः हो, जिस एक गुण में अवशिष्ट तीनों का समावेश हो जाए, ऐसा कौन-सा एक गुण है, जो चारों में श्रेष्ठ है?' तब गोपालानन्द स्वामी तथा मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'हे महाराज! ऐसा गुण तो एकमात्र धर्म ही है। जिस पुरुष में धर्म हो, उसमें तीनों बातें स्वतः आ जाती हैं।'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'धर्म तो कितने ही विमुख मनुष्यों में भी

होता है, तो क्या सत्संग में उन्हें भी अग्रगण्य मान लेंगे?' यह सुनकर कोई भी इसका उत्तर न दे सका। तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस भक्त के हृदय में माहात्म्यसहित भगवान की भक्ति हो, और अन्य तीनों गुण – आत्मनिष्ठा, धर्म तथा वैराग्य सामान्य रूप से स्थित हों, तो भी वह कभी धर्मच्युत नहीं हो सकता। क्योंकि जो भक्त भगवान के माहात्म्य को समझता हो, वह भक्त यही विचार करता है कि 'भगवान की आज्ञा में जब ब्रह्मा आदि समस्त देव रहे हैं, तब मुझसे भगवान की आज्ञा का उल्लंघन कैसे हो सकता है?' ऐसा जानकर वह भगवान के नियमों का निरन्तर पालन करता रहता है।'

तब शुकमुनि ने पूछा कि 'जब माहात्म्यसहित एकमात्र भक्ति में ही अन्य तीनों समाविष्ट हो जाते हैं, तब केवल भक्ति का ही प्रतिपादन क्यों नहीं किया गया और ये चार (धर्म, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति) क्यों कहे गये?'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज कहने लगे कि 'यदि भगवान में अतिशय माहात्म्यसहित भक्ति बनी रहे, तो केवल ऐसी भक्ति में ही उपरोक्त तीनों गुण आ जाते हैं। परन्तु यदि सामान्य भक्ति रही, तो केवल एकमात्र भक्ति में ही अन्य तीनों गुणों का समावेश नहीं हो पाता। इसलिए कहा गया है कि 'जिसमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं माहात्म्य सहित भक्ति रहती है, वही एकान्तिक भक्त है।' ऐसी असाधारण भक्ति तो पृथुराजा किया करते थे। जब भगवान ने उनसे वर माँगने के लिए कहा, तब पृथुराजा ने भगवान की कथा सुनने के लिए दस सहस्त्र कान माँग लिए, किन्तु अन्य कुछ चीज़ें नहीं माँगीं। और, गोपियों को जब उनके स्वजनों ने रासक्रीडा में जाने से मना कर दी, तो वे देह का त्याग करके श्रीकृष्ण के पास चली गई थीं। यदि ऐसी असाधारण भक्ति हो, तो ज्ञानादि तीनों गुण अकेली भक्ति में ही आ जाते हैं।'

तब ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'ऐसी असाधारण भक्ति को प्राप्त करने का क्या उपाय है?'

इसका उत्तर देते हुए श्रीजीमहाराज बोले कि 'ऐसी भक्ति बड़े सन्त की सेवा करने से प्राप्त होती है। ऐसे सत्पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं। इनमें सबसे पहले तो दीपसदृश, दूसरे मशालसदृश, तीसरे बिजलीसदृश और चौथे वडवानल अग्निसदृश होते हैं। उन सत्पुरुषों में जो दीपसदृश होते हैं, वे विषयरूपी वायु से बुझ जाते हैं। जो मशाल-जैसे होते हैं, वे भी उससे

अधिक विषयरूपी वायु लगने से बुझ जाते हैं। जो बिजली-जैसे होते हैं, वे मायारूपी वर्षा के पानी से भी नहीं बुझ पाते। और, जो वडवानल अग्निसदृश होते हैं, वे विलक्षण ही होते हैं। जैसे वडवानल समुद्र में रहने पर भी समुद्र के जल से बुझाये जाने पर नहीं बुझ पाता और समुद्र के जल को पीकर उसे मूलद्वार से निकाल डालता है, वह पानी मीठा होता है, उसे लाकर मेघ संसार में वर्षा करते हैं, और उससे अनेक प्रकार के रस उत्पन्न होते हैं; ठीक उसी तरह जो सत्पुरुष वडवानल जैसे होते हैं, वे समुद्री जल-जैसे खारे जीवों को भी मीठा कर डालते हैं। इस प्रकार चार तरह के जो बड़े सन्त कहे गए हैं, उनमें से यदि **बिजली जैसे तथा समुद्री अग्नि जैसे बड़े सन्त की सेवा अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए मन, कर्म तथा वचन द्वारा की जाए, तो जीव के हृदय में माहात्म्यसहित भक्ति उत्पन्न हो जाती है। यहाँ समझ लेना चाहिए कि बिजली की अग्निसदृश साधु तो साधनदशावाले भगवान के एकान्तिक साधु हैं तथा वडवानल अग्नि जैसे सन्त तो सिद्धदशावाले भगवान के परम एकान्तिक साधु हैं।'**[6]

॥ इति वचनामृतम् ॥3॥ ॥203॥

वचनामृत 4 : एकान्तिक भक्त योगी की भगवद्-धारणा

संवत् 1882 में मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी (20 दिसम्बर, 1825) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ कीजिए।' तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान के भक्ति-मार्ग में प्रवृत्त भक्त के लिए एक ही ऐसा कौन-सा साधन है, जिसको अपनाने से कल्याण के लिए प्रतिपादित अन्य सभी साधन उसी एक साधन में ही समाविष्ट हो जाएँ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि **'तीस लक्षणों से युक्त सन्त का संग मन, कर्म तथा वचन द्वारा करना, तो जीतने कल्याण के लिए साधन**

6. यहाँ 'वडवानल सदृश परम एकान्तिक साधु' माया से परे स्थित अक्षरब्रह्मरूप सत्पुरुष का स्पष्टरूप से निर्देश करता है।

कहे गए हैं, वे सभी उन संत की संगत में समा जाते हैं।'

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज स्वयं प्रश्न करने लगे कि 'भगवान का एकान्तिक भक्त जो योगी है वह समझता है कि सांख्यशास्त्र तथा योगशास्त्र दोनों का मत वासुदेव नारायण परक ही है। ऐसा योगी भगवान के स्वरूप में किस प्रकार वृत्ति रखता है? तथा वह अपने मन को कैसे नियन्त्रित करता है तथा अपने मन के साथ-साथ मूर्ति को किस तरह रखता है? और वह किस प्रकार अंतर में वृत्ति रखता है? तथा किस प्रकार बाह्यरूप से वृत्ति रखता है? और स्वयं को निद्रारूप लय एवं संकल्प-विकल्परूपी विक्षेप से किस प्रकार की योग-कला द्वारा अलग रखता है? ये सब बताइए!'

श्रीहरि के इन (छः) प्रश्नों को सुनकर मुक्तानन्द स्वामी तथा गोपालानन्द स्वामी ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार उत्तर देने का प्रयास किया, किन्तु कोई भी इनके यथेष्ट उत्तर नहीं दे सके।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि, 'जिस प्रकार जल के फुहारे से पानी तीव्र वेग से ऊपर की ओर उछलता है, वैसे ही अन्तःकरणरूपी फुहारे में जीव की वृत्तियाँ पाँच इन्द्रियों द्वारा तीव्र वेग से उछलती हैं। ऐसी स्थिति में योगी पुरुष दो प्रकार से अपनी वृत्तियों को बनाए रखता है। इनमें से एक वृत्ति द्वारा वह अपने हृदय में साक्षीरूप रहे श्रीवासुदेव भगवान का चिन्तन करता रहता है तथा दूसरी वृत्ति को दृष्टि द्वारा बाहर रखकर उस वृत्ति द्वारा बाह्यरूप से भगवान का चिन्तन नखशिखापर्यन्त समग्र मूर्ति के साथ में ही करता है। परन्तु वह भगवान के एक-एक अंग का अलग-अलग चिन्तन नहीं करता। जिस प्रकार हम किसी बड़े मन्दिर को एक ही साथ समग्र दृष्टि से देख सकते हैं, तथा किसी विशाल पर्वत को एकसाथ समग्रतया ही देखा करते हैं, उसी तरह वह योगी, भगवान के स्वरूप को समग्रतया देखता है, किन्तु उनके प्रत्येक अंग को अलग-अलग नहीं देखता।

जब योगी अपनी दृष्टि के आगे कुछ दूरी पर उस मूर्ति की धारणा करता है, तब उस मूर्ति के निकट कोई अन्य पदार्थ दिखने लगे तो वह दूर धारण की हुई उस मूर्ति को निकट लाकर अपनी नासिका के अग्रभाग पर उस मूर्ति को रखता है। ऐसा करने पर भी अगर मूर्ति के आसपास कुछ मायिक पदार्थ दिखाई पड़े, तो वह अपनी भृकुटि के मध्यभाग में भगवान

की मूर्ति की धारणा करता है। ऐसा करने पर भी यदि आलस्य अथवा निद्रा की अहसास हो तो वह भगवान की मूर्ति की अपनी दृष्टि के समक्ष ही थोड़ी-सी दूरी पर धारणा करता है। जिस तरह लड़के पतंग उड़ाते हैं, वैसे ही मूर्तिरूपी पतंग को योगी अपनी वृत्तिरूपी डोरी द्वारा ऊँचा चढ़ाता है, और फिर नीचे लाकर डुलाता है। इस प्रकार योगकला द्वारा जब वह सचेत हो जाए, तब मूर्ति को पुनः नासिका के अग्रभाग में धारणा करता है। फिर वहाँ से उसे भृकुटि में लाकर मूर्ति को हृदय में उतारता है। इस प्रक्रिया से अन्तर में स्थित साक्षीरूप मूर्ति और बाहर स्थित मूर्ति को 'एक' कर देता है। फिर अंतःकरण की दोनों वृत्तियाँ एक हो जाती हैं।

ऐसा करते समय भी यदि आलस्य अथवा निद्रा-सा प्रतीत हो, तो पुनः दोनों प्रकार की वृत्तियों द्वारा मूर्ति को बाहर लें आता है। इसी प्रकार श्रोत्र, त्वक्, रसना तथा घ्राण-इन्द्रियों द्वारा भी योगकला को सिद्ध करता है। वैसे ही मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार द्वारा भी भगवान की मूर्ति की धारणा करता है और इन्द्रियों तथा अन्तःकरण आदि सबको सांख्यविचार द्वारा पृथक् करके अकेले चैतन्य में ही भगवान की मूर्ति को धारण करता है। उन भगवान की मूर्ति को अन्तःकरण में धारण किया हो या उसे बाहर धारण किया हो, उस समय कोई व्यवहार सम्बंधी विक्षेप आड़े आ जाए, तो उस विक्षेप का भी मूर्ति की धारणा द्वारा ही समाधान कर डालता है। परन्तु विक्षेपजन्य स्थिति में भी अपनी योगकला का परित्याग नहीं करता। योगी पुरुष इस प्रकार की योगकला से युक्त होकर आचरण किया करता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥4॥ ॥204॥

वचनामृत 5 : भगवान में माया न समझना; भक्त-भगवान की समान सेवा

संवत् 1882 में मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्थी (29 दिसम्बर, 1825) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर से उत्तर दिशा में गोमती तालाब के किनारे पर आम्रवृक्ष के नीचे की वेदी पर बिछे हुए पलंग पर उत्तराभिमुख होकर विराजमान थे। उन्होंने बहुत बारीक श्वेत वस्त्र धारण किए थे, कंठ में अनेक गुलाब-पुष्पों के हार पहने थे,

कानों के ऊपर बड़े दो-दो गुलाब-पुष्पों के गुच्छे धारण किए थे और पाग में गुलाब के फूलों के तुर्रे लगे हुए थे। उनके समक्ष समग्र मुनिमंडल तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'आज तो कुछ जटिल प्रश्न पूछिए, ताकि सबका आलस्य समाप्त हो जाए।' ऐसा कहकर वे स्वयं तकिया पश्चिम की ओर करके लेट गए! इसके बाद मुक्तानन्द स्वामी ने निम्न लिखित श्लोक बोलकर प्रश्न पूछा :

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥'[7]

इस श्लोक में श्रीकृष्ण भगवान ने यह कहा है कि 'जो पुरुष मुझे प्राप्त करता है, वह मेरी दुस्तर एवं गुणमयी माया को तैर जाता है।' तब जिसको भगवान की प्राप्ति हो चुकी है, उसके अन्तःकरण में भगवान का भजन करते समय संकल्प-विकल्प का जो विक्षेप उपस्थित होता है, वह माया के अतिरिक्त और कौन करता होगा? यह प्रश्न है।'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज लेटे हुए थे वे उठ बैठे, और अतिकरुणार्द्र होकर बोले कि 'माया के जो तीन गुण हैं उनमें तमोगुण के पंचभूत तथा पंच तन्मात्राएँ हैं, रजोगुण की दस इन्द्रियाँ, बुद्धि तथा प्राण हैं तथा सत्त्वगुण के मन, इन्द्रियों-अन्तःकरण के देवता हैं। पूर्वकाल में जो भक्त हो गए हैं, उन सबमें इन तीनों गुणों के कार्यरूप भूत, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा देवता रहे थे। (तो क्या वे सभी भक्त माया तैर नहीं पाए थे?)। इसलिए, इसका उत्तर यह है कि जिसने परमेश्वर को यथार्थरूप में परमेश्वर जान लिया है कि **'इन भगवान के स्वरूप में किसी भी प्रकार का मायिक भाव नहीं है, तथा ये भगवान तो माया तथा माया के कार्यभूत तीनों गुणों से परे हैं,' ऐसा भगवान में दृढ़ निश्चय जिसे हो चुका है, वह माया को अवश्य तैर चुका है।** यद्यपि उस भक्त में माया के गुणों की प्रवृत्तियाँ जो भूत, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण एवं देवता हैं, वे अपनी-अपनी क्रिया में क्यों न प्रवृत्त होते हैं, फिर भी वह माया से पार हो चुका कहा जाएगा। क्योंकि अपने में माया की प्रवृत्तियाँ भले ही विद्यमान हों, लेकिन वह अपने भजनीय प्रकट प्रमाण

7. अर्थ के लिए देखें, वचनामृत लोया प्रकरण 13 की पादटीप-36

श्रीवासुदेव भगवान को उन माया के गुणों से पर ही समझता है; इसलिए उसे भी माया से परे समझना चाहिए। और, माया के गुणों का प्रवेश तो ब्रह्मादि देवों तथा वसिष्ठ, पराशर एवं विश्वामित्र आदि ऋषियों में भी दिखाई पड़ा है। शास्त्रों में भी उनके दृष्टांतों का उल्लेख किया गया है। तो क्या वे मुक्त नहीं कहलाएँगे? और उनके सम्बंध में क्या यह नहीं कहा जाएगा कि उन्होंने माया को पार कर लिया है? वस्तुतः वे सब मुक्त हैं और उन सबने माया को पार कर लिया है। यदि इस प्रकार का उत्तर न दिया जाए, तो इस प्रश्न का कोई समाधान ही नहीं हो सकेगा। इसीलिए, इसका यही उत्तर है।'

फिर नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! यह बात ठीक है कि भगवान के आश्रय में जाना चाहिए, परन्तु उस आश्रय का स्वरूप यानी शरणागत का लक्षण क्या है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान ने गीता में कहा है कि -

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥'[8]

इस श्लोक में कहा गया है कि 'तू अन्य समस्त धर्मों का परित्याग करके एकमात्र मेरी शरण में ही आ जा, तो मैं तुझको समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।' जिसको भगवान का ऐसा दृढ़ आश्रय हो गया हो, उसको यदि महाप्रलय जैसा दुःख प्राप्त हो जाए, तब भी उस दुःख से रक्षा करनेवाला भगवान के बिना अन्य किसी को न माने; और, स्वयं को जिस-जिस सुख की इच्छा हो, वह भी भगवान से ही याचे, लेकिन भगवान के सिवा अन्य किसी को भी सुखदायक न माने, तथा प्रभु की जैसी मर्ज़ी हो, उसी के अनुसार ही आचरण करे, ऐसा जो भक्त है, उसी को प्रभु का शरणागत जीव कहा जाता है और वही भगवान का अनन्य भक्त कहलाता है।'

फिर नाजा भक्त ने पूछा कि 'जिसको भगवान का परिपूर्ण आश्रय न हो, फिर भी बोलचाल में पक्के हरिभक्त के समान ही निश्चय का बल प्रकट किया करता हो, उसकी सच्चाई की परख किस प्रकार से प्राप्त होती है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान के भक्तों को श्रेष्ठ या कनिष्ठ निश्चय हों तो उसकी परख उसके साथ में रहने और साथ में व्यवहार करने

8. गीता : 18/66, अर्थ के लिए देखें, वचनामृत ग.म. प्रकरण 17 की पादटीप-20

से पूरी तरह मालूम पड़ जाती है। जिसका कनिष्ठ निश्चय होता है, वह सत्संग के भीड़े[9] में न रहकर, दुःखित होकर अपना अलग रास्ता पकड़ लेता है तथा एकान्त में रहकर जैसा बनता है, वैसा भजन करता है, परन्तु वह हरिभक्तों के 'भीड़े' में नहीं रह पाता।इस प्रकार, भगवान का आश्रय भी उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ रूप से तीन प्रकार का होता है, तथा उसी प्रकार भक्त के भी तीन प्रकार हो जाते हैं।'

यह सुनकर नित्यानन्द स्वामी ने पूछा कि 'ऐसी कसर मिटे, और कनिष्ठ भक्त भी उत्तम भक्त का स्थान इसी जन्म में प्राप्त कर सके, वह किस प्रकार संभव होता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि **'जैसे भगवान की मानसी पूजा की जाती है, वैसे ही जो उत्तम हरिभक्त हो उसकी भी भगवान की प्रसादी से भगवान के साथ मानसी पूजा की जाए; तथा जिस प्रकार भगवान के लिए थाल अर्पण किया जाता है, वैसे ही भगवान के उत्तम भक्त के लिए भी थाल अर्पण करें, एवं जिस तरह भगवान के लिए पाँच रुपये खर्च किए जाते हैं, वैसे ही ऐसी रकम बड़े सन्त के लिए भी खर्च करे। उसी प्रकार जो पुरुष भगवान तथा उनके उत्तम लक्षणवाले सन्त की अत्यन्त ही प्रेमपूर्वक समानभाव से सेवा करता है, वह यदि कनिष्ठ भक्त हो, तथा दो जन्मों, चार जन्मों, दस जन्मों अथवा एक सौ जन्मों के बाद भी यदि उत्तम भक्त सदृश होनेवाला हो, तो वह इसी जन्म में उत्तम भक्त हो जाता है। यह भगवान तथा उन भगवान के भक्त की समान रूप से सेवा करने का फल है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥5॥ ॥205॥

वचनामृत 6 : जीव एवं कारणशरीर का नित्य सम्बंध

संवत् 1882 में मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी (4 जनवरी, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर के आगे मंच पर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे, कंठ

9. संतों-भक्तों के समूह में रहकर आपसी प्रकृति-स्वभावों को या समस्याओं को सहन करने की साधना को श्रीहरि 'भीड़ा' शब्द से कहते थे।

में पुष्पहार पहने थे और पाग में तुर्रे लटक रहे थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब चिमनरावजी ने प्रश्न किया कि 'हे महाराज! सभी जीव प्रथम तो प्रलयकाल में कारणशरीरयुक्त होकर माया में लीन हुए थे, और उसके पश्चात् सृष्टिकाल में उन जीवों को स्थूल-सूक्ष्म देहों की प्राप्ति हुई तथा देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चित्र-विचित्र योनियों में जन्म हुआ। वह सब कर्म से हुआ? या फिर भगवान की इच्छा से हुआ? यदि आप कहेंगे कि ऐसी स्थिति कर्म द्वारा निष्पन्न हुई, तब तो जैनमत की सत्यता सिद्ध होगी; और, यदि यह कहेंगे कि ऐसा भगवान की इच्छा से हुआ तो भगवान में ही विषमता तथा निर्दयतारूप दोष आते हैं। अतः जो भी यथार्थ हो वह कृपा करके बताइए।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'आपको यह प्रश्न पूछना नहीं आया। क्योंकि यह जो कारण शरीर है, उसमें स्थूल एवं सूक्ष्म नामक दो शरीर बीजवृक्ष-न्याय से रहते हैं, इसीलिए इसको कारणशरीर कहते हैं। ऐसा वह कारणशरीर अविद्यात्मक है, अनादि है, और संचित कर्मों से युक्त है। और जिस प्रकार बीज तथा छिलके का नित्य सम्बंध है, तथा भूमि तथा गन्ध का नित्य सम्बंध है, वैसे ही जीव तथा कारणशरीर का नित्य सम्बंध है। और, जैसे पृथ्वी में रहनेवाले बीज वर्षाकाल में जल का योग पाकर उग आते हैं, वैसे ही माया में कारणशरीरयुक्त रहे हुए जीव उत्पत्तिकाल में फलप्रदाता परमेश्वर की दृष्टि को पाकर अपने-अपने कर्मों के अनुसार नाना प्रकार के शरीरों को पाते हैं।

और, नास्तिक ऐसे जैन तो केवल कर्म को ही कर्ता कहते हैं, परन्तु परमेश्वर को कर्मफल प्रदाता नहीं बताते। अतः नास्तिकों का मत गलत है।

यदि कोई काल का ही बल बतावे, तो वह भी प्रमाण नहीं हो सकता। अगर कोई अकेले कर्म का ही बल बताये, तो वह भी प्रमाण नहीं हो सकता तथा यदि कोई अकेले परमेश्वर की इच्छा का ही बल बताये, तो वह भी प्रमाण नहीं हो सकता; वास्तविक बात यह है कि जिस समय जिसकी प्रधानता रहती हो, उस समय शास्त्रों में उसी की प्रधानता बताई गई हो, अतः सभी ठिकानों पर किसी एक को प्रधान मानकर वही एक तत्त्व मुख्य है, ऐसा नहीं समझना चाहिए।

क्योंकि सर्व प्रथम जब इस विश्व की रचना की गई थी, तब सबसे पहले जो सत्ययुग था, उस सत्ययुग में सभी मनुष्यों के संकल्प सत्य होते थे। सब लोग ब्राह्मण थे। जब वे लोग मन में संकल्प करते थे, तब उनके संकल्पमात्र से ही पुत्र की उत्पत्ति हो जाती थी। सबके घर में कल्पवृक्ष थे, और जितने मनुष्य थे, वे सब परमेश्वर का ही भजन करते थे। फिर जब त्रेतायुग आया, तब मनुष्यों के संकल्प सत्य नहीं रहे; उस समय जब लोग कल्पवृक्ष के नीचे जाकर संकल्प करते थे, तब संकल्प सत्य होते थे और स्त्री का स्पर्श करने पर पुत्र की उत्पत्ति होती थी। फिर जब द्वापरयुग आया तब स्त्री का अंगसंग करने से पुत्र की प्राप्ति होने लगी। इस प्रकार, प्रारम्भिक सत्ययुग तथा त्रेतायुग की सभी रीतियाँ उसके बाद आनेवाले सत्ययुगों तथा त्रेतायुगों में प्रचलित नहीं हो सकतीं। वह रीति तो प्रथम सत्ययुग तथा प्रथम त्रेतायुग में ही थी। इस प्रकार जब शुभकाल बलवान होकर प्रवृत्त होता है, तब वह जीव के अशुभ कर्मों के सामर्थ्य को न्यून कर डालता है। और, जब अतिशय दुर्भिक्ष का वर्ष आता है, तब समस्त प्रजा को दु:ख उठाना पड़ता है अथवा घमासान लड़ाई होने पर जब लाखों आदमी एक ही समय में मारे जाते हैं, तो क्या उन सबका शुभ कर्म एक साथ ही समाप्त हो गया? वहाँ तो अशुभ काल का ही अतिशय सामर्थ्य रहता है और उसी ने जीवों के शुभ कर्मों के बल को हटा दिया है। अत: जब बलवान काल का वेग प्रवृत्त होता है, तब (शुभाशुभ) कर्म का मेल नहीं रहता, यदि किसी के कर्म में सुख लिखा हो, तो भी दु:ख प्राप्त हो जाता है, यदि किसी के कर्म में जीवित रहना लिखा हो, तो भी वह काल के प्राधान्य से मर जाता है। इस प्रकार शास्त्र में उल्लेख मिलता है कि जब बलवान काल का ऐसा वेग हो, तब उस काल से ही सब कुछ है। यह बात भी सत्य है कि जब बहुत-से मनुष्य भगवान के एकान्तिक भक्त होते हैं, तब कलियुग में भी सत्ययुग होता है। क्योंकि उस समय तो वहाँ एकान्तिक भक्तों के भगवद्भक्ति सम्बंधी शुभ कर्मों का बल शास्त्र में कहा हो, लेकिन उस समय काल का बल नहीं कहा होता। इस रहस्य को जाने बिना ही नास्तिक मतानुयायी केवल कर्म को ही सर्वकर्ता कहते हैं, परन्तु ऐसा नहीं जानते कि वह तो भगवान के एकान्तिक भक्त के कर्मों का सामर्थ्य बताया गया है किन्तु विमुख जीव के कर्मों का ऐसा सामर्थ्य

नहीं कहा है।

और, जब भगवान ऐसा संकल्प करके प्रकट होते हैं कि 'इस शरीर द्वारा जिन-जिन पात्र-कुपात्र जीवों के लिए मेरी मूर्ति का योग बन जाए, उन सबका कल्याण करना है।' उस स्थिति में काल तथा कर्म का कोई भी सामर्थ्य नहीं रहता। तब तो अकेले परमेश्वर का ही सामर्थ्य रहता है।

जैसे कि जब भगवान ने कृष्णावतार धारण किया था तब घोर पापिनी पूतना ने भगवान को विष पिलाया था, फिर भी श्रीकृष्ण भगवान ने उसको अपनी माता यशोदाजी के समान सद्गति प्रदान की। अन्य भी घोर पापी दैत्य थे, जो भगवान की हत्या करने के लिए आए थे; उन्हें भी श्रीकृष्ण भगवान ने परमपद प्रदान किया। और, अन्य भी जो-जो मुमुक्षु भावपूर्वक श्रीकृष्ण भगवान के सम्बंध को प्राप्त हुए, उन सबका उन्होंने कल्याण किया। ऐसे चरित्रों में तो परमेश्वर का ही अतिशय बल कहा गया है, किन्तु काल या कर्म का कोई सामर्थ्य होने की बात नहीं कही गई है। इसीलिए, जिस स्थान में जैसा संदर्भ हो, उस स्थान पर तदनुसार समझना चाहिए।'

॥ इति वचनामृतम् ॥6॥ ॥206॥

वचनामृत 7 : दैवी-आसुरी जीव के लक्षण

संवत् 1882 में मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्दशी (7 जनवरी, 1826) को श्रीजीमहाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर के आगे मंच पर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय हरिभक्त परस्पर भगवद्वार्ता कर रहे थे। तब ऐसा प्रसंग आया कि दैवी तथा आसुरी दो प्रकार के जीव हैं। उनमें दैवी जीव ही भगवान के भक्त होते हैं, जबकि आसुरी जीव तो भगवान से विमुख ही रहते हैं। तब चिमनरावजी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! आसुरी जीव किसी प्रकार दैवी बन सकते हैं या नहीं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'आसुरी जीव दैवी हो ही नहीं सकते, क्योंकि वे जन्म से ही आसुरीभाव से युक्त होते हैं। यदि आसुरी जीव किसी प्रकार से सत्संग में आ गया हो, तो भी उसका आसुरीभाव समाप्त नहीं हो

पाता। बाद में सत्संग में रहते हुए ही जब उसका देहान्त होता है, तब वह ब्रह्म में लीन हो जाता है और पुनः बाहर निकलता है। इस प्रकार वह अनेक बार ब्रह्म में लीन होता है और पुनः बाहर निकलता है। तब उसका आसुरीभाव नष्ट होता है, परन्तु, उसके बिना तो उसका आसुरीभाव नष्ट नहीं हो पाता।'

फिर शोभाराम शास्त्री ने पूछा कि 'हे महाराज! भगवान का अन्वय-भाव कैसा है तथा व्यतिरेकभाव कैसा है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'अन्वय-व्यतिरेक की वार्ता इस प्रकार है कि ऐसा नहीं मानना कि भगवान आधे माया में अन्वयात्मक हुए हैं और आधे अपने धाम में व्यतिरेक-भाव से रहे हैं। उसमें यह समझना कि भगवान का स्वरूप ही ऐसा है कि माया में अन्वय होते हुए भी व्यतिरेक ही हैं। परन्तु, भगवान को ऐसा भय नहीं है कि 'यदि मैं माया में चला जाऊँगा तो अशुद्ध हो जाऊँगा।' वास्तविक बात यह है कि जब भगवान माया में आते हैं, तब माया भी अक्षरधामरूप हो जाती है। यदि वे चौबीस तत्त्वों में प्रविष्ट होते हैं, तो चौबीसों तत्त्व भी ब्रह्मरूप (अर्थात् माया से निर्बन्ध) हो जाते हैं।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है -

'धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि।'[10]

इस प्रकार के अनेक वचनों द्वारा भगवान के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। जैसे वृक्ष के बीज में भी आकाश है और उसके बाद उस बीज में से जब वृक्ष हुआ तब इस वृक्ष की डालियाँ, पत्तियाँ, फूल और फल आदि सबमें भी आकाश 'अन्वय' हुआ; लेकिन जब वृक्ष को काट डालते हैं, तब वृक्ष के कट जाने पर भी उसके साथ आकाश नहीं कटता और वृक्ष को जलाने पर भी आकाश नहीं जलता। वैसे ही, भगवान भी माया तथा माया के कार्य में अन्वयात्मक होते हुए भी आकाश की तरह व्यतिरेक ही हैं। इस प्रकार भगवान के स्वरूप में अन्वय-व्यतिरेकभाव रहता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥7॥ ॥207॥

वचनामृत 8 : योगी की निद्रा

संवत् 1882 में पौष शुक्ला चतुर्थी (12 जनवरी, 1826) को स्वामी

10. अर्थ के लिए देखें, वचनामृत पंचाला प्रकरण 7 की पादटीप-16

श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल में श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर के आगे मंच पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

मुनि तबला-सरोद लेकर कीर्तन कर रहे थे। उस समय श्रीजीमहाराज ने अन्तर्दृष्टि द्वारा ध्यानमुद्रायुक्त होकर कुछ समय तक दर्शन दिए। इसके पश्चात् अपने नेत्र कमल खोलकर समूची सभा पर दृष्टि डालकर कहने लगे कि 'अब आप सब सुनिए, हम एक बात कहते हैं कि - इन नेत्रों की वृत्ति अरूप है, फिर भी यदि उस वृत्ति के मार्ग में कोई स्थूल पदार्थ आडे आता है, तब वह वृत्ति रुक जाती है। इसीलिए, वह वृत्ति स्थूल है तथा पृथ्वी-तत्त्वप्रधान है। जब परमेश्वर का भक्त उस वृत्ति को परमेश्वर के स्वरूप में रखता है, तब वह वृत्ति सबसे पहले पतली डोरी की भाँति पीली दिखाई पड़ती है। जैसे मकड़ी अपनी लार को एक स्तम्भ से दूसरे स्तम्भ तक लम्बी करने के बाद कभी इस स्तम्भ पर तो कभी उस स्तम्भ के ऊपर चली ज़ाती है और कभी दोनों स्तम्भों के मध्य बैठ जाती है। वैसे ही मकड़ी की जगह पर जीव है तथा एक स्तम्भ के स्थान पर भगवान की मूर्ति है और अन्य स्तम्भ के स्थान पर अपना अन्तःकरण है, और लार के स्थान पर वृत्ति है, उसके द्वारा ध्यान का करनेवाला जो योगी है, वह कभी तो भगवान के स्वरूप के साथ संलग्न हो जाता है और कभी अन्तःकरण में स्थित रहता है, और कभी अन्तःकरण तथा भगवान के मध्य में बना रहता है। ऐसी स्थिति में पृथ्वी-तत्त्वप्रधान जो पीली वृत्ति है, वह जब जलतत्त्वप्रधान होती है, तब श्वेत दिखाई पड़ती है और जब वह अग्नितत्त्वप्रधान होती है तब रक्त-जैसी प्रतीत होती है, वायुतत्त्वप्रधान होने पर हरी दीख पड़ती है, तथा आकाश-तत्त्वप्रधान होने पर श्याम दिखाई पड़ती है। फिर पंचभूतों की प्रधानता मिट जाने पर जब यह वृत्ति निर्गुण हो जाती है तब अतिशय प्रकाशयुक्त दिखाई पड़ती है और भगवान के स्वरूप के आकार को प्राप्त कर लेती है।

अतः जो भक्त उक्त प्रकार से भगवान के स्वरूप में वृत्ति रखता हो, उसको अत्यन्त पवित्रतापूर्वक रहना चाहिए। **जैसे कोई भक्त देव-पूजन के लिए तत्पर हो और देवसदृश पवित्र होकर यदि वह देव की पूजा करता है, तब देव उसकी पूजा को अंगीकार करते हैं; वैसे ही परमेश्वर में**

वृत्ति रखनेवाले को भी सांख्यशास्त्र की रीति से अपने स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण नामक तीन देहों से अपने स्वरूप को भिन्न समझकर तथा केवल आत्मारूप होकर परमेश्वर के स्वरूप में वृत्ति रखना चाहिए। इस प्रकार वृत्ति रखते-रखते जब वह वृत्ति भगवान के स्वरूप में लीन हो जाए, तब इसी को ध्यान करनेवाले योगी की निद्रा कहा गया है, किन्तु सुषुप्ति में लीन होने की अवस्था तो योगी की निद्रा नहीं हो सकती।'

॥ इति वचनामृतम् ॥8॥ ॥208॥

वचनामृत 9 : समाधिजन्य आनन्द

संवत् 1882 में पौष शुक्ला अष्टमी (16 जनवरी, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर के आगे मंच पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने समस्त मुनिमंडल से प्रश्न किया कि 'राजसिक, तामसिक तथा सात्त्विक तीन प्रकार के जो मायिक सुख हैं वे जिस प्रकार तीनों अवस्थाओं में प्रतीत होते हैं, वैसे ही भगवान सम्बंधी निर्गुण आनन्द तीनों अवस्था में किस प्रकार प्राप्त होता है ?'

इस प्रश्न का उत्तर समस्त मुनिमंडल मिलकर देने लगे, परन्तु किसी से भी उचित उत्तर न प्राप्त हो सका। तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'पृथ्वी आदि चार भूतों के बिना अकेला ही आकाश हो और उसमें जितने तारे रहते हैं, उतने ही वहाँ चन्द्रमा हों तथा उन सबका जितना प्रकाश हो, वैसा चिदाकाश का प्रकाश है। उस चिदाकाश में भगवान की मूर्ति सदैव विराजमान रहती है। उस मूर्ति में जब समाधि लग जाए और यदि एक क्षण के लिए भी भगवान के स्वरूप में स्थिति स्थिर हो गई, तो भजन करनेवाले को ऐसा प्रतीत होगा कि 'हज़ारों वर्ष पर्यन्त मैंने समाधिजन्य आनन्द का उपभोग किया है।' इस तरह भगवान के स्वरूप सम्बंधी ऐसा जो निर्गुण आनन्द है, उसकी अनुभूति होती है। और, जो मायिक सुख है, उसका उपभोग दीर्घकाल तक भी किया हो, तो भी अन्त में वह क्षणभर का ही प्रतीत होता है। अत: **भगवान के स्वरूप**

सम्बंधी निर्गुण आनन्द अखंड एवं अविनाशी है तथा मायिक सुख तो नाशवंत है।

॥ इति वचनामृतम् ॥9॥ ॥209॥

वचनामृत 10 : जीव के कल्याण का उपाय

संवत् 1882 में पौष शुक्ला एकादशी (19 जनवरी, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के राज-भवन में नीम वृक्ष के नीचे चौकी पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनिवृन्द तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय भादरण गाँव के पाटीदार भगुभाई आए। उन्होंने श्रीजी-महाराज से प्रश्न किया कि 'हे महाराज! जीव का कल्याण किस प्रकार हो सकता है?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'इस पृथ्वी पर राजारूप तथा साधुरूप दो प्रकार से भगवान अवतार धारण करते हैं। जब वे राजारूप में पृथ्वी पर प्रकट होते हैं, तब उनचालीस लक्षणों से युक्त होते हैं और जब वे साधुरूप में प्रकट होते हैं, तब वे तीस प्रकार के लक्षणों[11] से युक्त रहते हैं। तथा राजा-रूप भगवान तो चौंसठ प्रकार की कलाओं से युक्त होते हैं तथा साम, दाम, भेद तथा दंड ये चार प्रकार के उपायों से भी युक्त होते हैं। इसके उपरांत वे शृंगार आदि नवरसों से भी युक्त होते हैं। वे भगवान जब साधुरूप में रहते हैं, तब उनमें ये लक्षण नहीं होते। यदि भगवान राजारूप हों, तो आपत्काल आने पर वे मृगया करके भी जीते हैं, तथा चोरों की गर्दन भी काट डालते हैं और उनकी स्त्रियाँ भी होती हैं। परन्तु भगवान साधुरूप में होते हैं, तब वे अतिशय अहिंसापरक आचरण करते हैं, और हरे तृण को भी नहीं तोड़ते तथा चित्रांकित स्त्री का भी स्पर्श नहीं करते। इसलिए, साधुरूप भगवान की मूर्ति तथा राजारूप भगवान की मूर्ति की रीति एकसमान नहीं होती।

और, श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में पृथ्वी तथा धर्म के संवाद में भगवान के राजारूप श्रीकृष्णादि अवतारों के उनचालीस लक्षण कहे गए हैं

11. इन तीस लक्षणों के बारे में देखें, वच. गढडा प्रथम प्रकरण 77 की पादटीप-106

और एकादश स्कन्ध में श्रीकृष्ण भगवान तथा उद्धव के संवाद में भगवान के साधुरूप दत्तात्रेय, कपिल आदि अवतारों के तीस लक्षण कहे गए हैं। अतः जिसको अपने कल्याण की इच्छा हो, वह उन-उन लक्षणों द्वारा भगवान को पहचान कर उन भगवान की शरण में जाएँ, तथा उनका दृढ़ विश्वास रखें और उनकी आज्ञा में रहकर उनकी भक्ति करें, यही कल्याण का उपाय है।

और, **भगवान जब पृथ्वी पर प्रत्यक्ष रूप से प्रकट न हों, तब भगवान से मिले हुए (यानी भगवान से एकात्मभाव से जुड़े हुए) साधु का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। उनसे भी जीव का कल्याण होता है।** जब ऐसे साधु भी विद्यमान न हों तब भगवान की प्रतिमा में दृढ़ प्रतीति रखने से तथा स्वधर्म में रहकर भक्ति करने से भी जीव का कल्याण होता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥10॥ ॥210॥

वचनामृत 11 : जीव का विनाश; सत्पुरुष में आत्मबुद्धि ही आत्मदर्शन का साधन

संवत् 1882 में पौष शुक्ला पूर्णिमा (23 जनवरी, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के राज-भवन में नीमवृक्ष के नीचे चौकी पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे, उनके कंठ में श्वेत पुष्पों के हार पहने थे, उनके कानों के ऊपर पुष्पगुच्छ खोंसे थे तथा पाग में पुष्पों के तुर्रे लटक रहे थे। उनके समक्ष समस्त मुनिमंडल तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'हमारा ऐसा स्वभाव है कि एक तो भगवान, दूसरा भगवान का भक्त, तीसरा ब्राह्मण तथा चौथा गरीब मनुष्य - इन चारों से हम बहुत डरते हैं कि कहीं उनका द्रोह न हो जाए। इतना भय हमें अन्य किसी से भी नहीं लगता। क्योंकि इन चारों के सिवा यदि अन्य किसी का द्रोह हो गया, तो उसकी देह का नाश होता है, लेकिन जीव का नाश नहीं होता। जबकि इन चारों में से किसी एक का भी द्रोह हो गया तो द्रोह करनेवाले की जीवात्मा का भी नाश हो जाता है!'

यह बात सुनकर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न किया कि 'हे महाराज!

जीव को अविनाशी कहा गया है, उसका नाश कैसे समझना चाहिए?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'उसे पर्वत की या ऐसी कोई अन्य जड देह मिल जाए, जिससे उस जीव का कल्याण कभी भी न हो पाए! यही जीव का नाश समझना। इसलिए, जिसको अपने कल्याण की इच्छा हो, उसको तो इन चारों में से किसी का भी द्रोह मत करना। और, भगवान तथा भगवान के भक्त के आगे किसी प्रकार का भी अहंकार नहीं रखना। क्योंकि अहंकार - क्रोध, मत्सर, ईर्ष्या तथा द्रोह का आधार है। अहंकारी की भक्ति भी आसुरी कहलाती है। और, जो भगवान के भक्त को भयभीत करता हो, वह यदि प्रभु का भक्त हो, तो भी उसको असुर ही जानना।

हमारा तो यह स्वभाव है कि जो पुरुष ब्राह्मण का, गरीब का और भगवान के भक्त का द्रोह करता है, उसको तो हम देखना भी पसन्द नहीं करते। इस लोक तथा परलोक में भी उसके साथ हमारा कोई संग नहीं रहता।' इतनी वार्ता कहने के पश्चात् श्रीजीमहाराज ने दो पदों का गान कराया - इनमें से पहला यह था कि **'मारा हरजी शुं हेत न दीसे रे, तेने घेर शीद जईये।'** तथा दूसरा पद **'मारा वहालाजीशुं वहालप दीसे रे, तेनो संग केम तजिये।'**[12] दोनों पदों के गान के पश्चात् श्रीजीमहाराज ने प्रत्येक सत्संगी को इन दोनों पदों को सीखने की आज्ञा प्रदान की, और कहा कि 'इन पदों में जो रहस्य है उसे नित्य गान करके स्मरण में रखें।'

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज श्रीलक्ष्मीनारायण मन्दिर के पास आकर एक मंच पर विराजमान हुए। वहाँ गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि 'इस संसार में जो पंडित है, वह यद्यपि शास्त्रों तथा पुराणों को पढ़ता तो है, फिर भी उसे भगवान तथा उनके सन्त की यथार्थ महिमा समझ में क्यों नहीं आती?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'वह पंडित शास्त्रों तथा पुराणों को पढ़ता तो अवश्य है, लेकिन उसको भगवान का आश्रय नहीं है, इसलिए काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मत्सर ने उसकी आत्मा को पराभूत कर दिया है तथा कामादि शत्रु उसको कभी भी सिर नहीं उठाने देते। फिर वह पंडित अपने समान ही भगवान तथा भगवान के सन्त को समझने लगता है कि 'जिस प्रकार हमारे कामादि शत्रु कभी भी निवृत्त नहीं होते हैं, वैसे ही इनके भी कामादि शत्रुओं

12. देखें परिशिष्ट : 6

की निवृत्ति नहीं होती होगी!' इस प्रकार, वह भगवान तथा भगवान के सन्त में दोष समझता है। इसी कारण, उसको शास्त्र तथा पुराण आदि पढ़ने पर भी भगवान तथा भगवान के सन्त का यथार्थ माहात्म्य समझ में नहीं आता।'

फिर श्रीजीमहाराज ने दीनानाथ भट्ट तथा समस्त मुनिमंडल से यह प्रश्न पूछा कि 'ब्रह्मस्वरूप सत्पुरुष तीनों शरीरों और तीनों अवस्थाओं से परे रहते हैं तथा वे अपने में चौदह इन्द्रियों की क्रियाओं में से एक भी क्रिया को नहीं मानते, उन्हें अज्ञानी जीव नहीं पहचान सकता। जब उसकी स्थिति बड़े सन्त के समान हो जाए, तब बड़े सन्त जिस प्रकार का आचरण करते हैं, उसे वह सत्य माने। और जब तक उन सत्पुरुष की महिमा उसे ज्ञात नहीं हो पाती, तब तक ब्रह्मस्वरूप में उसकी स्थिति भी नहीं होती। और, आत्मस्थिति हुए बिना उसे सत्पुरुष की महिमा भी ज्ञात नहीं होती। यहाँ पर परस्पर विरोधाभास हो गया। अब इस विरोधाभास को मिटाने का उपाय बताइए।'

इस प्रश्न पर सभी ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार उत्तर दिया, परन्तु प्रश्न का समाधान न हो पाया। तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'अब हम इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि इस पृथ्वी पर प्रकट हुए भगवान के अवतार, उस भगवान से मिले हुए जो संत हैं, उनके साथ जब उसे घनिष्ठ प्रीति हो जाती है, तब उसको सत्पुरुष के सम्बंध में किसी भी प्रकार का दोषाभास नहीं होता। और, लौकिक मार्ग में रीति है, कि जिसको जिसके साथ दृढ़ स्नेह हो जाता है, उसको उसका कोई भी अवगुण नहीं दिखाई पड़ता तथा उसके वचन भी सत्य मानता है। ठीक वैसी ही मोक्ष-मार्ग में भी रीति है। इसलिए, **सत्पुरुष से दृढ़ प्रीति हो, वही आत्मदर्शन का साधन है, सत्पुरुष की महिमा जानने का भी यही साधन है और परमेश्वर के साक्षात् दर्शन सुलभ होने का भी यही साधन है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥11॥ ॥211॥

वचनामृत 12 : माहात्म्य सहित निश्चय

संवत् 1882 में पौष कृष्णा द्वितीया (25 जनवरी, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के राजभवन में नीम वृक्ष के नीचे चौकी पर गद्दी-तकिया लगे हुए पलंग पर विराजमान थे।

उन्होंने श्वेत धोती धारण की थी, तथा श्वेत पिछौरीयुक्त गुलाबी रंग की शाल ओढ़ी थी, मस्तक पर सफ़ेद पाग बाँधी थी तथा कंठ में गुलाब के पुष्पों का हार पहना था। उनके समक्ष मुनिमंडल तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज काफी देर तक अन्तर्दृष्टि करके विराजमान हो रहे। तत्पश्चात् अपने नेत्रकमलों को खोलकर समस्त हरिभक्तों की सभा के सामने करुणाकटाक्ष द्वारा देखकर वे इस प्रकार बोले कि 'आज तो सबसे निश्चय की बात करनी है। उसको आप सब सावधान होकर सुनें कि - अनन्तकोटि सूर्य-चन्द्रमा एवं अग्निसदृश प्रकाशमान जो अक्षरधाम है, उसमें श्रीपुरुषोत्तम भगवान सदैव दिव्यमूर्ति होकर विराजमान रहते हैं। वे ही भगवान जीवों के कल्याण के लिए पृथ्वी पर रामकृष्णादि अवतारों को धारण करते हैं। तब जिसको उन **भगवान के स्वरूप का सत्समागम द्वारा दृढ़ निश्चय हो जाता है, उसका जीव द्वितीया के चन्द्रमा की तरह दिनों-दिन बढ़ता रहता है।** और, जिस प्रकार चन्द्रमा में जैसे-जैसे सूर्य की कला आती रहती है, वैसे-वैसे वह चन्द्रमा भी वृद्धि को प्राप्त होता रहता है तथा पूर्णिमा के आने पर चन्द्रमा सम्पूर्ण आकार का हो जाता है, वैसे ही भगवान सम्बंधी पूर्ण निश्चय होने से पहले जीव अमावास्या के चन्द्रमा की तरह कलारहित खद्योत के समान होता है। परन्तु वह जैसे-जैसे परमेश्वर के महिमा सहित निश्चय को प्राप्त करता है, वैसे-वैसे वृद्धि को प्राप्त होकर पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान हो जाता है। फिर उसे इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण भी उसके निश्चय से डिगाने में समर्थ नहीं हो पाते। तब परमेश्वर चाहे जैसे भी चरित्र करें, परन्तु उसको भगवान में किसी भी प्रकार का दोषाभास नहीं होता। इस प्रकार जिसको महिमा सहित भगवान सम्बंधी निश्चय हो गया, तो समझ लीजिए कि वह भक्त निर्भय हो चुका।

और, यदि उसी भक्त को कभी असत् देश, असत् काल, असत् संग तथा असत् शास्त्रादि के योग द्वारा अथवा देहाभिमान द्वारा भगवान के चरित्र में सन्देह हो गया, तथा भगवान में दोष दिखाई दिया, तो वह जीव, जो पहले पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह प्रकाशमान था, अमावास्या के चन्द्रमा के समान म्लान हो जाता है। अतः अपने में कुछ थोड़ी-बहुत न्यूनता हो, वह जीव को

अधिक बाधा नहीं डालती, किन्तु परमेश्वर के चरित्र में किसी भी प्रकार का सन्देह उत्पन्न हो गया अथवा परमेश्वर का किसी भी तरह से अवगुण दिखाई दिया, तो उस जीव का कल्याण-मार्ग से तत्काल पतन हो जाता है। जैसे वृक्ष की जड़ें कट जाने पर वह वृक्ष अपने आप सूख जाता है, वैसे ही जिसको भगवान में किसी भी प्रकार की दोषबुद्धि हुई, तो वह जीव जिस किसी प्रकार से विमुख हुए बिना नहीं रहता।

और, जिसे निश्चय का अंग दुर्बल होता है, उसको सत्संग में रहने पर भी ऐसे संकल्प-विकल्प होते रहते हैं कि 'क्या मालूम, मेरा कल्याण होगा या नहीं होगा और जब मैं मरूँगा तब देवता बनूँगा या राजा बनूँगा या भूत बन जाऊँगा?' जिसको भगवान के स्वरूप का परिपूर्ण निश्चय नहीं होता, उसके हृदय में ही ऐसे संकल्प-विकल्प होते रहते हैं। जिसको भगवान के स्वरूप का परिपूर्ण निश्चय हो जाता है, वह ऐसा समझता है कि जबसे मुझे भगवान मिले हैं, उस दिन से ही मेरा कल्याण हो चुका है और जो कोई मेरा दर्शन करेगा या मेरी वार्ता सुनेगा, वह जीव भी सभी पापों से मुक्त होकर परमपद को प्राप्त कर लेगा।' इसलिए, इस प्रकार भगवान का महिमा सहित निश्चय रखते हुए अपने आपमें कृतार्थभाव मानना चाहिए। इस बात को सभी सावधान होकर ध्यान में रखें।'

इस बात के पश्चात् श्रीजीमहाराज ने कहा कि **'धन्य वृन्दावनवासी वटनी छाया रे, ज्यां हरि बेसता'**[13] इस भगवद्-माहात्म्य का कीर्तन-गान करें।' फिर कीर्तन-गान किया गया। बाद में श्रीजीमहाराज बोले कि 'श्रीकृष्ण भगवान ने श्रीमद्भागवत में कहा है कि :

'अहो अमी देववरामरार्चितं पादाम्बुजं ते सुमनः फलार्हणम्।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मनस्तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्॥'[14]

इस प्रकार परमेश्वर का योग प्राप्त करके वृक्ष का जन्म भी कृतार्थ

---

13. नरसिंह महेता रचित भक्तिपद; देखें परिशिष्ट : 6
14. हे प्रभु! अहो! आश्चर्य की बात है कि ये वृक्ष, जिन्हें तमोगुण युक्त कर्म से ऐसा जन्म प्राप्त हुआ है, देवताओं द्वारा पूजित आपके चरणारविंद की, मानो कि अपने तामसी कर्म के नाश के लिए पुष्प-फलादि सामग्री द्वारा पूजा कर रहे हैं! (श्रीमद्भागवतम् : 10/15/5)

हो जाता है। इसलिए जिस वृक्ष के नीचे भगवान बैठे हों, उस वृक्ष को भी परमपद का अधिकारी जानना तथा जिसके हृदय में महिमा सहित भगवान का ऐसा दृढ़ निश्चय न हुआ हो, उसको नपुंसक-जैसा समझना। उसके वचनों से किसी भी जीव का उद्धार नहीं हो सकता।

जैसे कोई राजा नपुंसक हो और उसका राज्य तथा वंश विनाशोन्मुख हो जाए, फिर भी उससे अपनी स्त्री के द्वारा कोई पुत्र प्राप्त नहीं हो पाएगा। चाहे वह पूरे मुल्क के नपुंसकों को बुलवाकर उन्हें अपनी स्त्री के संग रखे, तो भी उस स्त्री को पुत्र उत्पन्न नहीं होगा, वैसे ही जिसको महिमासहित भगवान का निश्चय नहीं हुआ है, उसके मुख से गीता-भागवत जैसे सद्ग्रन्थों का श्रवण करने पर भी किसी का कल्याण नहीं होता। जैसे शक्कर मिश्रित दूध में यदि सर्प की लार गिर पड़े और उसे यदि कोई पुरुष पी ले, तो उसका प्राणान्त हो जाता है। वैसे ही **माहात्म्य सहित भगवान का निश्चय न हो, ऐसे जीव के मुख से गीता-भागवत को भी सुने, तो भी किसी का कल्याण नहीं होता, बल्कि उससे तो उसका जड़ से सत्यानाश हो जाता है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥12॥ ॥212॥

वचनामृत 13 : ब्रह्म मूर्तिमान होते हुए भी व्यापक

संवत् 1882 में पौष कृष्णा सप्तमी (30 जनवरी, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के राजभवन में नीम वृक्ष के नीचे चौकी पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे, कंठ में श्वेत पुष्पों के हार पहने थे और वे करकमलों से एक अनारफल को उछाल रहे थे। उनके समक्ष मुनिवृन्द तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी। श्रीजीमहाराज के सिर पर स्वर्ण-कलश सहित छत्र लगा हुआ था। ऐसी शोभा को धारण किए हुए श्रीजीमहाराज विराजमान थे।

उस समय भादरण गाँव के पाटीदार भगुभाई ने श्रीजीमहाराज के पास आकर पूछा कि 'हे महाराज! समाधि कैसे लगती है?'

तब श्रीजीमहाराज ने उत्तर दिया कि 'जीवों के कल्याण के लिए इस भरतखंड में भगवान अवतार धारण करते हैं। वे भगवान जब राजारूप होते हैं

तब उनचालीस लक्षणों से युक्त होते हैं। किन्तु वे दत्त कपिल-आदि साधुओं के रूप में होते हैं तब वे तीस लक्षणों से युक्त होते हैं। यद्यपि भगवान की वह मूर्ति देखने में तो मनुष्य के समान ही लगती है, फिर भी वह अतिशय अलौकिक मूर्ति होती है। जैसे पृथ्वी पर अन्य पत्थर हैं, वैसे ही चुम्बक भी पत्थर हैं। परन्तु, चुम्बक में सहज ही ऐसा चमत्कार रहता है कि यदि चुम्बक के पर्वत के समीप जहाज जा पहुँचे, तो उसके सभी कील तक चुम्बक के पर्वत की ओर तन जाते हैं। ठीक वैसे जो जीव भगवान की राजारूपी या साधुरूपी मूर्ति का श्रद्धापूर्वक दर्शन करता है, उसकी इन्द्रियाँ भगवान के सामने आकृष्ट हो जाती हैं, तब उसे समाधि लग जाती है। जैसे श्रीकृष्ण भगवान के दर्शन से समस्त गोकुलवासियों को समाधि लग गई थी, और भगवान ने समाधि में ही सभी को अपना धाम दिखाया था, उसी प्रकार जिस-जिस समय भगवान के अवतार हों उस-उस समय भगवान की मूर्ति में ऐसा चमत्कार अवश्य रहता है। अत: उस समय जो कोई भक्त श्रद्धापूर्वक भगवान का दर्शन कर ले, तो उसकी सभी इन्द्रियाँ भगवान के सामने आकृष्ट हो जाती हैं और उसे तत्काल समाधि भी लग जाती है। यदि किसी समय भगवान अनेक जीवों को अपने सम्मुख करना चाहते हों, तब अभक्त जीवों अथवा पशुओं को भी भगवान को देखकर समाधि लग जाती है। ऐसे में भगवान के भक्तों को समाधि लग जाए, इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है ?'

इसके पश्चात् मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'सब कहते हैं कि ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, तो जो व्यापक हो, उसे मूर्तिमान कैसे कह सकते हैं और जो मूर्तिमान हो उसे व्यापक कैसे कहा जाए ?'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'ब्रह्म एकदेशस्थ है, किन्तु सर्वदेशस्थ नहीं है, और वह ब्रह्म स्वयं श्रीकृष्ण भगवान हैं। जो एकदेशस्थ होते हुए भी सर्वदेशस्थ हैं। जैसे किसी पुरुष ने सूर्य की उपासना की हो, फिर सूर्य उसे अपने समान दृष्टि प्रदान करते हैं, तब वह पुरुष वहाँ तक देखने में सक्षम हो जाता है, जहाँ तक सूर्य की दृष्टि पहुँचती हो। और, जैसे कोई सिद्ध दशावाला पुरुष सहस्रों-लाखों कोस की दूरी पर हो रही किसी की वार्ता को समीप में होनेवाली बातचीत की तरह सुन लेता है, वैसे ही लाखों कोस दूर पड़ी हुई किसी वस्तु को एक स्थान पर बैठे हुए वह मनुष्य

जैसे हाथों से ही उठा लेता है, वैसे ही श्रीकृष्ण भगवान एक स्थान पर रहते हुए भी अपनी इच्छा से जहाँ दर्शन देना होता है, वहाँ दर्शन देते हैं तथा एकरूप होने पर भी अनेक रूपों में उद्भासित होते हैं।' यदि सिद्धपुरुष में दूरश्रवण एवं दूरदर्शनरूपी चमत्कार रहता हो, तब परमेश्वर में ऐसा चमत्कार रहे, तो इसमें क्या आश्चर्य है? **ग्रन्थ में कहीं भगवान को व्यापक बताया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि मूर्तिमान भगवान ही अपने सामर्थ्य द्वारा एक स्थान पर रहते हुए भी सबको दर्शन देते हैं, वैसे उनको व्यापक कहा गया है, लेकिन उनको आकाश की तरह अरूप होकर व्यापक नहीं कहा गया। भगवान तो सदा मूर्तिमान ही हैं। वे मूर्तिमान भगवान अक्षरधाम में निवास करते हुए ही अनन्तकोटि ब्रह्मांडों में उद्भासित होते हैं।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥13॥ ॥213॥

वचनामृत 14 : धर्मिष्ठ तथा पापिष्ठ को समझने का विवेक

संवत् 1882 में पौष कृष्णा नवमी (1 फरवरी, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर के आगे विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस अवसर पर वड़ोदरा के वाघमोड़िया रामचन्द्र ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न किया कि 'हे महाराज! जो कुपात्र जीव हो उसे भी समाधि लग जाती है, इसका क्या कारण है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'धर्मशास्त्रों में जो वर्णाश्रम धर्म बताए गए हैं, उन नियमों की मर्यादा से विपरीत आचरण करता हो, उसे सभी लोग कुपात्र मनुष्य समझते हैं; परन्तु उस कुपात्र व्यक्ति के हृदय में यदि भगवान या भगवान के सन्त के प्रति गुणभाव आ जाएँ, तो उसे बड़ा पुण्य प्राप्त होता है, और वर्णाश्रम धर्म के लोप होने पर उसे जो पाप लगा था, उसका नाश हो जाता है तथा वह जीव अत्यन्त पवित्र हो जाता है। इसके पश्चात् उसका चित्त भगवान के स्वरूप में मग्न हो जाता है और उसको समाधि लग जाती है।

और, जो पुरुष धर्मशास्त्रों में निर्दिष्ट वर्णाश्रम धर्म का पालन करता है,

उसको सब 'धर्मवान्' कहते हैं। फिर भी, यदि वह भगवान तथा भगवान के साधुओं का द्रोह करता हो, तो उसको सत्पुरुष के द्रोह का पाप लग जाता है और वह पाप उसके वर्णाश्रमधर्म के पालन के बाद उसे जो पुण्य प्राप्त होता था, उस पुण्य को नष्ट कर देता है।' इसलिए, सत्पुरुष का द्रोह करनेवाला पंचमहापाप करनेवालों की अपेक्षा भी घोर पापी है। क्योंकि जिसने पंच-महापाप किए हों, वह यदि सत्पुरुष के आश्रय में आ जाता है, तो उन पापों से उसका छुटकारा हो जाता है, परन्तु सत्पुरुष के द्रोही का कहीं भी छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं मिल सकता। कहा गया है कि अन्य स्थान में किए गए पाप, तीर्थ में जाने पर धुल जाते हैं, किन्तु तीर्थ में किए हुए पाप तो वज्रलेप हो जाते हैं।

अतः सत्पुरुष के आश्रय को ग्रहण करने पर चाहे जितना पापी हो, फिर भी अतिपवित्र हो जाता है और उसको समाधि लग जाती है। किन्तु, **सत्पुरुष का द्रोही चाहे कितना ही धर्मात्मा दिखाई पड़े, परन्तु वह घोर पापी ही है। उसे तो कभी अपने हृदय में भगवान का दर्शन होता ही नहीं।** अतः जिसे विमुख जीव पापी जानते हैं, वह वास्तव में पापी नहीं होता है तथा जिसे विमुख व्यक्ति 'धर्मात्मा' समझते हैं, वह वास्तव में धर्मात्मा नहीं होता।'

॥ इति वचनामृतम् ॥14॥ ॥214॥

वचनामृत 15 : सत्पुरुष के अनुग्रह से आसुरी जीव दैवी होता है

संवत् 1882 में पौष कृष्णा एकादशी (3 फरवरी, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर के आगे नीम वृक्ष के नीचे मंच पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने किमखाब का पायजामा पहना था और बगलबंडी पहनी थी, मस्तक पर बड़ा सुनहरा पल्लेदार भारी कुसुम्भी शेला बाँधा था, चौडे सुनहरे पल्ले से युक्त भारी कुसुम्भी शेला कन्धों पर डाला था तथा उनके मस्तक के ऊपर स्वर्ण कलशवाला छत्र लगा हुआ था। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय शोभाराम शास्त्री ने पूछा कि 'हे महाराज! जीव के दैवी तथा आसुरी दो प्रकार के स्वरूप अनादिकाल से ही हैं या जीव किसी संगति

के कारण दैवी या आसुरी बनते हैं ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'दैवी तथा आसुरी दोनों प्रकार के जीव अनादिकाल से ही सर्वप्रथम माया में लीन हुए थे। परन्तु जब जगत का सृजन होता है, तब ये जीव अपने-अपने दैवी या आसुरी भावों से युक्त ही उत्पन्न होते हैं। कुछेक साधारण जीव तो दैवी तथा आसुरी जीवों के संसर्ग से दैवी तथा आसुरी हो जाते हैं। कितने तो ऐसे भी हैं, जो अपने-अपने सत्कर्म या दुष्कर्म करते हुए वैसे-वैसे (दैवी अथवा आसुरी) भावों को प्राप्त करते रहते हैं। इस आसुरीभाव के विषय में और दैवीभाव के विषय में मुख्य हेतु तो क्रमशः सत्पुरुष का कोप तथा अनुग्रह है।

जैसे भगवान के जय-विजय नामक पार्षद सनकादि जैसे सत्पुरुषों के द्रोह के कारण आसुरीभाव को प्राप्त हो गए।[15] जबकि प्रह्लादजी तो दैत्य कुल में थे, उन्होंने नारदजी का उपदेश ग्रहण किया, तो वे परम भागवत सन्त कहलाए।[16] अतः जिस पर महान सत्पुरुष का कोप हो जाता है, वह जीव आसुरी हो जाता है तथा जिस पर वे प्रसन्न हो जाते हैं, वह जीव दैवी हो जाता है, किन्तु दैवी तथा आसुरी होने का अन्य कारण नहीं है। इसलिए, जिसको अपने कल्याण की इच्छा हो, उसे भगवान तथा भगवान के भक्त का द्रोह किसी भी प्रकार नहीं करना चाहिए, उसको तो वही कार्य करना चाहिए, जिससे भगवान तथा भगवान के भक्त प्रसन्न बने रहें।'

॥ इति वचनामृतम् ॥15॥ ॥215॥

वचनामृत 16 : बड़े आदमी के साथ रास नहीं आता

संवत् 1882 में पौष कृष्णा त्रयोदशी (4 फरवरी, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के राजभवन में नीमवृक्ष के नीचे मंच पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय सभा में वड़ोदरा के शास्त्री भी बैठे हुए थे। उन्होंने कहा

15. श्रीमद्भागवतम् : 3/15/34
16. श्रीमद्भागवतम् : 7/10/43

कि 'हे महाराज! यदि आप किसी बड़े आदमी को चमत्कार दिखाएँ, तो बहुत शीघ्र सर्वत्र सत्संग-विकास हो जाएगा।'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'बड़े आदमी के साथ हमारी अधिक नहीं पटती। क्योंकि उन लोगों को राज्य तथा धन का मद होता है और हमें तो त्याग तथा भक्ति का मद है। इसलिए, कोई किसी के आगे झुके, यह संभव नहीं है। यदि हम किसी बड़े आदमी को समाधि लगवाएँगे, तो वह हमें कुछ गाँवों की जमींदारी दे देगा, ऐसी कोई भी लालच हमारे हृदय में नहीं है। क्योंकि, लोग गाँवों की जमींदारी में सुख की प्राप्ति समझते हैं, जबकि **हमें तो नेत्र मींचकर भगवान की मूर्ति का चिन्तन करने से जो आनन्द मिलता है, वैसा आनन्द चौदह लोकों की राज्य प्राप्ति में भी नहीं मिलता।** यदि भगवान के भजन करने से प्राप्त होनेवाला आनन्द राज्य-शासन में मिलता होता, तो स्वायम्भुव मनु आदि बड़े-बड़े राजा अपने राज्य का परित्याग करके वन में तप करने के लिए क्यों जाते? तथा भगवान के भजन से प्राप्त होनेवाला आनन्द स्त्री-संग से मिलता होता, तो चित्रकेतु राजा करोड़ों स्त्रियों को क्यों छोड़ देता?

और, भगवान के भजनजन्य आनन्द के आगे तो चौदह लोकों के सुख को नरक-जैसा बताया गया है। अत: जो भक्त भगवान के परमानन्द में डूबा हो, उसे पूरे ब्रह्मांड का विषय-सुख भी नरकतुल्य लगता है। तथा हमें भी भगवान के भजन से प्राप्त आनन्द में ही वास्तविक आनन्द प्रतीत होता है, अन्य सभी सुख, दु:खरूप ही प्रतीत होते हैं। इसलिए, परमेश्वर का भजन-स्मरण करते हुए जिसको सहजभाव से सत्संग हो जाता है उसे सत्संग कराते हैं, परन्तु अन्त:करण में किसी बात का आग्रह नहीं। आग्रह तो केवल भगवान के भजन का तथा भगवान के भक्त का सत्संग बनाये रखने का ही है। यह हमारे अन्त:करण का रहस्य अभिप्राय था, जो हमने आपके समक्ष प्रकट किया।'

॥ इति वचनामृतम् ॥16॥ ॥216॥

वचनामृत 17 : जितेन्द्रिय-भाव

संवत् 1882 में पौष कृष्णा अमावास्या (6 फरवरी, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण देव के

सामनेवाली हवेली में गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष समस्त साधुओं तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'पंचज्ञानेन्द्रियाँ तथा पंच-कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को यथार्थरूप से जानती हैं। सो ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों अपनी-अपनी इन्द्रियों द्वारा एक समान ही व्यवहार करते हैं। परन्तु, ज्ञानी की इन्द्रियाँ, अज्ञानी की अपेक्षा पृथक्रूप से आचरण नहीं करतीं। ऐसी स्थिति में ज्ञानी को जितेन्द्रिय कैसे कहा जाएगा?'

तब मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि 'निर्विकल्प समाधि होने पर मुमुक्षु जितेन्द्रिय हो सकता है, ऐसा प्रतीत होता है।'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'निर्विकल्प समाधिवाले भी पंच-विषयों को सब लोगों की तरह इन्द्रियों द्वारा ही ग्रहण करते हैं, ऐसी स्थिति में उसमें जितेन्द्रिय-भाव किस प्रकार संभव है?'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने कई प्रकार से इस प्रश्न का उत्तर दिया, किन्तु प्रश्न का समाधान नहीं हो पाया। तब श्रीजीमहाराज ने उत्तर देते हुए कहा कि 'जो जितेन्द्रिय एवं ज्ञानी है, वह शब्दादि पंचविषयों के दोषों को पहचानता है तथा वह भगवान की मूर्ति के कल्याणकारी गुणों को भी पहचानता है। तथा मायिक पंचविषयों को भोगने से जीव को नरककुंड की प्राप्ति होती है तथा उसे महादुःख भोगने पड़ते हैं, यह परम सत्य भी उसे ज्ञात होता है। ऐसे ज्ञान से उसे पंचविषयों से अत्यंत अरुचि उत्पन्न होती है। तथा उन पंचविषयों से वैर-बुद्धि हो जाती है। और यह स्वाभाविक ही है कि जिनके साथ जिसका वैर हो गया, उनके साथ उनकी प्रीति कभी संभव नहीं होती। इस प्रकार जिसका मन पंचविषयों की तरफ से बिल्कुल उचट जाता है, तब वह जितेन्द्रिय पुरुष कहलाता है। ऐसा ज्ञानी तो भगवान की श्रवणकीर्तनादि भक्ति में ही अपना जीवन व्यतीत कर देता है। परन्तु विमुख जीव की तरह वह पंचविषयों में आसक्त नहीं होता। ऐसी स्थिति होने पर उसे जितेन्द्रिय कहा जाता है।'[17]

---

17. अज्ञानी तो केवल बिना कुछ समझे पंचविषयों में आकंठ डूबा रहता है, अतः उसमें तथा ज्ञानी में बड़ा अन्तर है।

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज ने दूसरा प्रश्न किया कि 'दो प्रकार के त्यागी संत हैं : निवृत्ति मार्गवाले एवं प्रवृत्ति(भक्ति)मार्गवाले। उनमें जो केवल निवृत्ति मार्गी त्यागी सन्त हैं, वे इस तरह मानते हैं कि 'हम तो आत्मा हैं।' किन्तु देह को वे अपना रूप नहीं मानते, तथा उनकी दैहिक रीति भी जड़ और उन्मत्त जैसी दिखती हो; और उन्हें जाति, वर्ण, आश्रम आदि का लेश भी अभिमान न हो; और उनका खाना-पीना, उठना-बैठना आदि सभी क्रियाएँ भी उन्मत्त-सी दिखती हों, किन्तु वे सांसारिक सभ्यता के अनुसार न लगती हों। वह इतना असंगी रहते हों कि उन्हें किसी का संग भी प्रिय न लगे; जैसे वन के मृग की भाँति वह अकेला ही उन्मत्त रूप से घूमते रहे, उन्हें किसी भी प्रकार का बन्धन भी नहीं होता। और, जो दूसरे त्यागी संत हैं, वह निवृत्ति-मार्गी होने पर भी प्रवृत्तिमार्ग में प्रवृत्त होता है। और, उस प्रवृत्ति के कारण काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आशा, तृष्णा आदि दोष हृदय में व्याप्त हो, वैसी क्रिया में भी उन्हें प्रवृत्त रहना होता है। ऐसे समय उनके अन्तःकरण में थोड़ा-सा विकार भी उत्पन्न हो जाता है। अतः ऐसे त्यागी को प्रवृत्तिमार्ग में रहना उचित है या नहीं? तथा प्रवृत्तिमार्ग में रहते हुए वह निर्विकार कैसे रह सकता है? आप कहेंगे कि 'यदि वह परमेश्वर की आज्ञा से प्रवृत्तिमार्ग में रहता है, तो उसे कोई बन्धन नहीं होगा।' तो मेरा प्रश्न यह है कि परमेश्वर की आज्ञा से किसी ने भाँग पी ली, तो क्या वह नशे से पागल नहीं होगा? वह तो जरूर पागल होगा। अतः उस त्यागी को किस प्रकार से प्रवृत्तिमार्ग में रहना चाहिए, जिससे उसको बन्धन न होने पाए? यह प्रश्न है।'

प्रश्न सुनकर नित्यानन्द स्वामी तथा शुकमुनि इसका समाधान करने लगे, किन्तु वे इसका यथार्थ उत्तर न दे सके। तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो केवल निवृत्ति धर्मवाले त्यागी हैं तथा उन्मत्त के समान आचरण करते हैं, उन्हें तो केवल आत्मनिष्ठावाला समझना। तथा जो निवृत्ति धर्मवाले त्यागी पुरुष हैं, वे तो भगवान की भक्ति से युक्त हैं, उन्हें परमेश्वर द्वारा निर्दिष्ट नियमों का पालन करते हुए भगवान तथा भगवान के भक्त-सम्बंधी प्रवृत्तिमार्ग में सावधान होकर प्रवृत्त होना; और, उन **भगवान तथा भगवान के भक्त के लिए प्रवृत्तिमार्ग में जुड़ जाना, वही भक्ति है।**

ऐसी प्रवृत्तिवाले त्यागी की कोटि में केवल आत्मनिष्ठ एवं निवृत्ति-

मार्गी त्यागी कभी नहीं आ सकता। क्योंकि ये तो त्यागी हैं एवं निवृत्ति मार्गवाले हैं, फिर भी भगवान तथा भगवान के भक्त की सेवा के लिए प्रवृत्ति में लगे हैं। ऐसे जो भगवान के भक्त त्यागी हों, उन्हें तो परमेश्वर के नियमों का पालन करते हुए प्रवृत्तिमार्ग में रहना चाहिए। उन्हें परमेश्वर के नियमों का पालन करने में न तो अतिरेक करना है, और न इन नियमों के पालन में किसी तरह की न्यूनता ही रखनी है। और काम, क्रोध, लोभ, मोह, आशा, तृष्णा एवं स्वाद आदि विकारों का परित्याग करके भगवान तथा भगवान के भक्त की सेवा के लिए प्रवृत्तिमार्ग में वे लगे रहेंगे, तो उनको किसी भी प्रकार का बन्धन नहीं होगा। और, जो केवल आत्मनिष्ठा परक निवृत्तिमार्गी त्यागी है, उसकी अपेक्षा तो ये प्रवृत्तिमार्गी त्यागी अतिशय श्रेष्ठ हैं तथा भगवान की कृपा का पात्र हैं।'

॥ इति वचनामृतम् ॥17॥ ॥217॥

वचनामृत 18 : सम्प्रदाय की रीति

संवत् 1882 में माघ शुक्ला प्रतिपदा (7 फरवरी, 1826) को श्रीजीमहाराज श्रीवरताल में सन्ध्याकालीन आरती होने के पश्चात् श्रीलक्ष्मी-नारायण के मंडप में गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके चारों ओर मंडप के ऊपर-नीचे सभी परमहंस तथा देश-देशान्तर के हरिभक्त बैठे हुए थे।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'आप सब बड़े-बड़े परमहंसों से हम प्रश्न पूछते हैं कि 'सत्संगीजन को कौन-कौन-सी वार्ता आवश्यकरूप से जाननी चाहिए, क्योंकि उससे यदि कोई पूछ बैठे अथवा अपने मन में कोई तर्क उपस्थित हो जाए, तो उस वार्ता के न जानने पर उसका समाधान कैसे हो सकेगा?'

ऐसा प्रश्न पूछने के पश्चात् वे स्वयमेव बोले कि 'इस प्रश्न का उत्तर हम ही देते हैं। पहली बात तो यह है कि हमें अपने उद्धव सम्प्रदाय की रीति जान लेनी चाहिए और दूसरी बात यह है कि हमें अपनी गुरु परम्परा का ज्ञान भी होना चाहिए। श्रीरंगक्षेत्र में (हमारे गुरु) रामानन्द स्वामी ने स्वप्न में साक्षात् रामानुजाचार्य से वैष्णवी दीक्षा प्राप्त की थी। इसलिए रामानन्द

स्वामी के गुरु रामानुजाचार्य हैं। उन रामानन्द स्वामी के शिष्य हम हैं। ऐसी गुरु-परम्परा जाननी चाहिए। और, हमने अपने धर्मकुल की स्थापना की है, उसकी रीति जाननी चाहिए। तीसरी बात यह है कि हमारे सम्प्रदाय में अतिप्रमाणरूप जो शास्त्र हैं, उनको जानना चाहिए। उन शास्त्रों के नाम हैं: (1) वेद, (2) व्याससूत्र, (3) श्रीमद्भागवतपुराण, (4) महाभारत का विष्णुसहस्रनाम, (5) भगवद्गीता, (6) विदुरनीति, (7) स्कन्दपुराण के विष्णुखंड का वासुदेवमाहात्म्य तथा (8) याज्ञवल्क्यस्मृति। इन आठों शास्त्रों को जानना चाहिए। चौथी बात यह है कि समस्त सत्संगीजनों के लिए जो नियम निर्धारित किए गए हैं, उन्हें जान लेना चाहिए।

पाँचवीं बात यह है कि अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण भगवान को जानना चाहिए।[18] तथा स्थान, सेवक एवं कार्यभेद से श्रीकृष्ण भगवान की मूर्तियों की जो विविधता है, उसको भी समझना चाहिए। श्रीकृष्ण भगवान के परोक्ष-रूप तथा प्रत्यक्षरूप को जानना चाहिए। उनमें परोक्षरूप किस प्रकार का है, तो माया के तम से परे जो गोलोक है, उसके मध्यभाग में स्थित अक्षरधाम में श्रीकृष्ण भगवान रहते हैं।[19] वे द्विभुज हैं, तथा कोटि-कोटि सूर्यों के समान प्रकाशमान हैं, श्यामसुन्दर हैं। राधिकाजी, एवं लक्ष्मीजी के सहित हैं। नन्द, सुनन्द तथा श्रीदामादि पार्षदों द्वारा उनकी सेवा की जा रही है तथा वे भगवान अनन्तकोटि ब्रह्मांडों की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के कर्ता हैं और महाराजाधिराज भाव से विराजमान हैं। ऐसे जो ये भगवान हैं, वे चतुर्भुजरूप, अष्टभुजरूप तथा सहस्रभुजरूप को भी धारण करते हैं। वे वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध एवं प्रद्युम्न नामक चतुर्व्यूहों तथा केशवादि चौबीस व्यूहों के रूपों

18. श्रीहरि स्वयं रामकृष्णादिक अवतारों के कारण अवतारी हैं, ऐसी स्पष्टता उन्होंने स्वयं वच. ग.म. 9, ग.म. 13 आदि में की है। किन्तु मनुष्य शरीरधारी होने के कारण अन्य मुमुक्षुओं के हित के लिए वे स्वयं को श्रीकृष्ण के उपासक दिखाकर उनको अपने इष्टदेव कहते हैं।

19. इस वचनामृत में गोलोक के बीच अक्षरधाम का उल्लेख किया है, किन्तु इसका वर्णन वासुदेव माहात्म्य (17-1/2) तथा स्वामी की बातें (5-288) में किया गया है। उसके अनुसार गोलोकादिक अनंत धामों के बीच (अपेक्षाकृत) परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण का अक्षरधाम सर्वोच्च है। परंतु यहाँ किया गया गोलोकधाम का उल्लेख पुरुषोत्तमनारायण के सर्वोपरि अक्षरधाम का नहीं है, ऐसा समझना।

और वराह, नृसिंह, वामन, कपिल, हयग्रीव आदि अनेक अवतारों को धारण करते हैं। फिर भी वे स्वयं सदैव द्विभुज ही रहते हैं। उपनिषदों, सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र तथा पंचरात्र में उनके इसी स्वरूप का वर्णन किया गया है। इस प्रकार, परोक्षरूप से भगवान का स्वरूप बताया गया है।

जो सभी आचार्य हुए हैं, उनमें व्यासजी सबसे बड़े आचार्य हैं। उन व्यासजी के समान शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्क, विष्णु-स्वामी तथा वल्लभाचार्य को नहीं कहा जाता। क्योंकि ये आचार्य जब व्यासजी के वचनों का अनुसरण करते हैं, तभी लोक में इनके वचनों को प्रमाणित माना जाता है, अन्यथा वे (प्रमाणित) नहीं कहे जाते। और, व्यासजी को किसी अन्य के वचनों की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि व्यासजी वेदों के आचार्य तथा स्वयं भगवान हैं। इसीलिए, हमें व्यासजी के वचनों का अनुसरण करना चाहिए। उन व्यासजी ने जीवों के कल्याण के लिए वेद के विभाग किए, सत्रह पुराणों तथा महाभारत की रचना की, फिर भी, व्यासजी के मन में लगा कि 'जीवों के कल्याण का यथार्थरूप से उपाय तो नहीं बता सका।' इस प्रकार उनको सन्तोष नहीं हुआ। अन्त में उन्होंने समग्र वेद, पुराण, इतिहास, पंचरात्र, योगशास्त्र, सांख्यशास्त्र आदि के सारांशरूप श्रीमद्भागवत पुराण की रचना की।

उस भागवत में समस्त अवतारों की अपेक्षा श्रीकृष्ण भगवान की ही अधिकाधिक महिमा कही गई है, क्योंकि समस्त अवतारों को धारण करनेवाले स्वयं श्रीकृष्ण भगवान ही हैं। उन श्रीकृष्ण भगवान ने उद्धव के प्रति गुण विभाग के अध्याय में कहा है कि 'मैं निर्गुण हूँ तथा जो भक्तजन मेरे सम्बंध को प्राप्त करते हैं, वे भी निर्गुण हो जाते हैं।' इसलिए कामभाव, द्वेषभाव, भयभाव, सम्बंधभाव तथा स्नेहभाव में से जिस-जिस भाव द्वारा जिन जीवों ने उन श्रीकृष्ण भगवान का आश्रय ग्रहण किया, वे निर्गुण हो गए। इसलिए, वे श्रीकृष्ण भगवान निर्गुण हैं। इस प्रकार व्यासजी ने श्रीकृष्ण भगवान के निर्गुणभाव का वर्णन किया है तथा उन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि 'समस्त अवतारों को धारण करनेवाले परमेश्वर स्वयं श्रीकृष्ण भगवान ही हैं तथा जो अन्य अवतार हैं, वे उन्हीं के हैं।' यदि कोई उन श्रीकृष्ण भगवान को निर्गुण न कहकर शुद्ध सत्त्वात्मक कहेगा, तो यही कहना

पड़ेगा कि उसको भगवान के पूर्वापर सम्बंध का ज्ञान ही नहीं है। अतः उसे बड़ा विक्षेप का सामना करना पड़ेगा। क्योंकि गोपियों ने श्रीकृष्ण को भगवान समझकर नहीं, किन्तु कामभाव से श्रीकृष्ण भगवान का भजन किया। फिर भी गोपियाँ निर्गुण हो गईं। तब श्रीकृष्ण भगवान को शुद्ध सत्त्वात्मक कैसे कहा जा सकता है ? वे तो निर्गुण ही हैं। श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन से कहा है –

'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥'[20]

उन श्रीकृष्ण भगवान ने अपने जन्म के समय वसुदेव-देवकी को अपने परमेश्वर भाव की प्रतीति कराने के लिए चतुर्भुजस्वरूप दिखाया, ब्रह्मा को अनेक चतुर्भुजस्वरूप दिखाए, अक्रूर को शेषशायीरूप तथा अर्जुन को विश्व-स्वरूप दिखलाया। इन रूपों के भेद से श्रीकृष्ण भगवान की उपासना के भेदों को बताना ठीक है, परन्तु वे व्रज में 'बालमुकुन्द' कहलाये, 'मुरलीमनोहर' तथा 'राधा-कृष्ण' कहलाए, तथा बछड़े चराए, गायें चराईं, गोवर्धन पर्वत को धारण किया, गोपियों के साथ रासलीला की, मथुरापुरी में जाकर कंसवध किया, यादवों को सुख प्रदान किया, सांदीपिनी ब्राह्मण के घर विद्या पढ़ी, कुब्जा के साथ विहार किया, द्वारिकापुरी में निवास किया, और विवाह करके रुक्मिणी आदि आठ पटरानियाँ कीं, तथा सोलह सहस्र स्त्रियों से विवाह किया, फिर हस्तिनापुर में निवास किया, पांडवों की सभी कष्टों से रक्षा की, द्रौपदी की लाज रखी और अर्जुन के सारथि भी बने इत्यादि श्रीकृष्ण भगवान की जो भिन्न-भिन्न अनेक लीलाएँ हुई हैं, इत्यादिक लीलाओं के आधार पर भी श्रीकृष्ण भगवान के द्विभुज स्वरूप में उपासना का भेद नहीं समझना। यदि कोई ऐसी लीलाओं को देखकर उपासना-भेद करेगा, तो वह वचनद्रोही तथा गुरुद्रोही है।

श्रीकृष्ण भगवान ने ग्वालों का उच्छिष्ट खाया एवं रासलीला की आदि अनेक प्रकार के आचरण किए हैं, तदनुसार भगवान के भक्तों को आचरण नहीं करना चाहिए। भक्तों को तो श्रीकृष्ण भगवान ने श्रीमद्भागवत के

20. **अर्थ :** 'हे अर्जुन ! पूर्वोक्त प्रकार से जो पुरुष मेरे जन्म-कर्म को यथार्थरूप से दिव्य जानता है, वह पुरुष देहत्याग करने के पश्चात् फिर से जन्म नहीं लेता, बल्कि मुझको ही प्राप्त कर लेता है।' (गीता : 4/9)

एकादश स्कन्ध, भगवद्गीता तथा वासुदेव माहात्म्य में साधु के जैसे लक्षण कहे हैं, तथा वर्णाश्रम धर्म बताया है एवं अपनी भक्ति करने की जो रीति बताई है उसी के अनुसार आचरण करना, परन्तु श्रीकृष्ण भगवान के आचरण के अनुसार आचरण नहीं करना। यदि कोई उस प्रकार आचरण करेगा तो वह विमुख है; वह तो हमारा सत्संगी ही नहीं! जिस प्रकार अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण भगवान के आचरणों के अनुसार आचरण नहीं करना है, वैसे ही आप सबका आचार्य, गुरु तथा उपदेष्टा जो मैं हूँ,[21] आप लोगों को मेरे दैहिक आचरण के अनुसार भी आचरण नहीं करना।

हमारे सम्प्रदाय में जिस प्रकार जिसके धर्म बताए गए हैं, उनका हमारे वचनानुसार आप सबको पालन करना चाहिए, परन्तु हमारे आचरण का अनुकरण नहीं करना। यह जो वार्ता हमने कही है, उसे सभी परमहंस तथा सत्संगी सीख लें तथा तदनुसार समझकर वैसा ही आचरण करें। अन्य सभी को भी वैसी ही वार्ता करनी चाहिए।'

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज भोजन के लिए पधारे। आज की वार्ता को सुनकर सभी साधु तथा सत्संगीजन समझें कि परोक्षरूप में जिन्हें श्रीकृष्ण भगवान कहा गया है, वे ही ये भक्तिधर्म के पुत्र श्रीजीमहाराज हैं, परन्तु उनसे परे कोई नहीं है और वे ही हमारे इष्टदेव हैं तथा गुरु भी वही हैं।

॥ इति वचनामृतम् ॥18॥ ॥218॥

वचनामृत 19 : भक्त की व्याख्या और अविवेक

संवत् 1882 में माघ शुक्ला द्वितीया (9 फरवरी, 1826) को श्रीजी-महाराज सायंकाल को श्रीवरताल स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के मन्दिर में पूर्व की ओर रूपचौकी पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

जब ठाकुरजी की सन्ध्याकालीन आरती हो चुकी तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'सुनिये, भगवान की वार्ता करते हैं। **इस जीव को जब भरतखंड**

21. यहाँ 'आप सभी का भगवान जो मैं' ये शब्द भी श्रीहरि ने कहे थे, ऐसा गुरुपरंपरा के द्वारा ज्ञात होता है।

में मनुष्यदेह मिलती है तब भगवान के अवतार या भगवान के साधु निश्चित रूप से पृथ्वी पर विचरण करते रहते हैं। यदि जीव को उनकी पहचान हो जाए, तो वह जीव भगवान का भक्त हो जाता है। जब वह भगवान का भक्त हो चुका, उसको अन्य किसी भी पदार्थ में प्रीति रखना उचित नहीं है। क्योंकि, भगवान के धाम के सुख के आगे मायिक पंचविषयों का सुख तो नरक तुल्य है। नरक के कीड़े तो नरक को परम सुखदायी समझते हैं। परन्तु, जो मनुष्य हैं, वे नरक को परम दुःखदायी समझते हैं। वैसे ही जिसको भगवान की पहचान हो गई, वह भगवान का पार्षद हो गया! उसे भगवान के पार्षद पद से हटकर गंदे कीड़े की तरह मायिक पंचविषयों के सुख की इच्छा नहीं करनी चाहिए। जो पुरुष भगवान का भक्त होता है, वह जो-जो मनोरथ करता है, वह सब सत्य हो जाते हैं।

अतः जो पुरुष भगवान को छोड़कर अज्ञानवश अन्य पदार्थों की इच्छा करता है, वही उसका घोर अविवेक होता है। इसलिए, **भगवान के भक्त को चौदह लोकों के भोगसुखों को काकविष्टा तुल्य समझना चाहिए तथा मन, कर्म और वचन द्वारा भगवान एवं भगवान के भक्तों में ही दृढ़ प्रीति करनी चाहिए।** और यह समझना चाहिए कि भगवान के भक्त को कदाचित् भगवान के सिवा कोई अन्य वासना रह गई, तो वह भी अन्ततः इन्द्रपदवी या ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, परन्तु प्राकृत जीव की तरह चौरासी लाख योनियों में उसे भटकना तो पड़ता ही नहीं है! तब भगवान का जो यथार्थ भक्त होता है, उसकी महिमा तथा उसके आनन्द का वर्णन ही कैसे किया जा सकता है!' इसलिए, भगवान का भक्त हो, उसे भगवान में ही दृढ़ प्रीति रखनी चाहिए।'

॥ इति वचनामृतम् ॥19॥ ॥219॥

वचनामृत 20 : जनकजी का ज्ञांन

संवत् 1882 में माघ शुक्ला तृतीया (10 फरवरी, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीवरताल-स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण के राजभवन में नीमवृक्ष के नीचे वेदी पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे, कंठ में चमेली पुष्पों के हार पहने थे तथा मस्तक

के ऊपर लाल रेशमी कपड़े का छत्र लगा हुआ था। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

श्रीजीमहाराज ने परमहंसों से प्रश्न किया कि 'रजोगुण से काम की उत्पत्ति होती है तथा तमोगुण से क्रोध और लोभ उत्पन्न होता है। इसलिए, ऐसा कौन-सा एक साधन है, जिससे कामादि का बीज भी नष्ट हो जाए?'

तब शुकमुनि ने कहा कि 'जिस पुरुष को निर्विकल्प समाधि लग जाती है और आत्मदर्शन हो जाता है, उसके सभी कामादि के बीज नष्ट हो जाते हैं।'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज ने आशंका प्रकट की कि 'क्या शिव, ब्रह्मा, शृंगिऋषि, पराशर तथा नारद को निर्विकल्प समाधि नहीं लगी थी कि वे काम से विक्षेप को प्राप्त हुए! वस्तुतः वे सब निर्विकल्प समाधिवाले ही थे, तो भी इन्द्रियों की वृत्ति के अनुलोम (बाह्य) हो जाने पर उन्हें कामादि द्वारा विक्षेप हुआ। इसलिए, आपके उत्तर से इस प्रश्न का समाधान नहीं हुआ।

जैसे ज्ञानी मनुष्य जब निर्विकल्प समाधि में चला जाता है तब निर्विकार रहता है, वैसे ही अज्ञानी पुरुष सुषुप्ति अवस्था में निर्विकार रहता है। लेकिन, जब इन्द्रियों की वृत्ति अनुलोम हो जाती है उस समय यदि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही कामादि द्वारा विक्षेप को प्राप्त होते हैं, तो ज्ञानी एवं अज्ञानी में कोई अन्तर ही क्या रहा? तथा ज्ञानी की विशेषता ही कहाँ रही? इसलिए, अब अन्य परमहंस इस प्रश्न का उत्तर दें।'

इसके पश्चात् गोपालानन्द स्वामी, देवानन्द स्वामी, नित्यानन्द स्वामी तथा मुक्तानन्द स्वामी इन चारों ने मिलकर जिसको जैसा ज्ञात हुआ वैसा उत्तर दिया, फिर भी श्रीजीमहाराज के प्रश्न का किसी से भी समाधान न हो सका।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जैसे राजा जनक विदेही थे। वे प्रवृत्ति मार्ग में रहने पर भी निर्विकार थे। जब जनक की सभा में सुलभा नामक संन्यासिनी आई, तब जनक राजा ने सुलभा के प्रति कहा था कि 'तू मेरे चित्त को मोहित करने का प्रयास कर रही है, किन्तु मैं मोहित नहीं हो सकता, क्योंकि मैं अपने गुरु पंचशिख ऋषि की कृपा से सांख्य तथा योग दोनों मतों का अनुसरण करता रहा हूँ। इसलिए, भले ही मेरे आधे शरीर में चन्दन लगा दिया जाए तथा आधे शरीर को तलवार से काट दिया जाए, तो भी ये दोनों

क्रियाएँ मेरे लिए एक समान ही रहेंगी। और, यह मेरी मिथिलापुरी भले ही जल जाए, तो भी मेरा कुछ भी नहीं जल सकेगा। इस प्रकार मैं प्रवृत्ति में रहता हुआ भी असंगी और निर्विकार हूँ।' इस प्रकार राजा जनक ने सुलभा को सम्बोधित करते हुए कहा। और, राजा जनक शुकदेवजी के भी गुरु कहलाए। इसलिए, इस प्रश्न का यही उत्तर है कि 'किसी की इन्द्रियों की वृत्ति अनुलोमभाव से रहती हो और वह प्रवृत्तिमार्ग में रहती हो, तो भी यदि उसके हृदय में राजा जनक की तरह ज्ञान की दृढ़ता हो जाए, तो वह किसी भी प्रकार से विकारी नहीं हो सकता।' और, जो ज्ञातव्य है, उसे वैसे ही यथार्थरूप से जिसने जान लिया हो, कि यह तो सार है और यह असार है। फिर वह ऐसा जाने कि **केवल एक भगवान की मूर्ति के सिवा जितने मायिक आकार हैं, वे सब अतिशय दुःखदायक तथा नाशवंत हैं और स्वयं को देह, इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से पृथक् आत्मारूप माने, फिर ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो उसको मोहित करने में समर्थ हो सके।** क्योंकि उसने तो समस्त मायिक आकारों को तुच्छ समझ लिया है। और, इस प्रकार जिसके हृदय में ज्ञान की ऐसी दृढ़ता बनी रहे और सभी इन्द्रियाँ प्रवृत्तिमार्ग में अनुलोमभाव से रही हों, तो भी वह कामादि द्वारा क्षोभ को प्राप्त नहीं हो सकेगा। ऐसे हरिभक्त के हृदय से कामादि का बीज नष्ट हो जाता है, भले ही वह त्यागी अथवा गृहस्थ ही क्यों न हो, ऐसा पुरुष ही समस्त हरिभक्तों में श्रेष्ठ वैष्णव है। इसलिए, गृही और त्यागी का कोई मेल नहीं है। जिसकी समझ तथा ज्ञान अधिक हो, उसी को सबसे बड़ा हरिभक्त समझना। और, शिव-ब्रह्मादि में जो दोष बताया जाता है, उसके सम्बंध में तो यही कहना है कि ऐसे देवताओं में से किसी में तो इस प्रकार के ज्ञान की त्रुटि रह गई है, और कइयों में तो ऐसा ज्ञान होने पर भी अशुभ देश, काल, संग तथा क्रियादि के योग से उनमें कामादि विकाररूप न्यूनता कही गई है। इसलिए, ऐसा ज्ञान होने पर भी किसी भी प्रकार से कुसंग तो करना ही नहीं, यह सिद्धान्त वार्ता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥20॥ ॥220॥

॥ श्रीवरताल प्रकरणं समाप्तम् ॥

श्री स्वामिनारायण मंदिर, कालूपुर, अहमदाबाद, गुजरात



यहीं पर बिराजमान होकर भगवान श्रीस्वामिनारायण ने वचनामृतों का उद्बोधन किया था।

तालाब के किनारे ऊँचा महल, जेतलपुर (जिला : अहमदाबाद, गुजरात)



यहीं पर बिराजमान होकर भगवान श्रीस्वामिनारायण ने वचनामृतों का उद्‌बोधन किया था।

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ॥

श्रीअहमदाबाद प्रकरण के वचनामृत

वचनामृत 1 : चमत्कारिक ध्यान

संवत् 1882 में माघ कृष्णा एकादशी (4 मार्च, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीअहमदाबाद-स्थित श्रीनरनारायण के मन्दिर में पश्चिम की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके कंठ में गुलाब के पुष्पों के हार, कानों के ऊपर गुलाब के फूलों के गुच्छे और पाग में गुलाब के पुष्पों के तुर्रे सुशोभित हो रहे थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस सभा में श्रीजीमहाराज अन्तर्दृष्टि करके विराजमान थे। उन्होंने नेत्रकमलों को खोलकर सबके सामने देखा और बोले कि 'हमें ध्यान के अंग की एक वार्ता करनी है। यह वार्ता मोक्षधर्म में भी कही गई है। हमने बहुत से उन महापुरुषों को भी देखा है, जो उस ध्यान द्वारा सिद्धदशा को प्राप्त हो गए हैं। हमने भी यह अनुभव किया है कि यद्यपि अनन्त प्रकार के ध्यान हैं, परन्तु जो यह वार्ता कहनी है, उसके समान अन्य कोई ध्यान नहीं हो सकता। जैसे किसी चमत्कारी मंत्र अथवा औषधि में स्वाभाविक चमत्कार रहता है, वैसे ही इस ध्यान में भी, जिसे हम बतानेवाले हैं, ऐसा स्वाभाविक चमत्कार है कि कोई भी मुमुक्षु तत्काल सिद्धदशा को प्राप्त हो सकता है।

अब यह वार्ता करते हैं - ध्याता पुरुष उसे दक्षिण नेत्र में सूर्य का ध्यान करें, और बायें नेत्र में चन्द्र का ध्यान करें। इस प्रकार ध्यान करते समय आकाश में जैसे सूर्य-चन्द्र दिखाई पड़ते हैं वैसे ही नेत्रों में भी दिखने लगें, तब दक्षिण नेत्र तपने लगेगा और बायाँ नेत्र शीतल होने लगेगा। इसके पश्चात् सूर्य की धारणा वाम नेत्र में तथा चन्द्र की धारणा दक्षिण नेत्र में करें।

इस प्रकार धारणा करके सूर्य तथा चन्द्र को अन्तर्दृष्टि द्वारा हृदयाकाश में देखते रहना। फिर द्रष्टा जो अपनी जीवात्मा है, उसके स्वरूप को भी देखना। तथा द्रष्टा-जीवात्मा में परमात्मा का ध्यान करना। इसके पश्चात् उसका वासनालिंग-शरीर रहँट की तरह हृदयाकाश में घूमता हुआ दिखाई देने लगेगा। ऐसा ध्यान करते-करते उस पुरुष को भगवान के विश्वरूप का दर्शन होता है। उस रूप में चौदह लोकों की रचना दिखाई पड़ती है। वह स्वरूप अत्यन्त महान भी नहीं दिखाई पड़ता। जैसे वटपत्रशायी भगवान ने बड़ के एक पत्ते में छोटे बालक के समान शयन किया था, उसी भगवान के उदर में मार्कण्डेय ऋषि ने समग्र ब्रह्मांड देखा। इस प्रकार भगवान का ध्यान करते-करते वे सभी पदार्थ उसे दृष्टिगोचर होते हैं, जिनका वर्णन शास्त्रों में किया गया है। तब उसकी जीवात्मा में रहनेवाला अवशिष्ट नास्तिकभाव मिट जाता है और उसका जीव अति बलवान हो जाता है। उसे इस बात की दृढ़ प्रतीति होती है कि शास्त्रों में जो कुछ कहा गया है, वह सब सत्य है। और, अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ भी इस ध्यान को करनेवाले उस पुरुष के समक्ष उपस्थित हो जाती हैं। तब उसकी दृष्टि वहाँ तक पहुँचने लगती है, जहाँ तक सूर्य-चन्द्र की किरणें पहुँचती रहती हैं। ऐसी अनन्त सिद्धियाँ प्रकट होती हैं। परन्तु, परमेश्वर का भक्त होने के कारण वह पुरुष इन सिद्धियों में से किसी भी सिद्धि को ग्रहण नहीं करता, केवल परमेश्वर का ही ध्यान करता है। तब ध्यान करनेवाला वह पुरुष नारद-सनकादि तथा शुकदेवजी के समान चरम सिद्धदशा को प्राप्त होता है। अत: अनेक प्रकार के ध्यान हैं किन्तु तत्काल सिद्धदशा को प्राप्त करानेवाला ध्यान तो यही है।'

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'ऐसा ध्यान अष्टांगयोग के मार्ग द्वारा प्राणायाम करनेवाले को सिद्ध होता है या दूसरों को भी सिद्ध होता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसमें प्राणायामवाले का कोई मेल नहीं है। यदि कोई ऐसे ध्यान का अभ्यास करता रहे, और यदि वह परमेश्वर का एकान्तिक भक्त हो, तो उसी को यह ध्यान सिद्ध हो जाता है। अन्य जीव तो इस मार्ग पर कदम भी नहीं रख पाते! अत: ध्यान के अधिकारियों के लिए तो इस ध्यान के अलावा अन्य कोई तत्काल सिद्ध होने का उपाय ही नहीं है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥1॥ ॥221॥

वचनामृत 2 : ब्रह्मरूप होकर भगवत्प्रीति करना

संवत् 1882 में फाल्गुन शुक्ला एकादशी (20 मार्च, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीअहमदाबाद में श्रीनरनारायण के मन्दिर के सामने स्थित वेदी पर पलंग के ऊपर गद्दी तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने सफ़ेद धोती धारण की थी। श्वेत चादर ओढ़ी थी तथा मस्तक पर गुलाबी रंग का फेंटा बाँधा था। पाग में गुलाब के पुष्पों के तुर्रे झुक रहे थे। उन्होंने कानों पर गुलाब के दो गुच्छ खोंसे थे, कंठ में गुलाब के पुष्पों के हार धारण किए थे, दोनों भुजाओं में गुलाब के बाजूबंद बाँधे थे और दोनों हाथों में गुलाब के पुष्पों के गजरे पहने थे। इस प्रकार समस्त अंगों में गुलाब के पुष्प महक रहे थे। उनके समक्ष मुनि तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज समस्त परमहंसों को संबोधित करके बोले कि एक प्रश्न पूछता हूँ, 'परमेश्वर का एक भक्त तो जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति से परे रहकर मलिन रजोगुण, तमोगुण एवं सत्त्वगुण का परित्याग करके शुद्ध सत्त्वमय[1] आचरण करता हुआ परमेश्वर का भजन करता है। जबकि अन्य भक्त त्रिगुणात्मक वर्तन करता है और, परमेश्वर से अतिशय प्रीति से युक्त रहता है। इन दोनों भक्तों में कौन-सा भक्त श्रेष्ठ है?' तब सन्तमंडल ने कहा कि 'भगवान से प्रीति करनेवाला भक्त ही श्रेष्ठ है।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'एक भक्त तो स्नान करके पवित्र होकर भगवान की पूजा करता है तथा अन्य पुरुष अपवित्र रहकर ही भगवान की पूजा करता है। इन दोनों में कौन-सा पुरुष श्रेष्ठ है?' तब मुनिमंडल ने कहा कि जो पवित्र होकर भगवान की पूजा करता है, वही भक्त श्रेष्ठ है।'

फिर श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जो मायिक उपाधि को छोड़कर भगवान को भजता है, उसे आप कनिष्ठ बताते हैं तथा मायिक उपाधि के साथ ही भगवान से प्रीति करता है, उसको आप श्रेष्ठ कहते हैं। वह किस प्रकार श्रेष्ठ है?'

जब इस प्रश्न का किसी से समाधान न हो सका तब श्रीजीमहाराज

1. अर्थात् 'गुणातीत।'

बोले, 'गीता में चार प्रकार के भक्त बताए गए हैं। उनमें ज्ञानी को ही भगवान ने अपनी आत्मा कहा है। अतः जो मायिक उपाधि का त्यागकर और ब्रह्मरूप होकर भगवान का भजन करता है, वही भक्त श्रेष्ठ है। क्योंकि नित्य प्रलय जो सुषुप्ति अवस्था है, निमित्त प्रलय जो ब्रह्मा की सुषुप्ति अवस्था है, प्राकृत प्रलय जिसमें प्रकृति के समस्त कार्य प्रकृति में विलीन हो जाते हैं, तथा आत्यन्तिक प्रलय जो ज्ञानप्रलय है, जिसमें प्रकृतिपर्यन्त समस्त तत्त्व ब्रह्म के प्रकाश में विलीन हो जाते हैं।

और, नित्यप्रलय में जीव की उपाधि लीन हो जाती है, निमित्तप्रलय में ईश्वर की उपाधि विलीन हो जाती है, प्राकृत प्रलय में पुरुष की उपाधि सब लीन हो जाती है, परन्तु जब सृष्टि का सृजन होता है, तब इन तीनों (जीव, ईश्वर, पुरुष) को अपनी-अपनी उपाधियाँ लिपट जाती हैं और **आत्यन्तिक प्रलय अर्थात् ज्ञानप्रलय के द्वारा जिसने मायिक उपाधि का परित्याग कर दिया है, उसको तो पुनः कभी मायिक उपाधि नहीं लिपटती। और, यदि उसे कदाचित् शरीर धारण करना पड़ा, तो वह उसी प्रकार स्वतंत्ररूप से देह धारण करता है, जिस प्रकार भगवान स्वतन्त्ररूप से देह धारण करते हैं, लेकिन काल, कर्म और माया के अधीन होकर वह देह धारण नहीं करता। इसलिए, ब्रह्मरूप होकर परमेश्वर को भजनेवाला भक्त ही श्रेष्ठ है।** इस वार्ता को केवल वही पुरुष समझ सकता है, जो परमेश्वर का अनन्य भक्त है तथा एकान्तिक भक्त के लक्षणों से युक्त है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥2॥ ॥222॥

वचनामृत 3 : उपशम स्थिति

संवत् 1882 में फाल्गुन कृष्णा द्वितीया (25 मार्च, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीअहमदाबाद में श्रीनरनारायण के मन्दिर के सामने चबूतरे पर बिछाए गए पलंग पर विराजमान थे। उनके मस्तक पर गुलाबी रंग की पाग सुशोभित हो रही थी। उस पाग में गुलाब और चमेली के हार लगे हुए थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने समस्त मुनिमंडल से प्रश्न पूछा कि 'जीव-मात्र का आधार तो पंचविषय हैं। वे या तो पंचविषयों को बाह्यरूप से भोगते हैं अथवा बाह्य पंचविषयों का योग न होने पर अन्तःकरण में पंच-विषयों का चिन्तन किया करते हैं, परन्तु वे बिना विषयों के चिन्तन तथा बिना विषयों के उपभोग के क्षणमात्र भी नहीं रह सकते। जैसे वटवृक्ष की जड़ें ही वृक्ष को हरा रखती हैं, परन्तु यदि अन्य सभी जड़ें उखड़ गईं और केवल पृथ्वी में एक ही जड़ रह गई, तो वह भी वृक्ष को हरा बनाए रखती है। वैसे ही बाह्यरूप से कदाचित् पंचविषयों का परित्याग कर दिया हो, परन्तु अन्तःकरण में विषयों का चिन्तन बना रहता हो, तो वह उसके जन्म-मरण का हेतु है। ऐसे पंचविषय परमेश्वर के भक्त को किस प्रकार जन्म-मरण के हेतु न बनें? यह प्रश्न है।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने इस प्रश्न का उत्तर अपनी समझ के अनुसार दिया, किन्तु यथार्थरूप से समाधान नहीं हुआ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'लीजिए, इस प्रश्न का उत्तर हम देते हैं, कि **जो भक्त मायामय तीनों शरीरों की भावना से रहित रहकर केवल आत्मसत्तारूप होकर परमेश्वर की मूर्ति का चिन्तन करता है तथा भगवान के चिन्तन के बल से जब उसकी उपशम अवस्था हो जाती है, तब उस भक्त को उपशमावस्था के कारण ये पंचविषय जन्म-मरण के हेतु नहीं बनते।** जैसे मही या साबरमती जैसी नदी के जल का प्रवाह दोनों किनारों पर पूर्ण वेग से बहता हो, तो उसमें हाथी, घोड़ा या वृक्ष भी बह जाते हैं और वहाँ कोई स्थिर नहीं रह पाते, वैसे ही उपशम अवस्थावाले को भी चाहे कैसे ही रमणीय भोग इन्द्रियगोचर हो गए हों, परन्तु जब वह अन्तःसम्मुख दृष्टि करे, तब उसे उनकी उसी प्रकार विस्मृति हो जाती है, जिस तरह पूर्वजन्म में देखी हुई वस्तुओं का इस जन्म में विस्मरण हो जाया करता है। जिस भक्त की ऐसी स्थिति रहती हो, उसे उपशमावस्था कहा जाता है।

इस उपशम की महिमा अतिशय महान है। इस संसार में जैसे किसी स्त्री-पुरुष में विवाह के पूर्व अत्यन्त प्रीति रही हो और विवाह के पश्चात् उन्हें तीन रात तथा तीन दिन तक जागरण कराया जाए तथा उन्हें दूर-दूर तक

चलाया जाए तब दोनों को साथ-साथ रहते हुए भी निद्रा तथा थकान के कारण एक-दूसरे के रूप या स्पर्श का सुख भोगने का सामर्थ्य नहीं रहता। वे दोनों परस्पर आलिंगनबद्ध होने पर भी इस तरह सोते रहते हैं, जैसे दो लकड़े को एकसाथ बाँधकर रख दिया हो, वैसे सोये हुए रहते हैं, लेकिन उन दोनों को पंचविषयों में से एक भी विषय का सुख प्राप्त नहीं होता। ये दोनों अज्ञानावस्था में सुषुप्ति-अवस्था के कारण उपशम को प्राप्त हो गए हैं, तो भी उन्हें किसी भी प्रकार के विषयों का भान नहीं रहता; फिर जो ज्ञानी है, तथा परमेश्वर के स्वरूप का ध्यान करके जो उपशमदशा को प्राप्त हुआ है, उसे पंचविषय क्या बाधा डाल सकते हैं? कभी नहीं। अत: जिसने उपशमदशा को प्राप्त कर लिया हो, उसे पंचविषय जन्म-मरण के हेतु नहीं बनते हैं।'

फिर नित्यानन्द स्वामी ने कहा कि 'आत्मरूप होकर भगवान का ध्यान करने का जो उपाय आपने उपशमदशा की सिद्धि के लिए बताया है, वह तो अत्यन्त कठिन है। इसलिए, इसके अतिरिक्त कोई अन्य सुगम उपाय हो, तो वही बताइए।'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि **'एक तो जो भक्त भगवान के माहात्म्य को अधिक से अधिक समझता हो तथा दूसरा, भगवान एवं भगवान के भक्त की सेवा-चाकरी करता हो और उनके दर्शन करने में अत्यधिक अटूट श्रद्धा रखता हो, ऐसा जो भगवान तथा भक्त है, उसको वह उपशम दशा प्राप्त होती है।** किन्तु, हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जो सेवक मानी होगा वह किसी को भी प्रिय नहीं लगेगा। वास्तव में मानी सेवक से सेवा-शुश्रूषा कराना वैसा ही है, जैसे दुर्भिक्ष पड़ने पर बड़े-बड़े मनुष्य केवल कोद्रव (कोदों) खाकर जीवन-निर्वाह करते हैं। और, स्वामी अपने निर्मानी सेवक पर जितने प्रसन्न रहते हैं, उतनी प्रसन्नता उन्हें मानी सेवक के प्रति नहीं होती। इसलिए, वही सेवक सच्चा है, जो अपने स्वामी की इच्छा के अनुसार कार्य करता रहे।'

फिर शुकमुनि ने पूछा कि जिसे विवेक और समझ न हो, वह अपने स्वामी को कैसे प्रसन्न कर सकता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'ये मूलजी ब्रह्मचारी तथा यह रतनजी

अधिक बुद्धिशाली कहाँ हैं? फिर भी, इन्हें आत्मकल्याण की अत्यधिक इच्छा है, अतः उन्हें वह करना ठीक तरह से आता है, जिससे भगवान प्रसन्न हो जाएँ। और, इस समय तो अयोध्यावासी स्त्री-पुरुष हमारी इच्छा के अनुसार जैसा आचरण करते हैं, उस प्रकार तो मेरी आज्ञा का पालन परमहंस, सांख्य-योगी तथा कर्मयोगी सत्संगी भी नहीं कर पाते। क्योंकि अयोध्यावासियों ने अपने जीवन को अतिशय सत्संगपरायण बना लिया है। वस्तुतः भगवान को प्रसन्न करने की जितनी क्षमता अयोध्यावासियों में है, वैसी कुशलता और किसी में नहीं दिखाई पड़ती। ये अयोध्यावासी तो बहुत विश्वासु हैं। अतः कोई भी पुरुष उन्हें ठग सकता है। इसलिए, यदि इन्हें कोई कार्य आरम्भ करना हो, तो उन्हें अग्रगण्य परमहंसों तथा सत्संगी गृहस्थों से पूछकर ही करने देना चाहिए, किन्तु किसी एक पुरुष के कथनानुसार ही वह कार्य उन्हें नहीं करने देना चाहिए। इस प्रकार, त्यागी तथा गृहस्थ सत्संगीजन अयोध्या-वासियों की देखरेख रखें, यह हमारी आज्ञा है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥3॥ ॥223॥

॥ श्रीअहमदाबाद प्रकरणं समाप्तम् ॥

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ॥

श्रीगढ़डा अंत्य प्रकरण के वचनामृत

वचनामृत 1 : ज्ञान तथा स्नेह का अंग

संवत् 1882 में वैशाख कृष्णा एकादशी (1 जून, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीवासुदेव नारायण के चौक में पश्चिमी द्वार के कमरे के ऊँचे बरामदे में गद्दी-तकियायुक्त सुन्दर रंगीन पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे और उनके मस्तक पर बड़ी सफ़ेद पाग में मोगरा के सुन्दर पुष्पों का तुर्रा लगा हुआ था। उन्होंने कंठ में मोगरा के पुष्पों का हार धारण किया था। उनके दोनों हाथों में इन पुष्पों के गजरे सुशोभित हो रहे थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने परमहंसों से पूछा कि 'ऐसी कौन-सी समझ होती है, जिससे कि भगवान के भक्त को बुरे देशकालादि का योग हो, फिर भी उसकी भक्ति हमेशा निर्विघ्न रहे ?'

तब अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार सभी परमहंसों ने उत्तर देने का प्रयास किया, परन्तु वे यथार्थ उत्तर नहीं दे सके। इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज कहने लगे कि 'जो भगवान को भजता हो, उसे प्रथम तो दृढ़ वैराग्य होना चाहिए तथा दूसरी आत्मनिष्ठा होनी चाहिए। यदि वैराग्य नहीं होता, तो जब उसे मनचाहा पदार्थ मिलता है, तब उसमें भी उसे भगवान जैसी ही प्रीति हो जाती है। तथा यदि आत्मनिष्ठा की दृढ़ता न हो, तो अपनी देह में सुख-दुःख का योग होने पर उस भक्त की वृत्तियाँ विचलित हो जाती हैं। फिर वह जिसे सुखदायी जानता है, उससे प्रीति करने लगता है और जिसे दुःखदायी जानता है, उससे द्वेष करने लगता है। इस प्रकार उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। इसलिए, भगवान के भक्त को आत्मनिष्ठा और वैराग्य, दोनों को अत्यंत

सुदृढ़ करके रखना चाहिए। क्योंकि वैराग्य की दृढ़ता के कारण उसे भगवान की मूर्ति के सिवा अन्य मायिक आकारमात्र असत् हो जाते हैं तथा आत्मनिष्ठा की दृढ़ता के कारण मायिक सुख-दु:ख मिथ्या हो जाया करते हैं। और, बिना वैराग्य तथा आत्मनिष्ठा के उसे निर्विकल्प समाधि में समाधिस्थ रहने तक ही सुख-शांति का अनुभव होता है, परन्तु जब समाधि से वह बाहर आता है, तो पुन: नारायणदास की तरह अच्छे-अच्छे पदार्थों को देखकर आसक्तिपूर्वक विह्वल हो जाता है। और, भगवान के भक्त को भगवान के स्वरूप में या तो ज्ञान का अंग सुदृढ़ चाहिए अथवा स्नेह का अंग सुदृढ़ चाहिए। उनमें जिसे ज्ञान का अंग हो, वह तो परमेश्वर का अतिशय माहात्म्य समझता है और जिसे स्नेह का अंग होता है, वह तो बिना भगवान के आधी घड़ी भी चैन के साथ नहीं बीता सकता। ऐसे ज्ञान के अंगवाले तो झीणाभाई, देवराम और प्रभाशंकर हैं। इस तरह जो हरिभक्त भगवान के माहात्म्य को जानते हों, उन्हें ज्ञान के अंगवाला समझना। और जैसा व्रज की गोपियों को भगवान पर स्नेह था, वैसा स्नेह जिन हरिभक्तों को हो, उन्हें स्नेह के अंगवाला मानना चाहिए। और, जिसे ज्ञान का अंग होता है, वह भगवान को अन्तर्यामी जानता है; और वह ऐसी समझ रखता है कि 'भगवान किसी के विषय में किसी की कही हुई बात को सुनते ही नहीं। वे जिस भक्त का जैसा अंग होता है, उसे वैसा समझकर ही तदनुसार ही उसका प्रतिभाव देते हैं। परन्तु, वे किसी के परामर्श पर नहीं चलते।'

और, जो भक्त यह समझता है कि 'मुझमें यद्यपि कोई दोष नहीं है, फिर भी भगवान किसी के सिखाने पर ही मुझे दोषी बताते हैं,' तो उसे वस्तुत: भगवान के स्वरूप का ज्ञान ही नहीं है। इस संसार में भी जिस मनुष्य को जिससे स्वार्थ होता है, वह उसमें किसी भी प्रकार की बुराई नहीं मानता, क्योंकि उसके स्नेह में अपना स्वार्थ निहित है। उसी प्रकार जिसने जन्म-मरण के भय से छुटकारा पाने के लिए भगवान के साथ अपना स्वार्थ समझा हो, उसे भगवान में किसी भी प्रकार का अवगुण नहीं दिखाई पड़ सकता है। और, जो भक्त ऐसा समझता है कि 'भगवान किसी के सिखाने से बदल जाते हैं।' इस प्रकार भगवान के प्रति दोष-दृष्टि रखता है, वह न तो ज्ञानी है, न प्रेमी ही है।'

इतना कह चुकने के बाद श्रीजीमहाराज ने बड़े-बड़े परमहंसों को

संबोधित करके कहा कि 'अब आप बताइए कि ज्ञान और स्नेह इन दोनों अंगों में से आपका कौन-सा अंग है ?'

तब समस्त परमहंसों ने बताया कि हमें तो ज्ञान का अंग है।

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसे स्नेह का अंग हो, उससे अपने प्रियतम के लिए न करने योग्य कार्य भी सहज ही होता रहता है! जैसे इस संसार में जो चोर होता है, उसे अपनी औरत और लड़के से प्रेम बना रहता है, तो चोरी करते हुए वह दूसरे लोगों की हत्या करके वहाँ से प्राप्त द्रव्य अपने घरवालों को सौंप देता है। वह चोर बड़ा निर्दयी है, परन्तु उसे अपने घरवालों से प्रेम है तो उनके साथ वह बेरहमी का बर्ताव नहीं करता। उसी प्रकार जिसे भगवान तथा भगवद्भक्त से प्रेम रहता हो, उसे भगवान या भगवद्भक्त के प्रति कभी क्रोध या ईर्ष्या का भाव नहीं रहता तथा उनमें कभी कोई दोष भी नहीं दिखाई देता। ऐसा जिसके हृदय में स्नेह हो, वह स्नेह के अंगवाला कहा जाता है। और भगवान के प्रति जिसे न तो ज्ञान का अंग हो या न तो स्नेह का अंग हो, वह तो विचलित मनोदशा वाला भक्त कहा जाएगा।' इतना कहकर श्रीजीमहाराज अपने निवास स्थान पर पधारे।

इसके बाद उसी दिन सायंकाल दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में बिछे हुए पलंग पर गद्दी बिछी हुई थी और तकिया रखा हुआ था, श्रीजीमहाराज विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे और कंठ में मोगरा के पुष्पों का हार पहना था। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

श्रीजीमहाराज के सम्मुख साधु तबला-सरोद बजाकर कीर्तनगान कर रहे थे। जब वे कीर्तन-भक्ति कर चुके तब श्रीजीमहाराज ने यह आज्ञा दी कि 'हमारे आश्रित त्यागी साधुओं, ब्रह्मचारियों, गृहस्थ महिलाओं तथा भक्तों को हमारी लिखी हुई शिक्षापत्री का नित्य पाठ करना। जिसे पढ़ना न आता हो उसे शिक्षापत्री का नित्य श्रवण करना। जिसे उसका श्रवण करने का योग न आए वह प्रतिदिन शिक्षापत्री की पूजा करें। इस प्रकार हमने शिक्षापत्री में ही लिखा है। यदि किसी को इन तीनों नियमों के पालन में विघ्न पड़ जाए, तो उसे एक उपवास कर लेना, ऐसी हमारी आज्ञा है।' फिर तो सभी ने श्रीजी-महाराज की इस आज्ञा का पालन करने का नियम ग्रहण किया। और कहने

लगे कि 'हे महाराज ! आपने जैसी आज्ञा दी है उसी के अनुसार हम सब नियम का पालन करेंगे।' यह सुनकर श्रीजीमहाराज अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने समस्त साधुओं तथा ब्रह्मचारियों को गले लगाकर प्रसन्नता व्यक्त की। तथा सभी सत्संगियों के हृदय पर अपने चरणारविन्द रखे।

॥ इति वचनामृतम् ॥1॥ ॥224॥

वचनामृत 2 : सर्वार्थसिद्धि; प्रकट गुरुरूप हरि

संवत् 1882 में जयेष्ठ शुक्ला षष्ठी (11 जून, 1826) को सायं-काल स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राज-भवन में श्रीवासुदेव नारायण के मन्दिर के चौक में छोटी चौकी पर विराजमान थे। उन्होंने मस्तक पर श्याम पल्ले की सफ़ेद पाग बाँधी थी, सफ़ेद चादर ओढ़ी थी और सफ़ेद धोती धारण की थी। पाग में मोगरा के पुष्पों का तुर्रा खोंसा था। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब श्रीजीमहाराज ने प्रश्न किया कि 'यद्यपि जीव जगत को नाशवान समझता है और यह भी मानता है कि चैतन्य (जीव) देह का त्याग करके अलग हो जाता है; फिर भी, उसके मन से जगत की प्रधानता नहीं मिटती। यद्यपि वह परमेश्वर को समस्त सुखों का सिन्धु मानता है, फिर भी परमात्मा में उसका चित्त नहीं लग पाता। उसके हृदय में सत्संग की भी प्रधानता नहीं रहती तथा धन, स्त्री आदि सांसारिक वस्तुओं से उसकी प्रीति नहीं मिटती, इसका क्या कारण है?' तब मुक्तानन्द स्वामी ने कहा कि उसके हृदय में वैराग्य न होने के कारण जगत की प्रधानता नहीं मिटती तथा भगवान से प्रीति नहीं होती।' यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह बात तो सच है कि वैराग्य की न्यूनता है, फिर भी हमें ऐसा प्रतीत होता है कि सत्संग होते-होते जिसका जैसा अंग बंध जाता है वह सर्वदा यथावत् रहता है, परन्तु बदलकर दूसरा नहीं होता। सत्संग द्वारा उस अंग की पुष्टि तो होती है, किन्तु अंग तो वही का वही रहता है।

और, जिसको जो भी अंग बंधना प्रारम्भ होता है, तब उसका चित्त विभ्रान्त-सा हो जाता है। जैसे कामी का चित्त काम से, क्रोधी का चित्त क्रोध से तथा लोभी का चित्त लोभ से विभ्रांत होता है, उसी तरह उसका

चित्त भी विभ्रान्त हो जाता है। ऐसी विभ्रान्त दशा में जो अंग निर्माण होता है, जीवनभर वही ज्यों का त्यों बना रहता है।

इसलिए जो समझदार है, उसे अपना अंग पहले से परख लेना चाहिए, ताकि काम-क्रोधादि द्वारा विक्षेप हो रहा हो, तब वह अपने उस अंग का विचार करेगा, तो उसके कामादि दुर्विकार क्षीण हो जाएँगे! जिस प्रकार किसी गृहस्थ को अपनी माता, बहन और पुत्री को अतिरूपवती देखने पर बुरा संकल्प हो गया, तो उसे मन ही मन कैसी डाह होने लगती है! उसी तरह की जलन उसे बिना सत्संग के कोई अन्य पदार्थ महत्त्वपूर्ण लगे तब होनी चाहिए। जब ऐसी डाह अयोग्य पदार्थ के संकल्प को देखकर नहीं होती हो, तो उसके हृदय में सत्संग प्रधान रूप से नहीं रहता।

वास्तव में यह सत्संग समस्त साधनों के फलरूप है। श्रीकृष्ण भगवान ने यही मत उद्धवजी के समक्ष श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में व्यक्त किया है कि अष्टांगयोग, सांख्यविचार, शास्त्रों के पठन तथा तप, त्याग, योग, यज्ञ एवं व्रतादि से मैं उतना वशीभूत नहीं होता, जितना कि सत्संग द्वारा वश में हो जाता हूँ। इसलिए, हमें ऐसा लगता है कि पूर्वजन्म का संस्कार भी सत्पुरुष के सम्बंध से हुआ होगा। आज भी जिसे अच्छे संस्कार मिलते हैं, वे भी सत्पुरुष के सान्निध्य से ही प्राप्त होते हैं। किन्तु, ऐसे सत्पुरुष का सत्संग प्राप्त होने पर भी जिसको यथार्थ समझ नहीं बैठती, उसे अतिशय मन्द बुद्धिवाला समझना। क्योंकि यथार्थ बात तो यह है कि **जैसी सभा श्वेतद्वीप में है, और जैसी सभा गोलोक या वैकुंठलोक में है तथा जैसी सभा बदरिकाश्रम में है, उनसे भी अधिक मैं इन सत्संगियों की सभा को जानता हूँ और समस्त हरिभक्तों को अतिशय प्रकाशयुक्त देखता हूँ। यदि मैं यह बात लेशमात्र भी मिथ्या कहता होऊँ तो इस सन्त-सभा की सौगन्ध है।** यह सौगन्ध क्यों लेनी पड़ती है? तो सबको इस प्रकार की अलौकिकता न तो समझ में आती है, और न तो दिखाई ही पड़ती है! इसलिए सौगन्ध लेनी पड़ती है।

ब्रह्मादि को भी दुर्लभ ऐसा यह सत्संग प्राप्त होने पर यदि कोई भक्त परमेश्वर को छोड़कर अन्य पदार्थ से अपना चित्त लगाये रखता है, तो इसका कारण यही है कि **इस जीव को भगवान के परोक्षस्वरूप में जैसी प्रतीति**

होती है, वैसी दृढ़ प्रतीति भगवान के प्रत्यक्षस्वरूप में नहीं होती है! श्रुति में यही बात बताई गई है कि परोक्ष देवों में जीव को जो प्रतीति है, वैसी प्रतीति यदि प्रत्यक्ष गुरुरूप हरि में हो जाए तो, जितने भी अर्थ प्राप्त होने को कहा है, वे समस्त अर्थ उसको प्राप्त हो जाते हैं। और, जब ऐसा सन्त-समागम प्राप्त हुआ है, तब यह समझना चाहिए कि देहत्याग के बाद जो भगवान को प्राप्त करना था, वही भगवान आज इसी देह में प्रत्यक्ष प्राप्त हुए हैं; इसलिए, जिसको परमपद कहते हैं, मोक्ष कहते हैं, वह आज सदेह ही प्राप्त हो गया है!

यह जो वार्ता कही गई है, वह आपको यद्यपि स्थूल दिखाई पड़ती है, फिर भी अत्यन्त सूक्ष्म है। जो इस प्रकार बरतता हो, उसे यह समझ में आ जाता है कि यह वार्ता अतिसूक्ष्म है। इसका इतना अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप है कि इसे दूसरे लोग तो समझ ही नहीं पाते।' ऐसी वार्ता करके श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने निवास-स्थान में पधारे।

॥ इति वचनामृतम् ॥2॥ ॥225॥

वचनामृत 3 : दया एवं स्नेह

संवत् 1883 में आषाढ़ कृष्णा प्रतिपदा (20 जुलाई, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास-स्थान पर विराजमान थे। उस दिन ठक्कर हरजी (गढ़पुर के खोजा हरिभक्त) के घर पर श्रीजीमहाराज ने पधरावनी की। फिर पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया रखवाकर श्रीजीमहाराज को विराजमान किया। फिर हरजी ठक्कर ने उनकी केसर-चन्दनादि से पूजा की। इस तरह श्रीजीमहाराज पूर्वाभिमुख होकर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके कंठ में मोगरा-पुष्पों का हार तथा दोनों भुजाओं में मोगरे के फूलों के गजरे और पाग में पुष्पों के तुर्रे अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे। श्रीजीमहाराज के समक्ष मुनिमंडल तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने समस्त सन्त मंडल से पूछा कि 'जिस हरिभक्त के हृदय में दया और स्नेह दोनों गुण स्वाभाविक रूप से रहे हैं।

इनमें से स्नेह का स्वरूप शहद जैसा होता है और ऐसा भक्त तो जहाँ-तहाँ चिपक जाता है! और दया का स्वभाव ऐसा है कि दयालु भक्त जहाँ-तहाँ दया करता रहता है। जैसे भरतजी ने मृगी पर दया की, तो मृगी के उदर से जन्म लेना पड़ा। अतः दयालु भक्त जिस पर दया करे, उससे उसका स्नेह बंध ही जाता है। अतः उस दया और स्नेह को टालने का उपाय तो आत्मज्ञान तथा वैराग्य हैं। उन दोनों में आत्मज्ञान तो ऐसा है, कि जिसमें किसी मायिक पदार्थ का प्रवेश ही नहीं होता। और, वैराग्य का स्वरूप ऐसा है कि वह नामरूपवाले समस्त पदार्थों को नाशवंत बताता है। इस प्रकार आत्मज्ञान और वैराग्य द्वारा दया एवं स्नेह का नाश हो जाता है तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों प्रकार के देहभावों का भी नाश हो जाता है तथा जीव केवल ब्रह्मसत्ता-मात्र रहता है। इसके पश्चात् उसे भगवान एवं भगवद्भक्तों के सम्बंध में दया और स्नेहभाव रहता है या नहीं?'

इस प्रश्न को सुनकर मुक्तानन्द स्वामी, शुकमुनि तथा नित्यानन्द स्वामी आदि परमहंसों ने अपने विचार के अनुसार उत्तर दिया, परन्तु श्रीजी-महाराज के प्रश्न का यथार्थरूप से समाधान नहीं हुआ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'चलें, इस प्रश्न का उत्तर हम देते हैं। ज्ञान और वैराग्य द्वारा तीन शरीर, तीन अवस्थाएँ और तीन गुण जैसी मायिक उपाधियों से चैतन्य अलग हो जाता है और वह केवल सत्तामात्र रहता है। किन्तु मायिक उपाधि लेशमात्र भी नहीं रहती। यहाँ एक दृष्टांत देते हैं, उसे सुनिए। जैसे दीपक की अग्नि, मिट्टी का दिया, तेल और बत्ती के संयोग से दिखायी पड़ती है तथा तीनों के संयोग से ही उस अग्नि को ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु जब इन तीनों का संग छूट गया, तब वह अग्नि न तो किसी को दृष्टिगोचर होगी और न तो उसे ग्रहण किया जाएगा! वह अग्नि उन तीनों के संयोग के होने से दिखायी पड़ती है और ग्रहण की जा सकती है।

उसी प्रकार ज्ञान तथा वैराग्य द्वारा जब समस्त मायिकभाव छूट जाते हैं, तब यह जीवात्मा केवल ब्रह्मसत्तामात्र रहती है। वह मन एवं वाणी से अगोचर रहती है तथा किसी भी इन्द्रिय से उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। उस समय उसे यदि शुद्ध सम्प्रदाय द्वारा भगवान का ज्ञान प्राप्त हुआ हो और भगवान एवं भगवान के भक्त का माहात्म्य यथार्थ रूप से समझ में आया

हो, उसके समस्त मायिकभावों का संग मिट जाता है और अपनी जीवात्मा ब्रह्मरूप हो जाती है, तो भी उसके हृदय में भगवान तथा भगवद्भक्त के प्रति दया और प्रीति निरन्तर बनी रहती है। यहाँ एक दृष्टान्त है कि जब दीपक की ज्योति को पूर्वोक्त तीनों चीज़ों का संग मिट जाता है, और किसी भी इन्द्रिय द्वारा उसे न ग्रहण किया जाए, इस तरह वह अग्नि आकाश में ही रहती है; फिर भी उस अग्नि में सुगन्ध तथा दुर्गन्ध का संग लग गया है, वह नहीं टलता। जैसे वायु अग्नि से भी अधिक असंगी होती है, तो भी वायु में सुगन्ध और दुर्गन्ध की संगत लग जाती है, वैसे ही जीवात्मा को ज्ञान-वैराग्य द्वारा मायिकभाव का संग मिट जाने पर भी सत्संग का प्रभाव नहीं मिटता! यद्यपि वह ब्रह्मरूप होता है फिर भी वह नारद-सनकादिक और शुकजी की तरह भगवान तथा भगवद्भक्त के प्रति अतिशय दया और प्रीतियुक्त रहता है। यहाँ यह श्लोक है :

'परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥'[1]
'हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः॥'[2]

तथा **'आत्मारामाश्च मुनयो'**,[3] तथा **'प्रायेण मुनयो राजन्'**[4] एवं गीता में भी कहा गया है :

'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥'[5]

---

1. **अर्थ :** 'हे राजर्षे! सत्त्वादि गुणों के कार्यभूत तीन देहों से विलक्षण आत्मस्वरूप में सम्यक् रूप से निष्ठा प्राप्त करके भी मैं (शुकदेव) उत्तमश्लोक भगवान की लीला से आकृष्ट होकर श्रीमद्भागवत को पढ़ चुका हूँ।' (भागवतम् : 2/1/9)
2. **अर्थ :** 'भगवद्गुणों से आकृष्ट होकर मुनिवर्य शुकमुनि ने विष्णुजनों को प्रिय भागवत रूप महद् आख्यान की शिक्षा ली।' (श्रीमद्भागवतम् : 1/7/11)
3. श्रीमद्भागवतम् : 1/7/10, अर्थ के लिए देखें : वचनामृत पंचाला प्रकरण 2 की पादटीप-6
4. **अर्थ :** 'निर्गुणभाव को प्राप्त होने पर भी महान मुनिवर्य भगवान के चरित्रों का गान करते हैं।' (श्रीमद्भागवतम् : 2/1/7)
5. गीता : 18/54, अर्थ के लिए देखें : वच. पंचाला प्रकरण 2 की पादटीप-5

इत्यादि अनेक श्लोकों द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि भगवान के जो भक्त ज्ञान-वैराग्य द्वारा मायिकभावों का त्याग करके ब्रह्मरूप हो गए हों, फिर भी भगवान तथा भगवद्भक्तों के प्रति दया और प्रीति से युक्त रहते हैं।

परन्तु जो भगवान का भक्त ही नहीं होता, और जो केवल आत्मज्ञान तथा वैराग्य द्वारा मायिकभावों को ही नष्ट करके सत्तामात्र रहता हो, उसे साधनादशा में ही भगवान की उपासना से रहित केवल आत्मज्ञानी के कुसंग का पुट चढ़ गया है; इसलिए, उसे भगवान और भगवद्भक्त के प्रति दया एवं स्नेह का भाव नहीं होता। जिस प्रकार वायु और अग्नि को दुर्गन्ध का असर लग जाता है, उसी प्रकार उसे भी कुसंग का पुट चढ़ गया है, जो किसी भी तरह से नहीं मिट पाता। जैसे अश्वत्थामा ब्रह्मरूप हुआ था, (कथन मात्र ब्रह्मरूप, वास्तव में नहीं।) फिर भी उसे कुसंग का पुट लग चुका था, तो उसके हृदय में श्रीकृष्ण भगवान तथा उनके भक्त पांडवों के प्रति दया और स्नेह का भाव नहीं हुआ। उस प्रकार जो केवल आत्मज्ञानी है, वह यद्यपि ब्रह्मरूप हो जाता है, फिर भी उसके हृदय से कुसंग का प्रभाव नहीं मिट पाता और भगवान तथा उनके भक्तों के प्रति दया और स्नेह भाव उत्पन्न नहीं होता। इसलिए भगवान के भक्त के हृदय में तो मायिक भावों का संग मिट जाने पर भी भगवान तथा भगवद्भक्त के प्रति अत्यंत दया और प्रेम की वृद्धि होती ही रहती है। किसी भी तरह दया तथा प्रीति का भाव मिट नहीं पाता। वह अखंड बना रहता है।'

इस प्रकार वार्ता करने के पश्चात् श्रीजीमहाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर अपने निवासस्थान में पधारे।

॥ इति वचनामृतम् ॥3॥ ॥226॥

वचनामृत 4 : बाधितानुवृत्ति

संवत् 1883 में श्रावण शुक्ला तृतीया (6 अगस्त, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास स्थान पर ऊपरवाली छत के कमरे के बरामदे में गद्दी तकिया रखवाकर उत्तराभिमुख विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे।

उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'ज्ञान-वैराग्ययुक्त जिस भक्त ने अपने विचार के बल से स्वयं को बन्धन करनेवाली मायिक वस्तुओं से आसक्ति को नष्ट कर दिया हो, फिर भी उसको तब तक बाधितानुवृत्ति रह जाती है, जब तक उसे निर्विकल्प समाधि नहीं लगी। इसके कारण उसके मन में ऐसे विचार रहा करते हैं कि कदाचित् मुझे अपने माता-पिता, पत्नी, पुत्रों, द्रव्य, कुटुम्ब, शरीर तथा घर आदि में कदाचित् मोह तो नहीं रह गया! ऐसा भय उसके मन में बना रहता है।

जैसे कोई शूरवीर ने अपने समस्त शत्रुओं को मार डाला हो तो भी वह अपने मृत शत्रुओं के भय से कभी-कभी भयाक्रान्त हो जाया करता है, और स्वप्न में उन शत्रुओं को देखकर भयभीत हो जाता है। उसी प्रकार जिस ज्ञानी भक्त ने जिन-जिन वस्तुओं को अपने मन से ठुकरा दिया हो, और उनके प्रति अपने मोह को तोड़ दिया हो, तो भी उसे बाधितानुवृत्ति रहने के कारण हृदय में मायिक वस्तुओं के बन्धन से डर लगने लगता है, अथवा धन-कलत्रादि की किसी समय याद आ जाती है। तब मन में भय प्रगट हो जाता है कि 'कदाचित् मुझे उन बन्धनकारी वस्तुओं की, जिनका मैंने हृदय से त्याग कर दिया है, स्मृति हो जाएगी तो!' इस प्रकार की भावना को बाधितानुवृत्ति कहा जाता है और वह वृत्ति निर्विकल्प समाधि के लगने पर ही नष्ट होती है। निर्विकल्प समाधि की स्थिति में उस पुरुष को खाने-पीने की, दिन-रात की और सुख-दुःख की कुछ खबर नहीं रहती। जब वह निर्विकल्प समाधि से बाहर निकलता है, तब सविकल्प समाधि की स्थिति में रहने पर उसे बाधितानुवृत्ति अवश्य रहती है। इसलिए वह हरिभक्त ज्वरग्रस्त हो, अथवा उसकी देह छूटने का समय आ जाए, तब बाधितानुवृत्ति के योग से भगवान को छोड़कर उसे अन्य वस्तुओं की भी स्मृति होने लगती है। उस समय जो बड़बड़ाहट-सा होता है, तथा सन्निपात-सा होता है, तब 'अरे बाप रे! ओ माँ,' जैसे शब्द भी मुँह से निकल आते हैं।

उस समय जो पुरुष बाधितानुवृत्ति के मर्म को नहीं समझता है, उसके मन में उस हरिभक्त के प्रति दुर्भाव हो जाता है कि 'यह तो भगवान का भक्त कहलाता था, और अन्तकाल में इस प्रकार प्रलाप क्यों करता है?' इस

प्रकार का अवगुण बाधितानुवृत्ति का मर्म जाने बिना ही देखा जाता है। और, इस संसार में ऐसे कितने ही पापी मनुष्य हैं, जो अन्त समय में बोलते-चलते और सावधानीपूर्वक देह-त्याग करते हैं अथवा कोई सिपाही या राजपूत हो और उसे शरीर में घाव लगें हों, तो भी वह सतर्क रहते हुए बोलते-चलते मर जाते हैं। परन्तु भगवान से जो विमुख है, वह यदि सतर्क होकर भी देहत्याग करता है, तो क्या उसका कल्याण होता है? नहीं, उसका तो नरक में ही निवास होता है। परन्तु यदि भगवान का भक्त हो, और वह यदि परमेश्वर का नाम-स्मरण करता हुआ देह-त्याग करता है अथवा बाधितानुवृत्ति के योग से बेहोश होकर प्राणोत्सर्ग करता है, परन्तु भगवान का वह भक्त भगवान के चरणारविन्दों को ही प्राप्त होता है।'

फिर उसी दिन सन्ध्या के समय श्रीजीमहाराज अपने निवासस्थान की ऊपरी मंजिल पर कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके सम्मुख साधु तथा देश-देशान्तर के हरिभक्तों की सभा हो रही थी। इस अवसर पर श्रीजीमहाराज ने बड़े-बड़े परमहंसों से प्रश्न पूछा कि 'इस देह में जो जीव है, वह एक ही स्थान में किस प्रकार रहता है और समस्त शरीर में किस तरह व्यापक होकर रहता है, यह बताइए।'

तत्पश्चात् जिसको जैसा लगा, उसने वैसा ही उत्तर दिया, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का निराकरण कोई भी न कर सका।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस प्रकार देह में अन्नादि रसों का विकार वीर्य है, उसी तरह पंचमहाभूतों के विकाररूप हृदय में एक मांसचक्र रहता है, उसी चक्र में जीव का निवास है। जिस प्रकार चिथड़े के पलीते को तेल में भिगोकर आग से जलाया जाए, उसी तरह यह जीव भी मांस के चक्र के साथ मिलकर रहता है। जिस तरह लोहे की कील में अग्नि व्याप्त हुई हो, वैसे ही मांसचक्र में यह जीव भी विशेष सत्ता से व्याप्त होकर रहता है और सामान्य सत्ता से सारे शरीर में व्याप्त हो रहा है। इसलिए देह में चाहे कहीं भी पीड़ा होती है, वह समस्त दुःख जीव को ही होता है। परन्तु शरीर के सुख-दुःख से यह जीव भिन्न नहीं रहता। 'कोई ऐसा पूछेगा कि जीव तो प्रकाशमान है, जबकि मांसचक्र तथा देह तो प्रकाशरहित है, उन दोनों को एक दूसरे से मिला हुआ कैसे कहा जाए?'

तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार तेल, दीपक और बत्ती के साथ सम्बंध रखे बिना अकेली आधारहीन अग्नि की ज्योति आकाश में नहीं रहती, उसी तरह पंचभूतों के विकाररूप मांसचक्र से जुड़े बिना जीव अकेला नहीं रह पाता। और, अग्नि जिस प्रकार दीपक, तेल और बत्ती से भिन्न है तथा दीपक के टूट जाने पर उस अग्नि का नाश नहीं होता, उसी तरह मांसचक्र एवं देह में जीव के व्याप्त रहने पर भी देह के प्राणहीन होने पर जीव का नाश नहीं होता। वह देह के साथ सुख-दुःख को तो अवश्य भोगता है, किन्तु देह के सदृश जीव का नाशवान स्वभाव नहीं है। इस प्रकार जीव अविनाशी तथा प्रकाशरूप है, तथा देह में व्याप्त है।

और जैसे, मन्दिर में एक स्थान पर रखे हुए दीपक की ज्योति विशेष-रूप से बत्ती में व्याप्त होकर रहती है और सामान्यतः सारे घर में व्याप्त हो रही है, उसी तरह जीवात्मा भी पंचमहाभूतों के विकाररूप मांसचक्र में विशेषरूप से व्याप्त हो रही है, और सामान्य रूप से सारे शरीर में व्याप्त हो रही है। इस तरह जीव इस देह में रहता है तथा उस जीव में परमेश्वर भी साक्षीरूप होकर रहते हैं।'

॥ इति वचनामृतम् ॥4॥ ॥227॥

वचनामृत 5 : माहात्म्ययुक्त भक्ति

संवत् 1883 में भाद्रपद शुक्ला एकादशी (12 सितम्बर, 1826) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में गद्दी-तकिया पर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। कंठ में मोगरा-पुष्पों के हार पहने हुए थे। उनकी पाग में मोगरा-फूलों के तुर्रे और हाथों में मोगरा-पुष्पों के गजरे सुशोभित हो रहे थे। उनके समक्ष मुनिमंडल तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'कोई प्रश्न पूछिए।'

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! भगवान की ऐसी कौन-सी भक्ति है, जिसमें किसी भी प्रकार का विघ्न न हो, तथा वह किस तरह की भक्ति है कि जिस भक्ति में कोई विघ्न पड़ता है?'

प्रश्न सुनकर श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध

में कपिल गीता में माता देवहूति ने कपिलजी के प्रति कहा है :

'यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कथं पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥
अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्, यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥'[6]

इन दो श्लोकों में भगवान का माहात्म्य कहा गया है। इसके उपरांत कपिलजी ने माता देवहूति के प्रति अपनी महिमा बताई है :

'मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात् ।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात् ॥'[7]

– इस प्रकार यदि माहात्म्य सहित भगवान की भक्ति की जाए, तो उसमें किसी प्रकार का विघ्न नहीं पड़ता, किन्तु माहात्म्य जाने बिना केवल प्राकृत बुद्धि से जो भक्ति की जाए, तो निश्चितरूप से विघ्न आता है।

यह सुनकर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'इस प्रकार माहात्म्ययुक्त भक्ति को प्राप्त करने का क्या साधन है ?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा, **'शुक-सनकादि जैसे महापुरुष की सेवा तथा उन्हीं के प्रसंग[8] से जीव में माहात्म्य सहित भक्ति का उदय होता है।'**

---

6. **अर्थ :** 'हे भगवन्! कभी भी आपके नामों का श्रवण-कीर्तन करने, आपको प्रणाम करने तथा आपका स्मरण करने से यदि श्वपच तुरन्त यज्ञ करने में समर्थ और पवित्र हो जाता है, तो कोई प्राणी यदि आपके दर्शनमात्र से पवित्र और कृतार्थ हो जाए तो इसके सम्बंध में क्या कहना है! यह एक आश्चर्य की बात है कि श्वपच की जिह्वा पर भी आपका नाम बना रहता है और वह भी आपके नामोच्चार से भक्तिरहित कर्मठ ब्राह्मणों से भी श्रेष्ठ हो जाता है; तो जिन्होंने आपके नाम का उच्चारणमात्र किया है, तो मान लीजिए कि उन्हीं ने तप किया है, होम किया है, तीर्थ में स्नान किया है, तथा वे ही सदाचरणवाले हैं और वेदों का अध्ययन भी उन्होंने किया है।' (श्रीमद्भागवतम् : 3/33/6-7)
7. **अर्थ :** 'समस्त जगत को सुख देनेवाली यह वायु मेरे भय से चलती रहती है, मेरे भय से ही सूर्य प्रकाश प्रदान करता रहता है, इन्द्र वर्षा करता रहता है, अग्नि वस्तुओं का दहन करती है तथा मृत्यु प्राणियों में विचरण करती रहती है।' (श्रीमद्भागवतम् : 3/25/42)
8. **प्रसंग :** अत्यंत प्रीतिपूर्वक लगाव यानी आत्मबुद्धिपूर्वक जुड़ जाना।

इसके बाद शुकमुनि ने पूछा कि 'भगवान के भक्त दो प्रकार के हैं। इनमें एक तो वह है, जिसको दृढ़रूप से भगवान का परिपक्व निश्चय है, तथा काम, क्रोध, लोभ और मोहादि विकारों में से कोई भी विकार उसके हृदय में विक्षेप नहीं करता। परन्तु दूसरा जो भक्त है, जिसे दृढ़तापूर्वक भगवान का परिपक्व निश्चय तो है ही, परन्तु उसका अन्तकरण काम, क्रोध, लोभ तथा मोहादि विकारों से क्षुब्ध हो जाता है। इन दोनों प्रकार के भक्त जब देह छोड़कर भगवान के धाम में जाते हैं, तब क्या उन दोनों को समान सुख की प्राप्ति होती है या दोनों के सुख में अधिकता अथवा न्यूनता रहती है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि, 'जिस भगवद्भक्त को भगवान का परिपूर्ण निश्चय होता है, तथा काम-क्रोध एवं लोभादि से वह क्षुब्ध भी नहीं होता, तथा अतिशय त्यागी, अति वैराग्यवान एवं अत्यंत आत्मनिष्ठावाला हो, फिर भी यदि वह प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण भगवान की मूर्ति के बिना किसी अन्य पदार्थों की इच्छा करता हो, उसे न्यून सुख की प्राप्ति होती है।

जबकि दूसरा जो भक्त है, जिसके हृदय में भगवान का परिपूर्ण निश्चय तो है, परन्तु जब काम, क्रोध, लोभ एवं मोहादि के कारण विक्षेप उत्पन्न हों, तब अपने हृदय में उसे परिताप होता है, तथा वह भगवान श्रीकृष्ण की प्रत्यक्ष मूर्ति के सिवा किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं रखता, उसे भले ही न्यून आत्मनिष्ठा हो एवं कम वैराग्य हो, परंतु वह देह-त्याग करके भगवान के धाम में उत्कृष्ट सुख को प्राप्त करता है। इसका कारण यह है कि प्रथम प्रकार का भक्त बाह्यरूप से भले ही त्यागी और निष्कामी दिखाई पड़ता हो, परन्तु भगवान के दर्शन के उपरान्त उसे आत्म-दर्शनादि की इच्छा रहती है, अतः वह सकाम भक्त कहलाता है और उसे परलोक में निश्चित रूप से न्यून सुख प्राप्त होता है, जबकि दूसरा जो भक्त है, वह बाहरी तौर पर सकाम दीखता है, परन्तु उसके हृदय में भगवान की मूर्ति के सिवा अन्य किसी पदार्थ की आशा-आकांक्षा नहीं रहती! और कदाचित् उससे भगवान के बिना दूसरे सुख की इच्छा का संकल्प हो जाए तो उसके मन में अत्यंत डाह होती है। अतः उसे निष्काम भक्त कहा जाता है तथा शरीर छूटने पर वह अधिकाधिक सुख को प्राप्त करता है एवं भगवान का पार्षद होता है। तथा श्रीकृष्ण भगवान की मूर्ति में उसे अतिशय प्रीति हो

जाती है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥5॥ ॥228॥

वचनामृत 6 : जीव तथा मन की मैत्री

संवत् 1883 में भाद्रपद कृष्णा पंचमी (21 सितम्बर, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान पर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय समस्त हरिभक्तों पर कृपादृष्टि करके श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान का कोई भक्त किसी हरिभक्त के प्रति ईर्ष्याभाव रखकर परमेश्वर की कथा, कीर्तन तथा श्रवणादि नवधा भक्ति करता है, तो भगवान उस पर अधिक प्रसन्न नहीं होते और ईर्ष्या का त्याग करके जो केवल अपने कल्याण के लिए भक्ति करता है बल्कि किसी को दिखाने के लिए नहीं करता, तो वैसी भक्ति से भगवान प्रसन्न हो जाते हैं।

अतः **जिनको भगवान को प्रसन्न करने की इच्छा हो, उनको लोगों को रिझाने के लिए या किसी से ईर्ष्याभाव रखकर भक्ति नहीं करनी चाहिए, परंतु केवल आत्मकल्याण के लिए ही भक्ति करनी चाहिए।**

और, यदि भगवान की भक्ति करते समय अपने से कोई अपराध हो जाए, तो वह दोष दूसरे के सिर पर नहीं मढ़ना चाहिए। वस्तुतः जीवमात्र का ऐसा ही स्वभाव है कि वह यदि कुछ अपराध के दायरे में आ गया, तो वह बोल पड़ता है कि 'मुझे किसी अन्य मनुष्य ने भुलावे में डाल दिया, इसी कारण मुझसे यह भूल हो गई, अन्यथा मुझमें कोई दोष नहीं है।' परन्तु ऐसा कहनेवाला महामूर्ख है, क्योंकि कोई कहेगा कि 'तू कुएँ में गिर पड़', तो क्या उसके कहने से उसे कुएँ में गिर जाना चाहिए? इसलिए, दोष तो उस मनुष्य का ही है, जो उल्टा काम करता है, और दोष किसी और के सिर मढ़ता है! इसी प्रकार, इन्द्रियों और अन्तःकरण को दोषित ठहराना वह भी जीव की मूर्खता ही है। क्योंकि जीव तथा मन एक-दूसरे के घनिष्ठ मित्र हैं। जिस प्रकार दूध और पानी की मित्रता रहती है, उसी तरह जीव तथा मन की

मैत्री बनी रहती है। सो जब दूध और पानी को मिलाकर अग्नि पर रखा जाता है, तब पानी दूध के नीचे बैठ जाता है, और स्वयं जलने लगता है, किन्तु दूध को नहीं जलने देता। इसी तरह दूध भी पानी को बचाने के लिए स्वयं उफ़नकर आग को बुझा डालता है। ऐसा दोनों का पारस्परिक मित्रभाव है! ठीक उसी प्रकार जीव तथा मन की परस्पर मैत्री है, अतः जो बात जीव को रुचिकर न हो, उसका तो मन में संकल्प भी नहीं हो पाता। परन्तु जब कोई बात जीव को पसन्द हो, तभी मन जीव को समझाता है। वह कैसे समझाता है? तो जब जीव भगवान का ध्यान करता है, तब मन यह कहेगा कि यदि भगवान की कोई स्त्री भक्त हो तो साथ में उसका भी ध्यान करना। इसके बाद वह उसके समस्त अंगों का चिन्तन कराकर उसमें भी दूसरी स्त्री के प्रति जैसे कुविचार उत्पन्न होते हैं, वैसे ही उस भक्त-स्त्री में भी कुविचार उत्पन्न करा देता है। उस समय यदि उस भक्त का जीव अति निर्मल हो, तो वह उसका कहना नहीं मानता और उस पर अत्यंत क्रुद्ध हो जाता है, ताकि मन पुनः कभी भी ऐसा संकल्प न कर सके।

परन्तु उसका जीव यदि मलिन और पापयुक्त हो, तो वह मन का कहना मान लेता है। तब मन उसे अशुभ संकल्प उत्पन्न कराकर उसका कल्याण-मार्ग से पतन करा देता है। इसलिए, यदि मन अथवा कोई अन्य मनुष्य कल्याण-मार्ग से विपरीत अधर्म की बात करता है, तो उसके साथ शुद्ध मुमुक्षु को अत्यंत वैरभाव ही हो जाता है। तब जाकर अपना मन अथवा अन्य मनुष्य पुनः ऐसी उल्टी बात करने का साहस नहीं करता।

और, मन तो जीव का मित्र ही है, इसलिए वह जीव के लिए अप्रिय लगनेवाला संकल्प कभी नहीं करता। अतः मन में यदि अनुचित संकल्प हो जाए, तब जीव यदि उस पर अत्यंत कुपित हुआ, तो वह मन को ऐसे संकल्प करने ही नहीं देता! परन्तु यदि मन में सदैव अनुचित संकल्प होते रहते हों, तब समझना कि इसमें अपने जीव का दोष है; किन्तु अकेले मन की ही त्रुटि नहीं है। ऐसा समझकर यदि कोई भगवान की भक्ति करता रहता है, तो किसी विमुख जीव तथा अपने मन का कुसंग उसे लेशमात्र भी स्पर्श नहीं कर सकता, तथा वह निर्विघ्नरूप से भगवान का भजन करता रहता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥6॥ ॥229॥

वचनामृत 7 : वज्र की कील

संवत् 1883 में भाद्रपद कृष्णा षष्ठी (22 सितम्बर, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान पर गद्दी-तकिये पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे और कंठ में मोगरा के पुष्पों का हार पहना था। उनकी पाग में मोगरा के फूलों के तुर्रे लगे हुए थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न स्थानों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज समस्त हरिभक्तों के प्रति बोले कि 'हमारे अंतर का जो सिद्धान्त है, उसे बताते हैं कि **जो भक्त अपने कल्याण का इच्छुक हो, उसके लिए भगवान और उनके साधु के सिवा जगत में दूसरा कुछ भी सुखदायी नहीं है। इसीलिए जिस प्रकार जीव को अपने शरीर के प्रति आत्मबुद्धि रहती है, वैसी आत्मबुद्धि भगवान तथा उनके सन्त के प्रति रखनी चाहिए और भगवान के भक्त का पक्ष सुदृढ़ करके रखना चाहिए।** भगवान के भक्त के पक्षधर होते हुए यदि हमारी प्रतिष्ठा बढ़ जाए, या फिर कम हो जाए, कदाचित् हमारा सम्मान हो या अपमान हो, हमारा शरीर कदाचित् रहे या न रहे, किन्तु किसी भी प्रकार से भगवान और भगवान के भक्त का पक्ष नहीं छोड़ना चाहिए तथा उनके प्रति दुर्भाव नहीं आने देना चाहिए। और, भगवान के भक्त में जैसी प्रीति है, वैसी प्रीति देह और देह के सम्बंधी जनों के साथ नहीं रखनी चाहिए। जो हरिभक्त इस प्रकार आचरण करता है, उसको अति बलवान काम-क्रोधादि शत्रु भी पराजित नहीं कर सकते।

और, भगवान के ब्रह्मपुर धाम में भगवान सदैव साकार-मूर्तिमान विराजमान हैं तथा भगवान के भक्त भी वहाँ मूर्तिमान रूप से परमेश्वर की सेवा में जुटे रहते हैं। जिसे उन भगवान का प्रत्यक्ष प्रमाण दृढ़ आश्रय हो गया, उसे अपने मन में ऐसा भय नहीं रखना चाहिए कि 'मैं कदाचित् अपनी मृत्यु के बाद भूत-प्रेत तो नहीं होऊँगा? या मुझे इन्द्रलोक अथवा ब्रह्मलोक की प्राप्ति तो नहीं होगी?' ऐसी शंका मन में नहीं रखनी चाहिए, क्योंकि भगवान का जो ऐसा भक्त हो, वह भगवान के धाम में ही जाता है और भगवान ही

उसे बीच में कहीं भी नहीं रहने देंगे। उस भक्त को अपना मन भगवान के चरणारविन्दों में ही सुदृढ़ करके रखना चाहिए। **जैसे वज्र की पृथ्वी में लगी वज्र की कील लगी हो, वह किसी भी तरह नहीं उखड़ पाती, उसी प्रकार भगवान के चरणकमलों में अपने मन को दृढ़तापूर्वक लगाये रखना चाहिए। जो इस प्रकार भगवान के चरण-कमलों में अपना मन दृढ़तापूर्वक लगाए रखता है, वह मरकर ही भगवान के धाम में जाएगा, ऐसी बात नहीं है; वह तो जीवित अवस्था में ही भगवान के धाम को प्राप्त कर चुका है।'** ऐसी वार्ता करके श्रीजीमहाराज ने 'जय सच्चिदानंद' कहकर सभा को विसर्जित करने की आज्ञा दी।

॥ इति वचनामृतम् ॥7॥ ॥230॥

वचनामृत 8 : सदैव सुखी रहने के उपाय

संवत् 1883 में भाद्रपद कृष्णा नवमी (25 सितम्बर, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके कंठ में मोगरा-पुष्पों के हार पहने थे, और पाग में मोगरा-फूलों के तुर्रे सुशोभित हो रहे थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब श्रीजीमहाराज ने मुनिमंडल से प्रश्न किया कि 'ऐसा कौन-सा उपाय है, जिससे भगवान का भक्त सदैव सुखी रह सकता है?' इसका उत्तर बड़े-बड़े साधुजनों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार दिया।

बाद में श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर इस प्रकार है कि भगवान के भक्त को **एक तो दृढ़ वैराग्य हो, और दूसरा अतिशय दृढ़ स्वधर्म हो, तथा इन दोनों साधनों द्वारा समस्त इन्द्रियों को जीत कर अपने वश में कर लिया हो; और, जिसे भगवान और उनके भक्त के प्रति अतिशय प्रीति हो; और, जिसे भगवान एवं भगवद्भक्त के प्रति अत्यंत मित्रभाव हो; और जो कभी भी भगवान और उनके भक्त से उदासीन नहीं रहता हो एवं जो परमेश्वर और उनके भक्त के संग में ही रहना पसन्द करता हो, परंतु किसी भी विमुख जीव का संग उसे**

अच्छा न लगता हो, ऐसे लक्षण जिस हरिभक्त में हों, वह इस लोक तथा परलोक में सदैव सुखी रहता है।

और, जिसने वैराग्य तथा स्वधर्म द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं किया है, वह भगवान और उनके भक्त के साथ रहता हुआ भी दुःखी ही रहता है। क्योंकि जिसने अपने इन्द्रियों को नहीं जीता हो उसे कहीं सुख नहीं होता। और, भगवान की भक्ति करने पर भी इन्द्रियों की वृत्तियाँ जब विषयों के प्रवाह में बहती हैं, तब उस भक्त के हृदय में अति दुःख होता है। अतः अपनी समस्त इन्द्रियों को जीतकर वश में करनेवाला ही हमेशा सुखी रहता है। जिसने सभी इन्द्रियों को इस प्रकार अपने वश में कर लिया है, उसी को ही वैराग्यवान और धर्मवान् समझना चाहिए। किन्तु, जिसको अपनी इन्द्रियाँ अपने वश में न हुई हों, तो उसे वैराग्यवान एवं धर्मवान नहीं समझना चाहिए। और, जो वैराग्यवान और धर्मवान हो उसको तो सभी इन्द्रियाँ नियम में होती हैं। इसलिए वह सदैव सुखी रहता है।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! भगवान के भक्त को भक्ति के मार्ग में कौन-सा सबसे बड़ा विघ्न बाधक बन जाता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि **'भगवान के भक्त को यही बड़ा विघ्न है कि वह अपने दोषों को नहीं देखता, और परमेश्वर तथा उनके भक्त से उसका मन उचट जाता है और भगवान के भक्तों के प्रति बेपरवाह होकर उनकी उपेक्षा करने लगता है। ये तीनों (दोष) भक्ति के मार्ग में सबसे बड़े विघ्न हैं।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥8॥ ॥231॥

वचनामृत 9 : अन्तःजागृति का द्वार

संवत् 1883 में आश्विन शुक्ला एकादशी (11 अक्तूबर, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके कंठ में पुष्पहार तथा गजरे शोभायमान हो रहे थे। उनकी पाग पर पुष्पों के तुर्रे झुक रहे थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब श्रीजीमहाराज ने समस्त हरिभक्तों से कहा कि 'हम अपने बड़े-बड़े परमहंसों की जैसी स्थिति है और जैसी समझ है, उसके सम्बंध में आप सभी पुरुषों-महिलाओं को बताते हैं। उसे सुनकर आप सभी जिस प्रकार आचरण रखते हों, तथा जैसी आपकी स्थिति है, उसे बताना।'

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज सभी हरिभक्तों के प्रति बोले कि 'हमारे मुनिमंडल में जो बड़े-बड़े सन्त हैं, वे अपने हृदय पर अन्तःजागृति रूप भगवद्धाम के द्वार पर सदा-सदा के लिए सावधान होकर उपस्थित रहते हैं। जैसे राजा के चाकर महल के द्वार पर खड़े होकर चोर-चकार को राजा के पास नहीं जाने देते और वे इतना साहस रखते हैं, कि यदि कोई राजा के समक्ष विघ्न डालने के लिए आए, तो हम उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालेंगे! लेकिन उन्हें किसी भी तरह राजा के निकट पहुँचने नहीं देंगे। इस तरह वे ढ़ाल-तलवार से लैस होकर उपस्थित रहते हैं।

उसी प्रकार सभी सन्त अन्तःजागृति रूप जो भगवान के धाम का द्वार है, वहाँ पर उपस्थित रहते हैं तथा अन्तःजागृति के भीतर जो अक्षरधाम है, उसी में भगवान के दर्शन करते हैं और साथ ही साथ अपने हृदय में धन, स्त्री आदि मायिक पदार्थों को भगवान के निकट घुसने नहीं देते। यदि कोई मायिक पदार्थ जबरन उन भक्तों के हृदय में पैठने आता भी है, तो वे उसका नाश कर डालते हैं, परन्तु हृदय के जिस स्थान में भगवान को प्रतिष्ठित किया है, वहाँ तक उसे घुसने नहीं देते और शूरवीर की तरह सावधान रहते हुए खड़े रहते हैं। और हानि, वृद्धि, सुख, दुःख तथा मान-अपमान आदि अनेक विघ्नों के उपस्थित होने पर भी वे अपने स्थान से विचलित नहीं होते। यहाँ कोई शंका कर सकता है कि जब वे उस अन्तःजागृति के द्वार से तनिक भी हिलते-डुलते नहीं हैं, तब वे अपने देह की खानपान आदि क्रिया को किस प्रकार करते होंगे?'

तो इस पर दृष्टान्त देकर बताते हैं कि जब पनिहारी कुएँ पर जल लेने के लिए जाती है, तब वह पनघट पर रखे गए अपने पैरों तक का ध्यान रखती है कि कहीं कुएँ में फ़िसल न जाऊँ! तथा अन्य वृत्ति द्वारा कुएँ से जल भी खींचती है।

और दूसरा दृष्टांत : जैसे कोई पुरुष घोड़े पर सवार होता है, तब वह

घोड़े के रकाब में रखे गए अपने पैरों पर भी ध्यान रखता है, घोड़े की लगाम पर तथा उसके दौड़ते समय मार्ग में आनेवाले वृक्षों, गड्ढ़ों और पत्थरों तक का भी ध्यान रखता है। वैसे ही ये सब सन्त अन्तर सम्मुख दृष्टि रखकर भगवान की सेवा में भी तत्पर रहते हैं और दैहिक क्रिया भी किया करते हैं, किन्तु वे अपनी स्थिति से विचलित नहीं होते।'

इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने बड़े-बड़े सन्तों की स्थिति कह सुनाई।

फिर बोले कि 'आप सबको इसी तरह अन्तर सम्मुख दृष्टि रखकर निरन्तर भगवान की सेवा में जुटे रहना है। और, भगवान के सिवा अन्य पदार्थों को प्रिय नहीं होने देना है, इस बात की अत्यंत सावधानी बरतें। और, जैसे राजा का सेवक अगर असावधान होकर राजा के पास रहता हो, तब कोई चोर-चकार राजा के पास पहुँच गया, तो उस सेवक की चाकरी विफल हो जाती है। उसी तरह हरिभक्त को भी यदि भगवान के सिवा अन्य पदार्थों में आसक्ति हो गई, तो उसके हृदय में, जहाँ भगवान रहते हैं, वहाँ धन-स्त्री आदि अन्य तत्त्वों की पैठ हो जाए तो उसकी भक्ति मिथ्या हो जाती है। इसलिए, **अपनी भक्ति को निर्विघ्न रखकर जो मुमुक्षु परमेश्वर के चरणारविंदों को प्राप्त करने का इच्छुक हो, उसे तो अन्तःजागृति रूप भगवद्धाम के द्वार पर सावधान होकर उपस्थित रहना चाहिए। और, भगवान के सिवा अन्य पदार्थों को वहाँ पैठने नहीं देना चाहिए।'** इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने समस्त भक्तजनों को शिक्षा-वचन कहे।

॥ इति वचनामृतम् ॥9॥ ॥232॥

वचनामृत 10 : पाँच अनादि तत्त्व

संवत् 1883 में आश्विन कृष्णा द्वादशी (28 अक्तूबर, 1826) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष साधुवृंद तथा विभिन्न प्रान्तों के सत्संगी हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज के पास एक मध्व सम्प्रदाय का विद्वान ब्राह्मण आ पहुँचा। उससे श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'आपके सम्प्रदाय के ग्रन्थों में

वृन्दावन को ही भगवान का धाम बताया गया है और यह भी कहा गया है कि महाप्रलय में भी वृन्दावन का नाश नहीं होता, जबकि शिवमार्गी ऐसा कहते हैं कि महाप्रलय में काशी का नाश नहीं होता।[९] तो यह बात हमारी समझ में नहीं आती। क्योंकि महाप्रलय में पृथ्वी आदि समस्त पंचभूतों का बिलकुल प्रलय हो जाता है, तब वृन्दावन और काशी का अस्तित्व कैसे रहता होगा? ये दोनों स्थान किसके आधार पर रहते होंगे? इस प्रकार भारी संशय होता है।' इतना कहकर श्रीजीमहाराज ने श्रीमद्भागवत ग्रन्थ मंगवाया तथा एकादश स्कन्ध एवं द्वादश स्कन्ध से चार प्रकार के प्रलयों के प्रसंग को सुनाया।

फिर कहने लगे, 'श्रीमद्भागवत तथा भगवद्गीता में प्रतिपादित मत को देखने से तो यही प्रतीत होता है कि प्रकृति-पुरुष से जो कुछ उत्पन्न हुआ है, वह महाप्रलय में कुछ भी नहीं रहता। यदि महाप्रलय में वृन्दावन अखंड रहता हो, तो उसका प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए व्यासजी के ग्रन्थों से श्लोक तथा वेदों की श्रुति सुनाइये, क्योंकि व्यासजी से बढ़कर अन्य कोई बड़े आचार्य नहीं हैं। दूसरे जो भी आचार्य हुए हैं, उन्होंने तो व्यासजीकृत ग्रन्थों का सहारा लेकर ही अपने-अपने सम्प्रदायों का प्रचलन किया है। इसलिए, आदि आचार्य व्यासजी के वचन ही इन समस्त आचार्यों के वचनों की अपेक्षा सर्वोच्च प्रमाण हैं। यदि व्यासजी के वचनों तथा वेदों की श्रुति द्वारा यह प्रमाण सिद्ध हो जाए कि 'वृन्दावन महाप्रलय में नष्ट नहीं होता,' तो हमारे संशय का निवारण हो जाएगा।

और, जो-जो आचार्य हुए हैं, उन्होंने पद्मपुराण के वचनों से अपने-अपने मतों का प्रस्थापन किया है, परन्तु वह तो पद्मपुराण में क्षेपक श्लोकों द्वारा किया है। उन्हें उनके ही मतानुयायी मान सकते हैं अन्य कोई नहीं मानेगा। इसलिए, श्रीमद्भागवत जैसे प्रसिद्ध पुराण के वचन सुनाइये। उन्हीं से हमें प्रतीति हो जाएगी। क्योंकि व्यासजी ने वेदों, पुराणों तथा इतिहास का

9. उक्त सम्प्रदाय में वृंदावन को 'भगवद्धाम' के रूप में विशेष माना गया है। (चैतन्यचरित्रामृत, आदिलीला : 5/17-19), मध्यलीला : 20/402, अंत्यलीला : 1/67) इसके उपरांत पद्मपुराण : 69/69, 71 में कहा गया है कि वृंदावन नित्य है, प्रलयकाल में भी उस स्थान का विनाश नहीं होता।

सार ग्रहण करके ही श्रीमद्भागवत की रचना की है। अतएव श्रीमद्भागवत का प्रमाण अन्य पुराणों की अपेक्षा सर्वोच्च है। और, जैसी भगवद्गीता प्रमाण है, वैसा समग्र महाभारत प्रमाण नहीं गिना जा सकता। इसलिए, ऐसे उत्कृष्ट शास्त्र का वचन ही कह सुनाइये, ताकि हमारे प्रश्न का समाधान हो।'

श्रीजीमहाराज के ऐसे वचनों को सुनकर उस ब्राह्मण ने कहा कि 'हे महाराज! आपका प्रश्न सत्य है तथा इसका उत्तर देने में इस पृथ्वी पर कोई समर्थ नहीं है। मेरे मन में तो आपके स्वरूप की ऐसी दृढ़ प्रतीति हो गयी है कि आप तो समस्त आचार्यों के अग्रणी आचार्य हैं तथा ईश्वरों के भी ईश्वर हैं। इसलिए, आप कृपया मुझे अपना सिद्धान्त बताइए।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि **'वेदों, पुराणों, इतिहास एवं स्मृति-शास्त्रों में से हमने यही सिद्धान्त निश्चित किया है कि जीव, ईश्वर, माया, ब्रह्म तथा परमेश्वर, ये सभी अनादि हैं।** माया तो पृथ्वी के स्थान पर है और पृथ्वी में रहनेवाले बीजों के स्थान पर जीव हैं तथा ईश्वर मेघ के स्थान पर हैं। परमेश्वर की इच्छा से पुरुषरूप ईश्वर का माया से सम्बंध होता है। इसके पश्चात् जिस प्रकार मेघ के जल के सम्बंध से पृथ्वी में दबे हुए बीज अंकुरित हो जाते हैं, उसी तरह माया में अनादिकाल से बसे हुए जीवों का उदय हो जाता है; किन्तु नवीन जीवों की उत्पत्ति नहीं होती। अतः जैसे ईश्वर अनादि हैं, वैसे ही माया भी अनादि है। और, उस माया में स्थित वे जीव भी अनादि हैं। किन्तु वे परमेश्वर के अंश नहीं हैं, वे तो अनादि जीव ही हैं। वे जीव जब परमेश्वर की शरण में जाते हैं, तब माया से पार हो जाते हैं। और नारद-सनकादि के समान ब्रह्मरूप होकर भगवान के धाम में जाते हैं तथा वहाँ भगवान के पार्षद बनकर रहते हैं। इस प्रकार जो हमारा सिद्धान्त है, आपको बताया।' श्रीजीमहाराज के ऐसे वचनों को सुनकर उस ब्राह्मण ने अपने वैष्णव मत का परित्याग करके श्रीजीमहाराज का आश्रय ग्रहण किया।

॥ इति वचनामृतम् ॥10॥ ॥233॥

वचनामृत 11 : सीताजी की समझ

संवत् 1884 में आषाढ़ शुक्ला तृतीया (27 जून, 1827) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी

द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी। उस समय श्रीजीमहाराज ने पूछा कि 'इन्द्रियों तथा मन को जीतने का एक ही साधन है या दोनों को जीतने के लिए भिन्न-भिन्न साधन हैं?'

तब बड़े-बड़े परमहंसों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार उत्तर दिया, किन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान नहीं हुआ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर तो यह है कि **वैराग्य, स्वधर्म, तप तथा नियम इन चार साधनों द्वारा इन्द्रियाँ जीती जा सकतीं हैं, जबकि भगवान की माहात्म्यसहित नवधा भक्ति के माध्यम से मन को जीता जा सकता है।'**

यह सुनकर मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान के भक्त को निर्विकल्प समाधि में जैसी शान्ति की अनुभूति होती है, वैसी शान्ति, बिना समाधि के भी रह सके, इसका क्या उपाय है?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'अपनी देह के प्रति जैसी आत्मबुद्धि और दृढ़ प्रीति रहती है, वैसी ही यदि भगवान और उनके भक्त में आत्मबुद्धि और दृढ़ प्रीति रहे, तो जैसी शांति निर्विकल्प समाधि में रहती है, वैसी ही बिना समाधि के भी सदैव रह सकती है। यही इसका उत्तर है।'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने परमहंसों से पुनः प्रश्न किया कि 'चाहे कैसा भी अशुभ देशकालादि प्राप्त हों, परन्तु किसी तरह कल्याणमार्ग से पीछे नहीं हटता, ऐसे हरिभक्त के हृदय में किस प्रकार की समझ रहती है कि उसके हृदय में इतनी दृढ़ता बनी रहती है और कोई भी विघ्न उन्हें प्रभावित नहीं कर पाता?' फिर बड़े-बड़े सन्तों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार उत्तर दिया, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का निराकरण नहीं हुआ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर यही है कि **अपनी देह के साथ जीव की जैसी आत्मबुद्धि होती है, वैसी ही दृढ़ आत्मबुद्धि यदि उसे भगवान तथा भगवान के भक्त के साथ हो जाए, तो उसे किसी भी प्रकार का विघ्न विक्षेप नहीं डाल सकता। और, चाहे देशकालादि कितने ही अशुभ हों, तो भी वह भगवान तथा भगवान के भक्त से**

विमुख नहीं होता।'

इसके बाद श्रीजीमहाराज ने परमहंसों के प्रति पुनः प्रश्न किया कि 'जब रामचन्द्रजी ने जानकीजी को वनवास के लिए भेजा, तब वे अत्यन्त विलाप करने लगीं और लक्ष्मणजी को भी अतिदुःख हुआ। उस समय सीताजी लक्ष्मणजी से बोलीं कि मैं अपने दुःख के लिए नहीं, बल्कि रामचन्द्रजी को होनेवाले दुःख के कारण रोती हूँ। रघुनाथजी तो अति कृपालु हैं तथा लोकापवाद के कारण ही उन्होंने मुझे वन में भेजा है, परन्तु अब वे ऐसा विचार करते होंगे कि 'सीता को मैंने बिना अपराध के वन में भेजा है,' तब कृपालु होने के कारण उन्हें अत्यन्त दुःख होता होगा। इसलिए, जाकर रामचन्द्रजी से कहना कि 'सीता को कोई भी दुःख नहीं है और वह वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में रहकर भक्तिभाव से आपका भजन करेगी। इसलिए, आप सीता को दुःखी जानकर बिल्कुल भी दुःखी मत होना।' इस प्रकार सीताजी ने लक्ष्मणजी द्वारा सन्देश भेजा, किन्तु रामचन्द्रजी का किसी भी प्रकार से अवगुण नहीं देखा।[10] इस प्रकार एक हरिभक्त तो ऐसा है, जो भगवान और उनके भक्तों पर किसी भी तरह का दोष नहीं मढ़ता, और उसमें वैराग्य एवं स्वधर्म सामान्य रूप से बने रहते हैं। तथा दूसरा हरिभक्त वह है, जिसमें वैराग्य और धर्म की भावना तो अत्यधिक सुदृढ़ है, परन्तु सीताजी-जैसा विवेक नहीं है। ऐसे दो प्रकार के हरिभक्तों में किसके साथ घनिष्ठ प्रीति रखकर संग करना चाहिए?' तब चैतन्यानन्द स्वामी ने कहा कि 'धर्म और वैराग्य सामान्य रूप से रहने पर भी अत्यन्त प्रीतिपूर्वक संगति तो उसी के साथ करनी चाहिए, जिसमें जानकीजी जैसी समझ हो, परन्तु अतिशय वैराग्य तथा धर्मवान होने पर भी भगवान और उनके भक्तों में दोष तथा अवगुण देखता हो, उसका संग नहीं करना चाहिए।' यह सुनकर श्रीजी-महाराज ने कहा कि 'यही इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥11॥ ॥234॥

वचनामृत 12 : करामात!

संवत् 1884 में आषाढ़ कृष्णा अष्टमी (16 जुलाई, 1827) को

10. वाल्मीकि रामायण : उत्तरकाण्ड : 47/11-12

स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान के ऊपरी मंज़िल पर झरोखे में विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनिवृंद तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने अपने भक्तजनों को शिक्षा देने के उद्देश्य से यह वार्ता की कि **'जो भक्त आत्मकल्याण की इच्छा रखता है, उसे किसी भी प्रकार का अभिमान नहीं करना चाहिए कि मैंने उच्च कुल में जन्म लिया है या मैं धनाढ्य हूँ अथवा रूपवान हूँ या पंडित हूँ। इस प्रकार का अभिमान मन में नहीं रखना चाहिए और गरीब सत्संगी का भी दासानुदास होकर रहना चाहिए।** और, जो पुरुष भगवान के भक्त में दोष देखता हो, वह कदाचित् स्वयं को सत्संगी भक्त कहलाता हो परन्तु उसे हड़काये कुत्ते के समान समझना चाहिए! जैसे किसी को हड़काये कुत्ते ने काट लिया, तो उसे भी हड़क उठती है। उसी तरह जिसने भगवान और भगवान के भक्त का अवगुण लिया हो, उसके साथ स्नेह रखनेवाला अथवा उसकी बात सुननेवाला भी भगवान से विमुख-सा हो जाता है। और, जैसे क्षयरोग किसी भी औषधि से नहीं मिट पाता, वैसे ही जिसे भगवान तथा भगवान के भक्त में अवगुण मान लिया हो, उसके हृदय से आसुरी बुद्धि कभी भी नहीं मिट सकती। और, किसी ने अगणित ब्रह्महत्या की हों, अगणित बालहत्या की हों, अनन्त स्त्रीहत्या की हों, अगणित गोहत्या की हों तथा अनेकबार गुरुपत्नी के साथ व्यभिचार किया हो, इन सभी पापों से मुक्त होने के उपाय शास्त्रों में बताए गए हैं, किन्तु भगवान तथा भगवान के भक्त के प्रति अवगुण देखनेवाले के लिए उस पाप से छुटकारा पाने का उपाय किसी भी शास्त्र में नहीं बताया गया है। **यद्यपि विषपान करने अथवा समुद्र में गिरने या पर्वत पर से गिर जाने अथवा किसी राक्षस द्वारा खा लिये जाने से मनुष्य को केवल एक ही बार मरना पड़ता है, परन्तु भगवान तथा भगवान के भक्त का द्रोही होने पर उसे अनन्त कोटि कल्पों तक मरना और जन्म लेना पड़ता है।** और, यद्यपि रोगग्रस्त होने से शरीर छूट जाए, अथवा किसी शत्रु द्वारा देह का नाश कर दिया जाए, परन्तु आत्मा का नाश नहीं होता; परन्तु भगवान और भगवान के भक्त के द्रोही का

तो जीव ही नष्ट हो जाता है।

तब कोई कहेगा कि आत्मा का नाश भला कैसे होता होगा? तो जैसे हिजड़े को न तो पुरुष कहा जाता है और न ही उसे स्त्री ही समझा जाता है; वह तो केवल नपुंसक कहलाता है। ठीक उसी प्रकार भगवान और भगवान के भक्त के द्रोही का जीव भी ऐसा निकम्मा हो जाता है कि वह कभी भी आत्मकल्याण का उपाय कर ही नहीं सकता; इसलिए समझना चाहिए कि उसकी आत्मा नष्ट हो गयी है। ऐसा जानकर भगवान और भगवान के भक्त का द्रोह कभी ही न करें! और, भले ही अपने सम्बंधीजन सत्संगी हों, परन्तु उनसे अत्यधिक स्नेह मत रखना। जैसे चीनी-मिश्रित दूध में सर्प की लार पड़ जाए और उसे यदि कोई पी ले तो उसका देहांत हो जाता है, वैसे ही सम्बंधीजन यदि हरिभक्त हुए, फिर भी उसमें देह-सम्बंधरूपी साँप का विष पड़ा है, अतः उनके प्रति स्नेह रखनेवाले का निश्चितरूप से अकल्याण ही होता है। ऐसा समझकर **आत्मकल्याण के इच्छुक भक्त को अपने सम्बंधी-जनों के साथ स्नेह नहीं करना चाहिए। इस प्रकार संसार से निःस्पृह रहते हुए भगवान के चरणारविन्दों में प्रीति रखते हुए भगवद्भजन करते रहना चाहिए।** जो भक्त हमारी इस वार्ता को हृदयस्थ कर लेता है, उसके कल्याण मार्ग में किसी भी प्रकार का विघ्न बाधक नहीं बन पाता। वास्तव में यह वार्ता तो करामात जैसी है।' इतना कहकर श्रीजीमहाराज ने वार्ता की समाप्ति की।

॥ इति वचनामृतम् ॥12॥ ॥235॥

वचनामृत 13 : विपरीत देशकाल में एकान्तिक धर्म की रक्षा

संवत् 1884 में आषाढ़ कृष्णा नवमी (17 जुलाई, 1827) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके कंठ में मोगरा-पुष्पों के हार और पाग में तुर्रे सुशोभित हो रहे थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी तथा उनके सम्मुख मुनिगण तबला-सरोद बजाते हुए कीर्तनगान कर रहे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि ‘कीर्तन समाप्त कीजिए, अब भगवद्वार्ता करते हैं।’ इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने मुनियों से प्रश्न किया कि ‘मनुष्य का शरीर पूर्वकर्मों के अधीन है, इसलिए उसका कोई भरोसा नहीं रहता। कभी वह शरीर स्वस्थ रहता है, तो कभी कर्मवश रोगग्रस्त हो जाता है। वह कभी स्वतन्त्र रहता है, तो कभी पराधीन हो जाता है। कभी उसका निवास अभीष्ट स्थान में होता है, तो कभी वह उससे वंचित रहता है तथा कभी उसे हरिभक्तों के मंडल में रहते हुए भी कर्म अथवा काल के कारण वहाँ से हट जाना पड़ता है और अकेला ही रहना पड़ता है। ऐसे विपरीत समय में जिस-जिस नियम को रखने की उसने दृढ़ता की हो वह शिथिल हो जाती है। अथवा अंग्रेजों के समान कोई शासक ने उसे पराधीन बना दिया हो, या अंग्रेज जैसे ही अपने मन और इन्द्रियों ने उसे परवश कर दिया हो, तब तो सन्तों के मंडल में रहने का तथा सत्संग की मर्यादा का पालन करने का कोई नियम वह नहीं रख सकता। और, शास्त्रों में तो कहा गया है कि धर्म, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के पूर्णरूप से रहने पर ही वह एकांतिक भक्त कहलाता है तथा एकांतिक की मुक्ति प्राप्त करता है; जबकि काल अथवा कर्मों के विपरीत प्रभाव से देह की व्यवस्था एक समान तो नहीं रहती। तब भगवान का भक्त अपना एकांतिक धर्म कैसे रख पाता है ? यह प्रश्न है।’

तब गोपालानंद स्वामी, चैतन्यानंद स्वामी, नित्यानंद स्वामी, मुक्तानंद स्वामी, ब्रह्मानंद स्वामी तथा शुकमुनि आदि बड़े-बड़े साधुओं ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार उत्तर दिया, किन्तु इस प्रश्न का समाधान नहीं हुआ।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि ‘जिस प्रकार भगवान में हमारी निष्ठा रहती है, वहीं हम कहते हैं कि हमें तो चाहे कैसा भी सुख-दुःख तथा सम्पत्ति-विपत्ति आए, फिर भी हम भगवान की अतिशय महत्ता जानते हैं, जिसके फलस्वरूप इस संसार में बड़े-बड़े राजाओं की समृद्धि तथा राज्य-लक्ष्मी आदि को देखकर अन्तर में उसका लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ता। हम तो समझते हैं कि ‘हमें तो भगवान से अधिक कोई भी नहीं है, और हमने अपना मन भगवान के चरणारविन्दों में लगा रखा है। और भगवान से ऐसी दृढ़ प्रीति कर रखी है कि उसे काल, कर्म और माया तीनों मिलकर भी मिटाने में समर्थ

नहीं हो सकते। यदि हमारा मन भी इस प्रीति को मिटाने का प्रयास करे, तो भी भगवान से हमारी प्रीति नहीं हट सकती। ऐसी दृढ़ता बनी हुई है, जो कि किसी भी तरह के सुख-दु:ख आने पर नहीं मिट सकती।'

और, हमारी तो स्वाभाविक ही ऐसी रुचि रहती है कि 'शहर हो या हवेली अथवा राजदरबार, वहाँ हमें अच्छा लगता ही नहीं है। हमें तो वन, पर्वत, नदी, वृक्ष तथा एकान्त स्थान अत्यन्त पसन्द आता है। हम ऐसा जानते हैं कि 'एकान्त में बैठकर भगवान का ध्यान किया जाए, वही सबसे उत्तम है!' ऐसी रुचि सदैव रहती है। और, जब हमें रामानन्द स्वामी के दर्शन नहीं हुए थे तब हमने मुक्तानन्द स्वामी के समक्ष ऐसा ही दृढ़ निश्चय किया था कि 'आप मुझे रामानन्द स्वामी के दर्शन करा दीजिए, फिर हम दोनों वन में जाकर भगवान का अखंड ध्यान किया करेंगे और शहर में कभी आयेंगे ही नहीं!' मन में ऐसा निश्चय था, जो आज भी वैसा का वैसा ही बना हुआ है। वास्तव में भगवान और उनके भक्तों से हमारा इतना दृढ़ स्नेह है कि उसे काल, कर्म और माया तीनों में से कोई भी मिटाने में समर्थ नहीं हो सकता। हमारा मन भी यदि उसे मिटाने का प्रयत्न करे तो भी हृदय से वह स्नेह मिट ही नहीं सकता; ऐसी भगवान तथा भगवान के भक्त के साथ हमारी अतिशय दृढ़ प्रीति बंध गई है। और, हम कई बार सत्संग से उदास होकर चले जाने के लिए उद्यत हुए हैं, किन्तु भगवान के भक्तों के समूह को देखकर ही टिके हुए हैं, सो उन्हें किसी भी तरह छोड़कर नहीं जा पाते।

और, जिसको मैं भगवान का भक्त नहीं समझता, वहाँ मुझे रखने के लिए यदि कोटि उपाय भी किए जाएँ, तो भी मैं वहाँ नहीं ठहर सकता। चाहे वह हमारी कितनी भी सेवा-शुश्रूषा क्यों न करे, किन्तु अभक्त से हमारी पटती ही नहीं। इस प्रकार हमने अपने मन को भगवान तथा भगवान के भक्त के साथ अत्यन्त प्रीतिपूर्वक जोड़ रखा है और उस भगवान के सिवा अन्य किसी भी पदार्थ को प्रिय करके नहीं रखा है, अत: परमेश्वर से प्रीति क्यों न रहेगी?

और, जब हम भगवान के कथा-कीर्तनादि करते हैं, तब ऐसी मस्ती छाई रहती है कि मानो दीवाने हो जाएँगे! फिर भी, जितना विवेक रहता है, वह कुछ भक्तजनों के हितार्थ रहा करता है, परन्तु मन में वैसी ही खुमारी

बनी रहती है। इसके बावजूद बाह्यरूप से लौकिक व्यवहार करना पड़ता है।

और, वही भगवान इस देह के संचालनकर्ता हैं। अतः वे चाहें तो इस देह को हाथी पर बैठा दें, और चाहें तो इसे बंदीगृह में रखवा दें। यदि वे चाहें तो इस देह को भीषण रोग से ग्रसित भी कर दें। फिर भी भगवान से कभी भी ऐसी प्रार्थना नहीं करनी है कि 'हे महाराज! मेरे इस दुःख को मिटा दें!' क्योंकि हमें अपने शरीर से भगवान की इच्छा के अनुसार ही आचरण करवाना है; अतः जो बात भगवान को पसन्द हो, वही हमें भी पसन्द होती है, किन्तु भगवान की रुचि से अपनी रुचि को लेशमात्र भी भिन्न नहीं रखना है। और, **जब हमने अपना तन-मन-धन भगवान को अर्पित कर दिया, तब परमेश्वर की इच्छा ही हमारा प्रारब्ध हो गया! इसके अतिरिक्त कोई अन्य प्रारब्ध नहीं हो सकता। इसलिए, भगवान की इच्छा के अनुसार चाहे कैसा भी सुख-दुःख आये, परन्तु हमें व्याकुल नहीं होना है। 'जिसमें भगवान की प्रसन्नता है, उसमें ही हमारी प्रसन्नता!' इसी प्रकार रहना है।**

और, इस प्रकार भगवान के प्रति दृढ़ प्रीति रखनेवाले भक्त के धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति की रक्षा भगवान स्वयं ही करते हैं। और, कभी देश-काल आदि की विषमता के कारण यदि बाह्यरूप से धर्मादि का उल्लंघन प्रतीत होता हो तो भी उस भक्त के अन्तःकरण में धर्मादि का भंग होता ही नहीं है।' इस प्रकार, श्रीजीमहाराज ने अपने उपदेशों द्वारा भगवान के अत्यन्त दृढ़ भक्तों को जिस प्रकार समझना चाहिए तथा परमेश्वर के प्रति जैसी प्रीति रखनी चाहिए, वह सब बातें कह सुनाईं।

॥ इति वचनामृतम् ॥13॥ ॥236॥

वचनामृत 14 : लम्बकर्ण बनने की अविवेकी याचना

संवत् 1884 में आषाढ़ कृष्णा एकादशी (19 जुलाई, 1827) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके मस्तक पर पाग में पुष्पों के तुर्रे लटक रहे थे। वे कंठ में पुष्पों के हार पहने हुए थे। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के

हरिभक्तों की सभा हो रही थी। मुनिमंडल कीर्तनगान कर रहा था।

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'कीर्तन-भक्ति को समाप्त करें, अब प्रश्नोत्तरी प्रारम्भ करते हैं।' तत्पश्चात् मुक्तानन्द स्वामी ने प्रणाम करके पूछा कि 'हे महाराज! परमेश्वर के सिवा अन्य कोई भी सारपूर्ण तत्त्व नहीं है, तो भी परमेश्वर से मनुष्य की दृढ़ प्रीति क्यों नहीं होती? यह प्रश्न है।'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'उसे विवेक नहीं है। यदि विवेक हो, तो ऐसा विचार हो आए कि मुझे तो ब्रह्मचर्य व्रत है, तो भी स्त्री के सुख की तृष्णा हृदय से नहीं मिटती, यह अत्यन्त अनुचित बात है। वस्तुतः स्त्री-सुख तो चौरासी लाख योनियों में जीव ने जहाँ-जहाँ जन्म धारण किये हैं, वहाँ-वहाँ सर्वत्र मनुष्य देह से भी अधिक प्राप्त हुआ है; क्योंकि यह जीव जब बकरा हुआ होगा तब वह हज़ारों बकरियों के साथ स्वयं अकेला ही रमण करता होगा; जब वह घोड़ा या भैंसा या सांड़ अथवा बड़ा वानर आदि पशु देहों को प्राप्त हुआ होगा, तब उसे उनमें अपनी-अपनी जाति की अतिशय रूपवती और यौवनपूर्ण अनेक स्त्रियों में से प्रत्येक स्त्री मिली होगी। उसमें प्रारब्ध का कोई कारण नहीं है, तथा भगवान की कृपा भी कारणभूत नहीं है; वे तो उसे सहज रूप से मिली थीं। और, अब भी यदि वह भगवान का भजन नहीं करेगा, तो भी उसे विभिन्न योनियों में जाने पर अनेक स्त्रियाँ प्राप्त होंगी, जिनके लिए उस जीव को किसी देवता की सेवा-पूजा भी नहीं करनी पड़ेगी और किसी मन्त्र का जप भी नहीं करना पड़ेगा। सो तो उसे आसानी से ही स्त्री आदि का सुख प्राप्त होगा।

और, इस जीव ने कई बार तो देवता होकर देवलोक के भी सुख भोगे हैं, और कई बार चक्रवर्ती राजा होकर पृथ्वी पर भी अनेक प्रकार के सुखों का उपभोग किया है। फिर भी, इस जीव की स्त्री आदि सुखों को भोगने की तृष्णा नहीं मिटती। इसके बावजूद वह स्त्री आदि के सुखों को अत्यन्त दुर्लभ मानता है और उन्हें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समझकर उनसे लगाव रखता है। उनमें उसकी यह अनुरक्ति कभी भी मिटाये नहीं मिटती, इसी पाप के कारण परमेश्वर से उसकी दृढ़ प्रीति नहीं हो पाती।

इस जीव में ऐसी मलिन वासना बनी रहती है, जिसे हमने प्रत्यक्ष रूप से देखा है। जब हम बाल्यावस्था में थे, तब अयोध्यापुरी-स्थित एक शिव-

मन्दिर में जाकर सोते थे। तब एक कायस्थ प्रतिदिन शिव का पूजन करने के लिए आया करता था। वह शिव की पूजा करने के बाद गाल बजाकर शंकर से ऐसा वरदान माँगता था कि 'हे महाराज! हे शिवजी! मुझे कभी भी मनुष्य-जन्म मत देना, क्योंकि उसमें तो मैं ताम्रभस्म खा-खाकर मर गया, परन्तु स्त्री का सुख अच्छी तरह नहीं भोग सका। इसलिए, हे शिवजी! मुझे प्रत्येक जन्म में लम्बकर्ण (गधे) का ही जन्म देना, ताकि मैं लाज-मर्यादा छोड़कर स्त्री का सुख अच्छी तरह भोग सकूँ।' इस प्रकार वह प्रतिदिन शिवजी से वर माँगता था। इस जीव के हृदय में इस तरह की पापमयी वासना रहती है, जिसके फलस्वरूप परमेश्वर से उसकी किसी भी प्रकार से प्रीति नहीं हो पाती।'

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! जिसमें ऐसा अतिशय अविवेक हो, उसके हृदय में भगवान के प्रति प्रीति नहीं होती, परन्तु जिसे यह प्रतीत होता हो कि भगवान समस्त सुखों के निधि हैं तथा भगवान के सिवा अन्य वस्तुएँ केवल दुःखदायी हैं, तो भी उसे भगवान के प्रति प्रीति नहीं होती, इसका क्या कारण है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'पूर्वजन्म अथवा इस जन्म में किसी अत्यन्त अशुभ देश, काल, संग तथा क्रिया के साथ उस जीव का सम्बंध हो गया है, इसी कारण उसके कर्म अत्यन्त तीक्ष्ण हो गए हैं, तथा उसका चित्त उन दुष्कर्मों से लिप्त हो गया है, अतः वह मनुष्य सार-असार का ज्ञान रहने पर भी असार का परित्याग करके साररूप जो परमेश्वर, उनसे दृढ़ प्रीति नहीं जोड़ पाता। और, जैसे अशुभ देश, काल, क्रिया और संग के योग से घोर दुष्कर्मों का प्रभाव उसके चित्त से सट गया है; ठीक वैसे ही अतिशय पवित्र देश, पवित्र काल, पवित्र क्रिया एवं पवित्र संग के सम्बंध से यदि अत्यन्त उत्कृष्ट सुकृत कर्मों का संयोग प्राप्त हो, तो उन शुभ पुण्यकर्मों से तीक्ष्ण पापकर्मों का नाश हो जाता है; तब उसे परमेश्वर के प्रति दृढ़ प्रीति हो पाती है। इस प्रश्न का यही उत्तर है।'

तत्पश्चात् अयोध्याप्रसादजी ने पूछा कि 'एक भक्त तो ऐसा है, जिसकी बुद्धि भी अधिक है और शास्त्रों में भी उसकी अधिकाधिक दृष्टि पहुँचती है और अन्य भक्त वह है, जो अल्पबुद्धि है, तथा उसे शास्त्रों का भी अधिक

ज्ञान नहीं है, फिर भी अधिक बुद्धिमान भक्त सत्संग से विमुख हो जाता है, जबकि अल्पबुद्धिवाला दृढ़तापूर्वक सत्संग में बना रहता है। इसका क्या कारण है ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस संसार में दैवी और आसुरी ऐसे दो प्रकार के जीव होते हैं। इनमें से आसुरी जीव अधिक बुद्धि होने पर भी सत्संग से विमुख ही रहता है, जबकि दैवी जीव अल्पबुद्धि होने पर भी सत्संग से कभी भी विमुख नहीं होता। जैसे कि मिर्ची, नीम, अथवा बछनाग के बीजों को भूमि में बोकर प्रतिदिन चीनी-मिश्रित जल से भी सींचा जाए, फिर भी मिर्ची तीखी ही होगी, तथा नीम कड़ुआ ही होगा तथा बछनाग ज़हरीला ही होगा। वह इसीलिए कि उसके बीज ही विकृत होते हैं। उसी तरह यदि गन्ने को बो कर उसमें नीम की पत्तियों का खाद डाला जाए और उसे कड़ुवे पानी से सींचा जाए, तो भी गन्ने का रस मीठा ही रहेगा। उसी प्रकार दैवी जीव भगवान के सम्मुख ही रहते हैं और आसुरी जीव उनसे विमुख ही रहते हैं।'

तब शुकमुनि ने पूछा कि 'दैवी तथा आसुरी जीवों को किस प्रकार पहचाना जाता है ?'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'दैवी जीव के काम-क्रोध-लोभादि दोष अशुभ देशकालादि के सम्बंध से होते हैं, परन्तु यदि उनको शुभ देश-कालादि का योग उपस्थित हो गया तो उनके दोषों का थोड़े ही समय में विनाश हो जाता है। और, आसुरी जीव में जो काम-क्रोध-लोभादि दोष होते हैं, उनका कभी भी नाश नहीं होता। उससे यदि एकबार भी कठोर वचन कहा हो, तो वह जीवित रहने तक उसे नहीं भूल सकता। यदि वह आसुरी जीव सत्संगी हुआ, तो सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ हरिभक्त दिखायी पड़ता है। जैसे भाल प्रान्त (गुजरात का एक प्रान्त) में पहले समुद्र था और मिट्टी जम जाने से वहाँ की भूमि में मिठास फैल गई है, सो जहाँ तक उस मिट्टी की परत हो वहाँ तक खोदने पर मीठा पानी निकलेगा। अगर उससे अधिक गहरा खोदा जाए, तो वहाँ से समुद्र-जैसा खारा पानी ही निकलेगा। उसी प्रकार आसुरी जीव यदि हरिभक्त हुआ हो, फिर यदि उसकी रुचि को मोड़कर उससे थोड़ी भी छेड़छाड़ की गई तो वह पहले की गई साधुजनों की सेवा से लाख

गुना अधिक द्रोह करता है, फिर भी उसके मन में सन्तोष नहीं होता।'

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! आपने कहा कि हरिभक्त हुए आसुरी जीव की रुचि के अनुकूल जब तक बर्ताव किया जाए तब तक तो वह सत्संगी रहता है, और यदि उसकी इच्छा के अनुकूल कोई बात नहीं हुई, तो वह सत्संग से विमुख हो जाता है। किन्तु, जब तक वह विमुख न हुआ हो और इस बीच यदि उसका शरीर छूट जाए तो वह आसुरी रहता है या दैवी बन जाता है?'

इसका उत्तर देते हुए श्रीजीमहाराज बोले कि 'वह आसुरी जीव जब तक सदाचारण करता रहा हो, उस समय तक यदि उसका देहान्त हो गया तो वह दैवी बन जाता है और भगवान की भक्ति करके परमपद को प्राप्त करता है।'

उस समय नृसिंहानन्द स्वामी ने पूछा कि 'नवधा भक्ति में श्रेष्ठ भक्ति कौन-सी है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिस भक्ति से भगवान में दृढ़ स्नेह हो जाए, वही भक्ति उन नवधा भक्ति में से उसके लिए श्रेष्ठ है।'

फिर गोपालानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जिसकी बाल्यावस्था अथवा युवावस्था हो उसे कैसे पुरुष का संग करना चाहिए?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो वयोवृद्ध भी हो तथा जिसमें धर्म, ज्ञान और वैराग्य दृढ़ हो तथा भगवान से प्रीति भी अटल हो, ऐसे पुरुष का संग उन दोनों को स्नेहपूर्वक करना चाहिए।'

अब नाजा जोगिया ने पूछा कि 'एक व्यक्ति को क्रोध द्वारा भगवत्-चिन्तन होता रहता है, दूसरे का भय के कारण भगवान में मन लगा है, और तीसरे का स्नेहभाव से भगवान में मन लगा है। इन तीनों में से कौन-सा भक्त श्रेष्ठ है?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान में जिसका मन स्नेहभाव पूर्वक लग गया है, वही श्रेष्ठ है।'

तब शिवानंद स्वामी ने पूछा कि 'भगवान का भक्त होने पर भी जिसे श्रीजीमहाराज के कथनानुसार सार-असार का विवेक न हो और वैराग्य भी न हो, तो उसे वैसी विवेकशीलता तथा भगवान के सिवा अन्य वस्तुओं के प्रति

वैराग्य-भाव कैसे हो सकता है?'

श्रीजीमहाराज बोले कि 'पहले से ही यदि भगवान से दृढ़ स्नेह हो जाए, तो विवेक एवं वैराग्य स्नेह के योग से प्रकट हो जाते हैं। जिसे जिस पदार्थ से लगाव होता है, उसे स्नेह या कामना कहा जाता है। जिस वस्तु से स्नेह हो जाए और उसमें यदि कोई बाधा उपस्थित करे, तो उसके प्रति क्रोध उत्पन्न हो जाता है। वह मनुष्यों को तो होता ही है, पशुओं को भी गुस्सा आ जाता है। जैसे कोई भैंसा कामनापूर्वक भैंस पर आसक्त हो जाए और उस समय यदि दूसरा भैंसा बीच में आ गया तो वह उसे मार डालता है। पशु-पक्षियों में सर्वत्र ऐसा दिखाई पड़ता है। उसी प्रकार जिसको भगवान से दृढ़ प्रीति हो गई तब बीच में कोई पदार्थ उस प्रीति में रुकावट डालने के लिए आए, तो कुपित होकर वह उसका तत्काल त्याग कर डालता है। इसलिए, भगवान से यदि दृढ़ स्नेह हो जाए, तो वैराग्य एवं विवेक स्वयमेव उत्पन्न हो जाते हैं।'

फिर एकबार शिवानन्द स्वामी ने पूछा कि 'दो भक्त हैं और वे दोनों ही बुद्धिशाली हैं। इनमें से एक भक्त तो परमेश्वर के वचनों को विश्वास-पूर्वक यथावत् मान लेता है तथा दूसरा भक्त भगवान के वचनों का केवल उतना ही पालन करता है, जितना उसकी बुद्धि उसे मान्य करती है। तब इन दोनों में से कौन-सा भक्त श्रेष्ठ है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'विश्वास करनेवाला भक्त ही श्रेष्ठ है। यही बात रामकथा में रामचन्द्रजी ने कही है कि जो भक्त मुझ पर दृढ़ विश्वास के साथ निर्भर रहता है, उसकी रक्षा मैं उसी प्रकार करता हूँ, जिस तरह कोई माता अपने बच्चे की रक्षा करती है। इसलिए, विश्वासी भक्त ही श्रेष्ठ है।'

अब आत्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'मन में तो यही निश्चय रहता है कि जीवनपर्यन्त हमें परमेश्वर की रुचि के अनुसार ही रहना है। फिर भी ऐसा क्या किया जाए, जिससे हम पर परमेश्वर तथा सन्त को विश्वास हो जाए?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'परमेश्वर तथा सन्त को विश्वास तब हो सकता है, जब बहुत बीमारी में भी उस भक्त की अच्छी तरह सेवा-चाकरी

न हुई हो, फिर भी वह भक्त न तो किसी को दोषी ठहराता हो, और न उद्विग्न ही होता हो; तथा परमेश्वर एवं सन्त कदाचित् बिना किसी दोष के ही उसका अत्यंत अपमान करे, फिर भी वह तनिक भी उनका अवगुण ग्रहण नहीं करता, तब परमेश्वर एवं संत को उसका विश्वास आता है। तीसरा प्रकार यह है कि सत्संग के जितने नियम हैं, उनका यदि लेशमात्र भी उल्लंघन हो जाए, तो अत्यंत दु:खी होकर उसका प्रायश्चित्त तत्काल कर डालता है। मन में यदि लेशमात्र भी कोई कुसंकल्प उत्पन्न हो गया, तो उसे उतने ही दु:ख एवं त्रास की अनुभूति होती हो, जितना कष्ट तथा दु:ख किसी को पंचव्रतों के भंग होने पर हुआ करता है। ऐसी स्थिति होने पर ही परमेश्वर तथा सन्त को उस पर परिपूर्ण विश्वास हो जाता है कि 'यह भक्त कभी भी सत्संग से विचलित नहीं होगा।'

अब भगवदानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जिस भक्त के मन में भगवान तथा भगवान के भक्त की अखंड महिमा रहती हो, वह दूसरों को कैसे प्रतीत हो सकता है?' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसके मन में भगवान तथा भगवान के भक्त की अखंड महिमा समायी रहती है, वह भगवान और भगवान के भक्त की निष्कपटभाव से प्रीतिपूर्वक सेवा किया करे, तथा देह से सभी सन्तों का चरणस्पर्श करता रहे; और यदि कोई सन्त बीमार हो, तो वह उनका सिर दबाए, पगचंपी करे और उनके खाने-पीने का ध्यान रखें, और अपने पास कोई पसंदीदा चीज़ आ गई तो वह उसे सर्वप्रथम सन्त की सेवा में अर्पित करके ही उसे अपने उपयोग में ले। इस प्रकार जो मन, कर्म तथा वचन से अपना वर्तन रखता है, उसी के हृदय में भगवान तथा सन्त की महिमा अखंडरूप से बनी रही है, ऐसा समझना।'

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज ने सन्तों से पूछा कि 'भक्त में धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति चारों तीव्ररूप से हों, फिर भी धर्म में कुछ शिथिलता रह जाए, वैराग्य में कहीं पर कुछ राग रह जाए, और भक्ति में भी कुछ शिथिलता देखने में आए, तथा ज्ञान में भी कुछ देहासक्ति दिखे, इसका क्या कारण हो सकता है?'

तब गोपालानंद स्वामी तथा ब्रह्मानंद स्वामी ने कहा कि 'जिनमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति तीव्ररूप से होते हैं, ऐसे ईश्वरमूर्ति समर्थ

पुरुष में अगर कुछ कसर प्रतीत हुई, तो वह केवल उनकी दयालु प्रकृति के कारण ही है, किन्तु दूसरी कोई कमी नहीं है। **ऐसे महापुरुष यदि बाह्यदृष्टि रखकर बर्ताव करें, तो वे कितने ही जीवों को जडभरत तथा शुकजी के समान ब्रह्मरूप कर सकते हैं। वस्तुतः ऐसे बड़े सन्त व्यावहारिक दृष्टि को अपनाते हैं, तो वह केवल जीवों के प्रति दयाभाव के ही कारण अपनाते हैं।'** श्रीजीमहाराज ने कहा कि इस प्रश्न का यही उत्तर है।

॥ इति वचनामृतम् ॥14॥ ॥237॥

वचनामृत 15 : भक्ति की रीति, जो मन को रास आती है

संवत् 1884 में आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी (21 जुलाई, 1827) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास कक्ष की छत के झरोखे में विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे और कंठ में मोगरा पुष्पों के हार पहने थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब श्रीजीमहाराज ने मुक्तानन्द स्वामी से कहा कि 'आज तो हमने अपने रसोइया हरिभक्त से बहुत बातें कीं।' उस समय मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! आपने उनसे कौन सी बातें कही?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'बात तो इस प्रकार की कि 'भगवद्भक्त जब भगवान की मानसी पूजा अथवा ध्यान के लिए बैठता है, उस समय उसके मन में वही स्मृतियाँ उभर आती हैं कि जब उसकी आत्मा अशुभ देशकालादि के योग से पंचविषय अथवा काम, क्रोध, लोभादि द्वारा पराजित हुई हो। जैसे कोई शूरवीर सैनिक संग्राम में ज़ख्मी होने के कारण घर वापस लौटता है तथा खाट पर विश्राम भी लेता है, किन्तु उसको घावों की पीड़ा तब तक दूर नहीं होती और नींद भी तब तक नहीं आती, जब तक उसके घावों पर लगाई गईं दवाइयाँ और पट्टियाँ उसे रास नहीं आतीं। जब रोगी को दवाइयाँ रास आ जाती हैं, तब उसे आराम मिल जाता है, और घावों से होनेवाली पीड़ा मिट जाती है और नींद भी आती है। उसी तरह अशुभ देश, काल, संग और क्रिया के योग से आत्मा पर पंचविषयों के घाव लग चुके

हैं, सो जब नवधा भक्ति में से जिस भक्ति के कारण भक्त को पंचविषयों के दर्द मिट जाए, तथा पंचविषयों का स्मरण तक न होने पाये, वही उसे औषध-पट्टी रास आई समझ लेना चाहिए। और वही उसका भजन-स्मरण का दृढ़ अंग जानना। फिर उसी प्रकार की भक्ति को प्रधान रखते हुए मानसी पूजा और नामस्मरण तथा अन्य हर तरह की भक्ति क्रिया करते रहना। तभी उसे अतिशय पुष्टि होगी।

और, यदि कोई भक्त अपने अंग को नहीं पहचानता, तो जैसे घायल आदमी को औषध-पट्टी रास नहीं आती और चैन नहीं होता, उसी प्रकार उसे भी भजनस्मरण में किसी प्रकार से सुख नहीं होता, तथा जो पंचविषयों के घाव लगे हों, उन घावों की पीड़ा भी शान्त नहीं होगी। इसलिए **नवधा भक्ति करते हुए जिस भक्ति के द्वारा अपना मन भगवान में लग जाए, और भगवान के सिवा अन्य कोई संकल्प तक न उठे, तब उस हरिभक्त को समझ लेना कि 'मेरा तो यही अंग है।' फिर उसी प्रकार की भक्ति उसे प्रधान रखनी चाहिए, यह सिद्धांत वार्ता है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥15॥ ॥238॥

वचनामृत 16 : पतिव्रता स्त्री के समान भगवन्निष्ठा

संवत् 1884 में आषाढ़ कृष्णा अमावास्या (23 जुलाई, 1827) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे, कंठ में मोगरा के पुष्पों के हार पहने थे और पाग में तुर्रे अत्यंत सुशोभित हो रहे थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'समस्त मुनिमंडल तथा सभी गृहस्थ हरिभक्तों से हम प्रश्न पूछते हैं, जो भक्त उत्तर दे सकते हों, वे इसका उत्तर दें। प्रश्न यह है कि भगवान के भक्त को अवगुणवाले का परित्याग करने में कुछ भी देर नहीं लगती, परन्तु जो बहुत गुणवान हों, उसका परित्याग किस प्रकार किया जाए? क्योंकि जो गुणवान हैं, वे चाहे अपने नाती-सम्बंधी हो, या अन्य कोई, परन्तु गुणवानों से तो सभी की सहज ही प्रीति हो जाती है;

जो मिटाने पर भी नहीं मिट सकती। इसलिए भगवद्भक्त को बिना भगवान के कहीं अन्यत्र किसी गुणवान के साथ प्रीति ही न हो, ऐसा कौन-सा उपाय है?' तब बड़े-बड़े सन्तों ने अपने-अपने विवेक के अनुसार उत्तर दिया, परन्तु श्रीजीमहाराज के प्रश्न का समाधान नहीं हुआ।

फिर श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'इसका उत्तर हम देते हैं, कि जो स्त्री पतिव्रता होती है, वह भले ही अपना पति कंगाल हो, कुरूप हो, रोगी हो या वृद्ध हो फिर भी अन्य धनी, रूपवान और युवा पुरुष को देखकर उसके प्रति तनिक भी आकृष्ट नहीं होती। यदि कोई पतिव्रता स्त्री परपुरुष के सामने स्नेहपूर्वक देखती है, अथवा उससे हँसकर बोलती है, तब उसका पातिव्रत-धर्म नष्ट हो जाता है। यदि उस पतिव्रता के घर पर कोई अतिथि या पति का कोई सम्बंधी आया हो, तो उसे अपने पति के सम्बंधीजन समझकर ही अन्न-जल प्रदान करती है, किन्तु अपने पति के साथ उसकी जैसी प्रीति होती है, वैसी उससे कभी नहीं होती। और, अपने पति का जैसा गुण ग्रहण करती है, वैसा अन्य किसी का ग्रहण नहीं करती। वह तो अपने पति की मर्जी के अनुसार ही आचरण करती है। इस प्रकार, पतिव्रता स्त्री की अपने पति के प्रति ही दृढ़ निष्ठा बनी रहती है। वैसे ही **भगवद्भक्त को भी भगवान में दृढ़ निष्ठा रखनी चाहिए और जिस रूप में स्वयं को भगवान के दर्शन हुए हों, उनके साथ जिसे पतिव्रता-सी दृढ़ प्रीति हो गई हो, उसे तो भगवान के अतिरिक्त अन्य बड़े-बड़े मुक्त साधुओं के प्रति भी प्रीति होती ही नहीं। और, अपने इष्टदेव के अन्य अवतारों के प्रति भी उसकी प्रीति नहीं होती। उसे केवल भगवान के उस स्वरूप में ही प्रीति बनी रहती है, जिसकी उसे प्राप्ति हुई है। और ऐसा भक्त भगवान की मर्ज़ी अनुसार ही रहता है। तथा वह किसी अन्यों को जो कुछ माने, वह तो केवल इसी दृष्टि से मानता है कि वे भी भगवान के हैं।**

इस प्रकार जिसको अपने इष्टदेव भगवान में पतिव्रता-सी दृढ़ भक्ति रहती है, वह अन्य कैसे भी गुणवान को देखे, परन्तु उसके साथ उसे स्नेह होता ही नहीं। जैसे हनुमानजी रघुनाथजी के भक्त रहे हैं। यद्यपि रामावतार के बाद भगवान के अन्य कितने ही अवतार हुए हैं, फिर भी हनुमानजी पतिव्रता

के समान रामचन्द्रजी की ही भक्ति करते रहे हैं। भगवान के जिस भक्त की ऐसी ही एकनिष्ठा है, उसे पतिव्रता सदृश भक्ति कहा जाता है। जिसकी ऐसी एकनिष्ठा न हो, उसकी तो व्यभिचारिणी स्त्री के समान भक्ति कही जाएगी।

अत: जिससे जानबूझ कर अपने पर कलंक मढ़ जाए ऐसी भक्ति कभी मत करना! भगवान के भक्त को सोच-समझकर पतिव्रता स्त्री के समान ही दृढ़ भक्ति करनी चाहिए।'

॥ इति वचनामृतम् ॥१६॥ ॥२३९॥

वचनामृत 17 : भरतजी का चमत्कारी आख्यान

संवत् 1884 में श्रावण शुक्ला षष्ठी (30 जुलाई, 1827) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे और पुष्पों का हार पहना था। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'श्रीमद्भागवत में वर्णित भरतजी का आख्यान जितना चमत्कारी है, वैसी कोई अन्य कथा चमत्कारपूर्ण नहीं है, क्योंकि भरतजी ऋषभदेव भगवान के पुत्र थे और भगवान के लिए समस्त राज्य का परित्याग करके वे वन में चले गए थे। वहाँ भगवान का भजन करते समय उन्हें मृगी के बच्चे से स्नेह उत्पन्न हो गया। तब उनकी मनोवृत्ति मृगमय हो गई। वे ऐसे महान थे, फिर भी पापवश उनका जन्म मृग के रूप में हुआ। अत: **अनन्त प्रकार के पाप हैं, किन्तु इन सभी पापों में घोरतम पाप यही है कि भगवद्भक्त भगवान को छोड़कर अन्यत्र स्नेह करता है! यही अत्यन्त जघन्य पाप है।** इसलिए विवेकशील भक्त यदि भरतजी की कथा पर विचार करेगा, तब उसके अंत:करण में अत्यंत भय जाग्रत हो जाएगा कि 'कदाचित् भगवान को छोड़कर मुझे कहीं अन्यत्र स्नेहासक्ति न हो जाए!' और भरतजी ने जब मृग-शरीर को छोड़कर ब्राह्मण के घर जन्म लिया, तब उन्होंने इस भय के कारण संसार-व्यवहार में रुचि नहीं ली कि कहीं मुझे भगवान के सिवा अन्यत्र स्नेह हो जाएगा! वे उसी कारण जानबूझकर पागल आदमी के समान रहने लगे, और जिस प्रकार से वृत्ति

अखण्ड भगवन्मय रहे, उसी प्रकार रहने लगे!' इतना उपदेश देने के बाद श्रीजीमहाराज वहाँ पधारे, जहाँ ठाकुरजी की आरती हो रही थी।

॥ इति वचनामृतम् ॥17॥ ॥240॥

वचनामृत 18 : वासना की जीर्णता

संवत् 1884 में श्रावण कृष्णा दशमी (17 अगस्त, 1827) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। कंठ में पुष्पों की मालाएँ धारण की थीं। पाग में फूलों के तुर्रे लटक रहे थे। उनके समक्ष मुनिमंडल तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज के भतीजे रघुवीरजी ने प्रश्न किया कि 'जाग्रत अवस्था में जीव की जैसी स्थिति रहती है, वैसी दशा स्वप्नावस्था में क्यों नहीं रहती?' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जाग्रत अवस्था में जीव जैसा होता है, वैसी ही उसकी स्थिति स्वप्नावस्था में भी रहती है, क्योंकि जीव की वासना जाग्रत अवस्था में जिस प्रकार की रहती है, उसी की स्फुरणा स्वप्नावस्था में भी होती है।'

तब निर्लोभानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! स्वप्नावस्था में तो ऐसे-ऐसे पदार्थ स्फुरित होते हैं, जो जाग्रत अवस्था में न तो कभी दिखाई दिए थे, न तो उनके सम्बंध में कुछ सुनाई दिया था! ऐसे पदार्थ स्वप्न में दिखाई पड़ने का क्या कारण होगा?'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'जो अनदेखे-अनसुने पदार्थ स्फुरित होते हैं, उनका सम्बंध पूर्वजन्म में किए गए कर्मों की वासना के साथ है।'

तब अखंडानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! मनुष्य यदि भगवद्-भक्त हो गया, तो भी भक्त को पूर्वजन्म के कर्मों की प्रबलता कब तक बनी रहती है?'

श्रीजीमहाराज बोले कि **'इस जीव को जब सत्पुरुष की संगत होती है, तब वह जैसे-जैसे उनका सत्संग करता जाता है, वैसे-वैसे पूर्वकर्म-सम्बंधित वासना क्षीण होती जाती है। इसके पश्चात् उसमें**

वह वासना ही नहीं रहती, जो जीव को जन्म-मरण के बन्धन में डाले रहती है। जिस प्रकार तीन-चार वर्ष पुराना धान खाया तो जा सकता है, किन्तु उसे यदि बोया जाए तो वह उग नहीं सकता, वैसे ही पूर्वकर्म सम्बंधी वासना जब जीर्ण हो जाती है, तब उसमें जीव को जन्म-मरण के बन्धन में डालने की क्षमता ही नहीं रहने पाती।

तब कोई यह पूछे कि जीव की वासना जीर्ण हो गई, यह कैसे ज्ञात हो सकता है?' तो यह दृष्टांत सुनिए। जब तक योद्धाओं के दो दल ढाल-तलवारें लेकर आमने-सामने लड़ते हैं, उस समय यदि कोई किसी से पराजित नहीं होता, तब तक स्पष्ट है कि दोनों दलों का बल बराबर समान दर्ज़े का है। किन्तु उनमें से किसी एक दल के एक योद्धा का भी पैर पीछे हटता दिखाई दिया, तब उस दल को पराजित ही समझा जाएगा। वैसे ही भगवद्भक्त के हृदय में जब तक भगवान सम्बंधी संकल्प तथा विषय सम्बंधी संकल्प समानरूप से बने रहे, तब तक यही समझना, कि वासना बलवती है, परन्तु जब भगवान सम्बंधी संकल्प विषयमूलक संकल्पों को हटा दें, तब ऐसा समझ लेना कि वासना जीर्ण हो गई है।'

फिर श्रीजीमहाराज ने परमहंसों से प्रश्न किया कि 'यह बात अन्य भक्तों को किस प्रकार प्रतीत हो सकती है कि भगवान का यह भक्त देहाभिमान से मुक्त है, और उसे पंचविषयों के प्रति भी अरुचि हो गई है?'

तब मुक्तानंद स्वामी ने कहा कि 'हे महाराज! आपके इस प्रश्न का उत्तर हम नहीं दे सकते। इसलिए कृपया आप ही उत्तर दीजिए।'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि भगवान के गृहस्थाश्रमी अथवा त्यागी भक्त हो और यदि उसका देहाभिमान नष्ट हो गया हो और वह पंचविषयों से भी अनासक्त हो, तो भी उसे परमेश्वर की आज्ञा से यथोचित देहाभिमान भी रखना चाहिए और यथेष्टरूप से पंचविषयों का उपभोग भी करना चाहिए। जैसे किसी अत्यन्त दुर्बल पशु को लकड़ियों का टेका लगाकर सींग-पूँछ पकड़कर खड़ा कर दिया जाए, तो वह सहारा होने तक खड़ा रह सकता है, किन्तु ज्यों ही मनुष्य उस मवेशी को छोड़ देते हैं तब, वह भूमि पर गिर जाता है। वैसे ही निर्वासनिक भक्त को तो परमेश्वर अपनी आज्ञा के अनुसार जितनी क्रिया में प्रवृत्त होने दें, उतनी ही क्रिया करता है, फिर उस

क्रिया से मुक्त हो जाता है।

जैसे किसी पुरुष के हाथों में तीर-कमान हो और वह जब तक उसे खींचता रहेगा तब तक यह धनुष तना रहेगा। परन्तु अगर उसने धनुष खींचने में शिथिलता दिखाई तो वह ढीला पड़ जाएगा। वैसे ही निर्वासनिक पुरुष परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार ही व्यावहारिक कार्य करता रहता है। बिना आज्ञा के वह कोई भी कार्य नहीं करता, जबकि सवासनिक भक्त तो जिस-जिस व्यावहारिक क्रिया में जुड़ जाता है, वहाँ से वह स्वयं मुक्त नहीं हो सकता तथा परमेश्वर की आज्ञा से भी नहीं छूट सकता। यही निर्वासनिक तथा सवासनिक भक्तों के लक्षण हैं।'

॥ इति वचनामृतम् ॥18॥ ॥241॥

वचनामृत 19 : त्यागियों के दो कुलक्षण

संवत् 1884 में श्रावण कृष्णा त्रयोदशी (20 अगस्त, 1827) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी-तकिया रखवाकर विराजमान थे। उनके कंठ में मोगरा और कर्णिकार पुष्पों के हार सुशोभित हो रहे थे। उनके समक्ष मुनिवृंद तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिन हरिभक्तों ने संसार का त्याग किया है, उनके दो कुलक्षण हैं, जो इस सत्संग में शोभा नहीं देते। इनमें से एक तो कामना है तथा अन्य कुलक्षण अपने कुटुम्बियों के प्रति स्नेह है। जिनमें ये दो कुलक्षण हों, वे हमें पशु के समान प्रतीत होते हैं।

उनमें भी जिनको अपने सम्बंधियों के प्रति विशेष स्नेह रहता है, उनके प्रति तो हमारे मन में अत्यंत दुर्भाव रहता है। अतः संसार-त्याग करनेवाले पुरुष को अपने सम्बंधियों के साथ लेशमात्र भी स्नेह नहीं करना है। क्योंकि पंचमहापापों से भी बढ़कर सम्बंधियों से स्नेह रखना घोर पाप है। अतः भगवान के त्यागी भक्त देह तथा देह के सम्बंधी से अपनी आत्मा भिन्न समझें कि मैं तो आत्मा हूँ और किसी के साथ मेरा लेशमात्र भी सम्बंध नहीं है। और, देह के सम्बंधियों को चौरासी लाख योनियों में भटकते हुए जीवों के समान समझना चाहिए। यदि इन सम्बंधियों को

सत्संगी समझकर उनकी महिमा समझने लगे, तो एक तो सम्बंध का स्नेह रहता है, तथा दूसरा उनके हरिभक्तपन का भी माहात्म्य समझने लगता है, तब भगवान तथा भगवद्भक्त की अपेक्षा सम्बंधी के साथ ही अधिक स्नेह हो जाया करता है। अतः जिनमें स्वाभाविक स्नेहासक्ति रही है, ऐसे अपने सम्बंधियों को यदि हरिभक्त समझकर उनके साथ स्नेह किया जाता है, तो उसका जन्म भ्रष्ट हो जाता है।

और, भले ही देह का सम्बंधी न हो, परन्तु जो अपनी सेवा-चाकरी करता हो, उससे भी स्वाभाविक स्नेह हो जाता है। इसलिए, विवेकशील भक्त को उसके साथ भी, जो अपनी सेवा करता हो तथा हरिभक्त भी हो, स्नेह नहीं करना चाहिए। जैसे चीनीमिश्रित दूध में अगर साँप ने मुँह डाल दिया हो, तो उसे भी ज़हर कहा जाएगा, वैसे ही जिसमें सेवा-चाकरी के रूप में स्वार्थ रहा हो, वह यदि हरिभक्त ही क्यों न हो, अपने स्वार्थ के कारण उसके साथ स्नेह नहीं करना चाहिए। क्योंकि उससे अपनी आत्मा को बन्धन प्राप्त हो जाता है तथा भगवान के चिंतन के साथ-साथ जिसमें अपना स्वार्थ हो उसका भी चिंतन होने लगता है। वही उसे परमेश्वर के भजन में उपस्थित सबसे बड़ा विघ्न है। जिस प्रकार भरतजी को मृगी का बच्चा ही अविद्या-मायारूप सिद्ध हुआ, उसी तरह भगवान के भजन में जो-जो बाधक हों, उन सबको अविद्यारूप समझकर भगवद्भक्त सर्वथा परित्याग कर दें।

इस प्रकरण की वार्ता को सन्त मंडल तथा सांख्ययोगी हरिभक्तों को प्रतिदिन कहना और सुनना चाहिए। इसकी रीति इस प्रकार रखें, कि जिसके मंडल में जो अग्रणी हो वह प्रतिदिन यह वार्ता करता रहे और अन्य साधु इसे सुनते रहें। जो अग्रणी साधु जिस दिन यह वार्ता न कर सके, उस दिन उसे उपवास करना, तथा श्रोता यदि श्रद्धापूर्वक भगवान की इस कथा को सुनने के लिए न आ सके तो उसे भी उपवास करना। इन वचनों का अत्यंत दृढ़तापूर्वक पालन करें।'

॥ इति वचनामृतम् ॥19॥ ॥242॥

वचनामृत 20 : स्वभाव, प्रकृति या वासना की परिभाषा

संवत् 1884 में श्रावण कृष्णा अमावस्या (22 अगस्त, 1827) को

रात्रि के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवासस्थान में विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष साधुवृंद तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब दीनानाथ भट्ट ने पूछा कि 'हे महाराज![11] काल तो भगवान की शक्ति है तथा कर्म जीव द्वारा जो किए जाते हैं वह हैं, परन्तु स्वभाव वस्तुतः क्या है?' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जीव ने पूर्वजन्म में जो कर्म किए हैं, वे परिपक्व अवस्था को प्राप्त होकर जीव के साथ घुलमिल गये हैं। जैसे लोहे में अग्नि का प्रवेश हो जाता है, वैसे ही परिपक्व बने हुए, जीव के साथ घुलमिल गए जो कर्म हैं, उन्हीं को स्वभाव कहते हैं, तथा उन्हीं को वासना तथा प्रकृति कहते हैं।'

फिर मुक्तानन्द स्वामी ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! आप बताते हैं कि जीव के साथ एकरस हो चुके कर्मों को ही स्वभाव तथा वासना कहा जाता है। अब कृपया यह बताइए कि ऐसी वासना को मिटाने का कौन-सा उपाय है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'ऐसी वासना को मिटाने का उपाय यही प्रतीत होता है कि आत्मनिष्ठापूर्वक श्रीकृष्ण भगवान की भक्ति की जाए। यदि बिना आत्मनिष्ठा के ही भगवान की एकमात्र भक्ति की जाएगी, तो भगवत्प्रेम के साथ-साथ अन्य पदार्थों से भी लगाव हो जाएगा। अतः आत्मनिष्ठापूर्वक भक्ति करनी, यही वासना को टालने का एकमात्र उपाय है। यदि आत्मनिष्ठावाले पुरुष को भी कभी किसी अशुभ देशकालादि के योग से अज्ञानी के समान ही क्षोभ हो जाए, तो भी वह अधिक समय तक नहीं टिक सकता।'

॥ इति वचनामृतम् ॥20॥ ॥243॥

वचनामृत 21 : धर्म में भक्ति के समान गौरव

संवत् 1884 में भाद्रपद शुक्ला नवमी (31 अगस्त, 1827) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी

11. काल, कर्म तथा स्वभाव तीनों जीव के सुख-दुःख में निमित्तरूप हैं, उनमें।

द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर गद्दी–तकिया रखवाकर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। कंठ में चमेली–पुष्पों के हार सुशोभित हो रहे थे। उनके समक्ष समस्त मुनिमंडल तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने गोपालानन्द स्वामी तथा शुकमुनि को प्रश्नोत्तरी प्रारंभ करने की आज्ञा दी। तब शुकमुनि ने गोपालानन्द स्वामी से पूछा कि 'भगवान की भक्ति द्वारा जीव भगवान की माया को तैरकर अक्षरधाम को प्राप्त होता है और धर्मनिष्ठा रखने से देवलोक की प्राप्ति होती है, किन्तु पुण्यों का क्षय होने पर जीव का देवलोक से पतन होता है। भगवान के अवतार तो जब–जब धर्म का ह्रास होता है, तब–तब धर्म की स्थापना के लिए ही होते हैं, वे भक्ति की स्थापना के लिए प्रकट नहीं होते! तथापि भक्त को जो प्राप्ति होती है, वह भक्ति द्वारा ही होती है, परन्तु धर्म के द्वारा तो नहीं होती। अतएव, प्रश्न यह है कि भक्ति के सदृश महत्ता धर्म में किस प्रकार आ सकती है?'

इस प्रश्न का उत्तर गोपालानन्द स्वामी देने लगे, परन्तु उन्होंने जो-जो बातें कहीं उसमें धर्म, भक्ति का अंगरूप हो जाता था! किसी प्रकार से धर्म में भक्ति के समान गौरव प्रस्थापित नहीं हो पाता था। इसे सुनकर श्रीजीमहाराज बहुत हँसे और बोले कि 'इस प्रश्न का उत्तर तो बहुत कठिन है; इसलिए लीजिए, इसका उत्तर हम देते हैं। धर्म के दो प्रकार हैं। इनमें से एक निवृत्तिधर्म है तथा दूसरा प्रवृत्तिधर्म है। दोनों प्रकार के ये धर्म भगवान के सम्बंध से युक्त भी हैं, तथा उनके सम्बंध से रहित भी हैं। इनमें से जो भगवान के सम्बंध से संयुक्त धर्म है, वह नारद–सनकादि, शुकजी, ध्रुव, प्रह्लाद तथा अंबरीष आदि भक्तों का धर्म है। इसी धर्म को भागवतधर्म तथा एकांतिक धर्म कहते हैं। वास्तव में ऐसा जो धर्म तथा भक्ति वे दो नहीं, बल्कि एक ही है तथा जिस धर्म की स्थापना के लिए भगवान के अवतार होते हैं, वह यही धर्म है, जिसे स्थापित करने के लिए भगवान इस भूमि पर अवतार धारण करते हैं।

और जो केवल वर्णाश्रम सम्बंधी धर्म हैं, वह तो भागवतधर्म की अपेक्षा अत्यन्त गौण हैं। भागवतधर्म द्वारा तो जीव भगवान की माया को

तैरकर पुरुषोत्तम के धाम को प्राप्त होता है। इसलिए, भागवतधर्म तथा भक्ति का गौरव एकसमान ही है और प्राप्ति में भी समानता है। इस प्रकार भक्ति एवं धर्म की समान महत्ता है, किन्तु वर्णाश्रम सम्बंधी धर्म उस भागवतधर्म के आगे अत्यंत गौण हैं और उनका फल भी नाशवान होता है।

और, हमारा मत भी यही है कि हमसे बिना भगवान तथा बिना उनके एकान्तिक भक्त, यदि किसी और से स्नेह किया जाए तो भी वह नहीं होता।' हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि 'जडभरत, शुकदेव, दत्तात्रेय तथा ऋषभदेवजी आदि के समान हमारी भी रुचि रहा करती है। अतः हमें भी वन-पर्वतों पर निवास करना ही अच्छा लगता है, परन्तु बड़े-बड़े नगरों-शहरों में रहना रुचिकर नहीं लगता, ऐसा हमारा सहज स्वभाव है। तथापि, हम भगवान और भगवान के भक्त के लिए लाखों लोगों के भीड़े में रहते हैं, शहरों में रहते हुए भी हम वैसे ही अनासक्त एवं निर्बन्ध रह सकते हैं, जैसे हम वन में रहकर निर्बन्ध रहते हों। हम किसी स्वार्थ के कारण इन लाखों लोगों के भीड़े में नहीं रहते! हम तो केवल भगवान के भक्त के लिए भीड़े में रहते हैं। और **भगवान के भक्त के लिए चाहे कितनी ही प्रवृत्ति करनी पड़े, फिर भी हम उसे निवृत्ति ही मानते हैं।**

और, भगवान का कोई भक्त हो फिर चाहे वह कितना ही दोषी हो, किन्तु हमारे मन में उसके प्रति दुर्भाव नहीं होता। हम जानते हैं कि भगवान के भक्त के कुछ स्वाभाविक अल्प दोष हों, तो उन पर ध्यान देना ही नहीं! ऐसे दोष यदि अपने में हों, तो उन्हें मिटाने का उपाय अवश्य करें। किन्तु, भगवान के भक्त में यदि उस प्रकार के दोष हैं, तो भी उनके अवगुण-ग्रहण न करें। कदाचित् पंचव्रतों में मुख्य जो निष्काम व्रत है, उसमें यदि किसी से कोई त्रुटि हो गई तो उसे दोष समझना वरन् अल्पदोष होने पर भगवद्भक्तों के प्रति अवगुण दृष्टि से नहीं देखना चाहिए।

और, भगवान के भक्त के साथ वादविवाद करके उसे जीतकर प्रसन्न नहीं होना चाहिए, उससे तो हारकर ही प्रसन्न होना चाहिए; और जो भक्त वादविवाद द्वारा भगवान के भक्त को जीतता है, वह तो पंचमहापापों के करनेवाले से भी अधिक पापी है। और, हमारे सामने यदि कोई भगवान के भक्त की निंदा का वचन कहे, तो हमें उसे देखना तक अच्छा नहीं लगता।

तथा कोई व्यक्ति भगवद्भक्तों का अवगुण ग्रहण करता हो, तो हमें उसके हाथ से प्राप्त अन्न-जल भी अच्छा नहीं लगता। और, ऐसा ही मनुष्य यदि हमारा सम्बंधी हो, परन्तु उससे भी हमारा मन अत्यंत खिन्न हो जाता है। क्योंकि वैसे भी आत्मा ही हमारा स्वरूप है, तब देह और उसके सम्बंधियों से स्नेह क्यों रखना चाहिए? हमने तो आत्मसत्तारूप रहकर भगवान तथा भगवान के भक्त के साथ स्नेह किया है, परन्तु देहबुद्धि से स्नेह नहीं किया है। और, **जो भक्त आत्मसत्तारूप नहीं रह सकेगा, उसे तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरादि शत्रु संकट में डाले बिना नहीं रहेंगे। इसलिए जो आत्मसत्तारूप रहकर भक्ति नहीं करते होंगे, उसके कर्मों का इस सत्संग में पर्दाफाश हुए बिना रहेगा ही नहीं।** क्योंकि यह सत्संग तो अलौकिक है। श्वेतद्वीप, वैकुंठ तथा गोलोक में भगवान के पार्षद हैं, वैसे ही ये सब सत्संगी हैं। **हम तो सबसे परे जो दिव्य अक्षरधाम है, उसमें जो भगवान के पार्षद हैं, उन्हीं के समान इन सत्संगियों को न मानते हों, तो हमें भगवान तथा भगवान के भक्त की सौगन्ध है।**

जिसे ज्ञान, वैराग्य, धर्म तथा भक्ति चारों अत्यन्त सुदृढ़ नहीं हुए होते, तो अन्ततोगत्वा वह शिथिल हुए बिना नहीं रहेगा। जैसे मोम-मिश्रित डोरा शीत ऋतु में तथा वर्षाऋतु में कड़ा बना रहता है, किन्तु ग्रीष्म के समय वह अवश्य ढीला पड़ जाता है। उसी तरह सत्संग में हरिभक्त को हर प्रकार के सुख उपलब्ध हों, तथा सत्संग में सर्वत्र सम्मान मिलता रहे, वह वर्षाकाल तथा शीतकाल की तरह है, जिसमें भक्त के जीवन में ज्ञान, वैराग्य, धर्म एवं भक्ति सभी बहुत अच्छे दिखाई पड़ते हैं; किन्तु जब सत्संग में अपमान हो, तथा देह से भी दुःख प्राप्त हो, वह सत्संगी के लिए ग्रीष्मकाल है। ऐसे समय तो उस भक्त के जीवन में ज्ञान, वैराग्य, धर्म और भक्ति, सभी मोम-मिश्रित डोरे की तरह ढीले पड़ जाते हैं। हालाँकि इतना होने पर भी हम उसका त्याग नहीं करते, किन्तु वही स्वयं मन ही मन पराधीन होकर सत्संग से पतनोन्मुख हो जाता है; फिर वह सत्संगी कहलाता हो, तो भी उसके अंतर में सत्संग सम्बंधी सुख नहीं रहता।

इसलिए, सत्संग करें तो आत्मसत्तारूप होकर ही अत्यंत दृढ़ता के साथ ही करें। किन्तु, ऐसा सत्संग न करें कि देह और देह के सम्बंधियों के

साथ कुछ स्नेह रह जाए। जैसे सोने की सिकड़ी छहों ऋतुओं में एक समान रहती है, जो ग्रीष्म काल की धूप से ढीली नहीं होती। वैसे ही **दृढ़ सत्संगी को चाहे कैसे ही दुःख आ पड़ें और सत्संग में उसका चाहे कितना ही अपमान हो, फिर भी किसी भी ढंग से उसका मन सत्संग से विचलित नहीं होता। ऐसे दृढ़ सत्संगी वैष्णव ही हमारे तो सगे-सम्बंधी हैं, और वही हमारी ज्ञाति है। हमें इस देह से ऐसे वैष्णवों के संग में ही रहना है;** तथा श्रीकृष्ण भगवान के धाम में भी ऐसे वैष्णवों के साथ ही निवास करना है, ऐसा हमारा निश्चय है। आप सभी को भी यही निश्चय करना चाहिए। क्योंकि आप सभी हमारे आश्रित हुए हैं, अतः हमें भी आपके हित की बात कहनी चाहिए। वास्तव में मित्र भी वही है, जो 'दुःख पहुँचाकर भी उसके हित की बात कहे।' मित्र का यही लक्षण है, उसे समझ लेना चाहिए।'

॥ इति वचनामृतम् ॥21 ॥ ॥244 ॥

वचनामृत 22 : सखी-सखा भाव

संवत् 1884 में भाद्रपद कृष्णा चतुर्थी (9 सितम्बर, 1827) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। पाग में श्वेत पुष्पों के तुर्रे झुके हुए थे और कंठ में सफ़ेद फूलों के हार सुशोभित हो रहे थे। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी। परमहंस तबला और सरोद लेकर विष्णुपद गा रहे थे। तब श्रीजीमहाराज अन्तरसम्मुख दृष्टि करके विराजमान थे।

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'प्रेमलक्षणा भक्तियुक्त इस भजन में हरिभक्त का जैसा अंग बताया गया है, वैसा अंग तो झीणाभाई में दिखाई देता है तथा पर्वतभाई और मूलजी के भी ऐसे ही अंग थे। इसलिए, हम अन्तरसम्मुख दृष्टि करके विचार कर रहे थे कि सत्संग में अन्य भी ऐसे ही अंग से संपन्न भक्त होंगे। और, जिसको प्रेमलक्षणाभक्ति का अंग सिद्ध हो जाता है, उसकी तो पंचविषयों में आसक्ति मिट जाती है तथा उसके भीतर

आत्मनिष्ठा भी बिना सिद्ध किए ही बनी रहती है।'

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'नरसिंह मेहता तो सखीभाव से श्रीकृष्ण भगवान की आराधना करते थे और नारद आदि कितने ही भगवद्-भक्त दासभाव से भगवान की आराधना करते हैं। इन दोनों प्रकार के भक्तों में से किसकी भक्ति श्रेष्ठ है?'

प्रश्न सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'नरसिंह मेहता, गोपियाँ और नारद-सनकादि की भक्ति के दो प्रकार हैं ही नहीं, एक ही प्रकार की है। और, देह तो चाहे पुरुष का हो, चाहे स्त्री का, दोनों मायिक और नाशवान हैं; एवं भजन करनेवाली जीवात्मा न तो पुरुष है और न स्त्री ही, वह तो सत्तामात्र चैतन्य है। जब वह देहत्याग करके भगवान के धाम में जाती है तब उसे जैसी परमेश्वर की मर्ज़ी हो, वैसी ही देह मिलती है, अथवा ऐसे भक्त को भगवान की जिस प्रकार की सेवा का मौका मिले, वैसा ही आकार धारण करके वह भगवान की सेवा में रहता है। और, जिस भगवद्भक्त को भगवान में जैसी प्रीति हो, वैसी ही आसक्ति यदि धन-स्त्री आदि में हो गई, तो उसे भगवान का दृढ़ भक्त नहीं कहा जा सकता।

कोई पुरुष परमेश्वर का भक्त होकर भी भक्ति करते समय जो पाप करता है और सत्संग में भी अगर दुर्वासना रखता है, तो वह पाप उसके लिए वज्रलेप हो जाता है। कुसंग में पड़कर परस्त्री का संग करे, उससे भी विशेष पाप यही है कि सत्संग में भगवान के भक्त के ऊपर कुदृष्टि हुई। इसलिए, जिसे भगवान से दृढ़ प्रीति करनी हो, उसे किसी भी प्रकार की पाप-बुद्धि नहीं रखनी चाहिए। क्योंकि सत्संगी हरिभक्त अपनी माँ, बहन और पुत्री-जैसे हैं। वस्तुतः इस संसार में जो घोर पापी होते हैं, वे अपने गोत्र की स्त्रियों के प्रति भी कुदृष्टि रखते हैं। इसलिए, हरिभक्त के प्रति जो कुदृष्टि रखता है, वह तो घोर पापी है और उसका छुटकारा कभी भी नहीं हो सकता। अतः जिसे रसिक भक्त होना है, उसे इस प्रकार के पाप का परित्याग करने के बाद ही रसिक भक्त होना चाहिए।

और, **सभी पापों से बड़ा पाप तो वह है, जो भगवान तथा उनके भक्तों के प्रति दोषबुद्धि हो जाए तथा उस दोषबुद्धि द्वारा भगवान और भगवान के भक्त के साथ वैर-भाव उत्पन्न हो जाए।** अतः कोटि

गौहत्या की हो, मद्य–मांस का भक्षण किया हो, तथा असंख्य गुरुस्त्री का संग किया हो, फिर भी उन पापों से तो कभी छुटकारा मिल भी सकता है, किन्तु भगवान तथा भगवान के भक्त का जो द्रोही है, वह कभी भी पापमुक्त नहीं हो पाता। यदि वह पुरुष हो तो राक्षस हो जाता है, और स्त्री हो तो राक्षसी हो जाती है। फिर किसी भी जन्म में ऐसा जीव असुर मिटकर भगवान का भक्त नहीं हो पाता। और, जिसको भगवान के भक्त का द्रोह करते हुए परिपक्व द्रोहबुद्धि हो गई हो, तो किसी भी स्थिति में उसकी द्रोहबुद्धि नहीं मिटती। परन्तु यदि वह द्रोह करने की प्राथमिक स्थिति में हो और यह मानता हो कि 'भगवान और भगवान के भक्त का द्रोह करके मैंने घोर पाप किया है, अतः मैं तो अत्यंत नीच हूँ तथा भगवान एवं भगवान के भक्त बहुत बड़े हैं!' इस प्रकार जो उन दोनों का गुण ग्रहण करता है तथा अपने दोषों के प्रति सतर्क रहता है, उसने चाहे जितने भी पाप किए हों, उन घोर पापों का नाश हो जाता है।

और, भगवान अपने भक्त से द्रोह करनेवाले पर जितने क्रुद्ध और दुःखी होते हैं, उतना दुःख उन्हें किसी अन्य पाप से नहीं होता। जब वैकुंठ-लोक में जय–विजय ने सनकादिक का अपमान किया, तब भगवान तत्काल सनकादिक मुनियों के पास आए और उनसे इस प्रकार बोले कि आप–जैसे साधुओं का जिसने तिरस्कार किया वह मेरा भी शत्रु है। इसलिए आपने जय–विजय को शाप देकर बहुत अच्छा किया। यदि आप जैसे भगवदीय ब्राह्मणों का द्रोह मेरा हाथ भी करे, तो मैं उस हाथ को भी काट डालूँ, तब दूसरे की तो बात ही क्या?' यूं भगवदीय संतों के अपराधरूपी पाप के कारण जय–विजय दोनों दैत्य बन गए। इस प्रकार, जिन्होंने भी भगवान के भक्त का द्रोह किया है, वे सब उच्चपद से गिर गए हैं। यह बात शास्त्रों में प्रसिद्ध है।

इसलिए **जिसे अपने आत्मकल्याण की इच्छा है, उसे भगवान के भक्त का द्रोह नहीं करना चाहिए। यदि जाने–अनजाने में उसका कुछ भी द्रोह हो गया हो, तो उसके पैरों में पड़कर उससे प्रार्थना करके, वह जिस प्रकार प्रसन्न हो, वैसा ही आचरण करना चाहिए।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥22॥ ॥245॥

वचनामृत 23 : मानसी पूजाविधि

संवत् 1885 में आश्विन शुक्ला पूर्णिमा (22 अक्तूबर, 1828) को रात्रि के समय स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में अपने निवास स्थान पर चौक में पलंग बिछवाकर उस पर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब, श्रीजीमहाराज कृपा करके सब हरिभक्तों के प्रति बोले कि 'भगवान का जो भक्त हो, वह भगवान की नित्य मानसी पूजा करे। उस मानसी पूजा करने की विधि यह है कि ग्रीष्म काल, शीत काल तथा वर्षा काल, तीनों ही ऋतुओं में पृथक् पृथक् रीति से मानसी पूजा करनी चाहिए।

ग्रीष्मऋतु के चार मास तक तो मानसी पूजा इस प्रकार करें : सर्वप्रथम अच्छे ठंडे सुगन्धित पवित्र जल से भगवान को स्नान कराना। इसके पश्चात् उन्हें स्वच्छ श्वेत एवं घट्ट परन्तु मुलायम धोती अर्पण करना। बाद में सुन्दर आसन पर विराजमान भगवान के प्रत्येक अंग में कटोरी में घिसकर रखा हुआ सुन्दर मलयगिरि चन्दन लगाना। इस चन्दन की अर्चा सबसे पहले भगवान के ललाट पर करके ललाट का अच्छी तरह से दर्शन करना फिर करकमलों पर करके उन हाथों को निरखना, तत्पश्चात् हृदय, उदर, जंघा तथा पिंडली आदि अंगों पर चन्दन की अर्चा करना एवं इन समस्त अंगों के दर्शन एकाग्र दृष्टि से करना तथा चरणारविंदों के ऊपर और तलुओं पर सुन्दर कुमकुम लगाना और चरणों के दर्शन करना। तत्पश्चात् मोगरा, चमेली, गुलाब और चम्पा आदि सुगंधित पुष्पों के हार, कंकण, बाजूबंद और टोपी आदि आभूषण भगवान को पहनाना तथा मोगरे के पुष्प समान सफ़ेद, महीन, हलका वस्त्र उनके मस्तक पर धारण करवाना। इसके पश्चात् सफ़ेद, महीन, हलकी, सुन्दर पिछौरी उन्हें ओढ़ानी। बाद में भगवान से एक बार, दो बार और जिस प्रकार अपने हृदय में परमेश्वर के प्रति प्रेमभावना उत्पन्न हो, वैसे गले लगाकर मिलना तथा भगवान के चरणारविंदों को अपनी छाती में लगाना, और अपने मस्तक के ऊपर भी धारण करना। इस प्रकार, भगवान को गले लगाने से उनके अंगों का चन्दन अपने अंगों पर लगा हो, तथा भगवान के चरणारविंदों को अपनी छाती

में लगाने से तथा मस्तक पर धारण करने से जो कुमकुम रोली अपने शरीर पर लगे, एवं पुष्पहारों आदि जो भी चिह्न अपने अंग में लगे, उनका निरीक्षण करना और ऐसी स्वानुभूति करना कि 'भगवान का प्रसादी चन्दन, कुमकुम और हारों का स्पर्श मेरे शरीर से हुआ है।'

अब शीतकाल की पूजाविधि कहते हैं। शीतकाल के चार महीने तक पूजा का क्रम इस प्रकार रखना : सबसे पहले भगवान को गरम जल से स्नान कराना। तत्पश्चात् श्वेत धोती धारण करने के लिए अर्पित करना तथा पलंग पर मखमल की गद्दी बिछवाकर श्वेत चादर भी बिछाना। बाद में भगवान को विराजमान करना एवं उन्हें सुरवाल तथा बगलबंडी अर्पण करना। सुनहरे तारवाला कीमती तथा कुसुम्भी रंगवाला मूल्यवान साफा उनके मस्तक पर बाँधना तथा मूल्यवान दुपट्टे से कमर भी बाँधना। कन्धे पर कीमती दुपट्टा धारण कराना, हीरा-मोती, सोने और प्रवाल के विभिन्न आभूषण प्रत्येक अंग में पहनाना। मोतियों की माला अर्पण करना। तथा वस्त्र और अन्य गहने पहनाकर भगवान के इन अंगों का अच्छी तरह दर्शन करना। तथा भगवान के ललाट में कुमकुम का टीका लगाना।

अब वर्षाऋतु में मानसी पूजा विधि का विधान बताते हैं। इन चार महीनों तक इस प्रकार कल्पना कीजिए, जैसे भगवान किसी गाँव से अभी अभी पधारे हैं, और उनके सभी श्वेत वस्त्र भीग गए हैं अथवा वे परमहंसों के साथ स्नान के लिए जब नदी पर पधारे थे, और वहाँ से भीगकर अपने निवास पर आए हैं। फिर उन वस्त्रों को बदलकर उन्हें कुसुम्भी वस्त्रों को अर्पण करना और ललाट में केसर-चन्दन का लेप करना।

यदि ग्रीष्म काल हो तो ऐसी धारणा करें कि भगवान खुले चौक अथवा बगीचे में विराजमान हैं। यदि शीतकाल तथा चातुर्मास (वर्षाकाल) हो तो सोचें कि भगवान कहीं अच्छे आवास में अथवा बड़े से घर में विराजमान हैं, इस प्रकार धारणा करनी चाहिए।

भगवान को भोजन कराने के लिए कौन सी चीज़ें देनी चाहिए? तो मन ही मन उनको वही चीज़ें अर्पण करनी चाहिए जो स्वयं को पसन्द हो, ऐसे ही भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य पदार्थ भगवान के लिए अर्पण करें। तथा धूप, दीप और आरती आदि उपचार द्वारा भगवान की यथेष्ट सेवा करें।

इस प्रकार तीनों ऋतुओं में यदि पृथक्-पृथक् रीति से पूजा की जाए, तो उस भक्त को भगवान के प्रति प्रीति में वृद्धि होती है तथा उसकी जीवात्मा भी भक्ति से परिपुष्ट होती है। अतः जिन्होंने यह वार्ता सुनी है, वे इसे हृदयस्थ कर लें और नित्य इसी प्रकार भगवान की मानसी पूजा करते रहें। आज हमने जैसी बातें कही हैं, वैसी कभी भी नहीं कीं।'

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज ने एक दूसरी बात कही कि 'जब भगवान तथा उनके भक्त अपने पर प्रसन्न हों, तब उस भक्त को ऐसा मानना चाहिए कि मेरा सौभाग्य है कि मुझ पर भगवान तथा भगवान के भक्त प्रसन्न हुए हैं।' और, उपदेश के निमित्त यदि भगवान और भगवान के भक्त हमें कटु वचन कहकर हितोपदेश दें तब हमें यह सोचना चाहिए कि मेरे बहुत बड़े सौभाग्य हैं, कि मुझे भगवान एवं भगवान के भक्त ने डपटकर कहा! जिससे मेरे अवगुण नष्ट हो जाएँगे! इस प्रकार वे डाँट दे तब भी प्रसन्न ही रहना चाहिए, परन्तु दुःखी और उदास मत होना, तथा झुँझलाना भी मत; साथ ही अपनी जीवात्मा को अति पापी भी नहीं मानना। एवं भीतर में प्रसन्न रहना। यह बात भी मनन करने योग्य है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥23॥ ॥246॥

वचनामृत 24 : सोलह साधन

संवत् 1885 में आश्विन कृष्णा द्वादशी (4 नवम्बर, 1828) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष साधुवृंद तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज से मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'भगवान के भक्त अक्षरधाम में भगवान की सेवा में रहते हैं, उस सेवा की प्राप्ति के कौन-से साधन हैं?' तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'श्रद्धा, स्वधर्म, वैराग्य, समस्त प्रकार से इन्द्रिय-निग्रह, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, साधु-समागम, आत्म-निष्ठा, माहात्म्यज्ञानयुक्त भगवान की निश्चल भक्ति, सन्तोष, निर्दम्भता, दया, तप, अपनी अपेक्षा अधिक गुणवाले भगवद्भक्तों के प्रति गुरुभाव रखना, और उनकी महिमा जानना, अपने समकक्ष भगवद्भक्तों में मित्रभाव

रखना, अपने से कम उम्र के भगवद्भक्तों में शिष्यभाव रखकर उनका हित सोचना - इन सोलह साधनों के द्वारा भगवान के एकान्तिक भक्त अक्षरधाम में भगवान की सेवा को भली भाँति प्राप्त करते हैं।'

फिर शुकमुनि ने प्रश्न पूछा कि 'अपने समस्त सन्त पंचव्रतों का पालन तो करते ही रहते हैं, फिर भी उनका ऐसा कौन-सा लक्षण है, जिससे यह विश्वास हो जाए कि ये आपत्तिकाल में भी धर्म से विचलित नहीं होंगे?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसकी दृष्टि निरन्तर भगवान के छोटे-बड़े वचनों को भी प्रधान मानकर उन आज्ञाओं पर ही रहती है, तथा वचनों का उल्लंघन करना, जिसे अत्यन्त कठिन मालूम पड़ता है, एवं जो आज्ञा-पालन में न तो अतिरेक करता है, और न तो कुछ कमी रखता है, ऐसी दृढ़ता जिस भक्त के हृदय में हो, उसके सम्बंध में जान लेना चाहिए कि वह आपत्तिकाल में भी धर्म से विचलित नहीं होगा।'

पुनः श्रीजीमहाराज ने कृपा करके ऐसी बात की कि 'प्रकृति को टालना जीव के लिए अत्यन्त कठिन कार्य है। फिर भी, सत्संग में यदि स्वार्थ दिखाई पड़े, तो प्रकृति के टालने में कोई कठिनाई नहीं होती। जैसे दादाखाचर के परिवारजनों को हमें अपने घर में रखने में स्वार्थ है, तो वे ऐसी प्रकृति नहीं रखते, जो हमें पसन्द न हो। इस प्रकार स्वार्थ एक कारण है, जिससे प्रकृति टल जाती है। दूसरा उपाय है भय। हालाँकि भय से प्रकृति का उतना नाश नहीं होता, जितना होना चाहिए। क्योंकि जिससे भय लगता हो, वह व्यक्ति यदि प्रत्यक्षरूप से उपस्थित न हो, तो डरने का कोई कारण नहीं रह जाता। जैसे राजा के भय से चोर अपनी प्रकृति का परित्याग कर देता है।

और, **जिसके स्वभाव को मिटाने के लिए हमने बार-बार कठोर वचनरूपी डंक दिए हों, फिर भी वह बिना ग्लानि के सत्संग में अविचल श्रद्धावान बना रहा हो, उसके पर तो हमारा इतना स्नेह बढ़ जाता है, कि जाग्रत और स्वप्नावस्था में बिना स्मृति किए ही हमें उसके साथ निरंतर प्रीति बनी रहती है, जो किसी भी स्थिति में नहीं मिटती।**

और, जिस हरिभक्त में जैसे भी अंग होते हैं, उनमें से एक प्रधान अंग हम बतलाते हैं। जैसे - दादाखाचर को विश्वास का अंग प्रधान है,

वैसे राजबाई को त्याग का अंग; जीवुबाई को श्रद्धा का अंग; लाडूबाई को मुझे सदा प्रसन्न रखने का अंग; नित्यानंद स्वामी को मुझे प्रसन्न रखने का अंग; ब्रह्मानंद स्वामी को सत्संग की मर्यादाभंग न हो ऐसा आग्रह, वह अंग; मुक्तानंद स्वामी को मुझे सदैव प्रसन्न रखने की चेष्टा और विश्वास वह अंग; सोमला खाचर को सदैव एक समान रहन-सहन का अंग; चैतन्यानंद स्वामी को मेरी प्रसन्नता हेतु कुछ भी करने की वृत्ति रहे वह अंग; स्वयंप्रकाशानंद स्वामी को निश्चय और माहात्म्य का अंग; ठाकोर झीणाभाई को भगवान के अतिरिक्त अन्य पदार्थों से विरक्ति का अंग तथा बड़े आत्मानंद स्वामी को मेरी आज्ञा के उल्लंघन न होने की तत्परता का अंग।' इस प्रकार वरिष्ठ परमहंसों तथा भक्तों के भक्ति सम्बंधी विशिष्ट अंगों को श्रीहरि ने बतलाया।

इसके पश्चात् उन्होंने कहा कि 'यहाँ की तीन अग्रणी स्त्री-भक्त तथा गोपालानंद स्वामी, ब्रह्मानंद स्वामी, मुक्तानंद स्वामी, नित्यानंद स्वामी, शुकमुनि, सोमलाखाचर तथा दादाखाचर आदि आप सब कितनी दृढ़ता से पंचव्रतों का पालन करते हैं! तथापि देश, काल, संग एवं क्रिया इन चारों में यदि विषमता आ जाएँ, तो आज जितनी दृढ़ता और उमंग है, वैसी नहीं रहेंगी। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। और, कदाचित् विषयों में चित्त आसक्त हो भी गया, परन्तु उसमें जिसको जितना अधिक ज्ञानांश होगा, उतना ही जल्दी वह विषयों के बंधन को तोड़कर निकल जाएगा।

वह ज्ञानांश तो एक सी 'समझ' का नाम है। ज्ञानांशवाला यह समझता है कि मैं जो जीवात्मा हूँ, वह ऐसी हूँ, तथा यह देह है, वह ऐसी है तथा इस देह के जो सम्बंधी हैं, वे ऐसे हैं; और प्रकृति, पुरुष, विराट, सूत्रात्मा एवं अव्याकृत के स्वरूप को भी वह जानता है कि वे 'ऐसे' हैं, तथा भगवान की महिमा 'ऐसी' है, और भगवान का धाम इस तरह का है, इत्यादि ज्ञानांश की अत्यंत दृढ़ता की ग्रंथि यदि अन्त:करण में बद्ध गयी हो, उससे जो वैराग्य उदय होता है, वही वैराग्य सच्चा वैराग्य है। उसके बिना अन्य प्रकार का जो वैराग्य है, वह तो दिखावटी ही है; ऐसे वैराग्य में बल नहीं रहता। बल तो ज्ञानांश से उत्पन्न वैराग्य में ही रहता है। जिस प्रकार दीपक की लौ हवा लगने से बुझ जाती है किन्तु वड़वानल और मेघ में व्याप्त बिजली की अग्नि जल में रहने पर भी उससे अप्रभावित रहती है और प्रज्वलित होती रहती है,

उसी तरह बिना ज्ञानांश का वैराग्य विषयों के संपर्क के बाद टिक नहीं पाता; जबकि ज्ञानांश द्वारा उत्पन्न वैराग्य विषयों से सम्बंध रहने पर भी क्षीण नहीं पड़ता, किन्तु वड़वानल की अग्नि की तरह प्रज्वलित होकर कायम रहता है। आपके मन में इस प्रकार के ज्ञानांश की ग्रन्थि किसी भी तरह लग जाए, इसके लिए हम निरन्तर वार्ता करते रहते हैं, क्योंकि किसी एक वार्ता का भी मन में गहरा प्रभाव पड़ जाए, तो इस प्रकार की ग्रन्थि उत्पन्न हो जाए। परन्तु, जो इस प्रकार नहीं समझता, तथा 'यह मेरी जाति, यह मेरी माँ, यह मेरा बाप, ये मेरे सम्बंधी' ऐसी अहं-ममता युक्त विचारधारा रखता है, उसे तो अति प्राकृत-मतिवाला नादान ही समझना चाहिए!'

पुनः श्रीजीमहाराज कृपा करके कहने लगे कि **'मुमुक्षु को उत्कृष्ट गुणों की प्राप्ति किस प्रकार होती है? तो भगवान की कथा-वार्ता सुनने में जिसको जितनी प्रीति हो, उसको जगत से उतनी ही अनासक्ति हो जाती है, तथा काम, क्रोध, लोभादि दोषों का नाश हो जाता है। परन्तु जिसे कथा-वार्ता में आलस्य रहता हो, उसके सम्बंध में तो ऐसा अनुमान लगाना कि 'उसमें महान गुण कभी नहीं आएँगे।'** और, शास्त्रों में नव प्रकार की जो भक्ति बताई गई है, उसमें श्रवणभक्ति को प्रथम स्थान दिया गया है। इसलिए, जो श्रवणभक्ति की दृढ़ता रखेगा, उसे प्रेमलक्षणा भक्ति पर्यन्त भक्ति के समस्त अंग सिद्ध हो जाएँगे।'

पुनः उसी दिन दोपहर के समय दादाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे के आगे जब समस्त परमहंस भोजन करने के लिए बैठे थे, तब श्रीजीमहाराज नीमवृक्ष के नीचे पलंग बिछवाकर विराजमान थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने परमहंसों से कहा कि 'स्त्री हरिभक्तों का अधिकरूप से माहात्म्य मत समझना; क्योंकि उनकी महिमा के बहाने मन में उनका मनन होने लगता है, और वे स्त्री-भक्त स्वप्न में आती हैं। इसलिए महिमा जानें तो सभी का समान रूप से जानना कि 'ये सब भगवान के भक्त हैं।' परन्तु, किसी की न्यूनाधिक महिमा नहीं समझनी चाहिए। यदि किसी की अधिक महिमा समझें और किसी की कम समझें तो बड़ा भारी विघ्न हो सकता है। उसी प्रकार स्त्रियों को भी पुरुषों की महिमा को समान रूप से ही समझना चाहिए। यदि वे ऐसा नहीं समझेंगी, तो स्त्रियों को भी बड़ा विघ्न

उपस्थित हो जाता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥24॥ ॥247॥

वचनामृत 25 : श्रीहरि की प्रसन्नता, सच्चे भक्त के लक्षण

संवत् 1885 में कार्तिक शुक्ला दशमी (16 नवम्बर, 1828) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज अपनी कृपा-वचन इस प्रकार कहने लगे कि 'भगवान की भक्ति, उपासना, सेवा, श्रद्धा तथा धर्मनिष्ठा आदि जो भी कुछ साधना करें, उनमें अन्य फल की इच्छा नहीं रखनी चाहिए।' ऐसी बात सत्शास्त्रों में कही गई है, सो तो ठीक है, परन्तु ऐसी साधना करनेवालों को एक इच्छा तो अवश्य रखनी चाहिए कि इसके द्वारा मुझ पर भगवान की प्रसन्नता हो जाए।' ऐसी इच्छा रखे बिना ही यदि कोई जीव भक्ति करेगा तो वह तमोगुणी कहलाएगा। इसलिए, भगवान की भक्ति आदि गुणों के द्वारा भगवत्प्रसन्नतारूपी फल की इच्छा रखनी चाहिए। यदि कोई इसके बिना अन्य इच्छा रखता है, तो उसे चतुर्धा मुक्ति आदि फलों की प्राप्ति होती है।

और, ऐसा मत समझें कि जो अनेक उपचारों द्वारा भक्ति करता है उसी पर भगवान प्रसन्न हो जाते हैं और गरीब पर प्रसन्न नहीं होते; भगवान तो बहुत दयालु हैं, यदि कोई गरीब भक्त हो, वह भी यदि श्रद्धापूर्वक जल, पत्र, फल, फूल भगवान के लिए अर्पित करता है तो वे इतने पर ही प्रसन्न हो जाते हैं, क्योंकि भगवान की महिमा बहुत बड़ी है। जिस प्रकार कोई पुरुष किसी राजा के नाम पर एक श्लोक की रचना करके उसके समक्ष प्रस्तुत करता है, तो राजा उसे गाँव दे देता है, उसी प्रकार भगवान भी तुरन्त प्रसन्न हो जाते हैं।

और, **भगवान का वास्तविक भक्त किसे कहा जाए? तो कदाचित् अपनी देह में कोई दीर्घकालीन रोग उत्पन्न हो जाए, तथा खाने को अन्न न मिले, तथा वस्त्र न मिले, इत्यादि अनेक प्रकार से चाहे जितना दुःख भोगना पड़े अथवा सुख भी प्राप्त हो - परन्तु ऐसी**

स्थिति में जो भगवान की उपासना-भक्ति, नियम-धर्म, श्रद्धा आदि में लेशमात्र भी शिथिल नहीं पड़ता, किन्तु रत्तीभर आगे ही बढ़ जाता है, वही सच्चा हरिभक्त कहा जाता है।'

इसके बाद श्रीजीमहाराज से राजबाई ने प्रश्न पुछवाया कि 'हे महाराज! आप किस गुण के द्वारा प्रसन्न होते हैं और किस दोष के कारण अप्रसन्न हो जाते हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'वचन में अनेक दोष हैं, वे कौन-से हैं? तो यदि अपने अंतर में कुछ विशिष्ट आचरण की कोई बात हो, तो उसके सम्बंध में हमसे एकबार कह देना कि 'हे महाराज! आप कहें, तो मैं इस प्रकार का आचरण करूँ;' परन्तु, यह बात बार-बार नहीं कहनी चाहिए कि 'हे महाराज! मुझे इस प्रकार बरतना चाहिए या उस तरह, यह आप मुझे क्यों नहीं कहते?' ऐसी जो वृत्ति है, मुझे पसन्द नहीं है। मुझे अपना इष्टदेव जानते हुए भी बार-बार मेरे वचनों पर प्रतिवचन कहता है, वह भी नहीं रुचता। मैं यदि किसी से वार्तालाप कर रहा हूँ, उस समय कोई बिना बुलाए ही बीच में बोल पड़ता है, तो यह बात भी मुझे पसन्द नहीं है। और, भगवान का ध्यान करना, धर्मपालन करना तथा भक्ति में मन लगाना आदि जो जो शुभ क्रियाओं को अवश्य रूप से करना है, उसे वह भगवान पर डाल देता है, कि 'यदि भगवान ये साधना कराएँगे तो करेंगे!' वह भी मुझे पसन्द नहीं है।

तथा 'मैं ऐसा करूँगा, मैं इस तरह करूँगा,' इस प्रकार जो केवल अपने बल की ही डींग मारता है, और भगवान का बल नहीं रखता, तो उसे भी हम पसन्द नहीं करते। जिस भक्त को शब्दोच्चार करते हुए अपने अंग के बारे में स्पष्टता न हो, वह तो हमें बिल्कुल ही पसन्द नहीं है। हमें ऐसा पुरुष भी पसन्द नहीं आता, जिसे व्यावहारिक कार्य सम्पन्न करने में तो लाज और आलस्य नहीं हैं, किन्तु भगवान की वार्ता, कथा और कीर्तन करने में उसे लज्जा आती है तथा ऐसी साधना करने में वह आलस्य भी रखता है। और, अपनी वाणी में त्याग का अथवा भक्ति का अथवा किसी भी प्रकार का अहंकार रखता हो, उसको भी हम पसन्द नहीं करते। और, हमें वह भी पसन्द नहीं है कि जहाँ सभा हो रही हो, वहाँ जो सबसे पीछे आकर बैठे, किन्तु उचित स्थान में वह न बैठे। हम उस भक्त को भी पसन्द नहीं करते,

जो सभा में बैठे हुए किसी को कोहनी मारकर जगह करके स्वयं बैठ जाए।

और, अब जो हमको पसन्द है, वह बताते हैं – हमें उन स्त्री-भक्तों का बर्ताव पसन्द है, जो अपने शरीरांगों को ढाँक कर लज्जापूर्ण आचरण करती हैं और मार्ग पर चलते समय नीची दृष्टि रखकर चलती हैं, परन्तु असभ्य या स्वच्छन्द दृष्टि रखकर नहीं चलतीं। कोई ऐसा भी होता है, जो हमारा दर्शन करते हुए भी चंचल दृष्टि से दर्शन को छोड़कर वहाँ से गुजरते हुए किसी स्त्री या पुरुष को देखता रहे, अथवा कोई कुत्ता या पशु भी क्यों न वहाँ से गुजरे, उसकी ओर झाँकता रहता है अथवा किसी चीज़ की खड़खड़ाहट हो रही हो, वहाँ भी दर्शन को छोड़कर देखा करता है, परन्तु एकाग्र दृष्टि से दर्शन नहीं करता, उस पर तो इतना क्रोध आता है कि क्या करें, हम साधु हैं, अन्यथा इसका कुछ ताड़न करते! परन्तु, ऐसा तो हम नहीं कर सकते। क्योंकि किसी का ताड़न करना साधु के लिए अत्यन्त अनुचित कर्म है।

और, जो भी हम से कपट रखता हो और अपने मन की बात को उपयुक्त व्यक्ति के पास भी नहीं कहता हो, वह भी हमें पसन्द नहीं है। तथा मान, क्रोध एवं किसी से दबकर रहना अर्थात् अपने मन की बात, अपनी सोच दूसरों के दबाव में आकर यथार्थरूप में नहीं दिखा सकना – ये तीनों बातें अत्यन्त बुरी हैं। एवं हरिभक्तों में परस्पर समानभाव रहता हो, किन्तु एक-दूसरे की मर्यादा नहीं रहती, यह भी बड़ी निंदनीय बात है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥25॥ ॥248॥

वचनामृत 26 : मन-इन्द्रियों को वशवर्ती रखनेवाले संत

संवत् 1885 में कार्तिक शुक्ला एकादशी (17 नवम्बर, 1828) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने इस प्रकार वार्ता कही कि **'भगवान के समान सेवा करने योग्य सन्त कैसे होते हैं? तो जो सन्त इन्द्रियों तथा अन्तःकरण आदि मायिक गुणों की क्रियाओं को दबाकर बरतते हों,**

किन्तु उनकी क्रियाओं से स्वयं कभी नहीं दबते हों, यानी पराभूत नहीं होते हों; और भगवान सम्बंधी क्रिया को ही करते रहते हों; तथा पंचव्रतों का दृढ़तापूर्वक पालन करते हों; तथा, स्वयं को ब्रह्मरूप मानते हों और पुरुषोत्तम भगवान की उपासना करते हों। ऐसे संत को मनुष्य सदृश नहीं जानना और देव सदृश भी नहीं मानना। क्योंकि वैसी क्रिया देवता या मनुष्य में नहीं पाई जाती। और, ऐसे सन्त मनुष्य होने पर भी भगवान के समान सेवा करने योग्य हैं। इसलिए, जिसे आत्म-कल्याण की गरज़ हो, उन भक्तों को, ऐसे (उपरोक्त लक्षणवाले) सन्त की सेवा करनी चाहिए तथा स्त्रियों को ऐसे ही साधुगुणोंवाली भक्त स्त्रियों की सेवा करनी चाहिए।'

फिर श्रीजीमहाराज से आत्मानन्द स्वामी ने पूछा कि 'जो भक्त पंचव्रतों की मर्यादा में रहता है, वह चाहे सामान्य स्तर का मुमुक्षु क्यों न हो, उसे पंचविषयों का कोई बन्धन नहीं हो सकता। तथापि ऐसा कोई भक्त होगा? जो कदाचित् विपरीत देशकाल के कारण सत्संग से दूर हो चुका हो, फिर भी उसे देश-काल के योग से पंचविषयों का बन्धन न हो सके? कृपया ऐसे भक्त के लक्षण बताइए।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसकी बुद्धि में धर्मांश विशेष रूप से विद्यमान हो तथा यह आस्तिकता रही हो कि 'इस लोक में जो कोई अच्छा या बुरा कर्म करते हैं, उन्हें उन कर्मों के अच्छे या बुरे फल परलोक में जाकर भी अवश्य भोगने पड़ते हैं,' ऐसी दृढ़ मति के साथ-साथ जिसे अपनी प्रतिष्ठा की चिंता हो कि 'यदि इस लोक में मैं बुरा काम करूँगा तो लोगों के सामने क्या मुख दिखाऊँगा?' ऐसा लज्जाशील व्यक्ति चाहे जहाँ भी जाए, उसे कोई पदार्थ अथवा स्त्री आदि पंचविषय बन्धन नहीं डाल सकते। जैसे कि मायाराम भट्ट, मूलजी ब्रह्मचारी तथा निष्कुलानन्द स्वामी हैं; इनके जैसे जो होते हैं, उन्हें स्त्री-धनादि का संयोग उपस्थित हो जाए, फिर भी वे अपने मार्ग से विचलित नहीं हो सकते। ऐसे वर्तनशील मुमुक्षु को भी धर्मपालन में दो प्रकार के दोष अत्यंत विघ्नरूप होते हैं। उनमें से एक तो आत्मनिष्ठा है, और दूसरा भगवान की अत्यन्त महिमा है। आत्मनिष्ठा युक्त भक्त ऐसा मानता है कि 'मैं तो आत्मा हूँ, ब्रह्म हूँ, अतः मुझे शुभ-अशुभ

क्रिया बन्धनकारी नहीं हो सकती, मैं तो असंग हूँ।' (इस तरह वह धर्मच्युत हो जाता है।) और दूसरा भगवान की अत्यंत महिमा समझता है, और उसके सम्बंध में बातें भी बहुत करता है और कहता है कि धर्म के विरुद्ध यदि कोई आचरण हो गया तो उसकी क्या मजाल है? भगवान की बहुत बड़ी महिमा है।' ऐसे दोनों प्रकार के भक्तों की धर्मनिष्ठा कभी दृढ़ नहीं हो सकती। इन दोनों प्रकार के भक्तों के ये कुविचार धर्म के पालन में बड़े ही विघ्नरूप होते हैं।

इसलिए, ऐसा समझना उचित होगा कि 'आत्मनिष्ठा हो तथा भगवान के माहात्म्य का अच्छी तरह ज्ञान हो, और निष्काम, निर्लोभ, निःस्वाद, निःस्नेह तथा निर्मान आदि पंचवर्तमानरूप धर्म का पालन दृढ़तापूर्वक एवं भगवान की प्रसन्नता के लिए किया करें, तथा ऐसा समझें कि 'यदि मैं इन धर्मों का पालन करूँगा तो मुझ पर भगवान अत्यन्त प्रसन्न होंगे परन्तु यदि धर्मपालन में कुछ शिथिलता होगी, तो भगवान मुझ पर बहुत अप्रसन्न हो जाएँगे।' इस प्रकार जिसके अन्तःकरण में पूर्ण दृढ़ता हो, तो वह भक्त कभी भी धर्मभ्रष्ट नहीं होगा। तथा उसे कोई भी मायिक पदार्थ बंधन में नहीं डाल सकेगा। यदि वह ऐसा नहीं समझता होगा, और वह चाहे कैसा भी ज्ञानी अथवा भक्तिमान है, परन्तु उसको भी निश्चित रूप से धर्मपालन में भी कोई न कोई विघ्न उपस्थित हो जाता है, तथा मायिक पदार्थ भी उसे बंधन में डाल देता है। यह सिद्धांत-वार्ता है।'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने पुनः कृपा करके उपदेश दिया कि 'मुझे अहंकार पसन्द नहीं है। भले ही वह अहंकार भक्ति, त्याग, वैराग्य, ब्रह्मत्व, ज्ञान तथा पंचव्रतों के पालन की भावना का ही क्यों न हो, हमें ऐसा अहंकार पसन्द नहीं है। और दम्भ पसन्द नहीं है। वह दम्भ क्या है? तो अपने हृदय में भगवान के स्वरूप का निश्चय, भक्ति और धर्मनिष्ठा कम हों, किन्तु दूसरों के आगे अपनी महत्ता बढ़ाने की दृष्टि से इन सबको बढ़ाचढ़ा कर दिखाया करे, वही दम्भ है, जो मुझे तनिक भी पसन्द नहीं है।

और, हमें यह बात भी पसन्द नहीं है कि स्वयं को और भगवान को अभेदरूप में समझें। यह बात भी रुचिकर नहीं लगती, कि कोई भी मनुष्य ने अपने मन ही मन किसी नियम पालने की प्रतिज्ञा रखी हो, फिर वह नियम

घड़ीभर में पालन करने लगे, और कुछ समय में उसे छोड़ दे - इस प्रकार ऐसा शिथिल आचरण तो हमारे लिए असह्य है।

हमें यह बात भी पसन्द नहीं है कि भगवान की महिमा को तो बहुत अच्छी तरह समझता हो तथा स्वयं को उनके आगे अति तुच्छ एवं छोटा समझता हो, परन्तु देह से भिन्न जो आत्मा है, वही अपना स्वरूप है, ऐसा वह नहीं समझता हो।

और, अब हम उन बातों को बताते हैं, जो हमें रुचिकर लगती हैं। जो **भगवान की महिमा को तो यथार्थरूप से समझता हो, और स्वयं की आत्मा को देह से पृथक् ब्रह्मरूप समझे, और धर्म में दृढ़ निष्ठा रखते हुए भगवान की अविचल भक्ति करता हो; ऐसी स्थिति को प्राप्त करके भी वह ऐसा ही समझता हो कि सत्संग में कुछ भी न समझनेवाला, परंतु जिसे भगवान का अविचल निश्चय हो ऐसा भक्त वास्तव में महान है। इस प्रकार समझते हुए, वह उस भक्त के आगे स्वयं को अति तुच्छ जानता हो; तथा उपदेश वचन कहते हुए वह अपने ज्ञान की महत्ता को किसी के भी आगे बिल्कुल प्रकट न करता हो, ऐसा भक्त तो हमें बहुत अधिक पसन्द है।'** इस प्रकार वार्ता करने के पश्चात् श्रीजीमहाराज अपने निवासस्थान में पधारे।

॥ इति वचनामृतम् ॥26॥ ॥249॥

वचनामृत 27 : उचित-अनुचित गाँठ बाँधने से सुख-दुःखानुभूति

संवत् 1885 में कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा (21 नवम्बर, 1828) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने यह वार्ता कही कि 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँचों विषयों से सम्बंधित सुख एक दिव्यमूर्ति भगवान पुरुषोत्तम के सुखमय स्वरूप में से ही प्राप्त हो जाते हैं। अतः भगवान की मूर्ति के दर्शन करते समय 'रूप' का सुख तो प्राप्त होता ही है, परन्तु साथ

ही साथ स्पर्श आदि अन्य चार विषयों का सुख भी प्राप्त होता है; और वह भी एक ही समय में प्राप्त होता है! जबकि अन्य मायिक पाँच विषयों में एक विषय का योग होने पर केवल उसी का सुख प्राप्त होता है, परन्तु अन्य विषयों का सुख नहीं प्राप्त होता। इस प्रकार मायिक पंचविषयों में एक-एक विषय में एक एक विषय का सुख रहता है, वह भी तुच्छ तथा नाशवंत है, और अंततोगत्वा अपार दुःख का कारण ही बन जाता है। और भगवान में तो समस्त विषयों का सुख एककालावच्छिन्न प्राप्त हो जाता है और वह सुख भी महाअलौकिकहै, तथा अखंड, अविनाशी है। अतएव, मुमुक्षु के लिए यही उचित है कि उसे मायिक विषयों से सर्वथा वैराग्य धारण करके भगवान की अलौकिक सुखमय दिव्य मूर्ति में ही सभी तरह से जुड़ जाना चाहिए।'

श्रीजीमहाराज ने पुनः कहा कि 'जिस हरिभक्त को भगवान की भक्ति करने की गरज़ हो, तथा जिसे सन्त-समागम करने की गरज़ हो, वह अपना चाहे जैसा विपरीत स्वभाव हो, उसे टालकर सन्त की आज्ञा तथा उनकी मर्ज़ी के अनुसार आचरण करता है। तथा उसका चाहे जैसा चैतन्य से ओतप्रोत हो चुका कोई बुरा स्वभाव हो परंतु सत्संग की गरज़ रखनेवाला उस स्वभाव को मिटा देता है।' इस पर श्रीजीमहाराज ने अपनी वार्ता कही कि पहले हमारा त्याग का स्वभाव था और हमें श्रीरामानन्द स्वामी के दर्शन की गरज़ थी, इसलिए, हम मुक्तानन्द स्वामी की आज्ञा के अनुसार ही रहे तथा हमने कभी भी अपनी मनमानी नहीं की।

अब दूसरी बात यह है कि हरिभक्त को किसी तरह की ग्रन्थि बाँधनी हो तो उसे निष्कामादिक व्रतपालन की ग्रन्थि बाँधनी चाहिए, परन्तु कोई अनुचित और तुच्छ प्रकार की ग्रन्थि न बांधे कि 'मैं यदि यहीं पर आसन बिछाऊँगा, तभी निद्रा आएगी, किन्तु अन्यत्र नींद नहीं आएगी!' ऐसी तुच्छ स्वभावग्रन्थि को व्रतपालन की ग्रन्थि से बिल्कुल भिन्न समझना। **व्रतपालन की दृढ़ता की ग्रन्थि तो अपने प्राणतुल्य है, और ऐसी दृढ़ता में अत्यंत लाभ भी है। इस प्रकार माहात्म्य समझते हुए उसकी ग्रन्थि बाँध लेनी चाहिए। और, अन्य जो विपरीत स्वभावों की ग्रन्थि हों उन ग्रन्थियों को तुच्छ समझकर यदि सन्त उसे छुड़वायें तो उसे छोड़ देना चाहिए, परन्तु, इन पंचव्रतों की ग्रन्थि को कभी मत छोड़ना।**

यदि उन दोनों ग्रन्थियों को कोई एक समान ही मान लेगा तो वह उसकी मूर्खता है। जैसे बालक अपनी मुट्ठी में बादाम पकड़े हुए हो और कोई उसे छुड़वायें तो वह उसे नहीं छोड़ता है। इसी प्रकार मुट्ठी में रुपया हो या सोने की मुहर हो, तो किसी के छुड़वाने पर भी वह नहीं छोड़ता। उसका अर्थ यह हुआ कि उस बालक ने बादाम, रुपया तथा सोने की मुहर आदि की महिमा समानरूप से समझी है। इसका कारण यह है कि बादाम और स्वर्ण-मुद्रा में बालक की मूढ़ता है। परन्तु यदि कोई चोर आकर बादाम को देखे, और कहे कि 'इसे छोड़ दे, नहीं तो मैं तलवार से तेरा सिर काट डालूँगा।' तब यदि चतुर मनुष्य होगा तो वह उसे दे देगा, परन्तु मूर्ख उसे नहीं छोड़ेगा।

इस प्रकार इन दो प्रकार की ग्रन्थियों में न्यून-अधिकपन समझना चाहिए। यदि कोई ऐसा न समझे और इन दोनों बातों को सामान्य माने, तो उसका स्वभाव दुराग्रही और अभिमानी समझना। यदि कोई ऐसा दुराग्रह आदि के कारण व्रतों का पालन करता हो और यदि उन्हें मरणपर्यन्त निभाया, तब तो ठीक है, परन्तु हमें ऐसे भक्त का विश्वास पूरी तरह नहीं जमता। क्योंकि, यदि उसे किसी प्रकार के कठोर वचनों की चोट लग जाए अथवा उसके अहंकार का खंडन हो जाए तो वह सत्संग में भी नहीं रहेगा! यदि कोई अभिमानवश व्रतों का पालन या भक्ति करता हो, तो वह राजर्षि है। परन्तु यदि कोई भगवान की प्रसन्नता के लिए भगवद्भक्ति करता हो और पंच व्रतों का पालन करता हो, वह तो ब्रह्मर्षि है तथा वही साधु कहा जाता है। इस प्रकार इन दोनों में फल का भेद भी है।'

फिर श्रीजीमहाराज ने आगे कहा कि 'मान, ईर्ष्या तथा क्रोध, ये तीनों दोष काम की भी अपेक्षा अत्यंत बुरे हैं, क्योंकि कामी पर तो सन्त दया भी कर लेते हैं, परन्तु मानी के प्रति वे दयाभाव नहीं रखते। मान से ईर्ष्या तथा क्रोध उत्पन्न होता है। इसलिए, मान एक बड़ा दोष है। मान रखने के कारण सत्संग से जैसा पतन हो जाता है, वैसा काम के कारण पतन नहीं होता। क्योंकि, इस सत्संग में अनेक गृहस्थ हरिभक्त रहते ही हैं। इसलिए मानी, ईर्ष्यालु और क्रोधी के प्रति हमारी अत्यंत उपेक्षा रहती है, और हमारे जो-जो वचन लिखे हुए होंगे उनको पढ़कर देखना तो हमारी ऐसी ही रुचि दिखाई देगी। यदि कोई इस पर सोचकर गहराई में जाएगा, तो मालूम हो जाएगा।

अतः भगवान की महिमा को समझकर मान को मिटा देना चाहिए।'

श्रीजीमहाराज ने एक दूसरी बात कही कि भगवान का निश्चय किसे कहते हैं ? तो जैसे बाल्यावस्था से माँ-बाप, वर्ण, आश्रम, जातपाँत, पशु, मनुष्य, जल, अग्नि, पृथ्वी, वायु तथा आकाश इत्यादि जिन-जिन पदार्थों का निश्चय हुआ है, वह शास्त्रों के द्वारा ही हुआ है। यदि किसी ने शास्त्र न भी सुना हो, तो यह समझ लेना कि लोक में व्यवहृत शब्दों का प्रवर्तन शास्त्रों के द्वारा ही हुआ है तथा उनके अनुसार ही उनके सम्बंध में निश्चय किया गया है। उसी प्रकार **शास्त्रों में वर्णित निष्काम, निर्लोभ, निर्मान, निःस्वाद और निःस्नेह आदि सन्त के लक्षण आपको जहाँ भी देखने को मिले, वहाँ समझना कि ऐसे लक्षणवाले सन्त का भगवान के साथ साक्षात् सम्बंध होता है। अतः ऐसे सन्त के वचनों द्वारा ही भगवान का निश्चय दृढ़ करना तथा उनके वचनों में दृढ़ विश्वास रखना, वही निश्चय कहा जाता है।'**

इसके पश्चात् वड़ोदरा-निवासी नाथभक्त ने श्रीजीमहाराज से पूछा कि 'जिसे भगवान के स्वरूप का दृढ़ निश्चय हो, ऐसे भगवद्भक्त के सम्बंधी-जनों का कल्याण उस भक्त के सम्बंध द्वारा होता है कि नहीं ?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'यदि उसके सम्बंधियों तथा पितरों को उस भक्त के प्रति स्नेह हो, तो उनका कल्याण होता है। यदि स्नेह न हो तो कल्याण नहीं हो सकता। यदि कोई उस भक्त का सम्बंधीजन भी न हो, फिर भी उस भक्त के प्रति स्नेह रखता हो, तो उसका भी कल्याण हो जाता है। क्योंकि, मृत्यु समय पर उसे यदि उस भक्त का स्मरण हो जाए तो केवल स्मृतिमात्र से ही उसका कल्याण हो जाता है। क्योंकि, उस भक्त की वृत्ति भगवान में निरंतर ही लगी रहती है।'

फिर श्रीजीमहाराज ने आगे कहा कि 'हम आत्मा के स्वरूप तथा भगवान के स्वरूप की वार्ता करते हैं, किन्तु वार्ता द्वारा उनका यथार्थ सुख नहीं मिल पाता। उनके यथार्थ सुख की अनुभूति तो समाधि के द्वारा ही होती है और देह छोड़ने के बाद ही उसका अनुभव होता है। परन्तु, केवल वार्ता द्वारा ही उसकी प्रतीति नहीं होती; जैसे नेत्रों द्वारा रूप का उपभोग होता है, फिर उस सुख का वर्णन किया करता है कि बहुत अच्छा रूप दिखाई दिया। तो उस वर्णन से मुख को नेत्रों जैसा सुख तो प्राप्त नहीं होता!

तथा श्रवणेन्द्रिय द्वारा शब्दों को सुनना, नासिका द्वारा सुगन्ध पाना, त्वचा से स्पर्श करना, और जिह्वा द्वारा रसास्वादन करना - आदि जो अलग-अलग सुख प्राप्त होता है, उसका वचनों द्वारा वर्णन किया जाए कि 'बहुत अच्छा सुगन्ध था, बहुत अच्छा रस था, बहुत अच्छा स्पर्श था, तथा शब्द भी बहुत अच्छा था;' यह प्रशंसा यद्यपि बिल्कुल यथार्थ है, परन्तु जिस प्रकार जिन इन्द्रियों द्वारा विषयसुख का अनुभव होता है, वह वचनों द्वारा थोड़े ही मिलेगा? वैसे ही समाधि द्वारा तथा देह छोड़ने के बाद जिस प्रकार भगवान के सुख और आनंद की अनुभूति होती है तथा आत्मा सम्बंधी सुख व आनंद का जो अनुभव होता है, वैसा अनुभव केवल उनकी बातें करने से नहीं होता। वह तो तब ही सम्भव होता है, जब आत्मा एवं परमात्मा - इन दोनों की वार्ता सुनकर उस पर मनन और निदिध्यासन किया जाए। फिर उनका साक्षात्कार होने पर इन दोनों (आत्मा एवं परमात्मा) का अनुभव उसी प्रकार का होता है, जैसा समाधि होने पर प्राप्त होता है। अतएव, इन दोनों की वार्ता सुनकर उनका मनन और निदिध्यासन करते रहना।'

॥ इति वचनामृतम् ॥27॥ ॥250॥

वचनामृत 28 : भगवन्मार्ग से पतन होने के दो प्रकार

संवत् 1885 में कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा (22 नवम्बर, 1828) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्री गोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'भगवान की भक्ति से जीव का दो प्रकार से पतन होता है। इनमें से एक तो यह है कि शुष्क वेदान्त के ग्रन्थों को सुनकर कोई पुरुष अन्य आकारों को असत्य ठहराता है और भगवान के श्रीकृष्ण आदि आकारों को भी मिथ्या सिद्ध कर डालता है, ऐसे शुष्क वेदान्तियों को अत्यन्त अज्ञानी समझा जाना चाहिए। दूसरा प्रकार यह है कि कोई यह समझता है कि यदि भगवान की उपासना करेंगे तो गोलोक एवं वैकुंठलोक में स्त्रीभोग और खानपान आदि पंचविषयों का सुख प्राप्त होगा। उस सुख की आसक्ति के कारण वह भगवान को भी भूल जाता है और

कुबुद्धिवाला बनकर ऐसा मानने लगता है कि 'ऐसा सुख न हो, तो उन धामों में भगवान भी राधिका, लक्ष्मी आदि स्त्रियों के साथ क्यों रमण करते हैं! इसलिए यह सुख भी सच्चा ही है।' परन्तु, वह भगवान को पूर्णकाम तथा आत्माराम नहीं समझता है। वस्तुतः भगवान की ऐसी क्रियाएँ तो भगवद्-भक्तों के सुख के लिए हैं। इसलिए, भगवान की भक्ति ज्ञान-वैराग्य सहित ही करनी चाहिए।

और, जिसने भगवान के स्वरूप को ऐसा समझा हो कि 'सर्वसुखमय मूर्ति तो भगवान ही हैं तथा अन्यत्र पंचविषयों में जो सुख है वह तो भगवान की भक्ति से प्राप्त होनेवाले सुख की अपेक्षा लेशमात्र ही है।' जिसने माहात्म्यसहित भगवान को इस प्रकार समझा हो, वह किसी भी पदार्थ के बन्धन में नहीं बंध सकता। मोक्षधर्म में बताया गया है कि 'भगवान के धाम के आनन्द के आगे अन्य लोकों के सुख नरक-जैसे हैं।' अतः भगवान के भक्त को इसी प्रकार समझना। ऐसी समझ के बिना वह उपर्युक्त दोनों प्रकार की दुर्बुद्धि के कारण भगवद्भक्ति से भ्रष्ट हो जाता है!'

इसके पश्चात् सुराखाचर ने श्रीजीमहाराज से पूछा कि 'भगवान को और सन्त को यथार्थरूप से पहचान लिया हो, फिर भी किसी भक्त का अन्तर सत्संग से पतनोन्मुख हो जाता है, उसका क्या कारण है?'

तब श्रीजीमहाराज ने उत्तर दिया कि 'जबसे उसने भगवान के स्वरूप का निश्चय किया था, तभी से उसमें अपूर्णता रह गई थी। वह कौन-सी थी? तो किसी को स्वाद के कारण अच्छे-अच्छे खाद्यपदार्थों की इच्छा रहती हो, तब यदि भगवान और सन्त उसके स्वाद की आसक्ति का खंडन करें, तब उसको झटका-सा लग जाता है। तथा यदि उसके काम वासना के संकल्पों का खंडन किया जाए और लोभ-त्याग के लिए आदेश दिया जाए कि 'तू अपना धन-माल और खेतीबाड़ी का त्याग कर दे!' तो वह उस वचन का पालन नहीं करता, बल्कि सत्संग से उसका मन उचट जाता है। यदि उसके अहंकार को मिटाने के लिए सन्त तथा भगवान उसकी भर्त्सना करें अथवा अपमान करें तो भी वह उद्विग्न हो जाता है। इस प्रकार उसके जो भी अवगुण होते हैं, उनकी प्रधानता के कारण वह निश्चय होने के बावजूद सत्संग से पतनोन्मुख हो जाता है। परन्तु जिसने भगवान के स्वरूप का निश्चय किया

था, उसी समय इन अवगुणों को मिटाकर किया होता, तो उसका पतन नहीं हो सकता था। ये अवगुण अब भी जिस-जिस में होंगे और यदि वह विचारपूर्वक आत्मनिरीक्षण करेगा, तो उसको पता चल जाएगा कि 'इस प्रकार के दोष को हटाने में मेरी कमज़ोरी है। यदि भगवान या सन्त मुझसे उसी दोष को मिटाने का आदेश देंगे, तो मैं सत्संग से विमुख हो जाऊँगा।' इस प्रकार वह यथार्थ समझ लेगा।'

फिर श्रीजीमहाराज ने ब्रह्मानन्द स्वामी, शुकमुनि तथा सुराखाचर से पूछा कि आपमें यदि कोई ऐसा अवगुण हो, जिसके कारण सत्संग से आप पिछड़ जाए, तो वह कौन-सा अवगुण है?' तब इन तीनों ने कहा, 'हे महाराज! एक मान (अहंकार)रूपी दोष है, जिसके कारण कदाचित् कोई समकक्ष सन्त हमारा अपमान कर डाले, तब कुछ उद्वेग सा आ जाता है।'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'हम पूछते हैं कि **'द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया'**[12] इस प्रकार माहात्म्यपूर्वक भगवान को समझा हो, तो भगवान के ऐसे सन्त के प्रति मन में मान, ईर्ष्या तथा क्रोध उत्पन्न क्यों होते? यदि ऐसी कुत्सित भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, तो उनकी यथार्थ महिमा समझने में कमी है। क्योंकि गवर्नव्र साहब के विषय में जान लिया है कि ये समग्र प्रान्त के शासक हैं, और बलवान हैं। ऐसे में यदि उनका एक गरीब-सा सन्देशवाहक भी आ जाए, तो उसका हुकुम बड़े-बड़े राजा को भी मानना पड़ता है।[13] वह जैसा कहे, वैसा ही उसे मानना होगा। क्योंकि उस राजा ने समझ रखा है कि यह तो गवर्नर साहब का सन्देशवाहक है।' अतः उसके आगे मान नहीं रहने पाता; क्योंकि जो अपने से अधिक बलवान हो, उसके आगे मान रहता ही नहीं! उसी प्रकार से जिसने भगवान को समग्र ऐश्वर्य तथा समृद्धि का स्वामी समझा हो, उसे सन्त के समक्ष मान कैसे रहेगा?' तब

12. **अर्थ :** 'ब्रह्मादि देव भी आपकी महिमा का पार नहीं पाते, क्योंकि आपकी महिमा अपार है। किंबहुना, आपने भी अपनी महिमा का अन्त नहीं पाया।' (श्रीमद्भागवतम् : 10/87/41)

13. यहाँ अग्रेज गवर्नर का आदेश तत्कालिन भारत देश के विभिन्न राजा, जो कि बड़े-बड़े राज्यों के सत्ताधीश थे, वे भी मानते थे, उस परिस्थिति का जिक्र करके दृष्टांत दिया गया है।

ब्रह्मानन्द स्वामी ने कहा कि 'हे महाराज! आप ठीक कहते हैं कि जिसने इस प्रकार के माहात्म्यसहित भगवान को समझा है, तो सन्त के प्रति मान, ईर्ष्या और क्रोध कभी रहते ही नहीं।'

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'देखिए, उद्धवजी कितने बड़े ज्ञानी और चतुर थे, फिर भी वे भगवान की महिमा को जानते थे, तो उन्होंने भगवान से स्नेह रखनेवाली व्रजवासिनी गोपियों की चरणरज को प्राप्त करने के लिए वनलता का जन्म माँगा! अतः कहा भी गया है कि :

'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥'[14]

इसी प्रकार ब्रह्मा ने भी कहा है :

'अहो भाग्यमहो भाग्यं, नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥'[15]

इस प्रकार ब्रह्मा भी भगवान का माहात्म्य जानते थे। अतः **जिसने भगवान तथा सन्त की ऐसी महत्ता को समझ लिया, तो उसके भीतर मान, ईर्ष्या और क्रोध रहते ही नहीं, बल्कि वह तो भगवान के समक्ष दासानुदास होकर ही रहें तथा (भगवान अथवा संत उसका) चाहे कितना ही अपमान क्यों न करें, वह कभी उनका संग छोड़कर दूर जाने की इच्छा ही नहीं करता!** तथा उस भक्त के मन में ऐसी भावना भी नहीं उठती कि 'अब कहाँ तक सहन करें? अब तो हम घर पर बैठे हुए ही

---

14. **अर्थ :** 'अहो, गोपियाँ तो किसी के भी द्वारा त्याग न होनेवाली सम्बंधियों की तथा आर्यधर्म की मर्यादाओं का त्याग करके उन भगवान की उपासना-भक्ति करने लगीं, जिनको वेद की श्रुतियाँ भी खोज रही हैं! ऐसी गोपियों की चरणरज के स्पर्श से पुनित हुई लता, औषधि आदि के मध्य मैं भी कोई तृणगुच्छ बन जाऊँ, कि जिससे गोपियों की चरणरज के स्पर्श का मुझे भी लाभ प्राप्त हो...।' (उद्धवजी की प्रार्थना, श्रीमद्भागवतम् : 10/47/61)

15. **अर्थ :** 'जो परमानन्द रूप हैं ऐसे सनातन, पूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्ण जिनके मित्र हैं, ऐसे नंद-गोप आदि व्रजवासियों के अहोभाग्य हैं! जिनके भाग्य का वर्णन ही असंभव है।' (श्रीमद्भागवतम् : 10/14/32)

भजन किया करेंगे।' यदि इस प्रकार माहात्म्य समझ लिया जाए, तो मान मिट सकता है।'

तत्पश्चात् श्रीजीमहाराज ने पुनः कहा कि 'यदि भगवान के किसी भक्त को किसी कर्मयोग के कारण सूली पर चढ़ा दिया जाए और उस समय यदि हम भी उसके पास खड़े हों, तो भी उस भक्त के हृदय में ऐसा संकल्प नहीं उठता कि 'यह भगवान यदि मुझे सूली के कष्ट से छुड़वा दें तो बहुत अच्छा।' इस प्रकार जिसे अपने दैहिक सुख का संकल्प तक नहीं उठता तथा जो कष्ट पड़े, उसे सहन कर लेता हो, ऐसे निष्काम भक्त पर भगवान की बड़ी प्रसन्नता होती है।'

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'भगवान सम्बंधी सुख किसे प्राप्त होता है, वह बात कहते हैं कि जिस प्रकार जल मछली के लिए जीवनरूप होता है, और जब तक जल का योग रहता है तब तक मछली पानी में चलती-फिरती और क्रीड़ा करती रहती है, किन्तु जल का वियोग होते ही उसकी चंचलता समाप्त हो जाती है, और वह मर जाती है। उसी तरह जिस पुरुष ने पंचविषयों को ही जीवन माना है, और उन विषयों में ही सुख माना है, वह तो विषयों के वियोग से ही मृतःप्राय हो जाता है। अतः उसे भगवान की प्राप्ति कभी भी नहीं हो सकती। परन्तु, **पंचविषयों से जिसका जीवनयापन मिट गया है, ऐसा भक्त ही भगवान सम्बंधी सुख की अनुभूति करता है, वही भक्त भगवान के सुख की अनुभूति करता है, और उस सुख का उपभोग भी करता है; तथा ऐसे भक्त को ही भगवान के स्वरूपजन्य आनन्द की प्राप्ति होती है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥28॥ ॥251॥

वचनामृत 29 : बीस वर्षीय दो हरिभक्त

संवत् 1885 में पौष शुक्ला द्वितीया (7 जनवरी, 1829) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में हवेली के आगे चबूतरे पर पलंग बिछवाकर रात्रि के समय विराजमान थे। उन्होंने सर्व श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष साधुगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने शुकमुनि से पूछा कि 'दो सत्संगी हैं, जिनकी आयु बीस-बीस वर्ष की है। इन दोनों सत्संगियों में निश्चय, स्नेह-भक्ति, वैराग्य और धर्म समानरूप से विद्यमान हैं। इनमें से एक सत्संगी को प्रारब्धयोग से विवाह द्वारा स्त्री मिली, परन्तु दूसरे सत्संगी को स्त्री न मिल सकी, अतः वह सांख्ययोगी तो बन गया। उसे विवाह करने की इच्छा तो थी, किन्तु स्त्री नहीं मिली। इन दोनों में तीव्र वैराग्य पहले से ही नहीं था। अतः दोनों की विषयभोग में तीक्ष्ण वृत्ति बनी रही। अब यह बताइए कि उन दोनों के हृदय से विषयासक्ति की तीक्ष्ण वृत्ति गृहस्थाश्रम में रहा, उसकी कम होगी या संन्यासी बना उसकी कम होगी? वेदों में तो ऐसा कहा गया है[16] कि जिसे तीव्र वैराग्य हो उसे ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके ही संन्यास ग्रहण करना चाहिए परन्तु जिसे मन्द वैराग्य हो, उसे विषय भोग की तीक्ष्णता को मिटाने के लिए गृहस्थाश्रम को ही स्वीकार कर लेना चाहिए। फिर वानप्रस्थाश्रम में रहना, तथा अन्त में संन्यासग्रहण करना। अतएव, विचार करके उत्तर दीजिए।'

तब शुकमुनि इस प्रश्न का उत्तर देने लगे, किन्तु यथेष्ट उत्तर न दे सके। फिर श्रीजीमहाराज ने इस प्रकार उत्तर दिया कि 'इसी स्थिति में वह गृहस्थाश्रमी अच्छा है, किन्तु वह सांख्ययोगी ही बुरा है। क्योंकि उसे तीव्र वैराग्य नहीं है, अतः उसने विषयों को तुच्छ और असत्य नहीं माना, इतना ही नहीं, उसके हृदय में आत्मनिष्ठा की दृढ़ता भी नहीं है। इस कारण सत्संग से बाहर जाने पर वह विषयों के योग से उनके बन्धन में फँस जाता है। यदि विषयों का योग न हो, तो पुनः सत्संग का लालच रखकर सत्संग में लौट आता है। जबकि गृहस्थ को यदि छः मास के बाद भी सन्त के दर्शन हों तो भी उसकी दृढ़ता बनी रहती है। अतएव, मन्द वैराग्यवाले के लिए त्याग करना ठीक नहीं है। त्याग तो तीव्र वैराग्यवाला ही करे, वही उचित है। यदि मन्द वैराग्यवाला त्याग करता है तो उसका त्याग जीवनपर्यन्त टिक नहीं सकता। वर्ष, दो वर्ष अथवा दस वर्षों में उसके त्याग में अवश्य ही विघ्न पड़ जाता है।'

यह सुनकर शुकमुनि ने आशंका प्रकट की कि 'हे महाराज! यह मन्द वैराग्यवाला त्यागी यदि सन्त द्वारा भगवान के माहात्म्य की बात सुने और उस

16. जाबाल उपनिषद् : 4

पर विचार करता रहे, तो क्या उसे तीव्र वैराग्य उत्पन्न नहीं होगा? पहले से ही तीव्र वैराग्य तो किसी को प्रारब्ध के योग से होगा, बहुधा, प्रत्यक्षरूप से तो यही दिखाई पड़ता है कि इसे वैराग्य नहीं था, किन्तु बाद में हुआ। इसे किस प्रकार समझा जाए?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसका उत्तर तो यह है कि अपने विचार से तथा अन्य किसी भी प्रकार से उसे तीव्र वैराग्य उत्पन्न नहीं होता है। परन्तु यदि धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति - इन चारों गुणों से सम्पन्न महान साधु के साथ उसे ऐसा अतिशय ही स्नेह हो जाए, जैसा भगवान से स्नेह होता है, तब देखे, सुने या बोले, आदि जो कुछ क्रिया करे, सब कुछ ऐसे बड़े सन्त की मर्ज़ी के अनुसार ही करे कि जिनके साथ उसे स्नेह है; परन्तु बिना उनकी इच्छा के वह ऐसी कोई क्रिया न करे। तथा वह कदाचित् सन्त की मर्ज़ी से विरुद्ध आचरण करता है तो उसके मन में निरन्तर भय रहा करे कि 'यदि मैं इनकी मर्ज़ी के अनुसार आचरण नहीं करूँगा, तो वे मेरे साथ स्नेह नहीं रखेंगे।' इसलिए वह उन सन्त की मर्ज़ी के अनुसार आचरण किया करता है। अतः सन्त के साथ यदि अत्यंत स्नेह हो गया तो वैराग्य न होने पर भी उसका त्याग पार लग जाता है। देखिए न, हमारे सत्संग में भक्त स्त्रियाँ, पुरुष तथा परमहंस, सभी का हमसे अपार स्नेह है, इसी कारण जो दो-तीन अग्रगण्य स्त्रियाँ हैं, उनके समान ही अन्य सभी स्त्रियाँ पंचव्रतों का पालन करती हैं। वे सब मन में समझती हैं कि 'यदि हमने सावधान होकर व्रतों का पालन नहीं किया, तो महाराज का स्नेह हम पर नहीं रहेगा और वे हमसे अप्रसन्न हो जाएँगे।' उसी प्रकार परमहंसों, अन्य सत्संगियों, ब्रह्मचारियों तथा पार्षदों में भी वैसी ही भावना है। तथा देश-देशान्तर के हरिभक्त स्त्री-पुरुष दूर-दराज के स्थानों में रहते हैं, परन्तु सतर्कतापूर्वक व्रतों का पालन करते हैं और यह समझते हैं कि 'हम लोग यदि अच्छी तरह आचरण नहीं करेंगे, तो महाराज अप्रसन्न हो जाएँगे।' इसलिए, हमारे स्नेहबन्धन में बंधे हुए ये सब लोग दृढ़ता के साथ धर्माचरण करते रहते हैं; भले ही किसी को वैराग्य थोड़ा होगा और किसी को अधिक, इसका तो कोई मेल नहीं है।

और, पहले जब हम पंचाला में बीमार पड़े थे, उस समय यदि हमारा देहावसान हो गया होता, तो आज आप सबकी (परिपक्व, प्रफुल्लित)

वृत्तियाँ हैं, वैसी नहीं रहतीं। ऐसे समय तो जो तीव्र वैराग्यवान है, वही धर्म-रत रह सकता है तथा जिसने अपने जीव को सत्संग में स्नेहपूर्वक जोड़ रखा हो, तथा हमारे साथ स्नेहपूर्वक जुड़ा हो, वह भी धर्मरत रहता है, और भगवान को अन्तर्यामी जानकर अपने-अपने नियमों के अनुसार आचरण करते हैं, वही धर्मनिष्ठ रह पाते हैं। इनके सिवा, दूसरों का तो कुछ ठिकाना नहीं रहता। इसलिए, हमने जो प्रश्न पूछा था, उसका यही उत्तर है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥29॥ ॥252॥

वचनामृत 30 : पाँच बातों का नित्य स्मरण

संवत् 1885 में पौष पूर्णिमा (19 जनवरी, 1829) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनिजन तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'हमें दो वार्ताएँ रुचिकर लगती हैं और मन भी उन्हीं में लगता है। इनमें से एक तो यह है कि जिसे ऐसा लगता हो कि चैतन्य के तेजपुंज (अक्षरधाम) के मध्य श्रीपुरुषोत्तम भगवान की मूर्ति सदा विराजमान रहती है, ऐसा दृढ़ निश्चय हो और उन्हीं भगवान की उपासना-भक्ति करता हो, तो यह बात हमें पसन्द हैं; परन्तु जो केवल चैतन्य तेज को मानता हो, तथा उसी तेज की उपासना करता हो एवं भगवान को सदा साकार न मानता हो तथा उनकी उपासना न करता हो, तो हमें वह बात पसन्द नहीं है।

दूसरी वार्ता यह है कि उन भगवान की प्रसन्नता के लिए जो भक्त तप तथा योगसाधना करता हो, पंचविषयों से उदासीन रहता हो तथा वैराग्यवान हो, आदि जो-जो साधन भगवान की प्रसन्नता के लिए निर्दम्भ होकर करता हो, तो वह हमें पसन्द है। उसे देखकर हमारा मन प्रसन्नता से भर जाता है कि इसे धन्यवाद है, कि यह इस प्रकार आचरण करता है। इसके उपरांत इन पाँच वार्ताओं का हमें नित्य निरन्तर अनुस्मरण रहता है। उनमें से एक तो यह है कि हमें इस देह का त्याग करके अवश्य मर जाना है और उसमें घड़ीभर का विलम्ब मालूम नहीं होता। यह तो निश्चित ही प्रतीत होता है कि 'इसी

घड़ी, इसी क्षण में हमें मरना है' और सुख-दु:ख, प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता आदि समस्त क्रियाओं में वैसा ही स्मरण रहता है, ऐसा वैराग्य मन में बना रहता है। दूसरा स्मरण यह रहा करता है कि हमें मरना तो अवश्य है, किन्तु इतना काम हो चुका है, तथा इतना बाक़ी है, उसे निपटाना है।

तीसरा सदा स्मरण हमें यह रहता कि हम सोचते रहते हैं कि हमारे मन से पंचविषयों की वासना मिट चुकी है या नहीं? और, ऐसा प्रतीत है कि वह तो मिट चुकी है, तब यह विचार आता है कि पंचविषयों की जो क्रियाएँ हैं, वे क्यों हो रही हैं? अत: कदाचित् वह वासना न टली हो? ऐसा अविश्वास सदैव बना रहता है।

चौथी बात यह है कि मुक्तानन्द स्वामी आदि बड़े-बड़े साधुओं तथा अन्य बड़े बड़े हरिभक्तों के हृदय से पंचविषयों की वासना मिट गई या नहीं? तथा ऐसा देखता हूँ कि 'इसकी वासना मिट चुकी है,' और 'इसको इसकी वासना नहीं मिटी।' इस प्रकार सबके हृदय के सामने देखते रहना यह ध्यान हमेशा बना रहता है।

पाँचवाँ उस बात का स्मरण हमें निरंतर रहता है कि यदि मैं अपना मन उदासीन रखने लगूँ, तो न जाने, कहाँ चला जाऊँ और यह देह भी छूट जाए। इसलिए ऐसा मानता हूँ कि 'मन में उदासीनता नहीं रखनी है।' क्योंकि, हमारे योग से ये सब स्त्री-पुरुष, परमहंस प्रसन्न मन से भगवद्भक्ति करते रहते हैं, यह बहुत अच्छा है। इन्हें भगवद्भक्ति करते देखकर मन में बड़ी प्रसन्नता होती है कि मरना तो सबको है, परन्तु इस प्रकार भक्ति करना यही जीवन का सबसे बड़ा लाभ है। ऐसा स्मरण निरन्तर बना रहता है।'

इस प्रकार, श्रीजीमहाराज ने अपने भक्तों की शिक्षा के लिए अपना आचरण प्रस्तुत करके यह वार्ता कही। वास्तव में वे साक्षात् श्रीपुरुषोत्तम नारायण हैं।

॥ इति वचनामृतम् ॥30॥ ॥253॥

वचनामृत 31 : छाया के दृष्टांत से ध्यान

संवत् 1885 में माघ शुक्ला चतुर्थी (7 फरवरी, 1829) को सायं-काल श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार

के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सिर पर सफ़ेद फेंटा बाँधा था, श्वेत धोती धारण की थी और लाल पल्ले की विलायती सफ़ेद धोती को ओढ़ रखा था। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय परमहंस वाद्ययन्त्रों के साथ **'हरि मेरे हारल की लकरी'**[17] यह कीर्तन गा रहे थे। श्रीजीमहाराज ने कहा कि **'जमुना के तीर ठाड़ो'**[18] यह कीर्तन भी गाइए।' जब परमहंस यह कीर्तन करने लगे उस समय श्रीजीमहाराज बहुत देर तक विचार करते रहे। इसके पश्चात् वे बोले, 'अब कीर्तन बन्द करें। हम एक वार्ता कहते हैं। वह वार्ता है तो छोटी-सी, परन्तु ध्यान करनेवालों को बहुत अच्छी लगेगी। यह बात हमने कभी भी नहीं कही है।' इसके पश्चात् वे पुनः कुछ क्षणों के लिए ध्यानस्थ-से हो गये और फिर कुछ पलों के बाद कहने लगे कि कोटि-कोटि चन्द्र, सूर्य और अग्नि के समान तेज का समूह है, और तेज का वह समूह समुद्र-सा दिख रहा है; ऐसा भगवान का तेजोमय जो ब्रह्मरूप धाम है, उसी में पुरुषोत्तम भगवान साकार रूप से बिराजमान रहते हैं। और, वे भगवान अपने उसी रूप से अवतार लेते हैं। वे भगवान कैसे हैं? तो वे क्षर-अक्षर से परे हैं और समस्त कारणों के भी कारण हैं, और जिनके चरणकमल की सेवा में अक्षररूप अनन्त कोटि मुक्त रह रहे हैं। वही भगवान स्वयं दया करके जीवों के परम कल्याण के लिए अभी प्रकट प्रमाणरूप में आप सबके दृष्टिगोचर होते हुए साक्षात् रूप से विराजमान हैं। अतः उस धाम में स्थित मूर्ति एवं श्रीकृष्ण की (हमारी) इस प्रकटमूर्ति में अधिक सादृश्य है।' उस श्रीकृष्ण की (हमारी) मनुष्याकार मूर्ति के ध्यान करनेवाले की दृष्टि भगवान के सिवा अन्य विषयों में से अतिशय वैराग्य को प्राप्त कर लेती है और वह भक्त केवल भगवान के आकार में ही लुब्ध रहता है, तब उसे प्रत्यक्ष भगवान की मूर्ति एवं धाम की मूर्ति, उन दोनों में तनिक भी अन्तर नहीं दिखता। उन दोनों मूर्तियों के रूप तथा अवस्था दोनों समान दिखते हैं। तथा वह मूर्ति जितनी ऊँची एवं पुष्ट दिखती है, वैसी कि

17. कवि सूरदास रचित भक्तिपद, देखें : परिशिष्ट : 6
18. स्वामी प्रेमानंदजी रचित भक्तिपद, देखें : परिशिष्ट : 6

वैसी यह प्रत्यक्षरूप मूर्ति भी दिखती है, परन्तु दोनों में रोम मात्र का भी अंतर नहीं दिखता। दोनों में रूप, अवस्था आदि में भारी समानता दिखती है। इस प्रकार ध्यान में दिखनेवाली मूर्ति तथा प्रत्यक्ष मूर्ति दोनों में थोड़ा सा भी भेद नहीं है। ध्यानकर्ता साधक उसी मूर्ति को प्रतिलोम द्वारा अपने नेत्र के भीतर देखता है, तब वही मूर्ति उसे पहले की भाँति नहीं दिखती, परंतु नेत्र की पुतली से आकार की दिखती है, फिर वह ध्यान कर्ता साधक प्रतिलोम द्वारा कंठ से नीचे तक, हृदय में ध्यान करके देखता है, तब उसी मूर्ति को वह पूर्ववत् (छोटी) न देखते हुए अत्यंत विशाल, ऊँची, मोटी एवं भयंकर देखता है।

जैसे मध्याह्न समय में सूर्य की छाया पुरुष के शरीर के ही आकार की होती है, सूर्यास्त के समय छाया लम्बी हो जाती है, परंतु पुरुषाकार नहीं रहती, उसी प्रकार मूर्ति का आकार भी पूर्वकथन के अनुसार विराट हो जाता है। फिर वह ध्यानकर्ता उस मूर्ति को हृदयस्थित बुद्धि में देखता है, तथा बुद्धि में रहनेवाली जीवात्मा में देखता है, तब तो वही मूर्ति उसे अंगुष्ठमात्र आकार की दिखती है, अथवा द्विभुज या चतुर्भुज दिखती है, परंतु पहले तीन प्रकार से देखी थी, वैसी नहीं दिखती।

तत्पश्चात् उस ध्यानकर्ता को प्रतिलोम भाव से अपनी जीवात्मा से परे, कोटि कोटि सूर्य, चंद्र, अग्नि के तेज के समूह में वह मूर्ति दिखती है, वह उसे वैसी की वैसी ही दिखाई देती है, जैसी उसे दृष्टि के समक्ष दिखाई देती थी, उन दोनों में तनिक भी अंतर नहीं दिखता। अतः **गुणातीत जो अक्षरधाम है, वहाँ जो मूर्ति है, वही मूर्ति प्रत्यक्ष है, उन दोनों में कोई भेद नहीं। जैसे धाम की मूर्ति गुणातीत है, उसी तरह मनुष्य मूर्ति भी गुणातीत है।** तथा पहले जिस मूर्ति में अंतर दिखा, वह तो जीवात्मा के गुणमय स्थानक होने के कारण ऐसा हुआ था। अतः नेत्र में सत्त्वगुण, कंठ में रजोगुण एवं बुद्धि में रहनेवाली जीवात्मा भी गुणामय है।'

इतना कहकर श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'अब उस कीर्तन का गान करें, जो पहले गा रहे थे।' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने अपने पुरुषोत्तम स्वरूप के निरूपण की वार्ता परोक्षभाव से कही।

॥ इति वचनामृतम् ॥31॥ ॥254॥

वचनामृत 32 : माहात्म्य की आड़ में पाप

संवत् 1885 में माघ शुक्ला पंचमी (8 फरवरी, 1829) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पश्चिमी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी। उस समय परमहंस वसंतऋतु सम्बंधी कीर्तन कर रहे थे।

उस समय श्रीजीमहाराज ने मुक्तानन्द स्वामी आदि साधुओं से कहा कि **'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।'**[19] इस श्लोक का अर्थ बताइए।' तब उन्होंने रामानुजभाष्यसहित उसका अर्थ बताया।

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज बोले कि 'इसके सम्बंध में हमने ऐसा निश्चय किया है कि युवा-अवस्थावाले को आहार कम करना, और युक्ताहारविहारपूर्वक रहना चाहिए। आहार के कम होने से ही देह का बल क्षीण होता है और तभी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है, उसके बिना इन्द्रियों को नहीं जीता जा सकता। अतः इन्द्रियों को जीतकर ही अपने मन को भगवान की नवधा भक्ति में रुचिपूर्वक लगा रखें और भक्ति में प्रीति रखें, इन दो साधनों से सत्संग पार लग जाता है। यदि ऐसा न हुआ तो वह कभी न कभी निश्चित रूप से इन्द्रियों के वश में होकर कर्तव्यविमुख हो जाता है। इसमें गोवर्धन (एक भक्त) जैसे समाधिनिष्ठ को भी भय रहता है, तब दूसरों की तो बात ही क्या है? और, अति आहार की वृत्ति को नियम में लाने के लिए लगातार उपवास करना प्रारंभ कर दे, यह भी कोई ठीक उपाय नहीं है। उस प्रकार तो आहार की तृष्णा बढ़ जाती है, तथा आहार में वृद्धि हो जाती है और पारणा के दिन दूना आहार करने लगता है। इसलिए, जैसे बादल धीरे-धीरे झीनी-झीनी बूँदों से बरसते हैं, परन्तु पानी विपुल मात्रा में होता है, उसी प्रकार धीरे-धीरे आहार का नियमन करते रहने से इन्द्रियाँ नियमबद्ध होती हैं और भक्ति में प्रीति होने पर सत्संग पार लग जाता है। यह निश्चित बात है।'

इतने उपदेशवचनों के पश्चात् श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'भगवान के सच्चे भक्त को भगवान का माहात्म्य कैसे समझना चाहिए? तो उसे इस

19. गीता : 2/59, अर्थ के लिए देखें : वच. लोया 10 की पादटीप-29

प्रकार समझना चाहिए कि भगवान अपने तेजोमय अक्षरधाम में साकार-मूर्तिमान विराजमान रहते हैं। वे सबके कारण हैं, सबके नियन्ता हैं, तथा सबके अन्तर्यामी हैं। वे अनेक कोटि ब्रह्मांडों के राजाधिराज हैं, अलौकिक, दिव्य आनन्दघनमूर्ति हैं तथा माया के गुणों से रहित हैं। इस प्रकार सच्चा भक्त, प्रत्यक्ष भगवान को जानकर बिना भगवान के अन्य समस्त मायिक वस्तुमात्र को अतिशय तुच्छ तथा नाशवंत समझता है और एकमात्र भगवान में ही प्रीति रखता है तथा भगवान की नवधा भक्ति करता है। वह यह समझता है कि 'ऐसे भगवान की मर्यादा का पालन तो काल, माया, ब्रह्मा, शिव, सूर्य तथा चन्द्रमा आदि समर्थ होने पर भी निरन्तर करते रहते हैं।' ऐसा समझकर भगवान द्वारा प्रतिपादित धर्ममर्यादा में वह भक्त भगवान की प्रसन्नता के लिए स्वयं निरन्तर आचरण करता रहता है, किन्तु धर्म-मर्यादा का लोप वह कभी नहीं करता। परंतु जिसकी कुबुद्धि हो, वह ऐसा समझता है कि 'ऐसे महान भगवान तो पतितपावन हैं और अधमों के उद्धारक हैं। अतः यदि कोई धर्म के विरुद्ध अनुचित आचरण हो हो भी गया, तो उसकी क्या चिन्ता है? भगवान तो समर्थ हैं।' इस प्रकार **माहात्म्य की आड़ लेकर जो पुरुष पाप करने से बिल्कुल नहीं हिचकते, ऐसे मनुष्य तो दुष्ट और पापी हैं। जो ऐसी समझवाला हो और बाह्यरूप से भक्त-जैसा दिखाई पड़ता हो, तो भी उसे भक्त नहीं समझना तथा उसका संग कभी नहीं करना।** भक्त तो उसे ही समझना, जिसके सम्बंध में पहले बताया गया है, और संग भी उसी का करना।'

॥ इति वचनामृतम् ॥32॥ ॥255॥

वचनामृत 33 : बुद्धिभेद न होने के चार उपाय

संवत् 1885 में फाल्गुन शुक्ला एकादशी (16 मार्च, 1829) को स्वामी श्रीसहजान्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंस तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब श्रीजीमहाराज ने समस्त परमहंसों से यह वार्ता कही कि 'धन-दौलत और स्त्री-पुत्र आदि की कामना से जिसकी बुद्धि विचलित न हो

और इनके निमित्त किसी में भी प्रतीति न हुई हो, ऐसे हरिभक्त तो सत्संग में गिनती के ही रहते हैं।' इतना कहकर आगे बताने लगे कि 'ऐसे तो ये मुक्तानन्द स्वामी तथा गोपालानन्द स्वामी हैं, जिन्हें अन्य कोई चाहे कैसा ही समर्थ दिखाई दे, और वह चमत्कार भी दिखाए, तो भी उन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। और, कैसा भक्त हो, जिस पर किसी का प्रभाव न पड़े? तो जो ऐसा समझता है कि 'मैं इस देह से भिन्न आत्मा हूँ तथा प्रकाशमान एवं सत्तारूप हूँ। मेरे स्वरूप के भीतर प्रत्यक्ष भगवान अखंडरूप से विराजमान हैं। और, उसी भगवान के स्वरूप के बिना अन्य प्राकृत आकार-मात्र असत्य हैं तथा अनन्त दोषों से भरे हैं। ऐसा वैराग्य जिसे हो, तथा जो भगवान के माहात्म्य को यथार्थरूप से जानता हो, उसकी बुद्धि में किसी भी प्रकार का भ्रम नहीं हो सकता। परन्तु, यह बात अति कठिन है, क्योंकि वे इतने बड़े हैं, फिर भी यदि कोई इनका अधिक सम्मान करे तथा उनके सामने रुपयों और सोना-मुहरों के ढ़ेर लग जाए तथा रूपवती स्त्रियों का योग हो जाए, तो वे इतने बड़े त्यागी होने पर भी उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। यदि ऐसा योग आ जाए, तो आज अपने त्यागियों में जो निकृष्ट हैं, उनके जैसे भी ये बड़े-बड़े त्यागी रह सकेंगे या नहीं, इसमें भी संशय है! क्योंकि इन मायिक वस्तुओं का योग ही ऐसा है। जैसे हम सब लोग यहाँ सयाने बनकर बैठे हैं, किन्तु यदि मद्यपान किए हुए हों, तो न जाने कैसे कैसे कारनामे करने लगते! वैसे ही निश्चितरूप से इन वस्तुओं का संग लगे बिना रहता ही नहीं। इसलिए, यदि इन वस्तुओं का योग उपस्थित न होने दिया जाए, तो वे इनसे बच सकते हैं अथवा इन पदार्थों का योग होने से पहले ही उनसे डरता रहे कि 'कहीं मुझे इन पदार्थों का योग न हो जाए!' तब जाकर वे उनसे बच सकते हैं। तथा शास्त्रों में यह बात तो प्रसिद्ध है कि 'मायिक पदार्थों का संग तो एकमात्र भगवान को नहीं लगता।' जैसे कहा भी गया है : **'ऋषिं नारायणमृते'**[20] तथा **'येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म।'**[21]

20. श्रीमद्भागवतम् : 3/31/37, अर्थ के लिए देखें : वच. लो. 13 की पादटीप-34
21. **अर्थ :** 'हे भगवान! जो आप ही को जीवन मानकर जीता है, उसके विपरीत जीवन जीनेवाले तो स्वयं के द्वारा परित्याग किए हुए विषयों से भी डरता रहता है। अर्थात् वासनामात्र से बंधनग्रस्त हो जाता है।' (श्रीमद्भागवतम् : 11/6/17)

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज ने यूं कहा कि 'वासुदेव भगवान का एकान्तिक भक्त किसे कहते हैं? तो जिसमें स्वधर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा वासुदेव भगवान के प्रति माहात्म्ययुक्त अनन्य भक्ति हो, उसे एकान्तिक भक्त कहा जाता है। उसकी गति इस प्रकार कही गई है कि उसका वासुदेव भगवान में प्रवेश होता है। वह प्रवेश क्या है? तो तेजोमंडल में जो दिव्यमूर्ति वासुदेव भगवान हैं, उनसे उस भक्त का स्नेह होता है। उस स्नेह के कारण वासुदेव भगवान की मूर्ति में उसके मन का निरन्तर स्मरण रहता है तथा भगवान में ही आसक्त-सा होकर वह शरीर द्वारा वासुदेव भगवान की सेवा में भी प्रवृत्त रहता है। जैसे लक्ष्मीजी वासुदेव भगवान के हृदय में स्नेहाधिक्य के कारण चिह्नरूप से बिराजमान रहती हैं, तथा स्त्रीरूप द्वारा उनकी सेवा में भी स्थित है। वैसे वासुदेव भगवान में एकान्तिक भक्त का प्रवेश जानना।

और, अभी भी जिस भक्त को कथा-कीर्तन, नामस्मरण आदि इस प्रकार की भगवद्भक्ति तथा भगवान के माहात्म्य तथा स्वधर्म-वैराग्य-आत्मनिष्ठा तथा सन्त-संगति का ऐसा व्यसन हो कि इन सभी के बिना वह रह नहीं सकता; जैसे अफ़ीम आदि मादक पदार्थ ज़हर जैसे कड़वे होते हैं, फिर भी व्यसनी बिना मादक पदार्थों के रह नहीं सकता है, तथा कोई शराबी हो, उसका गला जलता भी हो, परन्तु व्यसनी तो उसके बिना रह नहीं सकता, ऐसे व्यसनी को तो बहुत-से रुपये दिये जाए, फिर भी उसको छोड़कर अपने व्यसन को ही अधिक प्रिय बनाये रखता है। क्योंकि, वह व्यसन उसके जीवन के साथ घुलमिल गया है।

उसी प्रकार, जिसे भगवद्भक्ति आदि क्रियाओं का व्यसन लग गया हो, फिर वह चाहे कैसी भी बुरी संगतिवाले वातावरण में रहे, परन्तु बिना भक्ति के अन्य कार्यों में उसका मन कभी प्रसन्न नहीं होता। भगवद्भक्ति आदि क्रियाओं में जिसका जीव तन्मय हो गया हो, और वैसी ही भक्तिमय अत्यधिक क्रियाओं में ही उसकी आसक्ति हो, तो जानना कि ऐसे भगवद्भक्त का प्रवेश वासुदेव भगवान में हो गया है। ऐसा भगवद्भक्त बिना भगवान की सेवा के, चतुर्धा मुक्ति की भी इच्छा नहीं करता, तो अन्य पदार्थों की तो बात ही क्या? ऐसे भक्त को एकान्तिक भक्त समझना।

और, ऐसा भक्त न हो, कि जो कभी-कभी भगवान की भक्ति में

आनन्द का अनुभव ले, और कभी-कभी कुसंग के वशीभूत होकर भक्ति को भूल जाए, और उसे दूसरी तरह का चस्का लग जाए! ऐसे भक्त को तो प्राकृत देहाभिमानी कहते हैं; वह सच्चा भक्त नहीं है। और, उसके बारे में ऐसा विश्वास भी नहीं रहता कि वह सत्संग में टिकेगा ही।'

पुनः श्रीजीमहाराज ने कहा कि **'भगवान के भक्त को स्त्री, धन, देहाभिमान तथा स्वभाव, इन चारों के बंधन से मुक्त हो जाना चाहिए। यदि उसमें कचाई रह गई और वह यदि भगवान की भक्ति भी करता हो, फिर भी उसकी भक्ति के विषय में विश्वास नहीं रहता, उसकी भक्ति में अवश्य विघ्न उपस्थित हो जाएगा।** क्योंकि जब कभी उसे स्त्री और धन का योग हो जाएगा, तब उसकी भक्ति का ठिकाना ही नहीं रहेगा, और वह उसी में आसक्त हो जाएगा तथा देहाध्यास होने पर जब देह में रोगादि कष्ट बने रहते हैं और उसे अन्न-वस्त्रादि नहीं मिल पाते, अथवा कुछ कठिन व्रतों के पालन की आज्ञा हो तब भी उसकी भक्ति में बाधा उपस्थित हो जाती है, तथा वह भक्त व्याकुल हो जाता है और विवेकभ्रष्ट होकर मनमाने ढंग से बर्ताव करने लगता है। यदि किसी तरह का उसका कोई बुरा स्वभाव हो और सन्त उस पर टोकने लगें, तथा स्वभाव के अनुसार उसे व्यवहार न करने दें परन्तु अन्य रीति से आचरण कराएं, तो भी वह उद्विग्न हो जाता है और सन्त-संगति में नहीं रह सकता। ऐसे देहाध्यासी की भक्ति कैसे निभ सकती है? इसलिए, दृढ़ भक्ति के इच्छुक पुरुष को पूर्वोक्त चारों के बारे में शिथिलता नहीं रखनी चाहिए। यदि इन चारों में आसक्ति रह गई, तो भी विवेकपूर्वक धीरे-धीरे उसका त्याग कर डालना चाहिए। तभी वासुदेव भगवान की निश्चल भक्ति कर सकता है। यह वार्ता ऐसी ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥33॥ ॥256॥

वचनामृत 34 : भगवान के प्रति वासना के उपाय

संवत् 1885 में चैत्र शुक्ला तृतीया (6 अप्रैल, 1829) को श्रीजी-महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंसों

तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज से शुकमुनि ने पूछा कि 'भगवान के सिवा अन्य मायिक वस्तुमात्र में वासना न रहे, तथा एकमात्र भगवान में ही वासना रहे, इसके दो साधन दिखाई पड़ते हैं। जिनमें से एक तो भगवान में प्रीति, तथा दूसरा, ज्ञानसहित वैराग्य। अब प्रश्न यह है कि जिसे भगवान का निश्चय और विश्वास तो सुदृढ़ होता है, परन्तु पूर्वोक्त दो साधनों की अतिशय दृढ़ता नहीं होती, ऐसे भक्त को बिना भगवान के अन्य पदार्थ की वासना रहे ही नहीं, ऐसा तीसरा कोई उपाय है या नहीं?'

प्रश्न सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'आपका प्रश्न यथार्थ है। प्रीति एवं ज्ञानसहित वैराग्य के द्वारा ही ऐसी स्थिति संभव होती है कि उसे भगवान में ही वासना रहती है, तथा अन्य पदार्थों में वासना नहीं रहती। इन दोनों साधनों के बिना अन्य पदार्थों की वासना के कारण ऐसा पुरुष जीते जी ही दुःखी रहता है। यद्यपि उसे भगवान के स्वरूप का निश्चय है, अतः उसके देहान्त के बाद भगवान उसका कल्याण अवश्य करते हैं। अतः भगवान के सिवा अन्य वस्तुओं की वासना को टालने के लिए उपरोक्त दो के उपरांत एक तीसरा भी साधन है, और वह है नियम पालन की दृढ़ता।

जिन गृहस्थों अथवा त्यागियों के लिए जो भी नियम बताए गए हैं, उन नियमों का सावधानी के साथ पालन करें तो अन्य पदार्थों से आसक्ति दूर हो जाती है। वे नियम कौन-से हैं? तो सबसे पहले स्वधर्म सम्बंधी नियम है। **जिस प्रकार आत्मनिवेदी साधु-ब्रह्मचारियों के नियम हैं, वैसे ही नियम जो आत्मनिवेदी न हो वह भी रखे तथा स्त्रियों को न देखना, उनकी बातें न सुनना आदि नियम रखे, एवं पंचविषयों के त्याग सम्बंधी नियमों का भी पालन दृढ़तापूर्वक सावधान होकर करे; तथा भगवान एवं भगवान के भक्त की देह से सेवा-परिचर्या किया करे, और भगवान की कथा को सुने इत्यादि नवधा भक्ति सम्बंधी नियमों का पालन करता रहे, तब उसके मन में भी शुभ संकल्प प्रकट होने लगते हैं। इस तरह धर्म एवं भक्ति सम्बंधी दो प्रकार के नियमों का पालन करे, तो उसे वैराग्य और भगवान से प्रीति, कदाचित् न भी हों, फिर भी उसमें दोनों गुण उदित होते हैं और उस भक्त का जीव अति**

बलिष्ठ हो जाता है, और उसकी पदार्थों में अशुभवासना मिट जाती है तथा एक भगवान के प्रति ही वासना दिन-प्रतिदिन बढ़ती रहती है।'

फिर श्रीजीमहाराज से शुकमुनि ने प्रश्न किया कि 'हे महाराज! क्रोध किससे उत्पन्न होता है? तो स्वयं को जिस वस्तु की कामना हो और जिन पदार्थों में ममत्व हो, उसे यदि कोई तोड़ डाले, तो उसे क्रोध उत्पन्न होता है, और कामना - जो भौतिक इच्छाएँ हैं, उनका भंग ही क्रोध में निमित्त बन जाता है। परन्तु कोई ऐसी स्थिति के रहते हुए भी क्रोध उत्पन्न न हो, ऐसा कोई उपाय है या नहीं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'बड़े सन्त ने भगवान की आज्ञा से अथवा शास्त्रदृष्टि द्वारा माहात्म्य जानकर अनेक जीवों को धर्ममर्यादा में रखने के लिए तथा भगवान की प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ाने के लिए शुभ संकल्प किया हो और ऐसी ही प्रवृत्ति करते रहे हों, उस समय यदि कोई भी जीव धर्ममर्यादा का भंग करके अधर्म की प्रवृत्ति कर बैठे, तब सत्पुरुष को उस जीव पर क्रोध उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि उसने उनके ही शुभ संकल्प को मिट्टी में मिला दिया। इसलिए उसे धर्ममर्यादा में रखने के लिए अगर वे क्रोधपूर्वक शिक्षा की बात न करें, तो मर्यादा-भंग होता ही रहता है और अंततोगत्वा उस जीव का कुछ भी हित नहीं होता। इसलिए, इस प्रकार का क्रोध हो तो उचित ही है, इसमें कोई हानि नहीं है। क्योंकि ऐसे मार्ग में प्रवृत्त हो रहे सत्पुरुष के आश्रय में सहस्रों भक्त रहते हैं, उसे बिना कुछ क्रोध किए कैसे चल सकता है?

और, क्रोध तो तब उत्पन्न नहीं होता, जब उस चीज़ का परित्याग कर दिया जाए कि जिससे वह उत्पन्न हुआ है। अथवा एकाकी होकर वन में चला जाए, तब किसी पर क्रोध करने की संभावना नहीं रहती; परन्तु ऐसा वे कैसे कर सकते हैं? क्योंकि सत्पुरुष का उद्देश्य अनेक जीवों को उपदेश देकर उन्हें भगवत्सम्मुख करना यही है, जिससे कि उन जीवों का कल्याण हो। शास्त्र की दृष्टि से भी वे जीव को उपदेश देना, ऐसी भगवान की आज्ञा का महत्त्व समझते हैं। अतः क्रोध करके भी कभी अपने जीव-हित के शुभ संकल्प का परित्याग करते ही नहीं!

और, किसी साधक को किन्हीं महान साधु से स्नेह बंध गया हो, और

उन्हीं की शरण में उसने अपने कल्याण का स्वार्थ माना हो और वह यह समझता हो कि 'इन साधु से ही मेरा श्रेय होगा' तो चाहे जितना वह क्रोधी क्यों न हो, परन्तु उसे कभी भी उन बड़े साधु पर क्रोध नहीं होगा। वरना वह अपने क्रोध को ही छोड़ देगा। इस तरह क्रोध नष्ट होता है।

और, जो पदार्थों की लेनदेन और तुच्छ वस्तुओं की प्राप्ति के लिए किसी साधु से क्रोध करता है, उसे तो साधु का माहात्म्य और सन्तत्व का मार्ग समझ में ही नहीं आया है। यदि उसने यह बात समझ ली होती, तो वह तुच्छ पदार्थों के लिए क्रोध नहीं करता। यदि कोई बुद्धिमान एवं समझदार होने पर भी तुच्छ पदार्थों के लिए साधु के प्रति क्रोध करता हो, तो उसकी बुद्धि राजा के कर्मचारी जैसी व्यवहार-प्रधान बुद्धि ही समझना चाहिए, परन्तु साधुत्व-बुद्धि उसे प्राप्त ही नहीं हुई है, ऐसा समझना।'

॥ इति वचनामृतम् ॥34॥ ॥257॥

वचनामृत 35 : भक्त के द्रोह से भगवान का द्रोह

संवत् 1885 में चैत्र शुक्ला नवमी (12 अप्रैल, 1829) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष साधुगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब श्रीजीमहाराज से शुकमुनि ने पूछा कि 'हे महाराज! जिसके हृदय में भगवान और भगवान के भक्त का ऐसा दृढ़ आश्रय हो, जो कभी न मिटे, चाहे उसे कैसा भी आपत्काल आ जाए और देह को चाहे जितना सुख-दुःख हो, या मान-अपमान हो, एवं देश-काल की चाहे जितनी विषमता आ जाए, फिर भी न मिटे ऐसे दृढ़ भगवदाश्रय को कैसे विदित किया जा सकता है कि उस भक्त को ऐसा ही दृढ़ आश्रय है? तथा ऐसे अनन्य शरणागत के मन का अभिप्राय एवं देह का आचार कैसा होता है, यह भी बताइए।'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'जिस भक्त के हृदय में एकमात्र भगवान की ही महानता बसी हो, और वह भगवान से विशेष अन्य किसी भी चीज़ को न गिनता हो, भगवान के सिवा अन्य वस्तुओं को तुच्छ मानता हो तथा

भगवान और साधु उस भक्त को उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार न चलने दें और प्रकृति के विपरीत आचरण कराए फिर भी वह उद्विग्न न होता हो, तथा चाहे जितनी दृढ़मूल प्रकृति हो, उसे छोड़कर जो भगवान और सन्त के कहने के अनुसार सरल होकर रहे, ये दो प्रकार की जिसे समझ हो, उसके सिर चाहे कितना ही बुरा आपत्काल आ गिरे, वह किसी हालत में भगवान का आश्रय नहीं छोड़ता।'

तब शुकमुनि ने पुनः पूछा कि 'प्रकृति के प्रतिकूल आचरण कराए जाने पर जीव को व्यग्रता तो होती है, परन्तु उस व्यग्रता के प्रकार में कोई अन्तर होता है या नहीं?'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'स्वाभाविक प्रकृति को छेड़े जाने से उसकी व्यग्रता तो होती ही है, पर ऐसे समय वह अपने ही अवगुणों को देखे, परन्तु भगवान और सन्त पर दोष न मढ़े वही भक्त अच्छा भक्त है। परन्तु यदि वह अपने अवगुणों को न मानकर भगवान और सन्त का दोष देखता है, तो हमें उस पर विश्वास नहीं आता। तथा ऐसे अवगुणग्राही भक्त की शरणागति का भी कोई ठिकाना नहीं रहता!'

शुकमुनि ने पुनः पूछा कि 'जिसकी जो प्रकृति है, उसे यदि भगवान तथा सन्त ने कभी भी छेड़ा न हो, तब वह अपने मन में यह कैसे समझ सकता है कि यदि 'मेरी प्रकृति को छेड़ा गया, तो मेरा ठिकाना नहीं रहेगा!' क्योंकि जिस बात का स्वयं को अनुभव ही न हो, उस पर उसका विश्वास कैसे हो सकता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'उस पुरुष को अपने मन के संकल्पों पर गहरी दृष्टि रखनी चाहिए कि 'मेरे मन में भगवान के सिवा अन्य पंचविषयों के भोगों में कौन-से विषय की वासना प्रबल है, और किस विषय का बलवत्तर संकल्प होता है?' ऐसी गहरी दृष्टि रखने पर उसे मालूम हो जाता है, कि मैं कैसा हूँ। इसके सिवा स्वयं की पहचान नहीं हो पाती। उसे विचार इस प्रकार करना होता है कि 'इस पदार्थ की मुझे तीव्र वासना है, अतः सन्त यदि मेरी इस प्रकृति को छेड़ेंगे, तब मेरा कोई ठिकाना नहीं रहेगा।' इस प्रकार वह अपने आपको पहचानेगा, ऐसी स्थिति में ऐसा भी हो सकता है कि भगवान या साधु कभी जीवनभर उसकी प्रकृति को छेड़ते ही नहीं! तब

तो सत्संग में उसकी नैया पार लग जाती है, परन्तु यदि उसकी प्रकृति को बदलने के लिए रुकावट डाली, तो अन्त में उसको भारी विघ्न उपस्थित हो जाता है, तथा वह अत्यंत उद्विग्न होकर सत्संग से विमुख हो जाता है।'

पुनः श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'साधु के द्रोह का पाप शास्त्रों में अन्य पापों की अपेक्षा घोर पाप बताया है। क्योंकि साधु के हृदय में साक्षात् श्रीकृष्ण भगवान रहते हैं। इसलिए, साधु का द्रोह हुआ, तो भगवान का ही द्रोह हो जाता है। उस साधु के द्रोह से उनके हृदय में निवास करनेवाले भगवान दुःखित होते हैं। इस प्रकार, भगवान का द्रोह करना अधिक पाप है, और वह अन्य पापों की अपेक्षा घोर पाप बताया गया है।

और, यद्यपि कंस, शिशुपाल तथा पूतना आदि दैत्यों ने स्वयं भगवान का द्रोह किया था, फिर भी भगवान ने उनका कल्याण भक्तों के समान ही किया, इसका क्या अभिप्राय है? तो इन दैत्यों ने वैरबुद्धि से भी भगवान का चिन्तन किया, तब भगवान ने यह समझा कि इन दैत्यों ने वैरबुद्धि से भी मेरा चिन्तन किया है, और ये मेरे सम्बंध में आ गये हैं, अतएव मुझे इनका भी कल्याण करना चाहिए।' यहाँ तो इन असुरों पर भगवान की दया का आधिक्य समझना चाहिए।

इस बात पर भी ध्यान देना कि इन दैत्यों ने वैरबुद्धि द्वारा भी जब भगवान से लगाव किया, तब भगवान ने उनका भी कल्याण कर दिया, तब जो भक्त भक्तिभाव से उनका आश्रय ग्रहण करेगा और उन्हें प्रसन्न करेगा, तो भगवान उसका कल्याण क्यों नहीं करेंगे? अवश्य करेंगे। इस प्रकार भगवान की अति दयालुता का परिचय देते हुए शास्त्रकारों का यही अभिप्राय है कि सभी मनुष्य भगवान की भक्ति में लग जाए। परन्तु, वैरबुद्धि द्वारा भी कल्याण हो, इस कथन का यह अर्थ कभी नहीं करना कि 'दैत्यों के समान भगवान का अप्रिय ही करते रहना!' इस दृष्टि से जो भी भगवान के प्रति वैरभाव रखकर उनसे द्रोह करते हैं और भगवान के अप्रिय-अवांछनीय कर्म करते हैं, उन्हें तो 'दैत्य' ही समझना। क्योंकि यह पक्ष तो दैत्यों का है। अतः हमें तो भगवान की इच्छा के अनुसार ही सदाचरण पूर्वक भक्ति करते रहना चाहिए। भगवान एवं उनके भक्तों को प्रसन्न करना, यही भगवान के भक्तों का अभिप्राय है।'

पुनः शुकमुनि ने श्रीजीमहाराज से पूछा कि 'हे महाराज! साधु के हृदय में भगवान निवास करते हैं तथा उनके द्रोह करने से भगवान का द्रोह हो जाता है और उनकी सेवा करने से भगवान की सेवा होती है, ऐसे साधु के क्या लक्षण हैं, यह बताइए।'

यह प्रश्न सुनकर श्रीजीमहाराज कुछ समय तक विचारमग्न रहे, तत्पश्चात् कृपा करके बोले कि 'ऐसे साधु का प्रथम लक्षण यह है कि वह भगवान को कभी निराकार नहीं समझते, बल्कि वे भगवान को सदैव दिव्य साकारमूर्ति मानते हैं। वह साधु चाहे कितने ही पुराण, उपनिषद तथा वेद आदि ग्रन्थों का श्रवण करे, और उन ग्रन्थों के द्वारा यदि भगवान के निराकार स्वरूप की कुछ बातें उनके सुनने में आएँ तो भी वह यही समझते हैं कि 'या तो हमें इन शास्त्रों का अर्थ समझ में नहीं आता, अथवा इनमें कुछ अलग रीति से यह कैसा भी कहा होगा! फिर भी, भगवान तो सदैव साकार ही है।' और, यदि वह भगवान को साकार नहीं समझते तो उनकी उपासना की दृढ़ता नहीं कही जा सकती। यदि भगवान का स्वरूप साकार न हो तो उनको 'कर्ता' नहीं कह सकते। जिस प्रकार आकाश को अरूप होने के कारण उसमें कर्तृत्वभाव नहीं कहा जाएगा, उसी प्रकार भगवान में भी कर्ताभाव तथा एकदेशस्थभाव नहीं कह सकते। इसलिए, ऐसे सन्त समझते हैं कि **भगवान सदैव साकार ही हैं तथा अनेक ब्रह्मांडों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कर्ता हैं। वे सर्वदा अपने अक्षरधाम में विराजमान रहते हैं तथा राजाधिराज हैं। वे ही प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होते हैं।**इस प्रकार की समझ को जो सुदृढ़ रखता है, तथा उस समझ से कभी विचलित नहीं होता, यह सन्त का प्रथम लक्षण है।

दूसरा लक्षण यह है कि ऐसे परात्पर भगवान की एकान्तिकी भक्ति करते हैं, तथा और कोई भी उन भगवान का नामस्मरण तथा कीर्तनादि कर रहा हो, तो वे सन्त उसे देखकर मन में अति प्रसन्न होते हैं।

तीसरा लक्षण तो यह है कि भगवान के भक्तों के मध्य रहना हो, तो उसके लिए अपने स्वभाव को बाधक नहीं बनने देते। यदि ऐसा स्वभाव हो, तो उस स्वभाव का परित्याग कर दे, परन्तु भगवद्भक्त के संग का परित्याग न करे। यदि बड़े सन्त अपने स्वभाव की आलोचना करे, तो उनके प्रति

दुर्भावना न हो बल्कि, अपने ही स्वभाव को उत्तरदायी समझे, परन्तु उद्विग्न होकर भक्त-समूह से दूर रहने का संकल्प भी मन में न करे और भक्तों के समुदाय में ही अपना आनन्द माने, ये पूर्वोक्त सन्त का तीसरा लक्षण है।

चौथा लक्षण यह है कि यदि उन्हें अच्छा वस्त्र, स्वादिष्ट भोजन, निर्मल जल अथवा जो भी अन्य अच्छे-अच्छे पदार्थ प्राप्त हों, तो वह मन में ऐसा संकल्प करें कि इन पदार्थों को यदि मैं भगवान के भक्त को अर्पित कर दूँ तो ठीक रहेगा।' इस प्रकार उन पदार्थों को भगवद्भक्त की सेवा में देकर प्रसन्न रहते हों, ये सन्त का चतुर्थ लक्षण है।

पाँचवां लक्षण यह कि वह इस तरह भक्तों के समुदाय में रहता हो, फिर भी किसी को उसके प्रति ऐसा विचार न आए कि 'यह तो कितने ही वर्षों तक साथ में रहा, फिर भी इसके हृदय की कुछ भी थाह नहीं लग पाई! कौन जाने यह कैसा होगा? इसका तो कोई भेद ही नहीं मालूम पड़ता!' ऐसी धारणा उसके प्रति कभी किसी को नहीं पैदा होती। इस प्रकार वह सरल स्वभाव का हो, और आन्तरिक एवं बाह्यरूप से वह जैसा हो, उसे सब लोग जानते हों कि 'यह तो ऐसा है!' इस प्रकार का सरल स्वभाव वाला हो।

छठा लक्षण यह है कि वह शान्त स्वभाववाला हो, फिर भी कुसंगी का संग उसे तनिक भी पसन्द न हो। यदि भगवान से विमुख का संग हो भी गया, तो वह तुरन्त क्रुद्ध होकर उससे दूर रहेगा। इस प्रकार विमुख के संग से अपनी स्वाभाविक अरुचि रहती हो। इन छः लक्षणों से युक्त साधु के हृदय में भगवान बिराजमान हैं, ऐसा समझना चाहिए। यदि कोई ऐसे साधु का द्रोह करता है, तो उसे भगवान का द्रोह करने के सदृश पाप लगता है। यदि कोई ऐसे साधु की सेवा करता है, तो उसका फल भगवान की सेवा करने तुल्य प्राप्त होता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥35॥ ॥258॥

वचनामृत 36 : कल्याण का असाधारण साधन

संवत् 1885 में वैशाख शुक्ला प्रतिपदा (4 मई, 1829) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन से घोड़ी पर सवार होकर श्रीलक्ष्मीवाड़ी में पधारे थे और वाड़ी के मध्य में स्थित

चबूतरे पर विराजमान हुए थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने समस्त परमहंसों तथा हरिभक्तों से प्रश्न किया कि 'इस जीव को अपने कल्याण का असाधारण उपाय क्या है कि जिसके कारण निश्चितरूप से उसका कल्याण हो जाए और उसमें किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो? साथ-साथ यह भी बताइए कि ऐसे कल्याण के साधन में बड़ा विघ्न कौन-सा है, जिसके कारण कल्याण के मार्ग से उसका निश्चितरूप से पतन होता है?'

प्रश्न सुनकर सभी परमहंसों तथा हरिभक्तों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर दिया, किन्तु इस प्रश्न का समाधान नहीं हुआ। तब श्रीजी-महाराज बोले कि 'कल्याण का असाधारण साधन यह है, कि **पुरुषोत्तम भगवान को ब्रह्मज्योति (अक्षरधाम) के मध्य में विराजमान अनादि साकारमूर्ति समझें, और सब अवतार उनके ही हैं, यह समझकर उन प्रत्यक्ष भगवान का वैसा ही भाव से आश्रय ग्रहण करना और धर्म सहित भगवान की भक्ति करनी तथा ऐसी भक्तिवाले साधु का संग करना, यही कल्याण का असाधारण उपाय है।** उसमें दूसरे कोई विघ्न रुकावट नहीं डालते।

फिर भी, उस साधन में बड़ा विघ्न यही है कि 'शुष्क वेदान्ती का संग करना।' जो पुरुष उस शुष्क वेदांती का संग करता है, उसे उससे स्नेह हो जाता है। वह स्नेह भी उसके गुणों से आकृष्ट होकर होता है। जैसे कि किसी ने दुर्भिक्ष की स्थिति में उसकी अन्न-जल आदि से सहायता की हो, तो उसके साथ स्नेह होता है, क्योंकि उसका उपकार नज़र आता है। उसी प्रकार, जब वह शुष्क वेदांती ऐसा गुण दिखाता है कि 'आत्मा को तो जन्म-मरण है ही नहीं! क्योंकि, आत्मा तो निराकार है। वह चाहे कितने ही पाप करे, तो भी उसे दोष नहीं लगता।' ऐसी बातें बनाकर वह भगवान की मूर्ति के आकार का ही खंडन कर देता है। यही उस मुमुक्षु के लिए बहुत बड़ा विघ्न है। क्योंकि वह भगवान की साकारोपासना के मार्ग से गिर गया! अतः उस शुष्क वेदांती का संग कभी भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह शुष्क वेदांती तो घोर अज्ञानी है, और भगवान की भक्ति के मार्ग में इससे बड़ा

कोई भी अन्य विघ्न नहीं है।'

इतनी वार्ता कहने के पश्चात् श्रीजीमहाराज पुनः दादाखाचर के राज-भवन में पधारे। वहाँ उन्होंने पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में पलंग पर बैठकर इस प्रकार शिक्षावचन सुनाए कि 'हमने सभी शास्त्रों का श्रवण करके यह सिद्धांत निर्धारित किया है तथा इस पृथ्वी के सभी स्थानों में भ्रमण किया है तथा अनेक सिद्धपुरुषों को देखा है।' इतना कहकर अष्टांगयोगी गोपालदासजी आदि साधु की बातें बताकर कहने लगे कि 'मैं तो यही समझता हूँ कि भगवान की मूर्ति की उपासना तथा उसका ध्यान इन दोनों के बिना आत्मा तथा ब्रह्म (परब्रह्म) को देखना बिल्कुल असंभव ही है। केवल उपासना द्वारा ही आत्मा एवं ब्रह्म के दर्शन हो सकते हैं, किन्तु बिना उपासना किए तो वे दिखते ही नहीं। और, उपासना के बिना आत्मा तथा ब्रह्म के दर्शन को चाहना, वह कैसा है ? तो **जिस प्रकार आकाश को जीभ से सौ वर्ष तक चाटा जाए, तो भी उससे कभी भी खट्टा-खारा स्वाद आता ही नहीं, उसी तरह भगवान की मूर्ति की उपासना किए बिना अन्य चाहे जितने उपाय किए जाए परन्तु आत्मा और ब्रह्म का साक्षात्कार होता ही नहीं है। और, निर्बीज (निरीश्वर) सांख्य तथा योग द्वारा आत्मा के दर्शन की जो बात शास्त्रों में बताई गई है, वह भले ही कही हो, परन्तु हमने ऐसा किसी को भी नहीं देखा है, और स्वानुभव से भी वह बात असंगत प्रतीत होती है; अतः वह बात मिथ्या है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥36॥ ॥259॥

वचनामृत 37 : दरिद्रता में पूर्व सुखानुभूति का स्मरण

संवत् 1885 में वैशाख शुक्ला तृतीया (6 मई, 1829) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में उत्तरी द्वार के कमरे के बरामदे में गद्दी पर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंस तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने समस्त साधुओं तथा हरिभक्तों से कहा कि 'जिसे भगवान के स्वरूप का यथार्थ (निश्चयात्मक) ज्ञान एक बार हो

गया और बाद में यदि उसके लिए देश, काल, क्रिया और संग विषम हो जाए, परन्तु वह ज्ञान लेशमात्र भी नहीं मिट पाता। यहाँ दृष्टांत है - जैसे कोई महान राजा हो अथवा कोई बड़ा लखपति साहूकार हो और प्रारब्ध के अनुसार यदि उसकी सत्ता चली गई और वह दरिद्र हो गया तथा उसे रूखा-सूखा अन्न खाना पड़े अथवा बथुआ की भाजी, कैथ, बेर तथा भाँप से पकाये हुए पाकड़ के फल आदि मामूली चीज़ें खाने को मिलें तो वह उन्हें खाता तो अवश्य है, परन्तु पहले खाई हुई स्वादिष्ट चीज़ें या मेवा और मूल्यवान खाद्य पदार्थ जो किसी को न मिले, ऐसी-ऐसी चीज़ें उसने मँगवाकर खायी हों, उन्हें तो वह कभी नहीं भूल पाता। और मन ही मन विचार करता रहता है कि 'पहले तो मैं बहुत अच्छे स्वादिष्ट पदार्थ खाया करता था, किन्तु अब रूखा-सूखा खाता हूँ।' इस प्रकार जब-जब वह ऐसी चीज़ें खाता है, तब-तब उसे अपने पहले के सुखमय जीवन की यादें आ जाती हैं। और, जिसने पहले से ही रूखा-सूखा खाया हो, उसे यदि घोर दरिद्रता आ जाए, उस समय भी रूखा-सूखा ही खाता हो, तब उसे कहाँ से वैसी यादें आएँगी?

उसी प्रकार, जिसने भगवान के स्वरूप का आनन्द एवं भगवद्भजन का सुख मन में एक बार यथार्थरूप से अनुभव कर लिया, और बाद में उसे यदि सत्संग का संपर्क न भी रहा, या सत्संग से बाहर निकल जाना पड़ा, तब उस आनन्द का स्मरण करके प्रारब्धानुसार सुख-दुःख को वह भोगता है, किन्तु उस आनन्द को वह नहीं भूलता। परन्तु जिसने पहले कभी भगवान के सुख को जाना नहीं है और उसका अनुभव ही नहीं किया, उसे उसका स्मरण कैसे हो सकता है? वह तो मनुष्य होते हुए भी पशु के समान है।

अब भगवान के स्वरूप का ज्ञान किस प्रकार से समझना चाहिए, यह बताते हैं : भगवान का जैसा स्वरूप है, वैसा प्रकृति से उत्पन्न अन्य देव-मनुष्यादि में से किसी का भी आकार नहीं है। और एक भगवान के सिवा अन्य सभी को काल नष्ट कर देता है, एक भगवान के स्वरूप के आगे काल का सामर्थ्य नहीं चलता। अतः भगवान के समान तो केवल एक भगवान ही हैं, अन्य कोई नहीं है। और, भगवान के धाम में, भगवान के साधर्म्य को प्राप्त हुए जो भक्त हैं, उनका आकार भी भगवान के सदृश है, फिर भी वे पुरुष हैं (अर्थात् अक्षरमुक्त हैं,) किन्तु भगवान तो पुरुषोत्तम हैं और उन

सभी अक्षरमुक्तों में सर्वश्रेष्ठ हैं। वे भगवान, उन सभी के उपास्य हैं और सबके स्वामी हैं। उन भगवान की महिमा का कोई पार ही नहीं पा सकता। ऐसे दिव्यमूर्ति जो भगवान हैं, वह निर्गुण हैं, वही ध्येय हैं। जो पुरुष उनका ध्यान करता है, वह निर्गुण हो जाता है, ऐसा भगवान का स्वरूप है। और, वे भगवान स्वयं अपने धाम में एकदेशस्थ रहते हुए ही अन्वयभाव से अनेक ब्रह्मांडों में निवास करनेवाले समस्त जीवों के समूह को उनके कर्मों के अनुसार फ़ल-प्रदान करने के लिए अन्तर्यामीरूप से रह रहे हैं। वे सब जीवों के जीवन हैं। उनके बिना यह जीव कुछ भी करने और भोगने को समर्थ नहीं हो पाता। वे भगवान स्वयं सिद्धेश्वर हैं। जैसे कोई सिद्ध एक स्थान पर बैठा हुआ भी ब्रह्मलोक के पदार्थ को अपने हाथों से ग्रहण कर लेता है, वैसे ही भगवान भी एकदेशस्थ होने पर भी अपनी योगकला के सामर्थ्य से समस्त क्रियाओं को करते रहते हैं।

और, जिस तरह काष्ठ और पाषाण में रहनेवाली अग्नि के स्वरूप का प्रकार एक तरह का होता है, और काष्ठ-पाषाण का स्वरूप दूसरी तरह का होता है। वैसे ही जीवों में निवास करनेवाले भगवान का स्वरूप अन्य प्रकार का है, तथा उस जीव का स्वरूप दूसरी तरह का है। ऐसे अनन्त ऐश्वर्यवाले ये भगवान ही स्वयं जीवों के कल्याण के लिए मनुष्य सदृश हो जाते हैं।' जिसे उन भगवान के स्वरूप का ज्ञान इस प्रकार हुआ हो तथा उन भगवान की भक्ति जिसने की हो, फिर ऐसे ज्ञान-भक्ति के आनन्द का अनुभव एक-बार अपने जीव में यथार्थरूप से हुआ हो तो उस मुमुक्षु को उस सुख की विस्मृति कभी भी नहीं होती। चाहे कितने ही सुख-दुःख भोगने पड़ें, तो भी उसे भगवान के स्वरूप की सुखानुभूति कभी विस्मृत नहीं होती, ठीक उसी तरह, जैसे पूर्वोक्त महान राजा अपने पूर्वसुख को दरिद्रता की स्थिति में भी नहीं भूलता है।

हम यह वार्ता किसलिए करते हैं? तो ऐसे सत्संग का योग अभी तो है, परन्तु कदाचित् देश, काल तथा प्रारब्ध की विषमता से पुनः ऐसा संपर्क उपलब्ध न रहा, तब यदि ऐसी वार्ता समझकर आत्मसात् की हो, तो उस जीव का कल्याण हो जाता है। यदि उसे ऐसा दृढ़ निश्चय हो गया हो, तो वह ऐसा कभी भी नहीं मानेगा कि 'मेरा कभी अकल्याण होगा।' और ऐसा

संयोग कायम बना रहे, वह तो बहुत दुर्लभ है और इस प्रकार देह से आचरण करना भी दुर्लभ है। क्योंकि कभी सत्संग से बाहर निकलना पड़े तो देह से ऐसा आचरण करना असंभव है। अतः इस वार्ता को जिसने समझ रखा हो तो उसके जीव का अत्यधिक श्रेय होता है। इसलिए, यह वार्ता कही है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥37॥ ॥260॥

वचनामृत 38 : सांख्यज्ञान तथा निरंतर सुख!

संवत् 1885 में वैशाख शुक्ला चतुर्दशी (17 मई, 1829) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में श्रीगोपीनाथजी के मन्दिर में विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'हमने सांख्यादि शास्त्रों पर विचार करके ऐसा निश्चय किया है कि माया के कार्य से उत्पन्न सभी आकार मिथ्या हैं। क्योंकि, वे सब आकार तो काल के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं। किन्तु, भगवान के अक्षरधाम में स्थित भगवान का आकार तथा उन भगवान के पार्षद मुक्तजनों के आकार तो सत्य हैं, दिव्य हैं, और अतिशय प्रकाश-युक्त हैं। तथा वे आकार पुरुष के समान द्विभुज हैं और सच्चिदानन्द रूप हैं। और, उस अक्षरधाम में निवास करनेवाले भगवान की सेवा उन मुक्तपुरुषों द्वारा नाना प्रकार के दिव्य उपचारों द्वारा की जाती है, ऐसे पूजित वे भगवान भी उन मुक्तपुरुषों को परम आनन्द प्रदान करते हुए वहाँ सदैव विराजमान रहते हैं। और, वही **सर्वोपरि पुरुषोत्तम भगवान स्वयं दया करके जीवों के कल्याण के लिए इस पृथ्वी पर प्रकट हुए हैं और सभी जनों के दृष्टिगोचर हो रहे हैं। वही आप सबके इष्टदेव हैं और आप सबके द्वारा हो रही सेवा को अंगीकार करते हैं। और ऐसे प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम भगवान के स्वरूप में तथा अक्षरधाम में निवास करनेवाले भगवान के स्वरूप में कोई भी भेद नहीं है, वे दोनों एक ही हैं। ऐसे ये प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम भगवान तो अक्षरादि सभी के नियन्ता हैं तथा ईश्वरों के भी ईश्वर हैं और समस्त कारणों के भी कारण हैं। वे सर्वोपरि हैं**

और समस्त अवतारों के अवतारी हैं। ये भगवान ही आप सबके लिए एकान्तिक भाव से उपासना करने योग्य हैं। इन भगवान के इससे पहले अनेक अवतार हो चुके हैं, जो कि वंदनीय एवं अर्चनीय हैं।'

फिर श्रीजीमहाराज ने यह वार्ता भी कही कि 'जिसे द्रव्यादि का लोभ हो, स्त्रियों के बीच बैठने-उठने की वासना हो, स्वादिष्ट पदार्थों में जिह्वा की आसक्ति हो, देहाभिमान हो, कुसंगी से स्नेह रहा करता हो तथा सम्बंधियों से स्नेहभाव हो – जीवन में ये छः बाबतें बनी रहती हों, उसे जीते जी और मरने के बाद भी कभी सुख मिलता ही नहीं! इसलिए, जिसको सुख की इच्छा हो, वह अपने में ऐसे स्वभाव हो, तो उसका त्याग कर दें, और निवृत्ति-परायण हो जाए। उसे तो अपने समवयस्कों का संग भी नहीं रखना चाहिए। और, **जो देहाभिमानरहित हैं, तथा वैराग्यवान हैं और भगवान के अल्पवचन के पालन में क्षति हो जाए, तो उसे बड़े वचन के पालन में भंग हुआ ऐसा समझते हैं, ऐसे भगवद्भक्त महान साधु के साथ अपने जीव को संलग्न कर देना चाहिए; तथा मन, कर्म और वाणी से उन्हीं के वचन में रहना चाहिए।** और, विषयों के सम्बंध से दूर ही रहना चाहिए, परन्तु अपने नियमों का त्याग करके विषयों का सम्बंध कभी नहीं होने देना चाहिए। यदि विषय से सम्बंध रखना प्रारंभ करे तो उसका तो ठिकाना ही नहीं रहेगा, यह सिद्धान्त वार्ता है।'

॥ इति वचनामृतम् ॥38॥ ॥261॥

वचनामृत 39 : आत्मा-परमात्मा का चिंतनसातत्य

संवत् 1886 में आषाढ़ कृष्णा दशमी (25 जुलाई, 1829) को श्रीजीमहाराज श्रीगढ़डा-स्थित दादाखाचर के राजभवन में पूर्वी द्वार के कमरे के बरामदे में विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। उनके समक्ष परमहंसों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने समस्त परमहंसों और सत्संगियों के सामने यह वार्ता कही कि 'भगवान की माया क्या है? तो **देह में अहंबुद्धि तथा शरीर सम्बंधी पदार्थों में ममत्वबुद्धि ही माया है। अतः इस माया से मुक्त होना चाहिए।** जिसने इस माया को नष्ट किया, वह माया-पार हो

चुका है। इस माया से मुक्त होकर भगवान से प्रीति करना ही समस्त शास्त्रों का सिद्धान्त है। भले ही इसे आज समझ लें या अनेक दिनों के बाद समझें। हनुमान, नारद तथा प्रह्लाद-जैसे जो महान भगवद्भक्त हैं, उन्होंने भी भगवान से यही माँगा है कि 'हे भगवान! अहं-ममत्वरूपी माया से हमारी रक्षा करिएगा और आपसे प्रीति बनी रहे तथा उन साधु का संग बना रहे जो इस माया को तैर गए हैं और जो आपसे प्रीति रखे हुए हैं। ऐसे ही साधु से हमारा स्नेह तथा ममत्व बना रहे।' अतएव, हमें भी उन भक्तों के समान ही करना और यही माँगना तथा ऐसे शब्दों का ही श्रवण, मनन एवं निदिध्यास करना चाहिए।

और, भगवान के भक्त को आत्मनिष्ठा का बल तथा भगवान के माहात्म्य का बल ये दो बल चाहिए। इसमें आत्मनिष्ठा क्या है? तो अपनी आत्मा को देह से पृथक् जानना ही आत्मनिष्ठा है। यदि साधु के साथ रहते हुए उनसे परस्पर किसी निमित्त कहासुनी हो जाए, तथा कुछ अहंता-ममता होने का प्रसंग खड़ा हो जाए तथा मान, क्रोध, स्वाद, लोभ, काम, मत्सर और ईर्ष्या आदि दुर्गुणों की प्रवृत्ति हो जाए, तब यदि स्वयं को आत्मारूप न जानता हो, तो उसे साधु के प्रति दुर्भाव हो जाता है। जिसके फलस्वरूप उस जीव का बहुत बड़ा अनिष्ट हो जाता है। इसलिए, अपने को अवश्यरूप से इस देह से पृथक् आत्मा समझना।

वह आत्मा न तो ब्राह्मण है, न क्षत्रिय है और न किसान ही है। वह न तो किसी का लड़का है और न किसी का पिता भी है। न उसकी कोई जाति है और न ही उसका कोई रिश्ता ही है। ऐसी आत्मा तो सूर्य एवं अग्नि के समान तेजस्वी तथा ज्ञातृत्व से युक्त है। हालाँकि अग्नि की ज्वाला तथा सूर्य की किरणें तो जड हैं, जिन्हें उँगली से छूने पर भी खिसकती नहीं हैं। किन्तु, चींटी को यदि उँगली से छू दिया जाए, तो वह खिसक कर उलटी चल पड़ती है। इसलिए आत्मा को प्रबुद्धता से युक्त बताया गया है। उसे सूर्य और अग्नि के सदृश तेजोमय बताया गया है, क्योंकि इसका आकार ऐसा तेजस्वी है।

यह आत्मा अनेक योनियों को प्राप्त हुई है। अतः कहा जाता है कि 'समुद्र में जितना पानी है उतने परिमाण में इस जीव ने अपनी माता का दूध पिया है।' यद्यपि उन विभिन्न योनियों में उसका देहान्त तो हुआ है, फिर भी

उसका यानी स्वयं आत्मा का नाश नहीं हुआ। ऐसी अज्ञानावस्था में भी जब वह स्वयं को देहरूप मानता रहा था, तब भी यह नहीं मरी, तो अब हमें आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हुआ! फिर कैसे मरेगी? ऐसी जो आत्मा है, उसे अपना स्वरूप मानना।

अब भगवान का माहत्म्य कैसे जानना चाहिए? इस विषय पर कहते हैं कि भगवान अनेक ब्रह्मांडों के राजाधिराज हैं और जिन ब्रह्मांडों के ये अधिपति हैं, उन ब्रह्मांडों की तो उन्हें कोई गिनती तक नहीं है। इसीलिए, कहा गया है :

'द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया।
त्वमपि यदन्तराऽण्डनिचया ननु सावरणाः॥'[22]

उस एक-एक ब्रह्मांड में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सात द्वीपों, सात समुद्रों, मेरु, लोकालोकादि पर्वतयुक्त पृथ्वी, चौदह लोकों तथा अष्ट आवरण की रचना आदि सामग्री सहित जो अनेक ब्रह्मांड हैं, उनके अधिपति भगवान हैं। जैसे इस पृथ्वी के चक्रवर्ती राजा के जितने गाँव हों, उनकी गिनती की जा सकती है, फिर भी उस राजा की कितनी महत्ता ज्ञात होती है! जबकि भगवान के अधीनस्थ जो ब्रह्मांड हैं, उनकी संख्या तो अगणित और अनन्त है! जो गिने नहीं जा सकते! अतः भगवान की कितनी अपार महिमा है!! उन ब्रह्मांडों में जो जीव हैं, उनका भगवान के समक्ष महत्त्व ही क्या है? कुछ नहीं! वे अतितुच्छ है।

और, उन भगवान ने जीवों को इन ब्रह्मांडों में पंचविषय सम्बंधी सुख दिया है, वह सुख कैसा है? तो उस सुख के कारण कितने ही अपने सिर कटवाते हैं ऐसा महादुर्लभ-सा प्रतीत होता है। तब स्वयं भगवान की मूर्ति में और उनके अक्षरधाम में जो आनन्द है, वह कितना अपरिमित होगा! प्राकृत विषयों का जो सुख है, वह तो अन्य पदार्थों पर आधारित रहता है, तथा वह पृथक्-पृथक् दिखता है; जबकि भगवान तो समस्त सुखमात्र का स्रोत हैं।

22. **अर्थ :** 'ब्रह्मादि देव भी आपकी महिमा का पार नहीं पाते। क्योंकि आपकी महिमा अपार है, आप स्वयं आपकी महिमा का पार नहीं पा सकते हैं। आप ऐसे महिमावंत हैं कि जिसके एक-एक रोम के छिद्र में अष्ट आवरणों से युक्त अनेक ब्रह्मांड विद्यमान हैं।' (श्रीमद्भागवतम् : 10/87/41)

वस्तुतः भगवान सम्बंधी आनन्द अविनाशी है और महा अलौकिक है। जैसे कोई बड़ा धनी गृहस्थ हो और अपने घर में अनेक प्रकार के भोजन लेता हो, भोजन के बाद यदि वह अपनी बची हुई उच्छिष्ट रोटी का कुछ टुकड़ा कुत्ते के आगे डाल दे, तो वह तो अत्यन्त तुच्छ कहलाएगा, और स्वयं जो भोजन करता हो, वह महासुखमय कहलाएगा। वैसे ही भगवान ने ब्रह्मांडों में अनेक जीवों को जो पंचविषय सम्बंधी सुख दिया है, वह कुत्ते को डाले गए रोटी के टुकड़े के समान अत्यन्त तुच्छ है, तथा भगवान सम्बंधी जो सुख है, वह तो अतिशय महान है।

भगवान जीवों को सुषुप्ति-अवस्था में भी प्रचुर सुख प्रदान करते हैं। वह किस तरह? तो उसे चाहे कितनी ही शारीरिक वेदना होती हो, वह सुषुप्ति-अवस्था में शान्त हो जाती है तब वह बड़ा सुखिया हो जाता है।

और, भगवान के चरणकमलों की रज को तो ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मीजी, राधाजी, नारद, शुक एवं सनकादिक नौ योगेश्वर भी, जो इतने महान हैं, अहंशून्य होकर अपने मस्तक पर चढ़ाते हैं और अपनी मान-मर्यादा को छोड़कर इन भगवान की निरन्तर भक्ति करते रहते हैं। ऐसे भगवान ने जगत में कैसी विचित्र सृष्टि की रचना की है और उसमें कैसा कौशल दिखाई देता है! देखो न, मनुष्य में से मनुष्य, पशु में से पशु, वृक्ष में से वृक्ष और कीड़े में से कीड़ा उत्पन्न होता है! मनुष्य के अंगों में से यदि कोई अंग भंग हो गया हो, तो कोई भी प्रवीण व्यक्ति उसे यथावत् करने में किसी भी प्रकार से समर्थ नहीं हो पाता। ऐसी अनेक कलाएँ भगवान में हैं। इस प्रकार भगवान का माहात्म्य समझकर तथा उन्हें आनन्दमय मूर्ति जानकर मनुष्य को अन्य समस्त पदार्थों से वैराग्य हो जाता है और एकमात्र भगवान से ही प्रीति लग जाती है।

जिस प्रकार आगे कहा गया है, ऐसा **अपनी जीवात्मा का ज्ञान तथा भगवान के माहात्म्य का ज्ञान - दोनों की सिद्धि जिसे भी हो गई, वह चाहे कैसे भी पंचविषय सम्बंधी सुख के बन्धन में कभी भी फँस गया, तो वह उसमें फँसा नहीं रहेगा और उन बंधनों से निकलकर ही रहता है, तब उस पुरुष की बात ही क्या है, जो विषयों के सुख का परित्याग करके रहता है! अतएव, इन दोनों प्रकार के ज्ञान को सुनकर**

अपने मन में उस ज्ञान के अनुसार वेग लगा दें। जैसे कोई शूरवीर तथा कठोर प्रकृति का मनुष्य हो, उसके किसी प्रतिद्वन्द्वी ने इस शूरवीर के बाप को मार डाला तो उसे, उस प्रतिद्वन्द्वी से भीषण वैर हो जाता है और तब वह प्रतिद्वन्द्वी, उसके लड़के को मार डालता है, और उसके भाई की हत्या कर डालता है तथा स्त्री को छीन लेता है और उसकी माँ को उठाकर मुसलमान को सुपुर्द कर देता है। गाँव-गरास लूट लेता है। इस प्रकार, जैसे-जैसे प्रतिद्वन्द्वी उसे पराजित करता है, वैसे-वैसे उसके मन में प्रतिशोध की ज्वाला और भी धधकने लगती है। और, जाग्रत एवं स्वप्नावस्था में उसे इसी बात का ही विचार बना रहता है। वैसे ही जिसे इन दोनों बातों (आत्मा-परमात्मा) का निरन्तर ध्यान बना रहे और उसे उस ज्ञान की सिद्धि हो जाए, तब उस पुरुष को चाहे कैसा ही आपत्काल उपस्थित हो, पर उसमें सहायता मिल जाती है।

जैसे हनुमानजी विशल्यकारिणी (संजीवनी) औषधि को लाए और उसे लक्ष्मणजी को पिलाया तो उनकी देह में लगे बाण अपने आप बाहर निकल आए। वैसे ही जिस पुरुष के मन में ये दो बातें सुदृढ़ हो गयीं, तो उनके अन्त:करण से विषयभोग की इच्छारूप सभी शल्य स्वयं ही निकल जाते हैं, अर्थात् विषयभोग में से उसकी इन्द्रियों की वृत्तियाँ निकलकर एकमात्र भगवान के स्वरूप में ही लग जाती हैं। तथा सत्संगी भी उसी को कहा जाता है; क्योंकि सत्यरूपी जो अपनी आत्मा, और सत्यरूप जो भगवान दोनों का जिसे संग हुआ, उसको ही सत्-संगी कहते हैं।

और, इन दोनों प्रकार की वार्ता को जब दैवी जीव सुनता है, तब उसके हृदय में प्रविष्ट होकर वह रग-रग में फैल जाती है। परन्तु जो आसुरी जीव होता है, उसे तो यह बात सुनते ही बाहर ही निकल जाती है, उसके हृदय में यह नहीं उतरती। जैसे श्वान अगर खीर को खा लेगा, तो वह उसके पेट में टिक ही नहीं पाती, वह उल्टी के रूप में बाहर निकल जाती है। यद्यपि खीर को अन्य किसी भी खाद्यपदार्थ से स्वादिष्ट माना जाता है, फिर भी वह खीर श्वान के पेट में टिककर उसे पुष्टि और तुष्टि नहीं दे पाती। किन्तु, उसी खीर को यदि मनुष्य खा लेता है, तो वह उसे संतुष्टि और पुष्टि दोनों देती है। वह उसका स्वाद लेने में भी सक्षम होता है। उसी तरह श्वान के समान आसुरी

जीव के हृदय में तो यह बात ही नहीं जम सकती, परन्तु दैवी जीव के हृदय में तो ऐसी बात स्थिर भी होती है, और रग-रग में व्याप्त भी हो जाती है!

और, भगवान के सदृश तो केवल भगवान ही है। और भगवान का भजन करके अनेक भक्त उनके साधर्म्य को प्राप्त हुए हैं, फिर भी वे भगवान के समान तो हो ही नहीं सकते। यदि वे भगवान के समान ही हो जाए तब तो बहुत-से भगवान हो जाएँगे। उस दशा में तो जगत की स्थिति एक समान नहीं रह सकती। क्योंकि, एक भगवान कहेंगे कि मैं जगत की उत्पत्ति करूँगा, दूसरे भगवान बोलेंगे कि मैं जगत का प्रलय करूँगा, तीसरे भगवान कहेंगे कि मैं पानी बरसाऊँगा, चौथे भगवान बताएँगे कि मैं पानी नहीं बरसाऊँगा, पाँचवें भगवान कहेंगे कि मैं मानवधर्मों का प्रचलन पशुओं में करूँगा, जबकि इनसे भिन्न अन्य भगवान यह बोलेंगे कि मैं पशुओं के धर्मों को मनुष्यों में प्रचलित करूँगा। इस प्रकार जगत की एक समान स्थिति नहीं रह पाती। परन्तु देखिए न, संसार में किस किस प्रकार समस्त क्रियाएँ निरन्तर नियमानुसार होती रहती हैं! जगत के संचालन में तिलमात्र भी अन्तर नहीं पड़ता! अतः इन समस्त क्रियाओं के प्रवर्तक तथा सबके स्वामी एकमात्र भगवान हैं। ऐसा भी नहीं लगता कि भगवान के साथ किसी दूसरे का दाव लग जाए! वे एक और अनन्य ही हैं! दूसरा उनके सदृश हो ही नहीं सकता!

यह बात जो हमने कही, वह अल्पमात्र ही है, फिर भी इसमें सब कुछ समा दिया है। इस बात का रहस्य तो केवल बुद्धिमान व्यक्ति ही समझ पाता है, अन्य मनुष्य की समझ में यह बात नहीं आ सकती। यदि उपरोक्त आत्मा-परमात्मा की बात जिसने सुदृढ़ कर ली उसके लिए तो सभी साधनाएँ मानो पूर्ण हो गईं! उसके लिए तो कुछ भी करना बाक़ी नहीं रह गया।'

इतनी बात कहकर श्रीजीमहाराज ने बताया कि 'हमने जो ये बातें कही हैं, उन्हें सुनकर जिन्होंने अपने हृदय में दृढ़ कर लिया है, ऐसे ही भक्त का संग रखना, तो उसको इस वार्ता पर दिन-प्रतिदिन दृढ़ता होती जाएगी। इस प्रकार की जो बात हम करते हैं, वह बुद्धि की कल्पना से नहीं करते और अपनी सिद्धता दिखलाने के लिए भी नहीं करते। यह तो हमारी अनुभूत बात है। हम जैसा आचरण करते हैं, वैसी ही बातें करते हैं। क्योंकि, हमारे लिए स्त्री-धनादि पदार्थों तथा पंचविषयों का भारी योग है। जब कभी हम सूरत,

अहमदाबाद, वड़ोदरा और वरताल जाते हैं, तब सहस्त्रों मनुष्य इकट्ठे होते हैं और हमारे प्रति आदर भावना प्रकट करते हैं। वे गाजेबाजे के साथ अति सम्मानपूर्वक हमारा स्वागत करते हैं। उन शहरों में भी हमने बहुत बड़े-बड़े स्थान देखे हैं और हमारे लिए अधिकाधिक वस्त्रों तथा वाहनादि का योग भी उपस्थित होता है। फिर भी हम अपनी आत्मा तथा भगवान के माहात्म्य का विचार जब करते हैं, तब ये समस्त वस्तुएँ अति तुच्छ दिखाई देती हैं तथा कहीं भी बन्धन नहीं होता। एवं जिस प्रकार पूर्वदेह की विस्मृति हो जाती है, उसी प्रकार इन सब वस्तुओं का भी विस्मरण हो जाता है। अतः इन दो बातों को हमने सिद्ध कर लिया है। यही कारण है, कि हम इतना अनासक्त रह सकते हैं। इसी प्रकार अन्य कोई (व्यक्ति) इन दो बातों को सिद्ध कर ले, तो वह भी विषयों का सम्बंध होने पर हमारी ही तरह अनासक्त रह सकता है। इसलिए यह बात अवश्य समझनी चाहिए।' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने कृपा करके दूसरों को समझाने के लिए अपने आचरण के आधार पर वार्ता कही, जबकि वे स्वयं तो साक्षात् श्रीपुरुषोत्तम नारायण हैं।

॥ इति वचनामृतम् ॥39॥ ॥262॥

॥ श्रीगढ़डा अन्त्यप्रकरणं समाप्तम् ॥

॥ इतिश्रीभक्तिधर्मात्मजश्रीसहजानन्द-
स्वामिवचनामृतानि संपूर्णानि ॥

इस प्रकार, श्रीजीमहाराज के इन वचनामृतों को मुक्तानन्द स्वामी, गोपालानन्द स्वामी, नित्यानन्द स्वामी तथा शुकमुनि इन साधुओं ने मिलकर जैसा सुना है, वैसा ही अपनी बुद्धि के अनुसार लिखा है। श्रीजीमहाराज दिन-प्रतिदिन इस प्रकार अनेक वार्ताएँ करते हुए और अपने भक्तों को आनन्द प्रदान करते हुए श्रीगढ़डा में विराजते थे।

मुक्तानन्दश्च गोपालानन्दो मुनिरुदारधीः।
नित्यानन्द-शुकानन्दौ चत्वारो मुनयस्तु ये ॥१॥

एतैः सङ्गत्य लिखितानीत्थं धर्मजनेर्हरेः।
वचोऽमृतानि सर्वाणि यथामति यथाश्रुतम् ॥२॥

तत्रादौ दुर्गनगरे स्वामिनोक्तानि तेन तु।
अष्टसप्ततिसङ्ख्यानि तानि सन्तीष्टदानि हि ॥३॥

प्रोक्तानि च ततस्तेन सारङ्गपुरसंज्ञके।
ग्रामेऽष्टादशसङ्ख्यानि तानीष्टानि भवन्ति हि ॥४॥

तेनोक्तानि ततस्तानि ग्रामे कार्यायनाभिधे।
सन्ति द्वादशसङ्ख्यानि सर्वसौख्यकराणि हि ॥५॥

लौहाभिधे ततो ग्रामे तानि प्रोक्तानि तेन च।
सन्त्यष्टादशसङ्ख्यानि भक्ताभीष्टप्रदानि हि ॥६॥

ग्रामे पञ्चालसंज्ञेऽथ तेन तान्युदितानि वै।
सन्त्येकान्तिकभक्तानां प्रेष्टानि सप्तसङ्ख्यया ॥७॥

पुनर्दुर्गपुरे तेन स्वामिना कथितान्यथ।
सन्ति तानि सप्तषष्ठि-सङ्ख्यातानि हि तत्त्वतः ॥८॥

ततो वृत्तालयपुरे तेन धर्मसुतेन च।
तानि विंशतिसङ्ख्यानि कथितानि भवन्ति हि ॥९॥

ततः श्रीनगरे तानि प्रोक्तानि त्रीणि तेन च।
श्रीभक्तिधर्मपुत्रेण सन्ति भक्तप्रियाणि हि ॥१०॥

कथितानि पुनस्तेन स्वामिना दुर्गपत्तने ।
तानि सन्त्येकोनचत्वारिंशत्सङ्ख्यानि तत्त्वतः ॥११॥

एवं हि तानि सर्वाणि मितानि द्विरसाक्षिभिः ।
सन्ति संलिखितानि श्रीमहाराजनिदेशतः ॥१२॥

इमानि ये पठिष्यन्ति श्रोष्यन्ति चादराज्जनाः ।
भविष्यति हरौ तेषां भक्तिरेकान्तिकी ध्रुवम् ॥१३॥

आप्याययन्निजजनान् स्वकीयवचनामृतैः ।
जयति श्रीहरिः स्वामी श्रीमद्दुर्गपुरे प्रभुः ॥१४॥

स्वधर्मस्य च जीवात्मज्ञानस्य विरतेस्था ।
माहात्म्येन सह स्वीयज्ञानभक्त्योर्यथार्थतः ॥१५॥

लक्षणानि स्वभक्तेभ्यो य उवाच दयानिधिः ।
नानाविधैः प्रसङ्गैस्तं नमामो भक्तिनन्दनम् ॥१६॥

निजैर्वचोऽमृतैर्लोकेऽतर्पयद्यो निजाश्रितान् ।
प्रीतो नः सर्वदा सोऽस्तु श्रीहरिर्धर्मनन्दनः ॥१७॥

तद्वचोऽमृतपातारो ये स्युस्तत्पदसंश्रयाः ।
सत्सङ्गिनः प्रसन्नास्ते भवन्त्वस्मासु सर्वदा ॥१८॥

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ॥

भूगोल-खगोल वचनामृतम्

श्रीजीमहाराज ने आषाढ़ी संवत् 1863 में कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा से प्रबोधिनी के बीच श्रीगढ़डा के भक्तिबाग में तिनिशवृक्ष के नीचे बैठकर शुकानन्दमुनि द्वारा हरिभक्तों के लिए जो पत्र लिखवाया, उसका उद्देश्य यही था कि भक्तों को भूद्वीप खंड, युगपरिमाण तथा प्रलयवर्णनपूर्वक भरतखंड में मनुष्यजन्म की दुर्लभता का वर्णन प्राप्त हो, तथा मनुष्य जन्म प्राप्त करके अन्य लौकिक प्रवृत्ति का आग्रह न करके सब मुमुक्षु मोक्षरूपी कार्य सिद्ध कर लेने पर जोर दें। उस बात का वर्णन हरिलीलामृत के छठे कलश के विश्राम 11-12 में किया गया है। यह बात गौण है कि वह पत्र उसी समय पर लिखा गया होगा या कुछ अन्य समय पर लिखा गया होगा, लेकिन इसे उपयोगी समझकर यहाँ पृथक् रूप से मुद्रित किया गया है :

श्रीमद्भागवत आदि सद्ग्रन्थों में लिखा हुआ है कि भरतखंड में मनुष्यदेह प्राप्त करना अतिदुर्लभ है तथा चिन्तामणि तुल्य है। यह एक ऐसी देह है, जिसे पाने की इच्छा इन्द्रादि देवता तक किया करते हैं। यद्यपि इन देवताओं के विषय, वैभव-विलास तथा आयुष्य मनुष्यों की अपेक्षा अत्यधिक हैं, परन्तु वहाँ मोक्ष की साधना नहीं होती। मोक्ष की साधना तो भरतखंड में मनुष्यदेह प्राप्त करने से ही होती है। उसके सिवा यह साधना किसी अन्य स्थान में कोई दूसरी देह धारण करने से नहीं होती। अतः मृत्युलोक के समस्त देशों की अपेक्षा भरतखंड में मनुष्यदेह को प्राप्त करना अधिक उत्कृष्ट माना गया है। उसके तुल्य कोई अन्य स्थान चौदह लोकों तक में नहीं है।

उन चौदह लोकों के नाम इस प्रकार हैं : यह मृत्युलोक है, उसके ऊपर छः लोक हैं, जिनमें प्रथम भुवर्लोक है, उसमें मलिन देव रहते हैं। उससे ऊँचा दूसरा स्वर्गलोक है, उसमें इन्द्रादि देव निवास करते हैं। उससे

ऊँचा तीसरा महर्लोक है, जिसमें अर्यमादि पितृदेव रहते हैं। उससे ऊँचा चौथा जनलोक तथा पाँचवाँ तप लोक हैं। इन दोनों लोकों में भृगु आदि ऋषि रहते हैं। उससे ऊपर छठा सत्यलोक है, उसमें ब्रह्मा रहते हैं। इस प्रकार सत्यलोक सहित ऊर्ध्व सात लोक हैं।

मृत्युलोक से नीचे जो सात लोक हैं, उनमें प्रथम अतल, दूसरा वितल और तीसरा सुतल है। इन तीनों लोकों में दैत्य रहते हैं। सुतल से नीचे तलातल, दूसरा महातल और तीसरा रसातल है। इन तीनों लोकों में निशाचर रहते हैं। इन निम्न छः लोकों से नीचे सातवाँ लोक पाताल है, जिसमें सर्प रहते हैं। ये सातों लोक मृत्युलोक से नीचे हैं। इन्हें मिलाकर कुल चौदह लोक हुए। उनमें मृत्युलोक श्रेष्ठ है।

उस मृत्युलोक के सात द्वीप हैं, जो चक्राकार हैं। उनके मध्य जंबुद्वीप है। वह एक लाख योजनवाला है। उसके चारों तरफ खारे जल का समुद्र है। वह भी एक लाख योजन तक फैला हुआ है। उससे दूसरा प्लक्ष नामक द्वीप है। वह दो लाख योजन का है। उसके चारों ओर समुद्र भी दो लाख योजन का है। उसका जल गन्ने के रस के समान है। उससे तीसरा शाल्मलि द्वीप है। वह चारों ओर फैला हुआ है और चार लाख योजन का है। उसके चारों तरफ समुद्र है। उसका जल सुरा यानी मद्य के समान है। उससे चौथा कुशद्वीप है। वह चारों ओर फैला हुआ है और आठ लाख योजन का है। उतना ही बड़ा समुद्र चारों ओर है। उसका जल घी के सदृश है। उससे पाँचवाँ क्रौंचद्वीप है। वह सोलह लाख योजन का है। उतना ही बड़ा समुद्र उसके चारों ओर है, और उसका जल दूध के समान है। उससे छठा शाकद्वीप है। वह बत्तीस लाख योजन का है। उसके चारों ओर का समुद्र भी उतना ही बड़ा है। उसका जल दधिमंडोद यानी दही के घोल के समान है। उससे सातवाँ पुष्करद्वीप है। वह चौंसठ लाख योजन का है। उसका जल सुधा (अमृत) के समान मधुर है। इस प्रकार के सात द्वीप हैं। उनमें यह जम्बुद्वीप श्रेष्ठ है।

इस जम्बुद्वीप के नौ खंड हैं। वह कैसे हैं? तो उस द्वीप के मध्यभाग में सुवर्ण का मेरुपर्वत है। उस पर्वत की तराई में चारों तरफ फैला हुआ ईलावर्त नामक एक खंड है; वहाँ संकर्षण की उपासना होती है, वहाँ शिवजी मुख्य भक्त हैं। उस मेरुपर्वत से पश्चिम दिशा में एक केतुमाल नाम का खंड

है। उसका दूसरा नाम 'सुभग' भी है। वहाँ प्रद्युम्न की उपासना होती है, और लक्ष्मीजी मुख्य भक्त हैं। उस मेरुपर्वत से उत्तर दिशा में तीन खंड हैं। उनमें प्रथम 'रम्यक' नामक खंड है, जिसमें मत्स्य भगवान की उपासना होती है, वहाँ सावर्णि मनु मुख्य भक्त हैं। उससे उत्तर में दूसरा 'हिरण्यमय' खंड है। उसमें कूर्मजी की उपासना होती है, वहाँ अर्यमा मुख्य भक्त हैं। उससे उत्तर में तीसरा 'कुरुखंड' है, जिसमें वराह की उपासना की जाती है, वहाँ पृथ्वी मुख्य भक्त है। इस प्रकार ये पांच खंड हुए। उस मेरुपर्वत से पूर्व दिशा में 'भद्राश्व' नामक खंड है, वहाँ हयग्रीव की उपासना होती है। वहाँ भद्रश्रवा मुख्य भक्त हैं। उस मेरुपर्वत से दक्षिण दिशा में तीन खंड हैं। उनमें प्रथम 'हरिवर्ष' खंड है। वहाँ नृसिंहजी की उपासना की जाती है और प्रह्लादजी मुख्य भक्त हैं। उससे दक्षिण दिशा में दूसरा 'किंपुरुष' नामक खंड है, जहाँ रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी की उपासना की जाती है तथा हनुमानजी मुख्य भक्त हैं। उससे दक्षिण दिशा में 'भरतखंड' है। वहाँ नरनारायण देव की उपासना की जाती है और नारदजी मुख्य भक्त हैं।

इस प्रकार इस जम्बुद्वीप के नौ खंड हुए। उनमें 'भरतखंड' अतिश्रेष्ठ है। इसका कारण क्या है? तो अन्य आठ खंडों में भोगविलास के सुख तो अत्यधिक हैं, किन्तु वहाँ मोक्ष का साधन नहीं हो सकता। मोक्ष का साधन तो एकमात्र भरतखंड में ही हो सकता है। इस कारण चौदह लोकों में इस भरतखंड तुल्य कोई अन्य स्थल नहीं है। भरतखंड में भी तेरह देश हैं, वे अनार्य अर्थात् कठोर हैं। इनमें पहला बंगाल, दूसरा नेपाल, तीसरा भूतान, चौथा कामाक्षी, पाँचवाँ सिन्ध, छठ्ठा काबुल, सातवाँ लाहौर, आठवाँ मुलतान, नौवाँ ईरान, दसवाँ इस्तम्बुल, ग्यारहवाँ अरबस्तान, बारहवाँ स्वाल तथा तेरहवाँ पिलपिलाम है। ये तेरह देश मलिन हैं। इनमें जो मनुष्य देह पाता है, उसके लिए मोक्षदाता सद्‌गुरु का योग मिलना तथा मोक्षधर्म को समझना अत्यन्त दुष्कर रहता है।

दूसरे साढ़े बारह देश भी हैं, वे आर्य अर्थात् उत्तम हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं : पहला पूर्व, दूसरा व्रज, तीसरा मालव, चौथा मारु, पांचवाँ पंजाब, छठ्ठा गुजरात, सातवाँ दक्षिण, आठवाँ मलबार, नौवां तिलंग, दसवाँ द्राविड़, ग्यारहवाँ बारमलार, बारहवाँ सोरठ तथा आधा कच्छ। ये साढ़े बारह देश उत्तम हैं। इनमें सद्‌गुरु तथा ब्रह्मवेत्ता सन्त का प्राकट्य अधिक रहता है। इन

देशों में जो पुरुष मनुष्य देह पाते हैं, उन्हें धर्म, भक्ति, वैराग्य तथा ज्ञान का बोध हो जाता है और मोक्षमार्ग का भी ज्ञान मिल जाता है।

इन बातों की जानकारी कैसे होती है? सुनिये, इन उत्तम देशों में भगवान के अनेक अवतार होते हैं, इसीलिए ये देश श्रेष्ठ हैं। यदि भरतखंड के सभी मनुष्य मोक्षोपाय करें तो उनका मोक्ष हो सकता है। यदि वे ऐसा उपाय नहीं करते, तो मोक्ष नहीं हो सकता। अतः **जो विवेकी हैं, वे सब हिंसा-दोषरहित होकर, कुसंग का परित्याग करके सद्गुरु एवं ब्रह्मवेत्ता सन्त का आश्रय ग्रहण करें तथा उनकी सेवा करें। उन सद्गुरु सन्त के लक्षण सद्ग्रन्थों में लिखे हुए हैं कि वे धर्म, भक्ति, वैराग्य तथा ज्ञान आदि शुभ गुणों से सम्पन्न होते हैं। उनको पहचानकर उनकी शरण ग्रहण करें और अपनी देह, इन्द्रियों और अन्तःकरण को उनकी आज्ञा के अनुसार ही रखें तथा भगवान का भजन करें। मोक्ष का यही साधन है।** जिसने भूतकाल में इस मोक्षसाधन को अपनाया था, तथा वर्तमानकाल में जो यह साधन करता है और भविष्यकाल में भी कोई इसके अनुसार करेगा तो समझना कि उसने मनुष्यदेह का अमूल्य लाभ ले लिया तथा उसे ही विवेकशील और बड़ा मानना।

जो मनुष्य यह बात नहीं समझता, वह वस्तुतः संसार के तुच्छ सुख के लोभ में आसक्त होकर, कालकवलित मिथ्या-मतवादी गुरुओं के वचनों से ऐसी अमूल्य मनुष्य-देह को खो बैठता है। भले ही ऐसे अज्ञानी जगत में 'चतुर,' 'समझदार' और 'महान' कहलाते हों तथा उनकी यश-कीर्ति भी भले ही अधिक फैली हुई हो, परन्तु सब स्वप्न-तुल्य है। जिसे सच्चा मानकर ऐसे अज्ञानी लोग मतवादी गुरुओं से मुग्ध होकर रहते हैं, उन्हें मोक्ष का उपाय नहीं सूझता इसलिए ब्रह्मवेत्ता सन्त तथा सद्ग्रन्थ ऐसे लोगों को मूर्ख और आत्मघाती बताते हैं। ऐसे लोगों के लिए तो मोक्षक्षेत्र में पुनः मनुष्यदेह पाने में अधिकाधिक विलम्ब होता है।

यह बात सद्ग्रन्थों के अनुसार लिखी गयी है कि जब हमारे 666 वर्ष तथा 8 मास बीतते हैं, तब ब्रह्मा का एक 'लव' होता है। ऐसे 60 लवों का एक निमिष होता है। सो हमारे चालीस हज़ार वर्ष बीत जाएँ, तब ब्रह्मा का एक 'निमिष' होता है। ऐसे साठ निमिषों का एक 'पल' होता है। हमारे

चौबीस लाख वर्ष बीतने पर ब्रह्मा का एक पल होता है। ऐसे 60 पलों की एक घड़ी (चौबीस मिनट) होती है। हमारे चौदह करोड़ चालीस लाख वर्ष व्यतीत होने पर ब्रह्मा की एक घड़ी होती है। ऐसी तीस घड़ियों का एक दिन होता है। हमारे चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष होने पर ब्रह्मा का एक दिन होता है। इस प्रकार चार युगों की एक चौकड़ी होती है। सतयुग के सत्रह लाख अट्ठाईस हज़ार, त्रेतायुग के बारह लाख छियानवे हज़ार, द्वापर के आठ लाख चौंसठ हज़ार तथा कलियुग के चार लाख बत्तीस हज़ार वर्षों को जोड़ने से जब तैंतालीस लाख बीस हजार वर्ष होते हैं, तब एक चौकड़ी पूर्ण होती है। ऐसी चारों युगों की एक हज़ार चौकडियाँ ब्रह्मा के एक दिन में बीत जाती हैं। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनुओं और चौदह इन्द्रों का समान रूप से राज्य करने के बाद विनाश हो जाता है। एक मनु तथा एक इन्द्र हमारे तीस करोड़, पचासी लाख, इकहत्तर हज़ार, चार सौ अट्ठाईस वर्ष, छः मास, पच्चीस दिन, बयालीस घड़ी, इक्यावन पल, पच्चीस निमिष, बयालीस लव तथा इसके उपरांत बारह लव के चौदहवें भाग में एक-एक रहकर चौदह इन्द्र हो जाते हैं। वे ब्रह्मा के लव-निमिषादि समस्त दिनों में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं। उसका नाम है नित्यप्रलय।

जब उस ब्रह्मा की एक रात्रि होती है, तब ब्रह्मा शयन करते हैं, तभी स्वर्गलोक, मृत्युलोक एवं पाताललोक, अर्थात् त्रिलोकी का नाश हो जाता है। जितना बड़ा दिन होता है, उतनी ही बड़ी रात्रि होती है। जब हमारे आठ अरब, चौंसठ करोड़ वर्ष बीतते हैं, तब ब्रह्मा का अहोरात्र होकर एक दिन होता है। उपरोक्त सब सृष्टि का दिन-प्रतिदिन नाश होता है, और दिवसान्तर में पुनः सृजन होता है, जो पुनः नाश होता है। उसका नाम निमित्तप्रलय कहलाता है, जो दूसरा है। इसे ब्रह्मा के एक दिन की अवधि कहा गया है।

ऐसे ब्रह्मा के तीस दिनों का एक मास होता है, ऐसे बारह मासों का एक वर्ष होता है। ऐसे एक सौ वर्षों तक ब्रह्मा देह रखते हैं। वे ब्रह्मा जब देहोत्सर्ग करते हैं, तब उन चौदह लोकों सहित ब्रह्मांड का नाश हो जाता है। तब प्रकृति से उत्पन्न सबकुछ कार्य प्रकृति में विलीन हो जाता है। यह प्राकृत प्रलय कहलाता है, जो तीसरा है।

चौथा आत्यन्तिक प्रलय होता है। इस प्रलय में तो अनन्तकोटि ब्रह्मांडों

का नाश हो जाता है। उस दिन प्रधानपुरुष के कारण प्रकृतिपुरुष भी अपने में अनन्त ब्रह्मांडों को प्रतिलोम करके स्वयं अक्षरपुरुष के तेज में लीन हो जाते हैं। इसे आत्यन्तिक प्रलय कहा जाता है।

ये सभी ब्रह्मांड प्रलयकाल में जैसे प्रतिलोम होते हैं, वैसे ही उत्पत्ति-काल में अनुक्रमानुसार उनके द्वारा अनुलोम ही उत्पन्न होते हैं। ये तो चार प्रकार के प्रलय की बात कही इनमें तीसरा प्राकृत प्रलय ब्रह्मा की आयुष्य-अवधि तक का कहा गया है। ऐसे साढ़े तीन करोड़ प्राकृत प्रलय हो जाते हैं, तब यह जीव ऐसे मनुष्य शरीर को प्राप्त होता है। ऐसी मूल्यवान मानव-देह को वृथा, मिथ्या मायिक सुख तथा मिथ्यामतवादी गुरु के आश्रय में रहने के कारण वह गँवा बैठता है। उस जीव को यमयातना, नरककुंडों के दुःखों तथा चौरासी लाख योनिजन्य शरीरों के कष्टों को भोगना पड़ता है। उन चौरासी लाख योनियों से गुज़रते हुए जब साढ़े तीन करोड़ प्राकृत प्रलय होंगे, तब जीव को पुनः मोक्ष-क्षेत्र में ऐसा मनुष्य-शरीर प्राप्त होता है! इतना विराट विलम्ब उसे मनुष्य देह पाने में हो जाता है।

इसलिए, **हे भाई! चाहे तो आज समझकर मोक्षदाता सद्गुरु एवं सन्त का आश्रय ग्रहण करके उनकी आज्ञा के अनुसार अपने शरीर, इन्द्रियों एवं अन्तःकरण को रखो, एवं अपनी आत्मा का कल्याण करके भगवान के धाम में पहुँचो।** और, यदि यह बात आज नहीं समझोगे, तो तुम ऐसे मनुष्यशरीर को व्यर्थ ही गँवा बैठोगे, जो मोक्षसाधन का धाम है। यदि इस देह को वृथा गँवाया, तो पुनः ऐसा योग मिलना अति दुर्लभ है, तथा आगे कहा, उतना विलम्ब भी है। अतः उतने लम्बे अरसे तक कष्टों को भोगकर जब उसकी समयावधि पूर्ण होगी, तभी मोक्षप्राप्ति का योग आएगा। उस समय भी मोक्ष तो तभी मिलेगा, जब विवेकपूर्वक चिन्तन करोगे! यदि आप उस दिशा नहीं सोचोगे तो उस दिन भी मोक्ष नहीं होगा; यह सिद्धान्तवार्ता है। अतः जो विवेकशील हैं, उसे इस बात पर सोचना! क्योंकि मूर्ख के सिर तो श्रुति-स्मृति की कोई मान-मर्यादा नहीं होती, इसलिए, वे तो इस बात को कभी नहीं समझेगा! श्रीरस्तु।

॥ श्रीस्वामिनारायणो विजयतेतमाम् ॥

अहमदाबाद नगर के अधिक वचनामृतम्

संवत् 1882 में फाल्गुन कृष्णा तृतीया (26 मार्च, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीअहमदाबाद स्थित श्रीनरनारायण मन्दिर के समक्ष वेदिका पर गद्दी तकियायुक्त पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। मस्तक पर गुलाबी रंग की पाग सुशोभित थी। उस पाग में गुलाब के तुर्रे झुके हुए थे। कानों पर गुलाब के गुच्छे खोंसे हुए थे। गुलाब के अनेक हार कंठ में शोभायमान हो रहे थे। दोनों बांहों में गुलाब के बाजूबन्द थे। श्रीजीमहाराज के समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज मुनिमंडल तथा हरिभक्तों से बोले कि 'आप सब सुनिये, एक वार्ता करते हैं। सर्वप्रथम भगवान के स्वरूप का दृढ़ निश्चय करना। वे भगवान कैसे हैं? तो वे अपनी इच्छा से ही जीवों के कल्याण के लिए जन्म धारण करते हैं। वे जन्म धारण करते हुए भी अजन्मा हैं, तथा देह-त्याग करते हुए भी अजर-अमर हैं। निरंजन हैं, अर्थात् माया के अंजन से रहित हैं, और मूर्तिमान हैं। तथा स्वयंप्रकाश हैं, परब्रह्म हैं, अक्षरातीत हैं, अन्तर्यामी हैं और अनन्तकोटि ब्रह्मांडों के आधार हैं। और, मनुष्य-शरीर धारण करने तथा उसे त्याग देने की उनकी लीला तो एक नट के इन्द्रजाल जैसी है। वे अनन्तकोटि अक्षरादिक मुक्तों के नियन्ता तथा सबके स्वामी हैं। ऐसे श्रीपुरुषोत्तम नारायण पहले धर्मदेव और मूर्ति द्वारा श्रीनरनारायण[1] के रूप में प्रकट होकर बदरिकाश्रम में तप करते हैं।

---

1. परब्रह्म पुरुषोत्तम नारायण के अनुप्रवेश से नरनारायण आदि ईश्वर ऐश्वर्य को प्राप्त करके अवतरित होते हैं। अतः पुरुषोत्तमनारायण और नरनारायण दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। फिर भी सभा में उपस्थित भक्तों के जीव में नरनारायण की प्रधानता होने से यहाँ दोनों की एकता कहते हैं।

वे ही श्रीनरनारायण पृथ्वी पर किसी प्रकार के विशिष्ट कार्यों को सम्पन्न करने के लिए मत्स्य, कच्छप, वराह, वामन, राम एवं कृष्ण आदि देहों को ग्रहण करके तथा अपनी उन देहों द्वारा अन्य जीवों के देहाभिमान का त्याग कराकर और ब्रह्म-अभिमान को ग्रहण करवाकर अपनी देह तथा अन्य जीवों की देहों में सादृश्य दिखलाते हैं। जिस तरह काँटे द्वारा काँटे को निकाल कर उस काँटे का भी त्याग कर दिया जाता है, उसी प्रकार भगवान भी अन्य जीवों की देहों के समान अपनी देह का परित्याग कर डालते हैं।

यही आख्यान महाभारत में है कि जब नृसिंहजी को देह-त्याग करने की इच्छा हुई, तब उन्होंने अन्तर्यामीरूप द्वारा शिव के हृदय में प्रेरणा करके शिव को शरभ की देह धारण करायी। इसके बाद उस शरभ तथा नृसिंहजी के बीच युद्ध हुआ। उस समय नसिंहजी ने अपनी देह का परित्याग कर दिया। इस प्रकार भगवान स्वतन्त्र रूप से अपनी इच्छा के अनुसार कोई भी देह ग्रहण करते हैं, और उसका परित्याग भी कर देते हैं। जैसे कि ऋषभदेव की देह दावानल में जल गई, तथा श्रीकृष्ण भगवान ने अपने पैर में तीर लगने पर अपना देहोत्सर्ग कर दिया। उस चरित्र को देखकर नास्तिक बुद्धिवाले अभक्तों की मति भ्रमित हो जाती है, और वे अपनी तरह भगवान में भी जन्म-मृत्यु के भावों का आरोपण करते हैं। वे सोचते हैं कि भगवान भी अपने कर्मानुसार देह धारण करते और छोड़ते हैं तथा वे भी नैष्कर्म्य कर्म करेंगे, तब कर्मों के बंधन दूर होंगे, और वे मुक्त हो जाएँगे।

परन्तु इसके विपरीत जो आस्तिक बुद्धिवाले हैं तथा जो हरिभक्त हैं वे तो मानते हैं कि नास्तिक की समझ मिथ्या है। भगवान की देह तो नित्य है, तथा भगवान के स्वरूप में जन्म, शैशव, यौवन, वृद्धावस्था एवं मृत्यु आदि विभिन्न देहभाव दिखाई दे रहे हैं, वे तो भगवान की लीला है। इसीलिए, काल तथा माया अपनी चेष्टाओं से भगवान को प्रभावित करने में समर्थ नहीं हो सकते। और, भगवान की देह में जो परिणामभाव (जन्म, मरण आदि) दिखाई पड़ते हैं, वे भगवान की योगमाया के कारण हैं। अत: जो भगवान के भक्त होते हैं, उन्हें भगवान की ऐसी लीला में मोह नहीं होता, जबकि अभक्तों की मति भ्रमित हो जाती है।

जैसे नट के चरित्र को देखकर जगत के जीवों की मति भ्रमित हो

जाती है, किन्तु जो नटविद्या को जानता है, उसका मतिभ्रम नहीं होता। वैसे ही पुरुषोत्तम श्रीनरनारायण अनेक देहों को धारण करने के पश्चात् उन देहों को नट की भाँति छोड़ देते हैं। वे श्रीनरनारायण समस्त अवतारों के कारण हैं। और, श्रीनरनारायण में जो मरणभाव आदि की कल्पना करते हैं, उन्हें अनेक शरीर धारण करने पड़ते हैं, तथा उन्हें चौरासी लाख योनियों एवं यमपुरी के दुःखों के जाल में फँसना पड़ता है; उनके लिए दुःखों का पार नहीं रहता। परन्तु जो भक्त श्रीनरनारायण में अजर-अमरभाव समझते हैं, वे अपने कर्मों एवं चौरासी लाख योनियों से मुक्त हो जाते हैं। इसलिए, अपने उद्धव-सम्प्रदाय के समस्त सत्संगी साधुओं को भगवान के अवतारों में, जो हो चुके हैं, अभी विद्यमान हैं और भविष्य में होंगे, कभी भी मरणभाव आदि की कोई कल्पना नहीं करना। इस वार्ता को आप सब लोग लिख लेना।' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज ने अपना प्राकट्यभाव दिखलाया। इस वार्ता को सुनकर सबने उसी प्रकार श्रीजीमहाराज के स्वरूप के सम्बंध में निश्चय किया।

॥ इति वचनामृतम् ॥4॥

✧

संवत् 1882 में फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी (27 मार्च, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीअहमदाबाद-स्थित श्रीनरनारायण मन्दिर से उत्तरवर्ती वेदिका पर बिछाए गए पलंग पर गद्दी-तकिये का आधार लेकर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे। कंठ में गुलाब का बड़ा हार सुशोभित हो रहा था। पाग में पुष्पों का तुर्रा लटक रहा था। श्रीजीमहाराज दाहिने हाथ में तुलसी की माला फेर रहे थे। उनके समक्ष बड़े-बड़े मुनियों तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय कुबेरसिंहजी छड़ीदार ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न किया कि 'हे महाराज! श्रीपुरुषोत्तम भगवान का असाधारण लक्षण क्या है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि **'अनेक जीवों के प्राण एवं नाड़ी को खींचकर उन्हें तत्काल समाधिस्थ कराना यह अन्य किसी से नहीं हो सकता, और, लक्षावधि मनुष्यों के द्वारा नियमों का पालन कराकर उन्हें अपने वश में रखना यह भी अन्य किसी के बस की बात नहीं है, तथा अक्षरादि मुक्तों को भी नियमबद्ध रखने की क्षमता रखना,**

यह सामर्थ्य भी अन्य किसी में संभव नहीं है, अतः ये ही श्रीपुरुषोत्तम भगवान के असाधारण लक्षण हैं।'

तब कुबेरसिंहजी ने पुनः प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! ब्रह्मांड तो असंख्य कोटि हैं, तथा भगवान का अवतार तो इस ब्रह्मांड में जम्बुद्वीप के भरतखंड में ही होता है, तब अन्य ब्रह्मांडों में रहनेवाले असंख्य जीवों का उद्धार भगवान किस रीति से करते होंगे? कृपया यह बताइए।'

यह सुनकर श्रीजीमहाराज कहने लगे कि 'जो भगवान इस ब्रह्माण्ड में विराजते हैं, वे ही भगवान सबके स्वामी हैं, तथा अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों में असंख्य जीवों के कल्याण के लिए प्रत्येक ब्रह्माण्ड में वे ही भगवान स्वयं देह धारण करते हैं। उनकी शरण में असंख्य जीव आते हैं। इसके फलस्वरूप अनेक जीव अक्षरधाम में श्रीपुरुषोत्तम भगवान के चरणारविन्दों को प्राप्त होते हैं। इस प्रश्न का यही उत्तर है।'

फिर कुबेरसिंहजी ने आगे पूछा कि 'हे महाराज! भगवान को जाननेवाले सत्संगीजनों को क्या-क्या छोड़ देना चाहिए और क्या-क्या ग्रहण करना चाहिए?' यह बताइए।'

तब श्रीजीमहाराज ने कहा कि 'मायिक पदार्थों की आशा तो सब प्रकार से छोड़ देना, तथा भगवान सम्बंधी आशा को ही ग्रहण करना। यदि धनलिप्सा हो, तो ऐसी आशा रखना कि भगवान के धाम में स्वर्णमुहरें, हीरा, रत्न, माणिक आदि अमूल्य पदार्थ बहुत बड़ी मात्रा में उपलब्ध हैं। यदि हम भगवान का भजन करेंगे, तो ये सब पदार्थ हमें प्राप्त हो जाएँगे। किन्तु, मुझे तो मायिक पदार्थों की आशा नहीं रखनी है। यदि स्त्री-सम्बंधी कामना हो, तो यह विचार करें कि परस्त्री के प्रति यदि कुदृष्टि रखेंगे, तो चौरासी लाख योनियों में भटकना पड़ेगा, और वहाँ घोर-यातनाएँ सहन करनी पड़ेंगी। विषयभोगों में तो कुत्ते व गधे भी लिप्त रहते हैं, और मुझे तो प्रकट पुरुषोत्तम मिले हैं, यदि वे अप्रसन्न होंगे, तो बड़ी हानि होगी। ऐसा विवेक रखकर कामवासना का परित्याग कर दें और भगवान सम्बंधी सुख को ही ग्रहण करें।

यदि देह के सम्बंधीजनों में प्रीति रही हो, तो उस प्रीति का त्याग करना, और भगवान के दास-सन्तजनों से प्रीति करना। यदि देह में अहंबुद्धि रहे, तो उसे छोड़कर भगवान के प्रति दासत्व बुद्धि रखना।

यदि भगवान अथवा सन्त अपने से किसी भी रीति से अप्रसन्न हुए हों, उन्होंने अपना तिरस्कार किया हो और इस कारण अपने हृदय में भगवान एवं सन्त के प्रति कोई दुर्भावना उत्पन्न हो गयी हो, तो मन में से उस अवगुण का त्याग कर देना, और अपनी भूल का स्वीकार कर लेना तथा भगवान और सन्त का गुण ग्रहण करना। इस प्रकार सकारात्मक से चिन्तन करना, किन्तु विपरीत विचार तो कभी भी नहीं करना। यही इस प्रश्न का उत्तर है।'

फिर कुबेरसिंहजी ने पुनः प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! कृपया यह बताइए कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का कैसा स्वरूप रहता है?'

तब श्रीजीमहाराज मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए बोले कि 'अर्थ का स्वरूप यह है कि जिसके द्वारा धन एकत्र किया जाए, अथवा मोक्ष सम्बंधी अपना अर्थ सिद्ध करना हो, यह भी 'अर्थ' का स्वरूप है। धर्म का स्वरूप तो यह है कि धन का व्यय धर्म के लिए सत्संग में ही किया जाए, किन्तु कुमार्ग में कहीं भी इसे खर्च नहीं करे। काम का स्वरूप यह है कि विवाह करके एक ही स्त्री के साथ सम्बंध रखना। उसका भी केवल ऋतुकाल में ही संग करना। एवं जगत की अन्य स्त्रियों को माता, बहन और पुत्रीतुल्य मानकर मन में त्यागवृत्ति रखना। मोक्ष का स्वरूप यह है कि सत्संग सम्बंधी व्रतों का पालन सावधान रहकर करे तथा भगवान के स्वरूप के सम्बंध में अचल निश्चय रखना। इन चारों का स्वरूप इस प्रकार है।' ऐसा कहने के पश्चात् श्रीजी-महाराज शयन के लिए पधारे।

॥ इति वचनामृतम् ॥5॥

✧

संवत् 1882 में फाल्गुन कृष्णा षष्ठी (29 मार्च, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीअहमदाबाद स्थित श्रीनरनारायण मन्दिर के समक्ष वेदिका पर बिछाए गए पलंग एवं गद्दी-तकिया पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे और कंठ में गुलाब के हार पहने थे। पाग में दोनों ओर चमेली पुष्प के तुर्रे लटक रहे थे। दोनों कानों पर गुलाब के गुच्छे लगे हुए थे, और वे गुलाब का बड़ा गुच्छ करकमल में लेकर अपने मुखारविन्द पर घुमा रहे थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

संध्या-आरती के बाद कुबेरसिंहजी ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न किया कि 'हे महाराज! कोई ऐसा उपाय बतलाइये कि भगवान के स्वरूप का यथार्थ निश्चय हो चुका हो, वह निश्चय कभी भी न डिगने पाये।'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'यह बात तो सबके लिए सुनने योग्य है। इसलिए, सब सावधान होकर सुनिए। यदि **प्रत्यक्ष भगवान का इस रीति से माहात्म्य-ज्ञान हो जाए, तो निश्चय विचलित नहीं होगा। वह माहात्म्य कहते हैं कि जो भगवान इस सत्संग में विराजमान हैं, उन्हीं भगवान से समस्त अवतार हुए हैं। वे स्वयं तो अवतारी हैं और वे ही सबके अन्तर्यामी भी हैं। वे ही अक्षरधाम में तेजोमय एवं सदैव साकार रूप विराजमान हैं तथा अनन्त ऐश्वर्यों से युक्त हैं। वे ही अनन्त ब्रह्मांडों के राजाधिराज हैं तथा अक्षरब्रह्म के भी कारण हैं।**

वे भगवान जब प्रकट होकर ऋषभदेव-सी क्रियाएँ करने लगे, तब यह जान लेना, कि वे ऋषभदेव हैं, जब वे रामावतार का चरित्र करें, तब जानना कि वे रामचन्द्रजी हैं, जब भगवान श्रीकृष्णावतार की लीला करें, तब समझ लेना कि वे श्रीकृष्ण हैं। इसी प्रकार, जिस-जिस अवतार की लीला का दर्शन हों, उसे देखकर यही समझना कि पूर्वकाल में भगवान के जितने अवतार हुए हैं, वे सब इनमें से ही हुए हैं और ये ही भगवान सभी अवतारों के कारण हैं। ऐसी समझ रखने से उसका निश्चय विचलित नहीं होता। ऐसी समझ के बिना तो उसे कुछ डगमगाहट जरूर हो जाती है। यह इस प्रश्न का उत्तर हैं। और,[2] वे ही श्रीकृष्ण भगवान स्वयं श्रीनरनारायण रूप से धर्म एवं भक्ति द्वारा प्रकट हुए हैं। इसलिए, इन श्रीनरनारायण को हमने अपना स्वरूप जानकर अति-आग्रहपूर्वक सर्व प्रथम इस श्रीनगर (अहमदाबाद) में प्रतिष्ठापित किया है। अत: इन श्रीनरनारायण और हमारे में तनिक भी भेदभाव मत रखना और ब्रह्मधाम के निवासी भी वे ही हैं।'

श्रीजीमहाराज के इस प्रकार के वचनों को सुनकर कुबेरसिंहजी ने पूछा कि 'हे महाराज! कृपया यह बताइए कि यह ब्रह्मपुर कैसा है? तथा ब्रह्मपुर में भगवान के जो भक्त हैं, उनका स्वरूप कैसा है?'

---

2. सर्वावतारी रूप से अपनी महिमा का निरूपण करके, श्रोताओं को पथ्य हो ऐसी हल्की सी बात करते हुए आगे कहते हैं।

तब श्रीजीमहाराज बोले कि **'अक्षररूप जो ब्रह्म हैं, वे ही श्रीपुरुषोत्तम नारायण के निवास के लिए धामरूप हुए हैं। सर्व अक्षरब्रह्म[3] (अक्षरमुक्तों) की अपेक्षा भगवान के धामरूप जो अक्षरब्रह्म हैं, वे अनादि हैं।** उस अक्षरधाम में अनेक प्रकार के प्रासाद हैं। उन प्रसादों में कई प्रकार के झरोखे हैं। कितनी ही तरह की अटारियाँ हैं। उनमें भी अधिक से अधिक चित्रविचित्रताएँ हैं। वहाँ कई प्रकार के फ़व्वारे हैं। तरह-तरह के बाग-बगीचे हैं। उनमें अनेक तरह के फूल भी हैं।[4] वह धाम तेजोमय तथा अनन्त है। उसका स्वरूप इतना दिव्य है कि उसकी उपमा किसी अन्य धाम के साथ नहीं दी जा सकती। उसे गोलोक भी कहते हैं।[5] अन्य धामों की अनन्त विभूतियों की अपेक्षा, वहाँ असंख्यकोटि प्रकारों की अधिक शोभा बनी हुई है, जो अपार है।

जैसे आकाश अपार है, और उसके चारों ओर देखने पर भी उसका किसी भी दिशा में अन्त नहीं दीखता, वैसे ही उन भगवान के धाम के नीचे अथवा ऊपर अथवा चारों तरफ कहीं भी अन्त नहीं है। क्योंकि, वह अपार है। उसकी थाह लगाने का प्रयास किया भी जाए, तो भी उसकी थाह नहीं मिल सकती। ऐसा महान है वह ब्रह्मपुर। उस ब्रह्मपुर में जो पदार्थ हैं, वे सब दिव्य चैतन्यमय हैं। उस धाम में असंख्य पार्षद रहे हैं। वे दिव्य आकारसहित तेजोमय हैं तथा समस्त भूतप्राणीमात्र के अन्तर्यामी हैं। वे सब भगवान की सेवा में निरन्तर तत्पर रहे हैं। **उसी धाम के पति तथा अक्षरादिमुक्तों के स्वामी परब्रह्म पुरुषोत्तम ही इस सत्संग में विराजमान हैं। जिनको ऐसा निश्चय हो चुका है, वे ही ब्रह्मधाम को प्राप्त करते हैं।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥6॥

✧

3. सर्व अक्षरब्रह्म यानी ब्रह्म संज्ञा को प्राप्त हुए अनंत मुक्त, उन मुक्तों से भी श्रेष्ठ भगवान के धामरूप जो अक्षरब्रह्म हैं, यानी कि मूर्तिमान अक्षर हैं, वह अनादि हैं।
4. अक्षरधाम में बाग-बगीचा आदि का वर्णन भगवान के विशेष सामर्थ्य के रूप में समझना। वस्तुतः मुक्त को भगवान की मूर्ति के सिवाय ऐसे किसी पदार्थ या भोग की अपेक्षा या इच्छा नहीं है।
5. गो यानी किरणें, लोक यानी स्थान, गो + लोक = तेजोमय अक्षरधाम।

संवत् 1882 में फाल्गुन कृष्णा सप्तमी (30 मार्च, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीअहमदाबाद स्थित श्रीनरनारायण के मन्दिर में द्वार की मंज़िल पर वासुदेव माहात्म्य ग्रन्थ का वाचन करा रहे थे। इसके पश्चात् वे उठे और द्वार के निकटवर्ती नीमवृक्ष के नीचे पलंग पर विराजमान हो गए। उस समय सायंकाल हो चुका था। उन्होंने मस्तक पर गुलाबी रंग की पाग बाँधी थी, उसमें गुलाब के तुर्रे खोंसे थे। उनके कंठ में गुलाब के अनेक हार पड़े हुए थे। उन्होंने श्वेत पिछौरी ओढ़ रखी थी और सफ़ेद चूड़ीदार पायजामा पहना था। वे पूर्व की ओर मुखारविन्द करके विराजमान थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय प्रागजी दवे ने श्रीजीमहाराज से प्रश्न किया कि 'हे महाराज! कृपया यह बताइए कि आपके स्वरूप में मन किस प्रकार स्थिर हो सकता है, जिससे वह कभी भी अन्यत्र आसक्त होकर व्यभिचारिता की ओर गिर न जाए?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'इस प्रश्न के उत्तर को सुनिए। मन तो भगवान के माहात्म्य ज्ञान से ही भगवत्स्वरूप में स्थिर हो जाता है। उस माहात्म्य को किस प्रकार जानना चाहिए? तो सुनिए, पहले हमने पीपलाणा गाँव में लाधा विप्र के घर रामानन्द स्वामी से पूछा था कि आप सनातन ईश्वर हैं या आधुनिक ईश्वर? तब रामानन्द स्वामी मौन रह गए। जब हम आषाढी संवत् 1869 के दुर्भिक्ष के समय बीमार पड़े थे, तब हम (समाधि में) क्षीरसागर में शेष-शय्या पर शयन करनेवाले शेषशायी नारायण के पास गए। वहाँ हमने रामानन्द स्वामी को देखा। उस समय उन्होंने सफ़ेद धोती पहनी थी और पिछौरी ओढ़ी थी। ऐसे ही अन्य अनेक भक्तों को भी हमने शेषशायी नारायण के चरणारविन्दों के समीप बैठे हुए देखा। तब हमने नारायण से पूछा कि ये रामानन्द स्वामी कौन हैं? नारायण ने बताया कि 'ये तो ब्रह्मवेत्ता हैं।' नारायण के ऐसे बोलते-बोलते ही रामानन्द स्वामी नारायण के शरीर में लीन हो गए। इसके पश्चात् हम देह में वापस लौटे। तत्पश्चात् जब हमने अन्तर्दृष्टि की तब प्रणवनाद को देखा। उसे देखते ही देखते भगवान शंकर का वाहन नन्दीश्वर आ गया। उस पर सवार होकर हम कैलास पर्वत पर शिवजी के पास गए। वहाँ गरुड़ आ गया। उस पर बैठकर हम वैकुंठ तथा गोलोकधाम में गए।

उसके बाद तो गरुड़ भी नहीं उड़ सका, अतः हम अकेले ही उन सबसे परे श्रीपुरुषोत्तम के धाम (अक्षरधाम) में पहुँचे। वहाँ भी मैं ही पुरुषोत्तम हूँ। मैंने अपने सिवा दूसरा कोई बड़ा नहीं देखा। इतने स्थानों पर घूमने के बाद हम देह में वापस लौटे, और पुनः अन्तर्दृष्टि करने पर हमें ऐसा प्रतीत हुआ कि **समस्त ब्रह्मांडों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कर्ता भी मैं ही हूँ, तथा असंख्य ब्रह्मांडों के असंख्य शिव, असंख्य ब्रह्मा, असंख्य कैलास, असंख्य वैकुंठ और गोलोक, ब्रह्मपुर एवं असंख्य करोड़ अन्य स्थल मेरे ही तेज से तेजोद्दीप्त हैं। मैं कैसा हूँ? यदि मैं अपने पैर के अँगूठे से पृथ्वी को हिला दूँ, तो असंख्य ब्रह्मांडों की पृथ्वी डिगने लग जाएगीं। मेरे तेज द्वारा ही सूर्य, चन्द्रमा तथा तारागण आदि तेजोमय बने हुए हैं। ऐसा जो मैं हूँ, वैसा मेरे सम्बंध में समझकर यदि निश्चय किया जाए, तो भगवान ऐसे मुझमें मन की वृत्ति स्थिर हो जाएगी और वह कभी भी व्यभिचरित नहीं होगी। और, जो-जो जीव मेरी शरण में आए हैं, वे यदि ऐसा समझ लेंगे, तो मैं उन सबको मेरा सर्वोपरि धाम प्राप्त करा दूँगा तथा उन्हें अन्तर्यामी जैसा कर दूँगा, और उन्हें इतना सामर्थ्यवान बना दूँगा कि वे ब्रह्मांडों की उत्पत्ति आदि करने में समर्थ हो जाए।** परन्तु, सामर्थ्य प्राप्त करने के पश्चात् कोई स्वयं को इतना बड़ा जानने लगे कि मैं ही बड़ा हूँ और ऐसा जानते हुए ऋषिरूप प्रत्यक्ष[6] श्रीनरनारायण की गणना ही न करे, ऐसा अहंकार नहीं आने देना चाहिए और समझ लेना चाहिए कि श्रीनरनारायण की करुणा द्वारा ही मैं इस महत्ता को प्राप्त हुआ हूँ।' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने इस प्रश्न का यह उत्तर दिया।

॥ इति वचनामृतम् ॥7 ॥

✧

संवत् 1882 में फाल्गुन कृष्णा अष्टमी (31 मार्च, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीअहमदाबाद-स्थित श्रीनरनारायण के मन्दिर से उत्तरदिशावर्ती धर्मशाला में साधुओं को भोजन करा रहे थे। उन्होंने सुन्दर श्वेत रुमाल मस्तक पर बाँधा था, सफ़ेद धोती पहनी थी और बायें कन्धे पर

---

6. यहाँ नरनारायण के मिष अपनी ही सर्वोपरिपन की महिमा दिखाते हैं, वह इस वाक्य में प्रयुक्त 'प्रत्यक्ष श्रीनरनारायण' शब्द से स्पष्ट रूप से मालूम होता है।

दुपट्टा डालकर कमर बाँधी थी। उनके कंठ में गुलाब का बड़ा हार सुशोभित हो रहा था।

उस समय श्रीजीमहाराज ने पंक्ति में बैठे हुए साधुओं को लड्डू परोसते हुए यह वार्ता कही कि 'साधुओं को सर्व प्रकार से क्रोध को जीत लेना चाहिए। वह क्रोध तो जप, तप, ज्ञान आदि समस्त शुभ गुणों का नाश कर डाले ऐसा ही होता है। अत: जिस निमित्त क्रोध उत्पन्न होता है, उन निमित्तों को बताते हैं - एक तो साधुओं में परस्पर प्रश्नोत्तर के समय, वाद-विवाद के अवसर पर, किसी पदार्थ की लेन-देन में, किसी को दंड देते समय, अपनी शुश्रूषा में रहनेवाले साधु के प्रति पक्षपातवश, अपमान हो जाने से, ईर्ष्या उत्पन्न होने पर, आसन-स्थान पसन्द करते समय तथा भगवान का प्रसाद बाँटने में न्यूनाधिकता रहने पर - आदि कारणों से क्रोध उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार क्रोध उत्पन्न होने के निमित्त तो अनेक होते हैं। यदि बड़े सन्त को क्रोध उत्पन्न हो, या किसी छोटे साधु को किसी कारण क्रोध उत्पन्न हो, तो जिस पर क्रोध हुआ है, उस व्यक्ति को वह उठकर साष्टांग दंडवत् प्रणाम करे और गद्‌गद-चित्त एवं दीनतायुक्त निष्कपटभाव से मधुर वचन द्वारा उसे प्रसन्न करना, यह हमारी आज्ञा है।

यदि किसी साधु के सम्बंध में अपनी द्रोहबुद्धि के कारण कोई कुसंकल्प हो जाए, तो उसे उस साधु के सामने निष्कपट होकर अपने मुख से यह स्वीकार कर लेना कि 'हे महाराज! इस तरह का बुरा संकल्प आपके सम्बंध में हुआ है।' फिर उस कुसंकल्प के दोष के निवारण के लिए उसे हाथ जोड़कर उससे क्षमा-प्रार्थना करना। यदि किसी साधु को कोई हरिभक्त के ऊपर क्रोध हो गया, तो उस साधु को वचन द्वारा उस गृहस्थ से क्षमा-प्रार्थना करनी चाहिए, और बैठकर नमस्कार करना, परन्तु साष्टांग दंडवत् प्रणाम मत करना। यदि सांख्ययोगी स्त्रियों में भी परस्पर क्रोध हो गया अथवा कर्मयोगी (गृहस्थ) स्त्रियों में आपस में क्रोध हो गया, तो वचन द्वारा क्षमा-प्रार्थना करना और बैठकर नमस्कार करना। सांख्ययोगी पुरुष तथा साधु की तो एक ही रीति है, कि जिस पर क्रोध उत्पन्न हो जाए, उसे अपने स्वामी, श्रीनरनारायण का भक्त जानकर, तत्काल अहंकार का त्याग कर नमस्कार करना, क्षमा-प्रार्थना करना, परन्तु देहदृष्टि नहीं रखना कि 'मैं

बड़ा हूँ तथा उत्तम हूँ। यह तो बड़ा नहीं है, छोटा है।' ऐसा देहभाव नहीं रखना। अपने इष्टदेव श्रीनरनारायण भी क्रोध नहीं करते तथा अहंभाव नहीं रखते हैं। इसलिए, श्रीनरनारायण के आश्रित उद्धव-सम्प्रदाय के मतानुयायी हम सब लोगों को क्रोध तथा मान का समस्त प्रकार से त्याग कर देना तथा क्रोध के लिए हमने जो प्रायश्चित्त बताया है, उसे स्नेहपूर्वक करना। तब उस पर श्रीनरनारायण प्रसन्न होंगे और उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाएगा तथा उसके काम, क्रोध, मान, लोभ, मद, मत्सर आदि सभी दोष नष्ट हो जाएँगे। तथा क्रोध उत्पन्न होने पर भी यदि कोई इस प्रकार प्रायश्चित्त नहीं करेगा, तो उसे सर्पतुल्य ही (विषैला) जानना। उसे भगवान का भक्त नहीं मानना।' इस प्रकार श्रीजीमहाराज की वार्ता को सुनकर साधु समस्त हरिभक्त पुरुष एवं स्त्रियाँ, परम आनन्द को प्राप्त हुए।

॥ इति वचनामृतम् ॥8॥

✧ ✧ ✧

श्रीअसलाली - वचनामृतम्

संवत् 1882 में चैत्र शुक्ला द्वितीया (9 अप्रैल, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज ने श्रीअहमदाबाद नगर से गाजेबाजे के साथ प्रस्थान किया और सायंकाल वे श्रीअसलाली गाँव में पधारे। वहाँ गाँव की उत्तर दिशा में एक आम्रकुंज में उतरे यहाँ मंच पर विराजमान हुए। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे, कंठ में सुन्दर पुष्पों के हार पहने थे और पाग में फूलों के तुर्रे लटक रहे थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज मुक्तानन्द स्वामी तथा ब्रह्मानन्द स्वामी आदि समस्त साधुओं को सम्बोधित करते हुए इस प्रकार बोले कि 'आप सब सुनिये, एक बात कहते हैं कि जिस भक्त को भगवान का स्वरूप जानने में कोई भी न्यूनता रह जाती है, तो उससे उसमें बड़ा दोष रह जाता है। इतना ही नहीं, जिन्हें भगवान पुरुषोत्तम, श्रीकृष्ण, श्रीवासुदेव, श्रीनरनारायण, परब्रह्म तथा श्रीनारायण कहते हैं, उनके स्वरूप का यथार्थ सुख भी नहीं मिल पाता और वह एकान्तिक भक्त भी नहीं हो पाता। अतएव, भगवान के एकान्तिक

ज्ञानी भक्त की संगति से ज्ञान की दृढ़ता कर लेना, क्योंकि बिना भगवान के स्वरूप के ज्ञान को प्रजापति आदि जगत के स्रष्टा से लेकर हर किसी को बार-बार सृष्टि के साथ जन्म लेना पड़ता है तथा अन्त में पुनः माया में लीन हो जाते हैं। परन्तु, श्रीपुरुषोत्तम भगवान के अक्षरधाम को तो वे प्राप्त होते ही नहीं! क्योंकि उनकी समझ में ही दोष है।'

तब सभी मुनि बोले कि 'हे महाराज! कृपया बताइए कि समझ में उनका किस प्रकार का दोष है?'

फिर श्रीजीमहाराज बोले कि 'सुनिए! पहली बात तो यह है कि अपनी मुक्ति के लिए वे अपनी ही क्रिया का बल अधिक समझते हैं, परन्तु भगवान के आश्रय को ग्रहण नहीं करते। दूसरा दोष यह है कि वे ऐसा नहीं मानते हैं कि अक्षररूप होकर श्रीपुरुषोत्तम नारायण की सेवा करना ही मुक्ति है। तीसरा दोष यह है कि भगवान के राम, कृष्ण आदि अनेक अवतारों को तो वे अंशरूप जानते हैं, यही उनका बड़ा दोष है। चौथा दोष यह है कि पूर्वजन्म में उनकी मृत्यु के समय उनके मन में ऐसा संकल्प रहा था कि 'इस ब्रह्मांड की उत्पत्ति किस प्रकार होती होगी, यह एक बार देखें तो सही!' उनके उस संकल्प को देखकर ही भगवान ने उन्हें ब्रह्मांड की उत्पत्ति आदि कर्मों में नियुक्त किया है। इसलिए, जब वे भगवान के एकान्तिक भक्त के सत्संग द्वारा सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेंगे, तभी ब्रह्मरूप होकर भगवान के धाम को पा जाएँगे और महासुखी होंगे।

अतः भगवान के भक्तों को भगवान की सेवा के सिवा दूसरी कोई इच्छा ही नहीं रखनी चाहिए। भगवान के भक्त भी तीन प्रकार के हैं, जिन्हें उनके विशेष लक्षणों के द्वारा पहचानना। पहला है ऐश्वर्यार्थी, जो भक्त भगवान का भजन कर विश्व की उत्पत्ति आदि सामर्थ्य को प्राप्त करने की इच्छा करता है। ऐसा ऐश्वर्यार्थी भक्त कनिष्ठ है। दूसरा है केवल्यार्थी, जो भक्त केवल आत्मा के स्वरूप को जानने के लिए ही भगवान के भजन में तन्मय रहता है, ऐसा कैवल्यार्थी मध्यम कोटि का है और तीसरा भक्त है भगवन्-निष्ठार्थी, जो निरन्तर अनन्यभाव से प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम भगवान की सेवा में निष्ठा रखता है। इसे सर्वोत्तम भक्त समझना। अतः हम सब तो प्रकटप्रमाण श्रीनरनारायण के प्रति निष्ठा रखते हैं, इसलिए उत्तम ही हैं, इसमें

कोई संशय नहीं है।' इस प्रकार श्रीजीमहाराज के वचनों को सुनकर सभी परम आनन्द को प्राप्त हुए।

॥ इति वचनामृतम् ॥1॥

✧ ✧ ✧

श्रीजेतलपुर - वचनामृतम्

संवत् 1882 में चैत्र शुक्ला तृतीया (10 अप्रैल, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीजेतलपुर गाँव-स्थित प्रासाद के चौक में अशोकवृक्ष के नीचे बिछाए गए पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे, कंठ में गुलदावदी के अनेक हार पहने थे। पाग में मोगरा के तुर्रे झुके हुए थे। उन्होंने दोनों कानों पर कर्णिकार के पुष्प खोंसे थे तथा करकमल में सुन्दर नीबूफल को घूमा रहे थे। उस समय चार घड़ी दिन चढ़ा था। उनके समक्ष सन्तवृंद तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज ने सभा में उपस्थित सभी हरिभक्तों से प्रश्न किया कि 'इस लोक में तत्त्वज्ञान के सम्बंध में वादविवाद करनेवालों के दो मत हैं। एक तो द्वैत मत है, तथा दूसरा अद्वैत मत है। अब यह बताइए कि मुमुक्षु भक्त को इनमें से कौन-से मत को ग्रहण करना चाहिए?'

तब पुरुषोत्तम भट्ट बोले कि 'हे महाराज! अद्वैत मतानुसार अपनी आत्मा को ही भगवान जानकर चाहे जैसा हीन आचरण किया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप भक्त मोक्षमार्ग से गिर जाता है। इसलिए मुमुक्षु को तो द्वैतमत का ही ग्रहण करना चाहिए।'

इस पर श्रीजीमहाराज ने यह प्रतितर्क प्रकट किया कि 'द्वैतमत में तो जीव, ईश्वर और माया को सत्य बताया गया है, ऐसी स्थिति में जब माया सत्य ठहरेगी, तब जीव का मोक्ष कैसे होगा?'

तब पुरुषोत्तम भट्ट बोले कि 'शुभकर्म करने पर मोक्ष हो जाता है।'

श्रीजीमहाराज ने पुनः यह आशंका व्यक्त की कि 'निवृत्ति तथा प्रवृत्ति ये दो प्रकार के कर्म तो सुषुप्तिरूपी माया में लीन हो जाते हैं। वह सुषुप्ति कैसी है? तो जिस प्रकार लोकालोक पर्वत को लाँघने में कोई भी समर्थ नहीं होता, वैसे ही सुषुप्ति को लाँघने में कोई भी समर्थ नहीं होता। उससे परे तो

साम्यावस्थारूपी माया बहुत बड़ी है। उसे लाँघना तो हर किसी से असंभव है। अतः उस सुषुप्तिरूप **माया से मुक्त होने का उपाय तो यह है कि जब समस्त कर्मों को एवं माया को नाश करनेवाले, तथा माया से परे निवास करनेवाले साक्षात् श्रीपुरुषोत्तम भगवान, अथवा उन भगवान से मिले हुए सन्त की (यानी कि अक्षरब्रह्म स्वरूप सत्पुरुष की) जीव को प्राप्ति होती है, तब उनके आश्रय से माया का उल्लंघन किया जा सकता है।'** ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज प्रासाद में भोजन करने के लिए पधारे।

भोजन के पश्चात् श्रीजीमहाराज पुनः अशोकवृक्ष के नीचे पलंग पर विराजमान हुए, और समस्त सन्तों तथा हरिभक्तों को अमृतदृष्टि से देखते हुए बोले कि 'मनुष्य का जब कोई अनुयायी न हो तब उसकी मनोवृत्ति दूसरे प्रकार की रहती है, और इसके बाद जब सौ मनुष्य उसको मानने लगते हैं तब उसका अहंकार अलग तरह का हो जाता है। और, जब हज़ार, लाख और करोड़ मनुष्य उसे मानने लग जाते हैं, तब उसका अहंकार भी भिन्न रूप धारण कर लेता है। अतः विवेकशील पुरुष तो कभी ब्रह्मा, कभी शिव और कभी इन्द्र तुल्य होने पर भी यही समझता रहता है कि, मेरी महत्ता इस प्रकार के पद या सत्ता के कारण नहीं है। मेरी महानता तो आत्मज्ञान के कारण है, तथा सन्त की संगति के कारण ही यह महत्ता बनी हुई है। क्योंकि ब्रह्मादि जैसे बड़े बड़े भी ऐसे सन्त की चरणरज के इच्छुक रहते हैं। तब सन्त की कितनी महत्ता होगी!

तो अब सन्त की महिमा सुनिए। सन्त को तो द्रव्य, पदार्थ अथवा राज यप्राप्ति से कोई महत्ता नहीं होती। सन्त की महत्ता तो भगवान की उपासना तथा भक्ति द्वारा होती है। सन्त में आत्मनिष्ठा है, इसलिए, भी इनकी महत्ता बनी हुई है। यदि ऐसा ज्ञान न हो पाए, तो **प्रकट भगवान जिन्हें मिले हैं, ऐसे सन्त में आत्मबुद्धि करके उन्हीं को अपनी आत्मा समझना, तथा अपना स्वरूप मानना।** अपनी आत्मा के सम्बंध में जो ऐसा निश्चय कर लेता है, तो किसी को यह संशय हो सकता है कि जब सन्त को अपना स्वरूप समझा गया, तब तो दोनों में समानभाव आ जाने का भय है, और 'ये मेरे स्वामी हैं, और मैं उनका सेवक अर्थात् शिष्य हूँ,' यह भाव कैसे रहेगा? इसके उत्तर में यह दृष्टान्त मनन करने योग्य है कि गालव राजा को

यज्ञ के प्रयोजन से श्यामकर्ण घोड़े लाने थे। श्यामकर्ण घोड़े तो वरुण लोक में थे। वहाँ जाना गालव राजा के लिए सम्भव नहीं था। अतः उन्होंने गरुड़जी को बुलवाया। उस पर सवार होकर वे वरुण लोक से घोड़े ले आए। तो क्या गरुड़जी पर सवार होने से गरुड़जी के प्रति गालव राजा का दासभाव मिट गया? नहीं मिटा। इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता सत्पुरुष के साथ आत्मबुद्धि (अपनापन) रखना, वह तो इसलिए कि ऐसे सद्गुरु के पास अष्ट आवरण को भेदकर पार ले जाने का सामर्थ्य है।'

ऐसी बातें कहकर उन्होंने बताया कि आप सब इस बात की दृढ़ता करना क्योंकि यह बात तो मानो भक्त का जीवन ही है!

॥ इति वचनामृतम् ॥1॥

✧

संवत् 1882 में चैत्र शुक्ला चतुर्थी (11 अप्रैल, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीजेतलपुर गाँव में सायंकाल श्रीबलदेवजी के मन्दिर के चौक में बिछाए गए पलंग पर विराजमान थे। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किए थे। पाग में मोगरा पुष्पों के तुर्रे लगे हुए थे। बायें हाथ में वे रूमाल रखे हुए थे, और दायें हाथ में तुलसी की माला फेर रहे थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय ब्रह्मानन्द स्वामी ने श्रीजीमहाराज को प्रणाम करके यह प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! यति किसको कहते हैं?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'जिसके हृदय में ब्रह्मचर्य की दृढ़ता हो और समस्त इन्द्रियाँ जिसके वश में रहती हों, उसे यति जानना। जो पुरुष हनुमानजी तथा लक्ष्मणजी के समान हो, उसे भी यति समझना। जब हनुमानजी, रामचन्द्रजी की आज्ञा से सीताजी की खोज में लंका गए, तब जानकीजी की तलाश में उन्होंने लंका की सभी स्त्रियों को देख डाला। उन्हें देखते-देखते वे स्वतः यह भी कहते रहे कि ये तो जानकीजी नहीं हैं, ये तो जानकीजी नहीं हैं! ऐसा विचार करते-करते हनुमानजी ने मन्दोदरी को देखा, तब उन्होंने ऐसी कल्पना की कि शायद यही ये जानकीजी होंगी! बाद में उन्होंने मन ही मन सोचा कि जानकीजी को तो भगवान रघुनाथजी का वियोग है, अतः उनका शरीर इतना पुष्ट नहीं हो सकता, तथा ऐसी

गहरी नींद भी नहीं हो सकती। ऐसा सोचकर हनुमानजी वहाँ से पुनः लौट गए। बाद में उनके मन में ऐसा संकल्प हुआ कि मैं तो यति हूँ और मैंने इन सब स्त्रियों को देखा है, तो मुझे कोई विघ्न तो उपस्थित नहीं होगा? परन्तु उन्होंने पुनः ऐसा विचार किया कि मैं तो रघुनाथजी की आज्ञा से ही जानकीजी की खोज कर रहा हूँ। इसलिए, यदि मैंने स्त्रियों को देख भी लिया, तो मुझे कोई भी विघ्न उपस्थित नहीं होगा। तथा आगे भी सोचा कि रघुनाथजी की कृपा से मेरी वृत्तियों तथा इन्द्रियों में किसी भी प्रकार का क्षोभ उत्पन्न नहीं हुआ है। यह विचार कर वे निःसंशय होकर पुनः घूम-घूमकर सीताजी की खोज करने लगे। इस तरह शत प्रतिशत विकार का हेतु होने पर भी जिसका अन्तःकरण हनुमानजी की तरह निर्विकार बना रहता है, उसे ही यति कहा जाता है।

और, जब जानकीजी का हरण हुआ तब रघुनाथजी और लक्ष्मणजी सीताजी को खोजते हुए उस स्फटिक शिला पर गए, जहाँ सुग्रीव उपस्थित था। उन्होंने सुग्रीव को पूरी घटना सुनाई और कहा कि यदि आपको सीताजी की कोई खबर हो तो बताइए।' तब सुग्रीव ने बताया कि 'हे महाराज! आकाश में मैंने किसी को 'हे राम! हे राम!' शब्द कहते हुए सुना था। आकाश से ही वस्त्र में बाँधकर कुछ आभूषण भी गिराए गए थे, जो आज भी मेरे पास रखे हैं।' फिर सुग्रीव ने समस्त आभूषण रघुनाथजी को सुपुर्द किए। रघुनाथजी ने सभी आभूषण लक्ष्मणजी को दिखाए। पहले कान के आभूषण, बाद में हाथों के बाजूबंद, आदि सब कुछ आभूषण दिखलाये, किन्तु लक्ष्मणजी उन्हें नहीं पहचान सके। अन्त में पैरों की झाँझन देखकर लक्ष्मणजी बोले कि 'हे महाराज! ये तो जानकीजी की झाँझन हैं।' तब रघुनाथजी ने पूछा कि 'हे लक्ष्मणजी! आपने दूसरे आभूषण तो नहीं पहचाने, किन्तु पैरों की झाँझन कैसे पहचान लीं?' तब लक्ष्मणजी ने कहा कि 'हे महाराज! जानकीजी का स्वरूप तो मैंने नहीं देखा। वास्तव में मैंने तो उनके चरणारविन्दों के सिवा उनका कोई भी अन्य अंग नहीं देखा। किन्तु प्रतिदिन सायंकाल जब मैं सीताजी के श्रीचरणों में प्रणाम करने के लिए जाता था, तब मैं उनकी झाँझन को देखता था। इसलिए, मैंने उनकी झाँझन को पहचान लिया।' इस प्रकार वे चौदह वर्षों तक सेवा में रहे, फिर भी उन्होंने जानकीजी

के चरणारविन्दों के सिवा उनके रूप और किसी अन्य अंग को बिल्कुल नहीं देखा। जो ऐसा हो, उसे ही यति समझना चाहिए।'

ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज बोले कि 'ये ब्रह्मानन्द स्वामी भी उनके समान हैं।' इस प्रकार श्रीजीमहाराज ने सभा में उपस्थित सभी लोगों के समक्ष ब्रह्मानन्द स्वामी के यतित्व की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

इसके पश्चात् श्रीजीमहाराज गाँव के बाहर पधारे। वे वहाँ यज्ञस्थल के बरामदे में बिछाये गए पलंग पर विराजमान हुए। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'कुछ प्रश्नोत्तर करिए!' तब पटेल आशजीभाई ने प्रश्न पूछा कि 'हे महाराज! इस जीव का स्वरूप कैसा है, वह यथार्थरूप से बताइए।'

उस समय श्रीजीमहाराज बोले कि 'जीव तो अछेद्य, अभेद्य, अविनाशी, चैतन्यरूप एवं मात्र अणुसदृश है। तब आप कहेंगे कि वह जीव कहाँ रहता है? तो जीव तो हृदयावकाश में रहता है और वहाँ रहकर वह विविध क्रियाओं को करता रहता है। अत: रूप देखने के लिए वह नेत्रों का उपयोग करता है। शब्द सुनने के लिए जीव कर्ण तक आता है, नासिका द्वारा वह अच्छी-बुरी गंध सूँघता है, रसना द्वारा वह रसास्वादन करता है, त्वचा द्वारा वह स्पर्शसुख का आनन्द लेता है, मन द्वारा वह मनन करता है, चित्त द्वारा वह चिन्तन करता है तथा बुद्धि द्वारा वह निश्चय भी करता है। इस प्रकार दस इन्द्रियों और अन्त:करणों द्वारा वह समस्त विषयों को ग्रहण करता है तथा वह नख से लेकर शिखापर्यन्त शरीर में व्याप्त होकर रहता है। वह उससे अलग भी रहता है। ऐसा है जीव का स्वरूप। उस जीव को प्रकट प्रमाण पुरुषोत्तम श्रीनरनारायण के प्रताप से भक्त यथार्थरूप से देखता है। अन्य लोग तो जीव के स्वरूप को जान भी नहीं पाते।'

इस प्रकार प्रश्न का उत्तर देकर और सबको प्रसन्न करके श्रीजी-महाराज 'जय सच्चिदानन्द' कहकर आवास में शयन के लिए पधारे।

॥ इति वचनामृतम् ॥2॥

✧

संवत् 1882 में चैत्र शुक्ला पंचमी (12 अप्रैल, 1826) को स्वामी

श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीजेतलपुर ग्राम-स्थित प्रासाद में अपने निवासस्थान के पश्चिम की ओर समीपवर्ती पुष्पवाटिका में प्रातःकाल पधारे थे। वहाँ वे बड़े मौलसिरी वृक्ष के नीचे वेदिका पर बिछाए गए गद्दी-तकिया से युक्त पलंग पर पूर्वाभिमुख होकर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे, कंठ में चम्पा, मौलसिरी और गुलदावदी के हार पहने थे। पाग में चमेली तथा मोगरा के तुर्रे लटकाए रखे थे, दोनों कानों पर हज़ारी पुष्पों के गुच्छे खोंसे थे तथा अपने दोनों करकमलों से अनार और नीबू के फलों के साथ खेल रहे थे। उनके समक्ष मुक्तानन्द स्वामी तथा ब्रह्मानन्द स्वामी आदि मुनिगण और विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

तब श्रीजीमहाराज थोड़ी देर विचार कर बोले कि 'सुनिये, एक वार्ता करते हैं, कि भगवान का भक्त यदि दुर्वासना रखता है, तो इससे बढ़कर दूसरी कोई बुराई नहीं हो सकती। दुर्वासनावाले भक्त हमारे समीप रहने पर भी सुखी नहीं रहते, क्योंकि उन्होंने प्रभु का भजन करते समय उनसे यह माँगा था कि हे महाराज! हमें आपके समीप रखियेगा। किन्तु, उन भक्तों ने अपनी दुर्वासना को नहीं मिटाया, इस कारण दुःखी बने हुए हैं।'

तब मुक्तानन्द स्वामी ने पूछा कि 'हे महाराज! यह दुर्वासना किस प्रकार मिट सकती है?'

श्रीजीमहाराज ने उत्तर देते हुए कहा कि 'दुर्वासना को मिटाने का उपाय तो यह है कि हमारे द्वारा निर्दिष्ट धर्ममर्यादा से भिन्न कोई संकल्प जब हो जाए, तथा किसी हरिभक्त और सन्त के विरुद्ध दुर्भाव का संकल्प हो जाए, तब नरनारायण, स्वामिनारायण के नामों का बार-बार उच्च स्वर से उच्चारण करने से; तथा माहात्म्य एवं धर्मनिष्ठा के सहित भगवान की नवधा भक्ति करने से भगवान उस भक्त के हृदय में निवास करके दुर्वासना का नाश कर डालते हैं। जिस प्रकार भगवान ने ग्राह (घड़ियाल) के मुख से गज को छुड़ाया, वैसे ही दुर्वासना को मिटाने का यह उपाय बताया है।

अपरंच आप सबके हित के लिए एक अन्य उपाय भी बताता हूँ, उसे सुनिए कि पंचव्रतों के पालन की जो धर्ममर्यादा है, उस मर्यादा को जान-बूझकर कभी तोड़ना नहीं। यदि कदाचित् अनजाने में धर्ममर्यादा का उल्लंघन हो जाए तो तत्काल उसका प्रायश्चित्त कर लेना, तथा अपने स्वरूप को साक्षी

(आत्मा) मानना कि मैं तो मन के संकल्पों से तथा नाना प्रकार के तर्कों से परे रहनेवाला चैतन्यरूप आत्मा ही हूँ, किन्तु मन सहित जो यह शरीर है, वह मैं नहीं हूँ। इस प्रकार का विचार करना, परन्तु भगवान किसी के सामने देखकर हँसते हों, या किसी को बुलाते हों या चाहे किसी प्रकार के अन्य चरित्र भी करते हों, परन्तु उसके सम्बंध में कभी भी दुर्भाव नहीं रखना। इस प्रकार की समझ रखना।

अपरंच कोई भक्त तो ऐसा समझ बैठता है कि मैंने तो महाराज की बहुत भक्ति की, तथा बहुत सेवा की, फिर भी महाराज तो मुझे बुलाते ही नहीं, दूसरों को ही बुलाते हैं। अब तो मैं अपने घर बैठकर ही भजन करता रहूँगा। ऐसी दुर्भावना रखता है, तब हम यदि ऐसा सोचने लगें कि उससे हमें भी क्या लेना-देना? फिर तो ऐसे लोगों का कोई ठिकाना ही नहीं रहेगा। लेकिन हम तो किसी के भी प्रति दुर्भाव नहीं रखते। हमारा स्वभाव तो सदैव गुणग्राहक ही है।

अब हम उस भक्त को गुण ग्रहण करने का तथा अवगुणों को मिटाने का उपाय बताते हैं। सबसे पहले तो वह भक्त ऐसा विचार करे कि मैं सत्संग करने के पहले कैसा था? उस समय तो मैं काल, कर्म से ग्रस्त था, एवं जन्म, मरण और चौरासी लाख योनियों में भटकता था। उस समय भगवान ने मुझे इन सबसे छुड़ाकर निर्भय किया तथा अच्छे गुण देकर बड़ा किया। मैं ऐसे उन भगवान के प्रति दुर्भावना क्यों रखूँ तथा प्रभु की रुचि की उपेक्षा करके अपनी ही मनमानी क्यों करूँ? ऐसा विचार करके जो भगवान के प्रति दुर्भाव नहीं रखता, वही सुखी हो सकता है। **इस देह द्वारा भगवान की रुचि के अनुसार बरतना, इससे बढ़कर और कोई बड़ी बात हो ही नहीं सकती और भक्ति भी वही है। भगवान भी उसी साधना से ही प्राप्त होते हैं।** इसलिए, मान, ईर्ष्या तथा काम, क्रोध एवं लोभ आदि कल्याण के विरोधी दोषों का परित्याग करना चाहिए। उन सभी दोषों में भी अहंकार तो सबसे बड़ा खराब है। देखिए न, अन्य व्रतों के पालन में यदि कुछ थोड़ी-बहुत शिथिलता रह जाए, फिर भी वह सत्संग में निभ जाता है। परन्तु अहंकारी तो कभी ही टिक नहीं पाए। इसलिए, हे सन्तो! निर्मान आदि व्रतों के पालन में कभी भी शिथिल नहीं रहना, अत्यंत ही सावधानी

बरतना और, अपने स्वरूप को देह से भिन्न समझते रहना, श्रीपुरुषोत्तम जो श्रीनर–नारायण उनकी भक्ति निरन्तर सावधानी के साथ करना तथा भगवान की निरंतर स्मृति सहित ही भजन करना, वह तो भगवान के प्रकट दर्शन के आनन्द के तुल्य है।

दूसरी बात यह है कि हमारे सत्संग में यदि किसी ने शास्त्र–अध्ययन में निपुणता प्राप्त की हो तो उससे वह महान नहीं है। तब कौन महान कहा जाएगा? **सत्संग में महान तो वही है, जो संसार के चौदह लोकपर्यन्त समस्त पदार्थों को तृणवत् समझता हो, और अतिशय वैराग्य से युक्त हो, जिसे अपनी देह में जैसी आत्मबुद्धि–प्रीति है वैसी ही प्रीति परमात्मा पुरुषोत्तम के स्वरूप में दृढ़ता व साक्षात्कार बोध युक्त हो तथा सुषुप्ति–अवस्था में जिस प्रकार जगत की विस्मृति है वैसी जाग्रत अवस्था में भी जगत की विस्मृति रखता हो, ऐसी स्थिति से सम्पन्न भक्त ही हमारे सत्संग में महान है।'**

॥ इति वचनामृतम् ॥3॥

संवत् 1882 में चैत्र शुक्ला षष्ठी (13 अप्रैल, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीजेतलपुर ग्रामस्थित प्रासाद के दक्षिणवर्ती झरोखे में गद्दी–तकिये का सहारा लेकर विराजमान थे। उनके मस्तक पर पुष्पों की सेहरोंवाली श्वेत पाग सुशोभित हो रही थी। उन्होंने श्वेत पुष्पों की चादर ओढ़ी थी, समस्त अंगों में केसरयुक्त चंदन लगाया था, श्वेत रेशमी किनारेवाली धोती धारण की थी और कंठ में गुलदावदी के हार पहने थे। उनके समक्ष मुनिगण तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी।

उस समय श्रीजीमहाराज सभा में उपस्थित सभी लोगों से कहने लगे कि 'इस लोक में जीव के कल्याण का साधन तो यही है कि प्रत्यक्ष भगवान के स्वरूप का निश्चय हो तथा उनके दर्शन करता हो, तथा उनकी अखंड स्मृति बनी रहे, तभी उसका कल्याण होता है। क्योंकि श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है कि कंस, शिशुपाल और दन्तवक्र आदि जो भगवान की निन्दा किया करते थे, उनको भी भगवान की अखंड स्मृति रही, तो उनका कल्याण हो गया। अतः भगवान की निरन्तर स्मृति होने से कल्याण होता है। ऐसी

स्मृति आप सबको भी है, इसलिए आप लोगों का कल्याण तो हो चुका है। फिर भी, देह की स्मृति रहने तक आप सब हमारे द्वारा निर्धारित धर्ममर्यादा का समस्त प्रकार से पालन करते रहना।

तब आप यह कहेंगे कि भगवान तो प्राप्त हुए हैं, तथा उनकी स्मृति भी निरन्तर रहती है, ऐसी स्थिति में पंचव्रतों (निष्कामादि धर्म-नियमों) के पालन का क्या प्रयोजन हो सकता है? तो इसका उत्तर यह है कि एक भक्त ऐसा है जो व्रतों के पालन की दृढ़ता रखता है, तथा दूसरा भक्त व्रतों के पालन में शिथिल रहता है, उन दोनों में कितना अन्तर है? यह बताते हैं : भगवान की स्मृति तो दोनों को है, परन्तु जो नियम-धर्म से रहित है, उससे तो केवल अपना ही कल्याण होता है, किन्तु उसके द्वारा अन्य जीव का कल्याण नहीं होता तथा वह एकान्तिक भक्त भी नहीं हो सकता, और भगवान के निर्गुण धाम को भी नहीं प्राप्त होता। यद्यपि वह जन्म-मरण से रहित तो हो जाता है, किन्तु फिर भी वह सत्संग में नहीं बैठ पाता। आप सब तो उत्तम भक्त हैं। धर्मनियमयुक्त आप जैसे साधुजनों की तो बात ही निराली है। इसलिए, आपको जो कोई सद्भावपूर्वक भोजन कराएगा, उसे कोटियज्ञों का फल मिलेगा, और अन्त में उसका मोक्ष हो जाएगा। जो कोई आपके चरणों का स्पर्श करेगा, उसके कोटिजन्मों के पाप नष्ट हो जाएँगे। जो कोई भक्त आपको भावपूर्वक वस्त्र ओढ़ाएगा, उसका भी परम कल्याण हो जाएगा। आप जिस-जिस नदी और तालाब में चरण रखते हैं, वे सब तीर्थरूप हो जाते हैं। आप जिस-जिस वृक्ष के नीचे बैठते हों तथा जिस-जिस वृक्ष के फल खाते हों, उन सबका कल्याण हो जाता है। जो कोई भावपूर्वक आपके दर्शन करता है तथा जो कोई आपको भावपूर्वक प्रणाम करता है, उसके सभी पापों का क्षय हो जाता है। आप जिससे भगवान की बात कहते हैं, तथा जिस किसी को धर्म सम्बंधी नियमों की दीक्षा देते हैं, उसका मोक्ष हो जाता है। इस प्रकार के धर्मनियमवाले आप जैसे सन्तों की समस्त क्रियाएँ कल्याणरूप होती हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष श्रीनरनारायण ऋषि का आपको दृढ़ आश्रय है। वे श्रीनरनारायण ऋषि आपकी सभा में निरन्तर विराजमान रहते हैं।

अब आप कहेंगे कि भगवान का दृढ़ आश्रय रहते हुए भी मायिक गुण क्यों हावी हो जाते हैं? तो सुनिए, वही बात बताते हैं कि सबको षड्ऊर्मि

रहित तथा मायिक गुणरहित करने में कोई देर नहीं है। असंख्य जन्मों की स्मृति हो जाए तथा स्वयं अपने आप अनन्त ब्रह्मांडों की उत्पत्ति आदि क्रिया को सम्पन्न कर सके, ऐसे समर्थ बनाने में भी कोई विलंब नहीं है। परन्तु हमने अपनी इच्छा से आप सबको इस स्थिति में रखा है और आपके सामर्थ्य को भी अवरुद्ध कर दिया है। यह इसलिए किया है कि आप प्रत्यक्ष भगवान के सुख को प्राप्त कर सको। इसी कारण आज स्वयं श्रीपुरुषोत्तम श्रीनरनारायण ऋषि के रूप में प्रकट होकर आपको मिले हैं। अत: नि:संशय होकर आप आनन्द में रहकर भजन करते रहना।' ऐसा कहकर श्रीजीमहाराज मौन हो गए।

उस समय आशजीभाई ने श्रीजीमहाराज से पूछा कि 'हे महाराज! कृपया यह बताइए कि वैरभाव से जो कल्याण होता है, वह कैसे होता है?'

तब श्रीजीमहाराज बोले कि 'द्रुपद राजा थे, उन्हें अपनी पुत्री द्रौपदी का विवाह करना था। इसलिए उन्होंने स्वयंवर रचा। उसमें भाग लेने के लिए उन्होंने सभी राजाओं को आमंत्रित किया था। इस अवसर पर द्रोणाचार्य और पांडव भी आए थे। बाद में दूसरे सभी राजाओं ने मिलकर मत्स्यवेध करने का प्रयास किया, किन्तु कोई भी राजा मत्स्यवेध न कर सका। तब युधिष्ठिर ने कहा कि 'मैं मत्स्यवेध करूँगा।' ऐसा कहकर युधिष्ठिर ने अपने धनुष पर बाण लगाया। तब द्रोणाचार्य ने उनसे पूछा कि 'क्या आपको यह सभा दिखायी पड़ती है?' उन्होंने कहा कि 'यह दीखती है।' उन्होंने फिर पूछा कि 'क्या आपको अपना शरीर दिखायी पड़ता है?' युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि 'मैं इसे भी देखता हूँ।' तब द्रोणाचार्य ने कहा कि 'आप मत्स्यवेध नहीं कर सकेंगे।' इस प्रकार चारों भाई मत्स्यवेध करने में समर्थ न हो सके।

बाद में अर्जुन आए और उन्होंने अपने धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ायी। तब द्रोणाचार्य ने पूछा कि 'क्या आप इस सभा को देखते हैं?' अर्जुन ने उत्तर दिया कि 'न तो मैं इस सभा को देखता हूँ, और न मुझे मत्स्य ही दिखायी पड़ रहा है, किन्तु मैं मत्स्य पर के पक्षी को देखता हूँ।' तब द्रोणाचार्य ने कहा कि 'पक्षी के मस्तक की ओर अपनी दृष्टि स्थिर करो।' तब अर्जुन ने अपनी दृष्टि स्थिर करके कहा कि 'मैं अभी पक्षी को पूरी तरह नहीं देख सकता। मैं तो केवल उसके मस्तक को ही देख पा रहा हूँ।' द्रोणाचार्य ने कहा कि

'अब मत्स्यवेध करो।' तब अर्जुन ने मत्स्य का मस्तक बींध डाला।[7]

ऐसे ही एकमात्र केवल भगवान के स्वरूप में ही वृत्तियों का निरोध हो जाए, तो उसे वैरभाव से मुक्ति मिल जाती है। जिस प्रकार श्रीकृष्ण के स्वरूप में शिशुपाल तथा कंस आदि की वृत्तियाँ तदाकार हो गयी थीं, तभी उनका कल्याण हुआ। यदि इस प्रकार का अति तीव्र द्रोह न रहे, तो वह द्रोह करनेवाला नारकी होता है। इससे तो भगवान की भक्ति करना ही सुलभ है। और, द्रोहबुद्धि रखकर भगवान का भजन करनेवाले का नाम अमर रूप से असुर ही रहता है, जो कभी भी नहीं मिट सकता तथा वह भक्त भी नहीं कहलाता। इसलिए, जिसे आसुरी रीति का परित्याग कर ध्रुव, प्रह्लाद, नारद और सनकादि की पंक्ति में सम्मिलित होना हो, उसके लिए तो भक्तिपूर्वक भगवान का भजन करना ही अति श्रेष्ठ कार्य रहेगा।' इस प्रकार श्रीजी–महाराज ने वार्ता कही, जिसे सुनकर सभी मुनि आदि भक्त समुदाय परम आनन्दित हुआ।

॥ इति वचनामृतम् ॥**4**॥

संवत् 1882 में चैत्र शुक्ला सप्तमी (14 अप्रैल, 1826) को स्वामी श्रीसहजानन्दजी महाराज श्रीजेतलपुर ग्राम–स्थित प्रासाद के दक्षिणवर्ती चौक में उत्तराभिमुख होकर चौकी पर विराजमान थे। उन्होंने सभी श्वेत वस्त्र धारण किए थे, मस्तक पर महीन पोतदार श्वेत पाग धारण की थी, सफ़ेद महीन चादर ओढ़ी थी और श्वेत धोती पहनी थी। उनके समक्ष मुनि तथा विभिन्न प्रान्तों के हरिभक्तों की सभा हो रही थी। उस समय रात्रि को डेढ़ प्रहर बीत चुका था।

श्रीजीमहाराज थोड़ी देर तक विचार करने के बाद बोले कि 'आप सब सुनिये, आज तो हमें यथार्थ रहस्य की बातें करनी हैं कि भगवान को भजना, इसके उपरान्त अन्य कोई बात बड़ी नहीं है। क्योंकि भगवान का किया ही

7. इस महाभारत के प्रसंग में पाठभेद दिखाई दे रहा है। महाभारत के अनुसार द्रोणाचार्य के साथ हुई घटना में राजकुमारों की कसौटी का प्रसंग जुड़ा हुआ है, जो कि पाण्डव, कौरव जब विद्यार्थी अवस्था में हस्तिनापुर में शस्त्रविद्या की शिक्षा ले रहे थे। जबकि द्रौपदी स्वयंवर के समय द्रुपद के राजभवन में मत्स्यवेध की घटना साकार हुई थी, जहाँ द्रोणाचार्य उपस्थित नहीं थे। अतः इसे पाठभेद के रूप में देखना ही उचित है।

सब कुछ होता है। आज तो भगवान के प्रताप से इस सभा का किया भी सब कुछ होता है। श्रीनरनारायण के प्रताप से हमारा किया भी सब कुछ होता है। वह इस प्रकार है, कि हम मन में जैसा संकल्प करते हैं, वैसा ही इस जगत में प्रवर्तित हो जाता है। हम जैसी धारणा करते हैं वैसा ही यथार्थ रूप से हो जाता है। जब हम यह इच्छा करते हैं कि अमुक मनुष्य को राज्य मिलना चाहिए तब उसे राज्य मिलता है। तथा हम चाहते हैं कि इसका राज्यं समाप्त हो जाए, तब ऐसा ही होता है। जब हम धारणा करते हैं कि इस पल में यहाँ इतनी वर्षा हो, तो उतने ही परिमाण में वहाँ वर्षा अवश्य होती है, हम चाहते कि यहाँ वर्षा न हो, तो वहाँ वर्षा नहीं होती। जब हम यह धारणा करते हैं कि अमुक पुरुष को धन प्राप्त हो, तो उसे धन मिल जाता है, तथा हम चाहें कि अमुक पुरुष को धन न मिले, तो उसे नहीं मिल पाता! जब हम यह चाहते हैं कि इसको पुत्र प्राप्त हो, तो उसको पुत्र मिल जाता है और हमारे न चाहने पर अन्य किसी को पुत्र-प्राप्ति नहीं होती। जब हम यह चाहते हैं कि इस पुरुष को रोग हो, तो उसे रोग हो जाता है, तथा हमारे चाहने पर अमुक पुरुष को रोग नहीं होता! इस प्रकार हम जैसी धारणा करते हैं, वैसा अवश्य हो जाता है।

तब आप कहेंगे कि 'सत्संगी को सुख-दुःख प्राप्त होते हैं और रोगादि प्राप्त होता है तथा उसकी धनसमृद्धि की कुछ हानि होती है और वह मेहनत करके मर जाता है, तो भी दरिद्र-जैसा ही रहता है। इसका कारण क्या हो सकता है?' तो इसका कारण यह है कि उसे भगवान को भजने में जितनी कसर रहती है, उतनी ही मात्रा में उसकी स्थिति में वृद्धि नहीं हो पाती। भगवान को तो वस्तुतः उसका कल्याण ही करना है। क्योंकि भगवान अपने आश्रितजनों का सूली का दुःख भी काँटे द्वारा मिटाते हैं।

और, हम तो ऐसा जानते हैं कि 'सत्संगी को एक बिच्छू के काटने से जितनी पीड़ा होती हो, तो हमें वही पीड़ा सहस्रगुना हो जाए। परन्तु उस पीड़ा से वह हरिभक्त मुक्त हो जाए और सुखी रहे।' ऐसा वरदान हमने रामानन्द स्वामी से माँग लिया है। वास्तव में हमारा दृष्टिकोण यही रहता है कि सबका कल्याण हो। जीव की मनोवृत्ति भगवान में लगाए रखने का उपाय भी हम निरन्तर करते रहते हैं। इसका कारण क्या है? तो हम तो भूत,

भविष्य और वर्तमान तीनों कालों की समस्त क्रियाओं को जानते रहते हैं और यहाँ बैठे हुए भी सबको जानते हैं। जब माता के उदर में थे, उस समय भी जानते थे, तथा उदर में नहीं आए थे, तब भी यह जानते थे। क्योंकि हम तो भगवान नरनारायण ऋषि हैं।[8] और, कैसा भी महापापिष्ट जीव होगा, यदि वह हमारा आश्रय करेगा, और धर्म-नियम के पालन में दृढ़ रहेगा, उसे हम अन्तकाल में दर्शन देकर भगवान के अक्षरधाम की प्राप्ति करा देते हैं।

उस अक्षरधाम के स्वामी श्रीपुरुषोत्तम भगवान सर्व प्रथम धर्मदेव और मूर्तिदेवी द्वारा श्रीनरनारायण ऋषि के रूप में प्रकट हुए थे और बाद में उन्होंने बदरिकाश्रम में तप किया था। वे ही श्रीनरनारायण ऋषि इस कलियुग में पाखंडियों के मत का खंडन करने, अधर्म के वंश का नाश करने, धर्म के वंश को पुष्ट करने तथा पृथ्वी पर धर्म, ज्ञान, वैराग्य सहित भक्ति का विस्तार करने के लिए धर्मदेव एवं भक्तिदेवी द्वारा नारायणमुनि रूप से प्रकट होकर इस सभा में विराजमान हैं।' ऐसा कहकर उन्होंने अपने आश्रितजनों को अतीव आनन्दमग्न कर दिया।

श्रीजीमहाराज पुनः बोले कि 'हम बार-बार श्रीनरनारायणदेव की प्रधानता बताते हैं, इसका अभिप्राय तो यही है कि श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम अक्षरधाम के धामी श्रीनरनारायण ही इस सभा में नित्य विराजमान रहते हैं। इसलिए, हम उनका महत्त्व प्रतिपादित करते रहते हैं। हमने अपने इस स्वरूप को दृष्टिगत रखते हुए श्रीअहमदाबाद में लाखों रुपये खर्च करके शिखरबद्ध मन्दिर स्थापित किया है, और उसमें सर्वप्रथम श्रीनरनारायण की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित कीं। वे श्रीनरनारायण अनन्त ब्रह्मांडों के अधिपति हैं, उनमें भी इस भरतखंड के वे मुख्यरूप से अधिपति हैं। इस भरतखंड के मनुष्य प्रत्यक्ष श्रीनरनारायण को छोड़कर अन्य देवों का भजन करते रहते हैं, इन मनुष्यों की तुलना तो उन व्यभिचारिणी स्त्रियों के साथ की जा सकती है। जो अपने पतियों को छोड़कर अन्य व्यभिचारी पुरुषों के प्रति आकृष्ट हो जाती हैं। श्रीनरनारायण ही भरतखंड के अधिपति हैं। इसका उल्लेख श्रीमद्भागवत में किया गया है।

8. नरनारायण की ही महिमा जाननेवाले गुणभाविक भक्तों के लिए उनकी श्रद्धा बनी रहे, इस हेतु से श्रीहरि यहाँ अपने को नरनारायण स्वरूप से निरूपित करते हैं।

और, हम सन्तसहित जीवों के कल्याण के लिए प्रकट हुए हैं। अतएव, यदि आप हमारे वचनों को मानेंगे, तो हम आप सबको भी उस धाम में ले जाएँगे, जहाँ से हम आए हैं। आपको भी ऐसा समझ लेना कि आपका कल्याण हो चुका है। आप मुझमें दृढ़ विश्वास बनाये रखें और हम जैसा कहें वैसा करते रहें। यदि आप पर कोई भारी कष्ट आ पड़ेगा, तो उससे अथवा सात दुर्भिक्षों-जैसी भीषण विपत्तियों से भी हम आपकी रक्षा करेंगे। हम आपकी ऐसे कष्ट से भी रक्षा करेंगे, जिससे उबरने का कोई उपाय न सूझता हो। लेकिन, शर्त यह है कि आप हमारे सत्संग के धर्म एवं नियमों का अधिकाधिक पालन करते रहें और सत्संग में टिके रहें। यदि आप ऐसा नहीं करेंगे, तो आप भीषण दुःखों के फन्दे में फँस जाएँगे, जिसमें हमें कुछ लेना-देना नहीं है। हमने तो इस समय किसी भी बात की न्यूनता नहीं रखी है। देखो न! इस जेतलपुर ग्राम में हमने कितने यज्ञ किए हैं और कितने ही वर्षों से यहाँ रहते हैं, तालाब में हमने समस्त सन्तों के सहित हज़ारों बार स्नान किया है तथा इस जेतलपुर ग्राम के घर-घर में सौ बार फिरे हैं। और घर-घर जाकर भोजन भी किया है। इस ग्राम की सीमा और ग्राम को हमने वृन्दावन से भी बढ़कर रमणीय स्थल बना दिया है।'

जब महाराज ऐसी बात कर ही रहे थे कि इतने में आकाश में एक विशाल तेजपुँज दिखायी पड़ा और उसमें से तीन गोले हो गए, जो प्रासाद के ऊपर थोड़ी देर तक दिखायी पड़े, फिर वहाँ से अदृश्य हो गए। तब सब भक्तों ने कहा, 'हे महाराज! यह क्या था?' तब श्रीजीमहाराज ने बताया कि 'ब्रह्मा, विष्णु, एवं शिव प्रतिदिन इन सन्तों की सभा तथा हमारे दर्शन करने आते रहते हैं, परन्तु, आज हरि-इच्छा से ये तीनों देव अपने विमानों सहित आप सबके लिए दिखाई दिए।'

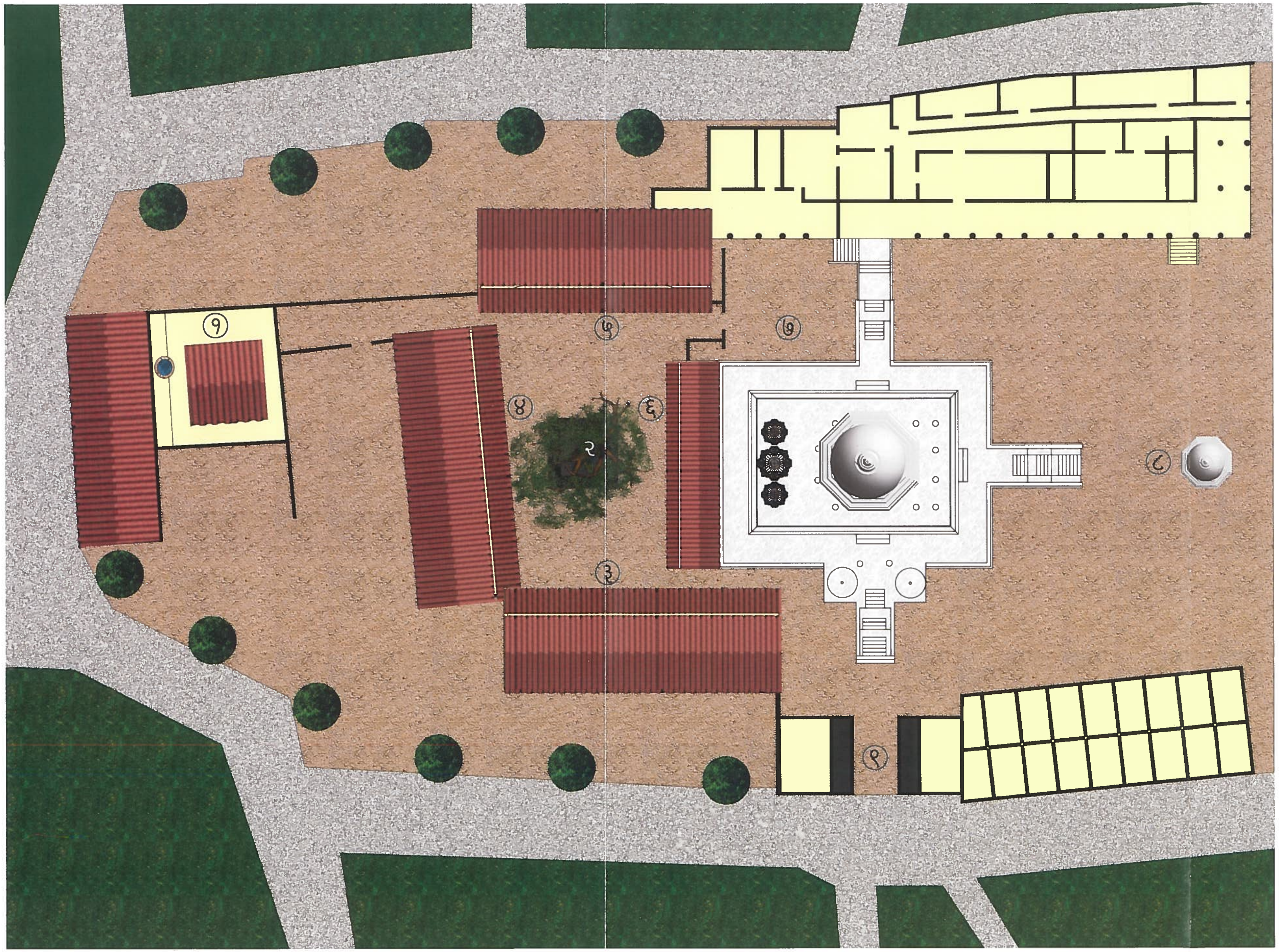
॥ इति वचनामृतम् ॥5॥

तिथि के अनुसार वचनामृतों का वर्गीकरण

तिथि	कारतक	मागशीर्ष	पौष	माघ	फागुन	चैत्र	वैशाख	ज्येष्ठ	आषाढ़	श्रावण	भाद्रपद	आश्विन	कुल
१	का. ७	लो.६	प्र.१९,लो.१८	प्र.३८,व.१८	-	-	अं.३६	-	-	-	सा.१२,म,१४,म.३४	-	१०
२	-	म.६२	प्र.२०,अं.२९	व.१९	प्र.५७,म.२८,म.४९	अश्लाली.१	-	-	-	-	सा.१३,म.१५	का.२	११
३	-	लो.७	प्र.२१	प्र.३९,व.२०	-	जे.१,अं.३४	अं.३७	-	प्र.७८,अं.११	म.२,अं.४	सा.१४	-	१२
४	का.८	प्र.१	प्र.२२,म.४३,व.८	प्र.४०,अं.३१	पं.१	जे.२	-	-	-	मं.३,म.३१,म.५८	सा.१५	-	१३
५	का.९	प्र.२.लो.८	प्र.२३	प्र.४१,अं.३२	प्र.५८	जे.३	म.५३	-	म.५६	म.४,म.३२	सा.१६	-	१३
६	-	प्र.३,लो.९	प्र.२४	प्र.४२	-	जे.४	-	अं.२	म.५७	अं.१७	सा.१७	-	९
७	-	प्र.४	प्र.२५,म.६४	प्र.४३	पं.२	प्र.६७,जे.५	-	म.५४	-	म.५	-	-	११
८	-	प्र.५,लो.१०	म.४४,व.९	प्र.४४	पं.३,म.२९	-	-	-	-	म.६,म.२४	सा.१८	-	९
९	-	प्र.६	-	-	-	प्र.६८,म.३०,अं.३५	-	-	-	-	अं.२१	-	५
१०	का.१०,अं.२५	प्र.७,व.४	-	प्र.४५	-	-	-	-	-	-	म.१६	-	६
११	का.११,म.२७,व.१,अं.२६	प्र.८	प्र.२६,म.६५,व.१०	प्र.४६	अम.२,अं.३३	-	प्र.७४	प्र.७६,म.२३,म.५५	-	म.७	म.२६,म.३५,अं.५	अं.९	२०
१२	-	प्र.९	प्र.२७	प्र.४७	-	प्र.६९	-	-	-	म.८,म.५९	का.१	-	७
१३	व.२	प्र.१०	-	प्र.४८	-	-	-	-	-	-	-	-	३
१४	-	प्र.११	प्र.२८	प्र.४९	प्र.५९	-	अं.३८	-	-	म.९	-	-	६
१५	का.१२, अं.२७	प्र.१२	प्र.२९,व.११,अं.३०	-	म.२१	प्र.७०	-	मं.१	-	-	म.३६	अं.२३	११
१	अं.२८	प्र.१३	प्र.३०,म.४५,म.६६	प्र.५०	प्र.६०	-	-	-	अं.३	-	म.३७	-	९
२	-	प्र.१४,म.६३	प्र.३१,व.१२	प्र.५१	अम.३	म.५०	-	-	-	-	-	-	७
३	-	प्र.१५	प्र.३२	प्र.५२,म.६७	प्र.६१,पं.४,अम.४	-	-	-	-	म.१०	-	म.४०	९
४	-	प्र.१६,व.५	-	-	प्र.६२,अम.५	प्र.७१	-	-	-	म.६०	अं.२२	-	७
५	-	प्र.१७	प्र.३३	-	-	-	-	-	-	सा.१,म.११	अं.६	-	५
६	-	प्र.१८,म.१८	-	-	अम.६	-	-	-	-	सा.२.म.१२,म.२५	म.३८,अं.७	-	८
७	-	-	व.१३	-	प्र.६३,अम.७	-	-	-	-	सा.३,म.६१	-	का.३	५
८	-	लो.११	-	-	पं.५,अम.८	-	-	-	अं.१२	सा.४	-	का.४	६
९	-	लो.१२	व.१४	प्र.५३	प्र.६४,पं.६	म.५१	-	-	अं.१३	सा.५	अं.८	-	९
१०	लो.१	लो.१३	-	म.४७	म.२२	-	-	-	अं.३९	सा.६,अं.१८	म.३९	-	८
११	लो.२, म.४१,व.३	लो.१४, व.६	प्र.३४,म.४६,व.१५	प्र.५४,प्र.५५,अम.१	पं.७	प्र.७२,म.५२	प्र.७५,अं.१	-	अं.१४	सा.७	-	म.१७	१९
१२	-	म.४२	प्र.३५	प्र.५६	-	-	-	-	-	सा.८	-	अं.१०,अं.२४	६
१३	लो.३	लो.१५	प्र.३६,व.१६	-	-	-	-	-	अं.१५	सा.९,म.३३,अं.१९	-	-	८
१४	लो.४	लो.१६,म.१९,व.७	प्र.३७,म.२०	म.४८	प्र.६५	-	-	-	-	सा.१०	-	का.५	१०
३०	लो.५	लो.१७	व.१७	-	प्र.६६	प्र.७३	-	प्र.७७	अं.१६	सा.११,म.१३,अं.२०	-	का.६	११
कुल	२०	३९	४०	२८	३०	१९	७	७	११	३७	२४	११	२७३

संवत	१८७६	१८७७	१८७८	१८७९	१८८०	१८८१	१८८२	१८८३	१८८४	१८८५	१८८६	कुल
वचनामृत	७७	५७	२२	७	२५	१२	३६	८	१२	१६	१	२७३

● ग.प्र. ७६ - सं. १८७६ के वर्ष में अधिक ज्येष्ठ की शुक्ल एकादशी का है। ● ग.प्र.७७ - सं. १८७६ के निज ज्येष्ठ कृष्ण पक्ष की अमावास्या के दिन कहा गया था। ● ग.म. ३० - सं. १८७९ के निज चैत्र मास की शुक्ल नवमी के दिन कहा गया था।



दादाखाचर का दरबार, गढ़डा

१. अक्षर कुटीर
(श्रीहरि का निवास स्थान)
२. नीम का वृक्ष
३. पश्चिमी द्वार के कमरे
४. उत्तरी द्वार के कमरे
वासुदेव नारायण के कमरे का बरामदा
५. पूर्वी द्वार के कमरे
६. दक्षिणी द्वार के कमरे (जिस स्थान पर गोपीनाथ देव के मंदिर का निर्माण किया गया है)
७. गोपीनाथ देव का मंदिर
८. परमहंसों का निवास स्थान
(वर्तमान में जहाँ स्मृति के रूप में देहरी की रचना की गई है)
९. प्रवेशद्वार

परिशिष्ट : 1

वचनामृत में श्रीहरि के कृपावचन एवं प्रश्नों की कुल संख्या तथा विभागीकरण

वचनामृत से सम्बंधित गाँव	ग. प्र.	सा रं.	का रि.	लो या	पं चा.	ग. म.	व र.	अ म.	अ सला.	जे त.	ग. अं.	कु ल
भगवान के कृपावचन	40	6	5	3	5	45	5	3	1	5	44	162
भगवान के प्रश्न	22	4	7	47	1	29	8	2	0	1	17	138
मुक्तानंद स्वामी के प्रश्न	32	12	5	8	0	17	4	1	0	1	11	91
गोपालानंद स्वामी के प्रश्न	5	0	2	2	0	0	1	0	0	0	1	11
नित्यानंद स्वामी के प्रश्न	4	4	3	11	0	0	2	1	0	0	0	25
शुकानंद स्वामी के प्रश्न	3	0	0	3	0	2	1	1	0	0	11	21
ब्रह्मानंद स्वामी के प्रश्न	8	0	2	3	0	2	1	0	0	1	0	17
अन्य संतों के प्रश्न	41	15	8	15	2	8	0	0	0	0	7	96
अयोध्याप्रसादजी महाराज के प्रश्न	0	0	0	0	0	1	0	0	0	0	1	2
रघुवीरजी महाराज के प्रश्न	0	0	0	0	0	1	0	0	0	0	1	2
हरिभक्तों के प्रश्न	17	2	2	1	2	3	11	7	0	2	6	53
कुल संख्या	**172**	**43**	**34**	**93**	**10**	**108**	**33**	**15**	**1**	**10**	**99**	**618**

परिशिष्ट : 2

वचनामृत में आनेवाले कठिन शब्दों के सरल अर्थ

अक्षिविद्या : एकाग्रता; ध्यान

अच्युत : निश्चल, जो च्युत न हो

अनुग्रह : कृपा, मेहरबानी

अनुलोम : प्रवृत्ति के सामने; चंचलता का भाव, कार्यान्वित

अनुस्यूत : अंदर का, ऊलझा हुआ, गहरे सम्बंध से जुड़ा हुआ, ओतप्रोत

अन्वयभाव : अपने से अलग की वस्तु में निवास; जहाँ एक वस्तु हो वहाँ दूसरी वस्तु का नियमानुसार होना, व्यापकता, सम्बंध

अंडकटाह : ब्रह्मांड का बाह्य आवरण

एककालावछिन्न : एक साथ, एक ही अवसर पर; समान समय पर

एकदेशस्थपन : एक देश अर्थात् किसी एक स्थान पर रहने का भाव

उपशमभाव : शांतत्व, इन्द्रियों का संयम

क्रियमाण : किया हुआ; इसी शरीर से किया हुआ कर्म

क्षोभ : घभराहट; व्याकुलता; दुविधा

खद्योत : एक पतंगा, जो उड़ते समय प्रकाशित होता है, जुगनू

गेह : घर; संसार

चराचर : चेतन और जड

च्युतभाव : गिरना, कमजोर या नष्ट होना,

तारतम्य : घट-बढ होने का भाव

द्रष्टा : देखनेवाला, आत्मा

दृश्य : जो देखा जा सके, जगत

धन-कलत्रादिक : पैसा, पत्नी इत्यादि

निरुत्थानभाव : दृढ़ता, बिना संदेह के

निरोध : रोकना, रुकना, अवरोध, मन की सारी वृत्तियाँ भगवान में लगा देना

पदवी : स्थान; पदक

परिच्छिन्न : सीमित, मर्यादित

पिंडीभाव : समेट लेना, संयम रखना; एक कर देना

पुत्र-कलत्रादिक : पुत्र, पत्नी इत्यादि

प्रतिलोमभाव : प्रवृत्ति के विरुद्ध भाव, अथवा शांति का भाव

भडवा : अपनी स्त्री से व्यभिचार कराकर जीवन जीनेवाला पति, वेश्या की दलाली करनेवाला

मेषोन्मेष : पलक झपकाना, चौंकना

यत्किंचित् : जो कोई, थोड़ा-बहुत

रत्ती : सोना-चांदी तौलने का एक माप, थोड़ा

राशि : समूह, ढ़ेर

लुब्ध : लालच में पड़ना

विकल्प : विषयों का चिंतन (सेतुमाला टीका, तरंग 12)

विभ्रांत : भ्रमित, भ्रांति, भ्रम

विलक्षण : विशिष्ट गुणवाला

व्यतिरेकभाव : अपने ही स्वरूप में रहना, जुदाई, अलगाव, सम्बंध टूटना

व्यापकभाव : सर्वत्र व्याप्त, सबकी उपस्थिति में रहना

व्याप्य : फैला हुआ

षडूर्मियाँ : मन के छः प्रकार के भाव, इन छः की गणना में भिन्न-भिन्न मत जैसे - (1) भूख-प्यास, गरमी-ठंडी, दुःख-सुख (1) जीवन-मरण, भूख-प्यास, हर्ष-शोक (1) भूख-प्यास, बुढ़ापा-मृत्यु, शोक-मोह

संकरता : मिला हुआ, मिश्रण, परिवर्तन

संकल्प : देहादिक का जीवात्मा के साथ एकत्व से चिंतन

संसृति : जन्म-मरण

स्तब्धता : दिग्मूढ हो जाना, जड़ हो जाना

स्तंब : घास का गुच्छा

परिशिष्ट : 3

भगवान स्वामिनारायण द्वारा उपयोग में लिए गये वस्त्र-परिधान, आसन तथा इस सम्बंध में प्रयोग किए जानेवाले विशिष्ट शब्दों के अर्थ

वस्त्र-परिधान

दुपट्टा = उत्तरीय; पुरुष के कंधे पर रखी जानेवाली पिछौरी–दुपट्टा; धोती की तरह पहना जाता है तथा ऊपरी शरीर पर भी ओढ़ा जाता है।

धोती = पुरुष के लिए बिना सिला हुआ कमर के नीचे पहना जानेवाला वस्त्र।

अंगरखा = गले से घुटने तक सिला हुआ वस्त्र; पुराने ढंग का जरीदार कुर्ता; बड़े घेरेवाला नीचे तक लटकता हुआ अंगरखा।

डगली = अस्तरवाली बंडी; बिना कॉलर की कमर तक पहनी जानेवाली, बिना बाँह की अथवा बाँह सहित की बंडी।

पिछौरी = मोटा कपड़ा, चादर, पिछौरी, जो ओढ़ने के उपयोग में आती है।

शाल = भरे किनारेवाली कीमती ऊन, सूत, रेशम आदि का चौड़ा और लंबा ओढ़ने का वस्त्र; शीतकाल में ओढ़ी जाती गरम ऊन से बुनी हुई चद्दर।

चद्दर = सफेद कपड़े का पाँच–सात हाथ लंबा टुकड़ा; जो गद्दे के ऊपर बिछाया जाता है। पिछौरी, ओढ़ने में उपयोगी मोटा कपड़ा।

बड़ी चद्दर = बड़ी घट्ट ओढ़ने के लिए उपयोगी, जिसकी लंबाई २४ हाथ होती है।

रजाई = कम रुई भरी हुई ओढ़ने में उपयोगी रजाई।

सुरवाल = सुरवाल अर्थात् पायजामा, लहँगा अथवा सुथना; छोटा पायजामा।

पाग = सिर पर शृंगार के रूप में बांधा जानेवाला निश्चित आकार का वस्त्र। बड़ी पगड़ी; कपड़ा लपेटकर मस्तक पर पहना जानेवाला वस्त्र, पाग; भिन्न–भिन्न प्रदेशों में अलग–अलग ढंग से पगड़ी पहनी जाती है।

फेंटा = सिर पर पेच लेकर बाँधा जाता एक विशेष प्रकार का महीन कपड़ा।

रेंटा = कमर में कसकर पहना जानेवाला वस्त्र; सिर पर बांधने में उपयोगी जरीदार किनारावाला उपवस्त्र, फेंटा।

रुमाल = स्वामिनारायण संप्रदाय के त्यागियों के सिर पर बांधी जानेवाली पगड़ी; हाथ पोंछने के लिए कपड़े का महीन वस्त्र का टुकड़ा।

विभिन्न प्रकार के आसन

गद्दी-तकिया = बैठने के लिए रूई भरी हुई छोटी गद्दी और पीछे आधार के लिए तकियेवाला आसन; गद्दी; ऊँचा आसन।

पाट = बैठने के लिए काष्ठ निर्मित ऊँची चौकी; लंबा-चौड़ा लकड़ी की पटरियों से बना हुआ ऊँचा आसन अथवा चौकी।

वेदिका = पीठ, वेदी; यज्ञ अथवा होम करने के लिए बनी हुई ऊँची बेठक।

मंच = बैठने के लिए बना हुआ ऊँचा आसन, ऊँचा कोठा; चार पाये का बना हुआ बैठनेवाला आसन, उच्च आसन।

विशेष शब्दार्थ

भीड़ा = श्रीहरि अपने आश्रितों को सम्मिलित रखते थे। एकत्र रहने से कुछ शारीरिक, मानसिक कष्ट अवश्य होता था, जिसे सहन करना उसे ही 'भीड़ा सहन करना' कहा जाता था। वैसे ही श्रीहरि अमुक आज्ञा करते थे, जिसमें तन-मन दोनों की कसौटी होती थी, उसे 'वचन का भीड़ा' कहा जाता था।

अंग = श्रीहरि ने भक्ति-संप्रदाय की स्थापना की, उसमें लाखों स्त्री-पुरुषों को जोड़ा। जिनमें किसी में सेवा तो किसी में ज्ञान, किसी में धर्मपालन तो किसी में वैराग्यभावना प्रमुखरूप से दिखाई देते हैं। उसे उसका 'अंग' कहकर श्रीहरि ने अपने-अपने 'अंग में स्थित होकर भक्ति करना' ऐसा आदेश दिया।

निश्चय = यह शब्द भगवत्स्वरूप में भक्त की निश्चयात्मिका बुद्धि को उजागर करने के लिए हुआ है। जीव में ऐसी सुदृढ़ मति जीवन-पर्यन्त बनी रहे उसे 'परिपक्व निश्चय' या 'सुदृढ़ निश्चय' कहा जाता है।

स्वरूपनिष्ठा = भगवत्स्वरूप में दृढ़ आस्था, श्रद्धा। भगवत्स्वरूप का निर्विकल्प

ज्ञान, जो किसी भी अवस्था में संशयलिप्त न हो।

सत्पुरुष = यह शब्द श्रीहरि ने अन्य साधुमात्र से भिन्न, मोक्षदाता, परमात्मा में निरंतर निमग्न संत के लिए प्रयुक्त किया है। लोक में इसका पर्याय 'सज्जन' हो सकता है, लेकिन श्रीहरि का अभिप्रेत अर्थ 'गुणातीत' 'स्थितप्रज्ञ' है।

एकान्तिक = लोकव्यवहार में एकाकी पृथक्चर या नियत को एकान्तिक कहते हैं, लेकिन यहाँ श्रीहरि को इस शब्द से धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति - चारों से संपन्न सत्पुरुष ही अभिप्रेत हैं। इसमें भी 'परम' विशेषण लगाने से 'गुणातीत', 'स्थितप्रज्ञ', 'मोक्षदाता' के अर्थ में वह परिणत होता है।

परिशिष्ट : 4

श्रीहरि के वस्त्र-परिधान की गई कुछ चित्रकारी



मस्तक पर धारण किये हुए छोर निकली हुई पघडी के दोनों और लटकता हुआ फूलों का तुर्रा



शिर पर धारण किये हुए छोरवाली पघडी तथा ठंड से बचने के लिए कानों को ढंकनेवाली एक रूमाल इसे 'बुकानी' कहते हैं।



ठंडी में सिर पर धारण करनेवाली गरम टोपी



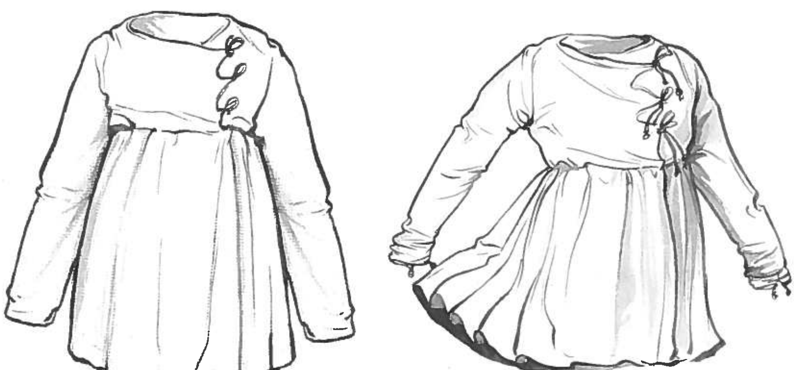
भुजाओं पर बांधा हुआ फूलों का गजरा तथा कलाई पर सोने का तोडा और फूलों का गजरा, उंगली में अंगूठी



शरीर पर पहना जानेवाला अंगरखा



शरीर पर पहना जानेवाला जरी किया हुआ लंबा कुर्ता



कसा जानेवाला काठियावाडी अंगरखा तथा एक प्रकार का विशेष अंगरखा जिसे सौराष्ट्र में पहना जाता है।



धोती के साथ शरीर पर ओढ़ा हुआ खेस



हीर की नाड़ीवाली सूथनी अथवा
काठियावाडी सूथनी



घेरादार नाडा लगा
हुआ पायजामा

परिशिष्ट : 5

वचनामृत में श्रीहरि द्वारा प्रायोजित श्लोक-संदर्भ

'वचनामृत' में भगवान स्वामिनारायण ने गीता, उपनिषद्, श्रीमद्भागवत, महाभारत तथा अन्य ग्रंथों के अवतरणों को उद्धृत किया है, जिसका उल्लेख यहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा है। विभिन्न ग्रंथों से उद्धृत किये गये अवतरणों की जानकारी प्राप्त होने पर मुमुक्षुजन 'वचनामृत' का गहराई से अध्ययन कर सकेंगे तथा साथ ही अन्य शास्त्रों के साथ 'वचनामृत' के महत्त्व को भी समझ सकेंगे।

योऽक्षरात्परतरः परेश्वरो ब्रह्मरूपमुनिभिः सुपूजितः।
सर्वजीवदया-नराकृतिः श्रीहरिं तमहमानतोऽस्मि हि ॥

प्रमाणवचन	संदर्भ ग्रंथ/क्रमांक	वचनामृत
अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः। मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥	भागवतः 2/10/1	वर. 1
अथो विभूति मम मायाविनस्ताम् ऐश्वर्यमष्टाङ्ग-मनुप्रवृत्तम्। श्रियं भागवतीं वा स्पृहयन्ति भद्रां परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके॥	भागवत : 3/25/37	ग.प्र. 43
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।	गीता : 6/45	ग.प्र. 15, सा. 11 ग.म. 1,8,16
अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।	तै.आ. : 3/11, चि.उ. : 11/1	लो. 7
अन्ते या मतिः सा गतिः	हिरण्यकेशीयशाखाश्रुतिः	ग.प्र. 14
अन्यक्षेत्रे कृतं पापं तीर्थक्षेत्रे विनश्यति। तीर्थक्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥	वराहपुराण : 163/49, 174/53	ग.प्र. 1, ग.म. 3
अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगता- स्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव! नेतरथा।	भागवत : 10/87/30	लो. 13
अवजानन्ति मां मूढाः मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥	गीता : 9/11	लो. 18, पं. 7

अहं ब्रह्मास्मि। अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥	बृ.उ. : 1/4/10 गीता : 15/14	लो. 7 पं. 4
अहो अमी देववरामरार्चितं पादाम्बुजं ते सुमनः फलार्हणम्। नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन- स्तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम् ॥	भागवत : 10/15/5	वर. 12
अहो भाग्यमहो भाग्यं, नन्दगोपव्रजौकसाम्। यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥	भागवत : 10/14/32	ग.अं. 28
आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥	भागवत : 1/7/10	पं. 2, ग.अं. 3
आमयो येन भूतानां जायते यश्च सुव्रत!। तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ॥ एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः। त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे॥	भागवत : 1/5/33-34	ग.म. 11
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ!। तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ॥	गीता : 7/16-17	लो. 7, पं. 3
आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्। या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥	भागवत : 10/47/61	ग.अं. 28
इदं हि विश्वं भगवानिवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवाः।	भागवत : 1/5/20	पं. 2
ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।	हिरण्यकेशीयशाखाश्रुतिः	लो. 7
एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।	छांदोग्योपनिषद : 6/2/1	लो. 13
एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः। न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया ॥	भागवत : 1/11/38	लो. 13
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः। अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥	गीता : 4/17	लो. 7
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥	गीता : 4/18	ग.म. 11
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन!॥	गीता : 4/9	ग.म. 10, वर. 18

जन्माद्यस्य यतः... यत्र त्रिसर्गो मृषा । धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥	भागवत : 1/1/1	पं. 7
जितं जगत् केन मनो हि येन ।	मणिरत्नमाला : 11	सा. 1
तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु को न्वखण्डितधीः पुमान्। ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया॥	भागवत : 3/31/37	लो. 13, ग.अं. 33
तमेव विदित्वातिऽमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥	श्वे.उ. : 4/10	लो. 7
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते!	गीता : 11/46	लो. 18
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्॥	गीता : 7/17-18	पं. 3, ग.म. 1
त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज। उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥	महा. शां. : 316/40, 318/44	लो. 15
दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन । इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥	गीता : 11/51	पं. 4
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥	गीता : 7/14	लो. 13, वर. 5
द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया त्वमपि	भागवत : 10/87/41	लो. 10
ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते । सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥	गीता : 2/62-63	ग.म. 1
न कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते । यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम् ॥ नित्यं ददाति कामस्य छिद्रं तमनु येऽरयः। योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली ॥	भागवत : 5/6/3-4	लो. 14
न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥	गीता : 15/6	ग.म. 13
'नारायणपरा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः। नारायणपरा लोका नारायणपरा मखाः॥ नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः। नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः॥	भागवत : 2/5/15-16	वर. 2

निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।	मुंडकोपनिषद : 3/1/3	सा. 11, का. 1
नेह नानास्ति किञ्चन।	बृ.उ. : 4/4/19	पं. 2
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः।	भागवत : 2/1/7	पं. 3
नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।	भागवत : 1/5/12	लो. 7
परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया। गृहीतचेता राजर्षे! आख्यानं यदधीतवान्॥	भागवत : 2/1/9	पं. 2,3, ग.म. 39, ग.अं. 3
पश्य मे पार्थ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥	गीता : 11/5	लो. 7, पं. 6
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान्।	भागवत : 3/5/26	पं. 7
प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः। स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्॥	भागवत : 3/25/20	ग.प्र. 54
प्रायेण मुनयो राजन्	भागवत : 2/1/7	ग.अं. 3
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।	गीता : 4/10	का. 1
बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः। मात्रार्थं च भवार्थं च ह्यात्मनेऽकल्पनाय च॥	भागवत : 1/87/2	का. 1
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥	गीता : 18/54	लो. 7, पं. 2 ग.अं. 3
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते! भूभारः क्षपितो येन तां तनुं विजहावजः। कण्टकं कण्टकेनैव द्वयं चापीशितुः समम्॥	चर्पटपंजरी भागवत : 1/15/34-35	ग.प्र. 42 लो. 18
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्यते जगत्॥	गीता : 7/4-5	लो. 7
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय!। मणि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥	गीता : 7/7	लो. 7
मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादि चतुष्टयम्। नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम्॥	भागवत : 9/4/67	ग.प्र. 43
मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्। वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात्॥	भागवत : 3/25/42	लो. 16, ग.अं. 5

मम साधर्म्यमागताः।	गीता : 14/2	लो. 13
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥	गीता : 15/7	ग.म. 8
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन।	महा., शां.: 218-219, 12/17/18(19), 171/56, 268/4	ग.प्र. 38
यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह ॥	तै.उ., आनं. : 9	का. 1, पं. 2
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूति र्ध्रुवा नीतिर्मति र्मम ॥	गीता : 18/78	ग.प्र. 70
यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्यत् प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित्। श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कथं पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥ अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्, यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्। तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥	भागवत : 3/33/6-7	ग.अं. 5
यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः। तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यन्त्यन्तरितो जनः॥	भागवत : 3/7/17	लो. 10
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥	गीता : 15/18	लो. 7, पं. 6
यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः।	बृ.उ. : 3/7/3	लो. 7
यस्याक्षरं शरीरं... एष सर्वभूतान्तरात्माऽ- पहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः।	सुबालोपनिषद : 7	लो. 7
यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः। यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचित् जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥	भागवत : 10/84/13	ग.म. 54
यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥	बृहदारण्यकोपनिषद् माध्यन्दिनपाठ : 3/7/22	लो. 7

या निशा सर्वभूतानाम् तस्यां जागर्ति संयमी । यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ॥	गीता : 2/69	ग.प्र. 50, ग.म. 20
येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म।	भागवत : 11/6/17	ग.अं. 33
वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः। वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः ॥ वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः । वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः ॥	भागवत : 1/2/28-29	वर. 2
विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव! शरीरिणाम् । बन्धमोक्षकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ॥	भागवत : 11/11/3	लो. 10
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः । रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥	गीता : 2/59	लो. 10
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।	गीता : 10/42	लो. 7
श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥	गीता : 4/39	ग.म. 16
श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं, सख्यमात्मनिवेदनम् ॥	भागवत : 7/5/23	ग.प्र. 40
स ऐक्षत ।	ऐतरेयोपनिषद : 3/1	पं. 7
सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम्। शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम् ॥ ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः । स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च ॥ प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः। गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहंकृतिः ॥	भागवत : 1/16/26-28	ग.प्र. 62
सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम् ।	भागवत : 1/2/24	लो. 10
समलोष्टाश्मकाञ्चनः।	गीता : 14/24	ग.म. 1
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥	गीता : 18/66	ग.म. 9,17 वर. 5
सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।	छां.उं. : 3/14/1	पं. 2
स वेद धातुः पदवीं परस्य, दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः।	भागवत : 1/3/38	पं. 7

योऽमायया सन्ततयानुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ॥		
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥	भागवत : 3/29/13	ग.प्र. 43
स्वकृतविचित्रयोनिषु विषन्निव हेतुतया तरतमतश्चकास्स्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः ।	भागवत : 10/87/19	ग.प्र. 41
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।	गीता : 2/40	ग.म. 9
हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः । अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥	भागवत : 1/7/11	ग.अं. 3

शिक्षावाक्यामृतैः स्वीयैः स्वाश्रितानां सतां हृदि ।
विदधे हितपुष्टिं यः स्युस्तस्यैतानि मद्धृदि ॥

परिशिष्ट : 6

वचनामृत में श्रीहरि द्वारा प्रमाणित कीर्तन

मुक्तानन्द स्वामी रचित सन्तमहिमा के पद

(वचनामृत गढ़डा प्रथम प्रकरण - १४)

राग : धोल

पद - १

सुखदायक रे (२), साचा संतनो संग,
संत समागम कीजिए....०टेक

जी रे संतसमागमथी टळे, आशा तृष्णा रे (२),
ईर्ष्या अभिमान, मोह–मत्सर ममता बळे,
प्रगटे उरमां रे (२), प्रभुनुं दृढ ज्ञान....संत ०१

जी रे संतसमागमथी थया, मुनि नारद रे (२),
हरिनुं मन आप, अनेक पतित उद्धारियां,
तेना जशनो रे (२), मोटो परताप....संत ०२

जी रे सिद्ध थया सत्संगथी, शुकआदिक रे (२),
मुनिवर सुखरूप, चित्त चोंट्युं हरिचरणमां,
जाण्यो संतथी रे (२), मोटो मर्म अनूप....संत ०३

जी रे महिमा मोटो छे महंतनो, जेने सेवे रे (२),
छूटे मायानुं जाळ, प्रीत वधे परब्रह्ममां,
मुक्तानंद कहे रे (२), तजी आळपंपाळ....संत ०४

पद-२

बड़भागी रे (२), पामे संतनो संग,
संतथी महासुख पामीए....०टेक

जी रे सन्त बड़ा परमारथी, टाळे उरथी रे (२),
अविद्या अभिमान, जन्म सुफल करे जंतनो;
आपे अनुभवी रे (२), प्रभु प्रगटनुं ज्ञान....संतथी ०१

जी रे प्रभुसंगे प्रीत वधारवा, फरे जगमां रे (२),

साचा सन्त सुजाण, परमात्मा पिछाणवा;
परमारथी रे (२), आपे पद निर्वाण...संतथी०२

जी रे सन्तना जश श्रीमुखे कह्या, गीता मध्ये रे (२),
गोविंद सुखधाम, अनुभवी मारो आत्मा;
जेना मनथी रे (२), टळ्या क्रोध ने काम....सन्तथी०३

जी रे सन्त वचन भावे सुणे, तेनां पातक रे (२),
पामे सर्वे नाश, प्रीत वधे परब्रह्ममां;
मुक्तानंद कहे रे (२), पामे पद अविनाश....सन्तथी०४

पद-३

साचा साधु रे (२), सुंदर गुणधाम,
समजीने सत्संग कीजिए....०टेक

जी रे सन्त सुलक्षणना भर्या, अवगुणनो रे (२),
उरमां नहि लेश, महानुभवी मुनि ते खरा;
आपे सहुने रे (२), साचो उपदेश....समजीने०१

जी रे सन्त सदा शीतळ रहे, क्यारे न तपे रे (२),
काम क्रोधनी जाळ, लोभ तजी हरिने भजे;
धारे उरमां रे (२), दृढ करी श्रीगोपाळ....समजीने०२

जी रे त्रिभुवननी संपत मळे, तोय न तजे रे (२),
अर्ध पळ हरिध्यान, ब्रह्मरूप थई हरिने भजे;
एवा सन्तने रे (२), कीच कनक समान....समजीने०३

जी रे एम शुभ लक्षण ओळखी, सदा करवी रे (२),
हरिजननी सेव, हरिसम हरिजन जाणवा;
मुक्तानंद कहे रे (२), ते तरे ततखेव....समजीने०४

पद-४

सदा करवो रे (२), हरिजननो संग,
दुर्लभ दर्शन संतनां....०टेक

जी रे सन्तसभा मध्ये श्रीहरि, सदा रहे छे रे (२),
वा'लो अक्षरनाथ, अडसठ तीरथ एना चरणमां;
एवा सन्तथी रे (२), वेगे थईए सनाथ....दुर्लभ०१

जी रे सन्त मळ्या तेने हरि मळ्या, एनो महिमा रे (२),
वदे वेद पुराण, साख्य प्रगट संसारमां;
शुक नारद रे (२), पाम्या पद निर्वाण....दुर्लभ०२

जी रे सन्तवचन साचा गणी, गयो वनमां रे (२),
ध्रुव नानकडो बाळ, प्रगट प्रभुने ते पामीयो,
थयो अविचळ रे (२), जश वाध्यो विशाळ....दुर्लभ०३

जी रे एवुं जाणी अहंता तजी, शुद्ध भावे रे (२),
करवी सन्तनी सेव, मनुष्यभाव मनथी तजो;
मुक्तानंद कहे रे (२), साचा सन्त छे देव....दुर्लभ०४

प्रेमानंद स्वामी रचित रास पद

(वचनामृत पंचाला - ३)

सखी आज मोहनने दीठा रे, शेरीए आवता;
मोरलीमां गीत मधुरां रे, चाल्या आवे गावता....०१

आवे वालो हसता रे, गोवाळाना साथमां;
उछाळता आवे मोहन रे, फूल दडो हाथमां....०२

रंगडामां राता माता रे, चाल्या आवे शोखमां;
रसियो जोवाने काजे रे, ऊभी रही छुं गोखमां....०३

मोहनजीनुं मुखडुं जोयुं रे, घुंघटनी ओटमां;
जोईने घायल थई छुं रे, नेणां केरी चोटमां....०४

हैया पर हार जोई रे, रह्युं छे मन मोइने;
बेनी प्रेमसखीना नाथने रे, रही छुं जोईने....०५

तुलसीदासजी रचित तीन पद

(वचनामृत गढ़डा मध्य प्रकरण - ५७)

राग : धनाश्री

पद - 1

जो मैं लगन रामसों नाहिं ।
तौ नर खर कुकर शूकर सम, बृथा जिअत जग माँही ॥१॥

काम क्रोध मद लोभ नींद भय, भूख प्यास सबही के ।
मनुज देह सुर-साधु सराहत, सो सनेह साधे परके ॥२॥

सूर सुजान सुपूत सुलच्छन, गनियत गुन गुरुआई ।
बीन हरिभजन इन्दारनुं के फल, तजत नहिं करुआई ॥३॥

कीरति फल करतूति भूति, भमर सील सरूप सलोने ।
तुलसी प्रभु-अनुराग रहित जस, सालन साग अलोने ॥४॥

पद - २

जाके प्रिय न राम बैदेही ।
सों छाँडिये, कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥१॥

तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषण बंधु, भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो, कंत व्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी ॥२॥

नाते नेह रामके मनियत, सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं ।
अंजन कहाँ आँखि जेहि फूटैं, बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥३॥

तुलसी सो सब भाँति परम हित, पूज्य प्रानतें प्यारो ।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो ॥४॥

पद - ३

इहे कह्यो सुनु ! बेद चहुँ ।
श्रीरघुवीर चरन चिंतन, तजी नाहिन ठौर कहुँ ॥१॥

जाके चरन बिरंचि सेई, सिधि पाई शंकर हुँ ।
शुक सनकादिक मुक्त बिचरत, तेऊ भजन करत अज हुँ ॥२॥

जद्यपि परम चपल श्रीसन्तत, थिर न रहती कत हुँ ।
हरि-पद-पंकज पाई अचल भई, करम-बचन-मन हुँ ॥३॥

करुणासिंधु भगत-चिंतामनि, शोभा सेवत हुँ ।
और सकल सुर असुर-ईस, काल खाये उरग छहुँ ॥४॥

सुरुचि कह्यो सोई सत्य बात, अति परुष बचन जब हुँ ।
तुलसीदास रघुनाथ बिमुख, नहिं मिटाई बिपति कब हुँ ॥५॥

नरसिंह महेता रचित विष्णुपद

(वचनामृत गढ़डा मध्य - २१, ६७ तथा गढ़डा अंत्य - २२)

राग : माळीगडो

शामळीये वा'ले सायर वलोयो रे वा'ला, मेरुनो कीधो रवायो रे वा'ला,
वासंगी नागनां वा'ले नेतरां कीधां, जोज्यो मारा नाथनी नवायुं रे वा'ला,
...शामळीये ०१
गिरिवरधारी धरीने बेठा रे वा'ला, भूधर भले भले आव्या रे वा'ला,
वलोणाना संच सर्वे लाव्या रे वा'ला, आपे असुरने तेडी लाव्या रे वा'ला,
...शामळीये ०२
सायर वलोव्यो ने रतन निपजाव्यां रे वा'ला, नीकळ्यां लक्ष्मी नारी रे वा'ला,
सुरने पातां असुरने पायुं रे वा'ला, चरणामृत मोरारी रे वा'ला,
...शामळीये ०३
उत्तरनां जळ मेरु डूबवा लाग्या रे वा'ला, कानुडो कामण जाणे रे वा'ला,
काचबानुं रूप धर्युं मारे वा'ले रे वा'ला, वलोणुं सुतर आव्युं रे वा'ला.
...शामळीये ०४
हरिनुं वलोणुं हरखेथी गावुं रे वा'ला, वीख तो भोळा महादेवने पायुं रे वा'ला,
भणे नरसैयो नथी हमणांनुं रे वा'ला, वेद पुराणे वखाण्युं रे वा'ला.
...शामळीये ०५

नरसिंह महेता रचित पद

(वचनामृत वरताल ११)

राग : मलार

मारा हरजीशुं हेत न दीसे रे, तेने घेर शीद जईए,
तेने संगे शीद रहीए रे....०टेक
हेत विना हुंकारो न देवो, जेनुं हरखेशुं हैडुं न हीसे रे;
आगळ जईने वात विस्तारे, जेनी आंख्युमां प्रेम न दीसे रे....तेने संगे ०१
भक्तिभावनो भेद न जाणे, ने भूरायो थईने भाळे रे,
ललित लीलाने रंगे न राचे, पछी उलेची अंधारुं टाळे रे....तेने संगे ०२
नामतणो विश्वास न आवे, ने ऊंडुं ते ऊंडुं शोधे रे,
जाह्नवी तीरे तरंग तजीने, पछी तटमां जईने कूप खोदे रे....तेने संगे ०३

पोताना सरखी करीने जाणे, पुरुषोत्तमनी काया रे,
नरसैंयाना स्वामीनी लीला, ओल्या मतिया कहे छे माया रे....तेने संगे ०४

मुक्तानंद स्वामी रचित पद

(वचनामृत वरताल ११)

राग : मलार

मारा वहालाजी-शुं वहालप दीसे रे, तेनो संग शीद तजीए,
ते विना केने भजीए रे....०टेक

सन्मुख थातां शंका न कीजे, मर भालातणा मेह वरसे रे,
हंस जई हरिजनने मळशे, पछी काची ते काया पडशे रे....तेनो संग ०१

शूळी उपर शयन करावे, तोये साधुने संगे रहीए रे;
दुरिजन लोक दुर्भाषण बोले, तेनुं सुखदुःख सर्वे सहीए रे....तेनो संग ०२

अमृतपें अति मीठां मुखथी, हरिनां चरित्र सुणावे रे;
ब्रह्मा भव सनकादिक जेवा, जेनां दर्शन करवाने आवे रे....तेनो संग ०३

नरक कुंडथी नरसुं लागे, दुरिजननुं मुख मनमां रे;
मुक्तानंद मगन थई मागे वहाला, वास देजो हरिजनमां रे....तेनो संग ०४

नरसिंह भक्तकवि महेता रचित पद

(वचनामृत वरताल ११)

राग : सोरठा

धन्य वृन्दावनवासी वटनी छाया रे ज्यां हरि बेसता;
श्रीजमुनाजी पुण्यतणो गत नहि पार रे नावा हरि पेसता....०टेक

धन्य धन्य ते व्रजना साथने, धन्य धन्य ए नंदजी तातने;
धन्य धन्य ते जशोदा मातने, धन्य धन्य ते व्रजना साथने....धन्य ०१

धन्य धन्य ते व्रजनी वृक्षवेली, धन्य धन्य ए सरखी साहेली;
धन्य हरि वळगी जेनी बेली, धन्य धन्य ते व्रजनी वृक्षवेली....धन्य ०२

धन्य धन्य गोकुळनी धेनुने, धन्य धन्य वा'लानी वेणुने;
धन्य धन्य कामणगारी नेणुने, धन्य धन्य गोकुळनी धेनुने....धन्य ०३

धन्य धन्य करुणा पुतना मासी, धन्य धन्य मृत्युनी टाळी फांसी;
वा’ले मुक्त पमाड्यां गोकुळवासी, धन्य धन्य करुणा पुतना मासी... धन्य०४

धन्य धन्य ए गोकुळ गामने, ते ते पाम्यां हरिना धामने;
वारी जाउं शामळा श्यामने, धन्य धन्य ए गोकुळ गामने....धन्य०५

धन्य कंसरायना कारज कर्यां, राजा उग्रसेनने शीर छत्र धर्यां;
महेता नरसैयाने अखूट भर्या, धन्य कंसरायनां कारज कर्यां....धन्य०६

सूरदास रचित पद

(वचनामृत गढ़डा अंत्य प्रकरण ३१)

राग : मलार

हारलकी लकरी, हरि मेरे हारलकी लकरी, पकरी सो पकरी....हरि०१
मन कर्म वचने श्रीनंदनंदन-शुं, दृढ करी के पकरी....हरि०२
जागत सोवत हरि सपननमें, कान कान जकरी....हरि०३
जोग ओधाजी ऐसी लागत है, ज्युं कडवी ककरी....हरि०४
तुम तो ओधाजी बोध लई आवे, शीखी सुनी नकरी....हरि०५
सूरदास प्रभु शुं जई कहियो, जाको मत जकरी....हरि०६

प्रेमानंद स्वामी रचित पद

(वचनामृत गढ़डा अंत्य प्रकरण ३१)

राग : जंगलो

पद - १

जमुना के तीर ठाडो, जमुना के तीर,
बाँको बलवीर ठाडो, जमुना के तीर....०टेक

हो नैनां बैनां बाँके बाँधे बाँकी पाघ शिर;
चंदनकी खोर कीने सांवरे शरीर....ठाडो०१

हो बाँकी भौंहें सोहे चीत मोहे नासा कीर;
देखत चकित रतिपति हतधीर....ठाडो०२

हो बाँके लाल बाँके ग्वाल लिये संग भीर;
बाँसुरी बजावे बाँकी फिर फिर फिर....ठाडो०३

हो भरवा गईथी हुं जमुना को नीर;
प्रेमानन्द को नाथ देखी गई पीर....ठाडो०४

पद - २

राजीव नैन रसियो राजीव नैन,
उपजत चैन देखी, राजीव नैन....०टेक
हो विकसे वारिज सम अति छबी एन;
भ्रुकुटी भ्रमर झुके मानुं रस लैन....रसियो०१
हो चारु चितवनी मुसकनी सुखदेन;
कुटिल कटाक्ष उमें सुचवत सैन....रसियो०२
हो जमुना पुलिनपर चारत है धेन;
मोहन बजावत मधुरी-सी बैन....रसियो०३
हो माई ब्रजनारी संग खेलो दिन रैन;
प्रेमानंद छबी पर वारी कोटि मैन....रसियो०४